

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

प्रथम श्रुतस्कन्ध

व्याख्याकार :

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक :

जैनधर्मदिवाकर ध्यानयोगी

आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज

॥ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

(श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज के
62वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशित)

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

प्रथम श्रुतस्कन्ध

(संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थ, हिन्दी-विवेचन एवं अध्यात्मसार सहित)

व्याख्याकार :

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक :

जैनधर्मदिवाकर ध्यानयोगी

आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशक :

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)
भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट (दिल्ली)

आगम	:	श्री आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुत स्कन्ध)
व्याख्याकार	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
संपादक	:	आचार्य सम्राट् डॉ. श्री शिवमुनि जी महाराज
पूर्व-सं. संपादक	:	मुनि समदर्शी
संपादन-सहयोग	:	1. उपाध्याय श्री रमेश मुनि जी शास्त्री 2. श्रमण संधीय मंत्री श्री शिरीष मुनि जी 3. महासती श्री कौशल्य जी म.सा. 'श्रमणी' 4. महासती श्री मंजुश्री जी म.सा. 5. महासती श्री सरिता जी म.सा. 6. महासती श्री रविरश्मि जी म.सा.
प्रकाशक	:	आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना भगवान महावीर रिसर्च एंड मेडिटेशन सेंटर ट्रस्ट, नई दिल्ली
द्वितीयावृत्ति	:	18 सितम्बर 2003
प्रतियां	:	1100
मूल्य	:	पाँच सौ रुपये
प्राप्ति स्थान	:	1. भगवान महावीर मेडिटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट श्री आर. के. जैन, एस-ई 62-63, सिंघलपुर विलेज, शालीमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष : 32030139, (ऑ.) 27430082 2. पूज्य श्री ज्ञान मुनि जैन फ्री डिस्पेंसरी, डाबा रोड, नजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना 3. श्री चन्द्रकान्त एम. मेहता, ए-7, मोन्टवर्ट-2, सर्वे नं 128/2ए, पाषाण सुस रोड, पूना-411021 दूरभाष : 020-5862045
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन C/o विनोद शर्मा, म.नं. 2087/7 गली नं. 20, शिव मन्दिर के पास, प्रेम नगर, (निकट बलजीत नगर) नई दिल्ली-110008 दूरभाष: 011-25873841, 9810765003

★ प्रकाशकीय ★

आगम-साहित्य वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान का अक्षय-अपूर्व कोष है। ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसके सन्दर्भ में विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप से विचारणा नहीं की गई हो। वास्तव में आगम-वाङ्मय हमारे धर्म और अध्यात्म, समाज और संस्कृति की आधारशिला है। मूल्यवान एवं प्राणवान निधि है। सर्वस्व रूप है और सर्वेसर्वा है।

हमें इससे अतिशय प्रसन्नता है कि जैनागम-साहित्य के सर्वथा मौलिक और विशेष मार्मिक व्याख्याता तथा गहन-गम्भीर अध्येता आराध्यस्वरूप आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म. ने अपने जीवनकाल में आगम-साहित्य पर जिस युग में विस्तृत टीकाएँ निर्मित कीं, तलस्पर्शी विचारणा प्रस्तुत की, वह सब आधुनिक युग में भी महत्त्वपूर्ण है, उपयोगी और प्रयोगी सिद्ध है।

श्रद्धास्पद आचार्यश्री जी द्वारा प्रणीत आगम-टीकाएँ प्रलम्ब समय से दुर्लभ हो गईं, दुष्प्राप्य हो गईं और उनकी माँग नित्य निरन्तर बढ़ती गई। जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. ने भगवान महावीर के 26 सौवें जन्मकल्याणक वर्ष के ऐतिहासिक अवसर और चादर महोत्सव के पावन प्रसंग पर दृढ़तापूर्वक सत्संकल्प किया कि आचार्य श्री आत्माराम जी म. द्वारा विवेचित आगम और लिखित साहित्य का पुनः प्रकाशन किया जाए। आपश्री जी ने इस दिशा में क्रियात्मक पदन्यास किया, आपश्री जी के इस चिरसंचित, चिरअभिलषित और चिरप्रतीक्षित स्वप्न को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु 'आत्म ज्ञान शिव आगम प्रकाशन' नामक संस्था का गठन हुआ है। उक्त संस्था के संगठन में श्री हीरालाल जी जैन, श्री राजेन्द्रपाल जी जैन, श्री रामकुमार जी जैन आदि समाज के प्रतिष्ठित और गण्यमान्य व्यक्तियों का प्रशंसनीय श्रम और सहयोग रहा है।

'आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति' द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला यह प्रथम आगम है। परम पूज्य आचार्य भगवन श्री शिवमुनि जी महाराज एवं श्री शिरीष मुनि जी महाराज के दिशानिर्देशन में हमारा यह पूर्ण प्रयास रहा है कि प्रकाशनादि

दृष्टि से प्रस्तुत आगम सर्वांगसुन्दर और सर्वजन उपयोगी सिद्ध हो। परम पूज्य आचार्यश्री जी ने प्रस्तुत आगम का बारीकी से अध्ययन कर पूर्व प्रकाशन में रह गई त्रुटियों को भी दूर किया है तथा अध्यात्मसार के रूप में विस्तृत आलेख लिखकर आचाराङ्ग में प्रवेश को अत्यन्त सरल और सुबोध भी बना दिया है।

अपने इस प्रथम भागीरथ प्रयास पर 'आत्म-ज्ञान शिव आगम प्रकाशन समिति' स्वयं को धन्य मानती है कि इसे प्रथम चरण में ही 'आचाराङ्ग' जैसे ज्ञान-गम्भीर और साध्याचार के कोष स्वरूप आगम को प्रकाशित करने का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ है। हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में ही हमें पूज्य प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित आगमों के प्रकाशन का सौभाग्य मिलता रहेगा। इसी मंगल मनीषा के साथ—

आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति
लुधियाना (पंजाब)

हार्दिक धन्यवाद

एस.एस. जैन श्रीसंघ मालेर कोटला उत्तर भारत का सुविख्यात श्री संघ है। यहां स्थानकवासी श्री संघ का शताब्दियों से वर्चस्व रहा है। यहां के श्रावक और श्राविकाएं जैन धर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित और भद्र व सरल हैं। श्रमण और श्रमणियों के प्रति श्रद्धा जैन और जैनेतर वर्ग में समान रूप से देखने को मिलती है। इस नगर में हिन्दु, मुस्लिम, जैन आदि सभी वर्ग शुरू से ही पारस्परिक प्रेम, भ्रातृत्व और सौहार्दपूर्ण ढंग से रहते हैं।

मालेर कोटला नगर एक ऐतिहासिक नगर है। यहां का जैन इतिहास भी काफी प्राचीन है। यह नगर आचार्य प्रवर श्री मोतीराम जी महाराज की तपोभूमि के रूप में जैन जगत में प्रसिद्ध है। यहां पर कई महान संतों के चातुर्मास समय-समय पर होते रहे हैं। जिनमें आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० का चातुर्मास विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वर्तमान (सन् 2003) में श्रमण संघीय चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज का चातुर्मास प्रगति पर है। आचार्य श्री का यह चातुर्मास अविस्मरणीय और ऐतिहासिक रहा है। जप, तप और ध्यान की अपूर्व लहर नगर के आबालवृद्ध में दिखाई दे रही है।

मालेर कोटला नगर निवासियों में अपूर्व धर्म श्रद्धा के साथ-साथ श्रुतसेवा और दान के प्रति भी काफी भाव है। उसी भाव का परिणाम है प्रस्तुत आगम का प्रकाशन। आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति श्रीसंघ मालेर कोटला का तथा सहयोगी भाई-बहनों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति

श्री आचारांग सूत्रम् के प्रकाशन सहयोगी

- (1) एस.एस. जैन बिशदरी, तपावाली
(मालेर कोटला)
- (2) संघरत्न दानवीर सेठ लाला श्री श्रीराम जी जैन सराफ
श्री सोहन लाल जी जैन (सुपुत्र)
श्रीमती कमला रानी जैन (पुत्रवधु)
मै० गौरी मल श्रीराम जैन ज्वैलर्स, सदर बाजार, मालेर कोटला
- (3) श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन
सच्ची दुकान रजिस्टर्ड, क्लॉथ मर्चेन्ट, मोती बाजार, मालेर कोटला
जिला संगरूर (पंजाब)-148023 फोन : 01675-253269
- (4) श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन
प्रधान : एस.एस. जैन सभा, मालेर कोटला
मै० जैन कोलोनाईजर्स एण्ड बिल्डर्स, क्लब रोड, मालेर कोटला
घर : पटेल स्ट्रीट, म.न. 24/208 मालेर कोटला
- (5) श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया
मालेर कोटला
- (6) श्रीमती एवं श्री रतनचन्द जी जैन एंड संस
पार्टनर कमल थियेटर, मालेर कोटला (पंजाब)
फोन : 263402 (नि.) 253018 (ऑ.)
- (7) श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व. श्री डोगरमल जी जैन
श्रीमती रक्षा देवी जैन धर्मपत्नी (मालिक मोती टाकिज़)
अमित कुमार जैन (सुपुत्र), श्रीमती रूचि जैन (पुत्रवधु)
मालेर कोटला, फोन : 263221, 263409
- (8) श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र
श्री कैसरी दास जी जैन
मोती बाजार, मालेर कोटला

श्री आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति के सहयोगी सदस्य

- (1) श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किंग लुधियाना
- (2) श्री शोभन लाल जी जैन, लुधियाना
- (3) आर.एन. ओसवाल परिवार, लुधियाना
- (4) सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना
- (5) स्त्री सभा, रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना
- (6) स्व० श्री सुशील कुमार जी जैन, लुधियाना
- (7) एस.एस. जैन सभा, जगराओं
- (8) सुश्राविका लीला बहन, मोगा
- (9) वर्धमान शिक्षण संस्थान, फरीदकोट
- (10) एस.एस. जैन सभा, गीदड़बाहा
- (11) एस.एस. जैन सभा, केसरी-सिंह-पुर
- (12) उमेश बहन, लुधियाना
- (13) श्री नवरंग लाल जैन
- (14) श्री विद्यारत्न जी चौधरी, हनुमानगढ़
- (15) एस.एस. जैन सभा, रत्नपुरा
- (16) श्री हेमराज जैन, संगरिया
- (17) श्री एस.एस. जैन सभा, रानियां
- (18) श्री एस.एस. जैन सभा, सरदूलगढ़
- (19) श्रीमती शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, सिरसा
- (20) एस.एस. जैन सभा, बरनाला
- (21) श्री रवीन्द्र कुमार जैन, भठिण्डा
- (22) लाला श्री श्रीराम जी जैन सर्राफ, मालेर कोटला
- (23) श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन, मालेर कोटला
- (24) श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन (अध्यक्ष), मालेर कोटला
- (25) श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया, मालेर कोटला
- (26) श्रीमती एवं श्री रत्नचन्द जी जैन एंड संस, मालेर कोटला
- (27) श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व. श्री डोगरमल जी जैन, मालेर कोटला
- (28) श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र श्री केसरीदास जैन, मालेर कोटला
- (29) श्री एस.एस. जैन सभा, मलौट मण्डी
- (30) श्री एस.एस. जैन सभा, सिरसा
- (31) श्रीमती कांता जैन धर्मपत्नी श्री गोकुलचन्द जी जैन, शिरडी (महाराष्ट्र)
- (32) किरण बहन, रमेश कुमार जैन, बोकड़िया, सूरत
- (33) श्री श्रीपत सिंह, गोखरु, जुहू स्कीम मुम्बई
- (34) एस.एस. जैन बिरादरी, तपावाली (मालेर कोटला)

★ गुर्वावली ★

(मनहर छन्द)

अणुत्तरेहिं गुणसहस्सेहिं जुत्तो, सागरो व्य गम्भीरो दीहदंसी महप्पा ।
नाहस्स सण्णा सिरिमोत्तीरामो, आयरिओ आसी विसालकित्ती॥1॥

तस्संतेवासी पुण्णपुज्जस्सामी, कुम्भोव दंतो ससीव सोमो ।
धेरे मुणी गणवई य नामेणं, गणावच्छेइ अ पयालंकिओ॥2॥

तस्स सीसे य महाणुभावो, गुरुभक्तिकारओ पण्णालधीरो ।
विक्खायकित्ती जयरामो नाम, रत्तो वएसु सया अपमत्ती॥3॥

तस्स दिक्खिओ इंगियागारसम्पन्नो, सुहुमनाणेसु आसी विसारओ ।
नामत्थि जस्स सिरिसालिगामो, तस्स पसाएण लिहिओ एस गंथो॥4॥

आयारधम्मदप्पणमिव संतिकरं, आयारसुयं अघतिमिरविणासयं ।
साहु आयार बोहयं वीरेण पण्णत्तं, चारित्तविवड्ढणं मोक्खमगगपयासयं॥5॥

इम्मस्स सुयस्स 'हिंदी' पयत्थ्यो, छाया आदि विभूसिओ य ।
लिहिओ मया गुरुपसाएण आइरिएण अप्पारामेण॥6॥

‘वीर’ प्रभु महाप्राण ‘सुधर्मा’ जी गुणखान ।

‘अमर’ जी युगभान महिमा अपार है॥

‘मोती राम’ प्रज्ञावन्त ‘गणपत’ गुणवन्त ।

‘जयराम’ जयवन्त सदा जयकार है॥

ज्ञानी ध्यानी ‘शालीग्राम’ जैनाचार्य ‘आत्माराम’ ।

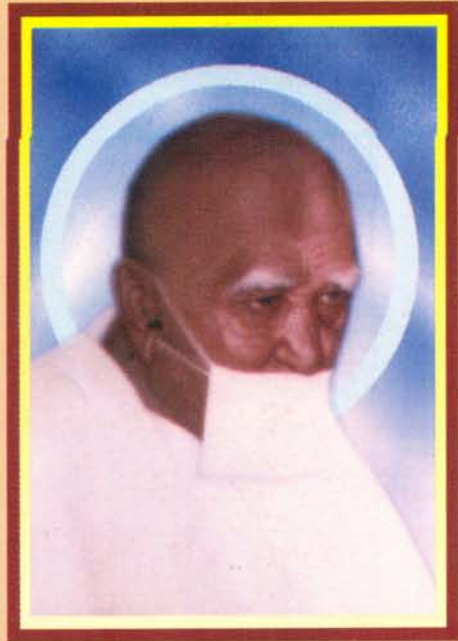
‘ज्ञान’ गुरु गुणधाम नमन हजार है॥

ध्यानयोगी ‘शिवमुनि’ मुनियों के शिरोमणि ।

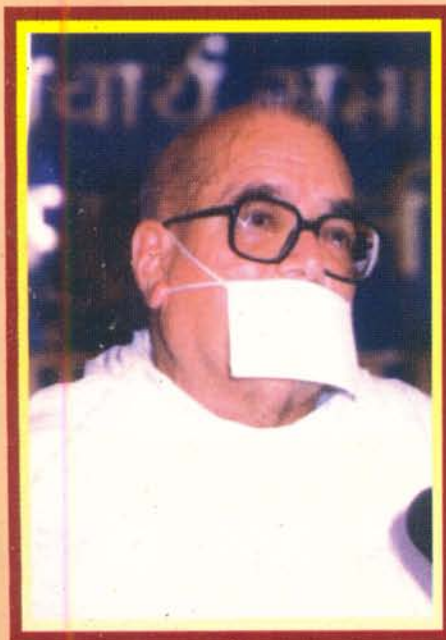
पुज्यवर प्रज्ञाधनी ‘शिरीष’ नैयापार है॥



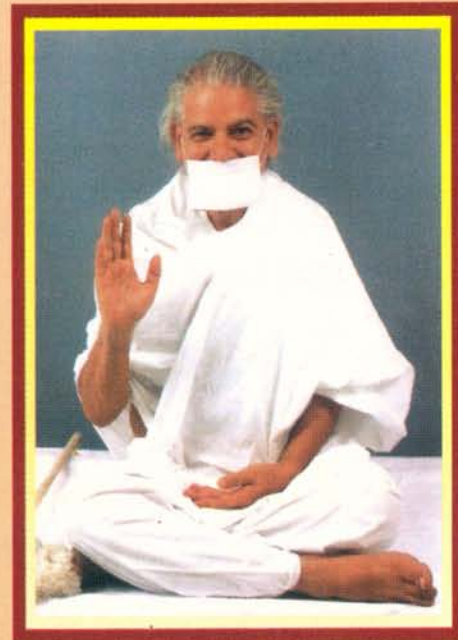
श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर
आचार्य सम्पाद श्री आत्माराम जी म०



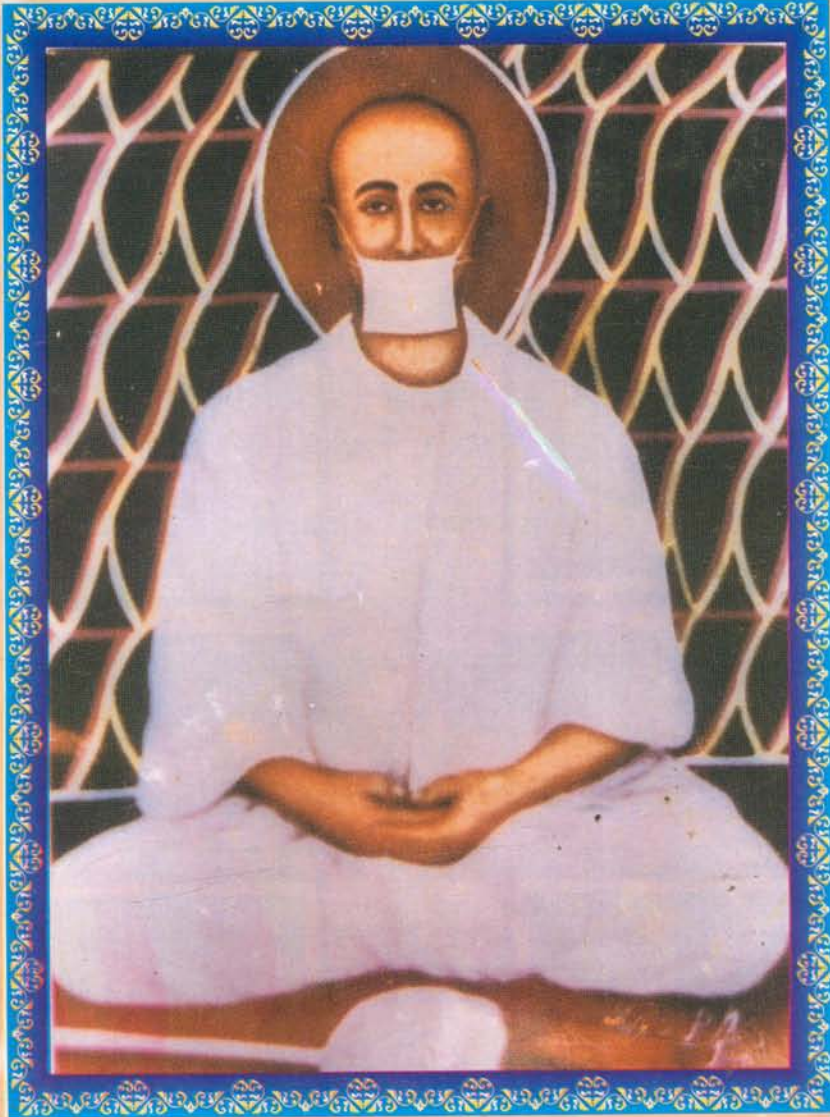
श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर
आचार्य सम्पाद श्री आनन्द ऋषि जी म०



श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर
आचार्य सम्पाद श्री देवेन्द्र मुनि जी म०



श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर
आचार्य सम्पाद श्री शिव मुनि जी म०



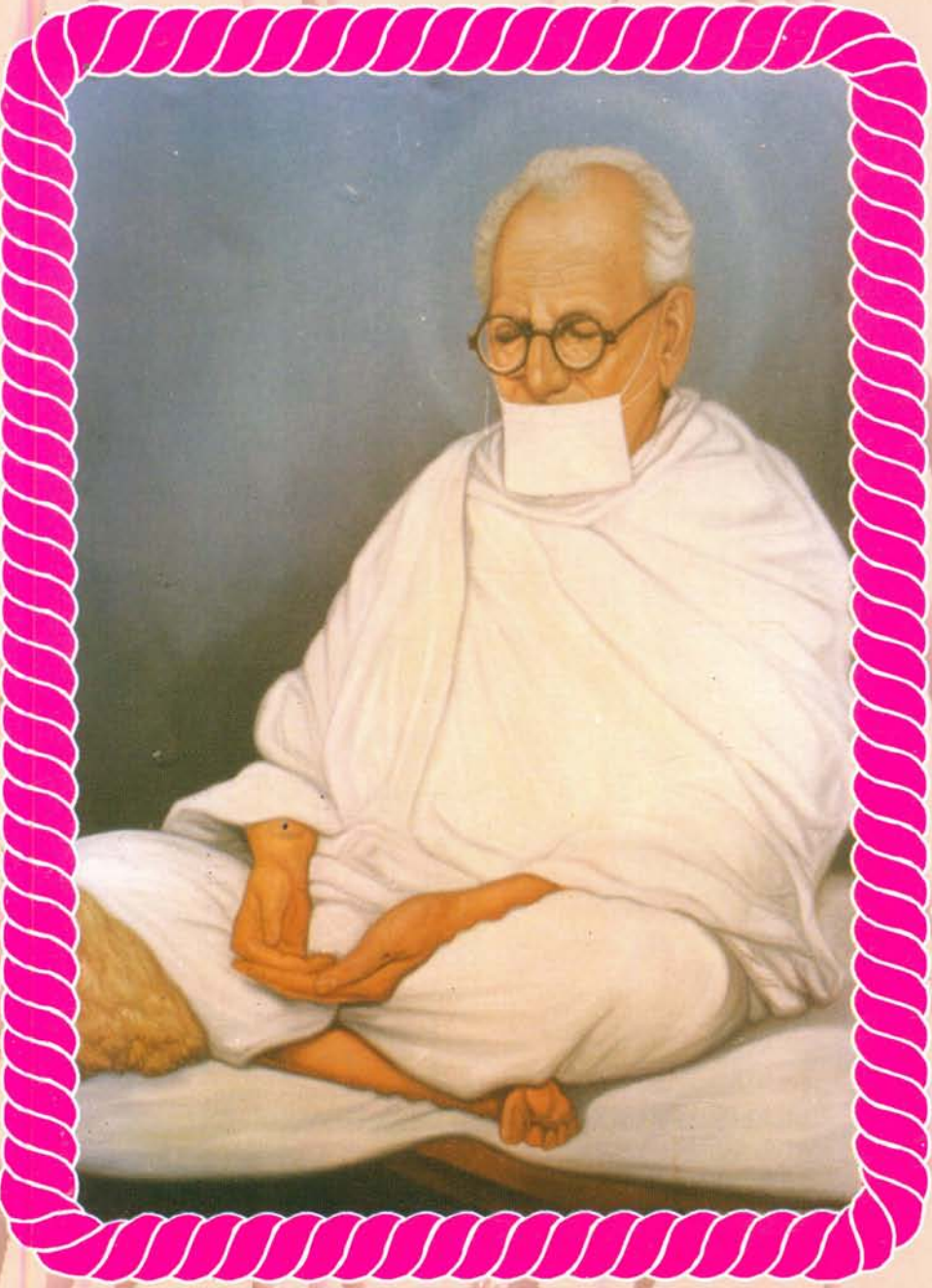
स्वामी श्री रुप चन्द जी महाराज

जन्म माघवदी दसवीं सं० 1868, स्वर्गवास ज्येष्ठ सुदी द्वादसी सं० 1937

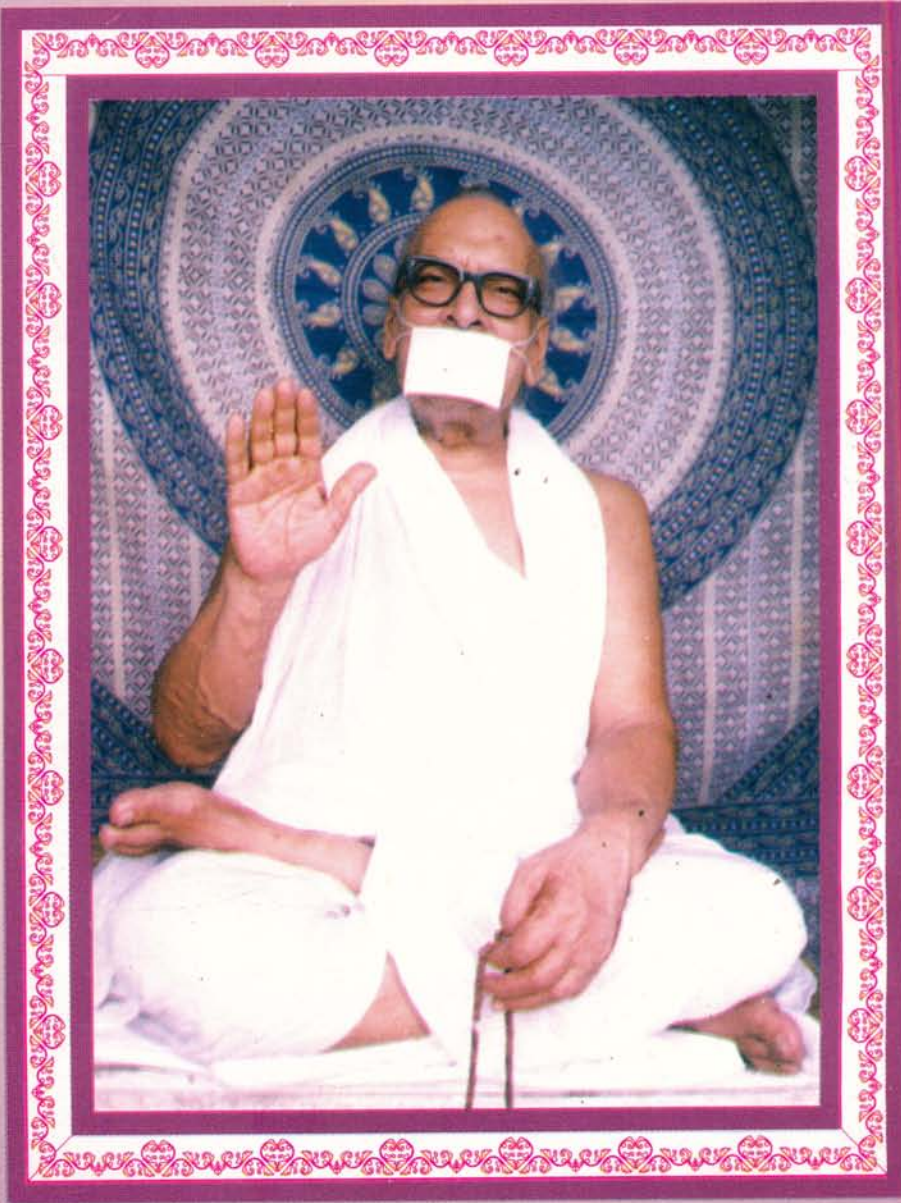
एस० एस० जैन बिरादरी तपावली (मालेर कोटला)

श्री कीमतराय जैन, एडवोकेट
प्रधान

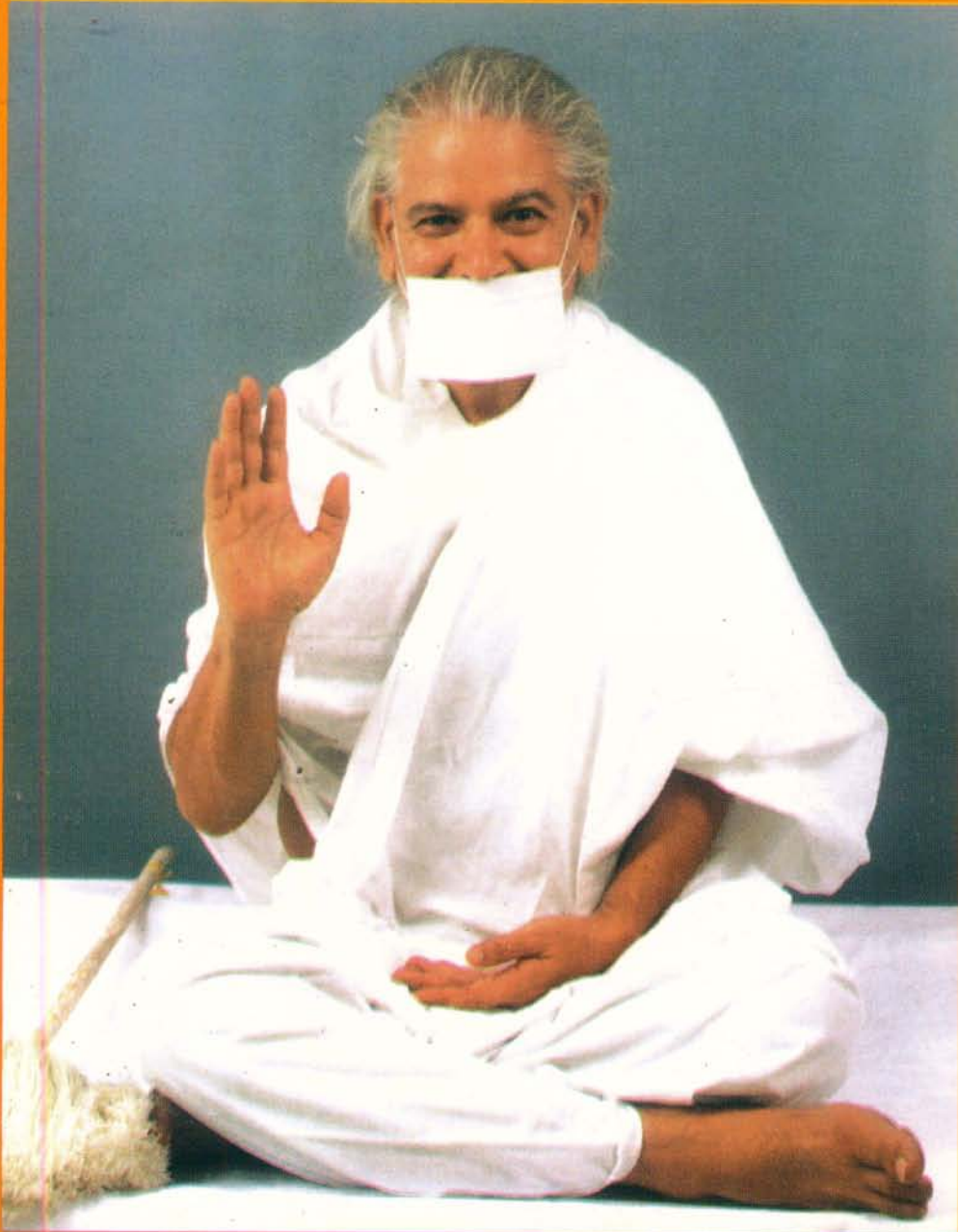
श्री सतीश कुमार जैन, एडवोकेट
मंत्री



जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज



बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

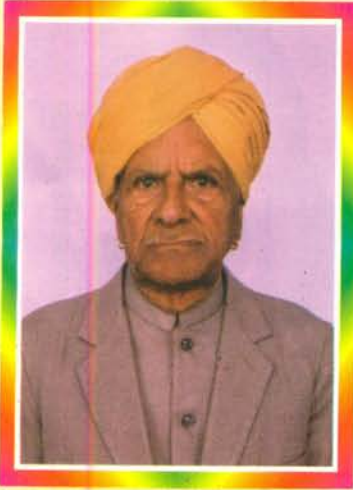


જૈન ધર્મ દિવાકર ધ્યાન યોગી
આચાર્ય સમ્માદ્ ડા० શ્રી શિવમુનિ જી મહારાજ



સધુરત્ન શ્રમણ શ્રેષ્ઠ કર્મઠ યોગી
શ્રમણ સંઘીય મંત્રી શ્રી શિરીષ મુનિ જી મ૦

श्रुत-सेवा



श्री श्रीराम सराफ जैन



श्री चमन लाल जैन



श्री बचन लाल जैन



श्री रतन लाल जैन एवं श्रीमती मूर्ती देवी जैन

શ્રુત-સેવા



શ્રીમતી ઇવં શ્રી રત્ન ચન્દ જૈન



શ્રીમતી માલા જૈન



શ્રી કુલભૂષણ કુમાર જૈન



શ્રી અનિલ કુમાર જૈન

आचार्य श्री की कलम से

प्रस्तुत संस्करण आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित आचारांग का संशोधित और परिवर्द्धित रूप है। वर्तमान में प्राप्त आगमों में आचार्यश्री की व्याख्या सर्वाधिक सरल, सुबोध, सरस और विस्तृत है। आचार्यश्री ने आचारांग के शब्द-शब्द को अर्थ की सुबोध व्याख्या प्रदान की है तथा आगमकार के कथ्य को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत किया है। मैं समझता हूँ कि अज्ञ और विज्ञ, बालक और वृद्ध सभी स्तर के पाठक पूज्यश्री के आगमों को न केवल सरलता से पढ़ सकते हैं, अपितु समझ भी सकते हैं। पूज्यश्री की व्याख्या के इसी पक्ष ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया और मैंने निश्चय किया कि सर्वजनकल्याण के लिए आचार्यश्री के व्याख्या वाङ्मय को पुनः प्रकाशित कराकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।

आचारांग के प्रस्तुत अभिनव संस्करण में श्रद्धास्पद आचार्य श्री आत्माराम जी म. के आशीर्वाद एवं अनुग्रह के फलस्वरूप इस आगमरत्न का विशेषतः स्वाध्याय करते समय जिन-शासनमाता की महती कृपा से आगमों में निहित निगूढ़ रहस्य एवं जैन साधना की विधियाँ प्राप्त हुई, जिसे हमने अनुभूति के स्तर पर आत्मसात् किया। साथ ही, सम्प्राप्त उन ज्ञान-रत्नों को शब्द रूप में 'अध्यात्मसार' शीर्षक से कतिपय उद्देश्यों के अन्त में प्रस्तुत किया है, जो मुमुक्षु एवं अध्यात्म साधकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगा। एतदर्थ प्रत्येक स्वाध्यायशील एवं जिज्ञासु साधक इस समग्र सामग्री से लाभान्वित हों, इसी भाव से यह द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है और व्यावहारिक साधनाविधि वास्तव में गुरुगम से ही प्राप्त की जा सकती है।

आचारांगसूत्र के साथ ही इस महनीय कार्य के लिए मेरे श्रद्धेय गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज एवं पूज्यवर श्री रतनमुनि जी महाराज की सतत प्रेरणा भी मुझे इस कार्य में प्रवेश के लिए सम्प्रेरित करती रही।

भगवान महावीर के 2600 वें जन्मकल्याणक के परम पुनीत प्रसंग पर मेरे हृदयोद्गारों को जानने के बाद श्रावक रत्न श्री हीरालाल जी जैन, श्री राजेन्द्रपाल जी जैन, श्री टी. आर. जी जैन, श्री रामकुमार जी जैन आदि श्रावकों ने न केवल इस बृहद् कार्य को अपने हाथों में लिया, अपितु मुझे भी शत-गुणित उत्साहित किया। उसी के फलस्वरूप अल्पावधि में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध आपके हाथों में पहुँच रहा है।

—आचार्य शिवमुनि

प्रस्तुत आगम के सन्दर्भ में साधना के व्यवहारिक स्वरूप के रहस्यों के उद्घाटक अध्यात्मसार प्रणेता

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. : संक्षिप्त जीवन परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष हैं। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी संयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना में आप सतत साधनाशील रहते हैं। श्रमणसंघ रूपी बृहद्-संघ के बृहद्-दायित्वों को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान में निरन्तर आत्मविहार करते रहते हैं।

पंजाब प्रान्त के मलौट नगर में आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार में जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री में सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशों का भ्रमण किया। घन और वैषयिक आकर्षण आपको बांध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म-जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने संसार से संन्यास में छलांग लेने का सुदृढ़ संकल्प ले लिया।

ममत्व के असंख्य अवरोधों ने आपके संकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषों के संकल्प की तरह आपका संकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मंत्र अंगीकार कर श्रमण संघ में प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहां आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वहीं सत्य की खोज में आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पंजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच.डी. की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशों में विचरण किया। आप जहां गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गद्गद बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही संघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर सोपानों पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा में आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पंचमकाल में भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए हैं जिससे स्वयं आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारों लोग लाभान्वित बन चुके हैं। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरों की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

श्रीआचाराङ्गसूत्र : प्रथम-श्रुतस्कन्ध

विषय-सूची : क्या और कहाँ

	अध्यात्मसार 3	347
	चतुर्थ उद्देशक	362
प्रस्तावना	अध्यात्मसार 4	374
आचारांग : एक अनुशीलन	पंचम उद्देशक	380
आचारांग : प्रथम श्रुतस्कन्ध	अध्यात्मसार 5	406
गाथा अनुक्रमणिका	षष्ठ उद्देशक	425
सूत्र सूची	अध्यात्मसार 6	448
प्रथम अध्ययन : शस्त्र परिज्ञा	तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय	
प्रथम उद्देशक	1	468
अध्यात्मसार 1	80	484
द्वितीय उद्देशक	96	501
अध्यात्मसार 2	118	519
तृतीय उद्देशक	120	
अध्यात्मसार 3	147	चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व
चतुर्थ उद्देशक	165	प्रथम उद्देशक
अध्यात्मसार 4	183	द्वितीय उद्देशक
पंचम उद्देशक	189	तृतीय उद्देशक
अध्यात्मसार 5	209	चतुर्थ उद्देशक
षष्ठ उद्देशक	213	पंचम अध्ययन : लोकसार
अध्यात्मसार 6	231	प्रथम उद्देशक
सप्तम उद्देशक	237	द्वितीय उद्देशक
अध्यात्मसार 7	252	तृतीय उद्देशक
द्वितीय अध्ययन : लोकविजय		चतुर्थ उद्देशक
प्रथम उद्देशक	265	पंचम उद्देशक
अध्यात्मसार 1	293	षष्ठ उद्देशक
द्वितीय उद्देशक	306	षष्ठ अध्ययन : धृत
अध्यात्मसार 2	318	प्रथम उद्देशक
तृतीय उद्देशक	327	द्वितीय उद्देशक
		तृतीय उद्देशक
		643
		659
		670

चतुर्थ उद्देशक	679	पंचम उद्देशक	748
पंचम उद्देशक	691	षष्ठ उद्देशक	756
सप्तम अध्ययन : महापरिज्ञा		सप्तम उद्देशक	766
(वर्तमान में लुप्त : स्पष्टीकरण	701	अष्टम उद्देशक	776
अष्टम अध्ययन : विमोक्ष		नवम अध्ययन : उपधान-श्रुत	
प्रथम उद्देशक	703	प्रथम उद्देशक	802
द्वितीय उद्देशक	719	द्वितीय उद्देशक	839
तृतीय उद्देशक	730	तृतीय उद्देशक	863
चतुर्थ उद्देशक	738	चतुर्थ उद्देशक	878
		पारिभाषिक शब्दकोश	903-931

प्रस्तावना

प्रत्येक साधक चाहे वह श्रमण-श्रमणी हो या श्रावक-श्राविका—का लक्ष्य मोक्ष है। उसका प्रत्येक पग अपने साध्य-पथ पर बढ़ता है। परन्तु पथ पर कदम रखने के पूर्व उस पथ का ज्ञान होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसलिए जैनागमों में क्रिया के पहले ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है। आगम में यहां तक उल्लेख मिलता है कि सम्यक् चारित्र के अभाव में ज्ञान सम्यक् रह सकता है, परन्तु सम्यक् ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता। इसलिए क्रिया के पहले ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया गया है। साधक को यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करने में सहायक हो सकती है और सम्यक् ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही मोक्षमार्ग का आराधक हो सकता है।

ज्ञान के 5 भेद हैं—1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान। इनमें प्रथम के दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं और शेष तीन ज्ञान अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों का ज्ञान करने में इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। तीसरा और चौथा ज्ञान सीमित क्षेत्र में स्थित सीमित पदार्थों को जानता-देखता है, परन्तु केवलज्ञान असीम होता है। वह समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता-देखता है। उससे लोकालोक का कोई पदार्थ एवं भाव छिपा हुआ नहीं रहता। अतः वह पूर्णतः अनावृत होता है।

श्रुतज्ञान का महत्त्व

इन पांचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान उपकारी माना गया है, क्योंकि श्रुतज्ञान सर्वज्ञ पुरुषों की वाणी है। इसमें द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। वस्तुतः तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करके द्वादशांगी का उपदेश देते हैं और इसी को श्रुतसाहित्य या श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों एवं बुद्धि के द्वारा पदार्थों का बोध करना और श्रुतज्ञान का अभिप्राय है कि सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुतसाहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करके पदार्थों का सही बोध करना। अपनी बुद्धि को यथार्थ रूप से सोचने-समझने की प्रेरणा श्रुतज्ञान से ही मिलती है। श्रुतज्ञान के आधार पर ही

साधक पदार्थों की सही जानकारी कर सकता है और वह अपने चिन्तन का विकास करके आगे बढ़ सकता है। आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि साधक श्रुतज्ञान को सुनकर या पढ़कर ही कल्याणकारी एवं पापकारी अथवा हेय एवं उपादेय पथ को जान सकता है¹। उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर पूछा गया है कि श्रुतज्ञान की आराधना से क्या फल मिलता है। भगवान्‌ फरमाते हैं कि श्रुतज्ञान की आराधना के द्वारा साधक ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करता है²। वह आत्मज्ञान की ज्योति पर आए हुए आवरण को अनावृत करते-करते एक दिन निरावरण केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस तरह श्रुतज्ञान साध्य की सिद्धि में विशेष सहायक होने के कारण उपकारी माना गया है³। वर्तमान युग में साधक श्रुतज्ञान के आधार पर ही पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके आत्मा का विकास कर सकता है, मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ा सकता है। अतः आत्मविकास के लिए श्रुतज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

तीर्थकर सर्वज्ञ होते ही तीर्थ-संघ की स्थापना करते हैं और भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। उन विस्तृत प्रवचनों को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं, अर्थात् उस अर्थरूप वाणी का संक्षिप्त संस्करण तैयार करते हैं। उसे द्वादशांगी कहते हैं⁴। इस द्वादशांगी के निर्माता गणधर होते हैं, परन्तु इसका मूलाधार तीर्थकरों की वाणी है। वे उन्हीं भावों को संक्षेप में अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु वे उसमें अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाते हैं। इसलिए द्वादशांगी सर्वज्ञ (तीर्थकर) प्रणीत कहलाती है।

द्वादशांगी में आचारांग का स्थान

द्वादशांगी में आचारांग सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथम अंग सूत्र है। जितने तीर्थकर हुए हैं, उन सबने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया है। वर्तमान

1. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावणं। —दशवैकालिक सूत्र, 4/11

2. सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते! जीवे किं जाणयइ?

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सई।

—उत्तराध्ययन सूत्र, 29/24

3. अनुयोगद्वार सूत्र।

4. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तई।

—अनुयोगद्वार सूत्र और आवश्यक निर्युक्ति।

काल में जो तीर्थंकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान हैं, वे भी अपने शासन-काल में सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश देते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। गणधर भी इसी क्रम से अंग सूत्रों को ग्रंथित करते हैं।

आचारांग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान देने के रहस्य का उद्घाटन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि यह मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है¹। प्रश्नोत्तर के रूप में आचार के महत्त्व को बताते हुए निर्युक्तिकार प्रश्न उठाते हैं कि अंग सूत्रों का सार क्या है, आचार। आचार का सार क्या है, अनुयोग—अर्थ। अनुयोग का सार क्या है, प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है, सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है, निर्वाण पद की प्राप्ति। निर्वाण पद पाने का सार क्या है, अक्षय सुख को प्राप्त करना²। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति एवं अव्याबाध सुख का मूल आचार है; क्योंकि कर्म के आने का कारण भी क्रिया है और निर्जरा का कारण भी क्रिया है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया निर्जरा का कारण है। अतः ज्ञान एवं क्रिया की समन्वित साधना से मुक्ति मानने वाले जैनागमों में सम्यग्दृष्टि को क्रियावादी भी कहा गया है। इसका कारण यही है कि क्रिया के बिना आत्मा अक्रिय अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु, मुक्ति के लिए सबसे पहली आवश्यकता चारित्र है। चारित्र शब्द का अर्थ है—कर्मजल को खाली करना या कर्मसमूह का नाश करना³। इसी कारण सभी तीर्थंकर भगवान तीर्थ की स्थापना करते समय सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश देते हैं।

1. सब्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।

सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुब्बीए॥

आयारो अंगाणं पढमं, अंगं दुवालसण्हंपि।

इत्थं य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥

—आचारांग निर्युक्ति, 9/9

2. अंगाणं किं सारो? आयारो, तस्स हघइ किं सारो?

अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो॥

सारो परूवणाए चरणं, तस्सवि य होइ निव्वाणं।

निव्वाणस्स उ सारो अब्बावाहं जिणावित्ति॥

—आचारांग निर्युक्ति, 16/17

3. एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं।

—उत्तराध्ययन, 28/33

द्वादशांगी का वर्गीकरण

समस्त जैनवाङ्मय को चार अनुयोगों में विभक्त किया जा सकता है—
1. धर्मकथानुयोग, 2. गणितानुयोग, 3. द्रव्यानुयोग और 4. चरण-करणानुयोग।
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, अन्तकृतदशांग आदि सूत्र धर्म-कथानुयोग में आते हैं। गणितानुयोग में भगवती सूत्र एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगम माने जाते हैं। द्रव्यानुयोग संबंधी विवेचन स्थानांग, समवायाङ्गदि सूत्रों में उपलब्ध होता है और आचारांग सूत्र में चरण-करणानुयोग संबंधी वर्णन है।

प्रस्तुत वर्गीकरण में प्रयुक्त 'अनुयोग' शब्द का अर्थ है व्याख्या करना। वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है कि "सूत्र के पश्चात् उसके अर्थ का वर्णन करना या संक्षिप्त सूत्र का विस्तृत विवेचन करना अनुयोग कहलाता है¹।" इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरों का प्रवचन चार अनुयोगों में विभक्त होता है। या यों कहिए कि वे चार शैलियों में मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं या वस्तु तथा लोक का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं। इस आचारांग में चरण-करणानुयोग की शैली का स्पष्ट दर्शन होता है, क्योंकि यह आगम आधार का निरूपण करता है।

आचार पंचक

प्रस्तुत आगम में पांच आचारों का वर्णन मिलता है—1. ज्ञानाचार, 2. दर्शनाचार, 3. चारित्राचार, 4. तपाचार और 5. वीर्याचार। ज्ञानाचार का अर्थ है—ज्ञान की आराधना करना। आगम में इसके आठ भेद बताए गए हैं—1. नियत समय पर शास्त्र का स्वाध्याय करना, 2. विनय-भक्तिपूर्वक सूत्र का अनुशीलन करना, 3. बहुमानपूर्वक उसका अध्ययन करना, 4. उपधान—तप करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना, 5. जिससे आगम का ज्ञान प्राप्त किया हो, उसके नाम को गुप्त न रखना, 6. सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना, 7. उसके शुद्ध एवं यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना और 8. सूत्र और अर्थ को बहुमान एवं आदर पूर्वक स्वीकार करना²।

1. आचारस्यानुयोगः—अर्थकथनमाचारानुयोगः, सूत्रादनुपश्चादर्थस्यानुयोगोऽनुयोगः, सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना, अणोर्वा लघीयसः सूत्रस्य महताऽर्थेन योगोऽनुयोगः इति।
—आचारांग वृत्ति।

2. काले, विणए, बहुमाने, उवहाणे, तहा अणिण्हवणे।

वज्जण, अत्थ, तदुभए, अड्विहो णाणमायारो॥

उसी तरह दर्शनाचार के आठ भेद हैं—1. जिनवाणी में संशय नहीं करना, 2. अन्य मत की प्रशंसा नहीं करना, 3. स्वकृत कर्म के फल के विषय में सन्देह नहीं करना, 4. अमूढ़ दृष्टि होना, 5. गुणिजनों के गुणों की प्रशंसा करना, 6. धर्म से गिरते हुए व्यक्ति को धर्म में स्थिर करना, 7. स्वधर्मी भाइयों में वात्सल्य रखना और (धर्म की) प्रभावना करना¹।

आगम में चारित्राचार भी आठ प्रकार का बताया गया है—1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. आदाणभंडनिक्षेपणा समिति, 5. उच्चार-प्रश्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिष्ठापना समिति, 5. मन गुप्ति, 7. वचन गुप्ति और 8. काय गुप्ति। इस तरह पांच समिति और तीन गुप्ति इस आठ प्रवचन माता को चारित्राचार कहते हैं²।

तपाचार के बारह भेद बताए हैं—1. अनशन, 2. उनोदरी, 3. भिक्षाचरी, 4. रसत्याग, 5. काय-क्लेश और 6. प्रतिसंलीनता, ये बाह्य तप के 6 भेद हैं। और 1. प्रायश्चित्त, 2 विनय, 3 वैयावृत्य, 4 स्वाध्याय, 5 ध्यान और 6 कायोत्सर्ग, यह 6 प्रकार का आभ्यन्तर तप होता है। इस तरह तपाचार के 12 भेद होते हैं³।

वीर्याचार का परिपालन अनेक तरह से किया जा सकता है। इसे किसी निश्चित संख्या में नहीं बांधा जा सकता। वीर्य का अर्थ शक्ति है। अतः कर्म क्षय करना या संयम साधना में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना ही वीर्याचार है⁴। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में पांचों आचारों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

1. निस्संकिय, निकक्खिय, निव्वित्तिगिच्छ, अमूढदिट्ठी य।

उववूह, थिरीकरणे, वच्छल्ल, पभावणे अट्ठ॥

2. तिन्नेव य गुत्तीओ पंच समिइओ अट्ठ मिलियाओ।

पवयण-माईउ इमा तासु ठिओ चरण-संपन्नो॥

3. अणसणमूणोयरिया, वित्ति संखेवणं रसच्चाओ।

कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।

ज्ञाणं उस्सग्गो विय, अब्भित्तरओ तवो होइ॥

4. अणिगूहिय बलवीरिओ, परक्कमई जो जहुत्तमाउत्तो।

ज्ञाणं उस्सग्गो वि य, अब्भित्तरओ तवो होइ॥

प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतिपाद्य विषय

आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन हैं। आगमों में 'ब्रह्मचर्य' के नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। स्थानांग सूत्र में लिखा है—'ब्रह्मचर्य के नव अध्ययन हैं'—1. शस्त्र परिज्ञा, 2. लोक विजय, 3. शीतोष्णीय, 4. सम्यक्त्व, 5. लोकसार, 6. धूत, 7. विमोह, 8. उपधान और 9. महापरिज्ञा¹।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—कुशल अनुष्ठान। अस्तु, जिस आगम में कुशल अनुष्ठान-संयम साधना का वर्णन है, उसे 'ब्रह्मचर्य' अध्ययन कहते हैं। प्रस्तुत आगम में साध्याचार का ही विशेष रूप से वर्णन होने से इसका 'ब्रह्मचर्य अध्ययन' नाम दिया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। शस्त्र दो प्रकार के होते हैं— 1. द्रव्य शस्त्र और 2. भाव शस्त्र। लाठी, तलवार, पिस्तौल, बम्बादि द्रव्य-शस्त्र हैं और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि भाव शस्त्र हैं। 'परिज्ञा' का अर्थ है—शस्त्रों की भयंकरता एवं उनके द्वारा बढ़ने वाले संसार-परिभ्रमण के स्वरूप को जानकर उनका परित्याग करना। द्रव्य और भाव शस्त्रों का त्याग करना साधना का पहला कदम है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। लोक—संसार भी दो प्रकार का है— 1. द्रव्य और 2. भाव। द्रव्य लोक 4 गति रूप है और राग-द्वेष भाव लोक है। राग-द्वेष के कारण ही आत्मा द्रव्य लोक में परिभ्रमण करती है। अतः राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही लोक—संसार पर विजय प्राप्त करना है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्ययन का शीतोष्णीय नाम है। शीत का अर्थ है— अनुकूल परीषह और उष्ण का अभिप्राय है—प्रतिकूल परीषह। प्रस्तुत अध्ययन में यही बताया गया है कि साधना के पथ पर गतिशील साधु को अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर समभाव रखना चाहिए।

1. णव बंधवेरा पं. तंजहा—सत्यपरिन्ना, लोग-विजओ जाव उवहाणसुयं महापिरण्णा।

चतुर्थ सम्यक्त्व अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन में समभाव की साधना का उपदेश दिया गया है। साधु को दृष्टिमोह का त्याग करके अचल भाव से साधना में संलग्न रहने का वर्णन किया गया है।

पांचवाँ लोकसार अध्ययन है। रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ही लोक में सार पदार्थ हैं। अतः प्रस्तुत अध्ययन में कषाय त्याग एवं रत्नत्रय की साधना करने का उल्लेख किया गया है।

षष्ठ धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है—परिजनों के संग—आसक्ति का त्याग करना। क्योंकि पारिवारिक स्नेह एवं मोह साधक को संसार से ऊपर नहीं उठने देता। अतः मुमुक्षु को उनके संग—साथ का त्याग करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उल्लेख किया गया है।

सातवाँ विमोह अध्ययन है। मोह एवं राग-भाव-उत्पन्न परीषहों पर विजय प्राप्त करना ही साधक की सच्ची विजय है। अतः मोह से उत्पन्न होने वाले कष्टों से घबराकर साधु को यन्त्र-मन्त्र का सहारा नहीं लेना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उपदेश दिया गया है। परन्तु वर्तमान में प्रस्तुत अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

अष्टम अध्ययन का नाम उपधान या विमोक्ष है। उपधान का अर्थ तप होता है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्म का नाश करना आवश्यक है। कर्म-निर्जरा के लिए तप अनिवार्य है। इसलिए इसमें यह बताया गया है कि साधु को वस्त्र-पात्र में कमी करके परीषहों को सहन करना चाहिए और पण्डित-मरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना एवं अनशन व्रत को स्वीकार करके संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

नवम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसमें भगवान् महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। महा का अर्थ है—महान् और परिज्ञा का अर्थ है—संसार के स्वरूप को जानकर उसका परित्याग करना और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी त्याग-मार्ग से च्युत नहीं होना। भगवान् महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उसका अनुशीलन-परिशीलन करके मन में परीषहों को सहने की भावना जागृत होती है। अस्तु, प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर की विशिष्ट साधना का उल्लेख करके साधु को अपने साधना-पथ पर दृढ़ता से चलने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रायः साध्याचार का वर्णन किया गया है। वह पांच चूला रूप है और उसके 16 अध्ययन हैं।

निर्युक्तिकार का कहना है कि आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पद हैं। पंचचूलात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पदों की संख्या इससे भिन्न है¹। टीकाकार ने भी निर्युक्तिकार के विचारों का समर्थन किया है। आचारांग-वृत्ति के रचयिता शीलांक आचार्य, नवांगी वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि एवं आचार्य मलयगिरि प्रभृति टीकाकारों ने भी येन-केन प्रकारेण निर्युक्तिकार के मत को ही परिपुष्ट किया है।

परन्तु जब हम आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो निर्युक्तिकार का मत उचित प्रतीत नहीं होता है। आगमों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि “चूलिका सहित आचारांग भगवान के 18 हजार पद हैं।” इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही नहीं, अपितु उभय श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद हैं²। प्रस्तुत पाठ की टीका में आचार्य अभय देव सूरि ने निर्युक्ति के मत को ही पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं कि “प्रस्तुत में जो पद-संख्या दी गई है वह समग्र आचारांग की नहीं, प्रत्युत नव अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध की समझनी चाहिए। क्योंकि निर्युक्तिकार ने केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही 18 हजार पद बताए हैं, चूलिका सहित सम्पूर्ण आचारांग के नहीं। मूल पाठ में जो चूलिका सहित (सचूलियागस्स) पद दिया है, उस का अभिप्राय केवल चूलिकाओं की सत्ता का प्रतिपादन करना है, न कि चूलिका सहित समग्र आचारांग की पद संख्या बतलाना। अतः प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पद हैं और सूत्रों का अर्थ बहुत विचित्र है। इसलिए वह गुरु परम्परा से ही समझा जा सकता है³।

1. नव बंधचेरमइयो अट्टारस पयसहस्सियो वेओ।

हवइ य सपंच चूलो बहु-बहुत्तरओ पयग्गेण॥

—आचारांग निर्युक्ति

2. आचारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स अट्टारस्स पय सहस्साइ पयग्गेणं।

—समवायांगमूत्र 18

3. स च नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मक प्रथमश्रुतस्कन्ध रूपः तस्यैवचेदं पदप्रमाणं न चूलानाम्, यदाह—“नव बंधचेरमइओ अट्टारस्सय पय सहस्सीओ वेओ, हवइ य सपंच चूलो बहु बहुत्तरओ पयग्गेणं ॥1॥ ति। यच्च सचूलिकाकस्येति विशेषणं तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् न तु पदप्रमाणाभिधानार्थम्। यतोऽवाचि नन्दी-टीका कृता—‘अट्टारस पय सहस्साणि पुण पढम सुयखंधस्स, नव बंधचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणिय सुत्ताणि गुरुवएसओ तेसिं अत्थो जाणिअव्वो।

—समवायांग टीका

प्रस्तुत विवेचन में आचार्य अभदेव सूरि ने निर्युक्ति का अंधानुकरण किया है। आगम का मूल पाठ सम्पूर्ण आचारांग के 18 हजार पदों का स्पष्ट उल्लेख कर रहा है; फिर भी टीकाकार उसे इसलिए नहीं मान रहे हैं कि निर्युक्तिकार उससे सहमत नहीं है। वे निर्युक्ति को आगम से अधिक प्रामाणिक मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी टीका में जो नन्दी सूत्र के टीकाकार का उल्लेख किया है, वह भी आगम के अनुकूल नहीं है। नन्दी सूत्र के मूल पाठ में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'प्रथम अंग (आचारांग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं, 85 उद्देशन काल, 85 समुद्देशन काल हैं और 18 हजार पद हैं¹। प्रस्तुत पाठ में आचारांग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह स्पष्ट ही है। इसमें आचारांग के उभय श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद स्वीकार किए हैं, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नहीं। यदि सूत्रकार को प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पदों का उल्लेख करना होता तो वे सम्पूर्ण सूत्र के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करने से पूर्व ही उसका उल्लेख कर देते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे स्पष्ट होता है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद हैं।

आचार्य मलयगिरि ने उक्त सूत्र की टीका करते समय अभयदेव सूरि का ही अनुकरण किया है। उन्होंने जिस रूप में निर्युक्ति का समर्थन किया है, उससे उनकी परवशता ही झलकती है। पद-प्रमाण के विषय में आप प्रश्नोत्तर के रूप में लिखते हैं कि यदि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, 25 अध्ययन और 18 हजार पद मानें तो निर्युक्तिकार के कथन से विरोध होगा। क्योंकि वे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही 18 हजार पद मानते हैं। जबकि नन्दी सूत्र के मूल पाठ में दोनों श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद माने गए हैं? इस प्रश्न के समाधान में वे लिखते हैं कि 'प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध और 25 अध्ययन हैं, परन्तु 18 हजार पद सम्पूर्ण आचारांग के नहीं, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही हैं। इस सूत्र से यही अर्थ अभिप्रेत है। क्योंकि सूत्र अर्थ विलक्षण होता है। अतः गुरु परम्परा से ही उसे समझा जा सकता है²।

इससे यही स्पष्ट होता है कि टीकाकारों को निर्युक्ति के विचारों का मोह है।

1. पढमे अंगे दो सुयखंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीइं उद्देशणकाला पंचासीइं समुद्देशणकाला, अद्धारस्स पयसहस्साणि पयग्गेणं।
—नन्दी सूत्र, द्वादशांगी वर्णन

2. समवायांग टीका

जबकि आचार्य मलयगिरि स्वयं मानते हैं कि मूल पाठ में समग्र आचारांग के 18 हजार पद माने गए हैं। परन्तु वे उसका समर्थन इसलिए नहीं कर पा रहे हैं कि निर्युक्तिकार इससे सहमत नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी बुद्धि एवं चिन्तन स्वातन्त्र्य को भी खो दिया।

हम यह नहीं समझ पाए कि प्रस्तुत पाठ में अर्थ-वैचित्र्य क्या है और गुरु-परम्परा क्या है? नन्दी सूत्र में सूत्रकृतांग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही पाठ मिलता है कि “दूसरे अंग (सूत्रकृतांग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध, 23 अध्ययन, 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशन काल और 36 हजार पद हैं¹। आचारांग सूत्र के जैसा वर्णन होने पर भी टीकाकार ने प्रस्तुत आगम के दोनों श्रुतस्कन्धों के 36 हजार पद माने हैं। इससे स्पष्ट होता है कि टीकाकारों ने अपनी बुद्धि से बिना सोचे-समझे ही निर्युक्ति का अनुकरण मात्र किया है। अतः यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता और जब मूल पाठ सामने हो तब निर्युक्ति किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि मूल पाठ स्वतः प्रमाण है और निर्युक्ति एवं टीका आदि परतः प्रमाण हैं। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि समग्र आचारांग के ही 18 हजार पद हैं।

आचारांग की भाषा

भाषा ग्रंथ का प्राण है। किसी भी ग्रंथ के आन्तरिक एवं बाह्य परिचय को प्राप्त करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण साधन है। उससे ग्रन्थ का यथार्थ सामने आ जाता है और उसके आधार पर किया गया निर्णय अधिक प्रामाणिक एवं संतोषप्रद होता है।

जैनागमों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं²। केवल तीर्थंकर ही नहीं, प्रत्युत देव एवं आर्य पुरुष भी अर्द्धमागधी भाषा में बोलते हैं। भगवती एवं प्रज्ञापना सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि

1. बिइए अंगे दो सुयखंधा, तेवीसं अज्झयणा, तितीसं उद्देसणकाला,
तितीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं।

—नन्दी सूत्र, द्वादशांगी अधिकार

2. भगवं य णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायांग सूत्र, 34

अद्धमागहीए भासाए भासइ अरिहा धम्मं परिकहेइ।

—औपपातिक सूत्र।

देवों एवं आर्यों की अर्द्धमागधी भाषा है।¹ इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्धमागधी भाषा गहन-गम्भीर एवं श्रेष्ठ मानी गई है। ऐतिहासिक अन्वेषण से भी यह स्पष्ट होता है कि यह भारत की अति प्राचीन भाषा रही है। संस्कृत का उद्गम भी इसी भाषा से हुआ है।

प्रस्तुत आगम भी अर्द्धमागधी भाषा में रचा गया है। प्रस्तुत आगम की भाषा एवं शैली अधिक प्राचीन है। इसमें आर्ष अर्द्धमागधी के अधिक प्रयोग मिलते हैं। इसका प्रत्येक पद अर्थ गाम्भीर्य, पद लालित्य एवं भाषा सौष्ठव को लिए हुए है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांगसूत्र सबसे प्राचीन है और इसी कारण इसकी अत्यधिक महत्ता है।

सूत्र शब्द का विश्लेषण

जैन परम्परा में आगमों का सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया गया है। आचारांग श्रुत-आगम साहित्य का सर्व प्रथम सूत्र ग्रंथ है। सूत्र शब्द के भेद एवं उसकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु बृहत्कल्प सूत्र की निर्युक्ति में लिखते हैं—

1. सूत्र अर्थ से आबोधित होता है, 2. सुप्त है, 3. श्लेष है, 4. सूक्त है, 5. सूचक है, 6. सूचिका—सूई है, 7. उत्पादक है, 8. अनुसरण कर्ता है।

1. अर्थ से आबोधित—सूत्र अर्थ रूप से विस्तृत शब्दों का संक्षिप्त रूप होता है। उसमें अर्थ अन्तर्निहित रहते हैं।

2. सुप्त—जैसे 72 कलाओं में प्रवीण पुरुष जब सो जाता है, तब उसे अपनी

1. से किं त भासारिया? भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासंति तत्थवि य णं जत्थ बंभी लिवी पवत्तइ। बंभीए णं लिविए अट्टारस्सविहे लेक्खविहाणे पं. तं. बंभी 1 जवणाणिया 2 दोसाउरिया 3 खरोट्ठी 4 पुक्खरसारिया 5 भोगवइया 6 पहराइया 7 अंतक्खरिया 8 अक्खरपुड्डिया 9 वेणइया 10 निण्हइया 11 अंकलिवी 12 गणिय लिवी 13, गन्धव्वलिवी 14 आयंसलिवी 15 माहेसरी 16 दामिलिवी 17 पोलिंदी 18 से तं भासारिया।

—प्रज्ञापना पद 1

देवा णं भंते! कयराए भासाए भासंति? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति?

गोयमा! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति सा वि य णं अद्धमागहीभासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।

—भगवती. श. 5 उ. 4, सू. 191

कलाओं का कोई ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु जागृत होते ही उसका ज्ञान भी जागृत हो जाता है। इसी तरह जब तक सूत्र का अर्थ के द्वारा बोध नहीं कराया जाता, तब तक उसके अर्थ को नहीं जाना जा सकता। परन्तु ज्यों ही उसके अर्थ का परिज्ञान करा दिया जाता है, त्यों ही वह अपने समस्त अर्थों को अभिव्यक्त करने लगता है।

3. श्लेष—जैसे श्लेष में अनेक तन्तु संघटित-मिले हुए होते हैं, उसी तरह सूत्र में अनेक अर्थ सन्निहित रहते हैं।

4. सूक्त—सूत्र सुन्दर एवं शोभनीय लगता है। इसलिए इसे सूक्त कहा है।

5. सूचक—सूई खो जाने पर जल्दी नहीं मिलती। परन्तु यदि वह सूत्र-धागे के साथ हो तो शीघ्र मिल जाती है। सूत्र धागे का सूचक है। इसी तरह सूत्र आगम के द्वारा उपदिष्ट अर्थ रूप वाणी की सूचना मिलती है।

6. सूचिका—जैसे सूचिका—सूई से वस्त्रों की सिलाई करके उन्हें एक जगह जोड़ लिया जाता है; उसी तरह सूत्र भी अनेक अर्थों को संकलित करता है।

7. उत्पादक—जैसे अग्नि में सूर्यकान्त मणि और जल में चन्द्रकान्त मणि अपनी प्रभा को प्रकट करती है, उसी प्रकार सूत्र भी अर्थ का प्रसव—उत्पादन (पैदा) करता है, इसलिए इसे उत्पादक कहते हैं।

8. अनुसरण—अनुसरण द्रव्य और भाव से दो प्रकार का कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अन्ध वणिकपुत्र का दृष्टान्त दिया गया है। एक दिन वैश्य ने सोचा कि यह अन्धपुत्र निकम्मा बैठकर खाएगा तो इसका तिरस्कार होगा। अतः उस वैश्य ने अपने घर के आगे पीछे दो स्तम्भ खड़े कर दिए और उसमें एक रस्सी बांध दी और उसे कहा कि इस रस्सी के सहारे तुम इस कचरे को बाहर फेंक दिया करो। इस तरह पिता के वचनों का अनुसरण करने से उसका जीवन सम्मान पूर्वक बीतने लगा। यहां आचार्य पिता के तुल्य हैं, साधु अन्धे पुत्र के समान है, सूत्र रस्सी के तुल्य है और अष्ट कर्म कचरे के समान हैं। साधक सूत्र का अनुसरण करके अष्ट कर्ममल से रहित हो जाता है, अतः इसे अनुसरण कहा है¹।

1. सुत्तं तु सुत्तमेव उ, अहवा सुत्तं तु तं भवो लेसो।

अथस्स सूयणा वा, सुवुत्तापिड वा भवे सुत्ता॥

इसके अतिरिक्त सूत्र के और भी भेद बताए गए हैं। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार कहते हैं कि सूत्र तीन प्रकार का होता है—1. संज्ञा सूत्र, 2. कारक सूत्र और 3. प्रकरण सूत्र अथवा उत्सर्ग और अपवाद के भेद से भी सूत्र दो प्रकार का होता है। इसमें उत्सर्ग अल्प है या अपवाद, इसका उत्तर यह दिया गया है कि उभय सूत्र अपने-अपने स्थान पर श्रेयस्कर और बलवान हैं¹।

संज्ञा सूत्र—जो सूत्र सामयिक संज्ञा के द्वारा किसी बात का निर्देश करता है, उसे संज्ञा सूत्र कहते हैं। जैसे—‘जे छेए से सागारियं परियाहरे’ आचारांग सूत्र के इस पाठ में मैथुन के लिए ‘सागारियं’ शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह दोष के लिए ‘आमगन्ध’। संसार के लिए ‘आर’ और मोक्ष के लिए ‘पार’ शब्द का प्रयोग किया गया है, ये सब संज्ञा सूत्र हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि संज्ञा सूत्र का प्रयोग करने से क्या लाभ है। इससे सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि पारस्परिक सभ्यता एवं शिष्टता का पालन हाता है। जैसे प्रवचन करते समय या कभी साधु साध्वी को सूत्र का अध्ययन कराते समय मैथुन आदि अशिष्ट शब्दों के स्थान में ‘सागारियं’ आदि संज्ञा शब्दों का प्रयोग करने से व्यावहारिक शिष्टता का भंग नहीं होता है और साधु-साध्वी एवं अन्य उपस्थित व्यक्तियों को लज्जित होने का प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता है²।

नेरुत्तियाइं तस्स उ सुयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति ।
अणुसरत्तित्ति य भेया, तस्स उ नामा इमा हुंति॥
पासुत्तसमं सुत्तं अत्थेणाबोहियं न तं जाणे ।
लेस सरिसेण तेणं अत्था संघाइया बहवे॥
सुइज्जइ सुत्तेणं सूई नट्ठावि तह सुएणत्थो ।
सिव्वइ अत्थ पयाणि व, जह सुत्तं कंचुगाईणि॥
सूरमणी जलकंतो व अत्थमेवं तु पसवई सुत्तं ।
वणिय सुयंघं कयवरे तदणुसरंतो रयं एवा॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति, गाथा 310—314

1. सन्ना य, कारगे, पकरणे य सुत्तं तु तं भवे तिविहं ।

उत्सर्गे, अववाए, अप्पे सेए य बलवते॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति, 315

2. बृहत्कल्प निर्युक्ति, 316

कुछ विचारक संज्ञा सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जिसमें किसी अर्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए। वस्तुतः वस्तु के नाम-निर्देश को संज्ञा कहते हैं। अतः नाम-निर्देशक सूत्र 'संज्ञा सूत्र' कहलाते हैं।

कारक सूत्र—जिस सूत्र में विचार-चर्चा या शंका-समाधान के द्वारा किसी विधान की परिपुष्टि की जाए, उसे 'कारक सूत्र' कहते हैं। जैसे—भगवती सूत्र में यह उल्लेख किया गया है कि "आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मों की कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है।" इसके बाद गौतम स्वामी इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी करने के लिए भगवान से प्रश्न पूछते हैं और शंका-समाधान के द्वारा वस्तु का निर्णय करते हैं। इस तरह विचार-चर्चा के द्वारा किए गए निर्णय को 'कारक सूत्र' कहते हैं।

प्रकरण सूत्र—जिन सूत्रों में स्व समय की अपेक्षा से ही आक्षेप और निर्णय का वर्णन किया गया हो, उसे 'प्रकरण सूत्र' कहते हैं। नमिपव्यज्जा, केसीगौतमीय, नालन्दी आदि उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग आदि के अध्ययन 'प्रकरण सूत्र' की शैली में रचे गए हैं।

उत्सर्ग और अपवाद

निर्युक्तिकार ने सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद दो भेद किए हैं तथा उत्सर्ग, अपवाद और उत्सर्ग-अपवाद ये तीन और उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग ये चार भेद भी किए हैं। जो सूत्र निषेध प्रधान है, वह उत्सर्ग सूत्र है; जो विधि प्रधान है वह अपवाद सूत्र, जो निषेध और विधि प्रधान है वह उत्सर्ग-अपवाद सूत्र है और जो विधि और निषेध प्रधान है वह अपवाद-उत्सर्ग सूत्र है। जैसे—साधु-साध्वी को अपक्व ताल फल अभिन्न (बिना काटा हुआ) लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग सूत्र है। साधु को पक्व (पका हुआ) ताल फल भिन्न या अभिनन लेना कल्पता है, यह अपवाद सूत्र है। साधु-साध्वी को परस्पर एक-दूसरे के प्रसवण को देना-लेना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता, परन्तु असाध्य रोग एवं विशेष परिस्थिति में

1. आहाकम्मन्नं भुंजमाणे समणे निगंथे कइ कम्म-पगडीओ बंधति? गोयमा!

आउ वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चई?

—भगवती सूत्र, 1/9

एक-दूसरे को लेना-देना भी कल्पता है और साधु-साध्वी फल का गूदा ग्रहण कर ले, परन्तु गुठली को ग्रहण न करे¹।

पहला उदाहरण पूर्णतः निषेध का है। साधु को कच्चा तालफल लेना नहीं कल्पता, यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु वह फल पक्व हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद मार्ग है। शेष दो भेद क्रमशः उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग के हैं और वे इस विधि और निषेध को साथ लेकर ही बनाए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्ति उत्सर्ग मार्ग और प्रवृत्ति अपवाद मार्ग है।

परन्तु हैं दोनों ही मार्ग। साधक सदा-सर्वदा उत्सर्ग मार्ग पर गति नहीं कर सकता है। जैसे पटना या कोलकाता आदि शहरों को जाने वाला पथिक निरन्तर दौड़ता हुआ राह को तय नहीं कर सकता है। इतने लम्बे मार्ग को पार करने के लिए वह रास्ते में बैठता भी है, शयन भी करता है, आहार-पानी भी करता है, मल-मूत्र का भी त्याग करता है, तब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचता है। इसी तरह साधक भी साधना-पथ पर चलते-चलते विघ्न-बाधाएं या रोग आदि के उपस्थित होने पर अपवाद मार्ग का सहारा न ले तो वह शुद्ध संयम का पूर्णरूपेण परिपालन नहीं कर सकता। अतः महापुरुषों ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को मार्ग कहा है और अपने-अपने स्थान पर दोनों को श्रेयस्कर एवं समान बल वाला कहा है। परन्तु पर-स्थान में दोनों अश्रेयस्कर हैं। स्व-स्थान और पर-स्थान साधक की अपेक्षा से हैं। समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्व-स्थान एवं अपवाद पर-स्थान है और असमर्थ साधक के लिए रोगादि अवस्था में अपवाद स्व-स्थान और उत्सर्ग पर-स्थान है। जिस समय साधक स्वस्थ है, परीषहों को सहन करने में सक्षम है, उस समय यदि वह अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेता है, तो अपवाद मार्ग उसके लिए परस्थान है, अश्रेयस्कर है। इसी तरह अवस्था एवं विकट परिस्थिति में साधक परीषहों को सहने में सक्षम नहीं है, उसका मन

-
1. (1) नो कप्पइ निग्गंधाणं-निग्गंधीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगहितए। (2) कप्पइ निग्गंधाणं-निग्गंधीणं पक्के तालपलंबे भिन्नेऽभिन्ने वा पडिगहितए। (3) नो कप्पइ निग्गंधाणं वा निग्गंधीणं वा अन्नमनन्नस्स मोयं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्था गादेहिं रोगायंकेहिं। (4) चम्ममंसं च दलाहि मा अट्ठियासि।

—बृहत्कल्प सूत्र, 1, 1, 1, 3, 5, 47-48 आचारांग सूत्र

डांवाडोल हो रहा है, उस समय अपवाद मार्ग उसके लिए स्वस्थान है, श्रेयस्कर है। यदि ऐसी स्थिति में वह अपवाद मार्ग पर न चलकर उत्सर्ग पर चलने का ही हठ रखता है तो उसकी साधना में पूर्ण विशुद्धता नहीं रह पाती। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि साधक को अपनी योग्यता के अनुसार परिस्थितिवश अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़े तब भी वह साधना-पथ से च्युत नहीं होता है, उसके महाव्रतों का भंग नहीं होता है। क्योंकि उत्सर्ग की तरह अपवाद भी साध्य को सिद्ध करने का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने की भी वीतराग (तीर्थकर) भगवान की आज्ञा है। और आज्ञा में प्रवृत्ति करना धर्म है¹।

निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है आगम में उत्सर्ग और अपवाद दोनों तरह के सूत्र मिलते हैं। साधक के लिए दोनों मार्गों का अवलम्बन लेने की आज्ञा दी गई है। अतः दोनों ही मार्ग अपने स्थान पर श्रेयस्कर हैं और दोनों मार्गों का अवलम्बन लेकर ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। अतः उत्सर्ग के द्वारा अपवाद प्रसिद्ध है और अपवाद के द्वारा उत्सर्ग प्रसिद्ध है। दोनों ही समान बल वाले हैं, इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है²।

सूत्र का लक्षण

‘सूत्र’ शब्द की परिभाषा करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि “जो अक्षर-संख्या में अल्प और अर्थ से महान एवं विराट हो तथा बत्तीस दोषों से रहित एवं आठ गुणों से संयुक्त हो उसे ‘सूत्र’ कहते हैं³।” प्रस्तुत गाथा में उल्लिखित “थोड़े शब्दों में विस्तृत अर्थ को व्यक्त करने वाला सूत्र कहलाता है।” यह सूत्र का लक्षण है और “वह 32 दोषों से रहित एवं अष्ट गुणों से युक्त है।” यह अंश उसकी विशेषता को प्रकट करता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि निर्युक्ति में सूत्र के जिन 32 दोषों एवं अष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है, वह निर्युक्तिकार का अपना अभिमत है, मूल आगमों में इस

1. आणाए धम्मं।

—आचारांग सूत्र

2. बृहत्कल्प निर्युक्ति गाथा 319-323

3. अप्पग्गन्थ महत्थं बत्तीसा दोस निरहियं जं च।

लक्षणं जुत्तं सुत्तं, अट्ठगुणेहिं उववेयं॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति 324

सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। आगमों में भी सूत्र के गुण-दोषों का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र में भी सूत्र के आठ गुणों एवं 32 दोषों का वर्णन मिलता है¹। निर्युक्तिकार ने 32 दोषों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1. अनृतदोष—सत्य का अपलाप करना एवं असत्य की स्थापना करना अनृत दोष है। जैसे—अनादि काल से चले आ रहे जगत को ईश्वर कर्तृक बतलाना असत्य की स्थापना करना है और आत्मा, परलोकादि के अस्तित्व का निषेध करना सत्य का अपलाप करना है।

2. उपघात—हिंसा का विधान करना उपघात दोष है। जैसे—वेद-विहित हिंसा हिंसा (पाप) नहीं, धर्म है।

3. निरर्थक—जिस सूत्र में मात्र वर्णों का निर्देश हो, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकलता हो, वह सूत्र का निरर्थक दोष है जैसे—अ आ इ ई या डित्थ-डवित्थ आदि।

4. अपार्थक—जो सूत्र असम्बद्धार्थक हो या अर्थ के संबंध से शून्य हो, उसे अपार्थक कहते हैं। जैसे—दशदाडिमानि षड्पूपा आदि।

5. छल—जहां विवक्षित अर्थ का अनिष्ट अर्थान्तर के द्वारा उपघात किया जाए, उसे छल कहते हैं। जैसे—किसी ने कहा—देवदत्त के पास नव (नया) कम्बल है। उसने 'नव' शब्द का नवीन के अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु कोई व्यक्ति यह कह कर उसका विरोध करे कि उसके पास नव (9) कम्बल कहाँ हैं? वह नवीन अर्थ में प्रयुक्त नव शब्द को संख्यावाची बनाकर विरोध करे तो यह छल है।

6. द्रुहिल—जो सूत्र साधक को अहितकर उपदेश दे और पाप कार्य का परिपोषक हो उसे द्रुहिल कहते हैं।

7. निस्तार—जिस सूत्र में कोई युक्ति या तर्क न हो, केवल शब्दाडम्बर हो उसे निस्तार कहते हैं।

8. अधिक—जिस सूत्र में पद या अक्षर अधिक हों या एक हेतु या उदाहरण से अर्थ की सिद्धि होने पर भी कई हेतु एवं उदाहरण दिए हों, उसे अधिक दोष कहते हैं।

1. छद्मेसे अङ्गुणे तिण्णि विथ वित्ताइं।

एए नव कव्वरसा बत्तीसा दोस विहि समुण्णणा।

—अनुयोग द्वार सूत्र; 46, 82

9. **ऊन**—जिसमें अक्षर, मात्रा, पद आदि कम हों, वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे—जैसे कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहां उदाहरण की कमी है।

10. **पुनरुक्त**—एक ही बात को पुनः-पुनः दोहराना पुनरुक्त दोष कहलाता है।

11. **व्याहत**—जिस सूत्र में पूर्व कथन का पर-वाक्य से खण्डन होता है, उसे व्याहत दोष कहते हैं।

12. **अयुक्त**—जो वाक्य उपपत्ति से युक्त न हो, उसे अयुक्त दोष कहते हैं।

13. **क्रम भिन्न**—जिसमें पदार्थों को क्रमशः न रखा जाए, उसे क्रम भिन्न दोष कहते हैं। जैसे—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय न कहकर घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श और रसनेन्द्रिय कहना क्रमभिन्न दोष है।

14. **वचन भिन्न**—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण में वचन भिन्न हो, उसे वचन भिन्न दोष कहते हैं।

15. **विभक्ति भिन्न**—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण में विभक्ति भिन्न हो उसे विभक्ति भिन्न दोष कहते हैं।

16. **लिंग भिन्न**—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण में लिंगभिन्न हो, उसे लिंगभिन्न दोष कहते हैं।

17. **अनभिहित**—अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के विरुद्ध पदार्थों का वर्णन करना अनभिहित दोष है।

18. **अपद**—पद्य-छन्द के सम्बन्ध में अनुचित योजना करना अपद दोष है।

19. **स्वभावहीन**—जिस सूत्र में वस्तु का स्वभाव से विपरीत चित्रण किया जाए, उसे स्वभावहीन दोष कहते हैं।

20. **व्यवहित**—प्रासंगिक विषय को छोड़ कर अप्रासंगिक विषय का वर्णन करना और पुनः प्रासंगिक विषय पर आ जाना व्यवहित दोष है।

21. **कालदोष**—जिस सूत्र में भूत, भविष्य और वर्तमान काल का ध्यान न रखा हो वह कालदोष कहलाता है।

22. **यतिदोष**—पद्य या गद्य रचना में पूर्णविराम, अर्धविराम आदि का ध्यान न रखना यतिदोष है।

23. **छविदोष**—जहां पर कोई विशेष अलंकार उपयुक्त हो, फिर भी उसे वहां नहीं कहना छविदोष कहलाता है।

24. समय विरुद्ध—किसी के मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध मत की स्थापना करना समय विरुद्ध दोष है। जैसे—वेदान्त को द्वैतवादी और जैनदर्शन को अद्वैतवादी कहना समय विरुद्ध दोष है।

25. निर्हेतुक—जिस सूत्र में युक्ति-हेतु आदि कुछ न हो, केवल शब्द मात्र हो, उसे निर्हेतुक दोष कहते हैं।

26. अर्थापत्ति—जिस वाक्य का अर्थापत्ति से अनिष्ट अर्थ निकलता हो, उसे अर्थापत्ति दोष कहते हैं।

27. असमास—जिस जगह समास होता हो, वहां समास नहीं करना या विपरीत समास करना असमास दोष कहलाता है।

28. उपमादोष—उपमा दोष दो प्रकार का है—1. हीनोपमा और 2. अधिकोपमा। जैसे मेरु पर्वत को सरसों, राई के दाने की उपमा देना हीनोपमा है और सरसों के दाने को मेरु बताना अधिकोपमा है और ये दोनों दोष हैं।

29. रूपक दोष—पदार्थ के स्वरूप एवं अवयवों का विपरीत रूपक के द्वारा वर्णन करना रूपक दोष है।

30. निर्देश दोष—निर्दिष्ट पदों में एकरूपता नहीं रखना निर्देश दोष है।

31. पदार्थ दोष—पदार्थ के पर्याय को पदार्थान्तर से वर्णन करना पदार्थ दोष है।

32. सन्धि दोष—जहां पर सन्धि होती हो वहां सन्धि नहीं करना या विपरीत सन्धि करना सन्धि दोष कहलाता है।

अष्ट गुण

1. निर्दोष—समस्त दोषों से रहित हो।
2. सारवत्—जो अनेक पर्यायों से युक्त हो।
3. हेतुयुक्त—अन्वय, व्यतिरेक आदि हेतुओं से संयुक्त हो।
4. अलंकृत—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से विभूषित हो।
5. उपनीत—उपनय के द्वारा जिसका उपसंहार किया गया हो।
6. सोपचार—जो असभ्य कहावतों से नहीं, बल्कि सभ्य एवं शिष्ट कहावतों से युक्त हो।
7. मित—वर्णादि के नियत परिमाण से युक्त हो।

8. मधुर—जो सुनने में मधुर हो।

आचारांग सूत्र में प्रयुक्त सूत्रों में थोड़े शब्दों में विस्तृत अर्थ समाविष्ट कर दिया गया और ये सूत्र भी उक्त दोषों से रहित एवं गुणों से युक्त हैं।

आचारांग का महत्त्व

यह हम पहले बात चुके हैं कि आचारांग द्वादशांगी का सार है। क्योंकि द्वादशांगी के उपदेश का उद्देश्य है—मोक्ष मार्ग को बताना और मोक्ष के लिए आचार का परिपालन करना अत्यावश्यक है। आचारांग में आचार का ही उपदेश दिया गया है, अतः यह तीर्थंकरों की वाणी का सार है। अतः साधु-जीवन के लिए इसका स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करना तथा इसे आचरण में साकार रूप देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। व्यवहार सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि नव दीक्षित साधु या साध्वी प्रमादवश या रोगादि के कारण आचारांग सूत्र को भूल गए हों तो उनसे पूछे कि तुम प्रमादवश भूल गये हो या रोगादि के कारण यह सूत्र तुम्हारी स्मृति में नहीं रहा? यदि साध्वी कहे कि मैं प्रमादवश भूल गई हूँ तो उसे कभी भी प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका आदि पद प्रदान न करे। यदि वह कहे कि रोगादि के कारण यह शास्त्र मेरी स्मृति से ओझल हो गया है और अब मैं पुनः इसे याद कर लूंगी और वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार पुनः याद कर ले तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद से विभूषित किया जा सकता है। यदि वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार याद न करे तो वह किसी भी पद को पाने के योग्य नहीं है¹। इसके आगे के पाठ में यही बात तरुण साधु के लिए कही गई है कि यदि वह प्रमादवश आचारांग सूत्र को भूल जाए तो उसे

-
1. निगमंभीए णं नव डहर तरुणियाए आचारण्णकप्पे नाम अज्झमणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा 'केणं भे कारणेणं' अज्जो! आचारण्णकप्पे नाम अज्झमणे परिब्भट्ठे, किं आबाहेणं पमाएणं? सा य वएज्जा 'नो आबाहेणं पमाएणं' जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तीयं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिस्सिए वा धारित्तरवा, सा य वएज्जा 'आबाहेणं नो पमाएणं' सा य संठवेस्सामीति संठवेज्जा, एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिस्सिए वा धारेत्तए वा सा य संठवेस्सामीति नो संठवेज्जा एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिस्सिए वा धारेत्तए वा।

—व्यवहार सूत्र, 4/15

आचार्य, गणावच्छेदकादि का पद नहीं देना चाहिए¹। प्रस्तुत आगम में आगे चलकर कहा है कि स्थविर को भी सदा आचारांग का स्वाध्याय करना चाहिए। स्थविर के लिए अनेक सुविधाएं दी गई हैं, परन्तु उसके लिए भी आचारांग का स्वाध्याय अनिवार्य बताया है। आगम में कहा है कि जब कोई स्थविर रोग के कारण आचारांग को भूल गया हो या भूल रहा हो तो उसका कर्तव्य है कि वह बैठे-बैठे या लेटकर या अधिक अस्वस्थ हो तो करवट बदलते हुए आचारांग का स्वाध्याय करें। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहे जिस स्थिति में क्यों न हो, आचारांग का स्वाध्याय अवश्य करें²। क्योंकि साधना का मूल आचार ही है।

प्रस्तुत आगम में एक जगह लिखा है कि यदि तीन वर्ष की पर्याय (दीक्षा) वाला साधु आचार कुशल है, संयम-निष्ठ है और प्रवचन में पारंगत है और कम-से-कम आचारांग का परिज्ञाता है, तो उसे उपाध्याय पद से अलंकृत किया जा सकता है³।

इसके अतिरिक्त साधु-साध्वी के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम आचारांग का अध्ययन करे। निशीथ सूत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जो साधु आचारांग का अध्ययन किए बिना ही अन्य आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करता है, तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है⁴।

उक्त पाठों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत-साहित्य में आचारांग सूत्र का कितना महत्त्व है। आचारांग⁵ सूत्र का परिज्ञाता मुनि ही आचार्य आदि पद को प्राप्त

1. व्यवहार सूत्र, 4/16

2. व्यवहार सूत्र, 5/18

3. व्यवहार सूत्र; 3/3

4. जे भिक्षु णव बंधचेराइं अवाएत्ता उवरिमसुयं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र, 19, 20

5. प्रस्तुत पाठों में प्रयुक्त 'आयारप्पकप्पे' का तात्पर्य आचार प्रकल्प अर्थात् निशीथ सहित आचारांग सूत्र से है। निशीथ आचारांग का एक अध्ययन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पांच चूलाओं में पांचवी चूला का नाम आयारप्पकप्पे या निशीथ है और यह आचारांग संबद्ध थी। परन्तु बाद में यह आचारांग से पृथक् कर दी गई और इसे निशीथ सूत्र के नाम से छेद सूत्रों में स्थान दे दिया गया। अतः यहाँ आचारांग के अध्ययन का अर्थ है—आचारप्रकल्प या निशीथ नामक अध्ययन सहित पूरे आचारांग का परिज्ञान करना।

करने का अधिकारी होता है। जिस साधु को आचारांग का बोध नहीं, उसे कोई पद नहीं दिया जा सकता। इससे आचारांग का गौरव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। उसके लिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

आचारांग सूत्र जितना सरल है, उतना ही गम्भीर है। छोटे-छोटे सूत्रों में इतने गहन भाव समाविष्ट कर दिए हैं कि मानों गागर में सागर भर दिया हो। अतः उसके अर्थ एवं भावों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने इस पर विशद टीकाएं लिखी हैं। सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस पर निर्युक्ति लिखी थी। इसके पश्चात् सिद्धसेनाचार्य ने गन्धहस्ति भाष्य नामक टीका की रचना की। विद्वानों का अभिमत है कि यह टीका बहुत विशाल एवं आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट करने वाली थी। प्रस्तुत आगम के टीकाकार श्री शीलाकाचार्य ने अपनी टीका उसी के आधार पर लिखी है। श्री गन्धहस्ति टीका की गहनता को स्पष्ट करते हुए भी शीलाकाचार्य आचारांग टीका की उत्थानिका में लिखते हैं कि गन्धहस्ति कृत आचारांग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन का वर्णन अत्यन्त गहन-गम्भीर है। जिज्ञासु सज्जनों को उसका सुगमता से बोध हो सके, इसके लिए मैं अपनी टीका में उसमें से कुछ सार ग्रहण करता हूँ¹।

जब शीलाकाचार्य जैसे प्रौढ़ विद्वान् गन्धहस्ति कृत टीका की महत्ता को स्वीकार करते हैं, तो उसकी गहनता एवं विशिष्टता को मानने में किसी भी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं रह जाता है। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से वह टीका आज उपलब्ध नहीं है, उसका नाम मात्र ही शेष रह गया है।

अतः विचारशील पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे आचारांग के महत्त्व को समझने एवं उसके गम्भीर विषय पर तटस्थ मनोवृत्ति से चिन्तन-मनन करने का प्रयत्न करें। और उसके स्थूल शब्दार्थ में ही न उलझकर, उसके आध्यात्मिक एवं वास्तविक अर्थ को समझने का पुरुषार्थ करें। गन्धहस्ति टीका में प्रायः आध्यात्मिक अर्थ को ही महत्त्व दिया गया था और आज भी जो टीकाएं उपलब्ध हैं, उनमें भी कई स्थलों पर आध्यात्मिक अर्थ करने की शैली अपनाई गई है। मैंने भी प्रस्तुत विवेचन

1. शस्त्र-परिज्ञा विवरणमति बहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृतम्। तस्मात् सुख बोधार्थं गृह्णाम्यहमंजसासारम्।
—आचारांग टीका (श्री शीलाकाचार्य)

में उसी शैली का अनुसरण किया है। यदि अन्य आगमों के विवेचन में भी इस शैली का उपयोग किया जाए तो श्रुत साहित्य का गौरव अधिक बढ़ सकता है।

प्रस्तुत विवेचन की आवश्यकता

आचारांग सूत्र इतना गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण है कि इस पर प्राचीन काल से ही निर्युक्ति, वृत्ति एवं टीका आदि विवेचन लिखे जाते रहे हैं। फिर भी उसका अर्थ अभी तक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है। और वे प्राचीन विवेचन प्राकृत एवं संस्कृत में हैं, अतः प्राकृत एवं संस्कृत के ज्ञान से रहित व्यक्तियों के लिए उनका कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ विचारकों ने हिन्दी एवं गुजराती भाषा में भी अनुवाद किया है। फिर भी यह विषय इतना गम्भीर है कि इसका जितना विवेचन किया जा सके, उतना ही कम है। इस दृष्टि से मैंने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध और अनुत्तरोपपातिक सूत्र के विवेचन एवं अनुवादादि से अवकाश मिलते ही आचारांग का लेखन कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसमें इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि विवेचन की भाषा सरल-सुगम हो और अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो, जिससे प्रत्येक हिन्दी-भाषी लाभ उठा सके। अतः मैंने मूल के साथ छाया, पदार्थ और मूलार्थ देकर, उस पर विशद विवेचन भी कर दिया है। विवेचन में सूत्र के मूल भावों को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

सहायक ग्रन्थ

प्रस्तुत विवेचन करते समय मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई, उसका मैंने उन्मुक्त हृदय से उपयोग किया। परन्तु इसमें शीलाकाचार्य की टीका को प्रमुख स्थान दिया गया है। क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध टीकाओं में यह सबसे विशद, प्रौढ़ एवं प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जिनसिंहसूरि कृत आचारांग प्रदीपिका, पार्श्वचन्द्रसूरि कृत आचारांग बालावबोध टीका (गुजराती), एक अज्ञात लेखक का आचारांग टब्बा और प्रो. रवजी भाई देवराज का मूल सहित आचारांग अनुवाद का भी सहयोग लिया गया है। प्रस्तुत विवेचन के लेखन कार्य में जिन ग्रंथों का सहयोग है, उनके लेखकों का आभारी हूँ।

इस तरह अनेक ग्रंथों का अवलोकन करके प्रस्तुत विवेचन को हर तरह से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। और इसमें इस बात का पूरा ख्याल रखा

गया है कि विवेचन में मूल पाठ के भावों के अनुरूप ही व्याख्या हो। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण भूल का हो जाना स्वाभाविक है। क्योंकि छद्मस्थ भूल का पात्र है। अतः सावधानी रखते हुए भी कहीं त्रुटि रह गई हो तो विचारशील पाठक हमें सूचित करें जिससे उस पर विचार किया जा सके और आगामी संस्करण में सुधार किया जा सके।

शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

—मुनि आत्माराम.

प्रथमाचार्य श्रमण संघ

आचारांड : एक अनुशीलन

भारतीय संस्कृति क्या है? विभिन्न दिशाओं में प्रवहमान तीन स्वतन्त्र विचार-धाराओं का संगम। भारत में तीन विचार-धाराएं प्रवहमान रही हैं—1. जैन, 2. बौद्ध और 3. वैदिक। तीनों विचार-परम्पराएं अपने-आप में स्वतन्त्र हैं। तीनों का अपना स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन है, स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि तीनों विचार-धाराएं एक-दूसरी से पूर्णतया असंबद्ध हैं। तीनों में कुछ हद तक या किसी अपेक्षा-विशेष से विचार-साम्य भी है। दृष्टि-भेद होने पर भी एक दर्शन दूसरे दर्शन से प्रभावित भी है। एक-दूसरे में शब्दों का, भावों का, शैली का आदान-प्रदान भी होता रहा है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि तीनों संस्कृतियों का संगम ही भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति

तीनों विचारधाराओं का अनुशीलन-परिशीलन ही समग्र भारतीय संस्कृति का अध्ययन है। यदि जैन विचारधारा या श्रमण-परम्परा का अध्ययन करना है, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि बौद्ध और वैदिक विचारधारा का भी गहन अध्ययन किया जाए। जब तक तीनों धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक हम उस दर्शन का या उस परम्परा का समग्र एवं निर्भ्रम अध्ययन नहीं कर सकते। क्योंकि तीनों विचार-परम्पराओं की शृंखला इतनी गहरी जुड़ी हुई है कि उसे हम एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। इसलिए प्रबुद्ध जैन-विचारकों एवं वरिष्ठ आचार्यों का यह अभिमत बुद्धि एवं न्याय-संगत है कि प्रवचनकार एवं चर्चावादी को स्व-दर्शन और पर-दर्शन का अथवा अपनी एवं अन्य धर्म की परम्पराओं का, विचारधाराओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह अपनी संस्कृति का स्पष्ट चित्र जनता के सामने रख सके। अतः तीनों विचारधाराओं का समन्वित रूप ही भारतीय संस्कृति है। यह समन्वय की संस्कृति है, अनेकता में भी एकत्व को खोजने एवं पाने की संस्कृति है।

आगम—श्रुत-साहित्य

भारतीय विचारकों एवं चिन्तकों ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में गहरी खोज की है। और अपनी शोध (Research) में जो कुछ पाया, उसे शिष्य-प्रशिष्यों को सिखाकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान-परम्परा को भारतीय संस्कृति में 'श्रुत या श्रुति' कहते हैं। 'श्रुत' का अर्थ है—सुना हुआ और 'श्रुति' का तात्पर्य है—सुनी हुई। जैन परम्परा में तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट वाणी को 'श्रुत-साहित्य' कहते हैं। जैनागमों में पांच ज्ञान का उल्लेख मिलता है—1. मति ज्ञान, 2. श्रुत-ज्ञान, 3. अवधि-ज्ञान, 4. मनः-पर्यव ज्ञान और 5. केवल ज्ञान। इनमें मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना गया है। द्वादशांगी का ज्ञान श्रुत-ज्ञान माना गया है। वर्तमान में उपलब्ध 11 अंग, 12 उपांग, 4 छेद शास्त्र, 4 मूल-सूत्र और आवश्यक सूत्र 'श्रुत-साहित्य' कहलाता है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में 45 आगम 'श्रुत-साहित्य' के रूप में माने जाते हैं। क्योंकि तीर्थकर इनके उपदेष्टा होते हैं और उनके द्वारा श्रुत—सुनी हुई वाणी को गणधर अपने शिष्यों को सुनाते हैं और वह वाणी अनागत में शिष्य-परम्परा से एक-दूसरे को सुनाई जाती है। आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में यह सूत्र आता है—“सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं” हे शिष्य! मैंने सुना है कि उस—श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

वैदिक साहित्य में 'श्रुति' शब्द का प्रयोग होता है। श्रुति का अर्थ भी सुनी हुई बात होता है। वैदिक ऋषियों द्वारा रचित ऋचाओं एवं स्तुतियों को 'श्रुति' कहते हैं। क्योंकि ऋषियों के मुख से प्रवहमान वेद-वाणी को सुनकर शिष्यों ने उसे स्मृति में रखा और अपने शिष्य-प्रशिष्यों को सुनाकर उसके प्रवाह को सतत गतिमान रखने का प्रयत्न किया।

जैनागमों की तरह बौद्ध ग्रंथों में 'सुतं' शब्द मिलता है। उसका अर्थ भी वही है, जो सुयं शब्द का है, अर्थात् सुना हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति की तीनों परम्पराओं में आगम के लिए प्रयुक्त श्रुति, श्रुत—सुयं और सुतं संज्ञा—नाम सर्वथा सार्थक है।

द्वादशांगी वाणी

श्रुत-साहित्य—आगमों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक युग में होने वाले तीर्थंकर द्वादशांगी का उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से द्वादशांगी को अनादि-अनन्त भी मानते हैं। फिर भी वेदों की तरह ये अपौरुषेय नहीं हैं। यह एक विचार-परम्परा है कि अनादि काल से होने वाले तीर्थंकर अपने शासनकाल में द्वादशांगी का उपदेश देते हैं और अनागत काल में होने वाले तीर्थंकर इसी का उपदेश देंगे और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में स्थित तीर्थंकर इसका उपदेश दे रहे हैं। इस तरह प्रवाह की दृष्टि से द्वादशांगी-वाणी अनादि-अनन्त है। उसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से विचार करते हैं, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर इसका उपदेश देते हैं। अतः उस शासन-काल में विद्यमान द्वादशांगी उनके द्वारा उपदिष्ट होती है। जैसे—वर्तमान में द्वादशांगी के उपदेष्टा श्रमण भगवान् महावीर हैं। इस तरह द्वादशांगी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नहीं, कृतक है, अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय है। क्योंकि, वह वाणी है, शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र है। और वाणी, शब्द या अक्षर का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है, ईश्वर नहीं। अतः किसी शास्त्र, धर्म-ग्रन्थ एवं वेद-वाक्य या श्रुति स्मृति और श्रुत-साहित्य को ईश्वर-वाणी मानना भ्रम है। क्योंकि ईश्वर शरीर-रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अतः जब ईश्वर के शरीर ही नहीं है, तब वह वाणी का प्रयोग कैसे करेगा? यह स्पष्ट समझ में आने वाली बात है।

भगवती सूत्र में भगवान् की वाणी को द्वादशांगी गणि-पिटक कहा है। वस्तुतः वह ज्ञान का पिटारा अर्थात् ज्ञान-मंजूषा ही है, जिसमें आत्मा, परमात्मा एवं सम्पूर्ण विश्व के यथार्थ रूप का ज्ञान-विज्ञान निहित है। वह द्वादशांगी निम्न प्रकार है—

1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. विवाहपन्नति-भगवती, 6. ज्ञाताधर्मकथांग, 7. उपासकदशांग, 8. अन्तकृतदशांग, 9. अनुत्तरोपपातिकदशांग, 10. प्रश्न-व्याकरण, 11. विपाक और 12. दृष्टिवाद। वर्तमान में दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है, शेष ग्यारह अंग उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत आगम

द्वादशांग में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। इसलिए आचार्य भद्रबाहु ने

प्रस्तुत आगम को भगवान¹ और वेद² कहा है। क्योंकि तीर्थ प्रवर्तन में आचार का सर्व प्रमुख स्थान है। शेष ग्यारह अंग उसके बाद हैं। इसका कारण यह है कि इसमें मुक्ति प्राप्त करने के साधन की चर्चा है और वस्तुतः देखा जाए तो समग्र प्रवचन एवं द्वादशांगी का सार भी मोक्ष³ है और आचारांग में मोक्ष-साधना का ही उपदेश है। इसलिए आचारांग को द्वादशांगी का सार कहा है⁴ और इसी कारण इसे इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आचारांग का उपदेश

आचार्य भद्रबाहु, चूर्णिकार और आचार्य शीलांक इस विषय में एकमत हैं कि द्वादशांगी का उपदेश और इसकी रचना सर्व प्रथम हुई है⁵। परन्तु आवश्यक चूर्णि में इसके विपरीत मतों का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारकों का अभिमत है कि तीर्थकरों ने सर्वप्रथम अर्थ रूप से पूर्वों का उपदेश दिया, परन्तु गणधरों ने सूत्र रूप से सर्वप्रथम आचारांग की रचना की। किन्तु कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि सर्वप्रथम उपदेश भी पूर्वों का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वों की ही की गई। उपदेश एवं रचना की दृष्टि से पहले 'पूर्व' हैं, उसके बाद आचारांगादि अंग शास्त्र हैं, किन्तु स्थापन की दृष्टि से आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है⁶। इन विचार-भेदों के आधार पर हम इतना तो निस्संदेह कह सकते हैं कि समग्र श्रुत-साहित्य में आचारांग का अपना विशिष्ट स्थान है। भले ही वह उपदेश की दृष्टि से प्रथम न रहा हो, रचना की दृष्टि से रहा हो या स्थापन की दृष्टि से प्रथम रहा हो, परन्तु इसमें किसी के दो मत नहीं हैं कि आचारांग का आगम-साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। वह जैन-साहित्य-गगन का चमकता हुआ सूर्य है।

1. आचारस्स 'भगवओ' निज्जुतिं कित्तइस्सामि।

—आचारांग नि. 1

2. आचारांग, नि. 11

3. आचा. नि. 8,9

4. अंगाणां किं सारो? आचारो।

—आचा., नि. 1

5. सव्वत्थित्थगरा वि आचारस्स अत्थं पढमं आइक्खंति ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडिए गणहरा वि सुत्तं गुंथति।

—आचारांग चूर्णि, पृ. 3

6. आवश्यक चूर्णि, पृ. 56-57

आचारांग का परिचय

आचारांग सूत्र का परिचय नन्दी¹ और समवायांग सूत्र² में दिया गया है। नन्दी सूत्र की अपेक्षा समवायांग सूत्र में दिए गए परिचय में कुछ विशेषण अधिक हैं। परन्तु इस बात में उभय आगमों में एकरूपता है कि आचारांग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। उनके 25 अध्ययन, 85 उद्देशक और 18 हजार पद हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'धवला' ग्रन्थ में भी आचारांग सूत्र के इतने ही पदों का उल्लेख मिलता है³। इसमें भी उभय आगमों में एकवाक्यता है कि आचारांग में प्रमुख रूप से साध्वाचार का वर्णन है। आचार्य अकलंक कृत राजवार्तिक⁴, धवला⁵ और जयधवला⁶ में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि आचारांग सूत्र में मुनि धर्म का वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर-मान्य आगमों में आचारांग का परिचय समान रूप से मिलता है। ग्रन्थ की पद संख्या एवं ग्रन्थ में वर्णित विषय में उभय परम्परा में कोई मतभेद नहीं है।

आचारांग का मौलिक रूप

परिचय में हम देख चुके हैं कि नन्दी सूत्र एवं समवायांग सूत्र में प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध बताए हैं। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। परन्तु यह एक प्रश्न है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्ध मौलिक हैं या एक श्रुतस्कन्ध मौलिक है और दूसरा उसके साथ पीछे से जोड़ा गया है। इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया गया है—एक पक्ष प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानता है। आचारांग निर्युक्ति एवं आचारांग चूर्णि में भी इस मत का समर्थन मिलता है।

1. नन्दी सूत्र, पृ. 45

2. समवायांग सूत्र, पृ. 136

3. धवला भाग 1; पृष्ठ 99

4. राजवार्तिक, सूत्र 120

5. धवला, भाग 1, पृष्ठ 99

6. जयधवला भाग 1, पृ. 122

निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविरकृत माना है¹। इससे स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पीछे से जोड़ा गया है। चूर्णि में आदि, मध्य और अन्तिम मंगल के प्रकरण में प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तिम वाक्य को अन्तिम मंगल कहा है²। इससे भी उक्त पक्ष को समर्थन मिलता है। भारतीय श्रुत-साहित्य के विचारक जर्मन विद्वान प्रो. हर्मन-जैकोबी भी प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानते हैं³। आज के कुछ विचारक सन्त एवं विद्वान भी द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को पीछे से संबद्ध किया हुआ मानते हैं। परन्तु नन्दी सूत्र एवं समवायांग सूत्र दोनों श्रुतस्कन्धों को मौलिक मानते हैं। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज भी उभय आगमों के मत से सहमत हैं। परन्तु भाषा एवं विषय की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि नन्दी और समवायांग का संकलन होने के पूर्व द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम के साथ सम्बद्ध कर दिया गया होगा। इतना तो स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-निरूपण-पद्धति द्वितीय श्रुतस्कन्ध से सर्वथा भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आचार का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है, उसकी भाषा भी गूढ़ है और सूत्र-संक्षिप्त शैली है। थोड़े शब्दों में बहुत कुछ या सब कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ऐसी बात नहीं है। उसमें आचार के नियमों का परिगणन किया गया है, इसलिए उसकी भाषा और शैली भी सरल है। और यह भी स्पष्ट है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूला रूप है, उसमें पांच चूलाएं हैं। वर्तमान में चार चूलाएं ही हैं, पांचवीं 'आयारप्पकप्प' चूला जिसे निशीथ भी कहते हैं, इससे पृथक् कर दी गई और वह स्वतन्त्र रूप से छेद सूत्र के रूप में स्वीकार कर ली गई। चूलाएं जोड़ने की परम्परा बहुत पुरानी रही है। मूल ग्रंथ को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ चूलाएं जोड़ दी जाती थीं। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी विशिष्ट साधुओं के लिए उपयोगी था। सर्व साधारण उसका अनुशीलन करके उसे हृदयस्थ नहीं कर पाते थे। इस कठिनता को दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सर्वसाधारण के लिए उसके साथ संलग्न कर दिया होगा। विषय की दृष्टि से देखते हैं तो जो बात द्वितीय

1. आचारांग निर्युक्ति पृ. 31-32

2. अचारांग चूर्णि, पृ.1

3. Sacred Book of the East, Vol 22, Introduction, P. 47. —By Jacobi.

श्रुतस्कन्ध में कही गई है, वह सब प्रथम श्रुतस्कन्ध में आ ही गई है। अन्तर इतना ही है कि वह संक्षिप्त एवं गम्भीर शैली तथा प्रौढ़ भाषा में कही गई है। इससे ऐसा लगता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम के साथ बाद में जोड़ा गया होगा। हो सकता है कि उसका ग्रन्थन सुधर्मा ने नहीं, बल्कि अन्य गणधर ने किया हो या स्थविर ने। परन्तु वह है बाद का। फिर भी इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। इस पर अभी काफी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है और यह ऐतिहासिक विद्वानों के शोध (Research) का कार्य है।

आचारांग का समय और निर्माता

नन्दी सूत्र में यह बताया गया है कि द्वादशांगी के प्रणेता तीर्थकर हैं¹। आवश्यक निर्युक्ति में भी यह अभिव्यक्त किया गया है कि अरिहन्त—तीर्थकर भगवान् द्वादशांगी का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अर्थ रूप से उपदिष्ट उस वाणी को गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। शासन के हित के लिए गणधर तीर्थकर भगवान् के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्रबद्ध करते हैं²। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग का अर्थ रूप से उपदेश भगवान् महावीर ने दिया था और गणधर सुधर्मा ने इसे सूत्रबद्ध किया था। अतः गणधरों की सूत्र-रचना का मूलधार (Original source) तीर्थकरों की अर्थ रूप वाणी होने से, तीर्थकरों को 'आगम-प्रणेता' कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि आचारांग के मूल निर्माता भगवान् महावीर हैं और उसको सूत्र बद्ध करने वाले गणधर सुधर्मा हैं। इस तरह आचारांग का समय ईसा से छठी शताब्दि पूर्व का सिद्ध होता है। परन्तु इसमें एक प्रश्न उठता है कि दोनों श्रुत-स्कन्ध गणधर-प्रणीत हैं या प्रथम श्रुतस्कन्ध। इसमें दो अभिमत हैं—आचारांग निर्युक्ति में द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर-कृत माना है³। स्थविर शब्द की व्याख्या

1. नन्दी सूत्र, 40

2. अस्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।

सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, 192

3. थेरेहिउणुगहट्ठा सीसहिअं होउ पगडत्थं च।

आयाराओ अत्थो आयारगोसु पविभत्तो॥

—आचा. नि., 287

करते हुए आचार्य शीलांक ने चतुर्दश पूर्वधर को स्थविर माना है¹। परन्तु चूर्णिकार ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है²। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ विचारक आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गणधर-कृत और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर (चतुर्दश पूर्वधर)-कृत मानते हैं और कुछ विचारक दोनों श्रुतस्कन्धों को गणधर कृत मानते हैं।

वर्तमान में भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विद्वान प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही गणधर-कृत मानते हैं। परन्तु आज के कुछ विद्वान एवं आगमवेत्ता द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर-कृत स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर-कृत मानने के पक्ष में है। और इस सम्बन्ध में उनके विचार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भूमिका में दिए हैं। आचार्य श्री के द्वारा किया गया अन्वेषण (Research) और दिए गए तर्क (Arguments) अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। उन्होंने शोध करने वाले विद्वानों (Research scholars) के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

आचार्य श्री ने अपनी खोजपूर्ण भूमिका में उसे भाषा, भाव, शैली आदि सब दृष्टियों से गणधरकृत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका प्रयत्न कितना सफल रहा है, यह तो विज्ञ पाठक की बता सकते हैं। परन्तु इस दिशा में जो प्रयत्न उन्होंने किया है, वह स्तुत्य है और उनका श्रम हमें चिन्तन के लिए नई प्रेरणा देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह तो हम ऊपर देख चुके हैं कि भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम से सर्वथा भिन्न है। दोनों की भाषा, भाव और शैली में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा गम्भीर और प्राञ्जल है, उसके भावों में भी गहनता है और उसकी शैली सूत्रात्मक है। थोड़े शब्दों में बहुत कुछ या सब कुछ कह देने की शैली है। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध में न तो भाषा की प्राञ्जलता है, न

1. तत्र इदानीं वाच्यं-केनैतानि निर्यूढानि, किमथ, कुतो वेति? अत आह—‘स्थविरैः’

श्रुतवृद्धैश्चतुर्दश- पूर्वविविद्भर्निर्यूढानि—इति।

—आचार्य शीलांक।

2. एयाणि पुण आयागणणि आयारा चव निज्जूढाणि केण णिज्जूढाणि? थेरेहिं, थेरा—गणधरा॥

—आचा. चूर्णि, 326

भावों की गम्भीरता है और न सूत्र-शैली के ही दर्शन होते हैं। उसमें तो सरल भाषा एवं साधारण शैली में सीधे-सादे भावों की—आचार के नियमों की परिगणना करा दी है। इस कथन में कुछ तथ्य हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भाषा, भाव और शैली में सरलता लाने का कारण यह रहा है कि साधारण साधक भी आचार की महत्ता को सरलता से समझ सके और उसे आचरण में उतार सके। हम भी इस बात को मानते हैं कि इसी उद्देश्य से प्रथम श्रुतस्कन्ध के साथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सम्बद्ध किया गया है। परन्तु इसके लिए अभी खोज एवं चिन्तन करने की आवश्यकता है कि दोनों के कर्ता एक ही हैं या भिन्न व्यक्ति हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कर्ता दो भिन्न व्यक्ति होने चाहिए। क्योंकि, प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा एवं भावों को समझने में जब कठिनाई उत्पन्न हुई होगी, तभी आचार्यों ने उसे दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की होगी? आचारांग निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि आचारचूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हितार्थ चूलिकाओं में प्रविभक्त किया है¹।

भले ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर-कृत मानें या स्थविरकृत, इतना तो स्पष्ट है कि उसका मूलाधार वीतराग-वाणी है। स्थविरों ने जो कुछ रचना की है, वह भी गणधर-कृत अंग सूत्रों एवं पूर्वों में से लेकर की है और चतुर्दश पूर्वधर को भी सर्वज्ञ के समान माना है, उसे श्रुत-केवली संबोधन से संबोधित किया है। गणधर सुधर्मा भी आचार्य पद पर स्थापित होते समय सर्वज्ञ नहीं, चतुर्दश पूर्वधर ही थे और वे कई वर्षों तक छद्मस्थ रहे हैं। परन्तु उनके ज्ञान की विशिष्टता के कारण उनकी वाणी को भी वीतराग-वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है। यही कारण है कि अंग बाह्य आगमों को—जो स्पष्टतः स्थविर-कृत हैं और अनेक आगमों के रचयिता स्थविरों के नाम भी उनके साथ संबद्ध हैं, भी प्रामाणिक माना है। परन्तु मध्यकाल में स्थविर की अपेक्षा गणधर शब्द का अधिक महत्त्व माना जाने लगा और इसके कारण अंग बाह्य आगमों को भी गणधर-कृत कहा जाने लगा। उस समय स्थविर शब्द का अर्थ भी गणधर किया जाने लगा। यही कारण है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत माना गया।

यह ठीक है कि नन्दी एवं समवायांग सूत्र में जो आचारांग के अध्ययनों, उद्देश्यों एवं पदों की संख्या दी गई है, उसमें समग्र आचारांग का उल्लेख है। उसमें दोनों श्रुतस्कन्धों को विभक्त नहीं किया गया है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उभय आगमों का यह वर्णन उस समय का है, जब आचारांग सूत्र से आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पांचवीं-चूला (26वां अध्ययन) आचारपकप्प, जो आज निशीध सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है, अलग कर दी गई थी। आचारांग निर्युक्ति में द्वितीय-श्रुतस्कन्ध की पांचवीं चूला का नाम 'आचारपकप्प तथा निशीह' दिया हुआ है¹। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समवायांग में दी गई संख्या, गणधर सुधर्मा स्वामी के समय की है। यह ठीक है कि समवायांग के सूत्रकार गणधर ही होते हैं, क्योंकि वह अंग शास्त्र है। परन्तु समवायांग स्थानांग में कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जो स्पष्टतः प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। स्थानांग सूत्र में सात निह्नव का उल्लेख आता है। उसमें तीसरे अव्यक्तिक से लेकर सातवें अबद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के 214 वर्ष बाद से लेकर 584 वर्ष बाद तक हुए हैं। सातवां अबद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के 584 वर्ष पीछे हुआ है; फिर भी उसका स्थानांग सूत्र में उल्लेख मिलता है। परन्तु उसके बाद बोटिक निह्नव हुआ, वह भगवान महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष पीछे हुआ, उसका इसमें उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि वी. नि. सं. 980 में हुई बल्लभी वाचना में नया सूत्र नहीं जोड़ा गया।

इससे हम यह नहीं कह सकते कि आगम में मौलिकता है ही नहीं। उसमें बहुत कुछ मौलिक है और गणधर-कृत भी है। परन्तु आगमों का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद हम निश्चित रूप से ऐसा नहीं कह सकते कि इसमें उल्लिखित एक-एक शब्द वही है, जो भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं गणधर सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। उसमें कहीं-कहीं परिवर्तन भी हुआ है परन्तु फिर भी उसकी मौलिकता को कोई क्षति नहीं पहुंची है। स्थविरों ने जो कुछ जोड़ा है, वह भी एकदम निराधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थविर भी 14 पूर्वधर थे और उनकी रचना का आधार भी वीतराग वाणी या तीर्थकरों का उपदेश ही था। गणधरों ने भी तीर्थकरों के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र-बद्ध किया है और स्थविरों ने भी जो कुछ रचना की है, वह पूर्वों में से लेकर या अंग

शास्त्रों में से लेकर की है। अतः यह कहना या मानना उपयुक्त नहीं है कि स्थविर की रचना गणधरों के मुकाबले में कमजोर है या अप्रामाणिक है; क्योंकि यह तो सबको मान्य है कि गणधर भी स्थविरों की तरह 14 पूर्वधर थे और छद्मस्थ ही थे। अंतर इतना ही है कि गणधरों के सामने भगवान महावीर स्वयं विद्यमान थे और स्थविरों के सामने उनकी वाणी थी, उनका प्रवचन था।

इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध के निर्माता कौन हैं, इसे खोज निकालने के लिए अथक परिश्रम किया है और उनके तर्क भी काफी महत्त्वपूर्ण एवं वजनदार हैं। इस खोज से कई नई बातें एवं कई नए तथ्य सामने आए हैं। इससे अब एकदम यह नहीं कहा जा सकता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधरकृत है ही नहीं। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की इस खोज से ऐतिहासिक विचारकों को मार्गदर्शन मिलेगा और इससे वे अवश्य ही किसी निर्णय पर पहुंचने में सफल होंगे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग के उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार हैं भगवान महावीर के पंचम गणधर और प्रथम आचार्य सुधर्मा और उसका रचना काल ईसा से छठी शताब्दी पूर्व माना जा सकता है। और द्वितीय श्रुतस्कन्ध का समय भी चौथी और पांचवी शताब्दी के मध्य में ही मान सकते हैं, उसके बाद नहीं। भले ही वह स्थविर कृत भी हो तब भी काफी प्राचीन है। हो सकता है, प्रथम श्रुतस्कन्ध के कुछ वर्ष बाद ही उसकी रचना की गई हो और उसे उसके साथ संलग्न कर दिया गया हो।

आचारांग की शैली

आचारांग के प्रथम-श्रुतस्कन्ध की शैली की तुलना ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण-यजुर्वेद, धर्मसूत्र आदि की शैली से की जा सकती है। प्रस्तुत आगम की यह विशेषता है कि इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण हुआ है। नवम अध्ययन पूरा पद्य में ही है, अन्यत्र गद्य के साथ पद्यों का सुमेल दिखाई देता है। सूत्र-शैली—थोड़े में अधिक कहने की जो विशेषता है, वह भी प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही परिलक्षित होती है और अर्थगाम्भीर्य भी प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध की भाषा में ही है। इससे आचारांग की प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भाषा

जैन परम्परा के अनुसार आगमों की भाषा—अर्द्धमागधी मानी गई है। तीर्थंकर सदा अर्द्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते हैं और उनका प्रवचन समस्त जाति एवं देश के व्यक्ति तथा पशु-पक्षी भी समझ लेते हैं। आगम में यह भी कहा गया है कि देवता भी अर्द्धमागधी भाषा में बोलते हैं।

आचारांग की भाषा—अर्द्धमागधी है जिसे आजकल प्राकृत कहते हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा पालि और प्राकृत के बीच की कड़ी है। अन्य आगमों एवं प्राकृत ग्रन्थों में प्राकृत भाषा अपने विकसित रूप में मिलती है, किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्राकृत का सबसे प्राचीन रूप सुरक्षित है। इसकी भाषा की तुलना सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के साथ कुछ अंशों में की जा सकती है। आर्ष प्राकृत के अधिक प्रयोग प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में ही मिलते हैं, द्वितीय में नहीं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में परस्मैपद में 'ति' प्रत्यय उसी रूप में मिलता है, जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वह 'इ' के रूप में प्रयोग किया गया है¹। इसके अतिरिक्त प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाक्य छोटे और सादे हैं, जब कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के वाक्य लम्बे और अलंकार युक्त भाषा में हैं और गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा प्रथम की अपेक्षा कुछ विकसित रूप में परिलक्षित होती है।

नाम

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों को ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अध्ययन कहा है²। इससे धर्म सूत्रों में प्रयुक्त ब्रह्मचर्य-आश्रम, उपनिषदों में उल्लिखित ब्रह्म शब्द और बौद्धों के ब्रह्म-विहार की स्मृति ताजी हो उठती है। नाम की साम्यता होते हुए भी अर्थ में जो अन्तर है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। धर्मसूत्र में ब्रह्म का मुख्य अर्थ है—वेद। अतः ज्ञान एवं ज्ञानप्राप्ति की चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है। उपनिषदों में

1. पमुच्चति (श्रु. 1, अ. 2, उ. 1) परिसङ्खि आदि (द्वितीय श्रुतस्कन्ध)

2. नवबन्धवेर पन्नता।

ब्रह्म का मुख्य अर्थ है—विश्व का एक मूल तत्त्व या आत्म तत्त्व, उसकी प्राप्ति या साक्षात्कार की चर्या—ब्रह्मचर्य है। बौद्धों में मैत्री, प्रमोद, उपेक्षा और करुणा, इन चार भावनाओं में विचरण करना 'ब्रह्म विहार' माना है। जबकि आचारांग में ब्रह्म का अर्थ है—संयम। अतः संयम का आचरण करना ब्रह्मचर्य है। जैन दृष्टि से अहिंसा, समभाव या समत्व की साधना का ही नाम संयम है¹ और इसी को सामायिक की साधना कहा है²। गीता में समत्व भाव को योग कहा है³ और इसे ब्रह्म भी माना है⁴। आचारांग एवं गीता में इस बात को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि आध्यात्मिक दृष्टि अहिंसा एवं समभाव की साधना के मूल में ही⁵ है।

आचारांग में अहिंसा एवं समभाव की साधना का ही उपदेश दिया गया है। अतः उसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार का यह कथन भी नितान्त सत्य है कि आचारांग सब अंगों का सार है; क्योंकि द्वादशांगी का उपदेश संयम की साधना को तेजस्वी बनाने के लिए दिया गया है और आचारांग में मुख्य रूप से संयम-साधना का ही उपदेश है और संयम ही मुक्ति का कारण है। अतः आचारांग तीर्थकर-प्रवचन का सार है और उसका ब्रह्मचर्य नाम भी उपयुक्त एवं सार्थक है।

शब्दों का आदान-प्रदान

भारतीय वाङ्मय एवं सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही श्रमण और ब्राह्मण-परम्पराएं सर्वथा अलग-अलग रही हों, परन्तु एक-दूसरी परम्परा ने परस्पर एक-दूसरे के साहित्यिक शब्दों को अपने साहित्य में ग्रहण किया है। श्रुत-साहित्य में उस युग के प्रचलित वैदिक शब्दों को भिस्संकोच भाव से लिया गया है। प्रस्तुत आगम में भी ब्राह्मण-परम्परा में प्रयुक्त शब्दों को

1. स्थानांग सूत्र 429-30, समवायांग 17

2. आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन

3. समत्वं योग उच्यते।—गीता 2/48

4. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः

निर्दोष हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

—गीता, 5/19

5. आचा. 1, 2, 3, 4, और गीता, 6/32

स्थान दिया गया है। परन्तु आगम-साहित्य में वैदिक शब्दों को श्रमण-संस्कृति के अनुरूप ढालने का भी पूरा प्रयत्न किया है।

वेद-युग में वैदिक परम्परा का आराध्यदेव इन्द्र बहुत शक्तिशाली माना गया है और उसका वीरत्व दुष्टों एवं शत्रुओं का संहार करने में माना गया है और वैदिक ऋषियों ने उसकी संहारक एवं हिंसक शक्ति की स्तुति की है, गीत गाए हैं। परन्तु आचारांग में वैदिक परम्परा में प्रयुक्त इस दोष को, कालिमा को हटा दिया गया है। उसमें वीरता, महावीरता, ब्राह्मणत्व, आर्यत्व आदि शब्दों का वैदिकों की हिंसा-प्रधान परम्परा के विपरीत करुणा, दया, विश्वबन्धुत्व एवं समभावमूलक अहिंसा के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

नवम अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का वर्णन है। उसके चारों उद्देशों के अन्त में यह उल्लेख किया गया है कि “मतिमान ब्राह्मण ने यह आचरण किया है।” इसमें भगवान को क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण कहा गया है। परन्तु ब्राह्मणत्व के अर्थ को पूर्णतः परिष्कृत कर दिया गया है। कहां वैदिक यज्ञ-अनुष्ठान में संलग्न, हिंसा में अनुरक्त, रक्त-रंजित हाथों वाला ब्राह्मण और कहां आत्म-साधना में संलग्न अहिंसा का अधिदेवता यह ब्राह्मण। दोनों की जीवन-रेखा में कहीं साम्य नहीं, मेल नहीं और दोनों की साधना में कहीं एकरूपता नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द की विषाक्त भावना एवं कालिमा को धोकर उसके अर्थ का आध्यात्मिक विकास करके ही उसे आचारांग में स्थान दिया है।

नायपुत-ज्ञातपुत्र या वर्द्धमान को वीर कहा है, वीर ही नहीं, बल्कि महावीर कहा है। आज तो भगवान का महावीर नाम ही सबकी जिह्वा पर नाच रहा है, अन्य नाम तो आगमों एवं ग्रंथों में ही देखे-पढ़े जा सकते हैं। परन्तु भगवान की महावीरता किसी का संहार करने में नहीं थी। उन्होंने इन्द्र की तरह जन-संहारक युद्ध नहीं लड़े और न उन्होंने पशु-पक्षियों का वध ही किया। फिर भी वे वीर रहे हैं, वीर ही नहीं महावीर माने गए हैं। यहां वीरत्व की व्याख्या ही परिवर्तित कर दी गई है। ब्राह्मण क्रूरता को वीरत्व मानते हैं। परन्तु महावीर का वीरत्व सकषाय-चर्या (सदोष-आचरण) और अकषाय-चर्या (निर्दोष-आचरण) का परिज्ञान करके, अकषाय-चर्या को स्वीकार करने में है। इस साधना में राग-द्वेष का अभाव होने से हिंसा आदि दोषों को पनपने का थोड़ा-बहुत भी अवकाश नहीं है; क्योंकि भगवान महावीर ने दूसरों पर नहीं,

अपनी आत्मा पर नियन्त्रण किया। अपने मन-वचन और काय योगों के प्रबल प्रवाह को संसार की ओर से हटाकर, आत्म-साधना की ओर मोड़ा। उन्होंने कषायों एवं राग-द्वेष पर नियन्त्रण किया। अतः उनका वीरत्व महान है, निर्दोष है और ब्राह्मणों के वीरत्व की कल्पना से सर्वथा भिन्न रहा है।

ब्राह्मण अहर्निश यज्ञ-याग की चिन्ता में डूबे रहते थे और बहुभाषी थे, जबकि भगवान महावीर 'माहणे अबहुबाई' अल्पभाषी ब्राह्मण थे। इस तरह जब वैदिक शब्दों का स्वयं भगवान महावीर के जीवन में परिवर्तित अर्थ परिलक्षित होता है, तो आचारांग जो उनकी साधना का निचोड़ हैं, मन्थन है, उसमें उसका बदला हुआ वास्तविक रूप दृष्टिगोचर होता है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? आचारांग में अनेक जगह यह दोहराया गया है कि संयम-साधना वीरों का—महावीरों का मार्ग है, त्याग-तप एवं संयम-निष्ठ साधकों का पथ है।

वैदिक अपने आपको आर्य कहते थे। परन्तु वेद, पुराण और ब्राह्मण-ग्रन्थ में जो उनका हिंसा-प्रधान जीवन मिलता है, वह उनके अनार्यत्व का ही परिचायक है। आचारांग में भी आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु इसकी व्याख्या में उज्ज्वलता, समुज्ज्वलता एवं धवलता निखर आई है। वस्तुतः आर्य वह नहीं है, जो रात-दिन याज्ञिक हिंसा में उलझा रहता है तथा शूद्र और नारी का तिरस्कार एवं शोषण करता है। परन्तु आर्य वह है, जिसके जीवन-गवाक्ष से स्नेह, समता, मृदुता, कोमलता, अभय, अप्रमाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का ज्योतिर्मय प्रकाश छन-छन कर आता है और उसके साधना-पथ को प्रकाशित करता है तथा जिसके अन्तर्मन में प्राणिजगत के प्रति प्रेम एवं करुणा का झरना झरता है और जो प्रत्येक संतप्त एवं पीड़ित व्यक्ति के दुःख एवं सन्ताप को मिटाने को सन्नद्ध—तैयार रहता है। सचमुच में, आर्य संयम-निष्ठ होता है। आर्य करुणा-सागर होता है। आर्य विषय-विकारों से रहित होता है। आर्य पक्ष-पात एवं ऊँच-नीच के भेद-भाव तथा छुआ-छूत की घृणित भावना से रहित होता है। आर्य विश्व के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित करने वाला होता है और प्राणिजगत का संरक्षक होता है।

आचारांग सूत्र में ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पण्डित, आर्य, वेदविद् आदि अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रमण भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग में व्यवहृत हिंसा, शोषण एवं उत्पीड़न

के विष को अमृत के रूप में परिणत करके इन शब्दों को बढ़ाया है और आर्यत्व एवं आर्यपथ को दिव्य, भव्य एवं उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाया है।

आचारांग क्या है :

प्रस्तुत आगम के नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें आचार का वर्णन है। इसमें प्रायः साध्याचार का वर्णन है। इसी कारण यह सब अंगों एवं आगमों में महत्त्वपूर्ण एवं सब अंग-शास्त्रों का सारभूत ग्रन्थ माना गया है। क्योंकि जीवन का, साधना का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन और ज्ञान के साथ सम्यक्-आचार का होना आवश्यक है। अतः मुक्ति-प्राप्ति का साधन आचार है और आचारांग में आचार का ही वर्णन है। भगवान महावीर के उपदेश या द्वादशांगी का उद्देश्य भी मोक्ष-मार्ग को बताना है। इसलिए आचारांग में सब अंगों का निचोड़ समाविष्ट है और इसी कारण इसे सब अंग-सूत्रों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत-आगम दो श्रुत-स्कंधों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कंध में पंचाचारों—
1. ज्ञान आचार, 2. दर्शन आचार, 3. चारित्र आचार, 4. तप आचार और 5. वीर्य आचार का सूत्र-शैली में सैद्धान्तिक वर्णन किया गया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साधना में प्रयुक्त होने वाले नियमों को गिना दिया गया है। प्रस्तुत जिल्द में प्रथम श्रुतस्कन्ध ही प्रकाशित किया जा रहा है। अतः हम यहां संक्षिप्त में प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही परिचय देना उपयुक्त समझते हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध नव अध्ययनों में विभक्त है और नव अध्ययन इक्यावन उद्देशकों में विभक्त हैं।

प्रथम अध्ययन

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम—शस्त्र-परिज्ञा है। इसके सात उद्देशक हैं। इसमें यह बताया गया है कि शस्त्र महाभय का कारण है। इससे (शस्त्र से) वैर विरोध बढ़ता है और वैर विरोध के बढ़ने से संसार-परिभ्रमण बढ़ता है। शस्त्र द्रव्य और भाव से दो प्रकार के हैं—गाली-गलौच, अपशब्द, लाठी-डंडे से लेकर रिवाल्वर, बन्दूक, अणु-बम, उद्जन बम और राकेट तक के हथियार द्रव्य शस्त्र हैं और राग-द्वेष, काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, माया आदि मनोविकार भाव शस्त्र हैं। भाव शस्त्रों—काषायिक भावों की भयंकरता के अनुरूप ही द्रव्य शस्त्रों में

भयंकरता लाई जाती है। अतः विश्व-शान्ति के लिए शस्त्र खतरनाक हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि वह द्रव्य एवं भाव शस्त्रों की भयंकरता का परिज्ञान करके उनसे सर्वथा निवृत्त हो जाए।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक में जीव का सामान्य संबोधन करके तथा अवशिष्ट 6 उद्देशों में 6 काय—1. पृथ्वी काय, 2. अप्काय, 3. तेजस् काय, 4. वायु काय, 5. वनस्पति काय और 6. त्रस काय के जीवों का वर्णन किया गया है और साधक को उनकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि हिंसा ही मृत्यु है, गांठ है, मोह है, जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाने का मूल कारण है। हिंसा से पाप-कर्म का बन्ध होता है और हिंसा द्रव्य एवं भाव शस्त्रों से होती है। अतः हिंसा का परित्याग करने वाले साधक को शस्त्रों से सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ 'सुयं में आउसं तेणं'... ..पद से होता है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि प्रस्तुत आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और सूत्रकार गणधर सुधर्मा स्वामी हैं। वे अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे आयुष्मन्! मैंने भगवान् महावीर के मुख से ऐसा सुना है।

आचारांग सूत्र भगवान् महावीर का सर्व प्रथम प्रवचन है, ऐसी मान्यता है और इसकी भाषा, विषय एवं शैली से भी यह सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। अतः इस दृष्टि से इसका प्रथम वाक्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें बताया है—“इहमेगसिं नो सन्ना भवइ, तंजहा... ..” अर्थात् इस संसार में कुछ जीवों को यह भी ज्ञात नहीं होता है कि वे कहां से आए हैं और यह जन्म-ग्रहण करने वाला आत्मा है या नहीं। वे यह भी नहीं जानते कि मैं कौन हूँ और मुझे मर कर कहां जाना है।

इसके आगे कहा गया है कि जिस व्यक्ति को स्वयं के चिन्तन, मनन या विशिष्ट ज्ञानी जनों के संसर्ग से जब उक्त बातों का परिज्ञान हो जाता है, तब से वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पहले व्यक्ति के मन में अपने एवं लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह उसे समझने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने क्षयोपशम से या ज्ञान-संपन्न साधकों के सम्पर्क में आकर उसे यथार्थतः जान लेता है, तभी वह आत्मवादी और लोकवादी अर्थात् आत्मा एवं लोक के स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। और स्वरूप का परिज्ञान करने के बाद ही वह कर्म एवं क्रियावादी हो सकता है।

पहले जिज्ञासा उत्पन्न होती है, फिर ज्ञान होता है; तब क्रिया या आचरण का नम्बर आता है।

ऋग्वेद में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। ऋषि जब अपने सामने विराट् लोक को फैला हुआ देखता है, तो उसकी वाणी एकाएक मुखरित हो उठती है, 'कुतः आजाता, कुतः इयं विसृष्टिः' आचारांग के प्रस्तुत सूत्र में एवं इस वाक्य में आत्मा एवं लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा समान रूप से है। अन्तर इतना ही है कि आचारांग में व्यष्टि की दृष्टि से वर्णन किया गया है और ऋषि समष्टि की दृष्टि से सोचता है। परन्तु दोनों ओर जिज्ञासा एक ही है—लोक के स्वरूप का परिज्ञान करने की, संसार के रहस्य को जानने की। यह ठीक है कि दोनों की व्यक्तिगत और समष्टिगत दृष्टि एवं चिन्तन के स्तर का अन्तर अवश्य है और वह प्रत्येक व्यक्ति में देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्म-ज्ञान के लिए जिज्ञासा पहली आवश्यकता है और यह जिज्ञासा वृत्ति सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों में समान रूप से पाई जाती है।

प्रथम उद्देशक में प्रयुक्त 'परिण्णा परिजाणियव्वा, परिणाम' आदि शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न हैं। इसका अर्थ विवेक करना, जानना और पृथक् करना, अर्थात् हिंसा एवं शस्त्रों की भयंकरता के स्वरूप को जानकर उससे विरत होना परिज्ञा है। बौद्ध ग्रन्थों में भी 'परिज्ञा' शब्द परित्याग के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'संज्ञा' शब्द भी अनुभवन और ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनुभवन-संज्ञा कर्मोदय जन्य है और उसके आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि 16 भेद हैं और ज्ञान-संज्ञा के मतिज्ञान आदि 5 भेद हैं और वह क्षय या क्षयोपशम जन्य है। प्रस्तुत उद्देशक में 'संज्ञा' शब्द का ज्ञान अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रथम उद्देशक में सामान्य रूप से जीव का वर्णन करके साधक को जीव हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। उसे हिंसा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करके उससे निवृत्त होने को कहा है और हिंसा से निवृत्त साधक को ही मुनि कहा गया है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में बताया गया है कि लोक आर्त है, परिजीर्ण है, दुर्बोध है, बाल है। वह स्वयं व्यथित है, पीड़ित है और अन्य प्राणियों को भी पीड़ित करता है। संताप एवं परिताप देता है। आचारांग में संसार की आर्तता का पुनः-पुनः

चित्र चित्रित किया गया है। फिर भी इसे पढ़कर साधक के मन में निराशावाद का उदय नहीं होता है, बल्कि उसके मन में इससे मुक्त होने का उत्साह उत्पन्न होता है, और वह मुक्त होने का मार्ग खोजता है। इसके लिए संयम, विरति, समभाव, अप्रमाद आदि की साधना को दुःख-मुक्ति का प्रशस्त पथ बताया है।

प्रस्तुत उद्देशक में शाक्य-बौद्धादि कुछ ऐसे श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है, जो अपने आपको त्यागी श्रमण कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों के द्वारा रात-दिन पृथ्वी काय की हिंसा में संलग्न रहते हैं। संसार में कुछ श्रमण ही ऐसे हैं, जो सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को भली-भाँति जान सकते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि इस संसार में हिंसा ग्रन्थि—गांठ है, बन्धन है, मोह है, मार है और नरक है।

तीसरे उद्देशक में यह बताया गया है कि साधक को आत्मा का, लोक का अपलाप नहीं करना चाहिए। जो आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है और जो लोक का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है।

इन सभी उद्देशकों में अग्निकाय, अप्काय आदि जीवों की हिंसा करने का कटु फल बताया गया है और साधक को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक-विजय है। इसमें 6 उद्देशक हैं। इसमें यह बताया गया है कि लोक—संसार का बन्धन कैसे होता है और उससे छुटकारा कैसे पाना चाहिए। निर्युक्तिकार ने छहों उद्देशकों के अर्थ का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—1. स्वजन-स्नेहियों के साथ निहित आसक्ति का परित्याग, 2. संयम में प्रविष्ट शिथिलता का परित्याग, 3. मान और अर्थ (परिग्रह) में सार-दृष्टि का त्याग, 4. भोगासक्ति का निषेध, 5. लोक निश्चा-लोक के आश्रय से संयम का परिपालन और 6. लोक आश्रय से संयम का निर्वाह होने पर भी लोक में ममत्व भाव नहीं रखना। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन का नाम सार्थक है।

लोक शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक का अर्थ है—संसार। वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। क्षेत्रादि लोक को द्रव्य लोक कहते हैं और कषाय को भाव लोक कहते हैं और कषाय लोक ही द्रव्य लोक

का कारण है। अतः जो साधक कषाय लोक पर विजय पा लेता है, वह सर्व लोक विजेता बन कर सिद्धत्व को पा लेता है।

प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र है, 'जे गुणे, से मूलझाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे' अर्थात् जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है वह गुण है। इस गूढ़ वाक्य का भाव यह है कि जहां गुण-विषय-कषाय है वहां मूल-स्थान-आवर्त (संसार) है और जहां संसार है, वहां कषाय है। यदि ये गुण न हों तो जीव में कषाय, आसक्ति, तृष्णा आदि भावों का उदय होता ही नहीं और जब इनका उदय नहीं होता है, तब उस जीव के संसार में परिभ्रमण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः गुण-विषय-कषाय ही संसार है। वस्तुतः संसार का आधार गुण है और इन्हीं कारणों से व्यक्ति स्वजन-स्नेहियों की आसक्ति में फंस्ता है। इसीलिए इस उद्देश में बताया गया है कि साधक को परिजनों की आसक्ति का परित्याग करके साधना में संलग्न रहना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक में संयम पथ पर दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। संयम-साधना की कठिनता के कारण उसमें अरति पैदा होना स्वाभाविक है। परन्तु परीषहों से घबरा कर साधना-पथ से भ्रष्ट होने वालों के लिए कहा गया है—“वे मंद हैं, मोह से ग्रथित हैं। धीर, वीर और मेधावी पुरुष अलोभ से लोभ पर विजय प्राप्त करके प्राप्त भोगों का आसेवन नहीं करता। अतः वह संसार से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।”

तृतीय उद्देशक में मान का, अहं-भाव का परित्याग करने के लिए उपदेश दिया गया है—“यह जीव अनेक बार उच्च और नीच गोत्र में उत्पन्न हो चुका है। इससे न तो उसका उत्कर्ष हुआ है और न अपकर्ष ही। अतः कर्म की विचित्रता को समझ कर साधक को उच्च-गोत्र एवं ज्ञान-तप आदि उच्च क्रिया-काण्डों के मान का परित्याग कर देना चाहिए।”

चतुर्थ उद्देशक में भोगासक्त जीवों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। उसमें बताया गया है ‘भोगेच्छा की पूर्ति तो होगी तब होगी, किन्तु आशा एवं तृष्णा के शल्य की चुभन तो उन्हें अनवरत परेशान करती ही रहेगी। अतः साधक को अप्राप्त पदार्थों की तृष्णा से परे रहना चाहिए।

पंचम उद्देशक में बताया गया है कि मुनि शरीर का निर्वाह करने के लिए हिंसा न करे। किन्तु जो गृहस्थ अपने एवं अपने परिवार के लिए आहार, पानी, वस्त्र, मकान आदि बनाते या खरीदते हैं, उसमें वह निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करे। साधु

आर्य है, अतः वह आमगन्ध¹ का त्याग करके निरामगन्ध होकर विचरण करे।

छठे उद्देशक में बताया गया है कि मुनि लोक-गृहस्थ के घरों से आहारादि की गवेषणा करके जीवन का निर्वाह करता है; फिर भी वह उनमें एवं आहारादि पदार्थों में आसक्त न बने। क्योंकि ममत्व भाव रखना परिग्रह है, परिग्रह बन्धन है और बन्धन संसार है। अतः निष्परिग्रही मुनि ममत्व-भाव से सर्वथा रहित होकर विचरण करे, क्योंकि निष्परिग्रही साधक ही परमार्थ मोक्षमार्ग को जान सकता है और जो उसे जानता है, वही उसे पा सकता है।

तृतीय अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—शीतोष्णीय। यह चार उद्देशकों में विभक्त है। साधारणतः शीत का अर्थ ठंडा और उष्ण का अर्थ गरम होता है। परन्तु निर्युक्तिकार ने इनके आध्यात्मिक अर्थों का भी उल्लेख किया है। उसमें परीषह (कष्ट), प्रमाद, उपशम, विरति और सुख को शीत तथा परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दुःख को उष्ण कहा है। परीषहों को शीत और उष्ण दोनों में गिना गया है। स्त्री और सत्कार परीषह को शीत और शेष 20 परीषहों को उष्ण कहा है। एक विचारधारा यह भी है कि तीव्र-परिणामी उष्ण है और मंद-परिणामी शीत।

प्रस्तुत अध्ययन में इन्हीं आभ्यन्तरिक एवं बाह्य शीतोष्ण की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि श्रमण साधक सदा शीत-उष्ण स्पर्श, सुख-दुःख, परीषह आदि को सहन करे और तप, संयम एवं उपशम भाव में संलग्न रहे और काम-भोगों का आसेवन न करे।

-
1. आम शब्द का वैदिक अर्थ अपक्व या कच्चा मांस या अन्न आदि था। वैदिक ग्रंथों में उसका अर्थ 'रोग' भी हुआ। पालि ग्रन्थ में इसका अर्थ विस्तार होकर 'पाप' होने लगा, शारीरिक रोग की तरह पाप भी आध्यात्मिक रोग है। वहां निराम का अर्थ है—निष्पाप, क्लेश रहित। यहां आम-गन्ध का अर्थ होगा—'पाप की गन्ध'। परन्तु टीकाकार यहां आमगन्ध का पारिभाषिक अर्थ करते हैं—आधाकर्मादि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार। अतः निरामगन्ध का अर्थ हुआ—निर्दोष आहार।

प्रथम उद्देशक का प्रथम वाक्य है—‘सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति’, अर्थात् अमुनि सुषुप्त-सोए हुए हैं और मुनि सदा जागृत रहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में आध्यात्मिक या भाव निद्रा एवं जागरण से तात्पर्य है। प्रमाद सर्वत्र अहितकर है, हानिप्रद है और अप्रमाद सर्वत्र सुखप्रद एवं लाभप्रद होता है। यह सबके अनुभव की बात है।

द्वितीय उद्देशक के प्रथम वाक्य में कहा है “प्रबुद्ध पुरुष को जब मोक्ष का ज्ञान हो जाता है, तब वह पाप-कर्म नहीं करता है।” उसकी भावना में पाप के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात् इसका स्पष्ट चित्रण किया गया है कि पाप-कर्म करने से जीव किस प्रकार दुःखी होता है। अतः इस बात को जानने वाला आतंकदर्शी साधक पाप कर्म नहीं करता; क्योंकि पाप कर्म में वही प्रवृत्त होता है, जिसे जीव-अजीव आदि का एवं हिंसा के फल का बोध नहीं है।

तृतीय उद्देशक के प्रारम्भ में कहा गया है कि “साधक सब प्राणियों को आत्म-दृष्टि से देखे। किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा न करे।” इसमें आगे कहा गया है—“हे पुरुष! तू ही अपना मित्र है, अतः बाह्य मित्रों की खोज क्यों करता है? तू आत्मा का ही आश्रय ले, उसका ही चिन्तन एवं शोधन कर। वस्तुतः यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।” जो साधक आत्मा का चिन्तन करता है और रात-दिन इसी को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है, वह पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

चतुर्थ उद्देशक में कहा गया है—“मुनि, क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करता है। यह त्याग-मार्ग ही उस पश्यक-तीर्थकर का दर्शन है।” आगे कहा गया है कि “जो एक अपनी आत्मा को जान लेता है, वह सब को जान लेता है और जो सबको जान लेता है, वह एक को जान लेता है।” आगे चलकर एक और महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि “प्रमादी को सर्वत्र भय है और अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है।” क्योंकि प्रमादी हिंसा का सहारा लेता है और हिंसा के साधन-भूत शस्त्र एक-दूसरे से अधिक तीक्ष्ण होते हैं, इसलिए उसे रात-दिन भय बना रहता है। परन्तु अहिंसा में तीक्ष्णता नहीं है। उसमें समानता है। इसलिए शस्त्र का परित्याग करने वाला व्यक्ति कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है। उसके जीवन के किसी भी कोने में विषमता नहीं है। उसके जीवन में एकरूपता है, अखण्डता है। अतः साधक को अपने आत्म-स्वरूप का परिज्ञान करके भाव

शस्त्रों—कषायों एवं द्रव्य-शस्त्रों—हिंसा के साधनों का त्याग करके संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए।

चतुर्थ अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास। प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे, निष्ठा रखे। इसका उत्तर प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में दिया गया है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस एक सूत्र में जैन दर्शन का सार समाविष्ट है। वह सूत्र यह है—“अतीत, अनागत एवं वर्तमान काल के सभी तीर्थकरों का कथन है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए। उन्हें पीड़ा एवं संताप नहीं देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है और शाश्वत है। अहिंसा की इस श्रद्धा को, निष्ठा को, विश्वास को प्राप्त करके साधक अपनी आचरण की शक्ति को गोपन न करे, उसे छिपाए नहीं और लोकैषणा एवं लोक-प्रशंसा की भी इच्छा न करे।” समकित या सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिंसा, दया, सत्य आदि सिद्धांतों पर श्रद्धा रखना एवं यथावसर उन्हें आचरण में उतारने का प्रयत्न करना।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि आस्रव एवं संवर किसी स्थान विशेष में आबद्ध नहीं हैं। “जो धर्म-स्थान संवर के कारण हैं, साधन हैं, वहां आस्रव हो सकता है और जो स्थान आस्रव—कर्म के आने के द्वार हैं, वहां संवर की साधना भी हो सकती है।” कहने का तात्पर्य यह है कि आस्रव एवं संवर का आधार एकान्त-रूप से स्थान एवं क्रिया नहीं, बल्कि क्रिया के साथ साधक की शुभाशुभ या शुद्ध भावना है। यदि भावना में विशुद्धता है, राग-द्वेष से रहित परिणाम है, तो क्रिया में बाह्य रूप से हिंसा होने पर भी उससे कर्मबन्ध नहीं होता और यदि भावना में अविशुद्धता है, कषायों की आग प्रज्ज्वलित है, तो वह सामायिक भवन में सामायिक करते हुए भी पापकर्म का बन्ध कर लेता है। अतः साधक को आस्रव एवं संवर के मूलभूत साधन में विश्वास रखकर अपनी भावना को विशुद्ध एवं राग-द्वेष से रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि भाव-विशुद्धि से संवर होता है, कर्मों का आना रुकता है। परन्तु मुक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो पुरातन कर्म

अवशेष हैं, उन्हें भी नष्ट किया जाए। उनका क्षय करने के लिए तप-साधना आवश्यक है। अतः तप-साधना पर निष्ठा रखकर यथाशक्य उसे आचरण में लाना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि साधना का मार्ग वीरों का मार्ग है। इस पर चलना कठिन है। इसके लिए साधक को शारीरिक ममत्व एवं सुखों का त्याग करना पड़ता है।

अन्त में कहा गया है कि वस्तुतः तत्त्वज्ञ या श्रद्धा-निष्ठ वह है, जो कर्म को फल-प्रदाता समझता है, उसे संसार का कारण जानता है और उस पर विश्वास करके कर्म-बन्ध के कारणों से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

वस्तुतः श्रद्धा-निष्ठ या सम्यक्त्वी वह है, जो अहिंसा पर श्रद्धा रखता है, जो आस्रव एवं संवर के मूलभूत कारण को जानता है, जो तप-साधना को निर्जरा का कारण मानता है और जो कर्म-बन्ध के साधनों को त्याज्य समझता है। साधक वह है, जो इस प्राणवन्त श्रद्धा को जीवन में, आचरण में उतारने का प्रयत्न करता है।

पंचम अध्ययन

इस लोकसार अध्ययन के 6 उद्देशक हैं। वस्तुतः धर्म ही लोक में सारभूत तत्त्व है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र में कहा गया है—“जो व्यक्ति प्रयोजन या निष्प्रयोजन से जीवों की हिंसा करते हैं, वे सदा उन्हीं जीवों में घूमते हुए दुःखों का अनुभव करते हैं।” क्योंकि हिंसा से कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध से संसार बढ़ता है। अतः हिंसक प्राणी संसार को पार नहीं कर सकते। इसके आगे कहा गया है कि “वे न भोगों के अन्दर हैं और न उनसे दूर हैं।” इसका अभिप्राय यह है कि जीव विषय-भोगों के मध्य में रहते हुए भी सभी भोगों को भोग नहीं सकता। इसलिए वह पूर्णतः उनके मध्य में भी नहीं है और सब भोगों को भोगने की शक्ति न होने पर भी उसका मन सदा भोगों में घूमता रहता है, अतः वह भोगों से दूर भी नहीं है। अतः संसार से वही दूर है, जो हिंसा एवं भोगों का त्याग कर चुका है और जो मन में उत्पन्न संशय अथवा जिज्ञासा का यथार्थ परिज्ञान कर चुका है। परन्तु जिसने हिंसा एवं भोगों का त्याग नहीं किया है और संशय का भी निवारण नहीं किया है, वह संसार से पार नहीं

हो सकता है। ज्ञानी पुरुषों ने उसे मुक्ति से दूर कहा है।

द्वितीय उद्देशक में कहा गया है कि मुनि वही है, जो लोक में मध्य में रहकर भी हिंसाजीवी नहीं है। उसने यह जान लिया है कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है, जीवन चाहता है, मरण सबको अप्रिय है। अतः वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता। वह हिंसा के पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय उद्देशक में अपरिग्रह की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि साधक को अपनी कामासक्त आत्मा से ही युद्ध करना चाहिए; क्योंकि आत्म-विजय ही सच्ची विजय है। अतः साधक के लिए बाह्य विजय निष्प्रयोजन है। वस्तुतः “यह आर्य युद्ध ही सच्चा युद्ध है और यह युद्ध अति दुर्लभ एवं कठिन है।” बाह्य युद्ध तो अनार्य युद्ध है। अतः साधक को अनासक्त भाव से विकारों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक में यह बताया है कि जो मुनि वय एवं ज्ञान से अपरिपक्व है, परीषहों को सहने में अक्षम है, उसे एकाकी विचरण नहीं करना चाहिए।

पंचम उद्देशक में कहा गया है कि सदा संशयशील रहने वाले साधक को समाधि-लाभ नहीं होता। उसे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करके हिंसादि दोषों से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि पर-प्राणी की हिंसा अपनी स्वयं की हिंसा है। अतः यह कहा गया है कि “जिसे तू हन्तव्य—मारने योग्य जानता है, वही तू है।” क्योंकि उसे मारने के पूर्व तू अपने आत्म-गुणों का नाश करता है, अपनी आत्मा का वध कर रहा है। अतः साधक को चाहिए कि वह हिंसा-अहिंसा के यथार्थ स्वरूप को समझ कर हिंसा का सर्वथा परित्याग करे।

छठे उद्देशक में कहा गया है कि कुछ लोग संयम-रत हैं, किन्तु आज्ञा-आराधक नहीं हैं। कुछ आज्ञा के आराधक हैं, किन्तु संयम-रत नहीं हैं। कुछ न आज्ञा-आराधक हैं और न संयम-रत ही हैं। कुछ लोग आज्ञा-आराधक भी हैं और संयम-रत भी हैं। परन्तु वस्तुतः बुद्धिमान साधक वही है, जो आज्ञा के अनुरूप आचरण करता है और वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति या मुक्त जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि “वह दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, परिमण्डल, कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल, सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर, कर्कश, मृदु, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, काय युक्त, रुह-पुनर्जन्म, संग, स्त्री,

पुरुष और नपुंसक इनमें से कुछ भी नहीं है। मुक्तात्मा या परमात्मा का यही वर्णन उपनिषद् एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

षष्ठ अध्ययन

षष्ठ अध्ययन का नाम 'धुत' है। इसके पांच उद्देशक हैं। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके उसे साफ-स्वच्छ बना देना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मैले-कुचैले वस्त्र को साबुन आदि क्षार पदार्थ लगाकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनाना द्रव्य धुत है और आत्मा पर चिपटे हुए कर्ममल को तप-स्वाध्याय आदि साधना के द्वारा दूर करके आत्मा को शुद्ध, निर्मल, उज्ज्वल, समुज्ज्वल, परमोज्ज्वल बनाना भाव धुत है। प्रस्तुत उद्देशक में भाव-धुत, अर्थात् आत्मा को उज्ज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है।

प्रथम उद्देशक में कुछ उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि मोह में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। जैसे तालाब में निवसित कछुआ शैवाल से आच्छादित तालाब के बाहर क्या-कुछ है और बाहर जाने का मार्ग किस ओर है, यह नहीं जान सकता। वृक्ष भी दुःख एवं आपत्तियों से अपने बचाव करने के लिए अन्यत्र नहीं जा सकता है। उसी तरह मोह में आसक्त व्यक्ति सत्य-मार्ग को नहीं देख सकता और न उसे पा सकता है, जिससे उस पथ पर चल कर शान्त-प्रशान्त स्थान पर पहुँच सके। वह संसार में रहकर दुःखों की चक्की में पिसता रहता है। अतः साधक को मोह एवं संसार की आसक्ति से सदा दूर रहना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधक परीषहों से घबरा कर साधुत्व का परित्याग कर देते हैं। वे वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक रजोहरण आदि संयम-साधना के उपकरणों का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। इससे वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि साधु उक्त वस्त्र आदि उपकरणों को रखते थे। आगे बताया है कि कुछ साधक दृढ़ता के साथ संयम का पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

तृतीय उद्देशक में यह बताया है कि वस्त्र का त्याग करने वाला मुनि इस बात की चिन्ता न करे कि मेरा वस्त्र फट गया है, अतः सूई-धागा लाकर इसे सीना है। परन्तु वह इस बात का अनुभव करे कि मैं हलका बन गया हूँ और मुझे सहज ही

तप-साधना का अवसर मिल गया है। अतः वस्त्र की चिन्ता न करके साधक उन महापुरुषों के जीवन का चिन्तन करे, जिन्होंने निर्वस्त्र होकर भी समभाव-पूर्वक साधना के द्वारा कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।

चौथे उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधु आचार से च्युत होकर भी लोगों को सम्यक् आचार का उपदेश देते हैं। परन्तु कुछ साधक आचार के साथ ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। सम्यग् ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट साधु अपने जीवन का अधःपतन कर लेते हैं। वे अनन्तकाल तक संसार में भटकते रहते हैं। अतः साधक को सदा ज्ञान एवं आचार की साधना में संलग्न रहना चाहिए।

पंचम उद्देशक में बताया गया है कि उपदेष्टा कैसा हो, उसे कब, किसको और कैसे उपदेश देना चाहिए। इसमें बताया गया है कि उपदेष्टा कष्ट-सहिष्णु हो, समस्त प्राणियों की दया एवं रक्षा करने वाला हो, वेदविद्—आगमों का ज्ञाता हो, सबके लिए शरणभूत हो और उसका उपदेश सबके लिए हो और सबका हित करने वाला हो। और उपदेशक को शान्ति, अहिंसा, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव इन विषयों पर उपदेश देना चाहिए।

इस तरह की साधना के द्वारा ही साधक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मों को दूर कर सकता है। कर्म-रज से मुक्त होने के लिए ज्ञान और आचार (क्रिया) की समन्वित साधना आवश्यक है। प्रस्तुत उद्देशक में 'वेदवित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां 'वेद' का अर्थ है—आत्मा, पदार्थ एवं लोक के यथार्थ एवं सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादक आगम। अतः 'वेदवित्' का अर्थ हुआ—श्रुत-आगम-साहित्य या शास्त्रों का ज्ञाता।

सप्तम अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है और यह सात उद्देशकों में विभक्त है। वर्तमान में यह अध्ययन उपलब्ध नहीं है। महापरिज्ञा का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। आचार्य शीलांक लिखते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन में मोह के कारण से होने वाले परीषहों और उपसर्गों का वर्णन है। इसके सम्बन्ध में परम्परा से ऐसी मान्यता चली आ रही है कि इसमें मन्त्र-तन्त्र से बचने का उपदेश दिया गया था। क्योंकि मन्त्र-तन्त्र की साधना से मोह का उदय होना सम्भव है, इसलिए आचार्यों ने साधु-जीवन को

मोह-जन्य हानि से बचाने के लिए विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न साधकों के अतिरिक्त सर्व-साधारण के लिए इसका अध्ययन करना बन्द कर दिया। इस प्रतिबन्ध के कारण इसका अध्ययन कम हो गया और एक दिन यह स्मृति से ही उतर गया। अस्तु, जो कुछ भी कारण रहा हो, इसके विच्छेद होने से एक बड़ी साहित्यिक क्षति अवश्य हुई, यह तो मानना ही पड़ेगा।

अष्टम अध्ययन

प्रस्तुत विमोक्ष अध्ययन आठ उद्देशकों में विभक्त है। प्रथम उद्देशक में असमान आचार वाले साधु के साथ नहीं रहने का उपदेश दिया गया है और उसे आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि देने एवं उसकी सेवा करने का भी निषेध किया है। द्वितीय उद्देशक में अकल्प्य—जो वस्तु लेने योग्य नहीं है, उसको ग्रहण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि यदि उस अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण न करने पर कोई गृहस्थ रुष्ट हो जाए तो उसे साध्याचार समझाना चाहिए। इस पर भी यदि वह साधु को भला-बुरा कहे या कुछ कष्ट दे, तो उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए, परन्तु अकल्पनीय वस्तु किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करनी चाहिए। चतुर्थ उद्देशक में यह बताया है कि यदि साधु की अंग-चेष्टा को देखकर किसी गृहस्थ के मन में कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया हो तो साधु उसका अवश्य ही निवारण कर दे। पंचम उद्देशक में एक पात्र एवं तीन वस्त्र धारण करने वाले साधु के लिए कहा गया है कि वह इससे अधिक की अभिलाषा न रखे। छठे और सातवें उद्देशक में क्रमशः एक पात्र और दो एवं एक वस्त्र धारण करने वाले के सम्बन्ध में यही बात कही गई है। अष्टम उद्देशक में गद्य में वर्णित विषय का गाथाओं-पद्यों में वर्णन किया गया है।

नवम अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान है। यह चार उद्देशकों में विभक्त है। इसमें एक भी सूत्र नहीं है। गाथाओं-पद्यों में भगवान महावीर की साधना का वर्णन किया गया है।

प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि दीक्षा-ग्रहण करने के बाद भगवान ने इन्द्र

के द्वारा प्रदत्त देव-दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं लिया और इसके लिए भी उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र को शरीर ढकने के लिए काम में नहीं लूंगा। उन्होंने उस वस्त्र को शीत-निवारण एवं डंस-मशक के कष्ट से बचने के लिए कभी भी काम में नहीं लिया। उन्होंने अनुधर्मिता-पूर्व तीर्थकरों की परम्परा को निभाने के लिए ही इसे स्वीकार किया था।

चूर्णि में अनुधर्मिता का अर्थ गतानुगत किया है। तात्पर्य यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा का पालन किया था। इसका एक दूसरा अर्थ—अनुकूल धर्म्य भी किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान को आगे चलकर सोपधिक—वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना था, इसलिए भगवान ने एक वस्त्र को स्वीकार किया।

संस्कृत कोष में यह शब्द नहीं मिलता है। परन्तु पालि ग्रन्थों में यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप में मिलता है। कोष में इसका अर्थ—“Lawfulness, Conformity to Dhamma” दिया है। पालि में 'अनुधम्म' शब्द भी मिलता है। इसका अर्थ है—Conformity or accordance with the law, Lawfulness, relation, essence consistancy truth. यदि इन अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो अनुधर्मिता शब्द का अर्थ होता है—भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार द्वारा किया गया अर्थ भी उपयुक्त है। क्योंकि यह प्रश्न उठेगा कि भगवान ने कौन-से धर्म का आचरण किया। इसका समाधान यह होगा कि जो धर्म परम्परा से तीर्थकरों द्वारा आचरित था और व्यवहार में रूढ़ हो रहा था। अतः वह केवल धर्म ही नहीं, अनुधर्म—परम्परा से चला आ रहा धर्म था¹।

इसके आगे बताया गया है कि दीक्षा के पूर्व उनके शरीर पर चन्दनादि सुवासित पदार्थों का लेपन किया गया था। उस सुवास का आस्वादन करने के लिए भ्रमर—मधुमक्षिका आदि जीव-जन्तु उनके शरीर पर बैठने एवं डंक मारने लगे। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। वे समभाव पूर्वक उन परीषहों को तथा वैसे एवं उनसे भी भयंकर अन्य परीषहों को भी सहन करते रहे।

वे सदा ईर्यासमिति से मार्ग को देखकर चलते थे। स्त्री-संसर्ग एवं विषय-वासनाओं

से पूर्णतः मुक्त थे। वे सदा अपने कर-पात्र (हाथ) में ही भोजन करते थे। उन्होंने कभी गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं किया।

द्वितीय-उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान सदा शून्य-स्थानों में एवं गांव या नगर के बाहर ठहरते थे और यह भी बताया गया है कि छद्मस्थ अवस्था में भगवान सदा प्रमाद (निद्रा) से दूर रहे। यदि कभी निद्रा आने को होती तो वे खड़े होकर या चंक्रमण—घूम-फिर करके उसे हटा देते थे। शून्य एवं निर्जन स्थानों में देव-दानव एवं जीव-जन्तुओं के द्वारा उन्हें अनेक परीषह एवं उपसर्ग दिये गए। परन्तु वे उनसे कभी घबराए नहीं, सदा-सर्वदा स्थिर मन से साधना में दृढ़ रहे।

तृतीय उद्देशक में भगवान महावीर के लाढ़ (अनार्य देश) में उत्पन्न परीषहों का वर्णन है। यह लाढ़ देश वर्तमान में गुजरात में पाए जाने वाले लाढ़ देश से भिन्न है। यह अनार्य देश बंगाल में था और बहुत करके बिहार प्रान्त की सीमा पर ही स्थित था।

चतुर्थ उद्देशक में उनकी तप-साधना का वर्णन किया गया है। उसमें यह बताया गया है कि सर्प, कुंते आदि जानवरों के काटने या रोग के आने पर भी भगवान औषध का सेवन नहीं करते थे। उस समय भी वे तप-साधना को ही स्वीकार करते थे।

इस अध्ययन का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उनके जीवन में, साधना में अपवाद को तो कहीं अवकाश ही नहीं था।

टीकाकार

प्रस्तुत आगम पर अनेक टीकाएं लिखी जा चुकी हैं। आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति लिखी। आचार्य शीलांक ने संस्कृत टीका की रचना की। आचार्य जिनहंस ने दीपिका लिखी और उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने बालावबोध की रचना की। इसके बाद गोपाल दास भाई ने इसका गुजराती में छायानुवाद किया। मुनि सन्तबाल जी ने प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती भाषा में अनुवाद किया। आचार्य अमोलक ऋषि जी म. ने सर्व प्रथम हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया और पं. मुनि श्री सौभाग्य चन्द्र जी महाराज ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध पर हिन्दी-विवेचन किया।

परन्तु भारतीय भाषा और लिपि से अनभिज्ञ ऐसे आधुनिक विद्वानों को आचारांग का सर्व प्रथम सम्पूर्ण परिचय डाक्टर हरमन जैकोबी ने कराया। उन्होंने The Sacred Book of the East Vol. 22 में इसे प्रस्तुत किया। शुब्रीलाइप्सिंग ने भी प्रथम श्रुतस्कन्ध का इंग्लिश और जर्मन में Wrote Mahavira शीर्षक से अनुवाद किया।

इस तरह प्रस्तुत आगम पर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश और जर्मन आदि अनेक भाषाओं में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। फिर भी इस पर बहुत कुछ शोध (Research) करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत अनुवाद एवं व्याख्या

प्रस्तुत अनुवाद एवं व्याख्या स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने अपनी निजी पद्धति के अनुसार की है। इसमें मूल पाठ, संस्कृत-छाया, पदार्थ, मूलार्थ, हिन्दी भावार्थ और हिन्दी-विवेचन दिया गया है। श्रद्धेय आचार्य श्री जी के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अन्य आगम भी इसी शैली में प्रकाशित हुए हैं। इससे आगम के साधारण पाठक को भी समझने में कठिनाई महसूस नहीं होती।

—मुनि समदर्शी

आचारांग-प्रथम श्रुतस्कन्ध

गाथा अनुक्रमणिका

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासंख्या
1.	अइवत्तियं—	9	1	17
2.	अकसाई विगय—	9	4	15
3.	अचित्ते तु—	8	8	21
4.	अणन्न परमं—			10
5.	अणाहारो—	8	8	8
6.	अणुपुव्वेण—	8	8	1
7.	अदु कुचरा—	9	2	8
8.	अदु थावरा—	9	1	14
9.	अदु पोरिसिं—	9	1	5
10.	अदुवा माहणं—	9	4	11
11.	अदु वायसा—	9	4	10
12.	अप्पं तिरियं—	9	1	21
13.	अभिककमे—	8	8	15
14.	अयं चापयतरे—	8	8	19
15.	अयं से अवरे—	8	8	12
16.	अयं से उत्तमे—	8	8	20
17.	अयमंतरसिं—	9	2	12
18.	अप्पे जणे—	9	3	4
19.	अवरेण पुब्बिं—			11
20.	अविज्झाइ से—	9	4	14
21.	अवि साहिण्—	9	4	6
22.	अवि साहियं—	9	1	11
23.	अवि सूइयं—	9	4	13
24.	अवि से—			6
25.	अह दुच्चर—	9	3	2
26.	अहाकडं—	9	1	18
27.	अहासुयं बइस्सामि—	9	1	1
28.	अहियासण्—	9	2	10
29.	आगन्तरे—	9	2	3

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासंख्या
30.	आया वइय-	9	4	4
31.	आवेसणसभापवासु-	9	1	2
32.	आसीणे-	8	8	17
33.	इदिएहिं-	8	8	14
34.	इहलोइयाई-	9	2	9
35.	उच्चालइयं-	9	3	12
36.	उड्डं साया-			13
37.	उदरिं च पास-			15
38.	उम्मुज्व पासं-			5
39.	उवसंक-	9	3	9
40.	एएहिं मुणी-	9	2	4
41.	एयाइं सन्ति-	9	1	13
42.	एयाणं तिन्नि-	9	4	5
43.	एलिकखएजणा-	9	3	5
44.	एवं पि तत्थ-	9	3	6
45.	एस बिहि-	9	1	23
46.	एस बिहि-	9	2	16
47.	एस बिहि-	9	3	14
48.	एस बिहि-	9	4	17
49.	ओमोयरियं-	9	4	1
50.	कसाए पयूण-	8	8	3
51.	कोहाइयाणं-			8
52.	गंडी अहवा-			14
53.	गयं परिणाय-			9
54.	गड्ढिए-	9	1	10
55.	गन्थेहिं-	8	8	11
56.	गामं पविसे-	9	4	9
57.	गामे वा अदुवा-	8	8	7
58.	चत्तारि साहिए-	9	1	3
59.	चरियासणाइं-	9	2	1
60.	छट्ठेण एगया-	9	4	7
61.	जं किंचुवक्कमं-	8	8	6
62.	जं सिप्पेगे पवेयन्ति-	9	2	13
63.	जओ बज्जं-	8	8	18
64.	जाइं च वुड्डिं-			4

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासंख्या
65.	जावज्जीवं—	8	8	22
66.	जीवियं नाभिकखिज्जा—	8	8	4
67.	जे के इमे—	9	1	7
68.	णच्चाणं—	9	4	8
69.	णो चेविमेण—	9	1	2
70.	सुकरमेयमेगेसिं—	9	1	8
71.	णो सेवइ च—	9	1	19
72.	तं सि भगवं—	9	2	15
73.	तण फासे—	9	3	1
74.	तम्हा निविज्जा—			7
75.	दुविहं पि—	8	8	2
76.	दुविहं समिच्च—	9	1	16
77.	नाईयमट्ठं—			12
78.	नागो संगामे—	9	3	8
79.	निहं पि नो पंगामाए—	9	2	5
80.	निहाय दंडं—	9	3	7
81.	परिक्कमे परिकिलन्ते—	8	8	16
82.	पाणा देहं—	8	8	10
83.	पुढविं च—	9	1	12
84.	फरुसाइ—	9	1	9
85.	भगवं च एवमन्नेसिं—	9	1	15
86.	भेउरेसु न रज्जिज्जा—	8	8	23
87.	मंसाणि—	9	3	11
88.	मायण्णे—	9	1	20
89.	मुज्झत्थो—	8	8	5
90.	लादेहिं—	9	3	3
91.	वित्तिछेयं—	9	4	12
92.	विरए गामधम्मोहिं—	9	4	3
93.	संघाडओ—	9	2	14
94.	संबुद्धमाणे—	9	2	6
95.	संवच्छरं साहियं—	9	1	4
96.	संसप्पगा य जे—	8	8	9
97.	संसोहणं चं—	9	4	2
98.	स जाणेहिं तत्थ—	9	2	11
99.	सयणेहिं—	9	1	6

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासंख्या
100.	सयणेहिं—	9	2	7
101.	सयमेव अभिसमागम—	9	4	16
102.	सव्वट्ठेहिं—	8	8	25
103.	सासण्हेहिं—	8	8	24
104.	सिसिरंति—	9	1	22
105.	सूरो संगम—	9	3	13
106.	सोलस्स एए रोगा—			16
107.	हय षुव्वो—	9	3	10
108.	हरिएसु—	8	8	13

श्रीआचारांगसूत्र : प्रथम श्रुतरस्कन्ध सूत्रसूची (Index)

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
1.	अकरिस्सं—	7
2.	अच्चेइ जाईमरणस्स—	171
3.	अट्टे लोए—	14
4.	अणभिवक्कंतं—	70
5.	अणाणाए एगे—	167
6.	अणाणय पुट्ठावि—	74
7.	अणुपविसित्ता—	219
8.	अणुयीइ भिक्खू—	192
9.	अणेगचित्ते—	114
10.	अदिस्समाणे—	88
11.	अदुवा अदिन्नादाणं—	27
12.	अदुवा तत्थ—	221
13.	अन्नहा णं पासए—	92
14.	अपरिणाय कम्मा—	9
15.	अभिभूय अदक्खू—	168
16.	अरइं आउट्टे—	73
17.	अविं य हणे—	103
18.	अह पुण एवं—	209
19.	अहमट्ठी तुमंसि—	189
20.	अहेगे धम्मायाय—	180
21.	अहो अ राओ—	130
22.	आउरं लोगमायाए—	178
23.	आगयपन्नाणाणं—	183
24.	आघाइ नाणी—	132
25.	आयंकदंसी अहियंति—	57
26.	आययचक्खू—	94

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
27.	आयाण भो सुस्सूस-	176
28.	आवन्ती केयावन्ती लोए-	147
29.	आवन्ती केयावन्ती लोए-	134
30.	आयावन्ती केयावन्ती लोणंसि-	150
31.	आयावन्ती केयावन्ती लोणंसि-	142
32.	आयावन्ती केयावन्ती लोणंसि-	152
33.	आवट्टं तु पेहाए-	170
34.	आवीलए, पवीलए-	138
35.	आसं च छंद-	85
36.	आसेवित्ता एतं-	115
37.	आहारोवचया-	205
38.	इच्चेव समुट्ठिए-	66
39.	इणमेव नावकंखति-	81
40.	इमं निरुद्धाउयं-	138
41.	इमस्स चेव-	11
42.	इहं च खलु भो-	25
43.	इह अणाकंखी-	136
44.	इहमेगेसिं-	2
45.	इहमेगेसिं-	133
46.	इहमेगेसिं आयारगोयरे-	196
47.	इह संतिगया-	58
48.	उडुढं अहं तिरियं-	42
49.	उडुढं अहं तिरियं-	198
50.	उदेसो पासगस्स-	82
51.	उदेसो पासगस्स-	105
52.	उवाइयसेसेणं-	68
53.	उवेहिणं-	115
54.	एगं विगिंचमाणे-	125
55.	एत्थपिजाणे-	61
56.	एत्थ सत्थ-	18
57.	एत्थ सत्थं समारम्भ-	31
58.	एत्थ सत्थं समारम्भ-	39
59.	एत्थ सत्थं समारम्भ-	48

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
60.	एत्थ सत्थं समारम्भ-	55
61.	एत्थवि तेसिं-	30
62.	एयं खु मुणी-	182
63.	एयं नियाय मुणिणा-	154
64.	एयावन्ती, सव्वावन्ती-	8
65.	एयावन्ती, सव्वावन्ती-	12
66.	एवं ते सिस्सादिया-	185
67.	एवं पस्स मुणी-	86
68.	एवमेगेसिं णो णायं-	4
69.	एस मरणापमुच्चइ-	112
70.	एस लोए वियाहिए-	43
71.	एस समिया परियाए-	148
72.	ओए दयं दयइ-	206
73.	ओबुज्झमाणे इह-	173
74.	कम्म भूलं च-	111
75.	कप्पइ णो कप्पइ-	28
76.	का अरइ-	118
77.	कामा दुरितक्कमा-	93
78.	कायस्स दियाघाए-	193
79.	कियणेण भो-	190
80.	खणं जाणाहि पंडिए-	71
81.	गामाणुगामं-	157
82.	चिच्चा सत्त्वं-	181
83.	जं जाणिज्जा उच्चातइयं-	119
84.	जं दुक्खं पवेइयं-	172
85.	जमिणं विरुयरूवेहिं-	87
86.	जमेयं भगवया-	211
87.	जस्सणं भिक्खुस्स-	212
88.	जस्सणं भिक्खुस्स-	214
89.	जस्सणं भिक्खुस्स-	216
90.	जस्सणं भिक्खुस्स-	218
91.	जस्सणं भिक्खुस्स-	222
92.	जस्सणं भिक्खुस्स-	223

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
93.	जस्स ते—	13
94.	जस्स नत्थि इमा—	129
95.	जस्स नत्थि पुरा—	140
96.	जाए सद्धाए—	20
97.	जाणित्तु दुक्खं—	69
98.	जाबसोय परिण्णाणा—	72
99.	जीविए इह जे—	67
100.	जुद्धारिहं खलु दुल्लहं—	155
101.	जे आया से विन्नाया—	166
102.	जे आसवा—	131
103.	जे एंग जाणइ—	123
104.	जे कोहं दंसी—	126
105.	जे खलु भो—	141
106.	जे गिहेसु वा—	191
107.	जे गुणे से आवट्टे—	41
108.	जे गुणे से मूलट्ठाणे—	63
109.	जे छेए से—	145
110.	जे दीह लोग—	33
111.	जे पमत्ते—	35
112.	जे पुव्वट्ठाई—	153
113.	जे भिक्खू अचेले—	220
114.	जे भिक्खू एगेण—	215
115.	जे भिक्खू दोहिं—	213
116.	जे भिक्खू तिहिं—	208
117.	जे ममाइय मइं—	99
118.	जे हिं वा सद्धि—	65
119.	तं आइत्तु न निहे—	128
120.	तं जहा पुरत्थिमाओ—	3
121.	तं णो करिस्सामि—	40
122.	तं परिवक्कमंतं—	177
123.	तं परिण्णाय मेहावी—	36
124.	तं परिण्णाय मेहावी—	77
125.	तं भिक्खू सीयफास—	207

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
126.	तं से अहियाए—	17
127.	तं सुणेह जहा-तहा—	174
128.	तओ से एगया—	83
129.	तत्थ खलु—	10
130.	तत्थ खलु—	16
131.	तत्थ-तत्थ पुढो—	52
132.	तमेव सच्चं—	163
133.	तुमसि नाम सच्चेव—	165
134.	तिविहेण जावि से—	84
135.	ते समणुन्ने—	202
136.	दुहओ छेत्ता नियाइ—	90
137.	दुहओ जीवियस्स—	120
138.	दुब्बसु मुणी अणाणाए—	101
139.	धम्ममायाणह—	203
140.	धुवं चेर्यं जाणिज्जा—	195
141.	नममाणा वेगे—	188
142.	निज्झाइत्ता पडिलेहिता—	51
143.	नित्तेहिं—	139
144.	निद्देसं नाइवट्टेज्जा—	169
145.	नियट्टमाणा वेगे—	187
146.	पणया वीरा—	21
147.	पमत्तेऽगारमावसे—	45
148.	पहू एजस्स—	56
149.	पासइ एगे रूवेसु—	146
150.	पासिय आउरपाणे—	117
151.	पुढो सत्थेहिं—	29
152.	पुणो-पुणो गुणासाए—	44
153.	बहु दुक्खा हु जंतवो—	175
154.	भिक्षुं च खलु—	201
155.	मंदस्सावियाणओ—	50
156.	मज्झिमेणं वयसावि—	204
157.	लज्जमाणा पुढोपास—	24
158.	लज्जमाणा पुढोपास—	37

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
159.	लज्जमाणा पुढोपास—	46
160.	लज्जमाणा पुढोपास—	53
161.	लज्जमाणा पुढोपास—	59
162.	लद्धे आहारे—	91
163.	लाघवियं—	210
164.	लोग च आणाए—	22
165.	लोर्यसि—	107
166.	वत्थं पडिग्गहं—	179
167.	वयसा वि एगे—	158
168.	विणावि लोभं—	76
169.	वित्तिगिच्छासमावन्नेण—	162
170.	विमुत्ता हु ते—	75
171.	विरयं भिक्खु—	184
172.	विराग रूबेहिं—	117
173.	बीरेहिं एयं—	34
174.	संति पाणा—	15
175.	संधि लोयस्स—	116
176.	संसयं परिआणओ—	144
177.	सच्चमि धिई—	113
178.	सड्ढिस्स णं—	164
179.	सत्थं चेत्यं—	26
180.	सट्ठे-फासे—	100
181.	समिए एयाणुपस्सी—	79
182.	समुट्ठिए अणगारे आरिए—	89
183.	समप्पेहमाणस्स—	149
184.	सव्वओ पमत्तस्स—	124
185.	सहिओ—	121
186.	सिया तत्थ—	98
187.	सोउसिणच्चाई—	109
188.	सीलवन्ता उवसन्ता—	186
189.	सुत्ता अमुणी—	106
190.	सुयं मे—	1
191.	से अबुज्झमाणे—	80

क्रम	नाम	सूत्रसंख्या
192.	से अभिक्कमाणे—	159
193.	से असइं उच्चागोए—	78
194.	से आयव नाणवं—	108
195.	से आयावादी—	6
196.	से जं च आरम्भे—	104
197.	से जं पुण—	5
198.	से जहयं भगवया—	197
199.	से तं संवुज्जमाणे—	97
200.	से तं जाणह—	96
201.	से न सहे—	172
202.	ये पभूयदंसी—	160
203.	से पासइ फुसयामिय—	143
204.	से वेमि अप्पेगे—	54
205.	से वेमि इयं पि जाइ धम्मयं—	47
206.	से वेमि जहा—	19
207.	से वेमि जे अइया—	127
208.	से वेमि णेव—	23
209.	से वेमि णेव—	32
210.	से वेमि तंजहा—	161
211.	से वेमि संतिपाणा—	38
212.	से वेमि संतिमे—	49
213.	से वेमि संति संपाइया—	60
214.	से वेमि समणुन्तस्स—	194
215.	से वेमि परिककमिज्ज—	199
216.	से वेमि परिककमिज्ज—	200
217.	से भिक्खू वा—	217
218.	से मइमं परिन्नाय—	95
219.	से वन्ता कोहं—	122
220.	से वसुयं—	62
221.	से वसुयं—	156
222.	से सुपडिबद्धं—	51
223.	सोय परिण्णाणेहिं—	64

सार तत्त्व

तं सच्चं भगवं—

सत्य ही भगवान है।

एवं खु नाणिणो सारं,

ज्ञानी होने का सार यह है कि—

जं न हिंसइ किंचणं।

किसी की भी हिंसा न करे।

नाणं नरस्स सारं,

ज्ञान मानवता का सार है।

सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं।

ज्ञान का सार है—सम्यक्त्व।

—भगवान महावीर

॥ णमोऽत्यु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री आचारांग सूत्र

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

प्रथम उद्देशक

मूलम्—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं॥१॥

संस्कृत-च्छाया—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्।

पदार्थ—आउसं!—हे आयुष्मन्! मे सुयं—मैंने सुना है। तेणं भगवया—उस भगवान ने। एवमक्खायं—इस प्रकार कथन किया है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर के पंचम गणधर, प्रथम पट्टधर—आचार्य श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि उस भगवान—भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, कहा है।

हिन्दी-विवेचन

भारतीय संस्कृति में साहित्य-सृजन की प्राचीन पद्धति यह रही है कि पहले मंगलाचरण करके फिर सूत्र या ग्रन्थ-रचना की जाती थी। जैनागमों एवं ग्रन्थों की रचना भी इसी पद्धति से की गई है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि पहले मंगलाचरण करने की परम्परा रही है, तो प्रस्तुत सूत्र में उस परंपरा को क्यों तोड़ा गया। क्योंकि, आचारांग सूत्र को प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण तो नहीं किया गया है। 'सुयं मे आउसं!'—आदि पाठ लिखकर सूत्र आरम्भ कर दिया गया है। इससे ऐसा लगता है कि यहां सूत्रकार ने पुरातन परंपरा को नहीं निभाया है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। यदि गहराई से सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किया गया है। यहां मंगलाचरण के रूप में श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है। अनुयोगद्वारा सूत्र के पहले सूत्र में कहा

है कि पांच ज्ञानों में से श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान स्थापने योग्य हैं। क्योंकि, पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान विशेष उपकारी है। श्रुतज्ञान को उपकारी इसलिए माना गया है कि तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग का बोध श्रुतज्ञान के द्वारा होता है। क्योंकि, श्रुत-आगम में ही उनके प्रवचनों का संग्रह है। श्री भगवती सूत्र शतक 20, उद्देशक 8 में गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान ने फरमाया है—“हे गौतम! तीर्थकर प्रवचन नहीं, निश्चित रूप से प्रावचनिक होते हैं, द्वादशांगी वाणी ही प्रवचन है” और इसी द्वादशांगी वाणी को ‘श्रुत’ कहते हैं। इसे सुन-पढ़ कर तथा तदनुसार आचरण करके जीव सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होता है। सर्व कर्म-बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए तीर्थकरों की वाणी एक प्रकाशमान सर्चलाइट है। यही कारण है कि पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान को उपकारी माना गया है और वीतराग-वाणी होने के कारण श्रुतज्ञान मंगल है, अतः उसका मंगल रूप से ही उल्लेख किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को सर्वोत्कृष्ट मंगल माना है¹। स्थानांग सूत्र में जहां दस धर्मों का वर्णन किया गया है, वहां श्रुत और चारित्र का धर्म रूप से उल्लेख किया गया है² और टीकाकार ने इसका विवेचन करते हुए श्रुत और चारित्र धर्म को प्रमुखता दी है। क्योंकि, श्रुत धर्म मंगल रूप है।

आचारांग का पहला सूत्र है—“सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं”। इस सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के वचनों को अंकित किया गया है। “श्रुतमिति श्रुतज्ञानं” मैंने सुना है, यह श्रुत ज्ञान है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि तीर्थकरों की वाणी को श्रुत ज्ञान कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र—मैंने सुना है कि उस भगवान—श्रमण भगवान महावीर ने ऐसा कहा है, यह तीर्थकर भगवान की ही वाणी है। अतः प्रस्तुत सूत्र श्रुतज्ञान होने से मंगल रूप है। ऐसे देखा जाए तो सम्पूर्ण आगम-शास्त्र ही मंगल रूप है। क्योंकि, वह ज्ञान रूप है और ज्ञान से हेय और उपादेय का बोध होता है तथा साधक हेय वस्तुओं का त्याग कर के उपादेय को स्वीकार करता है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और एक दिन आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। कहा भी

1. “धम्मो मंगलमुक्किडं”—दशवैकालिक 1/1

2. स्थानांग सूत्र, स्थान 10

है कि अज्ञानी मनुष्य बाल तपस्या आदि अज्ञान क्रिया से जिन पाप कर्मों को अनेक करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है¹। अतः श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होने से मंगल रूप है। यही कारण है कि सूत्रकार ने दूसरा मंगलाचरण न करके 'सुयं मे...' पद को मंगलाचरण के रूप में देकर, पुरातन परंपरा को सुरक्षित रखा है।

मंगलाचरण के विवेचन में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि द्वादशांगी श्रमण भगवान महावीर की धर्मदेशना का संग्रह है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी का अर्थरूप से प्रवचन किया था, परन्तु तीर्थंकर भगवान का वह प्रवचन जिस रूप में ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ है, उस शब्द रूप के प्रणेता गणधर हैं²। आगमों में एवं अन्य ग्रन्थों में जहां यह कहा गया है कि जैनागम—द्वादशांगी तीर्थंकर-प्रणीत हैं³, उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर उसके अर्थरूप से प्रणेता हैं, अर्थात् गणधरों द्वारा की गई सूत्ररचना का आधार तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी ही है। अतः इस अपेक्षा से जैनागमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा जाता है।

द्वादशांगी वाणी में श्री आचारांग सूत्र का प्रथम स्थान है। श्रमण संस्कृति में आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कर्म-क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र-आचार का होना अनिवार्य है। आचरण के अभाव में मात्र ज्ञान से मुक्ति का मार्ग तय नहीं हो पाता। इसलिए आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—आचार ही तीर्थंकरों के प्रवचन का सार है⁴, मुक्ति का प्रधान कारण है। अतः पहले इसका अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ही अन्य अंग

1. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं, तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमितेणं।

—प्रवचसनार

2. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।

सासणस्स हियद्वाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, 192

3. नन्दी सूत्र, 40

4. अंगणं किं सारो? आयारो।

शास्त्रों के अध्ययन में गति-प्रगति हो सकती है। यही कारण है कि द्वादशांगी का उपदेश देते समय तीर्थंकर सबसे पहले आचार का उपदेश देते हैं और गणधर भी इसी क्रम से सूत्ररचना करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साधारणतः आचार शब्द का अर्थ होता है—आचरण, अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र में आचार शब्द साधु के आचरण या संयम-मर्यादा से संबद्ध है और अंग शास्त्र को कहते हैं। अतः आचार + अंग—आचारांग का यह अर्थ हुआ कि वह शास्त्र जिसमें साधु-जीवन से संबंधित आचरण या क्रिया-काण्ड का विधान किया गया है, संयम-साधना का निर्दोष मार्ग बताया गया है।

आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। पहले श्रुतस्कंध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सूत्र-शैली में अच्छा विश्लेषण किया गया है। छोटे-छोटे सूत्रों में गंभीर अर्थ भर दिया है। दूसरे श्रुतस्कंध में प्रायः चारित्राचार का वर्णन है। विषय के अनुरूप उसकी निरूपण-शैली भी सीधी-सादी है और भाषा भी सरल रखी गई है। दोनों श्रुतस्कंधों में पच्चीस अध्ययन हैं। पहले श्रुतस्कंध में नव और दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन कई उद्देशकों में बंटा हुआ है। एक अध्ययन के अनेकों विभाग में से एक विभाग को अथवा एक अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति को आगमिक भाषा में उद्देशक कहते हैं। आचारांग सूत्र के पहले श्रुतस्कंध का पहला अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त है, दूसरा अध्ययन छह, तीसरा और चौथा अध्ययन चार-चार, पांचवां अध्ययन छह, छठा अध्ययन पांच, सातवां अध्ययन सात¹, आठवां अध्ययन आठ और नवम अध्ययन चार उद्देशकों में बंटा हुआ है। इस तरह आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के 9 अध्ययनों के 51 उद्देशक बनते हैं।

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका में 10 से 16 तक, द्वितीय चूलिका में 17 से 23 तक और तृतीय चूलिका में 24वां और 25वां ये दो अध्ययन हैं। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कंध में कुल 16 अध्ययन हैं। दसवें

1. इस अध्ययन का विच्छेद हो गया है, यह वर्तमान में उपलब्ध नहीं होता है।

अध्ययन के 11 उद्देशक हैं। ग्यारहवें और बारहवें अध्ययन के तीन-तीन उद्देशक हैं। तेरहवें से सोलहवें अध्ययन तक सब के दो-दो उद्देशक हैं। शेष अध्ययनों में कोई उद्देशक नहीं है, उनमें एक ही विषय का एक ही धारा में वर्णन चलता है। इस तरह आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की तीन चूलिकाएं, 16 अध्ययन और 25 उद्देशक हैं। यहां तक आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों में वर्णित अध्ययनों एवं उद्देशकों की संख्या का निर्देश किया गया है। उनमें वर्णित विषय का विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रस्तुत अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। जीवों की हिंसा के कारणभूत उपकरण को 'शस्त्र' कहते हैं। शस्त्र भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं। जिन हथियारों या शस्त्रास्त्रों से प्राणियों के प्राणों का विनाश किया जाता है, उन चाकू, तलवार, रिवाल्वर, राइफल, बम्ब आदि को द्रव्य शस्त्र कहते हैं। जिन अशुभ भावों से प्राणियों का वध करने की भावना उद्बुद्ध होती है तथा मन, वचन और शरीर के योगों की हिंसा की ओर प्रवृत्ति होती है, उन राग-द्वेष युक्त विषाक्त परिणामों को भाव शस्त्र कहा गया है।

'परिज्ञा' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—ज्ञान। परन्तु ज्ञान का अर्थ सिर्फ जानना ही नहीं, तदनुसार आचरण करना भी है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर परिज्ञा शब्द के दो भेद किए गए हैं—1. ज्ञ परिज्ञा और 2. प्रत्याख्यान परिज्ञा। संसार के कारणभूत राग-द्वेष एवं अशुभ योगों का परिज्ञान-बोध प्राप्त करना, 'ज्ञ' परिज्ञा है और 'ज्ञ' परिज्ञा से परिज्ञापित—भली-भांति जाने हुए विकारी भावों एवं अशुभ योगों का परित्याग करना अथवा संसार मार्ग से निवृत्त होकर संयम साधना में प्रवृत्त होना 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा है। 'ज्ञ' परिज्ञा से ज्ञान का उल्लेख किया गया है और 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा त्यागमय आचरण को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। इस तरह एक 'परिज्ञा' शब्द में ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय कर दिया गया है, जो वास्तव में मोक्ष का मार्ग है। वस्तुतः ज्ञान का मूल्य भी त्याग में, निर्वृत्ति में ही रहा हुआ है। श्रमण-संस्कृति के चिन्तकों ने 'णाणस्स फलं विरई' अर्थात् ज्ञान का फल विरक्ति है, यह कह कर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि वही ज्ञान आत्मोत्थान में सहायक होता है, जो आचरण रूप से जीवन में प्रयुक्त होता है। जब तक ज्ञान आचरण का

रूप नहीं लेता, अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन के प्रवाह को नया मोड़ नहीं दिया जाता, तब तक मुक्ति के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी वह (आत्मा) उसे तय नहीं कर पाता है। अतः अपवर्ग—मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। इसी बात को सूत्रकार ने 'परिज्ञा' शब्द से स्पष्ट किया है।

इस तरह शस्त्रपरिज्ञा का अर्थ हुआ—द्रव्य और भाव शस्त्रों की भयंकरता को जान-समझ कर उसका परित्याग करना, अर्थात् शस्त्र-रहित बन जाना। वस्तुतः संसार-परिभ्रमण एवं अशान्ति का मूल कारण शस्त्र ही है। सब तरह के दुःख-दैन्य एवं विपत्तियाँ अस्त्र-शस्त्रों की ही देन हैं। भगवान् महावीर की इस बात को आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं। शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास रखने वाले राजनेताओं का विश्वास भी लड़खड़ाने लगा है। वे भी इस तरह की भाषा का प्रयोग करने लगे हैं कि विश्वशान्ति के लिए जल, स्थल एवं हवाई सभी तरह की सेनाओं के केन्द्र हटा देने तथा सभी तरह के बम्बों, राकेटों एवं आणविक शस्त्रों को समाप्त करने पर ही विश्व शान्ति का सांस ले सकेगा। वस्तुतः सत्य भी यही है। शस्त्र शान्ति के लिए भयानक खतरा है। अतः अनन्त शान्ति की ओर बढ़ने वाले साधक को सबसे पहले शस्त्रों का परित्याग करना चाहिए। इसी अपेक्षा से सभी तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में शस्त्र-त्याग की बात कहते हैं। इस तरह पहले अध्ययन में शस्त्रों के त्याग की बात कही गई है, यदि आज की भाषा में कहूँ तो निःशस्त्रीकरण—शस्त्ररहित होने का मार्ग बताया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त है। सातों उद्देशकों में विभिन्न तरह से छह काय के जीवों की हिंसा एवं हिंसाजन्य शस्त्रास्त्रों से होने वाले नुकसान का एक सजीव शब्द-चित्र चित्रित किया गया है। यहां हम अधिक विस्तार में न जाकर प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक पर विचार करेंगे। प्रस्तुत उद्देशक में आत्मा एवं कर्म-बन्ध के हेतुओं के सम्बन्ध में सोचा-विचारा गया है। इस उद्देशक को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने—“सुयं मे आउसं!...” इत्यादि सूत्र का उच्चारण किया है।

वर्तमान में उपलब्ध आगम-साहित्य आर्य सुधर्मा स्वामी और श्री जम्बू स्वामी इन दोनों महापुरुषों के संवाद रूप में है। आगम की विश्लेषण पद्धति से यह स्पष्ट

हो जाता है कि जम्बू स्वामी अपने आराध्य देव आर्य सुधर्मा स्वामी से विनम्रतापूर्वक शास्त्र सुनने की भावना अभिव्यक्त करते हैं। वे इस बात को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं कि श्रमण भगवान महावीर ने द्वादशांगी गणिपिटक—आगमों में किन भावों को व्यक्त किया है। आत्मा को कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त करने के लिए साधना का क्या तरीका बताया है? यद्यपि, प्रस्तुत सूत्र में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि श्री जम्बू स्वामी ने आचारांग के भाव व्यक्त करने के लिए अपने गुरुदेव आर्य सुधर्मा स्वामी से प्रार्थना की हो। परन्तु अन्य आगमों की वर्णन-पद्धति से विचार करते हैं, तो फिर शंका को अवकाश नहीं रह जाता है, अर्थात् उक्त कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हो जाता है। आचारांग सूत्र के “सुयं मे...” इस सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर ही इस भाषा में आचारांग का वर्णन शुरू किया था। जो कुछ भी हो, तीर्थकरों की अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्ररूप में गूँथते हैं और अपने शिष्यों की जिज्ञासा को देखकर उनके सामने अपना ज्ञान-पिटारा खोल कर रख देते हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर से प्राप्त अर्थ रूप द्वादशांगी को अपने प्रमुख शिष्य जम्बू की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सूत्र रूप में सुनाना प्रारम्भ कर दिया।

प्रस्तुत सूत्र का पहला सूत्र है—“सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं॥१॥” सुयं मे, अर्थात् मैंने सुना है। इस पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम मेरे मन की कल्पना या विचारों की उड़ान मात्र नहीं, बल्कि श्रमण भगवान महावीर से सुना हुआ है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि आगम सर्वज्ञ-प्रणीत होने से प्रामाणिक है। श्रमण संस्कृति के विचारकों ने भी आप्त पुरुष के कथन को आगम कहा है¹। आप्त पुरुष कौन है? इसका विवेचन करते हुए आगमों में कहा गया कि राग-द्वेष के विजेता तीर्थकर—सर्वज्ञ भगवान, जिनेश्वर देव आप्त हैं। फलितार्थ यह हुआ कि जिनोपदिष्ट वाणी ही जैनागम है² और वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट होने के कारण प्रामाणिक है।

दूसरी बात यह है कि इस पद से गणधर देव की अपनी लघुता, विनम्रता एवं

1. तत्त्वार्थ भाष्य, 1/20

2. नन्दी सूत्र, 4

निरभिमानता भी प्रकट होती है। चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता एवं आगमों के सूत्रकार होने पर भी उन्होंने यों नहीं कहा कि मैं कहता हूँ, परन्तु यही कहा कि जैसा भगवान के मुंह से सुना है, वैसा ही कह रहा हूँ। महापुरुषों की यही विशेषता होती है कि वे अहंभाव से सदा दूर रहते हैं। उनके मन में अपने आप को बड़ा बताने की कामना नहीं रहती। अस्तु, 'सुयं मे' ये पद आर्य सुधर्मा स्वामी की विनयशीलता एवं भगवान महावीर के प्रति रही हुई प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के सूचक हैं।

“आउसं!” इस पद का अर्थ होता है—हे आयुष्मन्! यहां आयुष्मन् शब्द से जम्बू स्वामी को संबोधित किया गया है। अतः यह संबोधन पद जम्बू स्वामी का विशेषण है। जबकि मूल सूत्र में विशेष्य पद का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी विशेष्य पद का अध्याहार कर लिया जाता है। क्योंकि, जब भी कोई वक्ता कुछ सुनाता है तो किसी श्रोता को ही सुनाता है। यहां आर्य सुधर्मा स्वामी आचारांग सूत्र सुना रहे हैं और उसके श्रोता हैं जम्बू स्वामी। इस बात को हम पीछे की पंक्तियों में बता आए हैं कि जम्बू की आगम-श्रवण करने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आर्य सुधर्मा स्वामी ने आचारांग सूत्र को सुनाना शुरू किया। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त संबोधन का विशेष्य पद जम्बू स्वामी ही हैं। इस तरह विशेष्य पद का अध्याहार कर लेने पर अर्थ होगा—हे आयुष्मन् जम्बू!

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार अतिशय-दीर्घ अर्थ में 'आयुष्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होकर आयुष्मान् शब्द बनता है¹। इस तरह आयुष्मान् का अर्थ हुआ—दीर्घजीवी। बड़ी आयु वाले व्यक्ति को दीर्घजीवी कहते हैं। श्री जम्बू स्वामी को दीर्घजीवी कहने के पीछे तीन कारण हैं। प्रथम तो यह है कि जिस समय आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आचारांग सूत्र का वर्णन सुनाने लगे, उस समय वे बड़ी उम्र के थे, लघु वय के नहीं। अतः आर्य सुधर्मा स्वामी उन्हें आयुष्मन् शब्द से संबोधित करके उनकी आयुगत परिपक्वता बताकर, उनमें श्रुतज्ञान तथा उपदेश श्रवण, ग्रहण,

1. भूम-निन्दा-प्रशंसासु, नित्ययोगेऽतिशायने।

संसर्गेऽस्ति विवक्षायां, भवन्ति मतुबादयः (वा. 3।183) सिद्धान्तकौमुदी। अतिशयितुमायुरस्य इति आयुष्मान्। इति व्याख्यासुधाख्य-व्याख्यायां व्याख्यातमेतदमरकोषे।

धारण एवं अपराधन करने की योग्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत संबोधन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय जम्बू स्वामी आचारांग सूत्र का श्रवण कर रहे थे, उस समय भले ही वे बड़ी उम्र के न रहे हों, परन्तु मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय इन चार ज्ञानों से युक्त आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने ज्ञान से अपने शिष्य के भावी जीवन को दीर्घ देखा गया हो और उन्हें दीर्घजीवी जान कर ही इस संबोधन से संबोधित किया हो। उनकी अन्तरात्मा ने इस बात को स्वीकार किया हो कि जम्बू दीर्घजीवी है, लम्बे समय तक जीवित रह कर यह जिन शासन की सेवा करेगा, जन-मानस में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित करके विश्व को जन्म-मरण के ताप से बचाएगा। अतः भविष्य के दीर्घ जीवन को देखकर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रस्तुत संबोधन से संबोधित किया हो।

तीसरा कारण यह है कि साहित्य जगत में इस संबोधन को सुकोमल माना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है¹। यह संबोधन इतना मधुर एवं प्रिय है कि इसके सुनने मात्र से हृदय-कमल की एक-एक कली खिल उठती है, शिष्य के मन में उल्लास और प्रसन्नता की लहरें लहर-लहर कर लहराने लगती हैं। जैनागमों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि एक ऐसा युग भी रहा है कि जिसमें संबोधन के लिए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, बाल-वृद्ध सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में जो सम्मान देवानुप्रिय शब्द को प्राप्त था, वही आदर-सम्मान आयुष्मान् शब्द को प्राप्त था। इस संबोधन पद से भाषा का लालित्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य छलक रहा था। बताया गया है कि निर्युक्तिकार ने 'आउस' शब्द के दस भेद किए हैं। उनमें संयम, यश और कीर्तिमय जीवन वाले व्यक्ति को भी इस सम्बोधन से संबोधित करने की परंपरा रही है²। इसी कारण आध्यात्मिक एवं लौकिक सभी क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता रहा है। इसलिए वात्सल्यमय मधुर एवं सुकोमल भावना को अभिव्यक्त करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी

1. आयुष्मन्! इत्यनेन तु कोमलवचोभिः शिष्यमनः प्रह्लादयताचार्येणोपदेशो देयः।

—स्थानांग सूत्र, प्रथम स्थान—वृत्ति।

2. स्थानांगसूत्र (श्री धनपतराय जी द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ 5

ने अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को आयुष्मन् शब्द से संबोधित किया है।

‘आउस’ शब्द संबोधन के रूप में प्रयुक्त होता है, इस बात का हम विवेचन कर चुके हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त इसका दूसरे रूप में प्रयोग घटित होता है। जब “आउसं और तेणं” दोनों शब्दों को अलग-अलग न करके इनका समस्त पद के रूप में प्रयोग करते हैं, तो इस ‘आउसंतेणं’ पद का संस्कृत रूप ‘आयुष्मता’ बनता है और फिर यह शब्द संबोधन के रूप में न रहकर ‘भगवया’ शब्द का विशेषण बन जाता है और इसका अर्थ होता है—आयुष्य वाले भगवान ने। ‘आउसंतेणं’ शब्द को समस्त पद मानने के पीछे सैद्धान्तिक रहस्य भी अन्तर्निहित है। ‘सुयं मे’ इन पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान किसी व्यक्ति द्वारा ही दिया गया है। परन्तु इस पद से सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह जैन दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट कर दी गई है कि श्रुतज्ञान का प्रकाश आयु कर्म वाले शरीर-युक्त तीर्थंकर भगवान ही फैलाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण द्वारा पूछे गए “घोर अँधेरे में निवसित संसार के प्राणियों के जीवन में कौन प्रकाश करता है?” इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि जब सूर्य आकाश में उदित होता है, तो सारे लोक को प्रकाशित कर देता है। इसके बाद केशी श्रमण के ‘वह सूर्य कौन है?’ इस संशय का निराकरण करते हुए श्री गौतम स्वामी ने कहा कि जिसका संसार क्षय हो चुका है, ऐसा जिन, सर्वज्ञरूपी सहस्ररश्मि (सूर्य) उदित होगा और वह समस्त प्राणि-जगत में धर्म का उद्योत करेगा, ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा।¹ इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान का प्रकाश शरीरयुक्त तीर्थंकर ही फैलाते हैं, न कि सिद्ध भगवान। सिद्ध भगवान शरीर-रहित हैं और श्रुत ज्ञान का उपदेश बिना मुख के दिया नहीं जा सकता और मुख शरीर का ही एक अंग है। अतः सिद्ध भगवान श्रुतज्ञान के उपदेशक नहीं हो सकते।

इस तरह ‘आउसंतेणं’, पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि दुनिया का कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नहीं है। वैदिक दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अंगिरा आदि ऋषियों को वेद का उपदेश दिया था। परन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उपदेश मुख द्वारा दिया जाता है और मुख शरीर का ही एक

अंग है। शरीर के अभाव में मुख हो नहीं सकता। अतः शरीर-रहित ईश्वर के द्वारा उपदेश की कल्पना करना नितान्त असत्य है। यदि वेदों का उपदेश ईश्वरकृत है और ईश्वर मुख आदि अवयवों से युक्त है तो फिर वह ईश्वर नहीं, देहधारी व्यक्ति ही है। इस तरह वेद अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं।

यदि वैदिक दर्शन की वेदों को अपौरुषेय मानने की मान्यता को मान लें तो फिर मुसलमानों के कुरान शरीफ को भी खुदा (ईश्वर) कृत मानना होगा। क्योंकि उसका भी यह विश्वास है कि खुदा ने पैगम्बर मुहम्मद साहिब को कुरान शरीफ का ज्ञान कराया था। इस तरह कुरान भी वेदों की तरह अपौरुषेय होने के कारण वेदों के समकक्ष खड़ा हो जाएगा। इसके अतिरिक्त वेदों में जो याज्ञिक हिंसा—यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा का आदेश दिया गया है और ईश्वर-कर्तृत्व जैसी असंगत बातों का उल्लेख पाया जाता है तथा कुरानशरीफ में मांस-भक्षण आदि अधर्ममयी बातों का कथन किया है, उसे सत्य एवं मोक्षोपयोगी मानना पड़ेगा। परन्तु ये मान्यताएं नितान्त असत्य हैं; क्योंकि हिंसाजन्य प्रवृत्ति में धर्म हो नहीं सकता। अतः जो शास्त्र धर्म के नाम पर हिंसा का, पशु की बलिदान का, पशु की कुर्बानी करने का आदेश देता है, वह धर्मशास्त्र नहीं, शस्त्र है, आत्मा का घातक है। वस्तुतः धर्मशास्त्र वह है, जो प्राणिमात्र की रक्षा एवं दया का उपदेश देता है; क्योंकि धर्म सब जीवों के प्रति दया, करुणा एवं कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने में है और यह बात सर्वज्ञोपदिष्ट वाणी में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अतः आगम अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय हैं, पुरुषोपदिष्ट होने पर भी प्रामाणिक हैं। क्योंकि उसके उपदेष्टा राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हैं, सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी वाणी में पारस्परिक विरोध नहीं मिलता। इस अपेक्षा से आगम पौरुषेय हैं और उनकी रचना का समय भी निश्चित है। अर्थात् वर्तमान काल में उपलब्ध आगमों के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार भगवान महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी हैं। अतः 'आउसंतेण' इस समस्त पद का तात्पर्य यह हुआ कि आयुष्य कर्म से युक्त और फलितार्थ यह निकला कि कर्म-बन्ध से मुक्त होने पर भी जिनका अभी आयु कर्म क्षय नहीं हुआ है, ऐसे तीर्थंकर आगमों का उपदेश देते हैं।

'आउसंतेण' इस पद पर उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन की बृहद्वृत्ति में

वृत्तिकार ने भी कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं। इस दिशा में वृत्तिकार का चिन्तन भी मननीय एवं विचारणीय होने से आगे की पंक्तियों में दे रहे हैं—

“आउसंतेणं” ति प्राकृतत्वेन तिङ्ब्यत्ययादाजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरुन् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह—विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं न तु यथा-कथंचिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात् यथोच्यते—¹परिसुद्धियाणं पासे सुणेइ, सो विणय-परिभंसि।”

अर्थात्—‘आउसंतेणं’ यह पद प्राकृत भाषा में तिङ्ब्यत्यय (परस्मैपद का आत्मनेपद और आत्मनेपद का परस्मैपद) होने से परस्मैपद है, किन्तु संस्कृत में इस पद की आत्मनेपदी ‘आजुषमाणेन’ यह छाया बनती है। आयुष्मान् का अर्थ है—सुनने की पद्धति का पालन करते हुए गुरु की सेवा करना। सुनने की पद्धति के परिपालन का अभिप्राय यह है कि गुरुदेव से शास्त्र या हितकारी उपदेश सुनते समय शिष्य न तो गुरु से अधिक दूर बैठे और न अति निकट ही बैठे, परन्तु उचित स्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से उपदेश एवं शास्त्र को सुने। अधिक दूर बैठने से भली-भांति सुनाई नहीं पड़ेगा और अति निकट बैठने पर हाथ आदि अंगों के संचालन से उनके शरीर को आघात लग सकता है, अतः शिष्य को ऐसे स्थान में बैठकर शास्त्र एवं उपदेश का श्रवण करना चाहिए, जहां से अच्छी तरह सुनाई भी पड़ सके और उनकी आशातना भी न हो। दूसरी बात यह है कि गुरुदेव की सभा से उठकर आने वाले लोगों से शास्त्र न सुने, परन्तु स्वयं गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित होकर उनसे सुने। कभी-कभी कुछ अविनीत शिष्य ऐसा सोच-विचार कर कि गुरु के पास जाकर सुनेंगे तो उनका विनय करना होगा, अतः उनसे सुनकर जो व्यक्ति आ रहे हैं, उनसे ही जानकारी कर लें। यह सोचना उपयुक्त नहीं है। इससे जीवन में प्रमाद बढ़ता है, विनम्र भाव का नाश होता है—जो धर्म एवं संयम का मूल है। इसी बात को ध्यान में रखकर वृत्तिकार ने ‘आयुष्मन्’ पद देकर गुरु की सभा से आने वाले व्यक्तियों से ही सीधा शास्त्र एवं उपदेश भी सुनने की वृत्ति का निषेध किया है और शिष्य को प्रेरित किया है कि वह विनम्र भाव से गुरु-चरणों में बैठ कर ही शास्त्र का श्रवण करे। ऐसी विनम्र वृत्ति वाले शिष्य के लिए ही ‘आयुष्मन्’ पद का प्रयोग किया है।

1. पर्षदुत्थितानां पार्श्वे शृणोति, स विनयपरिभ्रंशी।

“आउसं! तेणं” इस पाठ के स्थान पर कुछ प्रतियों में ‘आमुसंतेणं’ तथा ‘आवसंतेणं’ ये दो पाठान्तर भी मिलते हैं। इनके अर्थ पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। ‘आमुसंतेणं’ इस पद की संस्कृत छाया ‘आमृशता’ और ‘आवसंतेणं’ पद की संस्कृत छाया ‘आवसता’ होती है। इन उभय शब्दों का सम्बन्ध ‘मे’ पद से है। या यों कहिए कि ये दोनों पद आर्य सुधर्मा स्वामी के विशेषण हैं। टीकाकार श्री शीलाकाचार्य ने दोनों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—‘मया आमुसंतेणं’ आमृशता (स्पृशता) भगवत्-पादारविन्दम्, आवसन्तेणं—आवसता वा तदन्तिके।”

अर्थात्—भगवान महावीर के चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने या भगवान महावीर के पास निरन्तर निवास करते हुए मैंने।

उक्त दोनों पाठान्तरों से श्रुत ज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी सफलता के लिए शिष्य के जीवन में जिन गुणों एवं संस्कारों का सद्भाव होना चाहिए, उनका भली-भाँति बोध हो जाता है। सबसे पहले श्रुतग्राही शिष्य के जीवन में विनम्रता एवं गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। यदि शिष्य का जीवन-दीप विनय एवं श्रद्धा के स्नेह-तेल से खाली है, तो उसमें श्रुतज्ञान की प्रकाशमान ज्योति जग नहीं सकती, उसके जीवन को सम्यक् ज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं कर सकती। अतः श्रुत ज्ञान को पाने के लिए गुरु के प्रति आस्था एवं सर्वस्व समर्पण की भावना तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न रहने की वृत्ति होनी चाहिए। ‘आमुसंतेणं’ यह इन्हीं आदर्श एवं समुज्ज्वल भावों का संसूचक है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु चरण सेवा ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उनके निकट में रहना भी आवश्यक है। गुरु के निकट में स्थित रहना दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(1) सदा गुरु के पास या उनके सामने ही रहना, अतः समय पर उनकी सेवा कर सके, उन्हें किसी काम के लिए इधर-उधर से आवाज़ देकर न बुलाना पड़े। (2) उनकी आज्ञा में विचरण करना। अपनी प्रवृत्ति उनके विचारानुसार रखना। क्षेत्र से दूर रहते हुए सदा उनके पथ का अनुगमन करना भी उनके निकट में बसना है। इसी भावना को ध्यान में रखकर शिष्य को अन्तेवासी भी कहा है। अन्तेवासी का यह अर्थ नहीं है कि वह सदा उनके साथ या पास में ही रहे। आवश्यकता पड़ने पर वह क्षेत्र से दूर भी जा सकता है, परन्तु उनके विचारों एवं आज्ञा से दूर नहीं जाता।

अतः श्रुत ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक साधक को द्रव्य और भाव दोनों तरह से गुरु के निकट रहना चाहिए। 'आवसंतेण' पद इन्हीं भावों का परिचायक है।

'भगवयां' यह पद भगवत् शब्द का तृतीयान्त प्राकृत रूप है। इसका अर्थ है—भगवान ने। भगवान शब्द भग से बनता है। भग शब्द की व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते हैं—

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चापि, षण्णां भग इतीङ्गना॥”

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, कीर्ति, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छह संपदाओं के समुदाय को भग कहते हैं। अतः उक्त संपदाओं से जो युक्त है; उसे भगवान कहते हैं—

“भगः—ऐश्वर्यादिषडर्थात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान्।”

'अवखायं' यह क्रिया पद है। इसका अर्थ है—कहा। इससे स्पष्ट होता है कि आचारांग सूत्र भगवान के द्वारा कहा गया है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि आगम किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए हैं, जिसका विस्तृत विवेचन हम पीछे के पृष्ठों में कर आए हैं। दूसरी बात यह सामने आती है कि आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। किसी तीर्थंकर भगवान ने इनकी सर्वथा अभिनव रचना नहीं की। उन्होंने तो अनादि काल से चले आ रहे आगमों का अर्थ रूप से कथन मात्र किया है। अतः इस दृष्टि से आगम सादि भी हैं और अनादि एवं कृतत्व-रहित भी हैं। उनके सादित्व पर हम विचार कर चुके हैं। यहां आगमों के अकृतत्व एवं अनादित्व पर विचार करेंगे।

परन्तु यह कथन भी अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि जैन विचारकों की भाषा स्याद्वादमय रही है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक विचार पर स्याद्वाद की भाषा में सोचा-विचार है। आगम के सादित्व-अनादित्व अर्थात् आगम के मूल स्रोत की आदि निश्चित तिथि है या नहीं? दोनों पर गहराई से चिन्तन किया है। आगमों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि आगम अनादि भी है। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं रहा है, नहीं है और नहीं रहेगा, जबकि द्वादशांगभूत गणिपिटक नहीं था,

नहीं है और नहीं होगा। वह तो पहले से था, अब है और अनागत में भी रहेगा। वह ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है¹।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि अनन्त काल से चले आ रहे, अनन्त तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों की भाषा एक ही थी, जो शब्द-भाषा वर्तमान में उपलब्ध आगमों में मिलते हैं, वे ही शब्द उन आगमों के थे। इसका अर्थ इतना ही है कि भाषा में अन्तर होते हुए भी भावों में समानता थी। वास्तविक दृष्टि से विचार जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। विभिन्न देश, काल और पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का उद्भव अनेक तरह से होता रहा है, परन्तु भाषा के उन विभिन्न रूपों में एक ही त्रैकालिक सत्य अनुस्यूत रहा है। उस त्रैकालिक सत्य की ओर देखा जाए, और देश-काल एवं पुरुष की अपेक्षा से बने आविर्भाव की उपेक्षा की जाए, तो यही कहना होगा कि जो भी तीर्थकर, अरिहन्त राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके—सर्घज्ञ-सर्वदर्शी बनकर उपदेश देते हैं, वे आचार को त्रैकालिक सत्य—सामायिक—समभाव, विश्ववात्सल्य, विश्वमैत्री का और विचार के त्रैकालिक सत्य—स्याद्वाद—अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का ही उपदेश देते हैं। आचार से सामायिक की साधना एवं विचार से अनेकान्त—स्याद्वाद की भाषा का तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आदेश अनादि-अनन्त है, कर्तृत्व से रहित है। ऐसा एक भी क्षण नहीं मिलेगा कि विश्व में इस सत्य का स्रोत नहीं बह रहा हो। अतः इस अपेक्षा से द्वादशांग, गणिपिटक—आगम अनादि-अनन्त हैं।

बृहत्कल्प भाष्य में एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव आदि तीर्थकरों और भगवान् महावीर की शरीर-अवगाहना एवं आयुष्य में अत्यधिक वैलक्षण्य होने पर भी, उन सबकी धृति, संघयण और संठाण तथा आन्तरिक शक्ति—केवल ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उन सबकी उक्त योग्यता में कोई अन्तर न होने के कारण उनके उपदेश में, सिद्धान्त-प्ररूपण में कोई भेद नहीं हो सकता²। आगमों में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सभी तीर्थकर वज्रऋषभनाराच संघयण और समचतुरस्त्र संस्थान वाले होते हैं और संसार में सभी तत्त्वों को, पदार्थों को तथा

1. नन्दी सूत्र 58, समवायांग सूत्र 12, द्वादशांगी परिचय।

2. बृहत्कल्प भाष्य

तीनों काल के भावों को समान रूप से जानते-देखते हैं। अतः उनके द्वारा की गई सैद्धान्तिक प्ररूपणा में कोई भेद नहीं होता। सभी तीर्थकरों के उपदेश की एकरूपता का एक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र में भी मिलता है¹। उसमें लिखा है कि “जो अरिहन्त भगवान पहले हो चुके हैं, जो भी वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश-आदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो; उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उन्हें परतन्त्र एवं गुलाम मत बनाओ और उनको संतप्त मत करो, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकशील पुरुषों ने बताया है।”

जब व्यावहारिक दृष्टि से यह देखते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध आगमों का आविर्भाव किस रूप में हुआ? किसने किया? कब किया? और कैसे किया तो जैनागमों की आदि भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। इसलिए कहा गया कि “तप-नियम और ज्ञानमय वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी तीर्थकर—केवली भगवान भव्य जनों के बोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पटल में उन समस्त कुसुमों का झेलकर द्वादशांग रूप प्रवचन माला गूंथते हैं²।” इस तरह “जैनागम कर्तृत्व रहित अनादि अनन्त भी हैं और कर्ता की अपेक्षा से आदि सहित भी है।” का इस सूत्र में सुन्दर समन्वय हो जाता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार पूर्णतया चरितार्थ होता है—

“आदीपमाव्योम समस्वभावं,

स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु”³

इससे स्पष्ट हो गया कि स्याद्वाद की भाषा में विरोध खड़ा होने को कहीं भी अवकाश नहीं है। अनन्त तीर्थकरों में रही हुई केवल ज्ञान की एकरूपता के कारण

1. आचारांग, श्रु. 1, अ. 4 सू. 126

2. “तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी,
तो सुयनाणुद्धिं भवियजणविबोहणद्वाए ॥89॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसे,
तिथ्यरभासियाइं गंथंति तओ पवयणद्वा॥90॥

—आवश्यकनिर्युक्तिः

3. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक 5.

आगम अनादि काल से हैं, उनका उद्गम स्थान ढूँढ़ना दुष्कर ही नहीं, असंभव है और वर्तमान में विद्यमान आगम के उपदेष्टा की दृष्टि से सोचते हैं, तो उसकी आदि है। क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं। उनके प्रवचन को नव गणधरों ने सूत्ररूप से गूँथा था। क्योंकि आगम में ऐसा बताया गया है कि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और नव गण थे। अन्य गणधरों की शिष्य-परम्परा का प्रवाह आगे चला नहीं। भगवान महावीर के बाद पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी की ही शिष्य परम्परा चालू रही। अतः वर्तमान में सुधर्मा स्वामी द्वारा सूत्ररूप में रचित आगम ही उपलब्ध होते हैं। अतः प्रस्तुत आगम का भगवान महावीर ने अर्थ रूप से उपदेश दिया था, और आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप से गूँथा था।

इस तरह 'अक्खायं' इस पद से आगमों की नित्यता को प्रकट किया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आगम कूटस्थ नित्य नहीं हैं। क्योंकि हम इस बात को पहले ही बता चुके हैं कि जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त या स्याद्वाद की दृष्टि से सोचता-विचारता है। यहां एकांतवाद को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म युक्त है। उसमें उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों अवस्थाएं स्थित हैं¹। इसमें विरोध जैसी कोई बात नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं कि स्वर्ण को गला कर उसका कंगन बना लेते हैं, फिर कंगन को तुड़वाकर बटन या अँगूठी या और कुछ आभूषण बना लेते हैं। इस तरह प्रत्येक बार वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। एक स्वरूप का विनाश हाता है तो दूसरे स्वरूप का निर्माण होता है, परन्तु पूर्व एवं उत्तर की दोनों अवस्थाओं में स्वर्ण अपने रूप में सदा स्थिर रहता है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु की है। द्रव्य रूप से प्रत्येक वस्तु सदा स्थित रहती है तो पर्याय रूप से उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। इसलिए जब किसी वस्तु को नित्य कहा जाता है, तो उसका अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। यही बात आगम के संबंध में समझनी चाहिए। द्रव्य रूप से आगम नित्य हैं, ध्रुव हैं, अनादि से विद्यमान हैं। परन्तु पर्याय रूप से अनित्य हैं। क्योंकि उस त्रैकालिक सत्य का अभिव्यक्त करने वाले अनन्त समय में अनन्त

तीर्थकर हो चुके हैं और भविष्य काल में अनन्त तीर्थकर होते रहेंगे और अपने समय में सभी तीर्थकर उस त्रैकालिक सत्य का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अतः उपदेष्टा की अपेक्षा से उस समय के तीर्थकर आगम के प्ररूपक कहे जाते हैं। जैसे वर्तमान में उपलब्ध आगम के उपदेष्टा भगवान् महावीर हैं। इस दृष्टि से आगम नित्य हैं, सादि हैं। इस तरह आगम नित्य भी हैं और अनित्य भी।

प्रस्तुत सूत्र में आर्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से बोले—हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस सूत्र को सुन-पढ़कर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् ने क्या प्रतिपादन किया था? किस बात को अभिव्यक्त किया? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

मूलम्—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ॥२॥

छाया—इहैकेषां नो संज्ञा भवति।

पदार्थ—इहं—इस संसार में। एकेसिं—किन्हीं जीवों को। णो—नहीं। सण्णा—संज्ञा-ज्ञान। भवइ—होता है।

मूलार्थ—इस संसार में किन्हीं जीवों को अथवा अनेक जीवों को ज्ञान नहीं होता है।

हिन्दी-विवेचन

आचारांग को आरम्भ करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह कहा था कि हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने ऐसा कहा है। क्या कहा है? इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि भगवान् ने बताया है कि इस प्राणि-जगत में परिभ्रमण करने वाले अनेकानेक जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान नहीं होता। यह प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ है।

‘इहं’ पद ‘इस’ अर्थ का बोधक है। यह पद सर्वनाम होने से संसार और क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र परिज्ञा आदि शब्दों का इसके साथ अध्याहार किया जाता है, क्योंकि सर्वनाम सदा संज्ञा के स्थान में प्रयुक्त होता है। जब ‘इहं’ पद के साथ संसार शब्द का अध्याहार किया जाता है, तो उक्त पद का संबंध ‘एगेसिं’ पद के साथ करना चाहिए। परन्तु यदि इस पद के साथ क्षेत्र, प्रवचन आदि शब्दों का

अध्याहार किया जाए तो फिर इस पद का संबंध प्रथम सूत्र के 'अक्खायं' इस क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए। इस तरह संबंध के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है। जब प्रस्तुत पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ जोड़ेंगे तो इसका अर्थ होगा कि "संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञा-ज्ञान नहीं होता" और जब इसका संबंध 'अक्खायं' पद के साथ होगा तो इसका अर्थ होगा कि "हे आयुष्मन् जम्बू! उस भगवान् अर्थात् भगवान् महावीर ने इस क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र-परिज्ञा में कहा है कि कई एक जीवों को ज्ञान नहीं होता।" इस तरह 'इहं' पद का 'एगेसिं' और 'अक्खायं' पद के साथ क्रमशः संबंध-भेद से अर्थ-भेद भी प्रमाणित होता है।

'क्षेत्र' शब्द उस स्थान का परिबोधक है, भारतवर्ष या भारत में भी जिस स्थान पर भगवान् ने प्रस्तुत प्रवचन किया था। भगवान्—तीर्थकरों के उपदेश को प्रवचन कहते हैं। प्रवचन का सीधा-सा अर्थ होता है—श्रेष्ठ वाणी या विशिष्ट महापुरुषों द्वारा व्यवहृत वचन। 'आचार' शब्द आचारांग सूत्र का परिचायक है और शस्त्र-परिज्ञा आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

उक्त चारों शब्दों का परस्पर संबंध भी है, क्योंकि प्रवचन किसी क्षेत्र-विशेष में ही दिया जाता है। अतः सर्वप्रथम क्षेत्र का उल्लेख किया गया और उसके अनन्तर प्रवचन का नाम निर्देश किया गया। वह प्रवचन क्या था? इसका समाधान आचार अर्थात् आचारांग इस शब्द से किया गया और आचारांग सूत्र में भी प्रस्तुत वाक्य किस अध्ययन में कहा गया है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द का कथन किया गया। इस तरह चारों पदों का एक-दूसरे पद के साथ संबंध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'एगेसिं' यह पद 'किन्हीं जीवों को' इस अर्थ का संसूचक है। इस पद को 'णो सण्णा भयइ' पदों के साथ संबद्ध करने पर इसका अर्थ होता है कि किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता। आध्यात्मिक विकासक्रम के नियमानुसार आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ज्ञान का विकास होता है। अतः जिन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होता है, उनके ज्ञान का विकास भी उतना ही अधिक होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक आवरण हटाएंगे, उनका ज्ञान उतना ही अधिक निर्मल होगा। जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्मगत क्षयोपशम

कम है, उनका ज्ञान भी अविकसित ही रहेगा। उन्हें इस बात का परिबोध नहीं हो पाएगा कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि किस दिशा से आया हूँ? इस विशिष्ट परिबोध से अनभिज्ञ या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता वाले किन्हीं जीवों को सूत्रकार ने 'एगेसिं' इस पद से अभिव्यक्त किया है।

'णो सण्णा भवइ' का अर्थ है—ज्ञान नहीं होता। यहाँ नहीं अर्थ का परिबोधक 'णो' पद है। प्रश्न हो सकता है कि 'णो' के स्थान पर 'अ' शब्द से काम चल सकता था। 'णो' और 'अ' दोनों अव्यय निषेधार्थक हैं। फिर यहाँ 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' पद देकर एक मात्रा का अधिक प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि 'णो- और 'अ' दोनों अव्यय निषेधार्थ में प्रयुक्त होते हुए भी समानार्थक नहीं हैं। दोनों में अर्थगत भिन्नता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' का प्रयोग किया है। यदि 'णो' का अर्थ 'अ' से निकल जाता तो सूत्रकार 'णो' का प्रयोग करके शब्द का गुरुत्व न बढ़ाते। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'णो' और 'अ' दोनों अव्ययों के अर्थ में कुछ अंतर है।

'णो' अव्ययपद एक देश का निषेधक है और 'अ' अव्ययपद सर्वदेश का निषेध करता है। जैसे—'न घटोऽघटः' इस वाक्य में व्यवहृत 'अघट' शब्द में 'घट' के साथ जुड़ा हुआ 'अ' अव्यय घट का सर्वथा निषेध करता है। परन्तु णो अव्यय किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध नहीं करता। 'णो सण्णा' से यह ध्वनित नहीं होता कि किन्हीं जीवों में संज्ञा-ज्ञान का सर्वथा अभाव है, क्योंकि आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। उसके अभाव में आत्मस्वरूप रह नहीं सकता। जैसे—प्रकाश एवं आतप के अभाव में सूर्य का एवं सूर्य के अभावे में उसके प्रकाश एवं आतप का अस्तित्व नहीं रह सकता। भले ही घनघोर घटाओं के कालिमामय आवरण से सूर्य का प्रकाश एवं आतप पूरी तरह दिखाई न पड़े, यह बात अलग है। परन्तु सूर्य के रहते हुए उनके अस्तित्व का लोप नहीं होता। उसकी अनुभूति तो होती ही रहती है। इसी तरह का ज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। अतः ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता। क्योंकि आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा आदि संज्ञाएं तो प्रत्येक संसारी प्राणी में पाई जाती हैं। इन्हीं संज्ञाओं के आधार पर ही जीव का जीवत्व सिद्ध होता है। यदि इन

संज्ञाओं का अभाव मान लिया जाए तो फिर आत्मा में चेतनता या सजीवता नाम की कोई चीज़ रह ही नहीं जायेगी। अस्तु, संज्ञा का सर्वथा निषेध करना आत्मतत्त्व की ही सत्ता नहीं मानता है और यह बात सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। इसलिए सूत्रकार ने 'असण्णा' का प्रयोग न करके 'णो सण्णा' का प्रयोग किया, जो सर्वथा उचित, युक्तियुक्त, न्याय-संगत एवं आगमानुसार है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सण्णा' शब्द का अर्थ संज्ञा होता है। संज्ञा चेतना को कहते हैं और वह अनुभवन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। अनुभवन संज्ञा के सोलह भेद हैं या यों कहिए कि जीव को सोलह तरह के अनुभूति होती है—

1. आहारसंज्ञा—क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार—भोजन करने की इच्छा होना।

2. भयसंज्ञा—भयमोहनीय कर्म के उदय से खतरे का वातावरण देख, जान कर या खतरे की आशंका से त्रास एवं दुःख का संवेदन करना या भयभीत होना।

3. मैथुनसंज्ञा—वेदोदय से विषयेच्छा को तृप्त करने की या मैथुन सेवन की अभिलाषा होना।

4. परिग्रहसंज्ञा—कषायमोहनीय के उदय से भौतिक पदार्थों पर आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा भाव का होना।

5. क्रोधसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से विचारों में एवं वाणी में उत्तेजना या आवेश का आना।

6. मानसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से अहंभाव, गर्व या घमंड का अनुभव करना।

7. मायासंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट करना।

8. लोभसंज्ञा—कषायमोहनीय कर्म के उदय से भौतिक पदार्थों, विषय-वासना एवं भोगोपभोग के साधनों को प्राप्त करने की लालसा बनाए रखना, संग्रह की कामना को बढ़ाते रहना।

9. ओघसंज्ञा—जीव की अव्यक्त चेतना, जो ज्ञानावरणीय कर्म के अल्पक्षयोपशम के कारण उत्पन्न होती है।

10. लोकसंज्ञा—‘अपुत्रस्य गतिर्नास्ति’ आदि लोक-प्रचलित मान्यताओं पर विश्वास करना तथा उनके अनुसार अपनी धारणा बना लेना।

11. सुखसंज्ञा—इन्द्रियों एवं मनोऽनुकूल विषयों का उपभोग करना एवं उसमें आनन्द की अनुभूति करना।

12. दुःखसंज्ञा—इन्द्रिय एवं मन के प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःखानुभूति करना।

13. मोहसंज्ञा—मोहनीय कर्म के उदय से विषय-वासना एवं कषायों में आसक्त रहना।

14. विचिकित्सासंज्ञा—मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म एवं तत्त्वों में शंका—संदेह करना।

15. शोकसंज्ञा—मोहनीय कर्म के उदय से इष्ट वस्तु के न मिलने या उसका वियोग होने पर तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर रोना, पीटना, विलाप आदि करना।

16. धर्मसंज्ञा—मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आगार—गृहस्थ धर्म या अनगार—साधु धर्म को स्वीकार करना, संयम-मार्ग में या त्याग-मार्ग पर गतिशील होना।

ज्ञानसंज्ञा के भी 5 भेद किए गए हैं—

1. मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य क्षेत्र में स्थित वस्तु को जानना-पहचानना।

2. श्रुतज्ञान—वाच्य-वाचक संबंध द्वारा शब्द से संबंधित अर्थ का परिज्ञान प्राप्त करना।

3. अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी द्रव्यों को जानना-देखना।

4. मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन के सहयोग बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के भावों को जानना।

5. केवलज्ञान—मति आदि चारों ज्ञानों की अपेक्षा के बिना तीनों लोक में स्थित द्रव्यों एवं त्रिकालवर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

इस तरह 'संज्ञा' शब्द से अनुभूति और ज्ञान दोनों का निरूपण किया गया है। अनुभूति रूप संज्ञा या चेतना तो संसार के सभी जीवों में रहती है। अतः यहां उक्त संज्ञा का निषेध नहीं किया गया है। ज्ञान रूपी संज्ञा में भी संसार के समस्त छद्मस्थ जीवों में सम्यक् या असम्यक् किसी न किसी रूप में मति एवं श्रुतज्ञान या अज्ञान रहता ही है। अतः 'णो सण्णा भवइ' वाक्य से प्रस्तुत सूत्र में जो ज्ञान का निषेध किया है, वह साधारण रूप से होने वाले ज्ञान का नहीं, परन्तु विशिष्ट रूप से पाए जाने वाले ज्ञान का निषेध किया है, जिससे आत्मा यह जान-समझ सके कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूँ? ऐसा विशिष्ट ज्ञान संसार के सभी जीवों को नहीं होता। इसलिए 'णो' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि संसार के कुछ एक जीवों को विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। उस विशिष्ट ज्ञान का क्या स्वरूप है? इसका समाधान एवं स्पष्ट विवेचन सूत्रकार के शब्दों में आगे के सूत्र में पढ़ें—

मूलम्—तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थि—माओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि॥३॥

छाया—पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि।

पदार्थ—तंजहा—जैसे। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ—पूर्व दिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ।¹ दाहिणाओ वा दिसाओ—अथवा दक्षिण दिशा से। पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ—या पश्चिम दिशा से। उत्तराओ वा दिसाओ—या उत्तर दिशा से। उड्ढाओ वा दिसाओ—या ऊर्ध्व दिशा से। अहो दिसाओ वा—या अधो दिशा से। अण्णयरीओ वा दिसाओ—या किसी भी एक दिशा से।

1. 'आगओ अहमंसि' का सब जगह 'मैं आया हूँ' यह अर्थ समझना चाहिए।

अणु दिसाओ वा—या अनुदिशा-विदिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ।

मूलार्थ—जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ या पश्चिम एवं उत्तर दिशा से या ऊर्ध्व एवं अधोदिशा से या किसी एक दिशा-विदिशा से इस संसार में प्रविष्ट हुआ हूँ—आया हूँ।

हिन्दी-विवेचन

आत्मा में अनन्त चतुष्क अर्थात् 1. अनन्त ज्ञान, 2. अनन्त दर्शन, 3. अनन्त सुख और 4. अनन्त वीर्य है। सिद्ध आत्माओं में ही नहीं, प्रत्युत संसार में स्थित प्रत्येक आत्मा में इन शक्तियों की सत्ता—अस्तित्व मौजूद है। फिर भी अनन्त काल से कर्मप्रवाह में प्रवहमान होने के कारण यह संसार में इधर-उधर परिभ्रमण करती रहती है, चार गति-चौरासी लाख जीवयोनियों में घूमती-भटकती है—कभी ऊर्ध्व दिशा में उड़ान भरती है, तो कभी अधोदिशा की ओर प्रयाण करती है। कभी पूर्वदिशा की ओर बढ़ती है, तो कभी अस्ताचल—पश्चिमदिशा की ओर जा पहुँचती है। कभी उत्तरदिशा की तरफ गतिशील होती है, तो कभी दक्षिण दिशा का रास्ता नापती है। इस तरह कर्मबद्ध आत्मा संसार की इन सब दिशा-विदिशाओं में घूमती फिरती है। इस भव-भ्रमण का मूल कारण कर्मबन्धन है और कर्मबन्धन का मूल-राग-द्वेष हैं।¹ जब तक आत्मा में राग-द्वेष की परिणति है, तब तक वह कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकती। क्योंकि राग-द्वेष कर्मरूपी वृक्ष का बीज है, मूल है। जब तक बीज या मूल सुरक्षित है, स्वस्थ है, तब तक वृक्ष धराशायी नहीं हो सकता। यदि पूर्व फलित शाखा-प्रशाखाओं को काट भी दिया गया, तब भी मूल के सद्भाव में वृक्ष का पूर्णतया नाश-विनाश नहीं हो सकता। मूल हरा-भरा है तो वह पुनः अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो उठेगा। यही स्थिति कर्मवृक्ष की है। पूर्व कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, क्षय हो जाते हैं, परन्तु उनका मूल रागद्वेष मौजूद रहता है, इससे उनका समूलतः नाश नहीं होता। पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है तो नए कर्मों का बन्ध हो जाता है। इस तरह एक के बाद दूसरा प्रवाह प्रवहमान ही रहता है। अस्तु, कर्म के मूल रागद्वेष का क्षय किए बिना कर्मवृक्ष का समूलतः नाश नहीं होता और उसका पूर्णतः नाश हुए बिना आत्मा भव-भ्रमण के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकती।

आस्तिक माने जाने वाले सभी दार्शनिकों का विश्वास है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान को स्व-प्रकाशक मानने के संबंध में दार्शनिकों में एकरूपता परिलक्षित नहीं होती। कतिपय दार्शनिक ज्ञान को स्व-प्रकाशक नहीं, पर-प्रकाशक मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को नहीं जानता, परन्तु पर को जानता है, जैसे—आंख दुनिया के दृश्यमान पदार्थों का अवलोकन करती है परन्तु अपने आप को नहीं देखती। दीपक सब पदार्थों को प्रकाशित करता है, परन्तु उसके नीचे अंधेरा ही बना रहता है—‘दिए तले अन्धेरा’ की कहावत लोक प्रसिद्ध है। इसी तरह ज्ञान भी अपने से इतर सभी द्रव्यों को, पदार्थों को देखता-जानता है। परन्तु अपना परिज्ञान उसे नहीं होता। अपने आपको जानने के लिए इतर ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

परन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान-स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, वह दूसरे पदार्थ का भी अवलोकन नहीं कर सकता। वही ज्ञान अन्य द्रव्यों को भली-भांति देख सकता है जो अपने आपको भी देखता है। जैसे दीपक का प्रकाश अन्य पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्राकशित करता है। ऐसा नहीं होता कि दीपक के अतिरिक्त कमरे में स्थित अन्य सभी पदार्थ तो दीपक के उजाले में देख लें और उस जलते हुए दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक लाएं। जो ज्योतिर्मय दीपक सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है। उसे देखने के लिए दूसरे प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस तरह आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को भी जानता है और उससे स्वेतर द्रव्यों का भी परिज्ञान करता है। यों कहना चाहिए कि वह अपने को देखकर ही इतर द्रव्यों या पदार्थों को देखता है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं कि बहिनें भोजन तैयार करके दूसरों को परोसने-खिलाने के पहले स्वयं चख लेती हैं। यदि उन्हें स्वादिष्ट लगता है, तो वे समझ लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, परिवार के सभी सदस्यों को अच्छा लगेगा। यदि ज्ञान स्वसंवेदक या स्वप्रकाशक नहीं होता, तो बहिनों को यह ज्ञान कैसे होता है कि यह भोजन सबको स्वादिष्ट लगेगा। परन्तु ऐसा संवेदन प्रत्यक्ष में होता है और हम प्रतिदिन देखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। वह भोजन को चखकर

जब यह निर्णय कर लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, तो वह अपने इसी निर्णय से जान लेती हैं कि यह खाद्य पदार्थ सबको पसन्द आ जाएगा। जो वस्तु मुझे स्वादिष्ट एवं आनन्दप्रद लगती है, वह दूसरों को भी वैसी प्रतीत होगी, क्योंकि उनमें भी मेरे जैसी ही आत्मा है और वह भी मेरे जैसी अनुभूति एवं संवेदन-युक्त है। इस तरह स्व के ज्ञान से पर के ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति होती है। आगमों में भी कहा है—सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सुख सबको प्रिय है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा—घात न करे, न दूसरों से करावे और न हिंसा करने वाले का समर्थन करे। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि जो अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानता है और रागद्वेष में समभाव रखने वाला है, वही पूज्य है। अपनी आत्मा से आत्मा को जानने का तात्पर्य है कि अपनी ज्ञानमय आत्मा से अपने स्वरूप को जानना-समझना।¹ इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ज्ञानमय है और—ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। उसे अपने बोध के साथ दूसरे का भी परिबोध होता है।

इससे स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जीव का लक्षण बताते हुए आगम में कहा है कि 'जीवो उवओगलक्खणो' अर्थात्—जीव का लक्षण 'उपयोग' है। वह उपयोग 1. ज्ञान, 2. दर्शन, 3. सुख और 4. दुःख रूप से चार प्रकार है।² इस प्रकार भी कहा गया है कि 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं।'³ उक्त दोनों गाथाओं में सुख-दुख का संवेदन एवं चारित्र तथा तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है। सुख-दुःख का संवेदन वेदनीय कर्मजन्य साता-असाता या शुभ-अशुभ संवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवों में और सदा काल नहीं पाया जाता। क्योंकि यह संवेदना कर्मजन्य है, अतः कर्म से आबद्ध संसारी जीवों में ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी संसार-अवस्था तक ही रहती है। इसी तरह चारित्र एवं तप भी सभी जीवों में सदा-सर्वदा विद्यमान

1. वियाणिया अप्पगमप्पणं।

—दशवैकालिक 9/3/11

2. नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य।

उत्तराध्ययन, 28/10

3. नाणं च दंसणं चेव, चारितं च तवो तहा। वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥

—उत्तरा., 28/11

नहीं रहता। क्योंकि चारित्र का अर्थ है—आत्मा में प्रविष्ट कर्मसमूह को निकालने वाला, अर्थात् आत्मभवन में निवसित कर्मसमूह को खाली करने वाला।¹ इससे यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया है कि चारित्र तभी तक है, जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान है। जिस समय जीव—आत्मारूपी सरोवर कर्मरूपी पानी से सर्वथा खाली हो जाता है, तब फिर चारित्र की अपेक्षा नहीं रहती है। अस्तु, चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था में है, न कि सिद्ध अवस्था में। इसलिए चारित्र भी व्यवहार की अपेक्षा जीव का लक्षण है। तप चारित्र का ही भेद है, इसलिए वह भी आत्मा में सदासर्वदा नहीं पाया जाता। परन्तु ज्ञान, दर्शन और वीर्य से आत्मा में सदा-सर्वदा पाए जाते हैं। इसलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चय रूप से लक्षण कहा गया है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का आत्मा में सदा सद्भाव रहता है। यह बात अलग है कि कर्मों के साधारण या प्रगाढ़ आवरण से आत्मज्योति का या अनंत चतुष्क का कुछ या बहुत-सा भाग आवृत हो जाए, परंतु उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप एवं विनाश नहीं होता।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब फिर अनेक जीव अज्ञ—मूर्ख क्यों दिखाई देते हैं? यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा ज्ञानयुक्त है। ज्ञान के अभाव में उसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता। जैसे सूर्य की किरणें एवं प्रखर प्रकाश सदा उसके साथ रहता है। जब बादल छा जाते हैं या राहु का विमान उसे प्रच्छन्न कर लेता है, तब भी रजत-रश्मियाँ उस सहस्ररश्मि से अलग नहीं होतीं, उनका अस्तित्व उस समय भी बना रहता है। परन्तु बादलों एवं राहु के विमान का कालिमामय गहरा आवरण होने से सहस्ररश्मि-सूर्य का प्रखर प्रकाश हमें दिखाई नहीं देता। इतना होने पर भी उसके अस्तित्व का पता लगता रहता है। भले ही कितने ही घनघोर बादल क्यों न छाए हों, उनमें से छन-छन कर आता हुआ मन्द-मन्द प्रकाश दिन की प्रतीति करा ही देता है। इसी तरह ज्ञानावरणीय कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं के आवरण के कारण आत्मा का अनन्तज्ञान-भानु प्रच्छन्न रहता है। कभी-कभी यह आवरण इतना गहरा हो जाता है कि आत्मा अपने पूर्व स्थान को ही भूल जाता है, अनेक जीवों की स्मरणशक्ति या जानने-पहचानने की

ताकत बहुत कम रह जाती है। परन्तु आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। उसकी थोड़ी-बहुत झलक पड़ती ही रहती है। अनन्त काल के लम्बे एवं विस्तृत जीवन में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि ज्ञानदीप सर्वथा बुझ जाए। इसी कारण उसका लक्षण उपयोग बताया गया है, क्योंकि वह सदा-सर्वदा आत्मा में रहता है और आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। यह बात अलग है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय एवं क्षयोपशम के कारण आत्मा में इसका अपकर्ष एवं उत्कर्ष होता रहता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, तब इसका अपकर्ष दिखाई देता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिखाया है कि ज्ञान का अधिक भाग प्रच्छन्न हो जाने के कारण कई जीवों को इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ या पश्चिम आदि दिशा-विदिशाओं से आया हूँ।

‘दिसाओ’ इस पद का अर्थ है—दिशाएं। दिशाएं तीन प्रकार की होती हैं—1. ऊर्ध्वदिशा, 2. अधोदिशा और 3. तिर्यग्दिशा। ऊपर की ओर को ऊर्ध्वदिशा, नीचे की ओर को अधोदिशा और इन उभय दिशाओं के मध्य भाग को तिर्यग्दिशा कहते हैं। तिर्यग्दिशा—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा के भेद से चार प्रकार की हैं। जिस ओर से सूर्य उदित होता है, उसे पूर्वदिशा कहते हैं। जिस ओर सूर्य अस्त होता है, उसे पश्चिमदिशा कहते हैं। सूर्य के सम्मुख खड़े होने से बाएँ हाथ की ओर उत्तर दिशा है और दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा है। इस तरह ऊर्ध्व और अधोदिशा में उक्त चार तिर्यग् दिशाओं को मिला देने से 6 दिशाएं होती हैं। इसके अतिरिक्त चार विदिशाएं भी होती हैं, जिन्हें सूत्रकार ने ‘अणुदिसाओ’ पद से अभिव्यक्त किया है, जिन्हें 1. ईशान कोण, 2. आग्नेय कोण, 3. नैऋत्य कोण और 4. वायव्य कोण कहते हैं। उत्तर और पूर्वदिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते हैं। पूर्व एवं दक्षिण दिशा के बीच का कोण आग्नेय कोण के नाम से जाना—पहचाना जाता है। दक्षिण और पश्चिम का मध्य कोण नैऋत्य कोण के नाम से प्रसिद्ध है और पश्चिम तथा उत्तर दिशा के बीच का कोण वायव्य कोण के नाम से व्यवहृत है। मेरु पर्वत को केन्द्र मानकर इन सभी दिशा-विदिशाओं का व्यवहार किया जाता है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा, चार तिर्यग् दिशाएं और चार विदिशाएं कुल मिलकर $2 + 4 + 4 = 10$ होती हैं। परन्तु निर्युक्तिकार ने इस मान्यता से अपना भिन्न मत भी उपस्थित किया है। उन्होंने सर्वप्रथम दिशा के द्रव्य और भाव दिशा ये दो भेद

किए हैं और तदनन्तर दोनों के अठारह-अठारह भेद किए हैं। अठारह द्रव्य दिशाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चार दिशाएं हैं। इन चारों के अंतराल में चार विदिशाएं हैं। चार दिशा और चार विदिशा इन आठ के मध्य में आठ और अंतर हैं। इस प्रकार ये सोलह दिशाएं बनती हैं और उक्त 16 में ऊर्ध्व और अधो दिशा, ये दो दिशाएं मिला दें तो कुल अठारह दिशाएं बनती हैं। ये समस्त द्रव्य दिशाएं हैं।¹

निर्युक्तिकार ने भाव दिशाएं भी 18 बताई हैं। मनुष्य, तिर्यञ्च, काय, वनस्पति देव और नारक इनकी अपेक्षा से भाव दिशा के 18 भेद किए हैं। यथा—मनुष्य चार प्रकार के हैं—1. सम्मूर्च्छिम मनुष्य, 2. कर्मभूमि मनुष्य, 3. अकर्मभूमि मनुष्य और 4. अंतर्द्वीपज मनुष्य। तिर्यञ्च के भी 4 भेद होते हैं = 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय और 4. पञ्चेन्द्रिय। काय के भी चार भेद हैं—1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेजस्काय और 4. वायुकाय। वनस्पति भी चार तरह की होती है—1. अग्रबीज, 2. मूलबीज, 3. स्कंधबीज और पर्वबीज। इस तरह चतुर्विध मनुष्य, चतुर्विध तिर्यञ्च, चतुर्विध काय और चतुर्विध वनस्पति कुल मिलाकर $4 + 4 + 4 + 4 = 16$ भेद हुए और उक्त सोलह में 1. नारक और 2. देव मिलाने से 18 भेद होते हैं। इन सबको भाव-दिशा कहा है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों से आबद्ध जीव इन्हीं योनियों में यत्र-तत्र परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए इनको भाव-दिशा कहा है।²

‘अण्णयरीओ वा दिसाओ’ का अर्थ है—अन्यतर दिशा से। इसका तात्पर्य इतना

1. जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।

जत्तोमुही य ठाई सा पुब्बा पच्छओ अवरा ॥

दाहिण-पासंमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।

एयासिमन्तरेणं अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥

एयासिं चेव अट्ठण्हमंतरा अट्ठ हुंति अण्णाओ ।

सोलस-सरीर उस्सय बाहल्ला सववतिरिय दिसा ॥

हेट्ठापायतलाणं अहोदिसा सीसउवरिया उट्ठा ।

एया अट्ठारसवि, पण्णवादिसा मुणेयव्वा ॥

—आचारांग निर्युक्ति, गाथा 51-54

2. मणुया तिरिया काया तहग्गबीया चउक्कागा चउरो ।

देवा नेरइया वा अट्ठारस होति भावदिसा ॥

—आचारांग निर्युक्ति गाथा, 60

ही है कि पूर्व-पश्चिम आदि उक्त दिशाओं में से किसी भी एक दिशा से आया हूँ। उक्त वाक्य से शास्त्रकार ने पुनः उन सभी दिशाओं की ओर समुच्चय रूप से संकेत कर दिया है। या यों भी कह सकते हैं कि 'उक्त समस्त दिशाओं के बीच किसी भी दिशा से' इस भाव को प्रस्तुत वाक्य से अभिव्यक्त किया है।

'आगओ अहमंसि' वाक्य का अर्थ है—मैं आया हूँ। सूत्रकार ने उक्त पदों को उपन्यस्त करके जैनदर्शन की आत्मा-संबंधी मान्यता की ओर संकेत कर दिया है। जैनदर्शन आत्मा को अनन्त और लोक के एक देश में स्थित या संसारी आत्मा को शरीर-परिमाण मानता है। कुछ दार्शनिक आत्मा को एक और सर्वव्यापक मानते हैं। वस्तुतः ऐसा है नहीं; इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि 'मैं आया हूँ, यदि ऐसा मान लिया जाए कि दुनिया में एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापक है तो "मैं किस दिशा से आया हूँ तथा किस दिशा या गति में जाऊंगा?" ऐसा प्रयोग घट नहीं सकता। फिर पुनर्जन्म एवं बंध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि अवस्थाएं भी घटित नहीं हो सकेंगी। क्योंकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो वह नारक, देव, तिर्यज्च, मनुष्य आदि सभी गतियों में स्थित है, फिर एक गति का आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति में जाने की बात एवं जन्म-मरण की बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। जब वह सब जगह व्याप्त है, तब तो वह बिना मरे या जन्मे ही यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां जाना चाहे, पहुँच जाएगा। न उसे गति करने की आवश्यकता है और न अन्य क्रिया करने की ही जरूरत है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। व्यवहार में भी हम स्वयं चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं। यही स्थिति पुनर्जन्म के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। संसारी आत्मा कर्मण शरीर के साधन से एक गति से दूसरी गति की यात्रा तय करती है। इससे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं, देशव्यापक है। वह लोक के एक देश में स्थित है या यों भी कह सकते हैं कि संसारी आत्मा अपने शरीर-परिमाण स्थान में स्थित है और मुक्त आत्माएं सिद्धशिला में—जो 45 लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है और जिसकी एक करोड़ बयालीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ उनपचास योजन के कुछ अधिक परिधि है, उसके एक गाऊ (कोस), अर्थात् दो मील के ऊपर के छठे हिस्से में लोक के अन्तिम प्रदेश को स्पर्श किए हुए—स्थित है। इस तरह सिद्ध या संसारी कोई भी आत्मा समस्त लोकव्यापी नहीं; बल्कि लोक के एक देश में स्थित है।

जैनदर्शन ने भी संसार में स्थित सर्वज्ञ एवं सिद्धों की आत्मा को एक अपेक्षा से सर्वव्यापक माना है। वह अपेक्षा यह है कि जब केवल ज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग में वेदनीय कर्म सबसे अधिक और आयुष्य कर्म थोड़ा रह जाता है, तो उस समय उक्त दोनों कर्मों—वेदनीय और आयुष्य कर्म में सन्तुलन लाने के लिए वे केवली समुद्घात करते हैं। उस समय वे पहले समय में अपने आत्म-प्रदेशों को दण्डाकार फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हें कपाट के आकार में बदलते हैं, तीसरे समय में मन्थनी के रूप में अपनी आत्मा को फैलाते हैं और चौथे समय में वे अपने आत्म-प्रदेशों को सारे लोक में फैला देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश लोक के समस्त आकाश-प्रदेशों को स्पर्श कर लेते हैं, पांचवें समय में वे पुनः अपने आत्म-प्रदेशों को समेटने लगते हैं और उन्हें मन्थनी की स्थिति में ले आते हैं, छठे समय में फिर से कपाट और सातवें समय में दंड के आकार में ले आते हैं एवं आठवें समय में अपने शरीर में स्थित हो जाते हैं। यह समुद्घात सभी सर्वज्ञ नहीं करते, वे ही केवल ज्ञानी करते हैं, जिनका वेदनीय आयुष्य कर्म से अधिक रह गया है, और उसे थोड़े से समय में ही क्षय करना है। इस तरह वे अपने आत्म-प्रदेशों को लोक में सर्वत्र फैला देते हैं और तुरन्त समेट भी लेते हैं। इस अपेक्षा से वे सर्वव्यापी भी हैं, परन्तु वस्तुतः वे भी सदा-सर्वदा के लिए सर्वव्यापी नहीं हैं।¹

सर्वज्ञ एवं सिद्धों को एक दूसरी अपेक्षा से भी सर्वव्यापक माना गया है। वह है—ज्ञान की अपेक्षा। क्योंकि वे तीनों लोक एवं तीनों काल में स्थित सभी द्रव्यों को जानते-देखते हैं। लोक का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जिसे वे नहीं जानते हों। अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा वे सर्वव्यापक हैं, अर्थात् समस्त लोक के द्रव्यों एवं भावों को

1. केवलीणं चत्तारि कम्मंसा अपलिक्खीणा भवन्ति, तंजहा वेयणिज्जं आउयं, णामं, गुत्तं सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ, सव्वत्थोवे से आउए कम्मे भवइ, विसमं समं करेइ बंधेणेहिं ठिईहि य, विसमसमकरणयाए बंधेणेहिं ठिईहि य एवं खलु केवली समोहणाति एवं खलु समुग्घायं गच्छन्ति।
—उववाई सूत्र, सिद्ध स्वरूप 40

पढमे समए दंडं करेइ, बिइए समए कवाडं करेइ, तइए समय मंथं करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरइ, पंचमे समए लोयं पडिसाहरइ, छठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं साहरइ, अट्ठमे समये दंडं पडिसाहरइ, तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।

—उववाई सूत्र, वही।

जानते—देखते हैं। परन्तु आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से तो वे भी एक देशव्यापी हैं, क्योंकि आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी मानने से बन्ध एवं मोक्ष नहीं घट सकता। फिर तो वह संसार एवं मोक्ष में सर्वत्र स्थित रहेगा ही, तब उसे मुक्ति पाने के लिए त्याग-तप एवं धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अतः आत्मा सर्वव्यापक मानना युक्तिसंगत एवं अनुभवगम्य नहीं कहा जा सकता है।

आत्मा को एक मानना भी यथार्थ से परे है, क्योंकि आत्मा को एक मान लेते हैं, तो फिर संसारी जीवों में जो कर्मजन्य विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह नहीं होनी चाहिए। संसार में परिलक्षित होने वाले अनन्त-अनन्त जीवों की आत्मा एक है, तो फिर कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई कमजोर, कोई ताकतवर, कोई दुबला, कोई भारी शरीर वाला दिखाई देता है, यह भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर तो एक के सुखी होते ही सारा संसार सुखी हो जाना चाहिए एवं एक के दुःखी होते ही सर्वत्र दुःख की काली घटाएं छा जानी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। व्यवहार में सबके सुख-दुःख अलग-अलग दिखाई देते हैं। एक के सुखी होने पर सारा संसार तो क्या, सारा गांव भी सुखी नहीं होता और एक के दुःखी होने पर सभी मुसीबत एवं वेदना के दलदल में नहीं धंसते। जगत् के सभी जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुरूप सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। अतः सभी आत्माएं एक नहीं, व्यक्तिशः विभिन्न हैं, अनेक हैं, अनंत हैं।

‘मैं आया हूँ’ प्रस्तुत वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैनदर्शन एकांत रूप से आत्मा को एक एवं सर्वव्यापक नहीं मानता है। सभी आत्माएं पृथक्-पृथक् हैं, सबका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और लोक के एक देश में स्थित हैं। इसी कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकती हैं। यदि आत्मा एक एवं सर्वव्यापक हो, तब तो एक आत्मा के चलने पर सभी चलने लगेंगी और एक के ठहरने पर सभी स्थित हो जाएंगी। इस तरह सांसारिक आत्माओं में होने वाला गमनागमन एवं हरकतें ही बंद हो जाएंगी और फिर ‘मैं आया हूँ’ आदि शब्दों का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। परन्तु ऐसा होता नहीं, यह प्रयोग वास्तविक है और इसी से यह सिद्ध होता है कि आत्माएं अनन्त हैं और लोक के एक देश में स्थित हैं।

योग-दृष्टि से चिन्तन—जैन और वैदिक उभय परंपराओं में योग शब्द का प्रयोग मिलता है। शब्द-साम्यता होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों में योग शब्द के किए जाने वाले अर्थ में एकरूपता नहीं मिलती। दोनों इसका अपने-अपने ढंग से स्वतन्त्र अर्थ करते हैं। जैनदर्शन में योग शब्द का प्रयोग मन-वचन और काया की प्रवृत्ति में किया गया है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया को ही योग कहा गया है और मुमुक्षु के लिए आगमों में यह आदेश दिया गया है कि अपने मन-वचन और शरीर के योगों को अशुभ कामों से, पाप कार्यों से हटाकर शुभ कार्य में या संयम मार्ग में प्रवृत्त करे। इसे आगमिक परिभाषा में गुप्ति और समिति कहते हैं। जैन दृष्टि से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं और पातञ्जल योग दर्शन में योग शब्द का समाधि अर्थ किया है। पातञ्जल योगदर्शन वैदिक संप्रदाय का योग विषयक सर्वमान्य ग्रंथ है। प्रस्तुत ग्रंथ में योग की परिभाषा करते हुए पातञ्जलि ने लिखा है—“चित्त की वृत्तियों का निरोध करना अथवा उनकी प्रवृत्ति को रोकना योग है।”¹

दोनों परम्पराओं की मान्य परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन में योग शब्द का प्रयोग चित्तवृत्ति के निरोध में नहीं, बल्कि मन-वचन एवं शरीर के व्यापार में किया गया है। इस त्रियोग में चिंतन-मनन की प्रधानता रहती है। इस योगपद्धति से यदि प्रस्तुत सूत्र के आध्यात्मिक रहस्य पर गहराई से सोचा-विचारा एवं चिंतन-मनन किया जाए तो साधना के क्षेत्र में इस सूत्र का बहुत महत्त्व बढ़ जाता है। मुमुक्षु के लिए यह सूत्र बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत सूत्र के वर्णनक्रम से कि सूत्रकार ने सर्वप्रथम पूर्वादि चार दिशाओं का और तदनंतर ऊर्ध्व और अधो इन दो दिशाओं का और अंत में विदिशाओं का क्रमशः वर्णन किया है। पूर्व आदि सभी दिशाओं का व्यवहार मेरु पर्वत को केंद्र मानकर किया जाता है, परंतु इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी चिंतन कर सकता है। जब ध्यानस्थ व्यक्ति एक पदार्थ पर दृष्टि रखकर मानसिक चिंतन करता है, तब वह अपनी नाभि को केन्द्र मानकर सोचता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूँ। इस तरह चिंतन-मनन में योगों की प्रवृत्ति होने पर मन में एकाग्रता आती है और इससे आत्मा में विकास होने लगता है और चिंतन की

गहराई में गोते लगाते-लगाते ध्यानस्थ आत्मा को विशिष्ट बोध भी हो जाता है। यदि चिंतन-मनन का प्रवाह एक रूप से निर्बाध गति से सतत चलता रहे और विचारों में स्वच्छता एवं शुद्धता बनी रहे तो उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है कि मैं किस दिशा से आया हूँ। फिर उससे यह रहस्य छिपा नहीं रहता और दिशा-सम्बन्धी आगमन के रहस्य का आवरण अनावृत होते ही उसकी आत्मा अपने स्वरूप में रमण करने लगती है, साधना एवं ध्यान या चिंतन-मनन में संलग्न हो जाती हैं। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इससे विचारों में, चिन्तन में एवं साधना के प्रवृत्ति-क्षेत्र में एकाग्रता एवं एकरूपता आती है, ज्ञान का विकास होता है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि संसार में ऐसे भी अनेक जीव हैं, जिनको ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूँ। ऐसे जीवों को 'किस दिशा से आया हूँ' इसके अतिरिक्त और भी जिन अनेक बातों का परिज्ञान नहीं होता है, उनका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

इस सूत्र के आध्यात्मिक अर्थ आचार्य शिवमुनि जी द्वारा प्राप्त हुए हैं। वे उद्देशक के अन्त में देखिये।

मूलम्—एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी? के वा इओचुए इह पेच्चा भविस्सामि?॥४॥

छाया—एवमेकेषां नो ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहमासम्? को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि?

पदार्थ—एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्हीं जीवों को। **णो णायं भवइ—**यह ज्ञान नहीं होता। **मे आया—**मेरी आत्मा। **उववाइए अत्थि—**औपपातिक—उत्पत्तिशील है। **आया, मे आया—**मेरी आत्मा। **उववाइए नत्थि—**उत्पत्तिशील-जन्मान्तर में संक्रमण करने वाली नहीं है। **के अहं आसी—**मैं (पूर्व भव में) कौन था? **वा—**अथवा। **इओ चुए—**यहां से च्युत हो कर, अर्थात् यहां के आयुष्कर्म को भोग कर। **इह—**इस

संसार में। पेच्चा—परलोक, जन्मान्तर में। के भविस्सामि—क्या बनूंगा?

मूलार्थ—इसी प्रकार जैसा कि पूर्व सूत्र में कहा गया है कि किन्हीं जीवों को इस बात का परिबोध—ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक अर्थात् जन्मान्तर में एक योनि को छोड़कर दूसरी योनि में उत्पन्न होने वाली है या नहीं? मैं इस जन्म के पूर्व कौन था? यहां से मरकर भविष्य में क्या बनूंगा, अर्थात् किस गति में जन्म ग्रहण करूंगा?

हिन्दी-विवेचन

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले दर्शनों का यह विश्वास है कि संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म से आबद्ध होने के कारण अनन्त-अनन्त काल से जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान हैं। कर्म के आवरण के कारण ही यह अपने अन्दर स्थित अनन्त शक्तियों के भण्डार को देख नहीं पाती है। कई एक आत्माओं पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण कभी-कभी इतना गहरा छा जाता है कि उन्हें अपने अस्तित्व तक का भी परिबोध नहीं होता। उस समय वह यह भी नहीं जानता कि मैं उत्पत्तिशील एक गति से दूसरी गति में जन्म लेने वाला, विभिन्न योनियों में विभिन्न शरीरों को धारण करने वाला हूँ या नहीं? इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं? यदि था तो मैं किस योनि या गति में था? मैं यहां से अपने आयुष्य कर्म को भोगकर भविष्य में कहां जाऊंगा? किस योनि में उत्पन्न होऊंगा? ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ़ आवरण से आवृत्त ये आत्माएं उक्त बातों को नहीं जान पातीं, उक्त जीवों की इसी अबोध दशा को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त किया है।

संसार में दिखाई देने वाले प्राणियों में आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं अथवा यों कहिए कि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न दार्शनिकों में पुरातन काल से चला आ रहा है। जबकि आत्मा को चेतन तो सभी मानते हैं—यहां तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक भी उसको चेतन मानते हैं। परन्तु दार्शनिकों में मतभेद इस बात का है कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं? कुछ विचारक पांच भूतों के मिलन से चेतना का प्रादुर्भाव मानते हैं और उनके नाश के साथ चेतना या आत्मा का नाश मानते हैं। उनके विचार में आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु

कुछ विचारक आत्मा को पांच भूतों से अलग मानते हैं और उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी विचारभेद के आधार पर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद इन दो वादों या दर्शनों की परंपरा सामने आई। इन उभय वादों का विचार-प्रवाह कब से प्रवहमान है, इसका पता लगा सकना ऐतिहासिकों की शक्ति से बाहर है। फिर भी आगमों एवं दर्शन-ग्रंथों के अनुशीलन-परिशीलन से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराएं हजारों-लाखों वर्षों से प्रवहमान हैं।

यह हम देख चुके हैं कि नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानता है। परन्तु आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग् दिशाओं में जन्म लेता है। स्वर्ग और नरक की निरापद—सुखद एवं भयावह—दुःखद पगडण्डियों को तय करता है और तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं संयम आदि आध्यात्मिक साधनों के द्वारा अनंत काल से बंधते आ रहे कर्म बंधनों को समूलतः उच्छेद करके निर्वाण—मुक्ति को भी प्राप्त करता है। परन्तु नास्तिकवाद इस बात को नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यह शरीर ही आत्मा है। इसके नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीर के अतिरिक्त अपने कृत-कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि योनियों में घूमने वाली तथा कर्मबंधन को तोड़कर मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है। यहाँ आगमों के प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों एवं आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला सबसे बलवान प्रमाण स्वानुभूति ही है। व्यक्ति को किसी भी समय में अपने अस्तित्व में संदेह नहीं होता और आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति उसे प्रतिक्षण होती रहती है। जब कोई नास्तिक व्यक्ति यह कहता है कि 'मैं नहीं हूँ' तो उसके इस उच्चारण में यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि मेरा (आत्मा का) अस्तित्व है। 'मैं नहीं हूँ' इस वाक्य में 'मैं' को अभिव्यक्त करने वाला कोई स्वतंत्र व्यक्ति है, क्योंकि जड़ में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की ताकत है नहीं और यह केवल शरीर भी 'मैं' को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यदि अकेले शरीर में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की शक्ति हो तो यह शरीर तो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहता है। परंतु चेतना के

अभाव में वह अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। तो इससे स्पष्ट है कि 'मैं' को अभिव्यक्त करने वाली शरीर में स्थित शरीर से अतिरिक्त कोई शक्ति है और वही शक्ति चेतना है, आत्मा है। तो 'मैं नहीं हूँ' इस वाक्य से भी आत्मा के अस्तित्व की ही सिद्धि होती है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट बोध होने पर भी उससे इन्कार करना तो ऐसा है—जैसे कि लोगों में यह ढिंढोरा पीटना कि 'मेरी माता वन्ध्या है-मेरी माता वन्ध्या है' यह वाक्य सत्य से परे है, उसी तरह 'मैं नहीं हूँ' या 'मेरी आत्मा का अस्तित्व नहीं है' कहना भी सत्य एवं अनुभव के विपरीत है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे शरीर की अवस्थाएं प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। बाल्यावस्था से यौवनकाल सर्वथा भिन्न नज़र आता है और बुढ़ापा बाल एवं यौवन दोनों कालों को ही पछाड़ देता है, उस समय शरीर की अवस्था एकदम बदल जाती है। शरीर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन होने पर भी तीनों काल में किए गए कार्यों की अनुभूति में कोई अंतर नहीं आता। यदि शरीर ही आत्मा है या आत्मा क्षणिक है तो शरीर के परिवर्तन के साथ अनुभूति में भी परिवर्तन आना चाहिए। पुराने शरीर की समाप्ति के साथ-साथ पुरातन अनुभवों का भी जनाज़ा निकल जाना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं है। तीनों काल में शारीरिक परिवर्तन होने पर भी आत्मानुभूति में एकरूपता बनी रहती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनंत-अनंत भूतकाल में अनंत बार अभिनव-अभिनव शरीरों को धारण करने पर भी आत्मा के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आया और न भविष्य में ही आने वाला है। जब तक रागद्वेष एवं कर्मबन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक शरीरों का परिवर्तन होता रहेगा। एक काल के बाद दूसरे काल में या एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में शरीर बदल जाएगा, परंतु उसके साथ आत्मा में परिवर्तन नहीं आता। वह त्रिकाल में एक रूप रहता है। इससे आत्मा का अस्तित्व स्पष्टतः प्रमाणित होता है। इसमें शंका—संदेह को ज़रा भी अवकाश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में 'एव' शब्द 'इसी प्रकार' अर्थ का बोधक है। यह पद पिछले सूत्र से सम्बद्ध है। जैसे पिछले सूत्र में बताया गया है कि 'किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता।' उसी तरह प्रस्तुत में भी 'एवमेगेसिं' आदि वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि

कई एक जीवों को यह परिज्ञान नहीं होता कि 'मैं उत्पत्तिशील हूँ या नहीं? मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा?' इत्यादि। उसी उद्देश्य को लेकर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'एवं' पद का प्रयोग किया है।

'उववाइए' का अर्थ है औपपातिक। औपपातिक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव और नारकी को भी औपपातिक कहते हैं। देव-शय्या और नरक-कुम्भी—जिसमें देव और नारकी जन्म ग्रहण करते हैं—उसे उपपात कहते हैं। उपपात से उत्पन्न प्राणी औपपातिक कहलाते हैं। उक्त व्याख्या के अनुसार औपपातिक शब्द देव और नारकी का परिचायक है। परन्तु जब उक्त शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं :

“उपपातः प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रांतिः उपपातं भवः औपपातिकः”

—शीलांकाचार्य

तो इसका अर्थ हुआ—उत्पत्तिशील या जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला। प्रस्तुत प्रकरण में 'औपपातिक' दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है। फिर भी शीलांकाचार्य आदि सभी टीकाकारों ने प्रस्तुत प्रकरण में उक्त शब्द को दूसरे अर्थ में ही प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सूत्र में 'एग्रेसि णो णायं भवति' ऐसा उल्लेख किया गया है। इससे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सभी जीवों को बोध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। बहुत से जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इस बात का परिबोध हो जाता है कि 'मैं उत्पत्तिशील हूँ'। मैं अमुक गति से आया हूँ और यहां से मरकर अमुक गति में जाऊँगा। मेरी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इत्यादि। इससे यह प्रश्न उठता है कि जिन जीवों को उक्त बातों का परिज्ञान होता है, वह नैसर्गिक-स्वभावतः होता है या किसी निमित्त या साधन विशेष से होता है। इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

मूलम्—से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दि—साओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

एवमेगेसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं॥5॥

छाया—स यत् पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या), परव्याकरणेन अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वा आगतो अहमस्मि। एवमेकेषां यदि ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, योऽस्या दिशोऽनुदिशो वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः सोऽहम्।

पदार्थ—से—वह ज्ञाता। पुण—यह पद वाक्य-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। संमइयाए—सन्मति या स्वमति। परवागरणेणं—तीर्थकर के उपदेश के। सह—साथ। वा—अथवा। अण्णेसिं अन्तिए सोच्चा—तीर्थकरों के अतिरिक्त अन्य उपदेष्टाओं से सुन्नकर। जं—जो। जाणेज्जा—जानता है। तंजहा—वह इस प्रकार है। पुरत्थिमाओ वा दिसाओ—पूर्व दिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ। जाव—यावत्—यह पद अपठित अवशिष्ट पदों का संसूचक अव्यय है। अण्णयरीओ—विदिशा से। आगओ अहमंसि—मैं आया हूँ। एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्हीं जीवों को। जं—जो। णायं—ज्ञात। भवति—होता है, वह यह है कि। मे—मेरा। आया—आत्मा। उववाइए—औपपातिक—जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला। अत्थि—है। जो इमाओ दिसाओ—जो अमुक दिशा। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशा में। एवं सव्वाओ दिसाओ—सभी दिशाओं। वा—अथवा। अणुदिसाओ—विदिशाओं में। अणुसंचरइ—भ्रमण करता है। सोऽहं—मैं वही हूँ।

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से, तीर्थकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हूँ और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी भली-भांति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हूँ।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत्त यह आत्मा अनंत काल से अज्ञान अंधकार में भटक रही है, संसार में इधर-उधर ठोकें खा रही है और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान है। किन्तु जब आत्मा शुभ विचारों में परिणति करता है, सत्कार्य में प्रवृत्त होता है, अपने चिंतन को नया मोड़ देता है और साधना के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के पर्दे को अनावृत्त करने का प्रयत्न करता है और फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब आत्मा में अपने स्वरूप को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधना के द्वारा एक दिन वह अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करने में सफल भी हो जाता है और वह इन सभी बातों को जान लेता है कि मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? और कहां जाऊंगा? इत्यादि।

आत्मा के उक्त विकास में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा अपने आपको पहचान ही नहीं सकता। परंतु इस स्थिति तक पहुंचने में इस अंतरंग कारण के साथ कुछ बाह्य साधन या बहिरंग कारण भी सहायक हैं। उनका सहयोग भी आत्मविकास के लिए जरूरी है। अस्तु, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंतरंग एवं बाह्य दोनों निमित्तों की अपेक्षा है। दोनों साधनों की प्राप्ति होने पर अज्ञान का पर्दा अनावृत्त होने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है और उस उज्ज्वल-समुज्ज्वल ज्योति में आत्मा अपने पूर्व भव में किये संज्ञी पंचेन्द्रिय-पशु-पक्षी एवं मनुष्य के भवों को देखने लगता है। वह भली-भांति जान लेता है कि मैं पूर्व भव में कौन था? किस योनि में था? वहां से कब चला? इत्यादि बातों का उसे परिज्ञान हो जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में कारणभूत अंतरंग एवं बहिरंग साधनों का ही प्रस्तुत सूत्र में वर्णन किया गया है। जब कि उक्त कारणों को अंतरंग और बहिरंग दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं किया गया है। फिर भी प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्राप्ति के जो साधन बताए हैं; वे साधन अंतरंग एवं बहिरंग दोनों तरह के हैं। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्राप्ति में तीन बातों को निमित्त माना है—1. सन्मति या स्वमति, 2. पर—व्याकरण और 3. परेतर—उपदेश।

सन्मति शब्द दो पदों के सुमेल से बना है—सद्-मति। सद् शब्द प्रशंसार्थक है

और मति शब्द ज्ञान का बोधक है। साधारणतः ज्ञान प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है, क्योंकि वह आत्मा का लक्षण है, गुण है। उसके अभाव में आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अतः सामान्यतः ज्ञान का अस्तित्व समस्त आत्माओं में है, परंतु यह बात अलग है कि कुछ आत्माओं में सम्यक् ज्ञान है और कुछ में मिथ्या। मति-श्रुति ज्ञान भी ज्ञान के अवान्तर भेद हैं। ये यदि सम्यग् हों तो इनसे भी आत्मा के वास्तविक तत्त्वों का परिबोध होता है, संसार एवं मोक्ष के मार्ग का परिज्ञान होता है। मति-श्रुत ये सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते हैं। परंतु सामान्य मति-श्रुत से, मैं पूर्व भव में कौन था, इत्यादि बातों का बोध नहीं होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नहीं कहते, प्रत्युत जातिस्मरण, (पूर्व जन्मों को देखने वाला ज्ञान, मति-श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानों का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवों को नहीं होते हैं।

'सन्मति' ज्ञान-प्राप्ति का अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यों कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा में अस्तित्व रूप में स्थित ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। जब पूर्णतः आवरण हट जाता है, तो आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एवं पूर्व भव में वह किस योनि या गति में था? जान लेता है। उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभाँति जान लेता है कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूँ और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करता रहा है, वह मैं ही हूँ।

'संमइयाए' पद के संस्कृत में दो रूप बनते हैं—1. सन्मत्या और 2. स्वमत्या 'सन्मति' के विषय में ऊपर विचार कर चुके हैं। अब ज़रा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार लें।

'स्वमति' शब्द भी स्व+मति के संयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है। अतः 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान। साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा के ऊपर लगी कर्मरज को दूर करने में सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्षमार्ग का पथ-प्रदर्शक है, तत्त्व का सही निर्णय करने में सहायक है, वह आत्मज्ञान है। इस तरह मतिज्ञान

से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहां आत्म-ज्ञान से सामान्य मति एवं श्रुत ज्ञान को आत्म-ज्ञान के रूप में नहीं स्वीकार करते। क्योंकि साधारणतः ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें परोक्ष ज्ञान माना है। परन्तु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। जहाँ इन्द्रिय की पहुंच नहीं है या उनमें जहां कि रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, जातिस्मरण, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान से उन पदार्थों को भी आत्मा जान-देख लेता है। जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा आंख आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अपने संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के किए गए पूर्व भवों का बिना किसी बाधा के अवलोकन कर लेता है। इसलिए 'स्वमति' से विशिष्ट ज्ञानों को ही स्वीकार किया जाता है। उक्त ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थों का परिज्ञान करने में इन्द्रिय एवं मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती, इसी कारण इन विशिष्ट ज्ञानों को प्रत्यक्ष या आत्म-ज्ञान कहते हैं। प्रस्तुत ज्ञान से ही आत्मा को अपने स्वरूप का एवं मैं किस गति एवं दिशा-विदिशा से आया हूँ, इत्यादि बातों का बोध होता है।

‘सह संमइयाए’ इस वाक्य में व्यवहृत ‘सह’ शब्द संबंध का बोधक है। इस शब्द से आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंध अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस मान्यता में सभी दार्शनिकों में एकमत नहीं है। वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से सर्वथा पृथक् मानता है। वह कहता है कि ‘आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है। अतः वह आत्मा में समवाय-संबंध से रहता है। क्योंकि ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है। जैसे—घट के सामने आने पर आत्मा का घट से संबंध होता है, तब आत्मा को घट का ज्ञान होता है और घट के हटते ही ज्ञान भी चला जाता है। इस तरह ज्ञान पर-पदार्थ से उत्पन्न होता है और समवाय-संबंध से आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है। इस तरह वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से पृथक् मानता है, पर-पदार्थ से उत्पन्न होने वाला स्वीकार करता है।

परन्तु जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है और उसे आत्मा का स्वभाव या धर्म मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा में अनंत ज्ञान

अस्तित्व—सत्ता रूप से सदा विद्यमान रहता है। यह बात अलग है कि अनेक जीवों में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसकी अनंत ज्ञान की शक्ति प्रच्छन्न रहती है। भले ही आत्मा की ज्ञान-शक्ति पर कितना भी गहरा आवरण क्यों न आ जाए, फिर भी वह सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सकता, अनंत-अनंत काल के प्रवाह में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि आत्मा का ज्ञान-दीप सर्वथा बुझ गया हो या बुझ जाएगा। वह सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहता है। हां, कभी उसका प्रकाश मंद, मंदतर और मंदतम हो सकता है, पर सर्वथा बुझ नहीं सकता। उसका अस्तित्व आत्मा में सदा बना रहता है। वह आत्मा में समवाय-संबंध से नहीं, बल्कि तादात्म्य-संबंध से है। समवाय संबंध से स्थित ज्ञान समवाय-सम्बन्ध के हटते ही नाश को प्राप्त हो जायगा। परंतु ऐसा होता नहीं है और वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय-संबंध घट भी नहीं सकता। क्योंकि ज्ञान पर-स्वरूप नहीं, स्व-स्वरूप है। पर-पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानना अनुभव एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि ज्ञान पर-पदार्थ से ही पैदा होता है, तो फिर वह पदार्थ के हट जाने पर या सामने न होने पर उक्त पदार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए। परंतु, ऐसा होता तो है। घट के हटा लेने पर भी घट का बोध होता है। घट के साथ-साथ घट-ज्ञान आत्मा में से नष्ट नहीं होता, उसकी अनुभूति होती है। कई बार घट सामने नहीं रहता, फिर भी घट का ज्ञान तो होता ही है। यदि वह पर-पदार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो फिर घट के अभाव में घट का ज्ञान नहीं होना चाहिए और विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान से अप्रत्यक्ष में स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। विशिष्ट ऋषि-महर्षियों को योगि-प्रत्यक्ष ज्ञान वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने भी माना है, जो उनके विचारानुसार गलत ठहरेगा। परंतु ऐसा होता है और वैशेषिक स्वयं मानते भी हैं, अतः आत्मा से ज्ञान को सर्वथा पृथक् एवं उसमें समवाय-संबंध से मानना युक्तिसंगत नहीं है। ज्ञान आत्मा में तादात्म्य-संबंध से सदा विद्यमान रहता है, इसी बात को 'सह' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

२. पर-व्याकरण

ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा कारण पर-व्याकरण है। प्रस्तुत सूत्र में 'पर' शब्द तीर्थकर भगवान का बोधक है तथा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ उपदेश है। अतः तीर्थकर

भगवान के उपदेश से भी किन्हीं जीवों को ज्ञान की प्राप्ति में तीर्थकर भगवान का उपदेश निमित्त कारण बनता है, इसलिए ऐसे ज्ञान की प्राप्ति में 'पर-व्याकरण' यह कारण माना गया है। वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव ही है। फिर भी उस क्षयोपशम भाव की प्राप्ति में जो सहायक सामग्री अपेक्षित होती है या जिस साधन के सहयोग से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता है, उस साधन को भी ज्ञान-प्राप्ति का कारण मान लिया जाता है। 'पर-व्याकरण' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में सहायक होता है, तीर्थकरों का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप को समझने की भावना उद्बुद्ध होती है, चिंतन में गहराई आती है, इससे अज्ञान का आवरण हटता है, आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है और वह उसके उज्ज्वल प्रकाश में अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करती है, अतः 'पर-व्याकरण' को ज्ञान-प्राप्ति का कारण स्वीकार किया गया है।

'पर-व्याकरण' ज्ञान-प्राप्ति का बहिरंग साधन माना जाता है। तीर्थकर भगवान के उपदेश के सहयोग से जीव अपनी पूर्व-भव-संबंधी बातों को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूँ, इत्यादि। पर-व्याकरण—तीर्थकर भगवान के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके साधनापथ पर गतिशील हुए व्यक्तियों के संबंध में आगमों में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ज्ञाता धर्मकथांग में श्री मेघ कुमार मुनि का वर्णन आता है। मेघ कुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि को ही मुनियों की ठोकरीं बार-बार लगने से आकुल-व्याकुल हो उठे और उस रात्रि में प्राप्त वेदना से घबराकर उन्होंने यह निर्णय भी कर लिया कि मैं प्रातः संयम का परित्याग करके अपने राजभवन में पुनः लौट जाऊंगा। सूर्योदय होते ही मुनि मेघ कुमार संयम-साधना में सहायक भण्डोपकरण वापस लौटाने के लिए भगवान महावीर के चरणों में पहुंचे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ने मेघ मुनि के हृदय में मच रही उथल-पुथल को जान रहे थे, अतः उन्होंने वह कुछ कहें उसके पूर्व ही उसके मन में चल रहे सारे विचारों को अनावृत्त करके उसके सामने रख दिया और उसे संयम पथ पर दृढ़ करने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनाते हुए बताया कि हे मेघ! तुमने हाथी के भव में जंगल में प्रज्वलित दावानल के समय अपने द्वारा तैयार किए मैदान में अपने पैर

के नीचे आए हुए खरगोश की रक्षा करने के लिए जब तक दावानल शांत नहीं हुआ, तब तक अपने पैर को उठाए रखा, तीन पैरों पर ही खड़ा रहा। जब दावानल बुझ गया, सब पशु-पक्षी जंगल में चले गए, तब तुमने अपने पैर को नीचे रखा। पर वह पैर इतना अकड़ गया था कि तू धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और थोड़ी देर में शुभ भावों के साथ जीवन को समाप्त करके श्रेणिक के घर जन्मा। हे मेघ! कहां खरगोश की रक्षा—दया के लिए घंटों पैर को ऊँचे रखने का कष्ट—जिसके कारण तुम्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा और कहां साधुओं के चरण स्पर्श से हुआ कष्ट, जरा सोच-समझ कि तू क्या करने जा रहा है? भगवान के द्वारा अपना पूर्व भव जानकर मेघ मुनि की भावना परिवर्तित हो गई। वह चिन्तन-मनन में गोते लगान लगा और विचारों में जरा गहरा उतरने पर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। भगवान द्वारा बताया गया वर्णन साफ-साफ दिखाई देने लगा। इसी तरह भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शन सेठ को भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था। इसी तरह 'पर-व्याकरण' से होने वाले ज्ञान के अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उल्लिखित हैं।

3. परेतर उपदेश

ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन 'परेतर-उपदेश' है। वैसे 'पर' और 'इतर' समानार्थक शब्द समझे जाते हैं। परंतु प्रस्तुत सूत्र में 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का परिचायक है और 'इतर' अन्य का परिबोधक है। अतः इसका अर्थ हुआ—तीर्थंकर भगवान से अतिरिक्त ज्ञान वाले निर्ग्रन्थ मुनि, यति, श्रमण आदि महापुरुष 'परेतर' हैं। तीर्थंकर पद से रहित केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी या अवधिज्ञानी आदि विशिष्ट ज्ञानी एवं पूज्य पुरुषों के उपदेश से भी अनेक संसारी जीवों का अपने पूर्वभव का भी परिबोध होता है। इस प्रकार के बोध में 'परेतर-उपदेश' कारण बनता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'परेतर-उपदेश' को ज्ञान-प्राप्ति के अन्य साधनों में समाविष्ट किया गया है।

'परेतर-उपदेश' भी ज्ञान-प्राप्ति में बहिरंग कारण है। इस साधन से कई जीवों को अपने पूर्व भव का एवं आत्म-स्वरूप का भलीभांति बोध हो जाता है। आगमों में इस तरह ज्ञान प्राप्त करने के कई उदाहरण आते हैं। ज्ञाता धर्मकथांग में लिखा है कि मल्लि राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए 6 राजकुमार एक साथ चढ़कर आ जाते हैं और शहर को चारों तरफ से घेर लेते हैं। अन्त में उन्हें प्रतिबोध देने के लिए

मल्लि राजकुमारी ने अपने आकार की एक स्वर्णमयी पुतली बनवाई और छहों राजकुमारों को बुलाकर उन्हें संसार का स्वरूप समझाकर तथा अपनी पूर्वभव सम्बन्धी मित्रता का परिचय देकर प्रबोधित किया। राजकुमारी के उपदेश से छहों राजकुमार अपने स्वरूप का चिन्तन करने लगते हैं और फलस्वरूप उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो जाता है। इस तरह तीर्थंकर भगवान के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी के उपदेश से भी प्राप्त होनेवाले पूर्वभव के ज्ञान के अनेकों उदाहरण आगमों में मिलते हैं। अस्तु, यह साधन भी ज्ञान-प्राप्ति में कारण है।

‘सोऽहम्’ पद का अर्थ होता है—वह मैं हूँ। पहले बताया जा चुका है कि सन्मति या स्वमति, पर-व्याकरण और परेतर-उपदेश इन तीनों कारणों से कई जीवों को यह बोध प्राप्त होता है कि द्रव्य एवं भाव दिशा-विदिशाओं में भ्रमण करने वाला यह मेरा आत्मा ही है। ‘सः’ से पूर्वादि दिशाओं में भ्रमणशील इस अर्थ का बोध होता है और ‘अहम्’ पद ‘मैं’ अर्थ का परिचायक है। ‘सः+अहम्’ दोनों पदों का संयोग करने से ‘सोऽहम्’ बनता है और उसका अर्थ होता है—दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील वह मैं ही हूँ। इसी भाव को सूत्रकार ने ‘सोऽहम्’ शब्द से अभिव्यक्त किया है।

‘सोऽहम्’ में पठित ‘सः और अहम्’ दोनों पदों को आगे-पीछे करने से एक अभिनव अर्थ का भी बोध होता है। वह इस प्रकार है—‘अहं सः’ का अर्थ है, मैं वह हूँ और ‘सोऽहम्’ शब्द का अर्थ है, वह मैं हूँ। दोनों अर्थों को संकलित करने पर फलितार्थ यह निकलता है कि ‘जो मैं हूँ वही वह है और जो वह है वही मैं हूँ।’ इस फलितार्थ से आत्मा और परमात्मा के अभेद का बोध होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ‘सः’ शब्द से समस्त कर्म-बन्धन से रहित, स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित सिद्ध भगवान की आत्मा का ग्रहण किया गया है और ‘अहम्’ पद कर्मों से आबद्ध संसारी आत्मा का परिचायक है। शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा से दोनों एक समान गुण वाले हैं। अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक तो (सिद्ध भगवान) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कट साधना से समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए हैं, कर्म एवं कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा पा चुके हैं और दूसरे (संसारी जीव) कर्म-बन्धन से आबद्ध हैं, ऊर्ध्व एवं अधोगति में परिभ्रमणशील हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि सिद्ध कर्ममल से रहित हैं और संसारी आत्माएँ अभी तक कर्ममल युक्त हैं। परंतु कर्मबन्ध से रहित और कर्मबन्ध सहित जीवों के

आत्म-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि सभी आत्मा से ही परमात्मा बनते हैं। परमात्मा कोई आत्मा से अलग शक्ति नहीं है। इस संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्माओं ने ही विशिष्ट साधना के पथ पर गतिशील होकर आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त किया है और प्रत्येक आत्मा में उस पद को प्राप्त करने की सत्ता है। परन्तु, वही आत्मा परमात्मा बन सकती है, जो साधना के महारथ पर गतिशील होकर राग-द्वेष एवं कर्मबन्धन को तोड़ डालती है। प्रत्येक आत्मा सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना-साधना करके सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है।

तो निष्कर्ष यह निकला कि 'सः और अहं' में कोई मौलिक एवं तात्त्विक भेद नहीं है। 'अहं' से ही विकास करके व्यक्ति 'सः' बनता है या यों कहिए कि आत्मा ही अपने जीवन का विकास करके परमात्म पद को प्राप्त करता है। इसलिए कहा गया कि मैं 'सिर्फ मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मैं 'वह' हूँ जो 'वह है' अर्थात् मेरा स्वरूप परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं है। कुछ दार्शनिकों-विचारकों ने यह माना है कि आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व हैं और दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। एक भक्त और दूसरा भगवान् है, एक उपासक है और दूसरा उपास्य है। एक सेवक है और दूसरा स्वामी है और यह भेद सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। आत्मा सदा आत्मा ही बना रहेगा, वह भक्त बन सकता है, परन्तु भगवान् नहीं बन सकता। वह भगवान् की भक्ति करके उसकी कृपा होने पर स्वर्ग के सुख एवं ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वरत्व को नहीं पा सकता। कुछ वैदिक विचारकों ने यह तो माना कि वह ब्रह्म में समा सकता है और ब्रह्म की इच्छा होने पर फिर से संसार में परिभ्रमण कर सकता है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से आत्मा में ईश्वर बनने की सत्ता किसी भी वैदिक परम्परा के विचारकों ने स्वीकार नहीं की। उन्होंने सदा यही कहा कि 'तू तू है और वह वह है' तथा 'यह 'तू और वह या मैं और वह या आत्मा और परमात्मा' का भेद सदा बना रहेगा। परन्तु जैनदर्शन ने इस बात पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन किया है। जैनों ने स्पष्ट रूप से कहा कि आत्मा का स्वरूप न तो परमात्म-स्वरूप से सर्वथा भिन्न ही है और न परमात्मा या ब्रह्म का अंश ही है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। कर्म से आबद्ध होने के कारण वह परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु उसमें भी परमात्मा बनने की शक्ति है। इसलिए जैनों ने स्पष्ट भाषा में कहा

कि हे आत्मन्—‘तू तू नहीं, तू वह है’ अर्थात् ‘तू’ केवल संसार में परिभ्रमण करने वाला आत्मा ही नहीं है, बल्कि पुरुषार्थ के द्वारा कर्म-बन्धन को तोड़कर परमात्मा भी बन सकता है। इसलिए तू अपने को उस रूप में देख। यही ‘अहम्’ से ‘सः’ बनने का या आत्मा से परमात्मा बनने की साधना का या ‘सोऽहम्’ का चिन्तन-मनन एवं आराधना करने का एक मार्ग है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। यथोचित साधन-सामग्री के उपलब्ध होने पर आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म पद को पा सकता है। आगमों में बड़े विस्तार के साथ साधनों का वर्णन किया गया है। साधनों के लिए अनेक साधन बताए गए हैं। उन साधनों में ‘सोऽहं’ का ध्यान, चिन्तन-मनन, अर्थ-विचारणा एवं मन्त्रजाप भी एक साधन है। साधना के पथ पर गतिशील साधक को आत्मविकास का प्रशस्त पथ दिखाने के लिए ‘सोऽहं’ का चिन्तन एवं ध्यान उज्ज्वल प्रकाश स्तम्भ है। जिसके ज्योतिर्मय आलोक में साधक आत्मविकास के पथ में साधक एवं बाधक तथा हेय एवं उपादेय सभी पदार्थों को भलीभांति जान लेता है और हेय उपादेय के परिज्ञान के अनुसार हेय पदार्थों से निवृत्त होकर साधना में, संयम में प्रवृत्त होता है, संयम में सहायक पदार्थों एवं क्रियाओं को स्वीकार करके सदा आगे बढ़ता है। इस प्रकार यथायोग्य विधि से ‘सोऽहं’ की विशिष्ट भावना का चिन्तन करता हुआ साधक निरन्तर आगे बढ़ता है, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता चलता है और एक दिन जाति-स्मरण ज्ञान, अवधि ज्ञान या मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का समूलतः क्षय करके अपनी आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान—केवल ज्ञान को प्रकट कर लेता है। जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव में निरन्तर किए गए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के संख्यात भवों को अवधि एवं मनःपर्यव ज्ञान से संख्यात और असंख्यात भवों को तथा केवल ज्ञान से अनन्त-अनन्त भवों को देख-जान लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्राप्ति के तीन कारणों का निर्देश किया गया है—1. सन्मति या स्वमति, 2. पर-व्याकरण और 3. परेतर-उपदेश। उक्त साधनों से मनुष्य अपने पूर्वभव की स्थिति को भली-भांति जान लेता है और उसे यह भी बोध हो जाता है कि इन योनियों में एवं दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील मैं ही हूँ। इससे उसकी साधना में दृढ़ता आती है, चिन्तन-मनन में विशुद्धता आती है।

उपर्युक्त त्रिविध साधनों से जो जीव—आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह आत्मवादी कहा गया है। जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है और जो लोकवादी होता है, वही कर्मवादी कहा जाता है और जो कर्मवादी है, वही क्रियावादी कहलाता है। आगे के सूत्र में इन्हीं भावों का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

मूलम—से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी॥6॥

छाया—स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी।

पदार्थ—से—वह, अर्थात् आत्मा के उक्त स्वरूप को जानने वाला।
आयावादी—आत्मवादी, आस्तिक है, वही। लोयावादी—लोकवादी है, वही।
कम्मावादी—कर्मवादी है, वही। किरियावादी—क्रियावादी है।

मूलार्थ—जिस साधक ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, वही आत्मवादी बन सकता है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। जो आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर सकता है, वही आत्मा लोक के स्वरूप को स्पष्टतः समझ एवं समझा सकता है। जो लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वही कर्म के स्वरूप को बता सकता है। जो कर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है, वही वास्तव में क्रिया—आचरण के स्वरूप का वास्तविक वर्णन कर सकता है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में बताए गये साधनों से जब किन्हीं जीवों को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है तो उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान भली-भांति हो जाता है। तब वह आत्मा, आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से विवेचन करने वाले व्यक्ति को ही आगमिक भाषा में आत्मवादी कहा है। आचार्य शीलांक ने लिखा है—

“आत्मवादीति आत्मानं वदितुं शीलमस्येति”

अर्थात्—आत्मतत्त्व के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति आत्मवादी कहलाता है।

जो व्यक्ति आत्मस्वरूप का ज्ञाता है, वही लोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है, और इस क्रम से जो लोक-स्वरूप को भलीभांति जानता है, वही कर्म और

क्रिया का परिज्ञाता होता है। इस तरह एक का ज्ञान दूसरे पदार्थ का जानने में सहायक है। जब आत्मा एक तत्त्व को भलीभांति जान लेता है, तो वह दूसरे तत्त्व के स्वरूप को भी सुगमता से समझ सकता है, क्योंकि लोक में स्थित तत्त्व एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। आत्मा भी तो लोक में ही स्थित है, लोक के बाहर उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसी तरह लोक एवं कर्म का संबंध रहा हुआ है। कर्म भी लोक—संसार में स्थित जीवों के बँधते हैं। कर्म और क्रिया का संबंध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्वरूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचारांग सूत्र में आगे बताया है कि जो व्यक्ति एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है—

“जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ”—

वस्तु का विवेचन करने के लिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जब तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तब तक उसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान-प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता एवं परिज्ञात विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन कर सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म-जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असंख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी अखण्ड, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त है। वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप में स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव में देखा जाए तो वह न सांख्य मत के अनुसार एकांत—कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य—क्षणिक ही है। जैनदर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं। किसी भी द्रव्य में एकान्तता को अवकाश ही

नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुणयुक्त है। अतः जैनदर्शन ने अनुभव-सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञानदर्शन आत्मा का गुण है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञानदर्शन की पर्यायें बदलती रहती हैं तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में, परिणामों तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सब पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है। उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता। इस दृष्टि से आत्मा नित्य भी और अनित्य भी, अर्थात्—परिणामी नित्य—नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार-परिमाण आदि के संबंध में भी रही हुई है। जैनदर्शन वेदान्त-सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर, वह दोनों के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से लोक में स्थित अनन्त-अनन्त आत्माएं समान गुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सबमें समानता है, क्योंकि सभी आत्माएं असंख्यात प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य हैं। इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र में कहा गया है—‘एगे आया’ अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा से सभी आत्माएं अलग-अलग हैं, सबका ज्ञानदर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग-अलग है, सबका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। संसार में परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दुःख का संवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है—किसी में ज्ञान का उत्कर्ष है, तो किसी में अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रखकर आगम में कहा गया कि आत्माएं अनन्त हैं¹ और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभवगम्य हैं। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्ततः एक या अनेक न कहकर ‘एकानेक’ कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक-अणुपरिमाण वाला मानते हैं। जैनों

को दोनों मान्यताएं स्वीकार नहीं हैं, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण—आकार रूपी पदार्थों के होते हैं और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म-प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म-प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं, वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माएं अनंत हैं और प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं और आत्मप्रदेश स्वभाव से संकोच-विस्तार वाले हैं। जैसा छोटा या बड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को संकोच भी कर लेती हैं और फैला भी देती हैं। जैसे—विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे-से कमरे में रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट् प्रकाश छोटे-से कमरे में समा जाता है। यों कहना चाहिए कि दीपक को छोटे-से कमरे से उठाकर विशाल हॉल में ले जाते हैं तो कमरे के थोड़े-से आकाश-प्रदेशों पर स्थित प्रकाश हाल के विस्तृत आकाश-प्रदेशों पर फैल जाता है और हॉल से कमरे में आते ही अपने प्रकाश को संकुचित कर लेता है। यही स्थिति आत्म-प्रदेशों की है। जैसा—छोटा या बड़ा शरीर मिलता है, उसी में असंख्यात आत्म-प्रदेश स्थित हो जाते हैं। सिद्ध अवस्था में शरीर नहीं है, वहां आत्मा का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए—जिस शरीर में से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होती है, उस शरीर के तीन भाग में से दो भाग जितने आकाश-प्रदेशों को वह आत्मा घेरता है।¹ शरीर की दृष्टि से अनन्त आत्माओं के विभिन्न आकार वाले शरीर हैं तथा विभिन्न आकार युक्त शरीरों में से सिद्ध हुए हैं, अतः सभी आत्माओं का परिमाण-आकार एक एवं नियत नहीं हो सकता। इसी अपेक्षा से जैनदर्शन ने आत्मा का मध्यम अर्थात् अनियत या शरीर प्रमाण आकार माना और यह अनुभवगम्य भी है।

आत्मा को शरीर-परिमाण या मध्यम परिमाण वाला मानने से आत्मा में अनित्यता का दोष आ जाएगा। ठीक है, अनित्यता से बचने के लिए वास्तविकता को ठुकराना

1. दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं। तत्तो तिभागहीणं सिद्धाणोगाहणा भणिया।

युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आत्मा एकांत नित्य भी तो नहीं है। यह हम पहले बता चुके हैं कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। अतः अनित्यता कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप अनित्य भी है। अस्तु, आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना चाहिए। यदि आत्मा को अणु मानते हैं, तो शरीर में होने वाले सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हो सकेगी। क्योंकि यदि आत्मा अणुरूप होगा, तो फिर वह शरीर के एक प्रदेश में रहेगा, सारे शरीर में नहीं रह सकता। अतः शरीर के जिस भाग में वह नहीं होगा, उस भाग में सुख-दुःख का संवेदन नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को पूरे शरीर में सुख-दुःख का संवेदन होता है और यदि आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानते हैं तो उसमें, क्रिया नहीं होगी, स्वर्ग-नरक एवं बन्ध-मुक्ति नहीं घट सकेगी। इसलिए आत्मा को अणु एवं व्यापक मानना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। अतः उसे मध्यम—शरीर परिमाण वाला मानना चाहिए।

जैसे अनुभूति एवं स्मृति का आधार एक ही है। उसी तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आधार भी एक है। अनुभव करने वाला और अपने कृत अनुभवों को स्मृति में संजोए रखने वाला भिन्न नहीं है। ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव कोई करे और उन अनुभूतियों को स्मृति में कोई और ही रखे। उसी तरह कर्म का कर्त्ता एवं कृत कर्म का भोक्ता एक ही होता है। या यों कहना चाहिए कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भी भोगता है और जो फल भोगता है, वह अपने कृत कर्म का ही फल भोगता है। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक व्यक्ति—आत्मा में घटित होते हैं। सांख्य का यह मानना कि आत्मा स्वयंकर्म नहीं करता है, कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति द्वारा कृतकर्म का फल पुरुष—आत्मा भोगती है तथा बौद्ध दर्शन का यह मानना कि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो जाती है, उस विनष्ट आत्मा द्वारा कृत कर्म का फल उसके स्थान में उत्पन्न दूसरी आत्मा या उक्त आत्मा की सन्तति भोगती है, किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं कहे जा सकते। व्यवहार में भी हम सदा देखते हैं कि जो कर्म करता है, उसका फल दूसरे को या उसकी सन्तान को नहीं मिलता। यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसका स्वाद उसे ही आता है, न कि उसके किसी दूसरे साथी या उसकी सन्तान को आम का स्वाद आता हो। अस्तु,

कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों आत्मा में ही घटित होते हैं। प्रकृति में कर्तृत्व नहीं, कर्तृत्व आत्मा में ही है और उसका फल भी उसकी सन्तान को न मिलकर उसी आत्मा को मिलता है। इससे आत्मा की परिणामी नित्यता भी सिद्ध एवं परिपुष्ट होती है।

जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वह लोक के स्वरूप का भी भली-भाँति विवेचन कर सकता है, क्योंकि आत्मा की गति लोक में ही है और वह लोक में ही स्थित है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य इसे गति देने एवं ठहरने में सहायक होते हैं, अर्थात् जहां धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व है, वहीं आत्मा गति कर सकती है एवं वहीं ठहर भी सकती है और एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमणशील आत्मा कर्म पुद्गलों से आबद्ध है। इससे पुद्गलों के साथ भी उसका संबंध जुड़ा हुआ है। अतः यों कह सकते हैं कि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल चारों द्रव्य लोकाकाश पर स्थित हैं या उक्त चारों द्रव्यों का जहां अस्तित्व है, उसे लोक कहते हैं। इस तरह लोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान के साथ लोक के स्वरूप का परिबोध हो जाता है और जिसे लोक के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह उसका विवेचन भी कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मवादी के पश्चात् लोकवादी का उल्लेख किया गया।

आत्मा का लोक में परिभ्रमण कर्म-सापेक्ष है। वही आत्मा संसार-लोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिभ्रमण करती है, जो कर्म-शृंखला से आबद्ध है। अस्तु, लोक के ज्ञान के साथ कर्म का भी परिज्ञान हो जाता है और कर्म को जानने वाला आत्मा उसके स्वरूप का सम्यक्तया प्रतिपादन भी कर सकता है। इसी कारण लोकवादी के पश्चात् कर्मवादी का उल्लेख किया गया।

कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है। मन-वचन और शरीर की प्रवृत्ति-विशेष को 'क्रिया' कहते हैं। इस मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति से आत्मा के साथ कर्म का संबंध होता है। इस तरह कर्म और क्रिया का विशिष्ट सम्बन्ध होने से, कर्म का ज्ञाता क्रिया को भली-भाँति जान लेता है और उसका अच्छी तरह वर्णन भी कर सकता है। इसलिए कर्मवादी के पश्चात् क्रियावादी को बताया गया।

मुमुक्षु के लिए आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सबका यथार्थ जाने बिना साधक मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता

और उसकी साधना में भी तेजस्विता नहीं आ पाती। इन सबमें आत्मतत्त्व मुख्य है। उसका सम्यक्तया बोध हो जाने पर, अवशेष तीनों का ज्ञान होते देर नहीं लगती, उसमें फिर अधिक श्रम नहीं करना पड़ता; क्योंकि लोक, कर्म एवं क्रिया का आत्मा के साथ संबंध जुड़ा हुआ है। अतः शास्त्रकार का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि जो एक को भली-भाँति जान लेता है, वह सबका ज्ञान कर लेता है। यह लोक-कहावत भी सत्य है—‘एक साधे सब सधे।’

कर्म-बन्धन से आबद्ध आत्मा ही संसार में परिभ्रमण करती है। कर्म का कारण क्रिया है, अर्थात् क्रिया से कर्म का प्रवाह प्रवहमान रहता है। अतः अब सूत्रकार क्रिया के संबंध में कहते हैं—

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि॥७॥

छाया—अकार्षं चाहं, कारयामि चाहं, कुर्वतश्चापि समनुज्जो भविष्यामि।

पदार्थ—अकरिस्सं चऽहं—मैंने किया। कारवेसु चऽहं—मैं कराता हूँ। करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि—करने वाले व्यक्तियों का मैं अनुमोदन—समर्थन करूँगा।

मूलार्थ—मैंने किया था, मैं कराता हूँ और करने वाले अन्य व्यक्तियों का मैं अनुमोदन—समर्थन करूँगा।

हिन्दी-विवेचन

व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया कार्य के करने, कराने और समर्थन-अनुमोदन करने की अपेक्षा से तीन प्रकार की है और संसार का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी तीनों कालों में क्रियाशील रहता है। इसलिए क्रिया के उक्त भेदों का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और इस अपेक्षा से क्रिया के 9 भेद होते हैं; क्योंकि भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं और प्रत्येक काल के तीन भेद होने से कुल नव भेद बनते हैं। भूतकाल के तीन भेद इस प्रकार बनते हैं—

1. मैंने अमुक क्रिया का अनुष्ठान किया था।
2. मैंने अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवाया था।

3. मैंने अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन किया था।
वर्तमान काल में की जाने वाली क्रिया के तीन रूप इस प्रकार बनते हैं—

1. मैं अमुक क्रिया या कार्य कर रहा हूँ।
2. मैं अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करा रहा हूँ।
3. मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता हूँ।

अनागत-भविष्य काल में की जाने वाली क्रिया के भी तीन रूप बनते हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. मैं अमुक दिन अमुक कार्य करूँगा।
2. मैं दूसरे व्यक्ति से अमुक कार्य कराऊँगा।
3. मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करूँगा।

इस तरह क्रिया के 9 भेद बनते हैं और ये मन-वचन और शरीर से सम्बन्धित भी रहते हैं। अतः तीनों योगों के साथ इनका सम्बन्ध होने से, क्रिया के $(9 \times 3 = 27)$ भेद हो जाते हैं।

‘अकरिस्सं चऽहं... ..’ आदि प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सर्वप्रथम ‘मैंने किया’ भूतकालीन कृत क्रिया का, तदनन्तर ‘मैं कराता हूँ’ वर्तमानकालिक कारित क्रिया का और अन्त में ‘मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूँगा’ इस भविष्यत्कालीन अनुमोदित क्रिया का उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र में क्रिया के नव भेदों में से—मैंने किया, मैं कराता हूँ और मैं अनुमोदन करूँगा—इन तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया है। प्रश्न हो सकता है कि जब सूत्रकार ने क्रिया के तीन भेदों की ओर ही इशारा किया है, तब फिर क्रिया के नव भेद मानने के पीछे क्या आधार है? यदि क्रिया के नव भेद होते हैं तो सूत्रकार ने उन नव का उल्लेख न करके तीन का ही उल्लेख क्यों किया?

इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र में तीन चकार और एक अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चकार एवं अपि शब्दों से तीनों कालों की प्रयुक्त क्रियाओं में अवशिष्ट क्रियाओं का बोध हो जाता है। सूत्र को अधिक लम्बा एवं शब्दों से अधिक बोझिल न बनाने के लिए क्रिया के मुख्य तीन—कृत, कारित और अनुमोदित भेदों का उल्लेख करके, शेष भेदों को च एवं अपि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह हम पहले बता चुके हैं कि आचाराङ्ग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र रूप रचा

गया है; थोड़े शब्दों में अधिक भाव एवं अर्थ व्यक्त किया गया है। वस्तुतः सूत्र का तात्पर्य ही यह है कि थोड़े-से-थोड़े शब्दों में अधिक बात कही जाए, आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग न किया जाए। इसी दृष्टि को सामने रखकर सूत्रकार ने च एवं अपि शब्द से स्पष्ट होने वाले छह क्रिया-भेदों के लिए शब्द-रचना न करके उसे तीन भेदों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। हां, यह समझ लेना आवश्यक है कि किस चकार से किस क्रिया का ग्रहण करना चाहिए।

‘अकरिस्सं चऽहं’ में प्रयुक्त ‘चकार’ भूतकालीन ‘कारित और अनुमोदित’ क्रिया का परिबोधक है। ‘कारवेसु चऽहं’ यहां व्यवहृत ‘चकार’ वर्तमानकालिक ‘कृत और अनुमोदित’ क्रिया का परिचायक है और ‘करओ आवि (चापि)’ इस पद में प्रयोग किया गया ‘चकार’ भविष्यत्कालीन ‘कृत और कारित’ क्रिया का संसूचक है। प्रस्तुत सूत्र में दिये गये ‘अपि’ शब्द से मन, वचन और काय शरीर इन तीन योगों के साथ क्रिया के नवभेदों के सम्बन्ध का परिबोध होता है। इस तरह थोड़े से शब्दों में सूत्रकार ने क्रिया के 27 भेदों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है और इसी आधार पर क्रिया के 27 भेद माने गए हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भूत, वर्तमान एवं भविष्यकाल-सम्बन्धी क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित एक-एक क्रिया का वर्णन करके चकार एवं अपि शब्द से अन्य क्रियाओं का निर्देश कर दिया है। परन्तु आचार्य शीलांक का अभिमत है कि प्रस्तुत सूत्र में भूत और भविष्यत् दो कालों की ओर निर्देश किया है। उन्होंने प्रस्तुत सूत्र की संस्कृत-छाया इस प्रकार बनाई है—

“अकार्षं चऽहं, अचीकरं चऽहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि”

आचार्य शीलांक के विचार से ‘अकरिस्सं-अकार्षम्’ यह भूतकालिक कृत क्रिया है और ‘कारवेसु-अचीकरम्’ यह भूतकालीन कारित क्रिया है और ‘करओ आवि समणुन्ने भविष्यस्सं’ यह भविष्यत्कालीन अनुमोदित क्रिया है। इस तरह सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दो कालों का निर्देश किया है, तीसरे वर्तमान काल का ग्रहण उन्होंने इस न्याय से किया है कि आदि और अन्त का ग्रहण करने पर मध्यमवर्ती का ग्रहण हो जाता है।¹

प्रश्न हो सकता है कि जब आदि और अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण हो जाता है, तो फिर सूत्रकार ने 'कारवेसुं चऽहं' इस भूतकालिक कारित क्रिया का निर्देश क्यों किया? उक्त न्याय से इस भूतकालिक कारित क्रिया-भेद का ग्रहण किया जा सकता था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शीलांक ने कहा—

“अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः ‘कारवेसुं चऽहं’ इति सूत्रेणोपात्तः।”

अर्थात्—आदि और अन्त के ग्रहण करने पर मध्यवर्ती पदों का ग्रहण हो जाता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'कारवेसुं चऽहं' पद का प्रयोग किया है। यदि उक्त पद का प्रयोग न किया गया होता तो इस न्याय की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती थी? अतः उक्त न्याय का यथार्थ रूप समझ में आ सके, इसलिए इस पद का प्रयोग किया गया। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि मूल सूत्र में प्रयुक्त तीन चकार से क्रियाओं का और अपि शब्द से मन, वचन और काय-शरीर का ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में यह समझने एवं ध्यान देने की बात है कि मन, वचन और शरीर के द्वारा तीनों कालों में होने वाली कृत, कारित और अनुमोदित सभी क्रियाएं आत्मा में होती हैं। उक्त सभी क्रियाओं में आत्मा की परिणति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है; क्योंकि धर्मी में परिवर्तन हुए बिना धर्मी में परिवर्तन नहीं होता। इसी अपेक्षा से पहले आत्मा में परिणमन होता है, बाद में क्रिया में परिणमन होता। अतः क्रिया के परिणमन को आत्म-परिणति पर आधारित मानना उचित एवं युक्तिसंगत है। निष्कर्ष यह निकला कि 'अहं' पद से अभिव्यक्त जो आत्मा है, उसका परिणमन ही विशिष्ट क्रिया के रूप में सामने आता है। अतः विभिन्न कालवर्ती क्रियाओं में कर्तृत्व रूप से अभिव्यक्त होने वाला आत्मा एक ही है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं, अनुभव करते हैं कि तीनों कालों की कृत, कारित एवं अनुमोदित क्रियाएं पृथक् हैं और इन सबका पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है। तीनों कालों की क्रियाओं में कालगत भेद होने से अर्थात् विभिन्न काल-स्पर्शी होने के कारण ये समस्त क्रियाएं एक-दूसरे से पृथक् हैं, परन्तु इन विभिन्न समयवर्ती क्रियाओं में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होने वाला 'मैं' अर्थात् 'अहं' पद एक ही है। इन विभिन्न समयवर्ती विभिन्न क्रियाओं में जो एक शृंखलाबद्ध संबंध परिलक्षित हो रहा है, वह

आत्मा की एकरूपता के आधार पर ही अवलम्बित है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया एक काल-स्पर्शी है, जब कि आत्मा तीनों कालों को स्पर्श करती है। यदि आत्मा को त्रिकाल-स्पर्शी न माना जाए तो उस में त्रिकाल में होने वाली पृथक्-पृथक् क्रियाओं की अनुभूति घटित नहीं हो सकती और न उसमें भूतकाल की स्मृति एवं भविष्य के लिए सोचने-विचारने की शक्ति ही रह जाएगी। अतीत की स्मृति एवं अनागत काल के लिए एक रूपरेखा तैय्यार करने की चिन्तन-शक्ति आत्मा में देखी जाती है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामी नित्य है, त्रिकाल को स्पर्श करती है।

यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति शक्ति और धन के मद में आसक्त होकर यौवनकाल में दुष्कृत्य एवं अपने से दुर्बल व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। परन्तु वृद्ध अवस्था में शक्ति का हास हो जाने के कारण वे अपने द्वारा कृत दुष्कृत्यों का स्मरण करके दुःखी होते हैं और पश्चात्ताप करते हुए एवं आंसू बहाते हुए भी नज़र आते हैं। उनकी दुर्दशा को देखकर आस-पास में निवसित लोग भी कहने से नहीं चूकते कि इस भले आदमी ने धन, यौवन और अधिकार के नशे में कभी नहीं सोचा कि मुझे इन दुष्कृत्यों का फल भी चखना पड़ेगा, उसने यह भी कभी नहीं विचारा कि ये क्षणिक शक्तियाँ नष्ट हो जाएंगी, तब मेरी क्या दशा होगी, उसी का यह परिणाम है। इस से विभिन्न समय में होने वाली त्रिकालवर्ती क्रियाओं का एक-दूसरे काल के साथ स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रथम समय में वर्तने वाला वर्तमान दूसरे समय में अतीत की स्मृति में बदल जाता है और भविष्य के क्षण धीरे-धीरे क्रमशः वर्तमान के रूप में वर्त कर अतीत की स्मृति में विलीन हो जाते हैं। इसी कारण वर्तमान में अतीत की मधुर एवं दुःखद स्मृतियाँ तथा अनागत काल की योजनाएँ बनती हैं; और इन त्रिकालवर्ती क्रियाओं की शृङ्खला को जोड़ने वाली आत्मा सदा एकरूप रहती है। वह पर्यायों की दृष्टि से प्रत्येक काल में परिवर्तित होती हुई भी द्रव्य की दृष्टि से एकरूप है। उसकी एकरूपता प्रत्येक काल में स्पष्ट प्रतीत होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिकालवर्ती क्रियाओं में एकीकरण स्थापित करने वाली आत्मा है और वह परिणामी नित्य है। जैसे एक भव में अतीत, वर्तमान एवं अनागत की क्रियाओं के साथ आत्मा का संबन्ध है, उसी तरह अनन्त भवों की क्रियाओं के साथ भी आत्मा का एवं वर्तमान भव से संबन्धित क्रियाओं का संबन्ध है। क्योंकि

वर्तमान काल एक समय का है, दूसरे समय ही वह भूत काल हो जाता है, इस तरह अनन्त-अनन्त काल वर्तमान काल पर्याय में से अतीत काल की संज्ञा में परिवर्तित हो चुका है और अनागत काल का आने वाला प्रत्येक समय क्रमशः वर्तमान काल की पर्याय को स्पर्श करता हुआ अतीत की स्मृति में विलीन हो रहा है। संसार में अनन्त-अनन्त काल से ऐसा होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। क्योंकि अतीत और अनागत काल अनन्त हैं और अनन्त का कभी अन्त नहीं आता। अतः अनन्त भवों के अनन्त काल का भी संसार में परिभ्रमणशील आत्मा से संबन्ध रहा है। जैसे शरीर की बदलती हुई बाल, यौवन एवं वृद्ध अवस्थाओं में आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। उसी तरह अनेक योनियों में परिवर्तित विभिन्न शरीरपर्यायों में भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

वर्तमान की स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त काल में किये हुए अनन्त भवों में आत्मा का अस्तित्व रहा है। इससे अनन्त-अनन्त काल के साथ एक धारा-प्रवाह के रूप में एकरूपता स्पष्ट प्रतीत होती है। हम यह देखते हैं कि वर्तमान भव में आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है। इस से हम यह भली-भाँति जान सकते हैं कि इस भव के पूर्व भी आत्मा का किसी अन्य शरीर के साथ संबन्ध था और भविष्य में भी जब तक यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहेगी, तब तक किसी-न-किसी योनि के शरीर के साथ इसका संबन्ध रहेगा ही। इससे त्रिकालवर्ती अनन्त काल एवं अनन्त भवों के धारा-प्रवाहिक संबन्ध तथा विभिन्न काल एवं भवों में परिवर्तित अवस्थाओं में भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सूत्रकार ने त्रिकालवर्ती क्रियाओं और आत्मा के घनिष्ठ संबन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से क्रियावाद के द्वारा आत्मवाद की स्थापना की है।

प्रस्तुत सूत्र में क्रिया के 27 भेदों का विवेचन किया गया है। ये क्रियाएं इतनी ही हैं, न इनसे कम हैं और न अधिक हैं और ये क्रियाएं कर्म-बन्धन का कारण भी हैं। अतः इस बात को सम्यक्तया जान कर इनसे बचना चाहिए या इनका परित्याग करना चाहिए। इसी बात का निर्देश सूत्रकार ने आगे के सूत्र में इस प्रकार किया है—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति॥४॥

छाया—एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञातव्या भवन्ति ।

पदार्थ—एयावंती सव्वावन्ती—इतने ही सब । लोगंसि—लोक में । कम्मसमारम्भ—कर्म बन्धन की हेतु-भूत क्रियाएं । परिजाणियव्वा भवन्ति—जाननी चाहिए ।

मूलार्थ—समस्त लोक में कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रियाएँ इतनी ही जाननी-समझनी चाहिए, इनसे न्यूनाधिक नहीं ।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि तीनों काल में कृत, कारित एवं अनुमोदित की अपेक्षा से क्रिया के नव भेद बनते हैं और इन सब का मन, वचन और काया—शरीर के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ होने से, इनके 27 भेद होते हैं । प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि सारे लोक में 27 तरह की क्रियाएं हैं, इस से अधिक या कम नहीं हैं और ये क्रियाएं कर्म-बन्धन के लिए कारणभूत हैं । क्योंकि जब आत्मा में क्रियाओं के रूप में परिणति होती है तो उसके आस-पास में स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में संग्रह होता है । इस तरह ये क्रियाएँ कर्म-बन्ध का कारण-भूत मानी जाती हैं । इनके अभाव में आत्मा कर्मों से सर्वथा अलिप्त रहती है । क्योंकि कृत, कारित आदि क्रियाओं के कारण आत्मा में गति होती है और आत्म-परिणामों की परिणति के अनुरूप आस-पास के क्षेत्र में स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में गति होती है और उनका आत्म-प्रदेशों के साथ संबन्ध होता है । अतः जब तक आत्मा में क्रियाओं का प्रवाह प्रवहमान है, तब तक कर्म का आगमन भी होता रहता है । हां, यह बात अवश्य समझने की है कि क्रिया से कर्मों का संग्रह होता है, कर्मों के स्वभाव के अनुसार आत्म-प्रदेशों के साथ उनका संबन्ध होता है; परन्तु जब तक क्रिया के साथ राग-द्वेष एवं कषाय की परिणति नहीं होती, तब तक उनका आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध नहीं होता, या यों कहना चाहिए कि क्रिया से प्रकृति और प्रदेश बन्ध, अर्थात् कर्मों का संग्रह मात्र होता है और राग-द्वेष एवं काषायिक परिणति से अनुभाग—रस

बन्ध और स्थिति बन्ध होता है और यही बन्ध आत्मा को संसार में परिभ्रमण करने की स्थिति में ले आता है।

क्रिया या योगों की प्रवृत्ति से कर्म का संग्रह होता है और वह कर्म-बन्ध के कारणभूत है। परन्तु राग-द्वेष रहित योग-प्रवृत्ति कर्म-संग्रह अवश्य करती है, परन्तु बन्ध का कारण नहीं बनती। जैसे तेरहवें गुणस्थान में क्रियाओं एवं योगों की प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से कर्म-प्रवाह का आगमन भी होता है, परन्तु राग-द्वेष की परिणति के अभाव में कर्म का बन्ध नहीं होता। वे कर्म-पुद्गल आते हैं, और तुरन्त झड़ जाते हैं, आत्मा के साथ बन्ध नहीं पाते। अस्तु, हम यों कह सकते हैं कि राग-द्वेष की परिणति से युक्त क्रियाएं कर्म-बन्ध की कारणभूत हैं और वे 27 ही हैं, इस बात को भली-भांति जान-समझ लेना चाहिए।

यह सत्य है कि क्रियाओं से शुभ एवं अशुभ दोनों तरह के कर्म-पुद्गलों का आगमन होता है। शुभ कर्म पुद्गल आत्म-विकास में सहायक होते हैं, फिर भी हैं तो त्याज्य ही। क्योंकि उनका सहयोग विकास-अवस्था में या यों कहिए कि साधना-काल में उपयोगी होने से साधक-अवस्था में आदरणीय भी है, परन्तु सिद्ध-अवस्था में उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः इस अवस्था में क्रिया-मात्र ही त्याज्य है। इस निश्चयनय की दृष्टि से शुभ क्रिया भी कर्म-बन्ध का एवं संसार में—भले ही स्वर्ग में ही ले जाए; फिर भी है तो संसार ही, बंधन ही—परिभ्रमण कराने का कारण होने से निश्चय दृष्टि से सदोष एवं त्याज्य है।

निश्चय दृष्टि से क्रिया सदोष है, फिर भी आत्म-विकास के लिए उस का ज्ञान करना आवश्यक है। दोष को दोष कहकर उस की सर्वथा उपेक्षा कर देना या उसके स्वरूप को समझना ही नहीं, यह जैन धर्म को मान्य नहीं है। वह दोषों का परिज्ञान करने की बात भी कहता है। क्योंकि जब तक दोषों का एवं उन के कार्य का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक साधक उससे बच नहीं सकता। इसलिए कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप एवं उनसे होने वाले संसार-परिभ्रमण के चक्र को समझना-जानना भी जरूरी है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि मुमुक्षु को इनके स्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जीवन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, उसके बिना जीवन का विकास होना कठिन ही नहीं असंभव है। ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए

भगवान महावीर ने यह कहकर ज्ञान की उपयोगिता एवं महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ज्ञान-सम्पन्न आत्मा जीवादि नव तत्त्वों को जान लेता है और वह चार गति रूप संसार में विनाश को प्राप्त नहीं होता¹। वस्तुतः ज्ञान के बिना हेय-उपादेय का बोध नहीं होता। इसलिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके बाद अन्य साधना या क्रियाओं की²। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रियाओं की जानकारी कराई है।

जब तक साधक को क्रिया-संबन्धी जानकारी नहीं हो जाती, तब तक वह साधना के क्षेत्र में विकास नहीं कर सकता, मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। संसार-सागर को पार करने के लिए क्रिया की हेयोपादेयता का परिज्ञान करना जरूरी है; क्योंकि क्रियाएं भी सभी समान नहीं हैं। हिंसा करना, झूठ बोलना, छल-कपट करना आदि भी क्रिया है और दया करना, मरते हुए प्राणी को बचाना, सत्य बोलना आदि भी क्रिया है। किन्तु दोनों में परिणामगत अन्तर है और उसी अन्तर के कारण एक हेय है, तो दूसरी उपादेय है और उसकी उपादेयता भी संसार-सागर से पार होने तक है, उसके बाद वह भी उपादेय नहीं है। ऐसे कहना चाहिए कि शुभ परिणामों से की जाने वाली शुभ क्रिया साधक अवस्था तक उपादेय है और सिद्ध अवस्था को पहुंचने पर वह भी हेय है! क्योंकि उसकी आवश्यकता साध्य की सिद्धि के लिए है, अतः साध्य के सिद्ध हो जाने पर फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अतः इस हेयोपादेयता को समझने के लिए क्रिया-संबन्धी ज्ञान की आवश्यकता है। और इसी कारण ज्ञान का जीवन में विशेष महत्व माना गया है।

इससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—1- ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है, आत्मा क्रिया के हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भांति समझ लेती है, 2- साध्य-सिद्धि में सहायक क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और 3- ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सम्यक् साधना-आराधना करके आत्मा एक दिन सिद्धि को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् समस्त क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, जन्म, जरा और मृत्यु से सदा

1. नाणसंपन्नयाए णं जीवे सच्चभावाहिगमं जणयइ।

नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसार-कन्तारे न विणस्सइ॥ —उत्तराध्ययन; 29/59.

2. पढमं नाणं तओ दया।

—दशवैकालिक, 4.

के लिए छुटकारा पा जाती है। अतः मुमुक्षु के लिए क्रियाओं का परिज्ञान करना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्धन की हेतुभूत क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता का वर्णन किया गया है और साथ में यह प्रेरणा भी दी गई कि साधक को क्रिया के स्वरूप का बोध करना चाहिए और उसे क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इनसे निवृत्त होकर ही साधक कर्म-बन्धन एवं संसार-परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जो व्यक्ति कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं से विरत नहीं होता है, उसे जिस फल की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन सूत्रकार इस प्रकार करते हैं—

मूलम्—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति। अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ॥१॥

छाया—अपरिज्ञातकर्मा खल्वयं पुरुषो य इमा दिशा, अनुदिशा अनुसंचरति, सर्वा दिशाः, सर्वा अनुदिशाः सेहेति। अनेकरूपा योनीः सन्धयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।

पदार्थ—जो पुरिसे—जो पुरुष। अपरिण्णायकम्मा—अपरिज्ञात-कर्मा होता है। खलु—निश्चय से। अयं—यह पुरुष। इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ—इन दिशा-विदिशाओं में। अणुसंचरइ—परिभ्रमण करता है। सव्वाओ दिसाओ—सब दिशाओं में। सव्वाओ अणु दिसाओ साहेति—सब विदिशाओं में जाता है। अणेगरूवाओ जोणीओ—नाना प्रकार की योनियों को। सन्धेइ—प्राप्त करता है। विरूवरूवे फासे—अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का। पडिसंवेदेइ—संवेदन करता है, अनुभव करता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं के यथार्थ स्वरूप को भलीभाँति नहीं जानता है और उनका परित्याग नहीं करता है, वह इन दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदिशाओं में कर्मों के साथ जाता है।

विभिन्न योनियों के साथ सम्बन्धित होता है और अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन एवं उपभोग करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-प्राप्ति की कारणभूत सामग्री का उल्लेख करके सुखाभिलाषी मुमुक्षु को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

“अपरिणायकम्मा” का अर्थ है—अपरिज्ञात-कर्मा। जो प्राणी कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप से तथा उसकी हेय-उपादेयता से अपरिचित है, उसे अपरिज्ञात-कर्मा कहा है। क्योंकि उसमें ज्ञान का अभाव होता है, उसे कर्म और क्रिया के स्वरूप का सम्यग् बोध नहीं होता है और सम्यग् बोध नहीं होने के कारण वह अज्ञानी व्यक्ति न हेय क्रिया का परित्याग कर सकता है और न उपादेय को स्वीकार कर सकता है। क्योंकि हेय और उपादेय क्रिया का त्याग एवं स्वीकार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान में जानना और त्यागना दोनों का समावेश हो जाता है। इसी कारण ज्ञान को परिज्ञा कहा है और परिज्ञा के ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, ये दो भेद करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का महत्त्व हेय वस्तु का या आत्मविकास में बाधक पदार्थों का त्याग करने में है।

जो व्यक्ति कर्म एवं क्रिया के यथार्थ ज्ञान से रहित है, अपरिचित है वह स्वकृत कर्म के अनुरूप द्रव्य और भाव दिशाओं में परिभ्रमण करता है। जब तक आत्मा कर्मों से संबद्ध है, तब तक वह संसार के प्रवाह में प्रवहमान रहेगा। एक गति से दूसरी गति में या एक योनि से दूसरी योनि में भटकता फिरेगा। इस भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए कर्म एवं क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण बनाना मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है। इसलिए आगमों में सम्यग् ज्ञान पूर्वक सम्यग् क्रिया करने का आदेश दिया गया है।

“अयं पुरिसे जे.....” प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त ‘पुरिसे’ यह पद ‘पुरुष’ इस अर्थ का बोधक है। पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक ने लिखा है—

“पुरि शयनात्पूर्णः सुखं-दुःखानां व पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा”

वृत्तिकार ने पुरुष शब्द के दो अर्थ किए हैं—1-सामान्य जीव और 2-मनुष्य। इसकी निरुक्ति भी दो प्रकार की है। जब पुरुष शब्द की 'पुरिशयनादिति पुरुषः' यह निरुक्ति की जाती है तो इसका अर्थ होता है—शरीर में शयन करने से यह जीव पुरुष कहा जाता है। किन्तु जब इसकी यह निरुक्ति होती है कि "सुख-दुःखानां पूर्णः इति पुरुषः" तब इसका अर्थ होता है—“जो सुखों और दुखों से व्याप्त रहता है, वह पुरुष है”। इस तरह पुरुष शब्द से जीव एवं मनुष्य दोनों का बोध होता है।

प्रस्तुत सूत्र में “इमाओ दिसाओ” ऐसा कह कर पुनः जो “सव्याओ दिसाओ” का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम पाठ में पठित दिशा शब्द सामान्य रूप से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का परिबोधक है तथा दूसरे पाठ में व्यवहृत दिशा शब्द, द्रव्य दिशा और भाव दिशा रूप इन सभी दिशाओं का परिचायक है।

“अणेगरूवाओ जोणीओ” इस पाठ में प्रयुक्त “जोणीओ” पद योनि का बोधक है। टीकाकार ने ‘योनि’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

“यौति मिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणापुद्गलैरसुमान् यासु ता योनयः प्राणिनामुत्पत्तिस्थानानि।”

अर्थात्—यह जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर-वर्गणा के पुद्गलों को लेकर जिसमें मिश्रित होता है, संबन्ध करता है, उस स्थान को ‘योनि’ कहते हैं। दूसरे शब्दों में, योनि उत्पत्ति-स्थान का नाम है। प्रज्ञापना सूत्र के योनिपद में नव प्रकार की योनि बताई गई हैं—1-शीत, 2-ऊष्ण, 3-शीतोष्ण, 4-सचित्त, 5-अचित्त, 6-सचित्ताचित्त, 7-संवृत्त, 8-विवृत्त और 9-संवृत्तविवृत्त।

इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

1-शीत योनि—जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श पाया जाए, उसे शीत योनि कहते हैं।

2-ऊष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श उष्ण हो, उसे उष्ण योनि कहा है।

3-शीतोष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श कुछ शीत और कुछ उष्ण है, उसे शीतोष्ण योनि कहा है।

4-सचित्त योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव-प्रदेशों से अधिष्ठित है, संयुक्त है, उसे सचित्त योनि कहते हैं।

5-अचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से युक्त नहीं है, उसे अचित्त योनि कहा है।

6-सचित्ताचित्त योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग आत्म-प्रदेशों से युक्त हो और कुछ भाग आत्म-प्रदेशों से रहित हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

7-संवृतयोनि—जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न हो, अप्रकट हो, आंखों द्वारा दिखाई नहीं देता हो, उसे संवृत योनि कहते हैं।

8-विवृत योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृत हो, खुला हो उसे विवृत योनि कहते हैं।

9-संवृतविवृतयोनि—जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग प्रच्छन्न हो, आवृत हो और कुछ भाग अनावृत हो, उसे संवृत-विवृत योनि कहते हैं।

गर्भज मनुष्य, तिर्यञ्च और देवों की शीतोष्ण योनि होती है। तेजस्कायिक—अग्नि के जीवों की योनि उष्ण है, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की तथा गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छिम मनुष्य और नरक के जीवों की शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीनों तरह की योनियां होती हैं।

देव और नारक जीवों की योनि अचित्त होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि सचित्ताचित्त होती है। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य, इन सब जीवों की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त तीनों तरह की योनियां होती हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि संवृत-विवृत होती है। तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य आदि जीवों की योनि विवृत होती है।

इस तरह योनियों के नव भेद होते हैं। इनका उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त योनि के और भी अनेक भेद मिलते हैं। उनकी संख्या 84 लाख बताई गई है। वह इस प्रकार है—

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन में से प्रत्येक काय की सात-सात लाख योनियां होती हैं। प्रत्येक वनस्पति काय की दस लाख योनियां हैं; साधारण वनस्पति (अनन्त काय) की चौदह लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में से प्रत्येक की दो-दो लाख; नारक, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्य की चार-चार लाख और मनुष्य की 14 लाख योनियां होती हैं। इस प्रकार संसार के समस्त जीवों की $7 + 7 + 7 + 7 + 10 + 14 + 2 + 2 + 2 + 4 + 4 + 4 + 14 = 84$ लाख योनियां बनती हैं¹। इन सब योनियों में संसारी जीव जन्म-मरण करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहने के कारण ही जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक संक्लेश एवं दुःखों का संवेदन एवं सामना करना पड़ता है।

‘विरूपरूपे फासे पडिसंवेदेइ’ प्रस्तुत वाक्य में व्यवहृत ‘विरूपरूप’ ‘स्पर्श’ शब्द का विशेषण है। ‘विरूपरूप’ शब्द ‘विरूप, रूप’ इन दो शब्दों के संयोग से बना है। विरूप बीभत्स और अमनोज्ञ को कहते हैं और रूप शब्द से स्वरूप का बोध होता है। अतः ‘विरूपरूप’ शब्द का अर्थ हुआ—बीभत्स और अमनोज्ञ स्वरूप वाला। ‘स्पर्श’ शब्द स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों का परिबोधक है, स्पर्श को उपलक्ष्य मान लेने पर वह शारीरिक एवं मानसिक दोनों दुःखों का परिचायक बन जाता है।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सूत्रकार ने ‘फासे’ शब्द का उल्लेख करके केवल स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों की ओर संकेत किया है, किन्तु हम यह देखते हैं कि घ्राण, रसना आदि अन्य इन्द्रियों के आश्रित दुःख का संवेदन होता है, पर सूत्रकार ने उन का उल्लेख नहीं किया, इसका क्या कारण है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श-इन्द्रिय आश्रित दुःख का उल्लेख करके सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियों द्वारा संवेदित दुःखों को स्पर्श-इन्द्रिय द्वारा संवेदित दुःखों में ही समाविष्ट कर दिया है। अन्य इन्द्रियों के नाम का उल्लेख न करके स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख करने का यह कारण रहा है कि स्पर्श-इन्द्रिय संसार के सभी प्राणियों को

1. पुढवी-जल-जलण-मारुय-एक्केक्के सत्त-सत्त लक्खाओ।

वणपत्ते य अणंते दस चोदस जोणि लक्खाओ॥

विगलिन्दिएसु दो-दो चउरो-चउरो य णारयसुरेसुं।

तिरिएसु हुंति चउरो चोदस लक्खा य मणुएसु॥

होती है। अन्य इन्द्रियाँ कुछ ही प्राणियों को होती हैं। जैसे—नारक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रियाँ होती हैं। परन्तु चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होती, त्रीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय नहीं होती, द्वीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय नहीं होती, और एकेन्द्रिय जीवों के केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। अन्य इन्द्रियाँ नहीं होतीं। इससे स्पष्ट हो गया कि अन्य इन्द्रियाँ कई जीवों में होती हैं और कई जीवों में नहीं भी पाई जातीं, परन्तु स्पर्श इन्द्रिय संसार के सभी जीवों को प्राप्त है और अन्य इन्द्रियाँ स्पर्श के आश्रित हैं इसलिए स्पर्श इन्द्रिय के आश्रित दुःखों एवं संक्लेशों के संवेदन का उल्लेख किया गया और इससे सभी इन्द्रियों के द्वारा संवेदित दुःख को समझ लेना चाहिए।

‘संधेइ’ इस पाठ के स्थान पर कई प्रतियों में ‘संधावइ’ (संधावति) पाठ भी उपलब्ध होता है। ‘संधेइ’ का अर्थ है—प्राप्त करता है और ‘संधावइ’ का अर्थ होता है—बार-बार गमन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपरिज्ञातकर्मा पुरुष (आत्मा) अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है अनेक और विविध दुःखों का संवेदन करता है। योनि-भ्रमण और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जिस विवेक एवं साधना की आवश्यकता होती है, उसी का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया॥१०॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता।

पदार्थ—तत्थ—इन कर्म समारम्भों के विषय में। खलु—निश्चय ही। भगवता—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा, विवेक का। पवेइया—उपदेश दिया है।

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के संबन्ध में भगवान महावीर ने परिज्ञा-विवेक का उपदेश दिया है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले बता चुके हैं कि जीवन में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश है, आलोक है। उसके उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं भोज्ज्वल प्रकाश में

मनुष्य वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को भली-भांति समझ सकता है। साधक को हेय और उपादेय वस्तुओं का तथा उन्हें त्यागने एवं स्वीकार करने का बोध भी सम्यग् ज्ञान से ही होता है। अतः ज्ञान का उपयोग एवं महत्त्व ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है, अन्य नहीं।

एक अबोध बालक ज्ञान के सही एवं वास्तविक मूल्य को नहीं समझता। उसे इस बात का पता ही नहीं है कि ज्ञान जीवन के कण-कण को प्रकाश से जगमगा देता है, उज्ज्वल आलोक से भर देता है। वह यह नहीं जानता कि ज्ञान मनुष्य का अन्तर्चक्षु है, जिसके अभाव में बाह्य चक्षु होते हुए भी वह अंधा समझा जाता है और बिना शृंग-पूंछ का पशु माना जाता है। ज्ञान के इस महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही वह दिन भर खेलता-कूदता एवं आमोद-प्रमोद करता रहता है। परन्तु ज्ञान का महत्त्व समझने के बाद उसका जीवन बदल जाता है। खेल-कूद का स्थान शिक्षा ले लेती है। वह दिन-रात ज्ञान की साधना में संलग्न रहने लगता है। यही स्थिति अज्ञ एवं ज्ञानी पुरुष की है। अज्ञ व्यक्ति जहां दिन-रात विषय-वासना में निमज्जित रहता है, भौतिक सुखों के पीछे निरन्तर दौड़ता फिरता है, वहां ज्ञानी पुरुष दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते ज्ञान की साधना में संलग्न रहता है। प्रत्येक समय प्रत्येक क्रिया में विवेक एवं ज्ञान के प्रकाश को सामने रखकर गति करता है। वह जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ की बातों में नहीं खोता। क्योंकि वह ज्ञान के, विवेक के मूल्य को जानता है और वह यह भी जानता है कि ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में गति करके ही आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है, अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

वस्तुतः ज्ञान से जीवन ज्योतिर्मय बनता है। आत्मा ज्ञान के प्रकाश में ही अपने संसार-परिभ्रमण एवं उससे मुक्त होने के कारण को जान सकती है। संसार में परिभ्रमण करने का कारण कर्म है। कर्म से आबद्ध आत्मा ही विभिन्न क्रियाओं में प्रवृत्त होती है और क्रिया से फिर कर्म का संग्रह होता है। इस तरह जब तक कर्म का अस्तित्व रहता है, तब तक संसार का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए सूत्रकार ने पिछले सूत्र में कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं का परिज्ञान कराया है। क्योंकि उन क्रियाओं एवं उनके परिणामों का सम्यक्त्व बोध होने पर साधक उनका परित्याग कर सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि

संसार-परिभ्रमण के दुःखों से बचने के लिए साधक को कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के संबन्ध में परिज्ञा—विवेक रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में विवेक का तात्पर्य है—सर्व प्रथम कर्म-बन्धन की हेतुभूतक्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना।

‘तत्थ’ इस पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक कहते हैं—

“तत्र कर्मणि व्यापारे अकार्षमहं, करोमि करिष्यामित्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे।”

अर्थात्—‘तत्र’ शब्द—मैंने किया, मैं कर रहा हूँ और मैं करूँगा, इस प्रकार की आत्म-परिणति के स्वभाव से होने वाले मन, वचन और काया के व्यापार का बोधक है। सामान्यतया यह व्यापार त्रिविध होता है, किन्तु यह कृत, कारित और अनुमोदित से संबद्ध होने के कारण नव प्रकार का बन जाता है और उक्त भेदों को भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों से संबन्धित कर लेने पर इनकी संख्या 27 हो जाती है। इन सब भेदों का वर्णन पिछले सूत्र में किया जा चुका है। अस्तु ‘तत्र’ शब्द को क्रिया के 27 भेदों का परिचायक समझना चाहिए। और मुमुक्षु को इन सभी व्यापारों में विवेक रखना चाहिए।

‘भगवता परिण्णा पवेइया’ प्रस्तुत वाक्य में प्रयुक्त ‘परिण्णा’ शब्द परिज्ञा का परिबोधक है। परिष्कृत और प्रशस्त ज्ञान का नाम परिज्ञा है। यह ‘ज्ञ परिज्ञा’ और ‘प्रत्याख्यान परिज्ञा’ के भेद से दो प्रकार की है। ज्ञ परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया का बोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से आत्मा क्रिया का परित्याग करता है।

ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। इस तरह परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को जान समझ कर एवं त्यागकर साधक संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इस पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब व्यक्ति परिज्ञा द्वारा संसार-परिभ्रमण के कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप को जान लेता है तब फिर वह कर्मास्रव की कारण रूप क्रियाओं के व्यापार में क्यों प्रवृत्त होता है? पाप एवं दुष्कृत्य करने को क्यों तत्पर होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं॥११॥

छाया—अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय जातिमरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

पदार्थ—इमस्स चेव जीवियस्स—इस जीवन के लिए । **परिवंदण-माणण-पूयणाए—**परिवन्दन—प्रशंसा, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए । **जाइ-मरण-मोयणाए—**जन्म, मरण और मुक्ति लेने के लिए । **दुक्ख-पडिघायहेउं—**दुःखों से छुटकारा पाने के लिए कुछ जीव पाप क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं ।

मूलार्थ—अनेक संसारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने के लिए, अर्थात् बहुत वर्षों तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण और मुक्ति के हेतु, दुःखों से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता । सब प्राणियों को जीवन प्रिय है । प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बनाये रखने का यथासंभव प्रयत्न करता है । अपने आपको लम्बे समय तक जीवित रखने के लिए वह उचित एवं अनुचित कार्य का तथा पाप-पुण्य का जरा भी ध्यान नहीं करता । इस तरह जीवन को स्थायी बनाए रखने की झूठी लालसा या मृगतृष्णा के पीछे वह अनेक पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है । और इसका मुख्य कारण है—नश्वर जीवन के प्रति प्राणी की मोहजन्य आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा ।

प्रस्तुत सूत्र में पाप-प्रवृत्ति में प्रवृत्त होने के आठ कारण बताए हैं—1-जीवन, 2-परिवन्दन, प्रशंसा, 3-मान-सत्कार, 4-पूजा-प्रतिष्ठा, 5-जन्म, 6-मरण, 7-मुक्ति और 8-दुःखों का प्रतिकार ।

1. जीवन—संसार में प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे का सहारा-सहयोग अपेक्षित है । बिना सहयोग के अकेला प्राणी निर्बाध गति से जीवन यात्रा नहीं कर सकता है । इसलिए जीव का कार्य रूप से लक्षण बताते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा—“एक-दूसरे

का उपकारी होना यह जीव का लक्षण है¹।” इस दृष्टि से जीवन-यात्रा को चलाने के लिए यदि एक-दूसरे का सहयोग लिया जाता है, तो वह व्यवहार दृष्टि से बुरा नहीं है। यह सत्य है कि इस क्रिया में भी हिंसा होती है, परन्तु क्रिया के कर्ता की भावना शुद्ध एवं सात्त्विक होने के कारण तथा इससे सर्वथा निवृत्त होने की असमर्थता के कारण उसे विवश होकर करनी पड़ती है, इस अपेक्षा से वह अशुभ कर्म बन्ध से बच जाता है या स्वल्प मात्रा में ही बन्ध हो पाता है।

परन्तु कुछ व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि “जीव ही जीव का भोजन है²।” जीव को मारे बिना जीवन चल ही नहीं सकता। अतः जीवन-निर्वाह के लिए दूसरे प्राणियों को त्रास देते हुए वे ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। अपने शरीर को परिपुष्ट बनाने एवं स्वास्थ्य बनाने के लिए अनेक पशु एवं पक्षियों के मांस का, खून का, चर्बी का तथा मद्य एवं आसवों (द्राक्षासवादि) का सेवन करते हैं। इस तरह वे विषय-भोगों को भोगने के लिए अनेक प्रकार के पाप-कार्यों को करते हुए शर्म एवं लज्जा का अनुभव नहीं करते और यह भी नहीं सोचते-विचारते कि जिस जीवन के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने एवं बलिष्ठ और शक्तिशाली बनाने के लिए हम दुष्कर्म कर रहे हैं, वह जीवन या शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, यह जीवन सदा रहने वाला नहीं है। इस तरह क्षणिक आनन्द के लिए वे संसारी प्राणी विविध पाप-कार्यों में संलग्न होकर अशुभ कर्मों के बोझ से भारी बनते हैं, पाप कर्मों का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करते हैं।

2. **परिवन्दन**—परिवन्दन प्रशंसा का नाम है। दुनिया में प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म का आसेवन करता है। हम देखते हैं कि कई पहलवान दुनिया में प्रशंसा पाने के हेतु मांस-मछली एवं अंडे आदि अभक्ष्य पदार्थ खाकर अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाते हैं और फिर उसका प्रदर्शन करके लोगों से प्रशंसा पाते हैं। आज भी कुछ लोग प्रतिवर्ष यूरोप में इंगलिश चैनल नदी को पार करते हैं। वह एक भयंकर नदी है, नदी क्या छोटा-सा समुद्र ही है। उसे पार करने की पीछे एक ही कामना रही हुई है और वह यह कि संसार में प्रशंसा पाना समाचार-पत्रों के मुख-पृष्ठ

1. परस्परपग्रहो जीवानाम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र

2. जीवो जीवस्य भोजनम्।

—मनुस्मृति।

पर तथा लोगों की ज़बान पर अपना नाम देखना या सुनना। कुछ लोग प्रशंसा पाने के लिए गरमी की ऋतु में भी अग्नि या पंचाग्नि तपते हैं। इस तरह प्रशंसा पाने के लिए मनुष्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति, अग्नि पशु-पक्षी आदि अनेक जीवों की हिंसा करता है और उससे पाप कर्म का संग्रह करता है।

3. मान—मान का अर्थ है—आदर-सत्कार। मनुष्य मान-सम्मान या आदर-सत्कार पाने के लिए अनेक तरह के दुष्कृत्य करता है। अपना सम्मान बनाए रखने के लिए मनुष्य छल-कपट करता है, अपने से कमजोर व्यक्तियों को आतंकित करता है, डराता है धमकाता है। इस तरह मान-सम्मान की चाह के वशीभूत हुआ मनुष्य मनुष्यों का शोषण करता है, निरपराध प्राणियों पर प्रहार करता है और यदि शक्तिशाली हुआ तो युद्ध का दावानल सुलगा देता है। किसी ने ज़रा-सा अपमान किया वा आदेश नहीं माना कि उसका दिमाग गरम हो जाता है और वह उसका बदला खून की नदी बहाकर ही लेता है। चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने केवल अपना आदेश न मानने के कारण अपने छोटे भाई बाहुबली पर आक्रमण किया था। आज भी मनुष्य अपना मान-सम्मान बढ़ाने के लिए दूसरों को कुचलते हुए ज़रा भी नहीं हिचकिचाता। इसके अतिरिक्त वह और भी दुष्कर्म करता है—अधिकारियों को रिश्वत देता है; उन्हें सामिष भोजन खिलाता है; मदिरा पिलाता है, वेश्यालय की सैर कराता है। इस प्रकार मान-सम्मान के लिए मनुष्य अनेक दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होकर पाप-कर्म का उपार्जन करता है और परिणाम स्वरूप चारगति में परिभ्रमण करता है।

4. पूजन—अन्न-वस्त्र, जल, पुष्प-फल आदि से या पशु-पक्षी का बलिदान करके देवी-देवताओं को प्रसन्न करना पूजन कहलाता है। अज्ञानी लोक पूजा के नाम पर अनेक मूक प्राणियों की तथा पुष्प, फल, जल आदि ऐकेंद्रिय जीवों की व्यर्थ हिंसा करके कर्मों का संग्रह करते हैं।

5. जाति-जन्म—जाति का अर्थ है—जन्म। पुत्र आदि के जन्म पर तथा जन्म-दिन की याद में मनुष्य अनेक तरह के आरंभ-समारंभ के कार्य करता है। इसके अतिरिक्त परलोक में अच्छा जन्म मिलेगा, इस लोभ से कई अज्ञ व्यक्ति जल-प्रवाह में प्रवाहित होते हैं, गंगा की तेज धारा में जल-समाधि लगाते हैं, स्त्री को मृतपति के साथ जला देते हैं। पति के साथ पत्नी के जलने की परम्परा को सतीप्रथा कहते हैं। कुछ लोगों

का विश्वास है कि मृतपति के साथ जलने से अगले जन्म में उसे वही पति मिलेगा। इस तरह जन्म को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य आत्महत्या-जैसा जघन्य कार्य एवं अन्य हिंसक कार्य करके कर्मों का संग्रह करता है।

6. मरण—मरण अर्थात् मृत्यु के लिए मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है। वर्तमान के दुःखमय जीवन से घबराकर कष्ट से बचने के लिए मनुष्य विष खाकर, गले में रस्सी का फंदा डालकर, मकान की छत आदि से गिरकर या अन्य किसी साधन से आत्महत्या करता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु से बचने के लिए मांस-मदिरा युक्त औषधियों का सेवन करता है, देवी-देवताओं के सामने पशुओं का बलिदान करता है। इस तरह मृत्यु के निमित्त भी मनुष्य अनेक पापजन्य कार्य करता है।

7. मोक्ष—मोक्ष—मुक्ति को कहा गया है। मुक्ति पाने के लिए भी बाल-अज्ञानी जीव हिंसा एवं पापों का आसेवन करते हैं। कई लोग मुक्ति पाने के लिए पञ्चाग्नि तपते हैं, वृक्ष से पैर बांध कर उल्टे लटक जाते हैं और नीचे आग जला देते हैं, सर्दी की ऋतु में घंटों पानी में खड़े रहते हैं, केवल कन्द-मूल या शैवाल का भोजन करते हैं। इस तरह मुक्ति पाने के हेतु अनेक पाप कार्य करके अज्ञानी जीव कर्मों का संग्रह करके संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

‘जाइमरण-मोयणाए’ का यदि ‘जातिश्च, मरणं च, मोचनं च, जातिमरणमोचनं’ यह विग्रह न मानकर ‘जातिश्च मरणं च जातिमरणे तयो मोचनाय’ ऐसा विग्रह किया जाए तो उसका अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए, हम देखते हैं कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावध क्रियाएं करते हैं, बाल तप करते हैं, पञ्चाग्नि तपते हैं। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावध अनुष्ठान करके कई अज्ञ प्राणी कर्मों का संग्रह करते हैं।

8. दुःख-प्रतिघात—दुःख-प्रतिघात का अर्थ है—दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दुःखों से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नहीं होने से अनेक अज्ञ प्राणी दुष्प्रवृत्तियों का सेवन करते हैं। संसार में अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, शोषक-शोषित आदि वर्गों एवं जातियों का चल रहा संघर्ष दुःख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दुःखों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनों से दिन-रात धन बटोरने एवं परिवार बढ़ाने में लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि

के लोभ में आकर वह अनेक दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर पापकर्मों का संग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सांसारिक कामनाओं से आवेष्टित है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मों में संलग्न रहता है। इस संबंध में संस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है—

“आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिणः सुतेषु।

कर्तुं पुनस्तेषु गुण प्रकर्ष, चेष्टा तदुच्चैः पदलंघनाय।”

अर्थात्—गृहस्थों का सर्वप्रथम प्रयास येन-केन-प्रकारेण संसार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे, स्त्री को पाने एवं तीसरे में पुण्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। तदनन्तर वे अपने पुत्रों को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस तरह घड़ी की सुई की तरह उनका प्रयास-प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओं का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओं या अभिलाषाओं के वशीभूत होकर पाप-कार्यों में प्रवृत्त होता है। जब उसे क्रिया के हेय-उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना में प्रवृत्त होता है तो फिर वह संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पापकर्मों से सहज ही बच जाता है। क्योंकि जब तक क्रिया में विवेक जागृत नहीं होता, तभी तक पाप-कर्म का बन्ध होता है। विवेक जागृत होने के बाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता¹। और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओं का परित्याग करता हुआ एक दिन संसार में रोक रखने वाली क्रिया-मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लांघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया-संबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमें विवेकपूर्वक गति करे। इससे साधक संसार-सागर को पार करके एक दिन कर्मबन्धन की कारणभूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

1. “जयं चरे, जयं चिद्रे, जयमासे, जयं सए,

जयं भुंजतो-भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ।”

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति॥12॥

छाया—एतावन्तः सर्वलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति ।

पदार्थ—लोगंसि—लोक में । एयावंती—इतने ही । सव्वावंती—सर्व । कम्म-समारम्भा—कर्म-सम्भारम्भ-क्रिया-विशेष । परिजाणियव्वा—परिज्ञातव्य-जानने योग्य । भवन्ति—होते हैं ।

मूलार्थ—समस्त लोक में कर्म-बन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं होती हैं—जितनी पूर्व सूत्र में बताई गई हैं (27 क्रियाएं) । न इस से अधिक होती हैं और न कम, ऐसा समझना चाहिए ।

हिन्दी-विवेचन

क्रिया के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है । प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि कर्मबन्धन की हेतुभूत जितनी क्रियाएं बताई गई हैं, संसार में उससे न्यूनाधिक क्रियाएं नहीं हैं । प्रस्तुत सूत्र में दृढ़ता के साथ पूर्व सूत्रों में वर्णित विषय का समर्थन किया गया है और साधक को प्रेरित किया गया है कि वह क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसमें विवेकपूर्वक गति करे, अर्थात् पहले हेय-उपादेय का भेद करके हेय को सर्वथा त्यागकर साधना में तेजस्विता लाने वाली, साध्य के निकट पहुंचाने वाली उपादेय क्रियाओं को स्वीकार करे और यथासमय उनका भी यथाशक्य त्याग करता हुआ एक दिन क्रिया-मात्र का परित्याग करने, अशुभ का ही नहीं, संपूर्ण शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त बने । इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि कर्म-बन्ध की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं हैं । साधक को इनका परिज्ञान होना चाहिए । क्योंकि ज्ञान होने पर ही साधक उनसे विरत हो सकेगा, अतः उनके स्वरूप आदि का वर्णन करके सूत्रकार उन क्रियाओं से विरत होने का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे॥13॥ त्ति बेमि ।

छाया—यस्य एते लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञात-कर्मा । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—जस्स—जिस मुमुक्षु के । एते—ये (पूर्वोक्त) । कम्मसमारम्भा—कर्म सम्मारम्भ—क्रिया-विशेष । परिण्णाया—परिज्ञात । भवन्ति—होते हैं । से—वह । मुणी—मुनि । परिण्णायकम्मे—परिज्ञातकर्मा होता है । त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जिस मुमुक्षु को पूर्वोक्त कर्म-समारंभ परिज्ञात है, वह मुनि परिज्ञातकर्मा—कर्म और क्रिया के स्वरूप को भली-भांति जानने और जान-समझ कर त्याग करने वाला तथा विवेक-युक्त संयम-साधना में प्रवृत्त होता है ।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के बन्ध की कारण क्रिया विशेष हैं, उन्हीं को कर्म-समारंभ कहते हैं । उनका भली-भांति ज्ञाता, अर्थात् कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं को सम्यक्तया जानने तथा तदनुसार उनका परित्याग करने वाला, जो मुनि है, वह परिज्ञात-कर्मा कहलाता है । परिज्ञात-कर्मा का तात्पर्य है—वह मुनि जो ज्ञ-परिज्ञा से उसके वास्तविक स्वरूप को जानता, समझता है और प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग करता है । इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञानपूर्वक आचरण में प्रवृत्त होता है । उसका ज्ञान आचरण से समन्वित है और आचरण ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिर्मय है । उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का या यों कहिए कि विचार और आचार का विरोध नहीं, समन्वय है और इन दोनों का समन्वय ही मोक्ष-मार्ग है, आत्मा को क्रिया से सर्वथा निवृत्त करने वाला है । किसी भी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वित प्रयत्न की आवश्यकता होती है । जिस स्थान पर पहुंचना है, पहले उस स्थान का एवं उसके रास्ते का ज्ञान होना जरूरी है और फिर तदनुरूप क्रिया की आवश्यकता है । ज्ञान और क्रिया के सुमेल से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है—चाहे वह गन्तव्य स्थान लौकिक हो या लोकोत्तर ।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए आगम में कहा गया है कि “वनं में निवास

करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपितु ज्ञान से मुनि होता है¹।” जिस साधु के जीवन में ज्ञान का प्रकाश है, आलोक है वह मुनि है, भले ही वह जंगल में रहे, पर्वतों की गुफाओं में रहे या गांव एवं शहर में रहे। स्थान से उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ता, यदि उसके जीवन में ज्ञान है। टीकाकार आचार्य शीलांक ने मुनि शब्द की यही परिभाषा की है। उन्होंने लिखा है कि “जो मननशील है या लोक की, जगत की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है²।” इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया की हेय-उपादेयता का सम्यक्तया परिबोध है और जो परिज्ञा—विवेक के साथ संयमसाधना में प्रवृत्त है, वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है।

क्रिया-संबन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि साधक कर्म-बन्धन की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप का सम्यक्तया बोध करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे। क्योंकि प्रत्येक साधक का मुख्य उद्देश्य क्रिया-मात्र से सर्वथा निवृत्त होना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है या सीधी-सी भाषा में कहें तो निर्वाण पद को प्राप्त करना है। इसलिए साधक की साधना में तेजस्विता एवं गति पाने के लिए प्रस्तुत प्रकरण में संसार में परिभ्रमण कराने की कारणभूत क्रिया के स्वरूप को जान-समझ कर त्यागने की प्रेरणा दी गई है।

‘इति ब्रवीमि’ का अर्थ है—इस प्रकार मैं तुमसे कहता हूँ। इसका तात्पर्य स्पष्ट रूप से यह है कि आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि—हे जम्बू! मैंने जो कुछ तुम्हें कहा है, वह जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है, वैसा ही कहा है, मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं कह रहा हूँ। ‘इति ब्रवीमि’ के अन्तर में यही रहस्य अन्तर्निहित है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा तीर्थंकर ही होते हैं, गणधर केवल उनके उपदेश को सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। यही बात सूत्रकार ने ‘ति बेमि’ शब्द से अभिव्यक्त की है।

॥शस्त्रपरिज्ञा प्रथम उद्देशक समाप्ता॥



1. उत्तराध्ययन, 25/31-32

2. “मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः” —आचारांग टीका 1/1/1/13

अध्यात्मसार : ।

आचार्य-प्रवर श्री शिवमुनि जी म. को आचारांग सूत्र का स्वाध्याय करते हुए जिनशासन के आशीर्वाद से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे विशेष रूप से इसके साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक इसका मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय करें।

मूलसूत्र—तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि॥३॥

मूलार्थ—जैसे मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, या दक्षिण दिशा से आया हूँ, या पश्चिम एवं उत्तर दिशा से या ऊर्ध्व एवं अधोदिशा से, या किसी एक दिशा-विदिशा से इस संसार में प्रविष्ट हुआ हूँ—आया हूँ।

संसार का मूल कारण

सभी लोग सामान्यतः यही बताते हैं कि संसार का मूल है—कर्म और कर्मों का कारण है राग-द्वेष, अतः राग-द्वेष को दूर करो। लेकिन कहना ऐसे चाहिए—भव भ्रमण का मूल है चित्त-भ्रमण, अतः चित्त को शुभ आलम्बन में एकाग्र करना चाहिए।

चारित्र्य का मूल है गुप्ति। गुप्ति के सधते ही भव-भ्रमण रुक जाता है। आखिर राग-द्वेष भी क्यों होते हैं, क्योंकि चित्त भ्रमित है। जब चित्त किसी शुभ आलम्बन में लीन हो जाए तो राग-द्वेष स्वतः रुक जाते हैं। इस लीनता से मूलतः संवर और निर्जरा होती है। लेकिन साथ में पुण्यबन्ध भी होता है और लीनता बढ़ते-बढ़ते जैसे नमक में पानी की डली विलीन हो जाती है, वैसे ही चित्त आत्मा में विलीन हो जाए, आत्मा के शुद्ध उपयोग में डूब जाए, तभी संवर-निर्जरा की ओर गति होती है और उच्चता की ओर बढ़ते हुए अपूर्व करण की शुरुआत होती है। यह धारा यदि क्षय की

अधिक और उपशम की कम रही तो तेरहवें गुणस्थान और यदि उपशम की अधिक है तो ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर पुनः लौटती है।

हेय-उपादेय

राग-द्वेष को रोकना चाहिए, यह कहना हेय का प्रतिपादन है और चित्त को शुभ आलम्बन में लगाना चाहिए, यह बताना उपादेय का प्रतिपादन है। हेय की अपेक्षा उपादेय पर अधिक जोर देना है। फिर भी हेय का वर्णन भी अवश्य करना चाहिए। जो राग-द्वेष को उत्पन्न करे, ऐसा वाचन नहीं करना। ऐसे लोगों के पास भी अधिक नहीं बैठना, जो विकथा करते हैं या राग-द्वेष का प्रोत्साहन करते हैं इत्यादि। लेकिन ये सभी चित्त को शुभ आलम्बन में लगाने रूप, उपादेय में लगाने रूप, सहयोगी हैं। यदि यह संभव नहीं है तो केवल हेय का आचरण करने मात्र से लाभ तो हो सकेगा, लेकिन आभ्यंतर साधना नहीं हो सकती।

दिशा का ज्ञान कि मैं पूर्व जन्म में क्या था, मैं किस दिशा से आया हूँ और आगे मैं किस दिशा में जाऊँगा? इसका बोध जब क्षयोपशम के आधार पर होता है, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय के आधार पर होता है, तब वह स्वरूप-रमण और वैराग्य का कारण बनता है। यदि केवल देव या अतिशय ज्ञानी के निमित्त यह ज्ञान हो, तब वह आत्मबोध का कारण बन भी सकता है और नहीं भी बन सकता।

यदि किसी विशेष परिस्थिति या चित्त की विशेष अवस्था में जीव को उसके पूर्व भव का ज्ञान, अतिशय ज्ञानी के द्वारा बताया जाए, तब वह आत्मबोध में प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण अवश्य बनता है, जैसे—भगवान महावीर ने मेघ कुमार के पूर्व भव का वर्णन सुनाया तो उसको स्वयं ही जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होकर आत्मबोध हो गया था।

मूलम्—से जं पुण जाणेजा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिशाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं॥५॥

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से, तीर्थकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हूँ और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी भली-भाँति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हूँ।

सोऽहं—‘सोऽहं’ का एक अर्थ, सः-सिद्ध भगवान् अहं—मैं अर्थात् मैं वही हूँ। मेरे और सिद्ध भगवान् के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। दूसरा अर्थ—जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सभी मेरे ही समान हैं, मुझसे अलग कोई नहीं है, सभी में मैं ही हूँ और मुझमें सभी हैं। जिस दिन व्यक्ति को स्वरूप का ‘स्वयं का’ बोध होता है, उस दिन उसे यह भी बोध होता है कि सभी में मेरे समान ही अस्तित्व है। देह और योनि कर्म आवरण के कारण अलग-अलग होने के बावजूद भी मूल रूप से सभी में मेरे समान ही अस्तित्व है।

आत्मवत् सर्व भूतेषु :

यह ज्ञान होने पर स्वभावतः मैत्री-भाव का जन्म होता है। स्वरूप के बोध से मंगलमैत्री का जन्म होता है और मंगल मैत्री में चित्त को भावित करने से स्वरूपबोध की साधना में सहयोग मिलता है, क्योंकि जब सभी में अपना स्वरूप दिखाई देता है, तब सभी के प्रति निकटता और मैत्री का अनुभव स्वयमेव होता है। उसी मैत्री के आधार पर अहिंसा-सत्य आदि आचार का जन्म होता है। फिर भेद मिटकर अभेद का बोध होता है। इसीलिए पहले सम्यक् दर्शन, फिर व्रत जो निश्चय सम्यक्दर्शन—आत्मबोध-सोऽहं। व्यवहार सम्यक् दर्शन देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्था जैसे ही स्वरूप का बोध होता है—जीव और अजीव का बोध होता है।

सम्यक् दर्शन क्या है? जीव और अजीव का बोध होना। जैसे श्री अन्तकृतदशांग-सूत्र में सुदर्शन सेठ का वर्णन करते हुए कहा गया कि वे जीव और अजीव के ज्ञाता थे। यही निश्चय वास्तविक सम्यक् दर्शन है।

व्यवहार सम्यक् दर्शन—इसकी प्राप्ति हेतु साधना रूप सहयोगी है। इस प्रकार स्वरूप का बोध होने के बाद में व्रत आते हैं। अनेक जीवात्माएँ व्यवहार से व्रत

स्वीकार नहीं करते, लेकिन निश्चय से आत्मबोध के पश्चात् (अपने निश्चय से आत्मबोध के पश्चात्) अपने आप गुण श्रेणी चढ़ते हुए व्रत आ जाते हैं। जैसे माता मरुदेवी, भरत चक्रवर्ती इत्यादि वाहर से प्रत्याख्यान धारण करना निश्चय से प्रत्याख्यान आने में साधना रूप एवं सहयोगी है और यही राजमार्ग है।

व्यवहार से साधुपद को हम छोटे गुणस्थान में कहते हैं, लेकिन निश्चय से कई मुनिराज पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे और छोटे गुणस्थान में भी हो सकते हैं। ऐसे तो जीव कौन से गुण स्थान में है, यह निश्चय से केवलीगम्य और व्यवहार से जीव की वृत्तियाँ उसके विचार और भाव के अनुसार हम अनुमान लगा सकते हैं कि जीव किस गुणस्थान में है।

चित्त को शान्त करने के लिए—जब श्वासोच्छ्वास के साथ में हम नाभि पर ध्यान देते हैं, तब केवल उसके साथ रहने से चित्त अपने आप शान्त हो जाता है। यह प्रयोग रात को सोते समय कर सकते हैं। विचार त्वरा से शांत हो जाएंगे।

सोऽहं—सोऽहं का ध्यान कुछ भी करो, करते रहो, उपयोग पूर्वक चलना, उठना, बैठना इत्यादि यतनापूर्वक करते हुए, अजपा जाप की तरह 'सोऽहं' भी अपने आप होगा। इस प्रकार ध्यान से नाभि केन्द्र का विकास होता है और दिशाबोध अपने आप होता है। जीव के परिणाम उच्च हों और यदि उत्कृष्ट परिणामों से वह तीव्र गति से साधना करे तो 6 महीने में ही यह बोध हो सकता है। यह बात साधना की अपेक्षा से है। वास्तव में जब काल परिपक्व होता है, योग्य समय आता है और काल-लब्धि पकती है, तभी ज्ञान अपने आप होता है। अतः निष्ठा एवं यतनापूर्वक साधना करते रहना तथा धैर्य बनाए रखना, अधैर्य नहीं करना।

मूलम्—से आयावादी, कम्मावादी, किरियावादी॥6॥

मूलार्थ—जिस साधक ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, वही आत्मवादी बन सकता है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। जो आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर सकता है, वही आत्मा लोक के स्वरूप को स्पष्टतः समझ एवं समझा सकता है। जो लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वही कर्म के स्वरूप को बता सकता है। जो कर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है, वही वास्तव में क्रिया—आचरण के स्वरूप का वास्तविक वर्णन कर सकता है।

आत्मा के स्वरूप को जाने बिना व्यक्ति लोक के, कर्म के और क्रिया के स्वरूप को नहीं जान सकता। इसलिए पहले आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जो आत्म-स्वरूप के बोध से युक्त है, वही आत्मस्वरूप के बोध का प्रतिपादन कर सकता है। अतः वही आत्मवादी है और जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है। लोक के स्वरूप का प्रतिपादक ही कर्मवादी एवं क्रियावादी बन सकता है। इन चार बातों में भगवान की समस्त वाणी समाविष्ट हो गई है।

प्रवचन कौन करें? इस भगवद्वाणी का प्रवचन करने का अधिकार किसे हैं?

1—निश्चय से तो 'आयावादी'—आत्मज्ञानी को ही भगवद्वाणी के प्रवचन का अधिकार है। आत्म-बोध के अभाव में उत्सूत्र की प्ररूपणा हो सकती है, जिससे स्वयं वक्ता एवं श्रोता उभय आत्मा की हानि हो सकती है। धर्म-कथा करने वाले के जो मूल गुण हैं, उसमें सर्वप्रथम है—आत्मबोध से युक्त होना।

2—व्यवहार से—श्री दशवैकालिक सूत्र, श्री उत्तराध्ययन सूत्र, श्री आचारांग सूत्र, श्री ठाणांग सूत्र, श्री ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र। इस द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत से युक्त मुनि।

मूल बात यह है कि उसे आचार का, विधि और निषेध का, हेय-ज्ञेय और उपादेय का परिपूर्ण बोध होना आवश्यक है। जो प्रतिदिन स्वाध्याय करने वाला हो तथा स्वयं के बाह्याचार एवं आभ्यन्तर साधना में सुस्थिर हो, ऐसे सुसंयत व्यक्ति को ही धर्म कथा करने का अधिकार है। इन गुणों से रहित मुनिजन या अन्य आत्माएँ जब धर्म-कथा करते हैं, तब विपरीत प्ररूपणा होनी संभव है, जिससे ज्ञान का हास होता है और आत्मा स्वयं अपने अज्ञान के अंधकार को घनीभूत रहती है, जिससे मुनिजनों में ज्ञान का विकास नहीं होता है।

धर्म कथा—स्वाध्याय का एक उच्चतम पंचम अंग है। वाचना, पृच्छना परियट्टना अनुप्रेक्षा और फिर धर्म कथा।

साधु धर्म कथा क्यों करता है? जिनवाणी की प्रभावना के लिए यह व्यवहार रूप से है। निश्चय नय से तो आत्मज्ञानी ही धर्म का प्रतिबोधक है। लेकिन इस काल में पहले व्यवहार है, फिर निश्चय।

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि॥7॥

मूलार्थ—मैंने किया था, मैं कराता हूँ और करने वाले अन्य व्यक्तियों का मैं अनुमोदन-समर्थन करूँगा।

यह ध्यान का सूत्र है—क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। समय-सापेक्ष हैं। लेकिन कर्ता एक ही है और वह समय-निरपेक्ष है। जो कर्ता है, वह वही है, केवल क्रियाएं बदलती रहती हैं और जैसा कर्ता होगा, वैसी ही क्रियाएं होंगी। अतः केवल क्रियाओं को बदलने से कर्ता नहीं बदलता। कर्ता का जो भ्रम है, कर्ता के दृष्टिकोण में जो मिथ्याभाव है, वह जब तक नहीं हटेगा, तब तक क्रियाएँ नहीं बदलतीं। इसी अपेक्षा से आत्मबोध की प्रमुखता है। यह ध्यान का सूत्र है। यह जो कर्ताभाव है कि मैंने किया था, मैं कर रहा हूँ, मैं अनुमोदन कर रहा हूँ, यह बन्धन का कारण है।

जब आत्मभाव का जन्म होता है, तब वैदेही अवस्था का बोध होता है। तब पता चलता है कि मेरी आत्मा कुछ भी करने वाली नहीं है। आत्मा का मूल गुण ज्ञान और दर्शन है। इसको हम स्वरूपबोध में भी ले सकते हैं कि जिसको स्वरूप का बोध होता है, उसे यह समझ में आ जाता है कि मेरा स्वभाव कुछ करने का या कर्ताभाव का नहीं, अपितु केवल ज्ञायक भाव है।

कई विचारक ऐसा भी सोचते हैं कि मैं तो कुछ करने वाला नहीं हूँ और सब कुछ करते हुए भी मैं ज्ञाता—द्रष्टा भाव में हूँ। अतः मुझे कोई बंधन नहीं है, परन्तु यह भी एक बन्धन ही है। वह ज्ञाता द्रष्टा भाव नहीं है, वह भी कर्ताभाव ही है कि मैं ज्ञाता हूँ।

यह बोध ज्ञाता-द्रष्टा भाव तब तक जागृत नहीं होता, जब तक आत्म-बोध नहीं होता और इस आत्मबोध के लिए ही बाह्याचार एवं आन्तरिक साधना आवश्यक है। आत्मबोध के पश्चात् ही ज्ञाता-भाव जागृत होता है।

मूलम्—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ सहिति। अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेह॥9॥

मूलार्थ—जो व्यक्ति कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं के यथार्थ स्वरूप को भलीभांति नहीं जानता है और उनका परित्याग नहीं करता है, वह इन दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदिशाओं में कर्मों के साथ जाता है। विभिन्न योनियों के साथ सम्बन्धित होता है और अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन एवं उपभोग करता है।

अपरिज्ञात-कर्मा का अर्थ है निश्चय नय से जिसको आत्मबोध नहीं है, जो ज्ञायक भाव से रहित है, क्योंकि जो आयावादी नहीं वह लोयावादी भी नहीं, जो लोयावादी नहीं, वह कम्मावादी और क्रियावादी भी नहीं। यह सूत्र आत्मबोध की महत्ता को बताता है कि उसके बिना जीव भटकता है। इस प्रकार हमने अनेक जन्मों में बाह्याचार किया, उससे पुण्य-बन्ध हुआ, लेकिन निर्जरा नहीं हुई।

परिज्ञात कर्मा मुनि वही है जो कर्मबन्धन के कारण को जानता है तथा कर्म मुक्ति का उपाय क्या है, यह भी जानता है। साथ ही तदनुसार यथा-शक्ति सम्यक् आचरण भी करता है। परिज्ञात कर्मा के अन्तर्गत कर्म-बन्धन के कारण एवं मुक्ति के उपायों को जानना मात्र ही नहीं है, अपितु तदनुसार सम्यक् आचरण भी समाविष्ट है।

प्रत्याख्यान परिज्ञा—केवल त्याग प्रधान नहीं है, अपितु जो उपादेय है, उसका आचरण भी साथ है। साधारणतः हम प्रत्याख्यान का अर्थ छोड़ना लेते हैं, परन्तु वस्तुतः उसका अर्थ जो हेय है उसको छोड़ना मात्र ही नहीं, अपितु जो उपादेय है, उसे ग्रहण करना भी है। अतः मुनिजन या श्रावक जन महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण करते हैं, तब केवल यही नहीं समझना चाहिए कि तुम्हें क्या छोड़ना चाहिए, साथ में यह भी बताना चाहिए कि क्या उपादेय है। जैसे श्री उत्तराध्ययन-सूत्र में मुनिजनों के लिए दस प्रकार की समाचारी का वर्णन है।

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया॥१०॥

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के संबंध में भगवान महावीर ने परिज्ञा—विवेक का उपदेश दिया है।

संसार का कारण—जब तक कर्म है, तब तब संसार है। संसार में परिभ्रमण

करने का कारण कर्म है। यहाँ पर साधारणतः कर्म का अर्थ आत्मा पर लगी कर्म रज या कर्म संसार की अपेक्षा से ही किया जाता है। लेकिन वस्तुतः संसार-परिभ्रमण के कारण की अपेक्षा से यदि हम देखें तो योगों जो की चंचलता है, वही कर्म है। अक्सर व्यक्ति कहते हैं, संसार में क्यों पड़े हैं। उसका उत्तर है, क्योंकि कर्मों का उदय है। यह केवल कर्माश्रित जीवन हुआ। धर्माश्रित जीवन तब बनता है, जब व्यक्ति यह समझता है कि योगों की चंचलता एवं कषाय के कारण ही संसार है, परिभ्रमण है तथा योग-स्थिरता एवं चित्त की उपशान्तता से ही मुक्ति मिलती है।

अधिकांश व्यक्ति तत्त्वज्ञान पाकर भी कर्माश्रित जीवन ही जीते हैं, क्योंकि उन्हें कर्म का प्रथम अर्थ आत्मा पर कर्मरज है, यही समझ में आता है। दूसरा अर्थ वस्तुतः योगों की चंचलता एवं कषाय की तीव्रता जब तक रहेगी, तब तक आत्मा इस संसार में भटकेंगी, यह उनके समझ में परिलक्षित नहीं होता।

जब वह समझ जागृत होती है, तब जीवन में योग की स्थिरता एवं चित्त की उपशान्ति का आगमन होता है, तब जीव कर्माश्रित से धर्माश्रित होता है।

अकर्मण्येव मोक्ष—अकर्म ही मोक्ष है, अकर्म यानी आत्मा का शुद्ध स्वभाव में रमण। यह बहुत कम लोग समझ पाते हैं। शुद्ध स्वभाव में रमण तभी हो सकता है, जब पहले आत्म-बोध हो जाए। केवल शरीर और चित्त को शान्त कर लेना मात्र अकर्मण्येव मोक्ष नहीं है, वह ध्यान के लिए तैयारी मात्र है।

जिनवाणी की पठन-विधि

जिनवाणी का अर्थ तभी प्रकट होता है, जब किसी चारित्रवान व्यक्ति के समक्ष वह वाणी आती है और वह उपयोगपूर्वक उसका पठन-श्रवण या चिन्तन करता है। बिना चारित्र के जिनवाणी का पठन नहीं किया जा सकता। जिनवाणी की प्रभावना के लिए कम-से-कम व्यक्ति को श्रमणोपासक बनना आवश्यक है और ऐसा श्रमणोपासक जो अपना बाह्यचार एवं आन्तरिक साधना में स्थिर हो। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा नहीं दी जा सकती, पहले उसके कर्मों का क्षयोपशम भी देखना आवश्यक है।

मुनि का स्वरूप

जिसने अपने मन का गोपन कर लिया है अथवा जिसने मन को गुपित कर लिया है, वह मुनि है और जिसने अभी तक मनोगुप्ति को नहीं साधा, वह मुनि नहीं है। इसी एक परीक्षा से बाकी सारी परीक्षाएँ हो जाती हैं।

वर्तमान में केवल-ज्ञानी विद्यमान नहीं है कि हम कैसे जानें, किसका मन गुपित है। अतः वर्तमान में दोनों बातें होनी आवश्यक है, अर्थात् आगमों के अनुसार बाह्यचार और आन्तरिक साधना के माध्यम से जो मन का गोपन करता है, वही मुनि है।

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं।

मूलार्थ—अनेक संसारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने, अर्थात् बहुत वर्षों तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से; सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से; जन्म-मरण से मुक्ति के हेतु और दुःखों से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं।

1. **जीवन के लिए—**व्यक्ति की जीने की आकांक्षा कि मैं जीवित रहूँ, इस आकांक्षा के वश वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। फिर भले ही उसे कितना भी बड़ा झूठ बोलना पड़े, किसी के शील का भंग करना पड़े या हिंसा करनी पड़े। क्योंकि उसके मन में सबसे बड़ी और गहरी से गहरी यह तृष्णा है कि मैं कैसे जीवित रहूँ। जीवित रहने के लिए वह मांसाहार करने के लिए भी तैयार हो जाता है, जीमै के लिए अपने संबंधियों को छोड़ना भी पड़े तो तैयार रहता है। कितना बड़ा मोह है, उसे इस जीवन के लिए; क्योंकि उसे पता नहीं है कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है। वास्तव में तो प्रत्येक आत्मा अजर और अमर है, परन्तु देहाध्यास के कारण जीवन के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति है।

संधारा क्या है—इस गहरी से गहरी आसक्ति से उपर उठना है, क्योंकि मैं कैसे जिन्दा रहूँ, यह आसक्ति कर्मबन्ध का मूल है। मिथ्यात्व के कारण देहाध्यास है या यों कहें कि देहाध्यास ही मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व क्या है—असत् को सत् मानना और सत् को असत् मानना। शरीर को अपना जीवन मानना। शरीर के संयोग को जन्म तथा उसके वियोग को मृत्यु मानना।

अपने एवं अपने परिवार के जीवन को बचाने के लिए जीव कहाँ नहीं जाता? अनेक मिथ्यादेवों की शरण भी लेता है, जिससे किसी प्रकार जीवन को बचा लिया जाए। जो जीवाशंसा, अर्थात् जीवन की आसक्ति पर विजय प्राप्त करता है, वही स्वरूप-बोध-समाधि को प्राप्त कर सकता है। जो भी अपने स्वरूप की साधना करता है, उसे ऐसा उपसर्ग या परीषह आता है कि इस जीवन का हरण हो जाएगा। जो इस परीषह को जीत जाएगा, वही आत्मबोध को प्राप्त होता है। साधना के दरम्यान कभी न कभी ऐसा परीषह या उपसर्ग आता है। प्रमुखतः अन्त में आता है। उस समय अपने धर्म पर, समकित में एवं आचार में दृढ़ रहना है, तभी आत्म-बोध प्राप्त होता है। इसीलिए कहते हैं धर्म के लिए अपने जीवन का भी उत्सर्ग करना पड़े तो कर देना, वही धर्म की परीक्षा है।

2. परिवन्दन—कैसे ही मुझे कोई वंदन करे, मेरी पूजा एवं सत्कार करे और मेरी कोई प्रशंसा करे, यह परिवन्दन एवं मान में अन्तर है। वन्दन कोई कब करेगा, गुणों को देखकर वंदन तो समकिति करता है। लेकिन मिथ्यात्वी तभी वंदन करता है, जब उसे लगता है कि मेरे से अधिक कोई शक्तिशाली है। वह शक्ति को, सत्ता को वंदन करता है। जैसे सेवक को लगता है कि स्वामी मुझसे अधिक शक्तिशाली है, तब वह स्वामी के समक्ष झुकता है।

किसी पर अपना अधिकार जमाने के लिए, किसी को अपना सेवक बनाने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के कर्म करता है। येन-केन-प्रकारेण वह चाहता है कि कोई मेरी पूजा करे, वंदन करे, मेरे अधिकार में रहे; मेरी आज्ञा में रहे; इसके लिए वह जो भी कर्म करता है, वे सारे दुष्कर्म हैं। युद्ध क्यों होता है? अधिकार जमाने के लिए या कोई अधिकार छीन रहा है तो उसे बचाने के लिए। इसलिए मुनि किसी की वंदना प्राप्त करने के लिए किसी की हिंसा न करे कि मैं किसी को झुका दूँ। किसी पर विजय प्राप्त कर लूँ। इस भावना से नहीं, अपितु जो भी करे, वह शासन प्रभावना के लिए शुद्ध भावना से करे।

3. मान—परिवंदन की तरह मान में स्वामी-सेवक की भावना, किसी पर अधिकार जमाने की भावना और किसी को अपनी आज्ञा में रखने की भावना कम है। मान में मूल भावना यह है कि कोई मेरी प्रशंसा करे। कोई मेरे सम्बन्ध में कुछ अच्छे बोल बोले। इस मान के कारण और इस मान को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनेक दुष्कर्म करता है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि कोई मेरी पूजा कर रहा है तो उसका पूजनीय भाव बनाए रखने के लिए मुझे किसी भी प्रकार की अनाचरणीय हिंसा, असत्य इत्यादि करने पड़ें तो कर दूँ। इस प्रकार मान के लिए कई मुनिराज मंत्र-तंत्र इत्यादि का अनुष्ठान करते हैं। यदि शासन प्रभावना के लिए करते हैं, तब ठीक है। लेकिन कोई मेरी पूजा करे, मेरी मान-प्रतिष्ठा बढ़े, इस भावना से करे, तब मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

सामाजिक प्रवृत्ति के दरम्यान मुनि का लक्ष्य केवल आत्मार्थ और शासन प्रभावना का ही होना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से भी यदि किसी की मदद करनी पड़े, तब यह देखना चाहिए कि क्या यह शासनप्रभावना में मदद करेगा, क्या इस व्यक्ति के निमित्त से आगे शासनप्रभावना होने वाली है। परिवंदन : अधिकाधिक गहरा भाव है। मान : उसी का स्थूल रूप है। जैसे—

एक मित्र दूसरे मित्र की प्रशंसा करता है, तब यह मान के अन्तर्गत आता है। मान में भी कोई प्रशंसा तभी करेगा, जब कोई तुमसे प्रभावित होगा। तो किसी को प्रभावित करने की इच्छा भी स्थूल रूप से किसी पर अधिकार जमाने की भावना ही है। यह मुनि को देखना चाहिए कि क्या उसकी क्रिया प्रशंसा-पूजा या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की है तो वह कर्म बन्धनकारक है।

1. पुण्यानुबंधी पुण्य—यों तो प्रत्येक क्रिया कर्म-बन्धन को लाती है। लेकिन जो क्रिया शासनप्रभावना की शुद्ध भावना से आगमानुसार की जाती है, उससे पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्ध होता है।

जो क्रिया केवल करुणा के वश या किसी शुभ भावना के वश की जाती है; फिर भी यदि वह आगम अनुसार नहीं है, तो वह पुण्यबन्धन का कारण बनती है। पुण्यानुबंधी पुण्य से संवर और निर्जरा के लिए साधना की प्राप्ति होती है। साधना करने हेतु निमित्त साधन मिलते हैं। केवल पुण्य बंधन साता प्रदान करता है।

पापानुबन्धी पाप—जो क्रिया दुर्भावना-वश की जाती है, साथ ही जो आगम के अनुसार नहीं है, पूर्ण कालिमा से भरी हुई वह क्रिया, जिससे कि अनेकों के सम्यक्त्व में भी दूषण लगता है, वह पापानुबन्धी पाप है। वह इतना गहरा पाप है कि वह जब उदय में आता है, तब व्यक्ति साधना से स्खलित हो जाता है। इस प्रकार का कर्म जब उदय में आता है, तब वह दुःख तो लाता ही है; साथ ही दुःख के वश उसकी मति भ्रमित हो जाती है और उस समय वह जो भी करता है, वह अपने दुःख को और अधिक बढ़ाता है।

पाप—केवल अशुभ भावना के वंश जो क्रिया होती है, परन्तु जिससे किसी के सम्यक्त्व और चारित्र्य में दूषण नहीं लगता, ऐसी अशुभ भावना के वश हुई क्रिया से पाप-कर्म का बन्ध होता है और उसके उदय में आने पर व्यक्ति असाता का अनुभव करता है। इस पापोदय के वश व्यक्ति अपनी साधना से गिर भी सकता है और नहीं भी गिर सकता।

पापानुबन्धी पुण्य—किसी को साता पहुँचाई, सहयोग दिया, शुभ भावना से दिया, लेकिन किसी को साता और सहयोग पहुँचाते हुए बाद में स्वार्थ, लोभ अपने मान और प्रतिष्ठा की भावना जब होती है, तब पापानुबन्धी पुण्य का बन्धन होता है। किसी को साता भी पहुँचाई, पुण्य भी किया लेकिन बाद में स्वार्थ की भावना आ गई, शुभ भावनावश नहीं; मान, स्वार्थ व प्रतिष्ठा की भावना से किया, जब यह पुण्य उदय में आएगा, तब वह सुख के निमित्त, सुख के साधन प्रदान करेगा। लेकिन व्यक्ति की मति इस प्रकार होगी कि वह उन साधनों का उपयोग कर्म-बन्धन हेतु दुःख एवं पाप की वृद्धि हेतु करेगा।

पाप एवं पश्चात्ताप—किसी को असाता पहुँचाई, दुःख पहुँचाया, लेकिन मन के भीतर, पश्चात्ताप की भावना आई, भीतर ग्लानि व लज्जा की भावना आई तो पाप किया, लेकिन रस पूर्वक नहीं किया, अतः जब वह कर्म उदय में आएगा, तब वह असाता तो लाएगा, पर वह असाता भी इतनी तीव्र नहीं होगी, साथ ही असाता दुःख के आते ही उससे बाहर निकलने का रास्ता मिलेगा, यहां कोई न कोई व्यक्ति ऐसा आएगा, जो उसे दुःख से बाहर निकालेगा या बाहर निकलने का रास्ता बताएगा।

व्यावहारिक तत्त्व ज्ञान का उपयोग भी यही काम आता है। पास में रहा हुआ

व्यावहारिक तत्त्व ज्ञान कभी-न-कभी व्यक्ति को जगाता है। ऐसा व्यक्ति कम-से-कम पापानुबन्धी पाप तो नहीं करेगा। उसके हाथ से कोई गलती, अशुभ क्रिया या पाप भी होगा तो भीतर का ज्ञान उसे चोट करेगा। भीतर से उसे ग्लानि और लज्जा का अनुभव होगा। जैसे खानदानी व्यक्ति के हाथ से गलत कार्य हो जाने पर भीतर से वह लज्जा अनुभव करता है और नीच व्यक्ति गलत कार्य करे तो भी उसे मान की आकांक्षा रहती है। उसे लज्जा का अनुभव तो नहीं होता, अपितु वह मान चाहता है।

उच्च खानदान—जिसका खान-पान शुद्ध है, सात्त्विक है, अच्छी आजीविका से आता है, जिसके परिवार में शुद्ध दान देने की वृत्ति है, अर्थात् सात्त्विक, निर्दोष, सुपात्र दान देने की वृत्ति है, उसका खानदान उच्च है।

नीच खानदान—जिसका खान-पान अशुद्ध है, असात्त्विक है, आजीविका अच्छी नहीं है, कभी दान नहीं देता, अति परिग्रही है। हिंसा, झूठ इत्यादि से आजीविका आती है। उसका खानदान नीच है—खाना भी नीचा व दान भी नीचा।

आचार्य—अतः आचार्य बनाते समय कुल एवं जाति को देखकर आचार्य पद दिया जाता है। माता-पिता का असर कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अवश्य आता है। यद्यपि कभी-कभी उच्च कुल में जन्म लेकर भी व्यक्ति गिर सकता है और चाण्डाल कुल में जन्म लेकर भी उच्च बन सकता है; फिर भी माता-पिता, जाति एवं कुल का महत्त्व अवश्य है। यह उच्च कुल का संबंध कुल के परंपरागत संस्कारों से है। खान-पान और दान की वृत्ति में है। जैसे तीर्थंकर का जन्म नीच कुल में नहीं होता, वैसे ही उच्च आत्माएं भी उच्च कुल में ही जन्म लेती हैं। जो बचपन से ही जिनेश्वर देव के मार्ग में जुड़े हैं, उनका जिन-साधना में जुड़ना आसान हो जाता है।

1. पुण्यानुबन्धी पुण्य—सर्वर निर्जरा।
2. पापानुबन्धी पुण्य—अपेक्षा-भोग में लिप्त।
3. पुण्यानुबन्धी पाप—पश्चात्ताप की भावना से गिरते को बचाने वाला मिलेगा।
4. पापानुबन्धी पाप—उदय में आने पर व्यक्ति साधना से गिरता है।

जैसे बौद्ध शासन में भी कहा है जैसे कोई व्यक्ति—प्रकाश से प्रकाश की ओर जाता है।

प्रकाश से अंधकार।

अंधकार से प्रकाश की ओर।

अंधकार से अंधकार की ओर जाता है।

आसव—जो आसव इत्यादि होते हैं जैसे द्वाक्षासव उन्हें ग्रहण न करना हितकर है। क्योंकि उसमें अनेक प्रकार की समुच्छिन्न जीवों की उत्पत्ति बहुत अधिक होती है, अतः वे हिंसाकारी हैं।

सत्य परमोधर्म—अहिंसा परमोधर्म की जगह सत्य परमोधर्म लिखना, सत्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, उसी में सारी ताकत है।

परिज्ञातकर्मा मुनि कौन होता है?

जो उन सभी क्रिया स्थानों को जानता है जिससे कर्मों का आस्रव होता है। व्यवहार रूप से जितने भी स्थान आगमों में बताए हैं, जैसे जीवन के लिए, परिवन्दन के लिए इत्यादि को जो जानता है, वाचना, पृच्छना परियट्टना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा के माध्यम से उन स्थानों का अपने जीवन संबंध विश्लेषण एवं विवेचन के द्वारा तथा आत्मनिरीक्षण एवं परीक्षण के द्वारा तथा जो उन सभी के प्रति सावधान है, वह परिज्ञातकर्मा मुनि है।

जो यह देखता है कि मेरे जीवन में वह स्थान कहां-कहां काम करते हैं और वहां वहां उनसे निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्त होता है।

4. पूजा—वीतरागी साधु केवल भाव पूजा करते हैं, द्रव्य पूजा नहीं करते।

यहां पर पूजन को निम्न अर्थों में लिया गया है—

1—मिथ्यात्वी देवों की पूजा।

2—अपनी मनोकामनाओं को पूरा करने के लिए पूजा करना। उसके लिए तरह-तरह के आरम्भ-समारम्भ करना, मनौती मनाना इत्यादि।

3—अयतना पूर्वक, रुचित वस्तु का प्रयोग करते हुए करना (अनुचिता)।

जन्म—जन्म के निमित्त कर्मों का आस्रव। अपने जन्म के निमित्त जैसे कोई अपना जन्मदिन मनाता है, आरंभ-समारंभ करता है। महा पुरुषों के जन्म जयंति के

उपलक्ष में भी उनका स्मरण करना ठीक है, लेकिन अन्य आरंभ-समारंभ नहीं करने चाहिए। तप इत्यादि के अनुष्ठान द्वारा धर्मप्रभावना हो सकती है।

जन्म के निमित्त से किसी भी प्रकार की क्रिया करना स्व या स्व के परिवार के लिए जैसे संतान प्राप्ति हेतु तथा संतान नहीं है, उस हेतु अनुष्ठान इत्यादि करना।

मरण—मरण के निमित्त से कर्म का आस्रव करना, किसी को मारने की इच्छा या स्वयं मरने की इच्छा, मरणानुशंसा, मुझे मरण कब आए इस प्रकार दुःखी चित्त से आर्त और रौद्र ध्यान करना या किसी की मृत्यु हो जाती है तो उसके वियोग में शोक करना। अपनी मृत्यु से डरना या किसी प्रियजन का वियोग न हो जाए, इस प्रकार चिन्तित रहना।

संसार का कितना विचित्र स्वरूप है, जहाँ जन्म और मरण के बीच केवल तीन समय का अन्तर है, फिर भी हम मरण का शोक एवं जन्म पर हर्ष मानते हैं। किसी के मरण पर खेद या दुःख को प्रकट करना भी कर्मास्रव है।

उस अवसर पर उन्हें 'श्रद्धांजलि देना' उनमें रहे गुणों की अनुमोदना करना, वे जहाँ भी हों, उन्हें शांति मिले, उनका हमारे प्रति सदा ही स्नेह और सद्भाव बना रहे। कोई महापुरुष हो तो उनकी आशीष हम पर बनी रहे। 'कर्मों की गति विचित्र है, धर्म ध्यान करो, यही एक मात्र शांति का उपाय है।' दुःख की बात है, ऐसा नहीं कहना।

मोक्ष—जिन-शासन को छोड़कर जितने भी अन्य मुक्ति के मार्ग हैं, उनमें संवर निर्जरा कम बंधन अधिक है। केवल तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही शुद्ध संवर और निर्जरा का है। लेकिन अज्ञान के वश व्यक्ति मोक्ष के लिए भी ऐसी क्रियाएं करता है, जो उसे संसार परिभ्रमण करवाती हैं।

दुःख-प्रतिघात

दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। व्यक्ति अपने दुःख को दूर करने के लिए दूसरों को दुःख देता है, जैसे गरमी लग रही है तो वायुकाय की हिंसा करता है। इस प्रकार दुःख का प्रतिघात करने पर क्षण भर के लिए दुःख दूर होता हुआ दिखाई भर देता है, परन्तु वास्तव में दुःख और बढ़ता ही है।

दुःख का प्रतिघात एक ही सूत्र में है 'योग की स्थिरता चित्त की उपशांति'; फिर भी जीव समझता नहीं और दुःख प्रतिघात के लिए तरह-तरह के दुःष्कर्म करता है। जैसे रोग को दूर करने की आशा से परिवार का संवर्धन एवं पोषण करना। दुःख को दूर करने के लिए एवं सुख बटोरने के लिए सुख-सुविधा तथा धन का संचय करना। पद, प्रतिष्ठा पाने हेतु क्रोध, मान, ईर्ष्या करना, ऐसे तो अनेको उदाहरण हैं; परन्तु मूल बात है दुःख का प्रतिघात करने से दुःख दूर नहीं होता, दुःख के मूल कारण को जानकर उपाय करना, दुःख के मूल पर ध्यान देना, लेकिन हम फल पर ध्यान देते हैं।

दुःख का मूल है—योग की चंचलता और कषाय। उसका निवारण होते ही दुःख मिट जाता है। उसी के लिए है अरिहंत एवं सद्गुरु की शरण है।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में सामान्य रूप से आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का संबन्ध है और यह आत्मा संसार में क्यों परिभ्रमण करती है, इस बात को समझाया गया है। कर्मबन्धन की कारणभूत क्रिया एवं उससे प्राप्त होने वाले दुःखों का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो साधक परिज्ञातकर्मा होता है, अर्थात् ज्ञ परिज्ञा (ज्ञान) के द्वारा कर्म-बन्ध एवं संसार-परिभ्रमण के कारण को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा (आचरण) के द्वारा उनका परित्याग करता है, वही मुनि है। क्योंकि मुनि पद को वही पा सकता है, जो संसार-परिभ्रमण एवं कर्म-बन्ध की कारणभूत क्रियाओं से विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति के लिए पहले ज्ञान का होना जरूरी है। अतः ज्ञान और आचार से युक्त साधक ही मुनि होता है। जो व्यक्ति क्रियाओं के स्वरूप का बोध भी नहीं करता है और न उन्हें त्यागने का प्रयत्न करता है, वह मुनि नहीं बन सकता और न कर्म-बन्ध से मुक्त ही हो सकता है। क्रिया में आसक्त व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध करता रहता है और परिणामस्वरूप पृथ्व्यादि छहकाय रूप योनियों में परिभ्रमण करता फिरता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पृथ्व्यादि योनियों के स्वरूप को भी समझ लिया जाए, जिससे साधक उनकी हिंसा एवं पाप-कर्म के बन्ध से सहज ही बच सके। इस उद्देश्य से कि जीव-अजीव एवं आरंभ-समारंभ के ज्ञान से शून्य अज्ञ जीव पृथ्व्यादि के जीवों को किस प्रकार सताते हैं, परिताप देते हैं; इस बात को बताते हुए सूत्रकार दूसरे उद्देशक को प्रारंभ करते हुए कहते हैं—

मूलम्—अष्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए। अस्सि लोए पव्वहिए तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेन्ति¹ ॥14॥

1. 'आतुरा तथा परितावेन्ति' ये पद 'लोक' के विशेषण होने से एक वचनांत होने →

छाया—आर्तः लोकः परिद्रयूनः (परिजीर्णः) दुस्संबोधः अविज्ञायकः अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति ।

पदार्थ—अट्टे—आर्त—पीड़ित । परिजुण्णे—प्रशस्त ज्ञानादि से हीन । दुस्संबोहे—कठिनता से बोध प्राप्त करने वाले । अविजाणए—विशिष्ट बोध-रहित । पव्वहिए—विशेष पीड़ित । अस्सिं लोए—इस पृथ्वीकाय लोक में । तत्थ-तत्थ—खनन आदि उन-उन । पुढो—भिन्न-भिन्न कारणों के उत्पन्न होने पर । परितावेति—पृथ्वीकाय के जीवों को परिताप देते हैं । पास—हे शिष्य! तू देख ।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! विषय-कषायादि क्लेशों से पीड़ित, ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभ-बोधि प्राणी इन व्यथित, पीड़ित एवं दुःखित पृथ्वीकायिक जीवों को खान खोदने आदि अनेक तरह के कार्यों के लिए परिताप देते हैं, उन्हें विशेष रूप से संतप्त करते हैं, दुःख एवं संक्लेश पहुंचाते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र का पिछले सूत्र के साथ क्या संबन्ध है, यह हम द्वितीय उद्देशक की भूमिका में स्पष्ट कर चुके हैं । परन्तु इस सूत्र का पिछले उद्देशक के साथ परंपरागत संबन्ध भी है । वह इस प्रकार है—आचारांग सूत्र के आरंभ में कहा गया है कि इस संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञा—ज्ञान या सम्यग् बोध नहीं होता । क्यों नहीं होता, इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है । “अट्टे लोए...” इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है—

आर्त—आर्त शब्द का सामान्य अर्थ पीड़ित होता है या बाह्य दुःखों एवं आपत्तियों से अवेष्टित व्यक्ति को भी आर्त कहते हैं । परन्तु यहां राग-द्वेष एवं कषायों से आवृत, विषय-वासना के दलदल में फंसे हुए व्यक्ति को, प्राणी को आर्त कहा है । क्योंकि विषय-कषाय एवं राग-द्वेष के वशीभूत हुआ आत्मा अपने हिताहित को भूल जाता है और नानाविध पाप कार्यों में प्रवृत्त होकर कर्मों का बन्ध करता है और

→ चाहिए, परन्तु सिद्धांत-शैली के कारण यहां एक वचन के स्थान पर बहुवचन दोषावह नहीं है ।

परिणाम-स्वरूप जन्म-जरा और मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता हुआ दुःख एवं पीड़ा का संवेदन करता है। इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार तथा दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त समस्त संसारी जीव 'आर्त' कहे जाते हैं। क्योंकि वे इन दुष्कर्मों से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, रात-दिन जन्म-मरण के जाल में उलझे रहते हैं।

लोक—लोक क्या है? एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त गतियों एवं योनियों के जीवों के समूह को लोक कहते हैं।

परिद्यून—जो जीव औपशमिक आदि प्रशस्त परिणामों से रहित हैं और मोक्ष-मार्ग में सहायक साधनों से दूर हैं, उन अज्ञानी जीवों को 'परिजुण्णे-परिद्यून' शब्द से अभिव्यक्त किया है। परिद्यून के भी द्रव्य और भाव दो भेद किए गए हैं। द्रव्य परिद्यून के सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार हैं। जीर्ण-शीर्ण शरीर या परिजीर्ण वृक्ष को सचित्त परिद्यून और पुराने वस्त्र आदि को अचित्त परिद्यून कहा है और औदयिक भाव से युक्त प्राणी में जो प्रशस्त ज्ञान या सम्यग्ज्ञान के अभाव को भाव परिद्यून कहा है।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उसमें ज्ञान का कभी भी सर्वथा लोप नहीं होता। अतः प्रस्तुत प्रकरण में जो ज्ञान का अभाव कहा गया है, वह प्रशस्त सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि ज्ञान-मात्र की अपेक्षा से। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों में ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है। यह बात अलग है कि कुछ जीवों में उसका अपकर्ष दिखाई देता है, तो कुछ में उत्कर्ष। क्योंकि ज्ञान का विकास क्षयोपशम पर आधारित है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा आत्मा में उतना ही ज्ञान का उत्कर्ष दिखाई देगा और ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक उदयभाव में होगा, उतना ही अधिक ज्ञान का अपकर्ष परिलक्षित होगा। इसलिए भाव परिद्यून शब्द के अर्थ में जो प्रशस्त ज्ञान का अभाव बताया गया है, वह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए।

ज्ञान का सब से अधिक उत्कर्ष मनुष्य-जीवन में परिलक्षित होता है और अधिक अपकर्ष एकेन्द्रिय जीवों में और उनमें भी सूक्ष्म निगोद के जीवों में दिखाई देता है।

यों कहना चाहिए कि यहीं से ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। जब आत्मा सूक्ष्म से बादर एकेन्द्रिय में आता है, तो उसके ज्ञान में कुछ उत्कर्ष होने लगता है। इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में और पञ्चेन्द्रिय में भी संज्ञी-असंज्ञी, पशु-पक्षी आदि की अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ आत्मा जब मनुष्य जीवन में पहुंचता है, तो उसके ज्ञान का अच्छा विकास हो जाता है। मनुष्य-जीवन विकास का केन्द्रबिन्दु है। अन्य योनियों में विकास का क्रम रहा हुआ है, परन्तु पूर्ण विकास का अवसर मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य योनि में नहीं है; यहां तक कि पूर्ण विकास करने में देव भी सर्वथा असमर्थ हैं। मनुष्य ज्ञान के चरम उत्कर्ष को भी छू सकता है और अपकर्ष की चरम सीमा पर भी जा पहुंचता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के मध्य में खड़ा है। उसके एक ओर उदयाचल है, तो दूसरी ओर अस्ताचल। जब मानव उत्कर्ष की ओर गतिशील होता है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर सिद्धत्व को पा लेता है और जब पतन की ओर लुढ़कने लगता है, तो ठेठ निगोद में और उसमें भी सूक्ष्म निगोद में जा पहुंचता है और अनन्त काल तक अज्ञान अंधकार में भटकता-फिरता है, विकास, उत्कर्ष के अमूल्य अवसर को हाथ से खो देता है। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त परिद्यून शब्द औदयिक भाव की अधिकता की अपेक्षा से व्यवहृत हुआ है।

‘दुस्संबोध’ यह पद विषय-कषाय एवं मोह से युक्त तथा प्रशस्त ज्ञान से शून्य व्यक्तियों की अवस्था का परिसूचक है। ‘दुस्संबोध’ शब्द का सीधा-सा अर्थ है—जिस व्यक्ति को धर्म मार्ग में या सत्कार्य में लगाना दुष्कर है अथवा जिसे प्रतिबोधित न किया जा सके। प्रश्न किया जा सकता है कि आर्त को दुस्संबोध कहने का क्या अभिप्राय है और वह सरलता से क्यों नहीं समझता। इसका समाधान करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में ‘अवियाणए—अविज्ञातकः’ पद का प्रयोग किया है। ‘अवियाणए’ का अर्थ है—विशिष्ट बोध या ज्ञान से रहित और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि व्यावहारिक बोध से रहित मूर्ख किसी भी बात को जल्दी नहीं समझता। इसलिए विशिष्ट विचारकों ने ठीक ही कहा है कि मूर्खों को समझाने के लिए समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिसमें बोध नहीं है, विवेक नहीं है, वह अपने हठ को छोड़कर जल्दी से सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। टेढ़े लोहे को आग में तपाकर सीधा-सरल बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें लचक है, नम्रता है। परन्तु टेढ़े-मेढ़े ठूठ-लकड़ी के खम्भे को

सीधा बनाना दुष्कर ही नहीं, अति दुष्कर है। यही स्थिति विशिष्ट बोध-ज्ञान एवं विवेक-विकल जीवों की है, इसलिए उन्हें दुर्बोधि जीव कहा है।

इस तरह संसार में परिभ्रमणशील जीव आरंभ-समारंभ का आश्रयीभूत होने से संतप्त है, व्यथित है, आर्त है। जिसमें मनुष्य विषय-कषाय एवं स्वार्थ के वशीभूत होकर कृषि, कूप, गृहनिर्माण एवं खान आदि के लिए पृथ्वीकाय जीवों को संताप एवं पीड़ा पहुंचाते हैं तथा उनकी हिंसा करते हैं। यों कहना चाहिए कि कर्मजन्य आवरण की विभिन्नता के कारण संसार में अनेक प्रकार के जीव होते हैं—कुछ विषय-कषाय से पीड़ित होते हैं, कुछ शरीर से जीर्ण होते हैं, कुछ प्रशस्त ज्ञान से रहित या विवेक-विकल होते हैं, दुर्बोधि या विशिष्ट बोध से रहित होते हैं, और ये सब तरह के प्राणी अपने भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों तथा अनेक तरह से पृथ्वीकायिक जीवों का संहार करते हैं। इसलिए आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू से कहते हैं कि—“हे शिष्य! तू इनकी स्वार्थ-परायणता को देख-समझ।” इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन आर्त एवं अज्ञ जीवों की विवेक-विकलता एवं दूसरे प्राणियों को संताप देने की बुरी भावना एवं कार्य-पद्धति को देख-समझ कर उससे बचकर गतिशील हो, अर्थात् उनकी तरह अपने स्वार्थ को साधने के लिए पृथ्वीकाय के जीवों का संहार मत कर।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया कि आर्त एवं दुर्बुद्धि युक्त जीव अपने स्वार्थ के लिए पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। इससे मन में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि पृथ्वीकाय में कितने जीव हैं, अर्थात् एक या अनेक। इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सन्ति पाणा पुढोसिया लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरुवे पाणे विहिंसइ¹ ॥15॥

छाया—सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिता लज्जमानाः पृथक् पश्य अणगारा स्मः

1. ‘विहिंसइ’ क्रिया का कर्ता ‘एगे’ पद बहुवचनांत है, इसलिए क्रिया भी बहुवचनांत होनी चाहिए। परन्तु आर्ष होने के कारण बहुवचन के स्थान में एकवचन का आश्रयण है।

इति एके प्रवदमानाः यत् इदम् विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवी कर्म—समारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ।

पदार्थ—पाणा—प्राणी । पुढो—पृथक्-पृथक् रूप से । सिया—पृथ्वी के आश्रित हैं । लज्जमाणा—संयमानुष्ठान-परायण पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से विरत । पुढो—प्रत्यक्ष-ज्ञानी—अवधि, मनःपर्यव या केवल ज्ञान से युक्त तथा परोक्ष ज्ञानी—मति और श्रुत ज्ञान से युक्त । पास—तू देख । एगे—कोई एक । अणगारा मो ति—हम अणगार हैं, इस प्रकार । पवयमाणा—बोलते हुए । जमिणं—इस पृथ्वीकाय को । विरुवरुवेहिं—अनेक तरह के । सत्येहिं—शस्त्रों के द्वारा । पुढवि-कम्म-समारम्भेणं—पृथ्वीकाय-सम्बन्धी आरम्भ-समारम्भ करने से । पुढविसत्थं—पृथ्वी काय के शस्त्र का । समारम्भेमाणा—प्रयोग करते हुए । अण्णे-अणेग रूवे—उस पृथ्वीकाय के आश्रित अन्य अनेक तरह के जीवों के । पाणे—प्राणों की । विहिंसइ—हिंसा करता है ।

मूलार्थ—हे शिष्य! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से संबन्धित हैं । इसलिए हिंसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवों के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से मुक्त होकर पृथ्वीकायिक जीवों की रक्षा करता हुआ विचरण करता है । इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अणगार, त्यागी एवं जीवों के संरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय का आरम्भ-समारम्भ करके जीवों की हिंसा करते हैं; आरम्भ-समारम्भ एवं पृथ्वी के शस्त्र से वे पृथ्वीकाय के जीवों का ही नहीं, अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवों की भी घात करते हैं । इस बात को तू देख, समझ !

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय प्रत्येकशरीरी है¹ । इसमें असंख्यात

1. तिलों की पपड़ी में जैसे अनेकों तिल होते हैं, वैसे ही पृथ्वीकाय में स्थित जीव भिन्न-भिन्न शरीर में रहते हैं । साधारण वनस्पति की तरह इनके एक शरीर में अनन्त जीव नहीं रहते । इसके एक शरीर में एक ही जीव रहता है । इसलिए पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहते हैं ।

जीव हैं और उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना बड़ा है। वे सब जीव पृथ्वीकाय के आश्रित हैं। कुछ लोग पृथ्वी को एक देवता के रूप में मानते हैं¹। परन्तु जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है। क्योंकि समस्त पृथ्वी में एक नहीं, अनेक जीवों की प्रतीति स्पष्ट होती है, इसलिए उसे एक देवता के रूप में मानना युक्तिसंगत नहीं है। वह एक जीव के आश्रित नहीं, अपितु असंख्यात जीवों का पिण्ड है। इससे पृथ्वीकाय की चेतनता और असंख्य जीव युक्तता दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं।

इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष² ज्ञान से युक्त संयमशील अनगार—मुनिजन पृथ्वी-कायिक जीवों के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होकर उनकी रक्षा में संलग्न होकर संयम का परिपालन करते हैं। परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो अपने आप को अनगार-साधु, मुनि कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं और उसके साथ-साथ पृथ्वी के आश्रित रहे हुए वनस्पति आदि अन्य जीवों का घात करते हैं। इस तरह सूत्रकार ने कुशल और अकुशल या निर्दोष और सदोष अनुष्ठान का प्रतिपादन किया है। जिन साधकों के जीवन में सद्ज्ञान है और क्रिया में विवेक एवं यतना है, उनकी साधना कुशल है, स्वयं के लिए तथा जगत के समस्त प्राणियों के लिए हितकर है, सुखकर है। परन्तु अविवेकपूर्वक की जाने वाली क्रिया अकुशल अनुष्ठान है; भले ही उससे कर्ता को क्षणिक सुख एवं आनन्द की अनुभूति हो जाए, पर वास्तव में वह सावध अनुष्ठान स्वयं के जीवन के लिए तथा प्राणी जगत् के लिए भयावह है।

प्रस्तुत सूत्र के आधार पर मानव-जीवन को दो भागों में बांटा जा सकता है—1-त्याग-प्रधान—निवृत्तिमय जीवन और 2-भोगप्रधान—प्रवृत्तिमय जीवन। साधारणतः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों ही कुछ अंशों में पाई जाती हैं। त्याग-प्रधान जीवन में मनुष्य दुष्कर्मों से निवृत्त होता है तो सत्कर्म में प्रवृत्त भी होता है। यों कहना चाहिए कि असंयम से निवृत्त होकर संयम-मार्ग में प्रवृत्ति करता है; और जीवन में भोग-विलास को प्रधानता देने वाला व्यक्ति रात-दिन वासना में निमज्जित

1. एक देवतावस्थिता पृथ्वी।

2. अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष और मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना है।

रहता है, पाप-कार्यों एवं दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहता है और सत्कार्यों से निवृत्त भी होता है। तो प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय दोनों प्रकार के जीवन में परिलक्षित होता है और यह भी स्पष्ट है कि त्यागप्रधान-निवृत्तिमय जीवन भी प्रवृत्ति के बिना गतिशील नहीं रह सकता, जब तक आत्मा के साथ मन-वचन और काय-शरीर के योगों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, तब तक सर्वथा प्रवृत्ति छूट भी नहीं सकती। फिर भी त्याग-निष्ठ और भोगासक्त जीवन में बहुत अन्तर है। दोनों की निवृत्ति-प्रवृत्ति में एकरूपता नहीं है।

निवृत्तिपरक जीवन में निवृत्ति और त्याग की ही प्रधानता है—सावध प्रवृत्ति को तो उसमें ज़रा भी अवकाश नहीं है। जो योगों की अनिवार्य प्रवृत्ति होती है, उसमें विवेकचक्षु सदा खुले रहते हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया संयम को परिपुष्ट करने तथा निर्वाण के निकट पहुंचने के लिए होती है। अतः उनकी प्रवृत्ति में प्रत्येक प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रहता है। वे महापुरुष त्रिकरण और त्रियोग से किसी भी जीव को पीड़ा एवं कष्ट पहुंचाना नहीं चाहते। दूसरी बात यह है कि उनकी हार्दिक भावना समस्त क्रियाओं से निवृत्त होने की रहती है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं एवं साध्य को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इसलिए वे सदा-सर्वदा इस बात का खयाल रखते हैं कि बिना आवश्यकता के कोई क्रिया या हरकत न की जाए। अतः उनका खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, बोलना आदि सब कार्य विवेक, यतना एवं मर्यादा के साथ होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो गया कि साधक के जीवन में प्रवृत्ति होती है, परन्तु जीवन में उसका गौण स्थान माना गया है; आवश्यक कार्य में ही प्रवृत्ति करने का आदेश है और वह भी विवेक एवं यतना के साथ करने की आज्ञा है और अन्ततः उसका सर्वथा त्याग करने की बात कही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निश्चय दृष्टि से प्रवृत्ति को त्याज्य माना है। इसलिए साधक-अवस्था में अनिवार्यता के कारण संयम-मार्ग में निर्दोष प्रवृत्ति को स्थान होते हुए भी उसके त्याग का लक्ष्य होने के कारण त्याग-प्रधान जीवन को निवृत्तिपरक जीवन ही कहा जाता है। क्योंकि जैन दर्शन का मूल लक्ष्य समस्त कर्मों एवं क्रियाओं से निवृत्त होना है। अतः निवृत्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सहायकभूत निर्दोष प्रवृत्ति करने वाला साधक ही वास्तव में अनगार है, मुनि

है और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से पूरी तरह बचकर रहने का प्रयत्न करता है।

भोग-प्रधान जीवन में निवृत्ति को विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि वहां जीवन का मूल्य भोग-विलास मान लिया गया है। और मूल्य-निर्धारण के अनुरूप ही जीवन को ढाला गया है या ढाला जा रहा है। यों कहना चाहिए कि जीवन में भोग-विलास एवं ऐश्वर्य को प्रधानता देने वाले व्यक्ति रात-दिन विषय-वासना एवं ऐशोराम में निमग्न रहते हैं। उनका प्रत्येक क्षण भौतिक साधनों को संगृहीत करने तथा अपने स्वार्थों को साधने के लिए नई-नई स्कीमें—योजनाएं बनाने में बीतता है और येन-केन-प्रकारेण वे भोग-सामग्री को, भौतिक सुख-साधनों को बटोरने में संलग्न रहते हैं। उसके लिए छल-कपट, शोषण, हिंसा आदि सभी दुष्कर्म करने में वे ज़रा भी संकोच नहीं करते। इस तरह रात-दिन सावध कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। इस कारण पृथ्वीकाय ही क्या, अन्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय ही नहीं, पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी उनके स्वार्थ की आग में स्वाहा हो जाते हैं। इस तरह वे दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो कर स्वयं तथा प्राणिजगत के लिए भयावह बन जाते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपने आपको अनगार, मुनि कहते हैं और सर्व प्राणि-जगत की रक्षा करना अपना मुख्य कर्तव्य बताते हैं। परन्तु उनका जीवन उनके कथन की विपरीत दिशा में गतिमान होता है। वे भी गृहस्थों की तरह खनन आदि कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले कर पृथ्वीकाय तथा उसके आश्रित अन्य अनेक जीवों की हिंसा करते हैं। अतः उन्हें भी प्रवृत्ति में प्रवहमान बताया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि त्यागप्रधान—निवृत्तिमय जीवन मोक्ष का प्रतीक है, उस से किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता है और भोग-प्रधान या प्रवृत्तिमय जीवन संसार-परिभ्रमण का कारण है। क्योंकि सावध प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की हिंसा होती है, उस से पाप कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप वह आत्मा संसार-प्रवाह में प्रवहमान रहती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति प्रधान जीवन में रहे हुए अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'पश्य' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए मुमुक्षु को दोनों तरह के जीवन के स्वरूप को भली-भाँति देख-समझ कर पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा से बचना चाहिए, विरत होना चाहिए।

‘लज्जमाणा—लज्जमानाः’ शब्द का अर्थ है—लज्जा का अनुभव करना या लज्जित

होना। हम देखते हैं कि कई व्यक्ति लोक-लज्जा के कारण कई बार दुष्कर्मों से बच जाते हैं। महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' पुस्तक में एक जगह लिखा है कि मैं वेश्या के मकान पर जाकर भी अपनी स्वाभाविक लज्जा के स्वभाव के कारण दुष्कर्म से बच गया। अस्तु, लज्जा भी जीवन का एक विशेष गुण है। इसके कारण मनुष्य दुर्भावना के प्रवाह में बहकर भी पापकार्य से बच जाता है। भारतीय संस्कृति के एक गायक ने ठीक ही कहा है कि लज्जा मानवोचित गुणों की जननी है—

“लज्जागुणौघ जननी।”

शास्त्रों में लौकिक और लोकोत्तर की अपेक्षा से लज्जा के दो भेद किए हैं। नववधु का श्वसुर आदि के सामने सकुचाना तथा शूरवीर योद्धा का रणक्षेत्र से भागते हुए शर्माना लौकिक लज्जा के उदाहरण हैं। इसी तरह अनगार—मुनि भी पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हुए तथा संयम-मार्ग की कठिनाइयों से डरकर साधनापथ से भागने में संकोच करता है, अर्थात् लज्जा के कारण वह संयम-मार्ग में प्रवृत्त रहता है, दृढ़ता के साथ साधना में संलग्न रहता है। अतः सत्तरह प्रकार का जो संयम बताया गया है, उसकी गणना लोकोत्तर लज्जा में की गई है¹।

‘अनगार’ शब्द का अर्थ है—मुनि, साधु। आगार घर को कहते हैं, अतः जिसके पास अपना घर नहीं है अथवा जिसका अपना कोई नियत निवास-स्थान नहीं है, उसे अनगार कहते हैं। या यों भी कह सकते हैं कि साधु का कोई नियत स्थान या घर नहीं होता, इसलिए वह अनगार कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकाय में असंख्यात जीव हैं और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्तमान अन्य धर्म के साधुओं में साधुत्व का अभाव है। फिर भी कुछ लोग भौतिक सुख की अभिलाषा से मन-वचन-काय से सावध-प्रवृत्ति करते, कराते और करने वाले का समर्थन करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघाय-हेउं

से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ॥16॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारम्भते, अन्यैश्च पृथिवी-शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीते ।

पदार्थ—खुल—यह शब्द वाक्यालंकारार्थ में है । तत्थ—पृथ्वीकाय के समारम्भ में । भगवया—भगवान ने । परिण्णा-परिज्ञा का । पवेइया—उपदेश दिया है । चेव—निश्चय ही । इमस्स—इस । जीवियस्स—जीवन के लिए । परिवंदण—प्रशंसा के लिए । माणण—मान के लिए । पूयणाए—पूजन के लिए । जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और । दुक्खपडिघायहेउं—दुःखों के नाश के लिए । से—वह, सुख की इच्छा करने वाला । सयमेव—स्वयं ही । पुढविसत्थं—पृथ्वीकाय की घात करने वाले शस्त्र का । समारम्भई—समारम्भ करता है । वा—अथवा । अण्णेहिं—अन्य के द्वारा । पुढविसत्थं—पृथ्वी की हिंसा करने वाले शस्त्र से । समारंभेइ—समारंभ करता है । वा—अथवा । अण्णे—अन्य । पुढविसत्थं—पृथ्वी का समारम्भ करने वाले शस्त्र से । समारंभंते—समारम्भ या प्रयोग करने वाले को । समणुजाणइ—अच्छा जानता है, उसका समर्थन करता है ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के समारंभ में भगवान ने परिज्ञा करने का उपदेश दिया है । क्योंकि कुछ लोग इस जीवन के लिए, प्रशंसा पाने के हेतु, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा से, जन्म-मरण से छुटकारा पाने तथा दुःखों का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवों की घात करने वाले शस्त्र का स्वयं प्रयोग करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और शस्त्र का प्रयोग करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य भौतिक जीवन को सुखमय-आनन्दमय बनाने के लिए कई प्रकार के अपकार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता । वह अपने जीवन को सुखद एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न

बनाने के लिए पृथ्वीकाय आदि छह काय के जीवों की या यों कहिए, सभी जाति के जीवों की हिंसा करता है। अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे प्राणियों का शोषण करता है, उन्हें पीड़ित-उत्पीड़ित करता है, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करता है। स्वयं उनकी हिंसा करता है, दूसरे व्यक्ति को आदेश देकर उक्त जीवों की हिंसा कराता है और उक्त जीवों की हिंसा करने वाले हिंसक का अनुमोदन-समर्थन करता है¹।

इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय के समारंभ में परिज्ञा या विवेक-यतना करने का उपदेश दिया है। साधक को यह बताया गया है कि वह ज्ञ परिज्ञा से पृथ्वीकाय के स्वरूप को भली-भांति समझे। उसमें भी मेरे जैसी असंख्यात-प्रदेशी ज्ञानमय आत्मा है, उसे भी मेरी तरह सुख-दुख का संवेदन होता है, आदि बातों का बोध करे और उसके चेतनामय स्वरूप को जानकर उसकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करे। मन-वचन-काय के योगों से पृथ्वीकाय की हिंसा न करे, अर्थात् विवेक के साथ संयम-साधना में प्रवृत्ति करे। इस साधना से जो लब्धि—शक्ति प्राप्त हो, उसका उपयोग भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करने में न करे। यदि वह ऐहिक सुखों एवं भोगों को प्राप्त करने में उस शक्ति—लब्धि का प्रयोग करता है, तो वह साधना-मार्ग से च्युत होकर संसार में परिभ्रमण करता है। अतः साधक को साधना से प्राप्त लब्धि का उपयोग भौतिक सुखों को प्राप्त करने में नहीं लगाना चाहिए।

पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में व्यस्त रहने वाले जीवों को किस फल की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं से अहिआए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणियं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गट्ठिए लोए जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारंभेणं, पुढविसत्थं समारंभ माणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ,

1. प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करने के जो कारण बताए गए हैं, उनका विवेचन पीछे कर चुके हैं। देखें सूत्र 11 की व्याख्या, पृष्ठ...72।

से बेमि, अप्पेगे अंधमब्बे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्बे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्बे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंधमब्बे, अप्पेगे जंधमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्बे 2, अप्पेगे उरुमब्बे 2 अप्पेगे कडिमब्बे 2, अप्पेगे णाभिमब्बे 2, अप्पेगे उदरमब्बे 2, अप्पेगे पासमब्बे 2, अप्पेगे पिट्ठिमब्बे 2, अप्पेगे उरुमब्बे 2, अप्पेगे हियमब्बे 2, अप्पेगे थणमब्बे 2, अप्पेगे खंधमब्बे 2, अप्पेगे बाहुमब्बे 2, अप्पेगे हत्थमब्बे 2, अप्पेगे अंगुलीमब्बे 2, अप्पेगे णहमब्बे 2, अप्पेगे गीवमब्बे 2, अप्पेगे हणुमब्बे 2, अप्पेगे होट्ठमब्बे 2, अप्पेगे दंतमब्बे 2, अप्पेगे जिब्भमब्बे, अप्पेगे तालुमब्बे, अप्पेगे गलमब्बे 2, अप्पेगे गंडमब्बे 2, अप्पेगे कण्णमब्बे 2, अप्पेगे णासमब्बे 2, अप्पेगे अष्ठिमब्बे 2, अप्पेगे भमुहमब्बे 2, अप्पेगे ललाडमब्बे 2, अप्पेगे सीसमब्बे 2, अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिणाता भवन्ति ॥17॥ .

छाया—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये सः तं संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणं इह एकेषां ज्ञातं भवित—एष खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्येवमर्थम् गृद्धः लोक यदिमं विरूप-रूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म-समारंभेण, पृथिवीशस्त्रं समारंभमानः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति' अथ ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धात्, अप्येकः अन्धमाछिन्धात्, अप्येकः पादमाभिन्धात्, अप्येकः पादमाछिन्धात्, अप्येकः गुल्फमाभिन्धात्, अप्येकः गुल्फमाछिन्धात्, अप्येकः जंधामाभिन्धात्, अप्येकः जंधामाछिन्धात्, अप्येकः जानुमाभिन्धात् 2, अप्येकः उरुमाभिन्धात् 2, अप्येकः कटिमाभिन्धात् 2, अप्येकः नाभिमाभिन्धात् 2, अप्येकः उदरमाभिन्धात् 2, अप्येकः पार्श्वमाभिन्धात् 2, अप्येकः पृष्ठमाभिन्धात् 2, अप्येकः उर आभिन्धात् 2, अप्येकः हृदयमाभिन्धात् 2, अप्येकः स्तनमाभिन्धात् 2, अप्येकः स्कन्धमाभिन्धात् 2, अप्येकः बाहुमाभिन्धात् 2, अप्येकः हस्तमाभिन्धात् 2, अप्येकः अंगुलिमाभिन्धात् 2, अप्येकः नखमाभिन्धात् 2, अप्येकः ग्रीवामाभिन्धात्

2, अप्येकः हनुमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः ओष्ठमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः दन्तमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः जिह्वमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः तालुमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः गलमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः गलमोभिन्ध्यात् 2, अप्येकः गंडमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः कर्णमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः नासिकामाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः अक्षिमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः भ्रुवमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः ललाटमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः शिरसमाभिन्ध्यात् 2, अप्येकः संप्रसारयेत्, अप्येकः अपद्रापयेत् 2 इत्थं शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाताः भवन्ति ।

पदार्थ—तं—वह पृथ्वीकाय का समारंभ । से—उस को—आगामी काल में । अहिआए—अहितकर होता है । तं—वह पृथ्वीकाय का समारंभ । से—उसको । अबोहिए—अबोधिलाभ के लिए होता है । से—पृथ्वीकाय के समारंभ को पाप-रूप मानने वाला । तं—उस पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ को । संबुज्झमाणे—अहितकर समझता हुआ । आयाणीयं—ग्रहण करने योग्य-सम्यग्-दर्शन और चारित्र में । समुठ्ठाय—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर । सोच्चा—सुनकर । खलु—निश्चय से । भगवओ—भगवान के समीप-या । अणगाराणां—अणगारों के समीप । इह—इस मनुष्य जन्म में । एगेसिं—किन्हीं एक प्रबुद्ध साधुओं को । णातं भवति—ज्ञात होता है कि—खलु—निश्चय से । एस—यही—पृथ्वीकाय का समारंभ । गंथे—अष्ट कर्म-बन्ध का कारण है । एस खलु मोहे—यह मोह का कारण है । एस खलु मारे—यह मृत्यु का कारण है । एस खलु णरए—यह नरक का कारण है । इच्छत्थं—आहार, आभूषण या प्रशंसा आदि के लिए । गड्ढिए—मूर्च्छित । लोए—लोक-प्राणी इस पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं । जं—जिससे । इमं—इस पृथ्वीकाय को । विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । पुढवीकाय संमारम्भेण—पृथ्वी-संबंधी क्रिया का आरम्भ करने से । पुढविसत्थं—पृथ्वी शस्त्र का । समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक तरह के । पाणे—प्राणियों की । विहिंसइ—हिंसा करता है ।

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव हिंसाजनित वेदना का अनुभव किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर—सेबेमि—हे शिष्य ! इसे मैं बताता हूं । अप्पेगे—जैसे कोई पुरुष ।

अन्ध¹—जन्मांध, मूक, बधिर, पंगु पुरुष को। अब्भे—कून्तादि से भेदन करे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति। अन्धमच्छे—अंध, बधिर, मूक और पंगु व्यक्ति का शस्त्र द्वारा छेदन करे।

जन्मांध, बधिर और मूक व्यक्ति की अव्यक्त वेदना के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय जीवों की वेदना समझाकर अब सूत्रकार एक व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकायिक जीव की वेदना से तुलना करते हैं। जैसे किसी व्यक्ति का, अप्पेगे²—कोई पुरुष। पायमब्भे—पांव का भेदन करे। पायमच्छे—पांव का छेदन करे। गुप्फमब्भे—गिट्टों का भेदन करे। गुप्फमच्छे—गिट्टों का छेदन करे। जंघमब्भे 2—जंघाओं का छेदन-भेदन करे। जानुमब्भे 2—जानुओं का छेदन-भेदन करे। उरुमब्भे 2—उरुओं का छेदन-भेदन करे। कडिमब्भे 2—कटि—कमर का छेदन-भेदन करे। णाभिमब्भे 2—नाभि का छेदन-भेदन करे। उदरमब्भे 2—उदर-पेट का छेदन-भेदन करे। पासमब्भे 2—पार्श्व का छेदन-भेदन करे। पिट्ठिमब्भे 2—पृष्ठ भाग—पीठ का छेदन-भेदन करे। उरुमब्भे 2—छाती का छेदन-भेदन करे। हियमब्भे 2—हृदय का छेदन-भेदन करे। थणमब्भे 2—स्तनों का छेदन-भेदन करे। खंधमब्भे—स्कंध का छेदन-भेदन करे। बाहुमब्भे 2—भुजाओं का छेदन-भेदन करे। हत्थमब्भे 2—हाथों का छेदन-भेदन करे। अंगुलिमब्भे 2—अंगुलियों का छेदन-भेदन करे। णहमब्भे 2—नखों का छेदन-भेदन करे। गीवमब्भे 2—ग्रीवा—गर्दन का छेदन-भेदन करे। हणुमब्भे 2—ठोड़ी का छेदन-भेदन करे। ओठमब्भे 2—ओष्ठों का छेदन-भेदन करे। दंतमब्भे 2—दांतों का छेदन-भेदन करे। जिव्मब्भे 2—जिह्वा का छेदन-भेदन करे। तालुमब्भे 2—तालु का छेदन-भेदन करे। गलमब्भे 2—गले का छेदन-भेदन करे। गंडमब्भे 2—गंडस्थल-कपोल का छेदन-भेदन करे। कण्णमब्भे 2—कान का छेदन-भेदन करे। नासमब्भे 2—नासिका का छेदन-भेदन करे। अच्छिमब्भे 2—आंखों का छेदन-भेदन

1. 'अन्ध' पद केवल जन्मांध का बोधक है, परन्तु उपलक्षण से बधिर आदि का भी संसूचक है।
2. 'अप्पेगे' शब्द का सब जगह कोई पुरुष अर्थ समझना चाहिए और सबके साथ यथास्थान जोड़ना चाहिए।

करे। भृगुहमन्त्रे 2—भृकुटियों का छेदन-भेदन करे। ललाटमन्त्रे 2—ललाट का छेदन-भेदन करे। सीसमन्त्रे 2—मस्तिष्क का छेदन-भेदन करे।

जैसे इस व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति को इन कारणों से स्पष्ट वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है, परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

पृथ्वीकाय के जीवों को जो वेदना होती है, उसे और स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अब तीसरा उदाहरण देते हैं—अप्पेगे—कोई पुरुष किसी व्यक्ति को इतना मारे कि। संपमारए—मूर्च्छित कर दे। अप्पेगे—कोई व्यक्ति किसी को मार-मार कर। उद्दवए—उसे—प्राणों से पृथक् कर दे।

जैसे इन प्राणियों को मूर्च्छित होने एवं मरने के पूर्व जो अव्यक्त वेदना होती है, वैसी ही अव्यक्त वेदना पृथ्वीकाय के जीवों को होती है। परन्तु अज्ञानी जीव इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे रात-दिन हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं। इसी बात को सूत्रकार अपनी भाषा में कहते हैं—इत्थं—इस पृथ्वीकाय में। सत्थं सभारम्भ-माणस्स—शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को। इच्च्वेते—इस प्रकार के। आरम्भा—आरंभ खनन-कृषि आदि सावध व्यापार में। अपरिण्णाता—अपरिज्ञात। भवन्ति—होते हैं।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में लगे हुए व्यक्ति को यह सावध प्रवृत्ति अनागत काल में अहितकर तथा बोध की अवरोधक होती है। परन्तु जो भव्य जीव—पृथ्वीकाय का आरंभ करना पाप है, ऐसा भगवान या अणुगारों से सुन कर, सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा भली-भांति जान लेता है, उसको यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वीकाय का आरंभ भविष्य में अहित और अबोधि के लाभ का कारण है। अतः ऐसे किन्हीं ज्ञानी पुरुषों को यह परिज्ञात हो जाता है कि यह पृथ्वीकाय का समारंभ ग्रंथि है, अर्थात् अष्ट कर्मों की गांठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है और उन्हें इस बात का भी परिबोध होता है कि कुछ लोग जो सांसारिक विषय-भोगों में अधिक आसक्त रहते हैं, वे आहार, भूषण और अन्य उपकरणों के लिए तथा प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अनेक प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वीकायिक जीवों का विनाश करते हैं और उसके आश्रय में रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते हैं, न सुनते हैं, न सूंघ सकते हैं, न चल सकते हैं, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते हैं? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते हैं। जैसे—कोई व्यक्ति जन्म से अंधा, बहरा, गूंगा और पंगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शस्त्रों से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दुःख से बचने के लिए न वह कहीं भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नहीं होती? नहीं, ऐसा नहीं होता, उसे वेदना का संवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को छेदन-भेदन की वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नहीं है। या यों कहिए कि उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहां चेतना है, वहां वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियों में व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमें चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियों में से यदि कोई व्यक्ति किसी प्राणी के पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, ठोड़ी, ओष्ठ, दांत, जिह्वा, तालु, गाल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आंख, भ्रू, ललाट, शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसी प्राणी को मार-पीट कर मूर्च्छित एवं प्राणों से रहित करे, तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। क्योंकि वह उसे दूसरों के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट मोह और अज्ञान के कारण जिन्हें अव्यक्त चेतना मिली है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना भी अव्यक्त है, इसलिए उनकी वेदना की अनुभूति भी अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवों को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अतः पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरंभ होता है, वह आरंभ 27 प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानी जीव अपरिज्ञात रहते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा में अनुरक्त रहता है, संलग्न रहता है; उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह बोध को प्राप्त नहीं कर पाता, इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दुःख का संवेदन करते हैं।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उसको सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एवं खान में रहा हुआ पत्थर बढ़ता रहता है और खान से निकालने एवं बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नहीं है। खान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संबद्ध पत्थर में होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि सजीव अवस्था में ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार-प्रकार एवं बनावट में अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं, वे सुख-दुःख का संवेदन भी करते हैं। पृथ्वी सजीव है। इसलिए उसमें स्थित जीव सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में तीन उदाहरण देकर समझाया है। जैसे—किसी जन्म से अंधे, बहिरे, गूंगे और पंगु व्यक्ति का कोई व्यक्ति किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करता है, तो उक्त व्यक्ति उस वेदना को व्यक्त नहीं कर सकता। परन्तु उसका संवेदन अवश्य करता है। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीव भी शस्त्र प्रयोग से होने वाली वेदना को अव्यक्त रूप से संवेदन करते हैं। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है, जैसे—किसी व्यक्ति के हाथ-पैर आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन-भेदन करने पर तथा किसी व्यक्ति को मार-पीट कर मूर्च्छित एवं प्राणरहित करते समय जिस तरह उसे वेदना होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से उसमें स्थित जीवों को वेदना एवं पीड़ा की अनुभूति होती है। पृथ्वीकायिक जीवों को किस तरह की वेदना

होती है? गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम! एक हृष्ट-पुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरुष के मस्तिष्क पर मुष्ठी का प्रहार करे, तो उस वृद्ध पुरुष को वेदना होती है? हां भगवन! उसे महावेदना होती है। उसी तरह पृथ्वीकाय का स्पर्श करने पर उसे भी वेदना होती है। जिस तरह पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह अप्काय तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के संबंध में भी जानना चाहिए¹।

एकेंद्रिय जीव असन्नी हैं, उनके मन होता नहीं। फिर वे सुख-दुःख का संवेदन कैसे करते हैं? अतः यह कहना कहां तक उचित है कि पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करने पर पृथ्वीकायिक जीवों को वेदना होती है? इसका समाधान यह है कि मन के दो भेद माने गए हैं—1- द्रव्य मन और 2- भाव मन। असन्नी प्राणियों में द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन उन में भी होता है। इसलिए अनेक तरह के शस्त्रों से जब पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन किया जाता है, तो उन्हें दुःखानुभूति होती है। उनकी चेतना अव्यक्त होने के कारण वे अपनी संवेदना को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

पृथ्वीकाय की हिंसा से अष्ट कर्म का बन्ध कैसे होता है? इस का समाधान यह है कि हिंसक प्राणी में ज्ञानादि का क्षयोपशम भाव से जो थोड़ा विकास है, स्वार्थ के कारण वह भी मन्द पड़ जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि पृथ्वीकाय का आरंभ-समारंभ आठ कर्मों की ग्रंथि रूप है, मोहरूप है, मृत्यु रूप है, नरक का कारण है।

1. पुढविकाइए णं भंते। अक्कंते समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ? गोयमा! से जहानामए—केइ पुरिसे बलवं जाव निउणसिप्पोवगए एगं पुरिसं जुणं जराजज्जरियदेहं जाव दुब्बलं किलंतं जमल पाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिज्जा, से णं गोयमा! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमल पाणिणा मुद्धाणंसि अभिहए समाणे केरिरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ? अणिट्ठं समणाउसो। तत्सणं गोयमा! पुरिसस्स वेयणाहितो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एतो अणिट्ठतरियं चेव अकंततरियं चेव जाव अमणामतरियं चेव वेयणं पच्चणु-भक्माणे विहरइ। आउएणं भंते? संघट्टिए समाणे केरिसियं वेयणं पच्चणुभवमाणे विहरइ? गोयमा! जहा पुढविकाइए एवं आउकाइएवि, एवं तेउकाइएवि, एवं वाउकाइएवि, एवं वणस्सइकाइएवि जावविहरइ।

इस तरह-प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है और अनेक तरह के शस्त्रों के प्रयोग से उसे वेदना होती है और उसकी हिंसा करने से आत्मा को भविष्य में अहित का लाभ होता है तथा बोध की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से विरत रहना चाहिए। इस बात को समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एतत् सत्यं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाता भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा णेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवन्ति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि ॥18॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पृथिवीशस्त्रं समारम्भेत्, नैव अन्यैः पृथिवीशस्त्रं समारम्भयेत्, नैव अन्यान् पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एतत्—पृथ्वीकाय में। सत्यं—शस्त्र से जो। असमारंभमाणस्स—समारम्भ नहीं करते उन को। इच्चेते—ये खनन, कृषि आदि। आरम्भा—आरम्भ-समारम्भ। परिण्णाता—परिज्ञात होते हैं। तं परिणाय—उस पृथ्वीकाय के समारम्भ को कर्म-बन्ध का कारण जानकर। मेहावी—प्रबुद्ध पुरुष—बुद्धिमान। नेव—न तो। सयं—स्वयं ही। पुढविसत्थं—समारंभेज्जा—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ-समारम्भ करे। णेवण्णेहिं—न दूसरे व्यक्तियों से। पुढविसत्थं समारंभावेज्जा—पृथ्वीकाय का शस्त्र द्वारा आरम्भ करावे। णेवण्णे—न अन्य का जो। पुढविसत्थं समारंभंते—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ कर रहा हो। समणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन करे। जस्सेते—जिसको ये। पुढविकम्मसमारंभा—पृथ्वीकायिक जीवों के हिंसाजनक व्यापार। परिण्णाया—परिज्ञात। भवन्ति—होते हैं। से हु—वही। मुणी—मुनि। परिणायकम्मा—परिज्ञातकर्मा होता है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के जीवों पर द्रव्य और भाव रूप से शस्त्र का प्रयोग न करने वाले पुरुषों को पृथ्वीकाय के आरम्भ का परिज्ञान होता है। इसलिए वे प्रबुद्धज्ञान पुरुष पृथ्वीकायिक जीवों पर न तो स्वयं शस्त्र का प्रयोग करते हैं, न दूसरे व्यक्ति से शस्त्र का प्रयोग कराते हैं और न शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन-समर्थन ही करते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति शस्त्र-प्रयोग से पृथ्वीकाय के जीवों को होने वाली वेदना को जानता है, वही व्यक्ति उस समारंभ से होने वाले कर्म-बन्ध को भली-भांति समझ सकता है और उस स्वरूप को सम्यक्तया जानने वाले मुनि को ही परिज्ञातकर्मा कहा है ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य और भाव दोनों तरह के शस्त्रों को लिया गया है। स्वकाय—अपना शरीर, परकाय—दूसरे का शरीर और उभयरूप—स्व-पर काय, इन तीनों को द्रव्य शस्त्र में लिया गया है और असंयम एवं मन, वचन और शरीर के योगों की दुष्परिणति को भाव शस्त्र माना गया है।

सूत्रकार ने इस सूत्र में इस बात को अभिव्यक्त किया है कि मुमुक्षु पृथ्वीकायिक जीवों पर किए जाने वाले शस्त्र-प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है तथा उससे आरंभ-समारंभ करने वाले व्यक्ति को जो कर्मबन्ध होता है, उसे समझे और उस सावध क्रिया का परित्याग करे।

प्रस्तुत सूत्र पूरे उद्देशक का सार रूप है। क्योंकि जब तक साधक को पृथ्वीकाय की सजीवता एवं पृथ्वीकायिक जीवों का आरंभ-समारंभ करने से होने वाले कर्म का परिज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वह उसका परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए हिंसा से विरत होने का उपदेश देने से पहले विस्तार से पृथ्वीकाय की चेतना एवं आरंभ-समारंभ से उसे होने वाली वेदना का स्वरूप बताया गया और फिर यह बताया गया कि जो प्रबुद्ध पुरुष उसकी हिंसा का, आरंभ-समारंभ का त्याग करता है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि ज्ञान का महत्व त्याग के साथ है। अतः पहले पृथ्वीकाय के स्वरूप को एवं हिंसा से होने वाले कर्म-बन्ध को भली-भांति जाने और जानने के बाद आरंभ-समारंभ का त्याग करे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में प्रवृत्तमान

हैं, वे अपरिज्ञातकर्मा हैं। अर्थात् न तो उन्हें पृथ्वीकाय के स्वरूप का ही सम्यक् बोध है और न आरंभ-समारंभ का ही त्याग है। इसलिए वे अनेक तरह के शस्त्रों से पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करके उसे दुःख, कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाते हैं और पाप कर्मों का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। क्योंकि जब वे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं, तो उसके साथ उसके आश्रित अन्य त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। ऐसा जानकर प्रबुद्ध पुरुष या मुनि पृथ्वीकाय की न स्वयं हिंसा करे, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करावे, न हिंसा करने वाले व्यक्ति को अच्छा ही समझे। यह प्रस्तुत सूत्र का सार है। यों भी कह सकते हैं कि त्रिकरण और त्रियोग से आरंभ-समारंभ का त्याग करना ही जीवन का, साधना का, संयम का सार है। ऐसा मैं कहता हूँ¹।

॥शस्त्रपरिज्ञा, द्वितीय उद्देशक समाप्त॥



1. 'तिबेमि' का विवेचन प्रथम उद्देशक के अन्त में की गई व्याख्या के समान समझें।

अध्यात्मसार : 2

मूलम्—संति पाणा पुढो सिया लज्जामाणा पुढो पास अणगारामो
त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विखवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं
पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसई॥1/2/15॥

मूलार्थ—हे शिष्य! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से संबंधित हैं, इसलिए हिंसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवों के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से मुक्त होकर पृथ्वीकायिक जीवों की रक्षा करता हुआ विचरण करता है। इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अनंगार, त्यागी एवं जीवों के संरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय जीवों का आरंभ-समारंभ करके उनकी हिंसा करते हैं। आरंभ-समारंभ एवं पृथ्वी के शस्त्र से वे पृथ्वीकाय के जीवों का ही नहीं, अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवों की भी घात करते हैं। इस बात को तू देख, समझ।

पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीरी हैं। कुछ लोग समस्त पृथ्वी को एक देवता के रूप में मानते हैं, पर यह एक मिथ्या धारणा है। धरती माँ है, यह देवस्वरूप है, यह उपमा है। उपमा रूप में मानो तो ठीक है। लेकिन वास्तविक मान गये, तब यह धारणा मिथ्या है। पृथ्वी देव-अधिष्ठित हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक देवों का अपना-अपना क्षेत्र है, अपना-अपना स्थान है। लेकिन वास्तविक रूप से पृथ्वी तिर्यच योनि का जीव है। जैसे किन्हीं जीवों का हम पर उपकार है, उस उपकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना ठीक है। लेकिन पृथ्वी को देव मानना मिथ्या है।

नमन—ऐसे तो पंचपरमेष्ठी में सभी का समावेश हो जाता है। अरिहंत सर्वोत्तम हैं, उनकी सेवा में 64 इन्द्र हैं। जो अरिहंत को नमन करता है, उस अरिहंत को नमन करने में सबको नमन हो जाता है। जो अरिहंत की भक्ति करता

है, संयम एवं धर्मरक्षा हेतु प्रार्थना करता है, तब प्रभु स्वयं तो नहीं आते, लेकिन रक्षक देव उसे सहयोग देते हैं।

जैसे लोगस्स को पढ़ने से सम्यक्त्व में स्थिरता आती है तो वह इस प्रकार आती है—1. जब कोई लोगस्स पढ़ता है तब उसके शरीर और मन से ऐसी तरंगें उठती हैं जो उसे देव, गुरु एवं धर्म में अधिष्ठित करती है चाहे वह व्यक्ति लोगस्स का अर्थ भी न जानता हो फिर भी शुद्ध उच्चारण मात्र से यह बात घटित होती है, 2. साथ में जो अधिष्ठित रक्षक देव हैं, वे उस व्यक्ति के अध्यवसायों पर प्रभाव डालकर उसे सम्यक्त्व में दृढ़ करते हैं।

जिस क्षेत्र में अरिहंत देव विचरते हैं, वहाँ का वातावरण कैसे शुद्ध हो जाता है?

अरिहंत देव के शुद्ध पुद्गलों द्वारा, अरिहंत देव की सेवा में रहे देव उस क्षेत्र में रहे हुए अशुभ पुद्गलों का हरण करके शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपण करते हैं।

निश्चय में अरिहंत-देव की सेवा भक्ति करने से सभी की सेवा भक्ति हो जाती है और व्यवहार से जिसका सहयोग लेना हो, आह्वान करना हो, अरिहंत-देव के साथ-साथ उन्हें भी याद करना उनकी भी सेवा-भक्ति करनी चाहिए।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

तृतीय उद्देशक

प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में बताया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय के संबन्ध में वर्णन किया गया है—जैसे दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकाय सजीव है, उसमें स्थित जीवों को शस्त्र-प्रयोग से वेदना की अनुभूति होती है और उसका आरंभ-समारंभ करने से कर्मबन्ध होता है और वह भविष्य में अहितकर और अबोध का कारण बनता है, उससे संसार बढ़ता है, इसलिए मुमुक्षु को उस आरंभ-समारंभ से दूर रहना चाहिए, आदि बातों को विस्तार से समझाया गया है। उसी तरह प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय में भी चेतनता है और उसे भी शस्त्र आदि के संस्पर्श एवं प्रयोग से पीड़ा एवं वेदना की अनुभूति होती है आदि बातों का वर्णन किया जायगा। अप्काय के संबन्ध में कुछ बताने के पूर्व सूत्रकार भूमिका रूप से अप्कायिक जीवों का संरक्षण करने वाले अनगार—मुनि की योग्यता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥19॥

छाया—तद् ब्रवीमि स यथा अणगारः ऋजुकृतः नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः व्याख्यातः।

पदार्थ—से अणगारे—वह अणगार। जहा—जैसा होता है। सेबेमि—वह मैं कहता हूँ। उज्जुकडे—संयम का परिपालक। नियायपडिवण्णे—जिस ने मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया है। अमायं कुव्वमाणे—माया—छल-कपट नहीं करने काला। वियाहिए—कहा गया है।

मूलार्थ—हे शिष्य! अणगार-मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मैं कहता हूँ। जो प्रबुद्ध पुरुष संयम का परिपालक है, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील है और

माया—छल-कपट आदि कषायों का त्यागी है या निश्छल एवं निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है, वही अनगार—मुनि कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

साधु, मुनि या अनगार जीवन क्या है? यह प्रश्न आज का नहीं, शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पहले का है। भगवान महावीर के युग में, महावीर के ही युग में नहीं, उससे भी पहले यह प्रश्न विचारकों के सामने चक्कर काटता रहा है, क्योंकि अनेकों व्यक्ति अपने आपको मुनि, त्यागी कहते रहे हैं। अतः त्यागी किसे समझा जाए, उसकी पहचान क्या है? उसका जीवन कैसा होना चाहिए? आदि प्रश्नों का उठना सहज-स्वभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र में इन्हीं प्रश्नों का गहन भाषा में समाधान किया गया है। अनगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है—1-संयम का परिपालक हो, 2-मोक्ष-मार्ग पर गतिशील हो और 3-माया रहित अर्थात् निश्छल एवं निष्कपट हृदय वाला हो। इन विशेषणों से युक्त साधक ही अनगार कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि यहां साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि साधना के पथ पर गतिशील होने वाले साधक के लिए सब से पहले घर का त्याग करना अनिवार्य है। घर-गृहस्थ में रहते हुए वह सम्यक्तया साधुत्व की साधना-आराधना एवं परिपालना नहीं कर सकता। क्योंकि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे न चाहते हुए भी आरंभ-समारंभ के कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। आरंभ-समारंभ में प्रवृत्ति किए बिना गृहस्थ कार्य चल ही नहीं सकता और साधु-जीवन में आरंभ-समारंभ की क्रिया को जरा भी अवकाश नहीं है। अतः साधुत्व का परिपालन करने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग करना अनिवार्य है। इसलिए सूत्रकार ने साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि साधक साधु जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व घर एवं गृहस्थ-संबन्धी सावध कार्य पूर्णतया त्याग करे।

अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है—घर-रहित। परन्तु घर का परित्याग करने मात्र से ही साधुत्व नहीं आ जाता है। उसके लिए जीवन को मांजने एवं परिष्कृत करने की आवश्यकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने अनगार शब्द के साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। पहला विशेषण है—उज्जुकडे—(ऋजुकृतः) इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है—

“ऋजुः-अकुटिलः संयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय-निरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षण-प्रवृत्तत्वादयैकरूपः।”

अर्थात् सरल, कुटिलता से रहित, संयम मार्ग में प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्त मन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्त्व के संरक्षण में प्रवृत्तमान साधक को ऋजु कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि संयम मार्ग में प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है। क्योंकि कुछ व्यक्ति घर का परित्याग करके अपने आप को अनगार या साधु कहने लगते हैं। परन्तु घर का परित्याग करने के साथ वे कुटिलता एवं सावद्य कार्यों का परित्याग नहीं करते, मन, वचन और काय का दुष्कार्यों से निरोध नहीं करते। इसलिए वे वास्तव में अनगार नहीं हैं। इसी बात को सूत्रकार ने ‘ऋजुकृतः’ विशेषण से स्पष्ट किया है। अनगार वही है, जो अपनी इन्द्रियों, मन एवं योगों को नियन्त्रण में रखता है, सब प्राणियों की दया एवं रक्षा करता है।

कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधने के लिए, यश-ख्याति पाने के लिए या भौतिक सुख एवं स्वर्ग आदि पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एवं मन पर भी नियन्त्रण कर लेते हैं। फिर भी वे वास्तव में अनगार नहीं कहे जा सकते, जब तक उनकी प्रवृत्ति मोक्ष-मार्ग में नहीं है। इस बात को सूत्रकार ने ‘नियाय पडिवण्णे’ विशेषण से स्पष्ट किया। इसकी परिभाषा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि

“नियाग—सम्यग्दर्शनज्ञान—चारित्रात्मक मोक्षमार्ग-प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः।”

अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियागप्रतिपन्न कहा गया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस साधक की साधना, इन्द्रियों एवं योगों पर नियन्त्रण एवं तपस्या आदि अनुष्ठान बिना किसी भौतिक आकांक्षा-अभिलाषा के होता है अर्थात् यों कहिए कि जो केवल कर्मों की

निर्जरा करके शुद्ध आत्म-स्वरूप प्रकट करने या निर्वाण-मोक्ष पद पाने हेतु, साधना करता है, वही साधक संयम-सम्पन्न है, अनगार है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि साधक इस लोक में भौतिक सुख पाने के लिए तपस्या न करे, परलोक में स्वर्ग एवं ऐश्वर्य पाने की आकांक्षा से तप न करे, यश-कीर्ति पाने हेतु तपस्या न करे। किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तपश्चर्या करे¹। जैसे तप के लिए कहा गया है, उसी तरह समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए कहा है। बिना किसी भौतिक इच्छा-आकांक्षा या निदान के, साधना या संयम पर गतिशील होना यही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग पर आरूढ़ साधक ही सच्चा एवं वास्तव में अनगार है।

अनगार का तीसरा विशेषण है 'अमायं' अर्थात् छल-कपट नहीं करने वाला। माया को भी जीवन का बहुत बड़ा दोष माना गया है। आगम में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "माई मिच्छादिद्वी, अमाई सम्मदिद्वी" अर्थात्—माया एवं छल-कपट-युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है। संसार के कार्यों में ही नहीं, धर्म-प्रवृत्ति में भी छल-कपट करना दोष माना गया है। 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ ने अपने साधु के पूर्वभव में माया-पूर्वक तप किया था। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—उनके छह साथी सन्त थे। सब एक साथ तप शुरू करते, मल्लिनाथ का जीव सन्त यह सोचता कि मैं इन से अधिक तप करूँ, पर करूँ कैसे? यदि इन्हें कह दूँगा कि मुझे आज पारणा नहीं, तपस्या करनी है, तो यह भी तप कर लेंगे। इस तरह तप में मैं इनसे आगे नहीं रह सकूँगा। अतः उन्होंने साथी सन्तों से कपट करना शुरू किया। उन्हें पारणा के लिए कह देते और स्वयं तप कर लेते। इस तरह मायायुक्त तप का परिणाम यह रहा कि उन्होंने स्त्री वेद का बन्ध किया। इस से यह स्पष्ट हो गया कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट क्रिया में भी माया करना बुरा है। इसीलिए सूत्रकार ने माया-रहित, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील, संयम-संपन्न व्यक्ति को ही अनगार कहा है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही सर्व प्राणियों की रक्षा कर सकता है।

अणगार के यथार्थ स्वरूप को बताने के बाद, साधना या त्याग मार्ग पर प्रविष्ट

1. चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—1-नो इहलोगइयाए तवमहिडिज्जा, 2-नो परलीगइयाए तवमहिडिज्जा, 3-नो कित्तिवन्नसदसिलोगइयाए तवमहिडिज्जा, 4-नन्नत्थ निज्जरइयाए तवमहिडिज्जा, चउत्थं पयं भवइ। —दशवैकालिक सूत्र 9/4/4

होने वाले साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहिता विसोत्तियं ॥20॥

छाया—यथा श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेव अनुपालयेत्, विहाय विस्रोतसिकां ।

पदार्थ—जाए—जिस । सद्धाए—श्रद्धा से । निक्खंतो—घर से निकला है—दीक्षित हुआ है । विसोत्तियं—शंका को । वियहिता—छोड़ कर । तमेव—उसी श्रद्धा का जीवन-पर्यन्त । अणुपालिज्जा—परिपालन करे ।

मूलार्थ—जिस श्रद्धा एवं त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है, उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शंकाओं से रहित होकर जीवन-पर्यन्त संयम का परिपालन करे ।

हिन्दी-विवेचन

आगम में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार का वर्णन मिलता है । प्रस्तुत सूत्र में दर्शनाचार का विवेचन किया गया है । वस्तु-तत्त्व को जानने की अभिरुचि या तत्त्वों पर श्रद्धा करने का नाम दर्शन है । दर्शनाचार को पांचों में पहला स्थान दिया गया है । इसका कारण यह है कि तत्त्वों को जानने की अभिरुचि होने पर ही साधक ज्ञान की साधना में संलग्न हो सकता है । इसलिए ज्ञान से पहले दर्शन-श्रद्धा का होना जरूरी है । इसी तरह चारित्र-संयम, तप एवं वीर्याचार पर श्रद्धा-विश्वास होने पर ही वह उनको स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नहीं । यही कारण है कि श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है । आगम में भी मनुष्य जन्म, शास्त्र-श्रवण, संयम मार्ग में प्रवृत्त होने आदि को दुर्लभ बताया गया है, परन्तु श्रद्धा के लिए कहा गया है कि वह दुर्लभ ही नहीं, परम दुर्लभ है—

“सद्धा परम दुल्लहा”

इसलिए सूत्रकार ने मुमुक्षु को विशेष रूप से सावधान एवं जागृत करते हुए कहा है कि हे साधक ! तू जिस श्रद्धा-विश्वास के साथ साधना-पथ पर गतिशील हुआ है, उस श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता को मत आने देना । अपने हृदय में किसी

भी तरह शंका-कुशंका को प्रविष्ट न होने देना। अपनी आंतरिक भावना के विश्वास को दूषित मत करना।

यह अनुभूत सत्य है कि संसारी जीवों की भावना सदा एक सी नहीं रहती। आत्मा के परिणामों की धारा में परिवर्तन होता रहता है। विचारों में कभी मन्दता आती है, तो कभी तीव्रता। साधक के मन में भी दीक्षा के समय जो उत्साह एवं उल्लास होता है, उसमें मन्दता एवं वेग (तीव्रता) दोनों के आने को अवकाश रहता है। उसकी श्रद्धा में दृढ़ता एवं निर्बलता दोनों के आने के निमित्त एवं साधन मिलते हैं। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि श्रद्धा को कमजोर बनाने वाले साधनों से बचकर दृढ़ विश्वास के साथ संयम-मार्ग पर गति करे।

श्रद्धा को क्षीण बनाने या विपरीत दिशा में मोड़ देनेवाला संशय है। जब मन में, विचारों में सन्देह होने लगता है, तो साधक का विश्वास डगमगा जाता है, उसकी साधना लड़खड़ाने लगती है। अतः साधक को इस बात के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके मन में सन्देह प्रविष्ट न हो सके। संशय को पनपने देना साधना के मार्ग से गिरना है।

संशय भी दो प्रकार का होता है—1-सर्व संशय और देश संशय। पूरे सिद्धान्त पर सन्देह होना या मन में यह सोचना कि यह सिद्धान्त वीतराग द्वारा प्रणीत है और वीतराग की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त हो जायगी—इसे किसने देखा है? अतः इस पर कैसे विश्वास किया जाए? यह सर्व शंका है और सिद्धान्त के किसी एक तत्त्व या पहलू पर सन्देह करना देश शंका है। जैसे—मुक्ति है या नहीं? यह देश शंका का उदाहरण है। दोनों तरह की शंकाएं आत्मा की श्रद्धा को शिथिल कर देने वाली हैं, अतः साधक को अपने हृदय में शंका को उद्भूत नहीं होने देना चाहिए।

साधनापथ नया नहीं है। अनन्त काल से अनेकों साधक इस पथ पर गतिशील होकर अपने साध्य को सिद्ध कर चुके हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पणया वीरा महावीहिं ॥21॥

छाया—प्रणताः वीरा महावीथिम्।

पदार्थ—वीरा—वीर पुरुष—परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय प्राप्त करने वाले। महावीहिं—प्रधान मोक्ष-मार्ग में। पणया—पुरुषार्थ कर चुके हैं।

मूलार्थ—यह संयम-मार्ग परिषह—उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर-महावीर पुरुषों द्वारा आसेवित है।

हिन्दी-विवेचन

हम यह प्रथम ही बता चुके हैं कि जीवन में श्रद्धा की ज्योति का प्रदीप्त रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। हम सदा देखते हैं कि श्रद्धा के बिना लौकिक या लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नहीं होता। साधना को सफल बनाने के लिए दृढ़ एवं शुद्ध श्रद्धा होनी चाहिए। इसी बात को सूत्रकार ने पिछले सूत्र में बताया है कि साधक को अपने हृदय में संशय को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में श्रद्धा को दृढ़ बनाए रखने के लिए सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह साधना का मार्ग आज से नहीं, अपितु अनादि काल से चालू है, अनेक वीर पुरुषों ने इस मार्ग पर गतिशील होकर निर्वाण पद को प्राप्त किया है।

‘वीर’ शब्द का सीधा सा अर्थ शक्तिशाली है। परन्तु प्रस्तुत सूत्र में इसका संबन्ध शारीरिक एवं भौतिक बल एवं शक्ति नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति से है। वीर या बलवान वह है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को परास्त करने की शक्ति रखता है, मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पदार्थों को देख कर मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को उभरने नहीं देता है। क्योंकि दुनिया में राग-द्वेष एवं कषाय सब से शक्तिशाली माने गए हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा एवं चक्रवर्ती सम्राट् तब तक उनके कृतदास बन जाते हैं, कषायों एवं राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवहमान होने लगते हैं। अतः सच्चा विजेता और वास्तविक शक्तिशाली व्यक्ति वही माना जाता है, जो इन बलवान योद्धाओं को पछाड़ देता है। प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि गजसुकुमार जैसे वीर पुरुषों ने राग-द्वेष, कषाय एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है। श्रेष्ठ एवं महान् पुरुषों द्वारा आचरित होने से यह प्रशस्त है, अतः मुमुक्षु को उत्साह के साथ साधना-पथ पर बढ़ते रहना चाहिए।

पिछले सूत्रों एवं प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने अप्कायिक जीवों के संरक्षक अणुगार

की योग्यता एवं उस के स्वरूप का वर्णन किया है। अब अगले सूत्र में सूत्रकार अप्कायिक जीवों के संबन्ध में वर्णन करेंगे। किन्तु अप्कायिक जीवों का विस्तार से विवेचन करने के पूर्व सूत्रकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधक को इस बात पर विश्वास एवं श्रद्धा रखनी चाहिए कि अप्काय में जीव हैं, उस का आरंभ-समारंभ करने से पाप कर्म का बन्ध होता है। यदि कभी अपनी बुद्धि काम नहीं करती है, तब भी तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित एवं महापुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर श्रद्धा रखकर वीतराग की आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं ॥22॥

छाया—लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतो भयम्।

पदार्थ—लोग—अप्काय रूप लोक को। च—और, अन्य पदार्थों को। आणाए—तीर्थकर भगवान की आज्ञा से। अभिसमेच्चा—जानकर। अकुओभयं—संयम का परिपालन करे।

मूलार्थ—तीर्थकर भगवान के वचनों से अप्काय के स्वरूप को जानकर संयम का परिपालन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि वीतराग की वाणी पर पूर्ण विश्वास रखकर तदनुसार ही आचरण करना चाहिए। क्योंकि जब तक साधक छद्मस्थ है, तब तक उसके ज्ञान में अपूर्णता होने के कारण वह वस्तु के स्वरूप को भली-भाँति नहीं भी देख पाता। कई बातों के लिए उसके मन में संदेह उठना स्वाभाविक है। परन्तु वीतराग के वचनों में संशय करने को अवकाश ही नहीं है। क्योंकि वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने से प्रत्येक द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को जानते-देखते हैं। इसलिए उनके वचनों के आधार पर साधक प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को सम्यक्तया जान सकता है और उनके वचनानुसार गति करके एक दिन सिद्धत्व को पा सकता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का विषय के अनुरूप अप्काय लोक अर्थ होता है और 'अकुतोभयं' संयम का परिबोधक है और अप्काय का विशेषण भी है। संयम अर्थ में इसकी परिभाषा इस प्रकार है—“न विद्यते कुतश्चिद्धेतोःकेनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽयं अकुतोभयः संयमः तमनुपालयेदिति सम्बन्धः।”

अर्थात्—जिस साधना या क्रिया से जीवों को किसी भी प्रकार का या किसी भी प्रकार से भय न हो, उसे 'अकुतोभयः' कहते हैं; वह साधना का प्राणभूत संयम ही है।

जब उक्त शब्द का अप्काय के विशेषण के रूप में प्रयोग करते हैं, तो उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बनेगी—“अकुतो भयः अप्कायलोकः यतोऽसौ न कुतश्चिद्-भयमिच्छति मरणभीरुत्वात्।” अर्थात्—मरणभीरु होने के कारण अप्काय के जीव किसी से भी भयभीत होने के इच्छुक नहीं हैं, अतः इसे 'अकुतोभयः' कहते हैं।

'अभिसमेच्चा-अभिसमेत्य' शब्द अभि + सम् + इत्वा के संयोग से बना है। अभि का अर्थ है—सब प्रकार से, सम् का अभिप्राय है—अच्छी तरह से, सम्यक् प्रकार से और इत्वा का तात्पर्य है—जान कर। अस्तु 'अभिसमेच्चा' का अर्थ हुआ—सम्यक् प्रकार से जानकर।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने भगवान की वाणी से अप्काय के जीवों के स्वरूप को जानकर, भगवान की आज्ञा के अनुसार उनकी यतना करे। अब सूत्रकार अप्काय में जो चैतन्य—सजीवता है; उसका अपलाप न करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥23॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत् (अभ्याख्यायेत्) नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत्, यो लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति, यः आत्मानम् अभ्याख्याति सः लोकं अभ्याख्याति।

पदार्थ से—वह (मैं) तुम्हारे प्रति। बेमि—कहता हूँ कि। णेव—नहीं। सयं—अपनी

आत्मा से। लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्माइक्खिज्जा—अभ्याख्यान—अपलाप। अत्ताणं—आत्मा का। अब्माइक्खिज्जा-णेव—निषेध नहीं करना चाहिए। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अप्काय रूप लोक का। अब्माइक्खिज्जा—निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्माइक्खिज्जा—निषेध करता है। जे—जो। अत्ताणं—आत्मा का निषेध करता है। से—वह। लोयं अब्माइक्खिज्जा—अप्काय रूप लोक का निषेध करता है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! मैं तुम्हें कहता हूँ कि मुमुक्षु को स्वयं अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलाप-निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है, वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अप्काय के संबन्ध में उसी भाषा का प्रयोग करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अप्कायिक जीवों की आत्मा के साथ तुलना करके अप्काय में चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से संसार की समस्त आत्माएं एक समान हैं। अप्काय में स्थित आत्मा में एवं मनुष्य शरीर में परिलक्षित होने वाली आत्मा में स्वरूप की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। यहां तक कि सर्व कर्मों से मुक्त सिद्धों की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है। आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा में अन्तर नहीं है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है। अप्कायिक जीवों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहां आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को जरा भी अवकाश नहीं है। इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं, भेद केवल विकास की अपेक्षा से है।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले हैं—भले ही वे खान में मिट्टी से लिपटे हों, जौहरी की दुकान पर पड़े हों या स्वर्ण आभूषण में जड़े हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं। भेद

है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का। उस दृष्टि में खान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पड़े सुघड़ हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण में जड़ा हुआ हीरा। तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है। अन्तर्दृष्टि से हीरा हर दशा में मूल्यवान है, कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप में भी पहचान लेती है। यही स्थिति आत्मा के संबन्ध में है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओं की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों की आत्मदृष्टि उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमें उसके अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि आत्म-स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। अतः अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवों की सत्ता का निषेध करना। इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध कर के इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक के आत्मअस्तित्व को मानने से इमकार करने का अर्थ है, समस्त जीवों की आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना और यह आगम, तर्क एवं अनुभव से विपरीत है। इसलिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवों का एवं अपनी आत्मा का अपलाप नहीं करना चाहिए।

‘अभ्याख्यान’ शब्द का अर्थ है—असदभियोग अर्थात् झूठा आरोप लगाना जैसे—जो व्यक्ति चोर नहीं है, उसे चोर कहना और जो चोर है उसे अचोर कहना या साहूकार बताना अभ्याख्यान है¹। इसी तरह अप्कायिक जीवों में चेतनता होते हुए भी उन्हें निश्चेतन या निर्जीव कहना, उनकी सजीवता पर मिथ्या आरोपण है, इसलिए इसे अभ्याख्यान कहा गया है।

यह सत्य है कि अप्काय में चेतना का अल्प विकास है। परन्तु इससे हम उसकी सत्ता का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी चेतना अनुभव-सिद्ध है। वह उपयोगी है और घी-तेल की तरह द्रवित है। इससे हम उसे निर्जीव नहीं कह सकते। क्योंकि सभी उपयोगी एवं तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते। जैसे—घोड़ा, गाय-भैंस आदि पशु

1. अभ्याख्यानं नाम—असदभियोगः, यथाऽचौरं चौरमित्याह।

उपयोगी होने पर भी सजीव हैं और हस्तिनी के गर्भ में उत्पन्न होने वाला जीव तथा सभी पक्षियों के अंडे रूप में जन्म लेने वाला प्राणी कई दिनों तक तरल रहता है। फिर भी उसे सजीव मानते हैं। यदि उसकी तरल अवस्था में सजीवता नहीं मानोगे तो उससे बनने वाले अंगोपांग युक्त हाथी एवं पक्षियों में सजीवता प्रतीत नहीं होगी। इसलिए हस्तिनी के गर्भ में एवं अंडे में तरल अवस्था में स्थित अव्यक्त चेतना स्वीकार की गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पानी में चेतना का अस्तित्व है¹ द्रवित होने मात्र से उसे निर्जीव कहना सर्वथा अनुचित है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व को इनकार करना अपलाप कहा जाता है, उसी तरह अनुभव-सिद्ध अप्काय की सजीवता का निषेध करना भी अभ्याख्यान या अपलाप कहलाता है। जो अप्काय के अस्तित्व का अपलाप करते हैं, वे उसके आरम्भ-समारम्भ से नहीं बच सकते और उसके आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त न होने के कारण फिर संसार में परिभ्रमण करते हैं और जो उसकी सजीवता को जानते हैं, वे उसका अपलाप भी नहीं करते और उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके संसार-सागर से पार हो जाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढोपास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं उदय कम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइ-मरण मोयणाए दुक्खपडिघाय हेउं से संयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदय-सत्थं समारंभावेति, अण्णे उदय-सत्थं समारंभंते समणुजाणति। तं से अहियाए, तं से अबोहिए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु

1. सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्—हस्तिशरीरोपादान—भूत कललवत्।.....
.....तथा सात्मकं तोयम् अनुपहत-द्रवत्वाद् अण्डकमध्यस्थितकललवत्, इत्यादि।

णरण, इच्चत्थं गट्टिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्म-
समारंभेण उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।
से बेमि सन्ति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥24॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य! अनगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः
यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण उदकशस्त्रं समारम्भमाणाः अनेक
रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव
जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिधात-हेतुं
सः स्वयमेव उदकशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा उदकशस्त्रं समारंभयति अन्यान्
उदकशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते । तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये,
सः एतत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणाम् अन्तिके
इह एकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः एष खलु मारः, एष
खलु नरकः, इत्यर्थं गृह्यः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदक-कर्म समारम्भेण
उदकशस्त्रं समारम्भमाणोऽन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहि-नस्ति अथ ब्रवीमि
सन्ति प्राणाः उदक निश्चिताः जीवाः अनेके ।

पदार्थ—हे शिष्य! पास—तू देख । पुढो लज्जमाणा—अपकाय की हिंसा से
लज्जा करते हुए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को । एगे—कोई-कोई अन्य
मतावलम्बी । अणगारामो ति—हम अणगार हैं, इस प्रकार । पवयमाणा—कहते
हुए । जमिणं—जो यह । विरूवरूवेहिं—अनेक प्रकार के । सत्थेहिं—शस्त्रों से ।
उदयकम्मसमारम्भेण—अपकाय संबन्धी आरम्भ करने से । उदयसत्थं—अपकायिक
शस्त्र का । समारम्भमाणे—प्रयोग करते हुए । अणेगरूवे—अनेक प्रकार के ।
पाणे—जीवों की । विहिंसइ—हिंसा करते हैं । तत्थ—वहां । खलु—निश्चय से ।
भगवता—भगवान ने । परिण्णा—परिज्ञा—विवेक । पवेदिता—बताया है । चैव
इमस्स—इसी । जीवियस्स—जीवन के वास्ते । परिवंदण—प्रशंसा । माणण—सम्मान
और । पूयणाय—पूजा के वास्ते । जाइ—मरण । मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के
लिये और दुक्ख पडिघाय हेउं—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का नाश करने के
लिये । से—वह । सयमेव—स्वयं भी । उदय-सत्थं—अपकायिक शस्त्र का । समारम्भति—
समारंभ करता है । वा—अथवा । अण्णेहिं—अन्य व्यक्ति से । उदय-सत्थं—अपकायिक

शस्त्र का । समारम्भवेति—समारम्भ कराता है । तथा—उदय—सत्यं—अपकायिक शस्त्र का । समारंभते—समारम्भ करते हुए । अण्णे—अन्य व्यक्तियों का । समणुजाणति—अनुमोदन-समर्थन करता है । तं—वह अपकायिक समारम्भ । से—उस को । अहियाए—अहितकर होता है । तं—वह । से—उसको । अबोहिए—अबोध का कारण होता है । से—वह । तं—इस विषय में । संबुज्झमाणे—संबुद्ध हुआ प्राणी । आयाणीयं—उपादेय ज्ञान-दर्शनादि से । समुट्ठाय—सम्यक्कृतया उठ कर या सावधान होकर । सोच्चा—सुनकर । भगवतो—भगवान से या । अणगाराणं—अणगारों के । अन्तिए—समीप से । इह—इस संसार में । एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को । णायं—ज्ञात । भवति—होता है । खलु—निश्चय ही । एव—यह अपकायिक समारम्भ । गंध—अष्टविध कर्मों की गांठ है । एस खलु—यह निश्चय ही । मोहे—मोह का कारण है । एस खलु—यह निश्चय ही । मारे—मृत्यु का कारण है । एस खलु—यह निश्चय ही । णरए—नरक का कारण होने से नरक रूप है । इत्थं—इस प्रकार विषयों में । गड्ढिए लोए—मूर्च्छित लोक । जमिणं—इस अपकाय का । विरुविरुवेहिं—अनेक तरह के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । उदयकम्मसमारम्भेण—अपकायिक कर्म के समारंभ से । उदयंसत्यं—अपकायशस्त्र का । समारम्भमाणे—समारंभ-प्रयोग करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक तरह के । पाणे—प्राणियों की । विहिंसई—विविध प्रकार से हिंसा करता है । से—अब । बेमि—कहता हूँ । पाणा—प्राणी । उदयनिस्सिया—अपकाय के आश्रित । अणेगे—अनेक । जीवा—जीव । संति—विद्यमान हैं ।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! अपकाय की हिंसा से लज्जा करने वाले प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को तू देख! और उनको भी देख, जो अपने आप को अनगार कहते या मानते हुए अपकायिक जीवों का अनेक तरह से आरम्भ-समारम्भ करते हैं और अपकाय रूप शस्त्र का आरंभ-समारंभ करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करते हैं । इसलिए भगवान ने अपकाय का आरंभ करने के संबन्ध में परिज्ञा का उपदेश दिया है, अर्थात् ज्ञ परिज्ञा से अपकाय के स्वरूप को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से अपकायिक आरंभ-समारंभ का त्याग करने की बात कही है ।

प्रमादी एवं अज्ञानी जीव इस जीवन के निमित्त, प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा

पाने के लिए तथा जन्म-मरण के दुःख से उन्मुक्त होने के लिए अप्कायिक जीवों का स्वयं आरम्भ-समारम्भ करते हैं और दूसरे व्यक्तियों से कराते हैं तथा आरम्भ करने वाले प्राणियों की प्रशंसा करते हैं। परन्तु यह अप्कायिक जीवों का आरंभ-समारंभ उनके लिए अहितकर एवं अबोध का कारण बनता है।

कुछ व्यक्ति अप्काय आदि के वास्तविक स्वरूप को जानकर सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। और भगवान या अणगार—मुनियों के पास से अप्कायिक समारम्भ के संबन्ध में सुनकर वे इस बात को भली-भांति जान-समझ लेते हैं कि यह अप्काय का आरम्भ-समारम्भ अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि—गांठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का हेतु है। इस में आसक्त बने हुए प्राणी ही अप्कायिक शस्त्र का समारम्भ करते हुए, उसका एवं उसके आश्रित स्थित अन्य स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। यह मैं तुम्हें बताता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और वीर्याचार, इस तरह चारों आचारों का वर्णन कर दिया है। अप्कायिक जीवों की सजीवता का सम्यक्बोध प्राप्त करना ज्ञानाचार है; उनकी सजीवता पर दृढ़ विश्वास एवं श्रद्धा रखना दर्शनाचार है, उनकी हिंसा का परित्याग करना चारित्राचार है और उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। इस तरह एक सूत्र में चारों आचारों का समन्वय कर दिया है। ये चारों आचार ही संयम के आधार हैं। इनसे संयुक्त जीवन ही मुनि-जीवन है।

कुछ लोग अप्कायिक जीवों के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर भी अपने आप को अणगार कहते हैं। वे भले ही अपने आपको कुछ भी क्यों न कहें, परन्तु वास्तव में वे अणगार नहीं हैं। क्योंकि अभी तक उन्हें न तो अप्काय में जीवत्व का बोध है और न वे उसके आरम्भ-समारम्भ के त्यागी हैं। अतः वे सभी अणगारत्व से बहुत दूर हैं।

‘से बेमि’ में प्रयुक्त हुआ ‘से’ शब्द आत्मा (अपने आप) का बोधक है। इसलिये ‘से बेमि’ का तात्पर्य हुआ कि ‘मैं कहता हूँ।’

अप्काय भी पृथ्वीकाय की तरह, प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिण्डरूप

एवं अंगुल के-असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाली है। इसलिए उसके स्वरूप को भली-भाँति जानकर मुमुक्षु को सदा उसकी हिंसा से बचना चाहिए। अप्कायिक आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए, जिससे उसका संयम भी शुद्ध रहेगा और उनसे आध्यात्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी¹।

अन्य दार्शनिक जल के आश्रित रहे हुए जीवों को तो मानते हैं, परन्तु जल को सजीव नहीं मानते। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहं च खलु भो । अणगाराणं उदय जीवा वियाहिया ॥25॥

छाया—इह च खलु भो ! अणगाराणां उदक जीवाः व्याख्याताः ।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में। **इह—**इस-तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित आगम में। **भो—**अरे! **अणगाराणं—**अनगारों को। **उदय जीवा—**अप्काय स्वयं सजीव है, यह। **वियाहिया—**संबोधन अर्थ में कहा गया है। **च—**चकार से अप्कायिक जीवों के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे हुए द्विन्द्रिय आदि अन्य जीवों का ग्रहण किया गया है।

मूलार्थ—हे जम्बू! जिनेन्द्र भगवान द्वारा दिए गए प्रवचन में ही अप्काय में ही अप्काय को जीवों का पिण्ड माना है और अप्काय—जल को सजीव मानने के साथ यह भी कहा है कि उसके आश्रित द्विन्द्रिय आदि जीव भी रहते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अप्काय—जल सजीव है, सचेतन है। और इस बात को केवल जैन दर्शन ही मानता है। अन्य दर्शनों ने जल में दृश्यमान एवं अदृश्यमान अन्य जीवों के अस्तित्व को तो स्वीकारा है। परन्तु जल स्वयं सजीव है, इस बात को जैनों के अतिरिक्त किसी भी विचारक या दार्शनिक ने नहीं माना। वस्तुतः पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों की सजीवता को प्रमाणित करके जैन दर्शन ने अध्यात्म-विचारणा में एक नया अध्याय जोड़ दिया और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम सर्वज्ञ-प्रणीत हैं।

1. प्रस्तुत सूत्र का वर्णन पृथ्वीकाय के प्रकरण में सूत्र 17 की व्याख्या के समान समझें।

प्रश्न—यदि अप्काय—जल सजीव है, असंख्यात जीवों का पिण्ड है, तो फिर उसका उपयोग करने पर उसकी हिंसा होगी ही। और जल का उपयोग दुनिया के सभी मनुष्य करते हैं, साधु भी उसका उपयोग करते ही हैं। ऐसी स्थिति में वे अप्कायिक जीवों की हिंसा से कैसे बच सकते हैं?

उत्तर—जैनागमों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। पानी तीन प्रकार का बताया गया है—1- सचित्त—जीव-युक्त, 2- अचित्त—निर्जीव और 3-मिश्र, सजीव और निर्जीव का मिश्रण। इस में सचित्त और मिश्र यह दो तरह का पानी साधु के लिए अग्राह्य है। किन्तु अचित्त जल, जिसे प्रासुक पानी भी कहते हैं, साधु के लिए ग्राह्य बताया गया है। क्योंकि उसमें सजीवता नहीं होने से वह निर्दोष है। आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करने में साधु को हिंसा नहीं होती। क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया यत्ना एवं विवेकपूर्वक होती है। वह अनावश्यक कोई क्रिया नहीं करता। इसलिए उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता है।

यहां इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि बाह्य शस्त्र के प्रयोग से परिणामान्तर को प्राप्त जल अचित्त—निर्जीव होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सत्थं चेत्यं अणुवीइ पास, पुढो सत्थं पवेइयं ॥26॥

छाया—शस्त्रं अनुविचिन्त्य पश्य पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम्।

पदार्थ—च—अवधारण अर्थ में है। सत्थं—शस्त्र। एत्थं—इस अप्काय में। अणुवीइ—विचार कर। पास—हे शिष्य! तू देख। पुढो—पृथक्-पृथक्। सत्थं—शस्त्र। पवेइयं—कहे हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू सोच-विचार कर देख! इस अप्काय में पृथक्-पृथक् शस्त्र बतलाए हैं, जिन के द्वारा यह अप्काय—जल निर्जीव हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि शस्त्रों के प्रयोग से अप्काय अचित्त हो जाती हैं। वे शस्त्र—जिनके द्वारा अप्काय निर्जीव होती हैं, दो प्रकार के बताए गए हैं—1- स्वकाय-रूप और 2-परकाय-रूप, अर्थात् अप्काय का शरीर भी अप्काय के

लिए शस्त्र हो जाता है और दूसरे तीक्ष्ण निमित्त या साधनों से अप्काय—जल निर्जीव हो जाता है।

जैनागमों ने जीवों का आयुष्य दो प्रकार का माना है—1-निरुपक्रमी और 2-सोपक्रमी। जिन प्राणियों का आयुष्य जितने समय का बंधा है, उतने समय के बाद ही वे अपने प्राणों का त्याग करते हैं और उसके पहले उनकी मृत्यु नहीं होती, उन्हें निरुपक्रमी आयुष्य वाला कहते हैं, अर्थात् किसी उपक्रम या आघात के लगने पर उनका आयुष्य टूटता नहीं और जो सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव होते हैं, उनका आयुष्य शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर जल्दी भी समाप्त हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपने बांधे हुए आयुर्कर्म को पूरा नहीं भोगते। आयुर्कर्म को तो वे पूरा ही भोगते हैं, यह बात अलग है कि बहुत देर तक भोगने वाले आयुष्य को वे किसी निमित्त कारण से शीघ्र ही भोग लेते हैं। जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि-पर्यन्त जलता रहता है, परन्तु यदि उसमें एक वर्तिका के स्थान में दो, तीन या दस-बीस वर्तिका लगा दी जाएं तो वह जल्दी ही बुझ जाएगा। रात्रि-पर्यन्त चलने वाला तेल अधिक वर्तिकाओं का निमित्त मिलने से जल्दी ही समाप्त हो जाता है। इसी तरह कुछ निमित्त या शस्त्रप्रयोग से सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव भी अपने आयुर्कर्म को जल्दी ही भोग लेते हैं। अप्काय के जीव प्रायः सोपक्रमी आयुष्य वाले होते हैं, अतः शस्त्र का निमित्त मिलने से वे निर्जीव हो जाते हैं। और उस निर्जीव पानी का उपयोग करने में साधु को हिंसा नहीं लगती।

कुछ प्रतियों में “पुढो सत्थं पवेइयं” के स्थान में “पुढोऽपासं पवेइयं” पाठ भी मिलता है। उक्त पाठान्तर में ‘शस्त्र’ के स्थान में ‘अपाश’ शब्द का प्रयोग किया है। अपाश का अभिप्राय है—अबन्धन अर्थात् जिससे कर्म का बन्धन न हो उसे अपाश कहते हैं। इस दृष्टि से पूरे वाक्य का अर्थ होता है—विभिन्न प्रकार के शस्त्र-प्रयोग से निर्जीव बना हुआ जल अपाश होता है, अर्थात् उसका आसेवन करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता, इस प्रकार भगवान ने कहा है¹।

1. “पुढोऽपासं पवेइयं”—एवं पृथक् विभिन्न-लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुद-कग्रहणमापाशं प्रवेदितं—आख्यातं भगवता अपाशः—अबन्धनं शस्त्रं परिणामितोदकग्रहणम-बन्धनमाख्यातमितियावत्।
—आचारांग सूत्र, 25, टीका

प्रश्न—जब शस्त्र-प्रयोग से अप्काय—पानी अचित्त हो जाता है, और जब जंगल आदि स्थलों में स्थित पानी धूप-ताप आदि के संस्पर्श से अचित्त हो जाता है, तो क्या साधु उस पानी को ग्रहण कर सकता है?

उत्तर—नहीं, साधु उस पानी को स्वीकार नहीं करता। एक तो ज्ञान की अपूर्णता के कारण साधु इस बात को भली-भाँति जान नहीं सकता कि वह अचित्त हो गया है। और दूसरे, व्यवहार भी ठीक नहीं लगता। इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है—

“यतोऽनुश्रूयते भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमल-सलिल-समुल्लसत्तरंगः
शैवल-पटल-त्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेष-जल-जन्तुकोऽचित्त-वारि-परिपूर्णः
स्वशिष्याणां तृड्बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञेः।”

अर्थात् सुना है—कि भगवान् महावीर वर्द्धमान स्वामी ने अपने शिष्यों को—जो तृषा से व्याकुल हो रहे थे, अचित्त होने पर भी तालाव का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी। इसका कारण व्यवहार-शुद्धि रखने का ही है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए। इसमें केवल अप्कायिक जीवों की हिंसा रूप प्राणातिपात पाप ही नहीं, अपितु अदत्तादान—चोरी का पाप भी लगता है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं—

मूलम्—अदुवा अदिन्नादाणं॥२७॥

छाया—अथवा अदत्तादानम्।

पदार्थ—अदुवा—अथवा। अदिन्नादाणं—अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणातिपात दोष के साथ अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

हिन्दी-विवेचन

जैनागमों में साधु के लिए हिंसा एवं आरंभ-समारंभ का सर्वथा त्याग करने की

बात कही है और हिंसा की तरह झूठ, चोरी आदि दोषों से भी सर्वथा दूर रहने का आदेश दिया है। साधु सचित्त या अचित्त, छोटी या बड़ी कोई भी चीज़ बिना आज्ञा के स्वीकार नहीं करता। वह चौर्य कर्म का सर्वथा त्यागी है।

सचित्त जल को ग्रहण करने में जीवों की हिंसा भी होती है और चोरी भी लगती है। क्योंकि अप्काय के शरीर पर उन जीवों का अधिकार है। और प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उससे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता। जैसे हमें अपना शरीर प्रिय है, हम उसमें ज़रा सा अंग भी किसी को काट कर नहीं देना चाहते हैं। वैसे ही अप्कायिक जीव भी स्वेच्छा से अपना शरीर किसी को भी उपयोग के लिए नहीं देते। अतः उनकी बिना आज्ञा से सचित्त जल का उपयोग करना चोरी भी है।

तर्क दिया जा सकता है कि जल आदि की उत्पत्ति हमारे उपयोग के लिए हुई है। अतः उसका उपयोग करने में चोरी एवं दोष जैसी क्या बात है? यह केवल तर्क मात्र है। क्योंकि संसार में विष, आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं। फिर उनका भी उपयोग करना चाहिए, क्योंकि सभी पदार्थ उपयोग के लिए उत्पन्न हुए हैं। परन्तु विष का उपयोग कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं करता। दूसरी बात यह है कि जैसे मनुष्य यह तर्क देता है, उसी तरह हिंसक जन्तु भी तर्क देने लगे कि मनुष्य के शरीर का निर्माण हमारे खाने के लिए हुआ है, तो मनुष्य को कोई आपत्ति तो नहीं होगी? परन्तु मनुष्य अपने लिए यह नहीं चाहता। फिर अप्काय के लिए यह तर्क देना केवल स्वार्थीपन है।

यदि कोई साधु कुएं के मालिक की आज्ञा लेकर पानी का उपयोग कर ले तो इसमें तो उसे चोरी का दोष नहीं लगेगा? हमें ऊपर से मालूम होता है कि हम ने आज्ञा ले ली, परन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति में भी चोरी है। क्योंकि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अप्काय के शरीर पर उसी का अधिकार है। कुएं के मालिक ने तो ज़बरदस्ती अपना अधिकार जमा रखा है। उन्होंने अपना जीवन स्वेच्छा से उसे नहीं सौंप दिया है। अतः कुएं के मालिक से पूछ कर भी अचित्त पानी का उपयोग करना चोरी है।

अप्याय के जीवों की आज्ञा नहीं है और साथ में तीर्थकर भगवान की भी सचित्त पानी का उपयोग करने की आज्ञा नहीं है। यहां तक कि प्राण भी चले जाएं, तब भी साधु सचित्त जल पीने का विचार तक न करे¹। अतः सचित्त जल का उपयोग करना जिन-आज्ञा का उल्लंघन करना है, इसलिए इसे भगवान की आज्ञा की चोरी भी माना गया है।

यह सारा आदेश साधु के लिए है, गृहस्थ के लिए नहीं क्योंकि साधु एवं गृहस्थ की अहिंसा में अन्तर है। साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है और गृहस्थ उसका एक देश से त्याग करता है। वह एकेन्द्रिय-हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता और त्रस जीवों की हिंसा में भी वह निरपराधी प्राणियों की निरपेक्ष बुद्धि से हिंसा करने का त्याग करता है। उसके विरोधी हिंसा का त्याग नहीं होता। अपने परिवार एवं देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु के आक्रमण का मुकाबला—सामना करने का उसके त्याग नहीं होता। साधु का एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों की हिंसा का त्याग होता है। जैसे साधु और गृहस्थ के जीवन में अहिंसा की साधना में अंतर रहा हुआ है, उसी तरह अचौर्य व्रत में भी अन्तर है। साधु के सचित्त जल का त्याग है, इसलिए उसका उपयोग करने में हिंसा के साथ चोरी भी लगती है। परन्तु गृहस्थ ने अभी ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग नहीं किया है।

अतः प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए यह निर्देश किया है कि वह सचित्त जल का उपभोग न करे। उसका आरंभ-समारंभ करने में हिंसा होती है और साथ में चोरी का भी दोष लगता है। अन्य सांप्रदायिक विचारकों का इस विषय में क्या मन्तव्य है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए॥28॥

छाया—कल्पते नः कल्पते नः पातुं अथवा विभूषायै।

पदार्थ—कप्पाइ—कल्पता है। णे—हम को। कप्पइ—कल्पता है। पाउं—पीने के लिए। अदुवा—अथवा। विभूसाए—विभूषा के लिए।

1. तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।

सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे॥

मूलार्थ—कुछ विचारक कहते हैं कि हमें पीने के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है और कुछ कहते हैं कि हमें विभूषा अर्थात् स्नान करने एवं वस्त्र-प्रक्षालन आदि कार्यों के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है।

हिन्दी-विवेचन

जैनेतर परम्परा में सचित्त जल के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। यह तो स्पष्ट है कि पानी की सजीवता को जैनों के अतिरिक्त किसी ने माना ही नहीं। इसलिए जैनेतर शास्त्रों में उसकी सजीवता एवं उसके निषेध का वर्णन नहीं मिलता। इस कारण जैनेतर परम्परा में प्रवृत्तमान साधु-संन्यासी सचित्त जल का उपभोग करते हुए सकुचाते नहीं, क्योंकि उन्हें इस बात का बोध ही नहीं कि यह भी जीव है, चेतन है। इसलिए वे उसकी हिंसा से बचने का प्रयत्न न करके, सदा उसके आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहते हैं।

सचित्त जल का उपयोग करने वाले विचारकों में भी मतैक्य नहीं है। आजीविका एवं भस्मस्नायी परम्परा के अनुयायी कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार सचित्त जल पीने में कोई दोष नहीं है और न उसका निषेध ही किया है, परन्तु शारीरिक विभूषा के लिए उसका उपयोग करना अकल्पनीय है। पर, शाक्य और परिव्राजक संन्यासी स्नान एवं पीने दोनों कार्यों के लिए सचित्त जल को कल्पनीय मानते हैं।

यह ठीक है कि जैनेतर परम्परा के विचारकों में पानी का उपयोग करने में एकरूपता नहीं है। कुछ सचित्त जल का केवल पीने के लिए उपयोग करते हैं, तो कुछ पीने एवं स्नान करने के लिए। जो भी कुछ हो, इतना अवश्य है कि उन्हें उनकी सजीवता का बोध नहीं है और न उन जीवों के प्रति उनके मन में रक्षा की भावना ही है। अतः उनका कथन युक्ति-संगत नहीं है। और जिस आगम के आधार से वे सचित्त का उपभोग करते हैं, वह आगम भी आप्त-सर्वज्ञ-प्रणीत न होने से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। और अनुमानादि प्रमाणों से हम इस बात को स्पष्ट देख चुके हैं कि जल में सजीवता है। इसलिए सचित्त जल के आसेवन को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। सूत्रकार भी इसी विषय में कहते हैं—

मूलम्—पुढो सत्येहिं विउड्ढन्ति॥29॥

छाया—पृथक् शस्त्रैः व्यावयन्ति ।

पदार्थ—पुढो—पृथक् । सत्येहिं—शस्त्रों से । विउड्ढन्ति—अपकाय के जीवों का नाश करते हैं ।

मूलार्थ—वे नाना प्रकार के शस्त्रों से अपकाय के जीवों का विनाश करते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि ज्ञान और आचार का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। ज्ञान के अभाव में आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती। वह अंधे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि जिन व्यक्तियों को पानी की सजीवता का परिज्ञान नहीं है, वे अनेक तरह के शस्त्रों से अपकाय—पानी के जीवों का नाश करते हैं।

शस्त्र दो प्रकार के माने गए हैं—1. स्वकाय और 2. परकाय। मधुर पानी के लिए क्षार जल तथा शीतल के लिए उष्ण पानी स्वकाय-शस्त्र है और राख-भस्म, मिट्टी, आग आदि परकाय-शस्त्र कहलाते हैं। इन दो प्रकार के शस्त्रों से लोग अपकायिक जीवों की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करते हैं। आश्चर्य तो उन प्राणियों पर होता है, जो अपने आपको साधु कहते हैं और समस्त प्राणियों की रक्षा करने का दावा करते हुए भी उक्त उभय शस्त्रों से अपकाय का विध्वंस करते हैं और उसके साथ अन्य स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। अतः उनका मार्ग निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

उनके मार्ग की सदोषता बताकर, अब सूत्रकार उनके आगमों की अप्रामाणिकता का उल्लेख करते हैं—

मूलम्—एत्थवि तेसिं नो निकरणाए॥30॥

छाया—अत्रापि तेषां नो निकरणायै ।

पदार्थ—एत्थवि—यहां पर भी । तेसिं—उनके द्वारा मान्य । सिद्धान्त—शास्त्र । नो निकरणाए—निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं ।

मूलार्थ—अष्काय की सजीवता के सम्बन्ध में भी उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त या शास्त्र किसी प्रकार का निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।

हिन्दी-विवेचन

तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह के ज्ञान प्रमाण माने गए हैं। अनुमान आदि प्रमाणों के साथ आगम प्रमाण भी मान्य किया गया है। परन्तु आगम वही मान्य है, जो आप्त-पुरुष द्वारा कहा गया हो। क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं रहती। इस कसौटी पर कसकर जब हम आजीविक आदि परम्पराओं के आगमों को परखते हैं, तो वे सर्वज्ञ-कथित प्रतीत नहीं होते।

यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं। क्योंकि उसमें रागद्वेष नहीं होता, अपने-पराये का भेद नहीं होता, कषायों का सर्वथा अभाव होता है और उसके ज्ञान में पूर्णता होती है। और उसका प्रवचन प्राणिजगत के हित के लिए होता है¹। परन्तु जो आप्त नहीं होते हैं, उनके विचारों में एकरूपता, स्पष्टता, सत्यता एवं सर्व जीवों के प्रति क्षेमकरी भावना नहीं होती।

इस दृष्टि से जब हम जैनेतर आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध जीवों की सजीवता के विषय में सही निर्णय नहीं कर पाते। इससे परिलक्षित होता है कि उनमें सर्वज्ञता का अभाव है। क्योंकि प्रथम तो एन्हें अष्कायिक जीवों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है। और दूसरे उनमें राग-द्वेष का सद्भाव है। इसी कारण वे अष्काय के जीवों का आरम्भ-समारम्भ करने का उपदेश देते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्ररूपित आगम आप्त-वचन नहीं होने से प्रामाणिक नहीं हैं और इसी कारण किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ हैं।

विभूषा—स्नान आदि के लिए सचित्त जल का उपयोग करना किसी भी तरह उचित नहीं है। स्नान भी एक तरह का शृंगार है और साधु के लिए शृंगार करने का निषेध किया गया है। क्योंकि द्रव्य स्नान से केवल चमड़ी साफ होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मा की शुद्धि के लिए अहिंसा, दया, सत्य, संयम और सन्तोष रूपी भाव स्नान आवश्यक हैं। इसलिए साधु को सचित्त या अचित्त किसी भी जल के

द्रव्य स्नान में प्रवृत्त न होकर, भाव स्नान में संलग्न रहना चाहिए। वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी ब्रह्मचारी के लिए स्नान आदि शारीरिक शृंगार का निषेध किया गया है। रही प्रतिदिन आवश्यक शुद्धि की बात। उसे साधु अचित्त पानी से विवेक पूर्वक कर सकता है। स्नान नहीं करने का यह अर्थ नहीं है कि वह अशुचि से भी लिपटा रहे। उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपना सारा समय केवल शरीर को शृंगारने में ही न लगाए। परन्तु यदि कहीं शरीर एवं वस्त्र पर अशुचि लगी है तो उसे अचित्त जल से विवेक पूर्वक साफ कर ले।

इस तरह अप्काय में विवेक रखने वाला ही अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से बच सकता है, पानी के जीवों की रक्षा कर सकता है। इसलिए वही वास्तव में अनगार है, मुनि है, त्यागी साधु है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति, एत्थ सत्थं असमारं भमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय-सत्थं समारंभावेज्जा, उदय-सत्थं समारंभन्तेऽवि अण्णे ण समुण्जाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णातकम्मे, त्ति बेमि॥३१॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाता भवन्ति, अस्य शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारंभेत्, नैव अन्यैः उदक-शस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्रं समारंभमाणान् अन्यान् न समुनजानीयात्, यस्य एते उदकशस्त्र समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—इस अप्काय में। सत्थं—द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का। समारम्भ-माणस्स—आरंभ करने वाले को। इच्चेए—ये सब। आरम्भा—आरंभ-समारम्भ। अपरिण्णाया—अपरिज्ञात-कर्म रूप बन्धन के ज्ञान और परित्याग से रहित। भवन्ति—होते हैं। एत्थ—इस अप्काय में। सत्थं—द्रव्य और भाव शस्त्र का। असमारम्भमाणस्स—समारम्भ न करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरम्भा—आरंभ-

- समारंभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवन्ति—होते हैं। तं—परिण्य—इस आरंभ-जन्य कर्म-बन्धन को जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। नेव—न तो। सयं—स्वयं। उदयसत्थं—उदक-शस्त्र का। समारंभेज्जा—समारंभ करे। णेवण्णेहिं—और न अन्य से। उदय-सत्थं—समारंभावेज्जा—अप्काय के शस्त्र का समारंभ करावे। उदय-सत्थं—अप्काय के शस्त्र का। समारंभन्तेवि—समारम्भ करते हुए। अण्णे—दूसरों का। णसमणुजाणेज्जा—अनुमोदन-समर्थन भी न करे। जस्सेते—जिस व्यक्ति को ये सब। उदय-सत्थ-समारंभा—अप्काय के शस्त्र-समारम्भ। परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात होते हैं। से हु मुणी—वही मुनि वास्तव में। परिण्णायकम्मे—परिज्ञात कर्मा होता है। ति बेभि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—अप्कायिक जीवों का शस्त्र से आरंभ-समारंभ करने वाले व्यक्ति को यह परिज्ञात नहीं होता कि यह आरंभ-समारंभ कर्मबन्ध का कारण हैं जो अप्काय का आरंभ-समारंभ नहीं करते, उनको यह सब आरंभ एवं उस का परिणाम परिज्ञात होता है। अतः बुद्धिमान पुरुष अप्काय के आरंभ-समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जानकर न तो स्वयं उसका शस्त्र से आरम्भ करे न दूसरे व्यक्ति से आरंभ करावे और न किसी आरंभ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करे। जो अप्कायिक जीवों के आरम्भ को भली-भाँति जानता एवं त्याग देता है, वही मुनि वास्तव में परिज्ञातकर्मा है।

हिन्दी-विवेचन

जो व्यक्ति अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहता है, वह उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है और न उसके कटु फल से ही परिचित है। यदि उसको इसका परिज्ञान होता तो वह आरम्भ-समारम्भ से बचने का प्रयत्न करता। इसलिए जिस व्यक्ति को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ एवं उसके परिणाम-स्वरूप मिलने वाले कटु फल का परिज्ञान है, वह उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है। और अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त व्यक्ति को अपरिज्ञातकर्मा कहा है और उसके त्यागी को परिज्ञातकर्मा कहा है।

वास्तव में यह सत्य है कि जिसे अप्काय-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं है, वह उसके आरम्भ से बच नहीं सकता। उसकी प्रवृत्ति हिंसाजन्य ही होती है। और जिसे ज्ञान

है वह उसके आरम्भ से दूर रहता है। न तो वह स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति को हिंसा के लिए प्रेरित करता है और न किसी हिंसा करने वाले व्यक्ति का ही समर्थन करता है। वह त्रिकरण-त्रियोग से अप्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी होता है। वह अपने मन-वचन-काय के योगों को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से निरोध कर संवर एवं निर्जरा को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मआगमन के द्वार को रोकता है, जिससे नए कर्म नहीं आते और पुरातन कर्मों को एक देश से क्षय करता है। ऐसे साधक को परिज्ञातकर्मा कहा है।

अपरिज्ञात और परिज्ञात-कर्मा व्यक्तियों की क्रिया में बहुत अन्तर रहा हुआ है। एक की क्रिया अविवेक एवं अज्ञान-पूर्वक होने से कर्मबन्ध का कारण बनती है, तो दूसरे की क्रिया विवेक-युक्त होने से निर्जरा का कारण बनती है। इसलिए मुनि को चाहिए कि वह अप्काय के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उसकी हिंसा का सर्वथा त्याग करे। अप्कायिक जीवों के आरम्भ का त्याग करने वाला ही वास्तव में मुनि कहलाता है¹।

‘त्ति बेमि’ का अर्थ प्रथम उद्देशक की तरह समझना चाहिए।

॥शस्त्रपरिज्ञा तृतीय उद्देशक समाप्ता॥



1. इस सूत्र का वर्णन द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र की तरह समझना चाहिए।

अध्यात्मसार : 3

मूलम्—से बेमि जहा अणगारं उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अकमायं कुव्वमाणे वियाहिए॥1/3/19

मूलार्थ—हे शिष्य! अनगार—मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मैं कहता हूँ। जो प्रबुद्ध पुरुषार्थ संयम का परिपालक है, मोक्षमार्ग पर गतिशील है और माया—छल-कपट आदि कषायों का त्यागी है या निश्छल एवं निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है, वही अनगार—मुनि कहा जाता है।

1. उज्जुकडे—ऋजुकृत हृदय की अपेक्षा भाव।

2. अमायं—आचरण की अपेक्षा क्रिया धर्म का प्रथम लक्षण है और प्रथम आवश्यक चरण है—ऋजुता, सरलता।

नियाय पडिवण्णे—मोक्ष-मार्ग पर गतिशील तीर्थंकरों द्वारा बाह्यचार एवं आभ्यंतर साधना को करने वाला। अणगार—जो अपने घर से रहित या फिर सभी घर उसके हैं। घर के दो अर्थ—एक बाहर का घर दूसरा शरीर, अर्थात् जो सभी के भीतर अपना स्वरूप देखता है। इन गुणों से युक्त है, वह मुनि है।

मूलम्—जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहिता विसोत्तियं॥1/3/20

मूलार्थ—जिस श्रद्धा एवं त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है, उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शंकाओं से रहित होकर जीवन-पर्यन्त संयम का परिपालन करें।

1. श्रद्धा तत्त्व को जानने की अभिरुचि।

2. तत्त्व को जानने के लिए वीतरागियों ने जो मार्ग बताया है, उस मार्ग पर पूरी श्रद्धा एवं निश्शंक विश्वास। जैसे—तत्त्व को जानने की अभिरुचि अर्थात् मूल सत्य

क्या है। सत्य का अन्वेषण, सत्य की खोज, उस खोज के लिए प्रभु ने जो पथ बताया है, उस पर निश्चिंत विश्वास।

यह श्रद्धा कब आएगी?

1. सत्य को जानने की अभिरुचि।
2. तत्त्व की पहचान करने की जिज्ञासा।
3. उस तत्त्व तक पहुँचने का सही रास्ता कौन-सा है, यह बताने वाला निमित्त, जिनप्रणीत आगम अथवा सुसाधु या स्वयं अरिहंत देव।

जब इन दोनों का मिलन होता है, तब श्रद्धा में दृढ़ता आती है।

इसमें साधक की परीक्षा कब होती है, जब निमित्त का अभाव होता है। निमित्त के द्वारा दिया गया उपाय करने पर भी समाधान न मिलने पर शंका जागती है कि इतना किया पर फल नहीं मिला, वहीं पर साधक की परीक्षा है। उस समय साधक को समझना चाहिए कि मुझसे निमित्त को समझने में कहीं गलती हुई है और पुनः आत्म-निरीक्षण, सत्यान्वेषण करते हुए साधना में लग जाना चाहिए।

श्रद्धा के 5 दूषण—1. शंका, 2. कांक्षा, 3. वित्तिगच्छा, 4. परपाखण्ड सस्तव, 5. पर पाखण्ड प्रशंसा। निश्चय में श्रद्धा पक्की तब होती है, जब किसी आत्मज्ञानी सद्गुरु के चरणों में निवास हो जाए।

साधना में अनेक बार ऐसा भी होता है कि बहुत पराक्रम करने के बाद भी कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैसे कुछ भी नहीं हुआ। उस समय श्रद्धा की आवश्यक होती है। उस समय सद्गुरु की आवश्यकता है, क्योंकि गुरु जो उसके वर्तमान को ही नहीं, वरन उसके भविष्य को भी देखता है। अतः उसके भविष्य को देखकर जैसे एक माँ बेटे को समझाती है कि थोड़ा और चलो तुम ठीक रास्ते पर हो, अभी घर आने वाला है, क्योंकि मुझे इस रास्ते का पता है और मैंने घर देखा है।

सद्गुरु कौन होता है? आत्मज्ञानी सुसाधु।

मूलम्—पणया वीरा महावीहिं॥1/3/21

मूलार्थ—यह संयम-मार्ग परिषह-उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर—महावीर पुरुषों द्वारा आसेवित है।

जब शिष्य के भीतर साधना के प्रति संशय का जन्म होता है तब इस सूत्र में सद्गुरु शिष्य से कहते हैं कि देखो भाई अनेक वीर पुरुष इस प्रधान राजमार्ग पर पुरुषार्थ और पराक्रम कर चुके हैं। लेकिन यह कहने से पहले स्वयं उस पथ पर चलते हुए तत्त्व का अनुभव कर लेना आवश्यक है। उसके बाद ही आप वस्तुतः किसी को स्थिर कर सकते हैं।

स्थिर वही कर सकता है जो स्थविर हो गया है। स्थविर अर्थात् जो अपने में स्थिर हो गया, जिसने अपने भीतर रहे हुए शाश्वत स्थिर धर्म, स्वभाव का अनुभव कर लिया।

स्थविर 3 प्रकार के—1. वय स्थविर, 2. दीक्षा स्थविर और 3. ज्ञान स्थविर। इन तीनों में उत्तम ज्ञान स्थविर है।

कषाय को शान्त करने का सरल उपाय

जब भी मन में कषाय भाव आ जाए, तब सर्वोत्तम है मौन हो जाना। जितनी साधना बढ़ेगी, उतनी जागरूकता बढ़ेगी। सभी वीर इसी राजमार्ग पर चलते हैं; क्योंकि अन्य मार्ग लम्बे और अड़चनों से युक्त हैं। यह जिन-शासन का मार्ग अन्य मार्गों की अपेक्षा, अत्यन्त ही सरल और शीघ्रगामी है। अतः सभी प्रज्ञावान वीर पुरुष इसी मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

‘सोऽहं—जिसने जीव के अस्तित्व को जान लिया वह आत्मवादी हो गया। जिस समय हम जीव के अस्तित्व को जान लेते हैं, उस समय हम अजीव के अस्तित्व को भी जान लेते हैं। और यही राजमार्ग है। दूसरे भी अनेक मार्ग हैं। यह सारा लोक-समस्त तत्त्व जीव और अजीव में समाविष्ट हो जाता है। अन्य सभी जीव और के सम्बन्ध से निष्पन्न होते हैं। जीव और अजीव के बीच में कर्म का सम्बन्ध है अथवा ऐसा कहो जीव और अजीव के बीच में स्थापित सम्बन्ध को कर्म कहते हैं। मूल रूप में जीव शुद्ध है।

कर्म—वस्तुतः पुद्गल कर्म ही पुद्गल को, कर्म को, आकर्षित करता है जिसमें जीव के परिणाम निमित्त बनते हैं।

मिथ्यात्व—जो चीज जैसी है, वैसी नहीं दिखाई देती; यह विपरीतता पूर्णतः भी हो सकती है और आंशिक भी। आत्म अज्ञान निश्चय मिथ्यात्व।

समयक्त्व—आत्म-ज्ञान, वस्तु के वास्तविक स्वरूप का पता लगना, जीव और अजीव के सत्य स्वरूप का बोध होना।

क्रियावादी—कर्मों के आगमन की दशा को जो जान लेता है, वह क्रियावादी है।

उत्पत्तिशील का अर्थ है—उत्पत्ति एवं विनाश-युक्त होना। पर्याय से उत्पत्तिशील और द्रव्य से नहीं। पर्याय से जीव उत्पत्तिशील है। शरीर की अपेक्षा, कर्मों की अपेक्षा, परिणामों की अपेक्षा लेकिन द्रव्य से उत्पत्तिशील नहीं है।

लज्जमाणा—जो अपने प्राणों की मर्यादा में रहता है और दूसरे प्राणी के प्राणों की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। इस प्रकार मर्यादा युक्त जीव को लज्जमाणा कहकर सम्बोधित किया है।

मूलम्—लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओ भयं॥1/3/22

मूलार्थ—तीर्थंकर भगवान के वचनों से अप्काय के स्वरूप को जानकर संयम का परिपालन करें।

लोक के स्वरूप को जानकर जीव और अजीव के स्वरूप को जानकर, साधना से 'सोऽहं' का स्वरूप जानकर।

आणाए—भगवान की आज्ञा को जानकर, भगवान की आज्ञा अर्थात् आचारांग सूत्र में जो कहा गया है।

लोक का स्वरूप व्यवहार-दृष्टि से संक्षेप में जानना हो तो, तत्त्वार्थ-सूत्र सम्पूर्ण अथवा श्री उत्तराध्ययन सूत्र का अन्तिम अध्ययन।

लोक और आज्ञा—भगवान ही आज्ञा क्यों फरमाते हैं, क्योंकि आज्ञा वही दे सकता है, जो समर्थ है जिसके पास परिपूर्ण ज्ञान है, जो राग-द्वेष से रहित है। जो राग-द्वेष से रहित नहीं, पूर्ण ज्ञानी नहीं, वह आज्ञा भी देगा तो उसकी आज्ञा में कहीं

न कहीं दोष होगा। आत्मज्ञानी व्यक्ति भी एक देशीय आज्ञा दे सकता है, सर्वदेशीय नहीं; वह भी भगवान की आज्ञा को द्रव्य, क्षेत्र, काल अनुसार स्पष्ट करके बताएगा, सर्वदेशीय आज्ञा तो भगवान ही दे सकते हैं।

इस प्रकार लोक एवं भगवान की आज्ञा को जानकर साधक चलता रहे, तब यह परिणाम आता है, 'अकुओभयं' अर्थात् जो न स्वयं किसी से भयभीत होता है और न किसी जीव को ही उससे भय लगता है। इसे अभयदान भी कह सकते हैं, अर्थात् जो स्वयं अभय में जीता है और जिसकी उपस्थिति किसी भी प्राणी के लिए भय का कारण नहीं बनती है। अभयदान परिणाम है। लोक के स्वरूप और तीर्थंकर देव की आज्ञा को जानकर जो उसके अनुसार चलता है, वह अन्ततः इस प्रकार स्वरूपबोध को उपलब्ध होता है। इस स्वरूपबोध के आधार पर वह सभी में स्व का ही रूप देखता है। अतः उसे किसी से भी भय नहीं लगता और स्वरूपबोध से जो मैत्री भाव जागता है। उस परिपूर्ण मैत्री भाव से किसी भी जीव को उससे भय नहीं लगता है।

आगे जीव लोक का स्वरूप छह काय का स्वरूप बताया जाएगा। यह लोक का (जीव लोक का) स्वरूप ज्ञान है और उसके आगे जो साधु का आचार बताया जाएगा, वह भगवान की आज्ञा है। इन दोनों को जानकर उपयोगपूर्वक आचरण करना लोक का स्वरूप ज्ञेय है। भगवान की आज्ञा उपादेय है, आचरणीय है।

मूलम्—से बेमि-णेव सयं लोगं अब्माइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्माइक्खिज्जा, जे लोयं अब्माइक्खइ से अत्ताणं अब्माइक्खइ, जे अत्ताणं अब्माइक्खइ से लोयं अब्माइक्खइ॥1/3/23

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! मैं तुम्हें कहता हूँ कि मुमुक्षु को स्वयं अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलापन—निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इनकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है, वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अप्काय के संबंध में उसी भाषा का प्रयोग करता है।

यह सूत्र अनेक दृष्टिकोण से है। जो लोक का निषेध करता है, वह अपनी

आत्मा का निषेध करता है। जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह लोक का निषेध करता है, क्योंकि लोक का ज्ञान कहाँ से आया? आत्मा से।

अतः जो इस लोक का निषेध करेगा या इस लोक के ज्ञान का निषेध करेगा, वह अपनी आत्मा के ज्ञान गुण का निषेध करेगा। गुण एवं गुणी की अभिन्नता के आधार पर ज्ञान का निषेध करते हुए अपनी आत्मा का निषेध स्वतः हो जाएगा।

दूसरे दृष्टिकोण से लोक का जो ज्ञान है, वह ज्ञान और वह स्वरूप किसने बताया है? केवली भगवान ने। अतः जो इस ज्ञान का निषेध करता है वह आंशिक रूप से केवली भगवान का निषेध करता है। इस प्रकार वह अपने स्वभाव का भी निषेध करता है। चूंकि केवल-ज्ञान उसका स्वभाव है, इसलिए जो इस ज्ञान का निषेध करता है वह अपने स्वरूप तक नहीं पहुँच सकता; क्योंकि लोक के ज्ञान का यदि निषेध करेंगे तो इस लोक के ज्ञान के आधार पर अरिहंत भगवान ने जो आचार बताया है, उसका पालन कैसे होगा? उस बाह्याचार का भी निषेध हो जाएगा और बिना आचार के स्वरूपबोध किस प्रकार हो सकता है? मुख्यतः जीव रूप में लोक का वर्णन है, क्योंकि यतना मूलतः जीव की करनी है। अजीव की भी यतना करनी है, लेकिन मूल में जीव है।

जो अपने स्वरूप का निषेध करता है, वह लोक का भी निषेध करता है; क्योंकि जो कहता है देह से आगे कुछ भी नहीं, मैं तो पंच-तत्त्व का बना हूँ, उसे लोक का ज्ञान कैसे होगा? नहीं होगा।

ज्ञान—‘जैसे लोगस्स उज्जोयगरे’—जो उद्योत करने वाला है, उसका निषेध करने पर लोक में होने वाले उद्योत (प्रकाश) का निषेध स्वयमेव हो जाता है। अतः जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह उसी आत्मा से आए हुए लोक के ज्ञान का भी निषेध कर देता है।

इस प्रकार यहाँ पर लोक के ज्ञान एवं आत्मा के बीच में अभिन्नता बतायी गयी है और साथ ही यहाँ पर अप्काय का विषय चल रहा है। अप्काय के जीव तथा स्वयं के जीव के स्वरूप में एक्य दर्शाया है। (सोऽहं) मैं वही हूँ अतः उनके अस्तित्व का निषेध करने पर अपना निषेध हो जाता है और अपना निषेध करने पर उनके अस्तित्व का निषेध स्वयमेव हो जाता है।

लोक का अर्थ

लोक का एक अर्थ अपना शरीर भी कर सकते हैं। यहाँ पर निषेध का अर्थ उसके अस्तित्व का निषेध नहीं है। यहाँ पर अर्थ है कि जो व्यक्ति शरीर को नहीं साध सकता है, वह अपनी आत्मा को भी नहीं साध सकता। शरीर का हमारी आध्यात्मिक साधना के साथ संबंध है। इसीलिए मोक्षगामी जीव का शरीर वज्रऋषभ-नाराच संघयन का होता है। शरीर तो यहीं रहने वाला है, फिर भी कहा गया कि मनुष्य देह मिलना महत्त्वपूर्ण है और इसमें भी वज्रऋषभ नाराच संघयन, क्योंकि मोक्ष इसी से जाया जा सकता है।

शरीर को साधने का अर्थ—शरीर शुद्धि, शंख प्रक्षालन, कुंजल इत्यादि शरीर शुद्धि की क्रियाएं, आसन, प्राणायाम इत्यादि।

1. आहार-शुद्धि—आहार से ही शरीर का निर्माण होता है। अतः सात्त्विक आहार का प्रयोग।

2. आसन-सिद्धि—जब किसी भी एक आसन में आप न्यूनतम साढ़े तीन घण्टे सुखपूर्वक बिना किसी हलचल के बैठ सकें, तब समझना चाहिए आसन सिद्ध हो गया।

आसन-सिद्धि से लाभ—1. शरीर एवं चित्त की उपशान्ति उपयोगी है, 2. साथ ही आहार शुद्धि से शरीर को निरोगी रखना भी आवश्यक है। अन्ततः सबसे प्रमुख है ध्यान—जितना मन ध्यान में लग जाएगा आसन अपने आप सध जाएगा। आसन के सधने से ध्यान में सिद्धि आती है और ध्यान के सधने से आसन सिद्धि मिलती है, दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक हैं। शरीर की स्थिरता से मनःस्थिति और मनःस्थिरता से शरीर की स्थिरता सधती है।

जो शरीर का निषेध करेगा, वह मन का भी निषेध करेगा। यह व्यवहार मार्ग है, राजमार्ग है। कहीं अपवाद में बिना शरीर को साधे भी आत्म-सिद्धि उपलब्ध होती है। जैसे भक्ति मार्ग में आसन स्थिरता की चर्चा नहीं आती, परन्तु वहाँ पर भी जब भावों की उत्कर्षता आती है, तब शरीर अपने आप स्थिर हो जाता है।

अतः शरीर का भी निषेध नहीं करना। शरीर नश्वर है, किन्तु साधना के लिए बहुत उपयोगी है। अतः साधन मानकर संयम व साधना के लिए शरीर रक्षा आवश्यक

है। ऐसे तो शरीर की रक्षा इस विश्व में प्रत्येक जीव करता है, परन्तु उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। जो संयम साधना के लिए शरीर की रक्षा करता है, वही संवर-निर्जरा का कारण है। बाकी बन्धन है। शरीर रक्षा करते हुए यह खयाल रखना कि कहीं आत्मा पर मैल न लग जाए। अतः जहाँ तक हो सके, निर्वध चिकित्सा करनी है।

शरीर को ठीक करने के लिए श्वासन भी उपयोगी है। श्वासन, अर्थात् शरीर को भूल जाना। शरीर विस्मृति—देहभान के जाने पर, शरीर अपने आप शांत हो जाता है। शरीर की जितनी चिन्ता करोगे, उतना ही रोग बढ़ेगा। शरीर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। शरीर के प्रति जागरूक रहना। समता और जागरूकता बनाए रखना।

कभी आवश्यक लगे तो कठोर कपड़े से शरीर को रगड़ने पर, रक्त संचार तेज होता है; त्वचारन्ध्र, रोम खुलते हैं। आसन-स्थिरता में सहयोग मिलता है। नींद, आलस्य, तन्द्रा महसूस होती हो तो वह दूर होती है। गीले कपड़े से अच्छी तरह रगड़ कर पौछना।

इससे आगे जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह शरीर का भी निषेध करता है, अर्थात् जो अपनी आत्म शान्ति, कषाय की उपशान्तता स्वभाव का निषेध करेगा, उसका शरीर भी शांत एवं स्वस्थ नहीं हो पाएगा। इसलिए लोग शरीर शांति के लिए भी अध्यात्म की ओर बढ़ते हैं। शरीर स्वास्थ्य भी आत्म साधना से प्रभावित होता है। जैसे हम कहते हैं कि अमुक जप करने से शरीर का यह रोग ठीक हो जाएगा, क्योंकि जप करने से आत्मा के परिणाम ही नहीं बदलते, अपितु शरीर के पुद्गल भी बदलते हैं और रोग शान्त हो जाता है। आत्मशांति, शरीरशांति को लाती है और शरीरशांति आत्मशांति हेतु सहयोग देती है। अतः हमें दोनों तरह से प्रयत्न करना चाहिए।

शरीर के साथ उपलक्षण से वस्त्र, स्थान आसपास का वातावरण भी आ जाता है। इसीलिए शरीर के साथ-साथ वस्त्र, स्थान एवं वातावरण का शुद्धिकरण भी आवश्यक है। इन सभी की पवित्रता और पावनता से आत्मपरिणामों पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

ज्ञानी जनों को, प्रज्ञावान को न तो शरीर का निषेध करना चाहिए और न ही

आत्मा का दोनों ही एक दूसरे के उपकारी हैं। पुनः इस बात का ध्यान रखना कि शरीर-केवल उपकरण मात्र है, आत्मसिद्धि के लिए। आत्मसिद्धि प्राप्त होते ही देहभाव छूट जाता है।

यहाँ पर इस सूत्र में हमने लोक का अर्थ शरीर किया है। लेकिन प्रत्येक सूत्र में लोक का अर्थ शरीर नहीं होता। ऐसे तो प्रत्येक शब्द अनंत अर्थ को लिए हुए है, लेकिन हमें तो वही अर्थ ग्रहण करना है जो जिनशासन सम्मत है, जो जिनेश्वर भगवान ने बताया। जैसे—धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं—राजधर्म, समाज धर्म, देशधर्म, स्त्रीधर्म आदि लेकिन भगवान ने धर्म का अर्थ बताया है—अहिंसा, संजमो, तवो।

मूलम्—अदुआ अदिन्नादाणं ॥१/३/२७

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणातिपात दोष के साथ अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

अग्निकाय में यदि हिंसा है तो फिर जैसे कई लोग कहते हैं कि फिर आप पानी को क्यों गरम करते हैं, सब्जी इत्यादि पकाकर क्यों खाते हैं? कच्चा ही क्यों नहीं खा सकते हैं?

पानी अचित्त क्यों—पानी को अचित्त इसीलिए बनाना जरूरी है कि एक बार जब पानी को गरम करेंगे तो हिंसा अवश्य होगी, लेकिन अचित्त पानी में जिस प्रकार अप्काय के जीवों का पुनः-पुनः जन्म-मरण होता है उस महा हिंसा से बचा जा सकता है। 2. मुनिजन अपने लिए न ही गरम पानी बनाते हैं न ही बनवाते हैं। वे तो गृहस्थ के द्वारा बनाए हुए पानी में से कुछ हिस्सा अपने लिए ले लेते हैं। इस प्रकार मुनिजन तो अग्निकाय का आरम्भ करते ही नहीं।

श्रावक क्यों? श्रावक भी पुनः-पुनः होने वाली जन्म-मरण रूप हिंसा से बचने के लिए पानी को अचित्त करने हेतु गरम करता है।

आहार—आहार भी मुनिजन अपने लिए नहीं बनाते, गृहस्थ ने जो अपने लिए बनाया हुआ आहार है, उसमें से बना हुआ, अचित्त आहार गोचरी के रूप में लेते हैं।

गृहस्थ खुद ही कच्ची सब्जी को काटता है और खुद ही उसे अग्नि में पकाता है, फिर अग्नि में पकाकर हिंसा करने के बजाय वह कच्चा ही क्यों नहीं खाता?

अहिंसा की दृष्टि से देखें तो यह बात उचित है। लेकिन यहाँ पर केवल अहिंसा ही नहीं, अपितु अध्यात्म-साधना में साधन रूप शरीर को स्वस्थ रखने का भी सवाल है।

कच्ची साग-सब्जी ऐसे ही तथा सब्जियों के रस के रूप में भी चिकित्सा हेतु औषध के रूप में ठीक है, लेकिन आहार के रूप में कच्ची सब्जी शरीर के लिए उपयोगी नहीं है। कच्चे साग का रस विकृति पैदा करता है। इसलिए उसे अग्निकाय के द्वारा विधि सहित पकाना जरूरी है। विधि सहित, अर्थात् मिट्टी के बर्तन में पकाना अथवा उत्तम धातु का उपयोग करना उत्तम है। विशेष रूप से शरीर के लिए हानिकारक मिर्ची हिंग इत्यादि मसालों का उपयोग नहीं करना।

कच्ची सब्जी शरीर को गुणकारी नहीं होती, क्योंकि फिर जठराग्नि को उसे पकाना पड़ता है। दवाई के रूप में लेना हो तो रस के रूप में ले सकते हैं। अधिक घी, तेल, मिर्च, मसाले खाने से शरीर में उत्तेजना उत्पन्न होती है और मैदा-शक्कर से आंते बिगड़ती हैं।

वर्तमान में मनुष्य के जीवन में इन चीजों की अधिकता के कारण अनेकानेक रोग प्रवेश हो गये हैं। अतः कच्चा आहार लेने पर उत्तेजना शान्त हो जाती है। आंतों को व्यायाम मिलता है। इस प्रकार उनके स्वास्थ्य में भी सुधार होता है। अनेक साधु मुनिराज, जो अधिक दवाई खाते हैं, उनके लिए उन अशुद्ध एवं प्रचुर हिंसा से युक्त दवाइयों को खाने की अपेक्षा अल्प हिंसा युक्त, परन्तु शुद्ध कच्चा आहार औषध के रूप में लेना ठीक है। यह शरीर का विज्ञान है। यह अध्यात्म नहीं है। यह अध्यात्म साधना नहीं है। अतः जहाँ तक हो सके, इनसे बचना, जब जरूरी हो तब लेना।

ऐसे तो साग-सब्जी का रस आहार के रूप में गुणकारी नहीं है, लेकिन सही विधि से पकाया जाए, तब उपयोगी है। यदि कच्चा खाना हो तो फल कच्चे गुणकारी हैं। पहले ऋषि-मुनि जो कच्चा आहार खाते थे, उनमें विशेष रूप से फल एवं दूध होता था। ऐसे तो फल भी सचित्त आहार है, लेकिन इस पंचमकाल के संघर्ष की अपेक्षा औषध के रूप में फल ले सकते हैं। स्वास्थ्य की अपेक्षा 75 प्रतिशत फर्क तो शिविर में जो भोजन नहीं करने को कहा जाता है उसी से पड़ जाता है।

शरीर व चित्त की उपशान्ति के लिए—केवल फलाहार करना उपयोगी है, किन्तु साथ में दूध नहीं लेना चाहिए, क्योंकि आजकल जो दूध आता है वह भी

अनेक प्रकार की अशुद्धियों से युक्त होता है। साथ ही दूध एक रस-प्रणीत आहार है। जैसे कल्पसूत्र के अन्तर्गत बताया गया है कि चातुर्मास के अन्तर्गत पुष्ट शरीर से युक्त साधु को यदि रस-प्रणीत आहार करना हो तो गुरु की आज्ञा लेकर करना चाहिए। ब्रह्मचर्य की 9 वाडों में रस-प्रणीत आहार न करना यह भी एक वाड है। शक्कर मिठाई अधिक खाने से विकार आता है।

किसी का मन अधिक संतप्त हो, विकार-युक्त हो, ऐसे तो उनके लिए तप करने का विधान है। लेकिन यदि व्यक्ति तप नहीं कर सकता, तब केवल फलाहार करना चाहिए। शिविरों में भी यदि कोई व्यक्ति ऐसे हों जो अधिक संतप्त हैं, रोगयुक्त हैं, तब उनके लिए फलाहार अति उपयोगी है। लेकिन यह सब कुछ 'रोग की अपेक्षा' तत्संबंधी पूर्ण जानकारी पढ़कर करना। किस रोग में कौन-सा फल चलता है, कौन-सा नहीं, यह जानकारी होना आवश्यक है। लेकिन साधारण-रूप से शरीर व मन शान्त होता है। यह फलाहार केवल चिकित्सा के रूप में है। अध्यात्मिक दृष्टि से तो सूखा धान्य ही उपयोगी है।

भक्ति—जितने लोग भक्ति-मार्ग में आसानी से जाते हैं, उतनी आसानी से वे ध्यान नहीं कर पाते, क्योंकि वहाँ तुरन्त समर्पण आता है। अन्ततः ध्यान ही उपयोगी है। भक्ति भी ध्यान की ओर ले जाती है, लेकिन बाल-जीवों के लिए पहले भक्ति उपयोगी है। अतः इस भक्ति मार्ग का विकास करना आवश्यक है।

त्याग—त्याग हो या न हो, दोष तो गृहस्थ को भी लगता है। तो व्रत लेने के बाद आत्मोन्नति न हो सकेगी, क्योंकि अव्रती की अपेक्षा व्रती को दोष अधिक लगता है, लेकिन ऐसा नहीं है। एक अपेक्षा से साधु को दोष अधिक लग सकता है, यदि वह जान बूझकर संकल्पपूर्वक अप्काय की हिंसा करता है, तब प्राणों की अहिंसा प्राणों की चोरी के साथ-साथ शासन की चोरी का भी दोष लगता है। जो व्यक्ति जितने अंशों में आरंभ-समारंभ करेगा, उतना आस्रव होगा एवं जितने अंशों में आरंभ-समारंभ नहीं करेगा, उतना संवर होगा।

योग का अस्थैर्य और कषाय के कारण कर्मों का बन्धन होता है।

योग की चंचलता—योग की चंचलता से प्रकृति एवं प्रदेश बंध।

कषाय से—स्थिति एवं रस बन्ध (अनुभाग बन्ध) कषाय के कारण कर्म की स्थिति कितनी होगी और तीव्रता कितनी होगी, यह निश्चित होता है।

व्रत इसलिए कि तुम जितना कर सको उतना करो, जितने अंशों में आरंभ-समारंभ का त्याग करोगे, उतना ही संवर होगा। व्रत लेने पर जागरूकता आती है। यहाँ पर जो गृहस्थ एवं साधु की चोरी में अन्तर है, वैसा नहीं है। मूलतः कर्म बन्धन योगों की चंचलता एवं कषाय से होते हैं। बाहर से जो व्रत लिए जाते हैं, वे इन दोनों को कम करने के लिए हैं। इस प्रकार व्रत का मूल अर्थ हुआ किस प्रकार योग स्थिरता एवं कषाय उपशान्ति हो।

गृहस्थ के व्रत—जैसे गृहस्थ भी उत्कृष्टता से तीन करण, तीन योग से त्याग कर सकता है, जिस प्रकार चौथे व्रत में चाहे पूर्णतः कुशील का त्याग करे, चाहे पत्नी का आगार रखे लेकिन पत्नी के साथ भी जो अब्रह्म का सेवन होगा, उससे भी कर्मों का आस्रव तो अवश्य होगा, लेकिन फिर भी कुछ भी न करने की अपेक्षा, इतना करना अच्छा है। 'आज के परिप्रेक्ष्य में अणुव्रत मूलतः महाव्रत की तैयारी है।' अणुव्रत लेने पर यह समझ में आता है कि व्रत का पालन कैसे हो सकता है और व्रती का जीवन कैसा हो।

जीवन—जीवन-निर्वाह हेतु निरवघ क्रिया करने पर भी क्या दोष लगता है?

कर्मास्रव का मूल बीज है आकांक्षा और इसका भी मूल है जीवाकांक्षा। अतः जीवित रहने हेतु जीवन की अभिलाषा हेतु कुछ भी करोगे बन्धन होगा।

तो फिर किस प्रकार क्रिया करनी?

संयम-पालन हेतु, आत्मबोध के उद्देश्य से जो भी जरूरी है करना। 'निरवघ क्रिया' करना उससे संवर और निर्जरा होती है। केवल जीवित रहने के उद्देश्य से की गई क्रिया आस्रव और बन्ध लाती है। संयम और साधना हेतु की गई क्रिया संवर और निर्जरा लाती है, क्योंकि शरीर संयम पालन में सहयोगी है, इसलिए शरीर की रक्षा और उसका ध्यान रखना भी आवश्यक है। साधु के लिए मूल उद्देश्य है, आत्म-बोध। कोई भी मुनि कब बनता है, जब सारी अभिलाषाएं छूट जाएं। मूल बात है आकांक्षा, उद्देश्य, क्रिया के पीछे रही हुई भावना—जैसे—धर्म कथा यदि धर्म प्रभावना के उद्देश्य

से की जाए, तब संवर और निर्जरा यदि आत्म प्रशंसा एवं अहं तुष्टि के लिए की जाए, तब आस्रव और बन्ध होता है।

संयम से क्या?—संयम से देवगति एवं मनुष्य-गति एवं मोक्ष। संयम का पालन यदि राग-भाव सहित, यहाँ राग का अर्थ है, संयम के निमित्त सहयोगी बनने वाले व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थिति-जन्य राग किया जाए, तब इस प्रकार के सराग संयम से देवगति की प्राप्ति होती है।

संयम का पालन यदि शुद्ध भावना, आत्मबोध के अनुभव सहित क्षायिक भाव, क्षायिक सम्यक्तव के साथ किया जाए, तब मनुष्य गति एवं तदुपरान्त मोक्ष की प्राप्ति।

शुभ भाव—मैत्री, करुणा, प्रमोद और वात्सल्य आदि।

क्षायिक भाव : शुद्ध भाव—संकल्प-विकल्प रहित आत्म-रमण। शुभ भाव से देवगति, अशुभ भाव से नीच गति, शुद्ध भाव से मोक्ष गति।

गोचरी—साधु के द्वारा गृहस्थ को यह पूछना कि यह पदार्थ किसके निमित्त बनाया गया है, यह एक प्रकार की मूढ़ता है। प्रसंगवश कभी यह पूछना अलग बात है किन्तु साधु को स्वयं ही इतना उपयोग लगाना चाहिए कि गृहस्थ ने यह पदार्थ किसके लिए बनाया हुआ है, स्वयं के लिए या श्रमण के लिए। जो भी आपके पूर्व स्नेही जन आपके लिए यदि कुछ लेकर आएँ, तब उन्हें आप समझा सकते हैं तो उन्हें जरूर समझाएं। यह उपयोग साधु को स्वयं लगाना चाहिए। यदि वह न समझ सके, तब उदाहरण के रूप में पाँच में से आधी या एक रोटी ले सकते हैं। इसमें भी दोष तो लग सकता है, परन्तु इससे आगे उन्हें समझाना आसान हो जाएगा; अन्यथा उनके मन में किसी भी प्रकार की शंका या संदेह हो सकता है कि अब तक तो लेते थे, अचानक अब क्या हो गया।

तब उन्हें समझाना है कि साधुजन अपने लिए बनाया हुआ आहार क्यों नहीं लेते, क्योंकि इससे नैमित्तिक दोष के रूप में हिंसा तो लगती ही है, लेकिन साथ ही समझने की बात यह है कि प्रत्येक आहार के साथ संस्कार जुड़े हुए हैं। अपने लिए अपने निमित्त बनाए हुए आहार को लेने से वे जुड़े हुए संस्कार भी आ जाते हैं।

यदि नियमानुसार 42 दोष टाल कर आहार-पानी लिया जाए तो आहार से जुड़े

हुए संस्कार असर नहीं करते।

किस प्रकार के संस्कार? 1. वह आहार किस प्रकार की आजीविका के द्वारा खरीदा हुआ है? जिस प्रकार का धन होगा नीति या अनीति का, उसी प्रकार के संस्कार साथ में आएंगे, 2. वह आहार किसने एवं किस प्रकार की भावना से बनाया है, 3. बनाने वाले ने किस-किस प्रकार के आरम्भ-समारंभ द्वारा बनाया है, 4. इसके साथ कुछ अन्य संस्कार भी आहार के साथ आ सकते हैं। अतः अपने निमित्त से बनाया हुआ आहार ग्रहण न करना।

कृतकारित—यदि आहार साधु के निमित्त से खरीदा हुआ है, तब भी संस्कार दोष लगता है।

गोचरी लाने के बाद आहार किस भाव से करना यह भी ध्यान देने योग्य बात है—जिस भावना से आहार किया जाएगा, तदनुसार उसका परिणमन होगा। अतः अनासक्त भाव से आहार करना।

आहार के साथ आए हुए संस्कार हमारे मन के विचारों के माध्यम से साधना में बाधा उत्पन्न करते हैं।

उपाय

1. आहार कैसा है—सात्त्विक, राजसिक या तामसिक?
 2. किस प्रकार की भावना से एवं किस प्रकार की आजीविका से आया है?
 3. गोचरी लाने वाला किस प्रकार की भावना से गोचरी लाया है?
 4. किस प्रकार की भावना से आहार किया जाता है?
1. सात्त्विक आहार करना।
 2. नियमपूर्वक आहार करना जिससे संस्कार दोष से बचा जाए।
 3. गोचरी लाने वाला मन में भाव रखे कि 'जीवो मंगलम्' सभी जीव मंगलकारी हैं और सभी की संयम साधना में वृद्धि हो उसमें मेरा लाया हुआ आहार निमित्त बने। इस प्रकार जैसे प्रभु की भक्ति करते हैं वैसे ही गोचरी लाने वाला भक्ति-भाव पूर्वक एवं विनम्रतापूर्वक आहार लाये। इस प्रकार से की गई सेवा से—(1) स्वास्थ्य लाभ होता है, (2) पुण्य-बंधन तथा संवर-निर्जरा

का लाभ होता है, (3) अल्प साधना में अधिक प्रगति होती है, (4) आहार करते समय अनासक्त भाव एवं शुभ भाव के लिए आहार करने से पूर्वभाव पूर्वक मन को लगाते हुए, नमस्कार सूत्र को पढ़ना, इससे मन-शुद्धि एवं आहार-शुद्धि होती है।

आहार संविभाग—आहार बाँटने वाले को इस प्रकार आहार बाँटना जैसे माँ बच्चों को आहार बाँटती है। किसके लिए क्या आवश्यक है, सूक्ष्म मेधापूर्वक यह जानते एवं देखते हुए आहार बाँटना।

आहार मुख्य बात है—परन्तु वस्त्र इत्यादि के साथ भी संस्कारों का आगमन हो सकता है। इसीलिए बताया कि जिनसे ग्रहण करें, उन्हें कुछ न कुछ योग्यतानुसार प्रत्याख्यान अवश्य देना, जिससे उनसे लिए हुए दान में अशुद्धि हो तो वह दूर हो जाती है।

यह सब साधना की बाह्य, स्थूल तथा छोटी-छोटी बातें हैं। लेकिन साथ में आभ्यन्तर साधना की बहुत आवश्यकता है। ये बातें छोटी होते हुए भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनका महत्त्व, पूर्णतः तो आभ्यन्तर साधना के साथ में ही है। जो इस प्रकार के बाह्याचार का पालन नहीं करते, वे भी साधना तो कर सकते हैं, लेकिन उन्हें बहुत अड़चनें आती हैं। समय अधिक लगता है। जो भी संस्कार का दोषपूर्वक आगमन हो गया है, उन्हें भी पार करना पड़ता है। बिना बाह्याचार के जो साधना 12 वर्ष में हो सकती है, वह आचार के साथ आठ वर्ष में हो सकती है। ऐसे देखा जाए तो गोचरी भी अपने आपमें एक बहुत बड़ी साधना है, लेकिन साथ में आभ्यन्तर साधना भी आवश्यक है।

कार्य कैसे करना—जो भी कार्य करो पूर्ण भावपूर्वक करो तब बहुत लाभ देगा। संयम के किसी भी कार्य को छोटा मत समझो। कौन जाने किस निमित्त से आत्मबोध हो जाए। किसी को रस्सी पर नाचते हुए, किसी को आहार करते हुए, किसी को श्मशान में। अतः जो भी करो, बहुत भाव से कार्य करने से अत्यधिक निर्जरा होती है। लेकिन साथ में ध्यान भी अत्यन्त जरूरी है, उसको नहीं छोड़ना। विहार में भी ध्यान को प्रमुखता देना; क्योंकि ध्यान की धारा एक बार टूट गयी तो पुनः जोड़ना मुश्किल है।

समाचारी—हमारी समाचारी तो वही है जो श्री आचारांग-सूत्र में बतायी गयी है। अन्य जो समाचारी बनाई जाती हैं वह व्यवस्था रूप है।

‘काले कालं समायरे’—का अर्थ है दिवस या रात्रि के जिस काल में जो करना जरूरी है, उसका सम्यक् प्रकार से आचरण करना। जैसे—प्रथम एवं चतुर्थ पहर में स्वाध्याय, दूसरे पहर में ध्यान इत्यादि। हमारी समाचारी तो वही है जो पहले थी। यदि हम उसका पालन नहीं कर पाते हैं तो वह हमारी कमजोरी है, लेकिन उसके लिए समाचारी बदलना आवश्यक नहीं है। इससे भगवान की अवज्ञा होती है।

‘काले कालं समायरे’ का एक अर्थ यह भी होता है कि मुनि कालज्ञ होता है। अपने मूल उद्देश्य को सामने रखते हुए उसे सिद्ध करने हेतु आचरण करता है।

श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों में ब्रह्मचर्य-मर्यादा

श्वेताम्बर और दिगम्बरों में ब्रह्मचर्य की मर्यादा के संबंध में एक भिन्नता है। दिगम्बरों में कार्य विशेष पर स्त्री का स्पर्श होता है। श्वेताम्बरों में वह भी निषेध है। ऐसे तो ब्रह्मचर्य की मर्यादा है कि स्पर्श नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्पर्श के द्वारा भीतर की प्राण ऊर्जा का संक्रमण होता है। जैसे दूर से आशीर्वाद देने एवं स्पर्शपूर्वक आशीर्वाद देने में फर्क होता है। लेकिन इस मर्यादा की अति इस प्रकार हो गयी कि बहुत लम्बा कपड़ा बिछाया हुआ और दूर किसी स्त्री का स्पर्श हो और साधुजी उस वस्त्र पर विराजमान हों या स्पर्श हो रहा हो तो इतने लम्बे वस्त्र से भी साधुजी स्त्री का संघट्टा मानते हैं। इस प्रकार हमने मर्यादा को बहुत खींच लिया, इससे हमारे मन में इस प्रकार की विक्षिप्तता आ गयी कि हमारा ध्यान उसी ओर रहता है।

प्रत्येक मर्यादा की अपनी उपयोगिता होती है। जैसे दृष्टि मिलाकर बात करने से रसचलित होता है, जैसे—स्पर्श करने पर, ऊर्जा का संक्रमण एवं रसचलित दोनों होता है। इस प्रकार मर्यादा के रूप में इस बात को देखें तो एक ही वस्त्र पर या ऐसे ही साढ़े तीन हाथ की दूरी पर हो तो स्त्री के स्पर्श का दोष नहीं लगता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का साढ़े तीन हाथ का अपना क्षेत्र होता है जिसे ‘अवग्रह’ भी कहते हैं। दो व्यक्तियों के क्षेत्र मिलने पर पारस्परिक भावना एवं विचारों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। यह भी खास करके जब अनेक स्त्रियाँ एक साथ बैठी हों, तब

उनके और आपके बीच साढ़े तीन हाथ का अन्तर होना चाहिए।

समाज हर समय बदलता है, रीति एवं व्यवहार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से जीते हैं, परन्तु वास्तविक यह है।

जैन एवं हिन्दू संन्यास—हिन्दू संन्यास में भी ब्रह्मचर्य के नियम हैं। कई जगह अति तीव्र हैं, कई जगह नहीं क्योंकि वहाँ पर अनेक विभिन्न परम्पराएँ हैं। अधिकांश ऋषि विवाह करते हैं। अधिकांश लोग प्रौढ़ अवस्था में संन्यास लेते हैं, क्योंकि उनके यहाँ यह रिवाज है; परन्तु जिनशासन में ब्रह्मचर्य की अनेक सूक्ष्म मर्यादाएँ दी हैं; क्योंकि यहाँ पर साधना हेतु बाल्य एवं युवावस्था पर अधिक जोर दिया गया है।

1. जब शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा तीव्र होती है, 2. जिनशासन की साधना की गति भी तीव्र है, तब कर्मों की उदीरणा भी तीव्र होगी और जितनी भी साधना तीव्र हो, उतनी अधिक सुरक्षा आवश्यक है। जितना हीरा मूल्यवान हो, उतनी ही सम्भाल जरूरी। जितनी दवाई प्रभावकारी हो, उतना ही परहेज भी जरूरी है। साधारण दवाई के साथ कोई परहेज आवश्यक नहीं है। इस साधना में जितनी ऊँचाई भी है, यदि गिर पड़े तो उतनी बड़ी खाई भी है, जैसे दस हजार का हीरा हो यदि वह खो जाए तब नुकसान भी दस हजार का ही होगा और यदि दस लाख का हीरा हो तब पास में सम्पत्ति दस लाख की है और यदि खो जाए तो नुकसान भी दस लाख का है। अतः वीर पुरुष ही इस मार्ग पर चलते हैं। इस प्रकार इतने नियम उपनियम आवश्यक हैं। साधना की इतनी तीव्रता के कारण उसे संभालना भी जरूरी है। जब कर्मों का तीव्र उदय होता है और उस उदय वश कोई न कोई निमित्त ऐसा आता है जो साधक को साधना से डिगाता है। इसलिए इतने नियम-उपनियम आवश्यक हैं। इसमें भी विशिष्ट साधना हेतु जिन-कल्प का आचार है।

लेकिन हुआ यह कि हम नियम उपनियम में ही उलझ गये, साधना इतनी नहीं रही। इसी कारण वर्तमान में अनेक लोग प्रश्न करते हैं कि क्या इतने नियम-उपनियम आवश्यक हैं, क्योंकि जो नियम-उपनियम का पालन करते हैं, और नहीं करते हैं, उन दोनों की मनोदशा में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। आभ्यंतर साधना के अभाव के कारण, वही राग-द्वेष ईर्ष्या नजर आती है। यदि साधक में कोई विलक्षण उपशान्तता हो, तब नियमों पर यह प्रश्न नहीं आते, लेकिन ऐसे साधक बहुत कम हैं।

कल्प-नियम—जितना व्यक्ति ऊपर उठता है, क्या नियमों की आवश्यकता उतनी कम होती है?

बात सत्य है चेतना का जितना ऊर्ध्वरोहण होता है, उतनी नियमों की आवश्यकता कम होती है। जैसे आचार्य, स्थविर, कल्पातीत होते हैं। आवश्यकतानुसार अपनी जागृत प्रज्ञा के आधार पर वे कार्य करते हैं। उन्हें कल्प की आवश्यकता न होते हुए भी वे रहते तो नियमों में ही हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके पीछे जो शिष्य हैं, वे उनकी प्रज्ञा और चेतना को नहीं, अपितु क्रिया को ही देखते हैं।

जैसे एक कार में जाना दूसरा हवाई जहाज में जाना। हवाई जहाज में जाते हुए अधिक सुरक्षा एवं सावधानी की आवश्यकता है। जितनी गति तीव्र होती है, उतनी ही सुरक्षा एवं सावधानी की आवश्यकता है। जिनशासन की जो व्यवस्था है, वह राजमार्ग है बहुत तीव्र है। कभी-कभी व्यक्ति की अवस्था ऐसी भी हो जाती है कि तेजस शरीर का विकास होने पर संतप्तता आ जाती है। जैसे आतापना, अनशन, आर्यबिल आदि से। सात्त्विक आहार एवं ध्यान के माध्यम से उपशान्ति होती है।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय—पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है। और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारम्भ से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि बातों का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि णेव संयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥३२॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मानं अभ्याख्यायेत् यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति सः लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह, जिसने सामान्य रूप से आत्म-तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवों का वर्णन किया है, वही मैं। बेमि—कहता हूं। संयं—अपनी आत्मा के द्वारा। लोगं—अग्निकाय रूप लोक का। णेव अब्भाक्खेज्जा—अपलाप न करे। अत्ताणं—आत्मा का। णेव अब्भाइक्खेज्जा—निषेध या अपलाप न करे। जे—जो व्यक्ति। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। जे—जो। अत्ताणं—आत्मा का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है। से—वह। लोयं—अग्निकाय रूप लोक का। अब्भाइक्खइ—निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू। जिसने पहले तीन उद्देशकों में सामान्य रूप से आत्मा,

पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मैं तुम से कहता हूँ—मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध—अपलाप न करे और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्निकाय लोक का अपलाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात् जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमें प्रकाश और गरमी है और ये दोनों गुण चेतनता के प्रतीक हैं। जैसे जुगनू में जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था में उसके शरीर में प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अतः प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी संसूचक है।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गरम रहता है। मृत्यु के बाद शरीर में उष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढ़ता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है। अस्तु, शरीर में परिलक्षित होने वाली उष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि में प्रतिभासित होने वाली उष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

उष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त अग्नि वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती। जिस प्रकार हमें यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते हैं कि यदि प्रज्वलित दीपक या अंगारों को किसी बर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएंगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि में आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान में उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्बल से ढक देने की सलाह देते हैं। क्योंकि शरीर के कम्बल से आवृत होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जाएगी। इससे

उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि निर्जीव पदार्थों को वायु की अपेक्षा नहीं रहती। कागज के टुकड़े को कुछ क्षणों के लिए ही नहीं, बल्कि कई दिन एवं वर्षों तक भी वायु न मिले तो भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। परन्तु वायु के अभाव में अग्नि एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती है¹। यदि वह निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती। परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः अग्नि को सजीव मानना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय सजीव है। इसलिए मुमुक्षु को अग्निकाय की सजीवता का निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों में समान रूप से आत्म-सत्ता है। अतः जो व्यक्ति अग्निकाय का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इनकार करता है। और जो अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय की सजीवता का भी निषेध करता है। इस तरह आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से हमारी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवों की आत्मा की समानता को बताया है।

आचार्य शीलांक ने 'से बेमि' का अर्थ इस प्रकार किया है—“जिसने पृथ्वी और जलकाय की सजीवता को भली-भांति जानकर उसका प्रतिपादन किया है, वही मैं अनवरत पूर्ण ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशमान भगवान महावीर से तेजस्काय के वास्तविक स्वरूप को सुनकर तुम्हें बताता हूँ²।

प्रस्तुत सूत्र में तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके, अब सूत्रकार उसके आरम्भ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे जे असत्थस्स खेयण्णे से दीह-लोक-सत्थस्स खेयण्णे॥33॥

1. न विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ। —भगवती सूत्र, शतक 16, उद्देशक 1

2. येन मया सामान्यात्मपदार्थ-पृथिव्यप्कायजीव-प्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहम् अव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसम्पदो ब्रवीम।

छाया—यो दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञः योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः से दीर्घलोक-शस्त्रस्य खेदज्ञः ।

पदार्थ—जे—जो । दीहलोग-सत्यस्स—दीर्घ-लोक-वनस्पति के शस्त्र-अग्नि का । खेयण्णे—ज्ञाता होता है । से—वह । असत्यस्स—अशस्त्र-संयम का । खेयण्णे—ज्ञाता होता है । जे—जो । असत्यस्स—संयम का । खेयण्णे—ज्ञाता होता है । से—वह । दीहलोग-सत्यस्स—अग्नि का । खेयण्णे—ज्ञाता होता है ।

मूलार्थ—जो वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्नि-स्वरूप के परिज्ञाता हैं, वे संयम को भली-भांति जानने वाले हैं और जिन्हें संयम के स्वरूप का परिज्ञान है, उन्हें अग्नि के स्वरूप का भी बोध है ।

हिन्दी-विवेचन

दुनिया में अनेक तरह के शस्त्र हैं । परन्तु अग्नि का शस्त्र अन्य शस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण एवं भयावह है । जितनी व्यापक हानि यह करता है, उतनी अन्य किसी शस्त्र से नहीं होती । जरा-सी असावधानी से कहीं आग की चिनगारी गिर पड़े, तो सब स्वाहा कर देती है । इसकी लपेट में आने वाला सजीव-निर्जीव कोई भी पदार्थ सुरक्षित नहीं रहता । जब यह भीषण रूप धारण कर लेती है, तो वृक्ष मकान, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी; मनुष्य जो भी इसकी लपेट में आ जाता है, वह जल कर राख हो जाता है । अग्नि किसी को भी नहीं छोड़ती, गीले-सूखे, सजीव-निर्जीव सब इसकी लपटों में भस्म हो जाते हैं । अतः आग को सर्वभक्षी कहने की लोक-परम्परा बिलकुल सत्य है । और इसी कारण इसे सबसे तीक्ष्ण एवं प्रधान माना गया है । आगम में भी कहा गया है कि अग्नि के समान अन्य शस्त्र नहीं है¹ । यह पृथ्वी एवं अप्कायिक जीवों के शस्त्र के साथ वनस्पति के जीवों का भी शस्त्र है । और वनस्पति के लिए इसका उपयोग अधिक किया जाता है । घरों में शाक-भाजी बनाने एवं खाना पकाने के लिए इसी का उपयोग किया जाता है और बांस एवं चन्दन के बीहड़ वनों में उनकी पारस्परिक रगड़ एवं टक्कर से प्रायः आग का प्रकोप होता रहता है । इसलिए इसे वनस्पतिकाय का

1. विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे ।

नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए॥

शस्त्र रूप विशेषण से अभिव्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में अग्नि शब्द का प्रयोग न करके 'दीर्घलोक-शस्त्र' इतने लम्बे वाक्य का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे एक विशेषता रही हुई है। वह यह है कि अग्नि 6 काय का शस्त्र है। जब यह प्रज्वलित होती है, तो अपनी लपेट में आने वाले किसी भी प्राणी को सुरक्षित नहीं रहने देती। और जब यह जंगल में लगती है, तो बड़े-बड़े वृक्षों को जलाकर भस्म कर देती है। और वृक्ष के आश्रय में रहने वाले सभी स्थावर एवं त्रस जीवों को भस्म कर देती है। वृक्ष पर कृमि, पिपीलिका, भ्रमर आदि त्रस जीव पाए जाते हैं, उसकी कोटर एवं जड़ों में पृथ्वीकायिक और ओस के रूप में अप्कायिक तथा उसके पत्तों को हिलाते हुए वायुकायिक जीव भी वहां पाए जाते हैं। इस तरह एक वृक्ष को विध्वंस करने के साथ 6 काय के जीवों का नाश हो जाता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'अग्नि' शब्द का प्रयोग न करके 'दीर्घ-लोक-शस्त्र' शब्द का प्रयोग किया है।

वनस्पति को 'दीर्घलोक' कहने का तात्पर्य यह है—स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना ही सबसे बड़ी है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना विभिन्न प्रकार की है। कुछ वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना एक हजार योजन से भी कुछ अधिक है। आगम में वनस्पतिकाय के संबंध में विस्तृत विवेचन मिलता है; कई जगह उसे 'दीर्घलोक' भी कहा है। एक बार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि हे भगवन्! वनस्पतिकाय में गया हुआ वनस्पतिकाय में ही रहे तो कितने काल तक रहता है? हे गौतम! यदि वनस्पति में गया हुआ जीव वनस्पतिकाय में ही जन्म-मरण करता रहे तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म-मरण करता है और काल की अपेक्षा से अनन्त काल तक उसी में परिभ्रमण करता रहता है। इतना ही नहीं; असंख्यात पुद्गल-परावर्तन¹ उसी काय

1. 'पुद्गल-परावर्तन' काल का एक माप है। जैनागम की दृष्टि से एक कालचक्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो काल होते हैं, दोनों कालों के छह-छह आरे होते हैं और एक काल 10 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है, अतः पूरा कालचक्र 20 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है और एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त कालचक्र बीत जाते हैं।

में पूरे कर देता है¹। अवगाहना के संबन्ध में पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम! वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन² से भी कुछ ऊपर है³ इसलिए वनस्पतिकाय को आगम में 'दीर्घलोक' कहा है।

इस 'दीर्घ-लोक-वनस्पतिकाय' का विनाशक शस्त्र अग्नि है। इसलिए जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, वह 6 काय का विनाश करता है और जो इसके आरम्भ से निवृत्त है वह 17 प्रकार के संयम का आराधक है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि जो व्यक्ति अग्निकाय का ज्ञाता है, अर्थात् उससे होने वाले आरम्भ एवं विनाश तथा उससे बंधने वाले कर्म के स्वरूप को भली-भांति जानता है, वह संयम का भी परिज्ञाता है और जो संयम का परिज्ञान रखता है, वह अग्निकाय के आरम्भ से भी निवृत्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "खेयण्णे" शब्द के संस्कृत में दो रूप बनते हैं—1. क्षेत्रज्ञः और 2. खेदज्ञः। उभय शब्दों का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—

“क्षेत्रज्ञो निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जानातीत्यर्थः। खेदज्ञो वा खेदः तद् व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेक-शक्ति-कलापो-पचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि-व्यपदेशो यतीनामनारम्भणीयः तमेवविधं खेदं अग्निव्यापारं जानातीति खेदज्ञः।”

1. वणस्सइकाइएणं भंते! वणस्सइकाइएति कालओ केवच्चिरं होइ? गोयमा! अणंत कालं अणंताओ उस्सप्पिणि-अवसप्पणिओ कालओ। खेत्तओ अणंता लोया, असंखेज्ज पोग्गल-परियट्ठा तेणं पुग्गल परियट्ठा आवलियाए असंखेज्जइभागे।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद 18

2. लयण समुद्र की गहराई एक हजार योजन की मानी गई है। और उसमें कमल पैदा होता है, उसकी जड़ समुद्र के धरातल में गड़ी होती है और कमल का ऊपरी भाग पानी से ऊपर रहता है। इस अपेक्षा से वनस्पतिकाय के शरीर की ऊंचाई एक हजार योजन से ऊपर मानी गई है।
3. वणस्सइकाइयाणं भंते! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णता? गोयमा! साइरेणं जोयण-सहस्सं सरीरोगाहणा?

—प्रज्ञापना सूत्र, अवगहणा पद

अर्थात्—अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं और अग्नि के दहनादि रूप व्यापार का नाम खेद है और उसका परिज्ञाता 'खेदज्ञ' कहलाता है।

अशस्त्र शब्द का अर्थ है—संयम। क्योंकि शस्त्र से जीवों का नाश होता है, उन्हें वेदना-पीड़ा होती है, परन्तु संयम से किसी भी जीव को वेदना, पीड़ा एवं प्राण-हानि नहीं होती। इसलिए संयम को अशस्त्र कहा है। अस्तु, जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है, वही संयम का आराधक होता है। और जो संयम के स्वरूप को भली-भाँति जानता है, वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है। इस तरह संयम एवं अग्निकायिक आरम्भ-निवृत्ति का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट किया है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि यह तत्त्व महापुरुषों के द्वारा जाना एवं कहा गया है—

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिदृङ् संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं॥३४॥

छाया—वीरैः एतत् अभिभूय दृष्टं संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः।

पदार्थ—संजएहिं—संयत पुरुष। सया—सदा। जत्तेहिं—यत्न-शील। सया—सदा। अप्पमत्तेहिं—प्रमाद रहित, रह कर। वीरेहिं—वीर पुरुषों ने। अभिभूय—परीषहों को जीत कर तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर। एयं—इस अग्निकाय रूप शस्त्र को। दिदृङ्—देखा है।

मूलार्थ—महाव्रतों के परिपालक, सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने परीषह तथा कर्मों को अभिभूत करके प्राप्त केवल ज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और संयमरूप अशस्त्र को देखा है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पूर्व सूत्र में अग्निकाय रूप शस्त्र एवं अशस्त्र रूप संयम के स्वरूप को जानकर अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त हो कर संयम में प्रवृत्त होने की जो बात कही गई वह नितांत सत्य है, क्योंकि वीर पुरुषों ने

अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वदशी पुरुषों ने उसे देखा है। अतः अग्निकाय के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होने रूप संयम-मार्ग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित होने से वास्तविक पथ है; इसमें संशय को जरा भी अवकाश नहीं है।

इस तरह सूत्रकार ने मुमुक्षु के मन में जरा भी संशय पैदा न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा मुमुक्षु के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया है। हम सदा देखते हैं कि जब किसी बात पर किसी प्रामाणिक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है, तो व्यक्ति को उस बात पर पूरा विश्वास हो जाता है। अतः सूत्रकार ने इस बात को परिपुष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग वीतराग एवं सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित है। उन्होंने अग्निकाय को शस्त्र-रूप में और संयम को अशस्त्र-रूप में देखा है। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र पूर्व सूत्र का परिपोषक है, साधक के मन में जगे हुए विश्वास को दृढ़ करने वाला है और आचार में तेजस्विता लाने वाला है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'वीर' शब्द तीर्थकर एवं सामान्य केवलज्ञानी पुरुषों का परिबोधक है। क्योंकि वे राग-द्वेष एवं कषाय रूप प्रबल योद्धाओं को परास्त कर चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर पड़े हुए आवरण सर्वथा अनावृत करके पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य शक्ति को प्रकट कर चुके हैं, अतः वस्तुतः वे ही वीर कहलाने योग्य हैं और सर्वज्ञ होने के कारण वस्तु का वास्तविक स्वरूप बताने में भी वे ही समर्थ हैं। इसलिए सूत्रकार ने वीर शब्द का तीर्थकर एवं सामान्य केवल ज्ञानी के लिए प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों द्वारा अवलोकित है। केवल अवलोकित ही नहीं, आचरित भी है। यों कहना चाहिए कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग पर गतिशील होकर ही उन्होंने सर्वज्ञता को प्राप्त किया है।

शुद्ध चारित्र-परिपालन करने के लिए परीषहों पर विजय पाना जरूरी है। जो साधक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों में आकुल-व्याकुल नहीं होता, संयम-मार्ग से विचलित नहीं होता, उसका चारित्र शुद्ध एवं निर्मल बना रहता है और उस विशुद्ध भावना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों धार्तिक कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है, या यों कहना चाहिए कि अनन्त ज्ञान, दर्शन,

आत्मसुख एवं वीर्य की ज्योति अनावृत हो जाती है। साधक की दृष्टि में पूर्णता आ जाती है, उससे दुनिया की कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं रहती। और यह पूर्ण दृष्टि संयम-मार्ग पर प्रगति करके ही प्राप्त की गई है और अभी भी की जा रही है तथा भविष्य में भी प्राप्त की जा सकेगी। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा अवलोकित एवं आचरित है। इसलिए साधक को निश्चिंत भाव से उस पथ पर गतिशील होना चाहिए।

संयत, सदायत और अप्रमत्त ये तीनों 'वीर' शब्द के विशेषण हैं। संयत का अर्थ है—विषय-विकार एवं सावध कार्यों में प्रवृत्तमान योगों का सम्यक् प्रकार से निरोध करने वाला और सदा विवेक के साथ प्रवृत्ति करने वाले को सदायत कहते हैं। अप्रमत्त का अर्थ है—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा आदि प्रमाद का परित्याग करने वाला। उक्त गुणों से युक्त पुरुष वीर कहलाता है और ऐसे वीर पुरुष ने इस संयम-मार्ग को देखा एवं बताया है।

योगानुसारी प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है—अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ से मन-वचन और काय योग का निरोध करना और उससे जो लब्धि प्राप्त हो, उसका आत्मिक अभ्युदय के लिए उपयोग करना।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ अनर्थ का कारण है। फिर भी कई विषयासक्त एवं प्रमादी जीव विषय-वासना एवं प्रमाद के वश होकर अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ करते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडे ति पवुच्चइ॥३५॥

छाया—यः प्रमत्तः गुणार्थिकः सः खलु दण्ड इति प्रोच्यते।

पदार्थ—जे—जो व्यक्ति। पमत्ते—प्रमादी। गुणट्ठीए—गुणार्थी है। से—वह। हु—निश्चय ही। दंडे ति—दण्ड रूप। पवुच्चइ—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो जीव प्रमादी और गुणार्थी हैं, वे जीव प्राणियों के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हें दण्ड रूप कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति प्रमत्त¹ और गुणार्थि² है, वह दण्ड रूप है। क्योंकि प्रमाद एवं गुणार्थि इन दो कारणों से ही व्यक्ति अग्नि के आरम्भ में प्रवृत्त होता है। और विषय-कषाय से युक्त होकर रन्धन, पाचन, आताप-प्रकाश आदि के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है, इसलिए उसकी इस प्रवृत्ति को अकुशल प्रवृत्ति कहा है। और इस प्रवृत्ति से प्राणियों को दण्डित करने का कारण वह है, इसलिए उसे दण्ड रूप भी कहा है। ऐसा देखा गया है कि वस्तु के गुण-दोष या प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु का नाम रख दिया जाता है, गुणानुसारी नाम-करण की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है। जैसे घृत आयुर्वर्द्धक है, इसलिए उसका आयु रूप से निर्देश किया जाता है—“आयुर्वै घृतम्” इसी तरह प्रमादी एवं गुणार्थी जीव अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर अग्निकायिक एवं उनके आश्रय में रहे हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवों को दण्डित करते हैं, इसलिए उन्हें दण्ड रूप कहा गया है।

प्रमादी और गुणार्थि को दण्ड रूप कहा गया है। दण्ड से दुःखों की उत्पत्ति होती है, इसलिए सूत्रकार उसके परित्याग की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं॥36॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन।

पदार्थ—तं—इस अग्निकाय के आरम्भ को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान यह निश्चय करे। जं—जिस आरम्भ को। पमाएणं—प्रमाद से। अहं—मैंने। पुव्वं—प्रथम। अकासी—किया था, उसको। इयाणिं—इस समय। णो—नहीं करूंगा।

मूलार्थ—अग्निकाय के आरंभ से होने वाले अनर्थ को जान कर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरंभ को करता रहा हूं, इस समय उसका परित्याग करता हूं।

1. मद्य, विषय, कषायादि का सेवन करने वाला।

2. अग्नि-रन्धन, पाचन आदि गुणों का आकांक्षी—चाह रखने वाला।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रबुद्ध पुरुष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि जब तक जीवन में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, तब तक क्रिया में आचरण में तेजस्विता नहीं आ पाती। इसलिए अग्निकाय के आरम्भ से कितना अनर्थ एवं अहित होता है, इस बात का परिज्ञान होने के बाद मुमुक्षु उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के बाद ही प्रत्याख्यान की अभिरुचि होती है, आचरण की ओर कदम उठता है और ज्ञानपूर्वक किया गया त्याग ही वास्तविक आत्मविकास में सहायक होता है।

भगवती सूत्र में बताया गया है कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—हे भगवन्! कोई जीव यह कहता है कि मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसका प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है? भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम! उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान भी है और दुष्प्रत्याख्यान भी, भगवान के हकार-नकार युक्त उत्तर को स्पष्ट समझने की अभिलाषा से गौतम स्वामी ने पुनः पूछा—भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं? भगवान ने कहा—हे गौतम! जो जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को भली-भांति नहीं जानता है, त्रस-स्थावर के स्वरूप को नहीं पहचानता है, वह व्यक्ति यदि कहता है कि मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य नहीं, अपितु झूठ बोलता है, तीन करण-तीन योग से असंयती है, अव्रती है। पाप कर्म का त्यागी नहीं है। क्रिया-युक्त है, असंवृत है, एकान्त दण्ड रूप है; एकान्त बाल-अज्ञानी है, इसलिए उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। और जो जीवाजीव एवं त्रस-स्थावर आदि तत्त्वों का ज्ञाता है और वह कहता है कि मैंने प्राण, भूत आदि की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य बोलता है, तीन करण-तीन योग से संयती है, व्रती है; पाप कर्म का त्यागी है, क्रिया-रहित है, संवृत है, एकान्त पंडित-ज्ञानी है, इसलिए उस का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है¹। अस्तु, इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान-पूर्वक किया गया त्याग ही कर्म-बन्धन को तोड़ने में सहायक होता है, निर्जरा का कारण बनता है।

1. भगवती सूत्र, शतक 7, उद्देशक 2।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में बताया गया कि मुमुक्षु अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ को जानने के पश्चात् उनमें प्रवृत्त नहीं होता। जब तक वह उसके स्वरूप को भली-भाँति नहीं जानता, तब तक प्रमाद के कारण अग्नि का आरम्भ करता है। परन्तु उसका सम्यक्तया ज्ञान होने के बाद वह उसका सर्वथा परित्याग कर देता है, अर्थात् पूर्व समय जो आरम्भ किया है, उसका पश्चात्ताप करता है और भविष्य के लिए उसका त्याग कर के विवेकपूर्वक संयम में प्रवृत्त होता है।

अग्निकाय के संबंध में जैनेतर संप्रदाय का जो अभिमत है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरुवे पाणे विहिंसंति। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चैव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहियाए, से तं संबुज्झमाणे अयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गट्ठिए लोए जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरुवे पाणे विहिंसइ॥३७॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य! अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म-समारंभेण अग्निशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः

अणगाराणामतिके इह एकेषां ज्ञातं भवति—एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारम्भेण, अग्निशस्त्रं समारंभमाणे अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति।

पदार्थ—लज्जमाणा—स्वागमविहित अनुष्ठान करते हुए अथवा सावधानुष्ठान के कारण लज्जा का अनुभव करते हुए। पुढो—विभिन्न मतवालों को। पास—हे शिष्य! तू देख। अणगारा मोत्ति—हम अनगार हैं, इस प्रकार। एगे—कई एक वादी। पवदमाणा—बोलते हुए। जमिणं—जो यह प्रत्यक्ष। विरूपरूपेहिं—नाजा प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। अग्निकम्मसमारंभेण—अग्नि कर्म समारम्भ से। अग्नि सत्थं समारम्भमाणे—अग्नि शस्त्र का समारम्भ प्रयोग करते हुए। अणेगरूपे—अनेक रूप वाले। अण्णे—अन्य। पाणे—प्राणियों की। विहिंसन्ति—हिंसा करते हैं। तत्थ—अग्निकाय के आरम्भ-विषयक। खलु—निश्चय ही। भगवता—भगवान ने। परिण्णा—परिज्ञा। पवेइया—प्रतिपादन की है। इमस्स चेव—इसी। जीवियस्स—जीवन के लिए। परिखंदण-माणण-पूयणाए—प्रशंसा, मान-सम्मान और पूजा के लिए। जाई-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए। दुक्खपडिघायहेउं—दुःखों का नाश करने के लिए। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। अग्नि-सत्थं समारंभइ—अग्निकाय का शस्त्र से समारम्भ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—दूसरों से। अग्नि-सत्थं—अग्नि शस्त्र से। समारंभावेइ—समारम्भ कराता है। वा—तथा। अग्नि-सत्थं—अग्नि-शस्त्र का। समारंभमाणे—समारम्भ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। समणुजाणइ—समर्थन करता है। तं—वह आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहितकर होता है। तं—वह आरम्भ। से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए होता है। से तं—जिसको यह असदाचरण बता दिया गया है, वह शिष्य। संबुज्झमाणे—अग्नि के आरंभ को पाप रूप जानता हुआ। आयाणीयं—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि को प्राप्त कर। भगवओ—भगवान के समीप। वा—अथवा। अणगाराणां—अणगारों के समीप। सोच्चा—सुनकर। इहं—इस लोक में। एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को। णायं—ज्ञात हो जाता है। एस खलु—यह अग्निकाय का समारम्भ-निश्चय ही। मोहे—मोह का कारण है। एस—यह। खलु—निश्चय ही। गंथं—अष्ट कर्म की गांठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारए—मृत्यु

का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण है। इच्चत्थं—इस अर्थ के लिए। गड्ढिए—मूर्छित। लोए—लोक हैं। जमिणं—जो यह प्रत्यक्ष। विरुवरुवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। अगणि- कम्मसमारंभमाणे—अग्नि का समारम्भ करते हुए। अण्णे—अन्य। पाणे—प्राणियों की भी। विहिंसइ—हिंसा करते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू इन विभिन्न धर्मानुयायियों को देख, जो स्वागमानुसार साधु-क्रिया करके लज्जित होते हुए भी अपने आप को अनगार कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न शस्त्रों से, अग्नि-कर्म-समारंभ से अग्निकायिक जीवों एवं अन्य अनेक तरह के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं। अतः भगवान ने परिज्ञाभविशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा-मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म-मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के विनाशार्थ स्वयं अग्नि का आरंभ करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और करने वाले को अच्छा समझते हैं। परन्तु यह समारम्भ उनके लिए अहितकर है, अबोध का कारण है। इस प्रकार भगवान से या अनागारों से सुन कर सम्यक्बोध को प्राप्त हुए किसी-किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि यह अग्नि-समारंभ अष्ट कर्मों की गांठ है, यह मोह का कारण है, यह मृत्यु का कारण है और यह नरक का भी कारण है। फिर भी विषय-भोगों में मूर्च्छित—आसक्त व्यक्ति अग्निकाय के समारम्भ से निवृत्त नहीं होता। वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रों के द्वारा अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता हुआ अनेक जीवों की भी हिंसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र पृथ्वीकाय और अप्काय के प्रकरण में सूत्र 16, 17 और 24 के सूत्र की तरह ही है। केवल इतना ही अन्तर है कि वहां पृथ्वी एवं अप्काय का वर्णन है और यहां तेजस्काय समझना चाहिए। शेष व्याख्या उसी प्रकार होने से यहां पिष्टपेषण करना उचित नहीं जंचता।

अब सूत्रकार अग्निकाय समारम्भ से अन्य जीवों की जो हिंसा होती है, उसका उल्लेख करते हैं।

मूलम्—से बेमि—संति पाणा पुढविनिस्सिया, तणणिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्टनिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति; अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति; ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति॥३८॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि सन्ति प्राणाः पृथिवीनिश्चिताः, तृणनिश्चिताः, पत्रनिश्चिताः, काष्ठनिश्चिताः गोमयनिश्चिताः, कचवरनिश्चिताः, सन्ति सम्पातिमाः प्राणाः आहत्य सम्पतन्ति, अग्नि (अग्नि) च खलु स्पृष्टाः एके संघातमाद्यन्ते ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति ।

पदार्थ—से बेमि—वह मैं कहता हूँ। संति—विद्यमान हैं। पाणा—प्राणी। पुढविनिस्सिया—पृथ्वीकाय के आश्रय में। तणणिस्सिया—तृणों के आश्रित। पत्तणिस्सिया—पत्तों के आश्रित। गोमयनिसिस्या—गोबर के आश्रित। कयवरणिस्सिया—कूड़े-कर्कट के आश्रित। संति—विद्यमान हैं। संपातिमा—उड़ने वाले। पाणा—प्राणी। आहच्च—कदाचित्। संपयंति—अग्नि में गिर पड़ते हैं। च—फिर। अगणिं—अग्नि को। पुट्ठा—स्पष्ट होते हैं। खलु—निश्चय ही। एगे—कोई। संघायमावज्जंति—शरीर-संकोच को प्राप्त होते हैं। जे तत्थ संघायमावज्जंति—जो वहां शरीर-संकोच को प्राप्त होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्छित होते हैं। जे जो जीव। तत्थ—वहां पर। परियावज्जंति—मूर्च्छित होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहां पर। उद्दायंति—प्राणों को छोड़ देते हैं, अर्थात् निर्जीव हो जाते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! अग्निकाय के आरम्भ में विभिन्न जीवों की जो हिंसा होती है, वह मैं तुमसे कहता हूँ। पृथ्वी के आश्रय में तथा तृण, काष्ठ, गोबर, कूड़े-कर्कट के आश्रय में निवसित विभिन्न तरह के अनेक, जीव और इसके अतिरिक्त आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु, कीट-पतंगे एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग में आ गिरते हैं और उसके (आग के) संस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मुर्छित होकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि अग्नि सबसे तीक्ष्ण शस्त्र है। इसकी प्रज्वलित ज्वाला की लपेट में आने वाला सजीव या निर्जीव कोई भी पदार्थ अपने रूप में सुरक्षित नहीं रह सकता। वह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का विनाश करने के साथ उनके आश्रय में निवसित त्रस जीवों को भी जलाकर भस्म कर देती है। उसकी लपेट में आने वाले जीवों के कुछ नाम गिनाते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि पृथ्वी, तृण, पत्ते, काष्ठ, गोबर एवं कूड़े-करकट में स्थित जीवों के तथा आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु कभी आग में गिर पड़ें तो वह उनके प्राणों का नाश कर देती है।

यह तो स्पष्ट है कि आग पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है और पृथ्वी के आश्रय में अनेक जीव निवसित हैं। कृमि, पिपीलिका, कीड़े-मकोड़े, बिच्छू, सर्प, मेंढक तथा वृक्ष, लता, बेल आदि के जीव पृथ्वी के आधार पर ही स्थित हैं। अतः जब आग लगती है तो इनमें से अनेक जीवों की हिंसा होना संभव है।

आग को प्रज्वलित करने में तृण, काष्ठ और गोबर का प्रयोग किया जाता है तथा घर के या गलियों के कूड़े-करकट को एकत्रित करके उसमें आग लगा दी जाती है। उसे दूर जंगल में ले जाकर फेंकने के बजाय उसमें आग लगा कर समय एवं श्रम को बचा लिया जाता है। परन्तु इससे अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है। क्योंकि तृण, काष्ठ एवं गोबर के आश्रय में पतंगे, भ्रमर, लट, घुण, कुंथुवे आदि अनेक जीव-जन्तु रहते हैं और कूड़े-करकट में तो विभिन्न त्रस जीव रहते हैं—कीड़े-मकोड़े, पिपीलिका आदि का पाया जाना तो साधारण-सी बात है। अस्तु, इनकी जलाने में अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जब आग जलती है, तो आकाश में उड़ने वाले मक्खी, मच्छर, भ्रमर एवं अन्य पक्षी गण कभी-कभी उसमें आ गिरते हैं और उसका जाज्वल्यमान उष्ण संस्पर्श पाकर उनका शरीर सिकुड़ जाता है, वे तुरन्त मूर्च्छित होकर प्राण त्याग देते हैं।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अग्नि का समारम्भ सबसे भयानक है। इसमें छः काय के जीवों की हिंसा होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को उसका

परित्याग करना चाहिए। इसी बात की प्रेरणा देते हुए अगले सूत्र में कहा है—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे ण समणुज्जाणेज्जा जस्सेते अगणिकम्म समारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे—त्तिबेमि॥39॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारम्भणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारभेत् नैवान्यैः अग्निशस्त्रं समीरम्भयेत्, अग्नि शस्त्रं समारंभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् यस्यैते अग्निकर्म समारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—अग्निकाय के विषय में। सत्थं—स्वकाय और परकाय रूप शस्त्र का। समारंभमाणस्स—समारम्भ करने वाले को। इच्चेते—ये। आरंभा—आरंभ। अपरिण्णाया भवन्ति—अपरिज्ञात होते हैं। एत्थ सत्थं असमारंभ माणस्स—अग्निकाय का समारम्भ न करने वाले को ये समारम्भ। इच्चेते—ये। आरंभा—आरंभ। परिण्णाया- भवन्ति—कर्मबन्ध के हेतु परिज्ञात होते हैं। तं—उस अग्नि-समारंभ को। परिण्णाय— परिज्ञात करके। मेहावी—बुद्धिमान। णेव—नहीं। सयं—स्वयमेव। अगणिसत्थं— अग्नि-शस्त्र का। समारंभेज्जा—समारंभ करे। णेवऽण्णेहिं—न अन्य से। अगणिसत्थं—अग्नि-शस्त्र का। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे। अगणिसत्थं—अग्नि-शस्त्र का। समारंभमाणे—समारंभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। न समणुज्जाणेज्जा—अनुमोदन भी न करे। जस्सेते—जिसके ये। अगणि कम्म-समारंभा—अग्नि-कर्म-समारंभ। परिण्णाया—परिज्ञात। भवन्ति—होते हैं। से हु मुणी—निश्चय पूर्वक वही मुनि। परिण्णायकम्मे—परिज्ञातकर्मा है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति स्वकाय एवं परकाय रूप शस्त्र से अग्निकायिक जीवों का आरम्भ करता है, वह इस बात से अपरिज्ञात होता है कि वह आरम्भ कर्मबन्ध का कारणभूत है। जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ नहीं करता, वह उस कर्मबन्ध के कारण से परिचित होता है। अतः अग्नि के आरम्भ को कर्मबन्धन का कारण जानकर बुद्धिमान पुरुष को न स्वयं अग्नि का आरम्भ करना चाहिए, न दूसरे व्यक्ति से आरम्भ कराना चाहिए और न आरंभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। जिस मुमुक्षु पुरुष को ऐसा बोध है कि यह समारंभ कर्मबन्ध का कारण है, वास्तव में वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

जो व्यक्ति ज्ञ परिज्ञा द्वारा अग्निकाय के स्वरूप का परिज्ञान करके, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा अग्नि के आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करता है, वही वास्तव में मुनि है, परिज्ञातकर्मा है। इस सम्बन्ध में दूसरे और तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से लिख चुके हैं, अतः उस प्रकरण में देख लेना चाहिए। 'त्ति बेभि' का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥शस्त्रपरिज्ञा चतुर्थ उद्देशक समाप्ता॥



अध्यात्मसार : 4

काय-क्लेश तप का स्वरूप

जब तक मन की समता रहे, तब तक काय-क्लेश तप करें। मन यदि अत्यधिक तनाव एवं व्याकुलता से भर जाए तब काय-क्लेश तप संवर एवं निर्जरा की जननी, चित्त की उपशांतता की अपेक्षा क्रोध एवं चिड़चिड़ेपन को लाता है। हठयोग की भाँति हठी नहीं हो जाना, शरीर को जबरदस्ती नहीं सताना। ध्यान में आसनस्थिरता हेतु संकल्प एवं हठ का आलम्बन लेना पड़े, वह ठीक है। उससे फायदा ही होगा, क्योंकि वहाँ पर बाह्य तप काय-क्लेश के साथ ध्यान भी जुड़ा हुआ है, लेकिन यह भी विवेकपूर्वक करना। खाली बाह्य तप यदि (अनशन इत्यादि) जबरदस्ती या हठ-पूर्वक करेंगे तो नुकसान भी हो सकता है। इसलिए पुनः-पुनः कहते हैं कि बाह्याचार एवं तप के साथ आभ्यंतर साधना नितान्त आवश्यक है। बाह्य एवं आभ्यंतर तप दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक हैं, लेकिन मूल है आभ्यंतर तप। ध्यान ही धर्म का सार है।

दीर्घ-ध्यान व तप

यदि कोई बाह्य तप के साथ ध्यान की विशिष्ट साधना करना चाहे, तब दिन में एक ही बार भोजन करें, हो सके तो एकलठाणा या एकाशन भोजन में 10 या 15 द्रव्य लगाएं। भोजन दूसरे पहर में या तीसरे के शुरूआत में करें, ताकि सूर्यास्त से पहले भोजन हजम हो जाए। इससे पेट भी हल्का रहता है एवं जागरूकता रहती है। फलितार्थ ध्यान भी सधता है।

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया तत्तेहिं सया
अप्पमतेहिं॥1/4/34॥

मूलार्थ—महाव्रतों के परिपालक सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने परीषह तथा कर्मों को अभिभूत करके प्राप्त केवलज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और संयमरूप अशस्त्र को देखा है।

यह सूत्र वीर के संबंध में परिचय देता है। वीर कौन है? जो संयत, यतनाशील एवं अप्रमत्त है।

संयत अर्थात्—सावध योग से निवृत्ति।

संयत—यत्नशील विवेक की जागृति।

विवेक—अर्थात् जड़ एवं चेतन का बोध, जीव एवं अजीव का बोध, सत्य-असत्य का बोध, नित्य-अनित्य का बोध।

विवेक शब्द का मूल अर्थ होता है—सम्यक् ज्ञान। ऐसा ज्ञान, ऐसी प्रज्ञा—जिससे आप सत्य-असत्य में फर्क कर सकें। जैसे हंस अपनी चोंच से दूध और पानी को अलग कर देता है, वैसे ही विवेकवान साधक यह समझ लेता है कि सार क्या है और असार क्या है। इसी परम उत्कृष्ट विवेक को प्रज्ञा भी कहते हैं।

जो संयम और विवेक दोनों के साथ गति करेगा, उसे अप्रमत्तता की उपलब्धि होती है। संयम और यतना के मेल से अप्रमत्तता रूप परिणाम आता है।

अप्रमत्तता क्रिया नहीं है, अपितु हमारे अन्तःकरण की अवस्था है। अतः जो व्यक्ति संयत है एवं यतनाशील है, वह स्वयमेव अप्रमत्तता को उपलब्ध हो जाएगा।

यतना दो प्रकार से है—1. आगम ज्ञान आश्रित, 2. स्वज्ञान आश्रित।

स्व-ज्ञान—अर्थात् जो हमारा ज्ञान गुण है, उसका जितना विकास होगा, उतना ही विवेक जागता है। सम्यक् ज्ञान को विवेक कहते हैं, मिथ्याज्ञान को नहीं।

विवेक का मूल—सम्यक् दर्शन, क्योंकि श्रद्धा अगर सम्यक् हुई तो ज्ञान भी सम्यक् होगा।

उपयोग का अर्थ—विवेक नहीं होता, यतनापूर्वक यानी विवेकपूर्वक। उपयोग दो प्रकार से है—ज्ञान एवं दर्शन उपयोग। अतः जहाँ यह कहा है कि यतनापूर्वक करें, वहाँ अर्थ होगा—विवेकपूर्वक कार्य करो।

उपयोग-रहित तो कोई भी जीव नहीं है। निगोद के जीवन में भी उपयोग है,

क्योंकि 'उवओगो जीव लक्खणं' लेकिन उनमें विवेक नहीं है। जब यह कहा जाय कि उपयोगपूर्वक कार्य करना, अर्थात् मन को साथ लगाते हुए कार्य करना, चैतन्य की धारा उसीमें प्रवाहित करना। आत्मा के ज्ञान-दर्शन रूपी परिणामों को उसी कार्य में समाहित करना।

संयम का यहाँ पर हम जो अर्थ करते हैं, वह है बाह्याचार। जो व्रत-नियम इत्यादि बताए गए हैं, वह ऐसे देखा जाए तो प्रत्येक शब्द में सब कुछ समा गया है। फिर भी हमने प्रत्येक शब्द को एक विशेष अर्थ प्रदान किया है।

संयम—अपने सम्पूर्ण योगों को सम रखना, विचलित डोलायमान, कषाय एवं उत्तेजना युक्त नहीं होने देना। व्यवहार में कहने के लिए कहा जाता है कि इसने संयम ग्रहण किया और वह संयम से गिरा। वस्तुतः संयम का अभिप्राय योग-समत्व में निष्ठा, योग-समत्व का ज्ञान और तदनुसार आचरण करने से है। संकल्प संयम में सम्यक् उत्थान है और उस संकल्प को छोड़ना संयम से गिर जाना है। इस प्रकार वस्तुतः जब हम योग को सम रखते हैं, तभी हम संयम में हैं।

संयम से ही विवेक जागता है। जब तुम योगों को सम रखोगे, तब सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का विकास होगा। यहाँ पर दर्शन का अर्थ दर्शनावरणीय का दर्शन, जैसे सिद्धों में दो उपयोग हैं—ज्ञान और दर्शन। योगों को सम रखने से उन्हीं का विकास होता है और उनके विकास से संयम की परिपुष्टि होती है। इस प्रकार संयम और विवेक दोनों के मेल से अप्रमत्तता आती है। जिस दिन संयम सध जाता है, उस दिन विवेक पूर्णतः जागृत हो जाता है और परिणामस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्णतः अप्रमत्त हो जाता है। यह तेरहवें गुणस्थान की अवस्था है। सातवें गुणस्थान को भी अप्रमत्त गुणस्थान कहा गया है, लेकिन वह स्थायी नहीं है। स्थायी रूप से अप्रमत्तता और पूर्णतः अप्रमत्तता तेरहवें गुणस्थान में आती है। इस प्रकार संयम और विवेक का परिणाम ही अप्रमत्तता है।

संयम से विवेक जागृति, विवेक जागने से अप्रमत्तता और वह अप्रमत्तता पुनः संयम को पुष्ट करती है। अतः संयम, विवेक और अप्रमत्तता तीनों को एक दूसरे का परिपूरक कह सकते हैं।

इस प्रकार तीनों ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, लेकिन प्रारंभ होता है संयम से। यही साधना की धारा है। संयम से विवेक, फिर अप्रमत्तता।

संयम चारित्र का नाम है, अर्थात् चयन किए हुए कर्मों को रिक्त करने के लिए की जाने वाली क्रिया। विवेक-ज्ञान का बोधक है—आत्मज्ञान।

अप्रमत्तता—मोहनीय कर्म के क्षय होने का बोधक है। मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से पहले संयम आता है। संयम से विवेक आता है। विवेक-पूर्वक संयम का पालन करते रहने पर मोहनीय कर्म का विशेष रूप से क्षयोपशम होने से अप्रमत्तता आती है।

जैसे कोई कहता है कि संयम का क्या करना है, केवल जागरूक होना पर्याप्त है। लेकिन जागरूकता बिना संयम के आएगी कैसे? योग जब सम होंगे। सम-यम-योग चंचलता को छोड़कर जब हम सम होंगे, तभी जागरूकता आएगी।

जागरूकता—अप्रमत्तता। अतः पहले संयम को साधें, उससे विवेक जागेगा। कई लोग विवेक का अर्थ केवल बुद्धि करते हैं, लेकिन वह तो विवेक का साधन रूप अंश मात्र है, विवेक नहीं।

विवेक—विवेक अर्थात् योग-स्थिरता के द्वारा प्राप्त किया गया सम्यक् ज्ञान। जब तक पूर्णतः विवेक का जागरण नहीं होता है (पूर्णतः अर्थात् स्वज्ञान आश्रित विवेक-यतना), तब तक जैसा आगमों में सम्यक् ज्ञान आचरण का वर्णन है, उस प्रकार चलना। यह है आगम-आश्रित विवेक-यतना। जब तक पूर्णतः स्व-ज्ञान का जागरण न हो जाए, तब तक भटकने की संभावना रहती है। उस समय आगम ज्ञान सम्बल देता है। इस प्रकार आगम ज्ञान भी उतना ही उपयोगी है, जितना स्व-ज्ञान। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक हैं। इस प्रकार जो जितने अंशों में संयम और विवेक के द्वारा अप्रमत्तता को उपलब्ध हुआ है, वह उतना ही वीर है। सम-यम-योग स्थिरता को उपलब्ध होना ही वीरता है। कहा भी है, जिसने मन को जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया, बाकी तो क्या वीर क्या कायर। वह तो केवल शक्ति का टकराव है अहम् का टकराव है, हिंसा का मार्ग है।

मूलम्—जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडेति पवुच्चई॥1/4/35

मूलार्थ—जो जीव प्रमादी और गुणार्थि हैं, वे जीव प्राणियों के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हें दण्ड रूप कहा जाता है।

यह सूत्र पूर्व सूत्र से जुड़ा हुआ है। जो प्रमादी है और गुणार्थि है, वह निश्चय ही दण्ड रूप कहा जाता है। व्यक्ति प्रमादी कब होता है? पहले तो वह असंयमी होगा, असंयम से विवेक सो जाता है, तब प्रमाद आता है। जैसे संयम और विवेक का परिणाम है अप्रमत्तता, वैसे ही असंयम और अयतना 'मिथ्याज्ञान' का परिणाम है, प्रमाद। उस प्रमाद के वशवर्ती गुणों के प्रति आकर्षण बढ़ता चला जाता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं के लिए भी दण्ड रूप है एवं दूसरों के लिए भी। वह स्वयं की आत्मा को भी दुःखी करता है और दूसरे जीवों को भी इनसे दुःख मिलता है। असंयम से विवेक सो जाएगा। विवेक के सोने से प्रमाद आता है। प्रमाद से व्यक्ति गुणार्थि बनता है। गुणार्थीपन—गुणों के प्रति आकर्षण से दुःख का आगमन, दुःख का उपार्जन, स्व एवं पर दोनों के लिए।

दुःख का आगमन वर्तमान सम्बन्धी, दुःख का उपार्जन भाविष्य संबंधी। पर के लिए प्रमुख रूप से केवल दुःख का आगमन। दुःख का उपार्जन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

प्रोपकार—दूसरों पर उपकार कब होगा? इस दुनिया में संयम सर्वश्रेष्ठ उपकार है। क्योंकि संयम से विवेक, विवेक से अप्रमत्तता, अप्रमत्तता से सुख का आगमन एवं उपार्जन स्व एवं पर दोनों के लिए। सुख का आगमन पर के लिए प्रमुख रूप से, उपार्जन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इसीलिए जो संयम धारण करता है, वह सभी के उपकारों को चुका देता है। संयम धारण करने से वह सभी ऋणों से उऋण हो जाता है। वह स्वयं के लिए और दूसरों के लिए कल्याणरूप और मंगलरूप है।

जितना-जितना वह संयम में बढ़ेगा, उतना-उतना ऋण कम होता जाएगा। संयम लेने से संसार के सारे सम्बन्धों से वह मुक्त हो जाता है। फिर एक ही ऋण

बचेगा और वह है गुरु का एवं शासन का। इससे भी उद्धार हो सकता है, जितना-जितना संयम का पालन करेगा, गुरु एवं शासक के ऋण से मुक्त होता जाएगा। पूर्ण संयम सध जाने पर सारे ऋणों से उद्धार हो जाता है। गुरुजनों से उद्धार होने के लिए उन्हें संयम में सहयोग करे या संयम में स्थिर करें।

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं॥1/4/36

मूलार्थ—अग्निकाय के आरंभ से होने वाले अनर्थ को जानकर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरंभ को करता रहा हूँ, इस समय उसका परित्याग करता हूँ।

जिस आरंभ को प्रमादवश मैंने किया था, उसको अब नहीं करूँगा। प्रमाद की शुरूआत असंयम से होती है। योगों की चंचलता और कषाय-वश मैंने जो हिंसा की थी, कराई थी और अनुमोदना की थी, वह मन-वचन-काया से आगे न करूँगा, न कराऊँगा और न अनुमोदना करूँगा (मुनिजनों की अपेक्षा) यह मूलतः व्रत लेने के पूर्व की भावना है। व्रत लेने से पूर्व व्यक्ति ऐसा सोचता है। या तो यों कहो इस भावना से युक्त होने पर ही व्रतों का आगमन होता है। जब उसे इस असंयम के परिणाम का पता लगता है, अहसास होता है, तब व्यक्ति प्रतिक्रमित होता है, प्रायश्चित्त करता है, निंदामि गरिहामी करता है। तब उसके अन्तःकरण में यह भावना आती है। यह आलोचना की भावना है। अतः यहाँ पर इस बात का संकेत भी है, प्रथम आलोचना की भावना और आलोचना, फिर व्रत ग्रहण एवं संयम-पालन।

आलोचना तभी प्रभावकारी होती है, जब वह इस प्रकार ज्ञानपूर्वक आए, पश्चात्ताप-पूर्वक आए। इसके आगे का फल फिर संयम। अतः संयम-पालन में उत्सुक और सावधान व्यक्ति की ही वास्तविक आलोचना है। जो आलोचना केवल डरपूर्वक की जाती है, वह आलोचना नहीं है। अन्ततः संयम का अर्थ है, योगों को उपशान्त करना, स्थिर करना। ध्यान भी मनःसंयम का एक रूप है।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अग्निकायिक जीवों का वर्णन किया गया है और उसके आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। इसी क्रम से प्रस्तुत उद्देशक में वायुकाय का वर्णन करना चाहिए था। परन्तु यहां पर सूत्रकार ने वायुकाय के स्थान में वनस्पतिकाय का विवेचन किया है। इस क्रम-उल्लंघन का कारण यह है कि पांच स्थावरों में वायुकाय चाक्षुष—चक्षुग्राह्य न होने से शिष्य की समझ में जल्दी नहीं आ सकता। इसलिए पहले चारों स्थावरों एवं त्रस का वर्णन करके, फिर वायुकाय का वर्णन करेंगे। इससे यह लाभ होगा कि चार स्थावर एवं त्रस जीवों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् वायु के स्वरूप को समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह शिष्य के हित को सामने रख कर प्रस्तुत उद्देशक में वायुकाय के स्थान में वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन किया गया है। उसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता,
तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई॥४०॥

छाया—तत् नो करिष्यामि समुत्थाय मत्वा मतिमन्! अभयं विदित्वा, तं
यो नो कुर्यात्, एष उपरतः, अत्रोपरतः एष अनगार इति प्रोच्यते।

पदार्थ—तं—उस वनस्पतिकाय का आरम्भ। णो करिस्सामि—नहीं करूंगा।
समुट्ठाए—सम्यक् प्रव्रजित होकर। मत्ता—जीवादि पदार्थों को जानकर। मइमं—हे
मतिमान् शिष्य! अभयं—संयम को। विदित्ता—जानकर। तं—उस वनस्पतिकाय के
आरंभ—हिंसा को। जे—जो। णो करए—नहीं करता है। एसोवरए—वही उपरत-निवृत्त
है। एत्थोवरए—जिन मार्ग में ही ऐसा त्यागी मिलता है, अन्यत्र नहीं। एस—यही
त्यागी। अणगारेत्ति—अनगार। पवुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! जो व्यक्ति सर्वज्ञोपदिष्ट मुनिधर्म को स्वीकार करके तथा

जीवाजीव आदि पदार्थों को भली-भांति जान कर और संयम-साधना का सम्यक् परिबोध करके, यह निश्चय करता है कि मैं वनस्पतिकाय का आरम्भ-समारंभ नहीं करूंगा, वही व्यक्ति वनस्पतिकायिक जीवों के आरम्भ से उपरत—निवृत्त कहा जाता है और ऐसे त्यागनिष्ठ एवं निवृत्ति-प्रधान जीवन की साधना जिन मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। ऐसे त्यागी साधक को ही अनगार कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्राणी अनन्त काल से मोह एवं वासना के घोर अन्धकार में भटकता रहा है। अनेक तरह से विषयेच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करने पर भी उसकी इच्छा की तृप्ति नहीं हो पाती। तृष्णा की भूख नहीं बुझती। यों कहना चाहिए कि उसकी तृष्णा, आकांक्षा एवं वासना की क्षुधा तृप्त होने के स्थान में प्रतिपल बढ़ती है और वह भोगेच्छा के वश होकर अनेक तरह से वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है। अपने विलास एवं सुख के लिए रात-दिन विभिन्न प्रकार की हरितकाय—शाक-सब्जी एवं फल-फूलों के आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहता है। इस तरह प्रमाद एवं मोह के वश में हुआ प्राणी वनस्पतिकाय की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करता है और फलस्वरूप दुःख एवं जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है।

वनस्पतिकाय का आरम्भ दुःख की परम्परा में अभिवृद्धि करने वाला है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो बुद्धिमान पुरुष वनस्पतिकाय के आरंभ-समारंभ को तथा जीवाजीव आदि तत्त्वों का परिज्ञान कर के, संयम-मार्ग पर गति करता है, वही वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होता है और वही व्यक्ति दुःख-परम्परा का या यों कहिए कर्म-बीज का सर्वथा उन्मूलन कर देता है।

प्रस्तुत सूत्र ज्ञान और चारित्राचार के समन्वय का आदर्श लिए हुए है। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि चारित्र का मूल्य ज्ञान के साथ है। सम्यग् ज्ञान के अभाव में की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप का आध्यात्मिक विकास या मोक्ष मार्ग की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है और यही कारण है कि प्रशंसा एवं भौतिक सुख पाने की इच्छा-आकांक्षा से अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप बिना आकांक्षा के सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचरित त्याग-तप के सोलहवें अंश के बराबर भी

नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'तं णे करिस्सामि' के साथ 'मत्ता' पद का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार में ज्ञान के साथ ही तेजस्विता आती है, चमक बढ़ती है। अस्तु, ज्ञान और क्रिया या आचार और विचार का समन्वय ही मोक्ष-मार्ग है, अपवर्ग की राह है¹।

ज्ञानपूर्वक किए जाने वाले त्याग को ही त्याग कहने के पीछे एक मात्र यही उद्देश्य रहा हुआ है कि जब तक व्यक्ति वस्तु के हेय-उपादेय स्वरूप को भली-भाँति नहीं जान लेता है, तब तक वह उसका परित्याग या स्वीकार नहीं कर पाता और कभी भावावेश या किसी प्रलोभन में आकर त्याग कर भी देता है, तो उसका सम्यक्तया परिपालन नहीं कर पाता, क्योंकि उसके गुण-दोष एवं स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, भटक जाता है²। अस्तु त्याग के पूर्व जीवाजीव का ज्ञान होना जरूरी है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वनस्पति जीवों के आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त एवं पूर्ण त्यागी मुनि जिन मार्ग में ही उपलब्ध होते हैं, यह बात "तत्थोवरए-एतस्मिन्नुपरतः" पद से अभिव्यक्त की है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—“एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र” इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनेतर संप्रदाय के साधु-मुनि त्यागी होते ही नहीं। हम इस बात को मानते हैं कि धन-वैभव एवं गृहस्थ के त्यागी सन्त जैनेतर संप्रदायों में भी मिलते हैं और प्रायः सभी संप्रदायों के धर्म-ग्रन्थों में त्याग-प्रधान मुनि जीवन का विधान भी मिलता है। परन्तु आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से जितनी निवृत्ति एवं त्याग जिन मार्ग पर गतिशील मुनियों में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। यह हम पहले भी बता चुके हैं कि पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा में सावधानी एवं विवेक जैनेतर संप्रदाय के साधुओं में नहीं पाया जाता। अतः उत्कट त्यागवृत्ति को जीवन में साकार रूप देने वाले तथा सावध कार्यों से सर्वथा निवृत्त साधुओं को

1. नाणं किरियारहिंयं किरिया मेत्तं च दोऽवि एगतो ।

न समत्था दाउं जे जम्मभरण-दुक्ख-दाहाइ॥

2. इस बात को हम अग्निकाय के प्रकरण में भगवती सूत्र का उदाहरण देकर स्पष्ट कर चुके हैं।

विशिष्ट त्यागी एवं वास्तविक अनगार कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है और न किसी सम्प्रदाय के साधु की अवहेलना करने का ही भाव है।

“एस अणगारो ति पवुच्चई” का अर्थ है—जो साधक वनस्पतिकाय की हिंसा से निवृत्त है, किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है, वही अनगार कहा गया है।

अनगार के स्वरूप का वर्णन करके अब सूत्रकार संसार एवं संसार-परिभ्रमण के कारण के सम्बन्ध में कहते हैं—

मूलम्—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे॥४१॥

छाया—यो गुणः स आवर्तः, य आवर्तः स गुणः।

पदार्थ—जे—जो। गुणे—शब्दादि गुण हैं। से—वही। आवट्टे—आवर्त—संसार है। जे—जो। आवट्टे—संसार है। से—वही। गुणे—गुण है।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण है, वास्तव में वही संसार है और जो संसार है, वास्तव में वही गुण है।

हिन्दी-विवेचन

यह संसार क्या है? इसके संबन्ध में दार्शनिकों एवं विचारकों के मन में प्रश्न उठता रहा, तर्क-वितर्क होता रहा है। परन्तु संसार के वास्तविक स्वरूप को जानने में सफलता नहीं मिली। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने इसका वास्तविक समाधान किया है। सूत्रकार के शब्दों में हम देख चुके हैं कि शब्दादि गुण ही संसार है और संसार ही गुण हैं। इस तरह संसार और गुण का पारस्परिक कार्यकारण भाव है।

जो श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श ये पांच विषय हैं, उन्हें गुण कहते हैं और आवर्त संसार का परिबोधक है—आवर्तन्ते—परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्तः—संसारः’ अर्थात् जिसमें प्राणियों का आवर्त—परिभ्रमण होता रहे उसे आवर्त—संसार कहते हैं।

शब्दादि विषय संसार-परिभ्रमण के कारण है, क्योंकि इनसे कर्म का बन्ध होता है और कर्म-बन्ध के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। इस तरह ये विषय या गुण संसार का कारण हैं और शब्दादि गुणों से कर्म बंधते हैं, कर्म से आत्मा में

गुणों की परिणति होती है। इस दृष्टि से गुणों को संसार कहा गया है और दोनों जगह कारण में कार्य का आरोप होने से गुणों को संसार एवं संसार को गुण कहा गया है।

वस्तुतः देखा जाए तो राग-द्वेष युक्त भावों से गुणों में या विषयों में प्रवृत्ति करने का नाम ही संसार है। क्योंकि संसार में परिलक्षित होने वाली विभिन्न गतियां एवं योनियां राग-द्वेष एवं गुणों—विषयों की आसक्ति पर ही आधारित हैं। राग-द्वेष से कर्म बंधते हैं, कर्म-बन्ध से जन्म-मरण का प्रवाह चालू रहता है और जन्म-मरण ही वास्तविक दुःख है। इससे स्पष्ट हो गया कि संसार का मूल राग-द्वेष हैं, गुण हैं, विषय-विकार हैं।

‘गुण’ शब्द में एक वचन का प्रयोग किया है। इससे गुण शब्द व्यक्ति से भी संबन्धित है। जब इसका संबन्ध व्यक्ति के साथ जोड़ते हैं, तो प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा—जो व्यक्ति शब्दादि गुणों में प्रवृत्त है, वह संसार में परिभ्रमणशील है और जो व्यक्ति संसार में गतिमान है, वह गुणों में प्रवृत्तमान है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जो व्यक्ति गुणों में प्रवृत्त है, वह संसार में वर्तता है, यह कथन तो ठीक है; परन्तु जो संसार में वर्तता है, वह गुणों में वर्तता है, यह कथन युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि संयमशील साधु संसार में रहते हैं परन्तु गुणों में प्रवृत्ति नहीं करते। अतः संसारवर्ती को नियम से गुणों में प्रवृत्तमान मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

यह ठीक है कि यहां गुणों का अर्थ राग-द्वेष युक्त गुणों में प्रवृत्ति करने से लिया गया है, क्योंकि गुणों में प्रवृत्ति होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता, कर्म का बन्ध राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से होता है। यह सत्य है कि संयम से बन्ध नहीं, कर्मों की निर्जरा होती है। परन्तु छठे गुणस्थान संयम के साथ जो सरागता है, उससे भी में कर्म का बन्ध होता है। यह नितांत सत्य है कि सावध कार्य में प्रवृत्ति न होने के कारण पापकर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु धर्म, गुरु एवं सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त पर सराग भाव होने से पुण्य का बन्ध होता है और इसी कारण छठे गुणस्थान में देवलोक का आयु कर्म बंधता है। देव-आयुष्य के बन्ध के चार कारणों में सराग संयम को भी एक कारण बताया गया है और देवलोक भी संसार ही है। यह ठीक है कि छठे

गुणस्थान में प्रवृत्तमान साधु संसार को अधिक लम्बा नहीं बढ़ाता, परन्तु जब तक सरागता है, तब तक शुभ कर्म का अनुबन्ध तो करता ही है। इस अपेक्षा से वह संसार में भी वर्तता हुआ गुणों में भी प्रवृत्ति करता है।

यह सत्य है कि वीतराग, संयम में प्रवृत्तमान साधु या सर्वज्ञ संसार में प्रवर्तते हुए भी कर्म को नहीं बांधते और न स्वर्ग का द्वार ही खटखटाते हैं, क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष का समूलतः उन्मूलन कर दिया है। राग-द्वेष कर्म-वृक्ष का बीज है, मूल है और जब बीज एवं मूल ही नष्ट हो गया तब फिर कर्म की शाखा-प्रशाखा का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होना तो असंभव ही है। इस दृष्टि से उनके कर्मों का बन्ध नहीं होता। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने के कारण उस रूप में गुणों में प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु जब तक योग का व्यापार चालू है, तब तक सामान्य रूप से तो गुणों में प्रवृत्ति होती है। बस, अन्तर इतना ही है कि राग-द्वेष युक्त जीवों के कर्म का बन्ध होता है और वीतराग पुरुषों के कर्म का बन्ध नहीं होता। या यों कहिए, उनकी प्रवृत्ति ऐसे गुणों में नहीं होती जो कर्म-बन्ध के कारण हैं। अतः इस अपेक्षा से जो संसार में प्रवर्तते हैं, वे गुणों में प्रवृत्तमान हैं, ऐसा कहना अनुचित एवं आपत्ति-जनक प्रतीत नहीं होता।

प्रस्तुत उद्देशक वनस्पतिकाय से सम्बन्धित है। अतः इसमें वनस्पतिकायिक जीवों सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए। फिर इसमें शब्दादि विषयों का अप्रासंगिक वर्णन क्यों किया गया?

प्रस्तुत उद्देशक में शब्दादि गुणों का वर्णन ऊपर से अप्रासंगिक प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक में अप्रासंगिक है नहीं। क्योंकि शब्दादि गुणों की उत्पत्ति का मूल स्थान प्रायः वनस्पतिकाय है, अर्थात् समस्त विषयों की पूर्ति वनस्पति से ही होती है। व्यवहार इस सत्य को स्पष्टतया प्रमाणित कर रहा है। जैसे अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्र इन्द्रिय को तृप्त करने वाली वीणा आदि विभिन्न वाद्यों का निर्माण वनस्पति से होता है। भव्य भवनों के निर्माण में वनस्पतिकाय का प्रयोग होता ही है और उसके आधार स्तंभों पर चित्रित मनोहर चित्र एवं फर्नीचर से सुसज्जित कमरों को देखते हुए आंखें थकती नहीं। घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करने वाले केसर, चन्दन तथा विभिन्न रंग-बिरंगे सुवासित फूल वनस्पति के ही अनेक रूप हैं। जिह्वा के स्वाद की तृप्ति

करने वाले विविध व्यंजन एवं पक्वान वनस्पति से ही बनते हैं। और स्पर्श इन्द्रिय को सुख पहुंचाने वाले तथा शीत-ताप से बचाने एवं सुशोभित करने वाले विभिन्न रंग एवं आकार के सूत के बने वस्त्र वनस्पति की ही देन हैं। इस प्रकार जब हम गहराई से सोचते-विचारते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दादि विषयों का वनस्पति के साथ सीधा संबन्ध है। अतः वनस्पति के प्रकरण में उसका वर्णन उचित एवं प्रासंगिक ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि संसार-परिश्रमण के कारणभूत ये शब्दादि विषय किसी एक नियत दिशा में उत्पन्न होते हैं या सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उड्ढं, अहं¹ तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि॥42॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वमधः प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि।

पदार्थ—उड्ढं—ऊंची दिशा। अहं—नीची दिशा। तिरियं—तिर्यक् दिशा चारों दिशा-विदिशाएं इनमें तथा। पाईणं—पूर्वादि दिशाओं में। पासमाणे—देखता हुआ। रूवाइं—रूपों को। पासति—देखता है, और। सुणमाणे—सुनता हुआ। सद्दाइं—शब्दों को। सुणेति—सुनता है, तथा। उड्ढं—ऊंची दिशा। अहं—नीची दिशा में। पाईणं—पूर्वादि दिशाओं में। मुच्छमाणे—मूर्छित होता हुआ। रूवेसु—रूपों में। मुच्छति—मूर्छित होता है। च—और। सद्देसु—शब्दों में मूर्छित होता है। आवि—संभावना या समुच्चयार्थ में है, इससे गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण किया जाता है।

मूलार्थ—ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् एवं पूर्वादि दिशाओं में रूप को देखता हुआ देखता है तथा शब्दों को सुनता हुआ श्रवण करता है, तथा इन ऊर्ध्व आदि दिशाओं में मूर्छित होकर रूप एवं शब्दों में आसक्त एवं मूर्छित होता है और इसी तरह गन्ध, रस एवं स्पर्श में भी मूर्छित होता है।

1. 'अव' इति पाठान्तरम्।

हिन्दी-विवेचन

शब्द आदि विषय किसी एक दिशा में उत्पन्न नहीं होते; ऊर्ध्व-अधो और पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशा-विदिशा में उत्पन्न होते हैं और जीव ऊपर-नीचे, दाएं, बाएं चारों ओर रूप-सौन्दर्य का अवलोकन करता है, शब्दों को सुनता है, गन्ध को सूंघता है, रसों का आस्वादन करता है तथा विभिन्न पदार्थों का स्पर्श करता है और इन्हें देख-सुन कर या सूंघ-चख कर या स्पर्श कर अनेक जीव उन विषयों में आसक्त हो जाते हैं, मूर्च्छित होने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में दो बातें बताई गई हैं। एक तो विषयों का अवलोकन करना उन्हें ग्रहण करना और दूसरे में उन अवलोकित विषयों में आसक्त होना, राग-द्वेष करना। इन दोनों क्रियाओं में बड़ा अंतर है। जहां तक अवलोकन का या ग्रहण करने का प्रश्न है, वहां तक ये विषय आत्मा के लिए दुःख रूप नहीं बनते, कर्म-बन्ध का कारण नहीं बनते। यदि मात्र देखने एवं ग्रहण करने से ही कर्म-बन्ध माना जाएगा तब तो फिर कोई भी जीव कर्म-बन्ध से अछूता नहीं रह सकता। संसार में स्थित सर्वज्ञों की बात छोड़िए, सिद्ध भगवान भी विषयों का अवलोकन करते हैं, क्योंकि उनका निरावरण ज्ञान लोकालोक के सभी पदार्थों को देखता-जानता है और सिद्ध भी विषयों को ग्रहण करते (जानते) हैं। अतः यदि विषयों को ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध होता हो, तो फिर वहां भी कर्म-बन्ध मानना पड़ेगा और वहां कर्म का बन्ध होता नहीं। सिद्ध अवस्था में तो क्या तेरहवें गुणास्थान में भी कर्म-बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि विषयों को देखने एवं ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता और न देखने मात्र से संसार-परिभ्रमण का प्रवाह ही बढ़ता है।

कर्म-बन्ध का कारण उन विषयों को ग्रहण करना मात्र नहीं, अपितु उनमें आसक्त होना है, अर्थात् उनमें राग-द्वेष करना है। हम पहले देख चुके हैं कि कर्म-बन्ध का मूल राग-द्वेष एवं आसक्ति है। इसी वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्मों के साथ आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करती है और विभिन्न विषयों में आसक्त होकर शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करके स्वर्ग-नरक आदि गतियों का चक्कर काटती है। इसी बात को सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में “मुच्छमाणे रुवेसु मुच्छति” वाक्य के द्वारा

अभिव्यक्त किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म-बन्ध का कारण विषयों का अवलम्बन एवं ग्रहण मात्र नहीं, प्रत्युत उसमें रही हुई आसक्ति है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए॥43॥

छाया—एष लोकः व्याख्यातः अत्र अगुप्तः अनाज्ञायाम्।

पदार्थ—एस—यह पांच विषय रूप। लोए—लोक। वियाहिए—कहा गया है। एत्थ—इसमें जो। अगुत्ते—अगुप्त है अथवा शब्दादि विषयों में आसक्त हो रहा है, वह। अणाणाए—आज्ञा में नहीं है।

मूलार्थ—शब्दादि पांच विषयरूप लोक कहा गया है। जो जीव मन-वचन और काय को विषयों से गोप कर नहीं रखता है, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयों में अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नहीं है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में शब्दादि पांच विषयों को लोक कहा है। जो व्यक्ति मन-वचन और शरीर से विषयों में आसक्त है, उसे अगुप्त कहा है। मन से विषयों का चिन्तन करना, वाणी से उन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करना और शरीर से उन्हें पाने का प्रयत्न करना, यह त्रियोग की अगुप्तता है। जिस व्यक्ति के तीनों योग विषयों में ही लगे रहते हैं, उसे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नहीं कहा है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीतराग भगवान की आज्ञा विषयों में आसक्त होने की नहीं है, अथवा त्रियोग को विषयों से गुप्त—गोपन करके रखने की है। कारण यह है कि विषयों में आसक्त व्यक्ति रात-दिन संसार में ही उलझा रहता है और इस कारण वह संयम की सम्यक् साधना-आराधना नहीं कर सकता। जिनेश्वर भगवान की आज्ञा संयम—साधना की है, न कि संसार बढ़ाने की। इस अपेक्षा से शब्दों में आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा में नहीं है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे॥44॥

छाया—पुनः पुनः गुणास्वादः वक्रसमाचारः ।

पदार्थ—पुणो-पुणो—बार-बार । गुणासाए—शब्दादि गुणों का आस्वादन करने से वह । वंक समायारे—असंयम का सेवन करने वाला हो जाता है ।

मूलार्थ—बार-बार शब्दादि गुणों का आस्वादन करने से व्यक्ति असंयम में प्रवृत्त हो जाता है ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि जो शब्दादि विषयों में आसक्त रहता है, वह संयम से दूर ही रहता है, क्योंकि उसके त्रियोग की प्रवृत्ति विषयों में होने से वह रात-दिन रूप-रस का आस्वादन करने में ही संलग्न रहता है । उसका मन सदा विषयों के चिन्तन-मनन में लगा रहता है और वचन की प्रवृत्ति भी विषय-सुख की ओर लगी रहती है और शरीर से भी विषयों का आनन्द लेने में अनुरक्त होने के कारण उसका आचार सम्यक् नहीं रहता । इसी कारण सूत्रकार ने विषयों में आसक्त व्यक्ति को “वंक समायारे” वक्र अर्थात् कुटिल आचारयुक्त कहा है । ‘वंक समायारे’ शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है—

“वक्र—असंयमः कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरणं समाचारः-अनुष्ठानं, वक्रः समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचारः असंयमानुष्ठायीत्यर्थः”

अर्थात्—नरकादि गति के हेतुभूत असंयम का ही दूसरा नाम वक्रसमाचार है ।

इससे स्पष्ट हुआ कि शब्दादि विषयों में आसक्त व्यक्ति असंयम में प्रवृत्त होता है । असंयम में प्रवृत्त होने से उसका परिणाम क्या होता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पमत्तेऽगारमावसे॥45॥

छाया—प्रमत्तोऽगारमावसति ।

पदार्थ—पमत्ते—प्रमादी—विषयों में आसक्त व्यक्ति । आगारमावसे—घर में जा बसता है ।

मूलार्थ—विषयों में आसक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर में निवास करने लगता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषयों में आसक्त रहने वाले साधु की क्या स्थिति होती है, इस बात का स्पष्ट निरूपण किया गया है। जो साधक त्रियोग का गोपन नहीं करके, विषयों में प्रवृत्त रहता है, वह संयम से पराङ्मुख होकर घर-गृहस्थ में फिर से जा फंस्ता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य वेश का परित्याग न करने पर भी उसे भाव साधुत्व के अभाव में गृहस्थ कहा है। क्योंकि उसकी भावना संयम से, साधुता से विमुख हो चुकी है, इसलिए सूत्रकार ने उसके लिए 'आगारमावसे, शब्द का प्रयोग किया है।

जब हम आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र पर विचार करते हैं, तो गृहवास का अर्थ होता है—क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेष रूप अध्यात्म दोषों में निवास करना और प्रमत्त व्यक्ति या शब्दादि विषयों में आसक्त व्यक्ति की प्रवृत्ति सदा राग-द्वेष एवं कषायों में होती है। अतः वह द्रव्य से घर नहीं रखते हुए भी सदा घर में ही निवास करता है। उसका कषाय-युक्त घर सदा उसके साथ रहता है।

इसलिए साधक को विषयों में आसक्त नहीं रहना चाहिए। विषयों में आसक्त नहीं रहने का स्पष्ट अर्थ है कि वनस्पतिकायिक जीवों के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। जो विषयों में आसक्त रहता है, वह वनस्पति के आरंभ में भी संलग्न रहता है और इस कारण उसे साधु न कहकर गृहस्थ कहा है। परन्तु जैनेतर संप्रदायों में इसके विपरीत कहा गया है, उनकी मान्यता क्या है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणण पूयणाए जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं

समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं व अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गट्ठिए लोए, जमिणं, विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ कम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥46॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारंभेण वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनार्थं, जाति-मरण-मोचनार्थं, दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारंभते, अन्यैर्वा वनस्पति-शस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये । स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति, एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः । इत्येवार्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारंभेण, वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणाः अन्याननेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा करते हुए । पुढो—विभिन्न वादियों को । पास—तू देख ! एगे—कुछ एक व्यक्ति । अणगारामोत्ति—हम अनगार हैं, इस प्रकार । पवदमाणा—बोलते हुए । जमिणं—जो ये । विरूवरूवेहिं—अनेक तरह के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । वणस्सइ-कम्मसमारंभेण—वनस्पति-कर्म-समारंभ से । वणस्सइ-सत्थं—वनस्पति-शस्त्र का । समारंभमाणा—समारंभ करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक प्रकार के । पाणे—प्राणियों की । विहिंसन्ति—हिंसा करते हैं । तत्थ—वहां वनस्पति के विषय में । भगवया—भगवान ने । परिण्णा पवेदिता—परिज्ञा विशिष्ट ज्ञान प्रतिपादन किया है । चैव—समुच्चय और अवधारण अर्थ में है । इमस्स—इस । जीवियस्स—जीवन के लिए । परिवंदण-माणण- पूयणाए—प्रशंसा, मान एवं पूजा

की अभिलाषा से। जाई-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से मुक्त होने की आकांक्षा से। दुखपडिघायहेउं—दुःख से छुटकारा पाने हेतु। से—वह। सयमेव—स्वयमेव। वणस्सइसत्थं—वनस्पति के शस्त्र से। समारंभइ—वनस्पतिकाय का समारंभ करता है। वा—अथवा। अण्णेहिं—अन्य से। वणस्सइ-सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारम्भावेइ—समारंभ करता है। वा—अथवा। वणस्सइ सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारंभमाणे—आरम्भ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति को। समणुजाणइ—अच्छा जानता है। तं—यह वनस्पतिकाय का आरंभ। से—उसको। अहियाए—अहितकर है। तं—यह। से—उसको। अबोहीए—अबोध का कारण है। से—वह। तं—उस आरम्भ के स्वरूप को। संबुज्झमाणे—भली-भांति समझकर। आयाणीयं—सम्यग् दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य को। समुद्घाय—स्वीकार करके। भगवओ—भगवान। वा—अथवा। अणगाराणं—अनगारों के। अन्तिए—समीप में। सोच्चा—सुनकर। इहं—इस लोक में। एगेसिं—किसी-किसी व्यक्ति को। णायं भवति—ज्ञात हो जाता है कि। एस—यह आरंभ। खलु—निश्चय रूप से। गंथे—अष्ट कर्मों की गांठ है। एस खलु—यह निश्चय ही। मोहे—मोहे रूप है। एस खलु—यह निश्चय ही। मारे—मृत्यु का कारण है। एस खलु—यह निश्चय ही। णरए—नरक का कारण है। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थ-विषय-वासना में। गड्ढिणए—आसक्त बना हुआ। लोए—लोक-प्राणी समूह। जमिणं—जिससे कि यह। विरुवरूवेहिं—विभिन्न प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से वणस्सइ-कम्मसमारंभेणं—वनस्पति-कर्म समारंभ से। वणस्सइ-सत्थं—वनस्पति शस्त्र से। समारंभमाणे—आरम्भ करता हुआ। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—हिंसा करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू सावध-अनुष्ठान से लज्जावान विभिन्न मत वाले व्यक्तियों को देख। जो अपने आपको अनगार कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों से तथा वनस्पति-कर्म-समारंभ से वनस्पतिकायिक जीवों की तथा वनस्पति के आश्रय में रहे हुए अन्य द्वीन्द्रियादि प्राणियों की हिंसा करते हैं। भगवान ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि वे नाशवान जीवन के लिए, प्रशंसा-मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण से मुक्त होने की आकांक्षा से तथा मानसिक एवं शारीरिक दुःखों से छुटकारा पाने हेतु स्वयं वनस्पतिकाय का आरंभ

करते हैं, दूसरों से कराते हैं तथा आरंभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन करते हैं। उनके लिए यह आरंभ अहित और अबोध का कारण होता है, इस प्रकार स्वयं भगवान या अनगारों के पास से वनस्पतिकायिक आरंभ के अनिष्ट फल को सुनकर सम्यक् श्रद्धा के बोध को प्राप्त हुआ व्यक्ति यह जान लेता है कि यह वनस्पतिकाय का आरंभ अष्ट कर्मों की गांठ रूप है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है।

फिर भी विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति विभिन्न शस्त्रों के द्वारा और वनस्पति कर्म से वनस्पतिकायिक जीवों का तथा उसके आश्रय में स्थित अन्य त्रस एवं स्थावर अनेक जीवों की हिंसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

इस विषय का वर्णन पृथ्वीकाय एवं अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं, उसीके अनुसार यहां भी समझना चाहिए, अन्तर इतना है कि पृथ्वी एवं अप् की जगह वनस्पति समझना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वनस्पति सजीव है। फिर भी कुछ लोगों की समझ में नहीं आता। इसलिए सूत्रकार कुछ हेतु देकर वनस्पति की सजीवता प्रमाणित करते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि इमं पि जाइधम्मयं, एयं पि जाइधम्मयं, इमं पि वुद्धिधम्मयं, एयं पि वुद्धिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं इमं पि छिण्णं मिलाइ, एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं, इमं पि विपरिणामधम्मयं, एयं पि विपरिणामधम्मयं॥४७॥

छाया—सः [अहं] ब्रवीमि इदमपि जातिधर्मकम्, एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम्, एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चितवत्, एतदपि चितवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति, इदमप्याहारकम्, एतदप्याहारकम्, इदमप्यनिचयम्, एतदप्यनिचयम्, इदमप्याशाश्वतम्, एतदप्याशाश्वतम्, इदम-

पिचयापचयिकम्, एतदपिचयापचयिकम्, इदमपि विपरिणामधर्मकम्, एतदपि विपरिणामधर्मकम् ।

पदार्थ—से—तत्त्व का परिज्ञाता । बेमि—मैं कहता हूँ । इमंपि जाइधम्मयं—यह मनुष्य शरीर जैसे जाति-जन्म धर्म वाला है, ठीक उसी तरह । एयंपि जाइधम्मयं—यह वनस्पतिकायिक शरीर भी जन्म धर्म वाला¹ । इमंपि बुद्धिधम्मयं—जैसे मनुष्य शरीर वृद्धि धर्म वाला है, वैसे ही । एयंपि बुद्धिधम्मयं—वनस्पति का शरीर भी वृद्धि धर्म वाला है । इमंपि चित्तमंतयं—जैसे मनुष्य शरीर चेतना युक्त है, वैसे ही । एयंपि चित्तमंतयं—वनस्पति का शरीर भी चेतना संयुक्त है । इमंपि छिण्णं मिलाइ—जैसे मनुष्य का छेदन किया हुआ—काटा हुआ शरीर मुर्झा जाता है, वैसे ही । एयंपि छिण्णं मिलाइ—वनस्पति का छेदन किया हुआ शरीर मुर्झा जाता है । इमंपि आहारगं—जैसे मनुष्य आहार करता है, वैसे ही । एयंपि आहारगं—वनस्पतियां भी आहार करती हैं । इमंपि अणिच्चयं—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अनित्य है, उसी तरह । एयंपि अणिच्चयं—वनस्पति का शरीर भी अनित्य है । इमंपि असासयं—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अशाश्वत है; उसी तरह । एयंपि असासयं—वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है । इमंपि चओवचइयं—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर चय और उपचय वाला है, उसी तरह । एयंपि चओवचइयं—वनस्पति का शरीर भी चय-उपचय युक्त है । इमंपि विपरिणाम धम्मयं—जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्म वाला—अनेक तरह के परिवर्तनों से युक्त है, वैसे ही । एयंपि विपरिणामधम्मयं—वनस्पति का शरीर भी परिणामनशील है, अर्थात् विभिन्न प्रकार से बदलने वाला है ।

मूलार्थ—हे जम्बू! वनस्पतिकाय में प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाली चेतना के विषय में अब मैं तुम से कहता हूँ—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर जन्म धारण करने वाला है, बढ़ता है, चेतना युक्त है, छेदने या काटने पर मुर्झा जाता है, आहार करता है, अनित्य और अशाश्वत है, चय-उपचय वाला है, परिवर्तनशील है; ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी उक्त सभी धर्मों से युक्त है ।

1. प्रस्तुत प्रकरण में प्रथम 'अपि' शब्द यथा के अर्थ में और दूसरा 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिए उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट कर दिया है कि जो धर्म या गुण मनुष्य के शरीर में पाए जाते हैं, वे ही धर्म वनस्पति के शरीर में भी परिलक्षित होते हैं।

मनुष्य शरीर की चेतना प्रायः सभी विचारकों को मान्य है। अतः उसमें उपलब्ध समस्त लक्षण वनस्पति में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं और ये लक्षण उन्हीं में पाए जाते हैं, जो सजीव हैं। निर्जीव पदार्थों में ये गुण नहीं पाए जाते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणों का चेतना के साथ अविनाभाव संबन्ध है। क्योंकि जिस शरीर में चेतना होती है, वहां उक्त लक्षणों का सद्भाव होता है और जहां चेतना नहीं होती है, वहां उनका भी अभाव होता है। यथा—जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य होती है। इसी न्याय से पर्वत या दूरस्थ स्थान पर स्थित अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम को देख कर अनुमान-प्रमाण से यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थान पर अग्नि है। क्योंकि धूम और अग्नि का साहचर्य है, अविनाभाव संबन्ध है, अर्थात् यों कहिए कि धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना नहीं होता। इसी तरह उक्त लक्षणों एवं सजीवता का अविभाज्य सम्बन्ध है। जहाँ उक्त लक्षण होंगे, वहाँ सजीवता अवश्य होगी। इसी न्याय से वनस्पति की सजीवता को हम भली-भाँति जान एवं समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि मनुष्य माता के गर्भ से जन्म धारण करता है और जन्म के पश्चात् प्रतिक्षण अभिवृद्धि करता हुआ बाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। उसी तरह वनस्पति भी योग्य मिट्टी, पानी वायु एवं आतप का संयोग मिलने पर बीज में से अंकुरित होती है और क्रमशः बढ़ती हुई बाल्य, यौवन एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। पेड़-पौधों एवं लताओं में यह क्रम स्पष्ट दिखाई देता है।

मनुष्य और वनस्पति दोनों के शरीर में चेतना भी समान रूप से है। चेतना का लक्षण या गुण ज्ञान है और ज्ञान का अस्तित्व दोनों में पाया जाता है। कुछ पौधों की क्रियाओं के सम्बन्ध में देखते-पढ़ते हैं, तो उससे उनमें भी ज्ञान के अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। जैसे धात्री और प्रपुन्नाट आदि वृक्ष सोते भी हैं और जागृत भी

होते हैं। वे अपनी जड़ों में गाड़े हुए धन को सुरक्षित रखने के लिए अपनी शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर उस स्थान को आवृत्त कर देते हैं। और वर्षा-काल में मेघ की गर्जना सुनकर तथा शिशिर ऋतु में शीतल वायु का संस्पर्श पाकर अंकुरित हो उठते हैं। बांस का पौधा भी मेघ की गर्जना सुनकर अंकुरित होता है। और मद-विकृत कामिनी के पैर का संस्पर्श पाकर अशोक वृक्ष हर्षातिरेक से पल्लवित एवं पुष्पित होता है, पुरुष के हाथ का संस्पर्श पाते ही लाजवन्ती का सुकोमल पौधा अपने आप को संकोच लेता है, उसके पत्ते सिकुड़ जाते हैं। इस बात को भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस ने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष में दिखा दिया था कि कुछ पौधे अपनी प्रशंसा से आकर्षित होकर प्रफुल्लित हो उठते हैं और निन्दा-तिरस्कार के शब्दों से प्रभावित होकर मुड़ा जाते हैं। ये सब क्रियाएं वनस्पति में भी ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं, क्योंकि ज्ञान के अभाव में ऐसा हो नहीं सकता। इससे वनस्पति में भी ज्ञान है, ऐसा मानना चाहिए।

मनुष्य के हाथ-पैर आदि किसी भी अंग-उपांग को काट देते हैं, तो वह अंग मुड़ा जाता है। उसी तरह वनस्पति का काटा हुआ हिस्सा भी कुम्हला जाता है, म्लान हो जाता है। इस तरह छेदन क्रिया से भी दोनों के अंगों की समान स्थिति होती है।

आहार की अपेक्षा से भी दोनों में समानता है। जैसे मनुष्य को समय पर पौष्टिक एवं अच्छा आहार मिलता रहे तो स्वस्थ एवं बलवान रहता है, उसी प्रकार वनस्पति को भी अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी एवं खाद मिलती रहे तो वह भी पल्लवित-पुष्पित एवं विकसित होती रहती है। प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे भी रोग हो जाता है और उस रोग को औषध के द्वारा मिटाया भी जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य तो आहार करता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु वनस्पति स्पष्ट रूप से आहार करती हुई नहीं दीखती। फिर वह आहार कैसे करती है?

इसका समाधान करते हुए आगम में बताया गया है कि वनस्पति का मूल पृथ्वी से संबद्ध है, अतः वह पृथ्वी से आहार लेकर उसे अपने शरीर के रूप में परिणमन करती है। मूल से स्कन्ध संबद्ध है, इसलिए वह मूल से आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर के रूप में परिणत करती है। इसी तरह शाखा, प्रशाखा, पत्ते, फूल, फल एवं

बीज अपने अपने पूर्व से संबद्ध हैं, और वे उनसे आहार लेकर अपने शरीर रूप में परिणत करते हैं। इस तरह वनस्पतिकाय क्रम-पूर्वक आहार करती है। जैसे मनुष्य थाली में से भोजन का एक ग्रास हाथ में उठाकर मुंह में रखता है, फिर दांत चर्वण करते हैं, जिह्वा आदि अवयव उसे गले में पहुंचाते हैं, वहां से नीचे उतर कर पेट में पहुंचता है और वहां उसका रस, खून, वीर्य आदि पदार्थ बनकर शरीर में यथास्थान पर पहुंच जाते हैं, उसी तरह वनस्पतिकाय के जीव भी मूल के द्वारा पृथ्वी से आहार ग्रहण करते हैं, फिर मूल से स्कंध और स्कंध से शाखा-प्रशाखा, पत्र पुष्प, फल और अपने-अपने पूर्व से ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह वनस्पतिकृत्यिक जीव भी आहार करते हैं और उसी के आधार पर अपने शरीर का निर्माण करते हैं¹।

मनुष्य और वनस्पतिकाय दोनों का शरीर अनित्य एवं अशाश्वत—अस्थिर है। दोनों के शरीर में चय-उपचय होता रहता है। प्रतिकूल एवं अनुकूल आहार एवं वातावरण से दोनों के शरीर में हास एवं परिपुष्टता देखी जाती है। दोनों के शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति में भी चेतना है। आज के वैज्ञानिक युग में तो किसी प्रकार के संदेह को अवकाश ही नहीं रहा। भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक साधनों से जनता एवं वैज्ञानिकों को वनस्पति की सजीवता को प्रत्यक्ष दिखा दिया था। इससे जैनागम की मान्यता परिपुष्ट होती है और साथ में यह भी प्रमाणित होता है कि जैनागम सर्वज्ञ के उपदिष्ट हैं। डॉ. बोस ने भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट बात को वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष दिखाकर विश्व के वैज्ञानिकों को वनस्पति में चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

1. से नूणं भन्ते! मूला मूल जीव फुडा, कंदा कंद जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा? हंता गोयमा! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा। जइणं भंते! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा कम्हा णं भंते! वणस्सइ काइया आहारेंति कम्हा परिणामेति? गोयमा मूला मूल जीव फुडा पुदवि जीव पडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेति। एवं जाव बीया बीय जीव फुडा फल जीव पडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेति।

इस तरह ग्रह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति सजीव है। अतः उसका आरम्भ करने से पाप-कर्म का बन्ध होगा और संसार-परिभ्रमण बढ़ेगा, इसलिए साधु को उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवन्ति, एत्थं सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सतिसत्थं-समारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे, त्ति बेमि॥48॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति। अत्र शस्त्रमसमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पति शस्त्रं समारंभेत्, नैवान्यैर्वनस्पति शस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वनस्पतिशस्त्र-समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थं—इस वनस्पतिकाय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। समारंभ-माणस्स—समारंभ करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरंभ-समारंभ। अपरिण्णाया—अपरिज्ञात। भवन्ति—होते हैं। एत्थं—इन वनस्पतिकाय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। असमारंभमाणस्स—समारंभ नहीं करने वाले को। इच्चेते आरम्भा—ये सब आरम्भ। परिण्णाया-भवन्ति—परिज्ञात होते हैं। तं परिण्णाय—उस आरंभ का परिज्ञान करके। मेहावी—यह बुद्धिमान पुरुष। णेव सयं—न तो स्वयं। वणस्सइसत्थं—वनस्पति शस्त्र का। समारंभेज्जा—आरंभ करे। णेवण्णेहिं—न अन्य से। वणस्सइसत्थं—वनस्पति शस्त्र का। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे। णेवण्णे—और न अन्य व्यक्ति का, जो। वणस्सइ सत्थं समारंभंते—वनस्पति शस्त्र का आरंभ कर रहा है। समणुजाणेज्जा—समर्थन ही करे। जस्सेते—जिसको ये। वणस्सइसत्थंसमारंभा—वनस्पति शस्त्र समारंभ। परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात

होते हैं। से हु मुणी—वही मुनि। परिण्णायकम्मे—परिज्ञाताकर्मा है। तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति द्रव्य और भाव शस्त्र से वनस्पतिकाय का आरंभ करते हैं, वे इन आरंभों से अपरिज्ञात होते हैं और जो वनस्पति का आरम्भ नहीं करते, वे इन आरंभों से परिज्ञात होते हैं। अतः वे बुद्धिमान पुरुष न तो स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों का आरम्भ करते हैं, न अन्य व्यक्ति से आरम्भ कराते हैं और न आरंभ करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन ही करते हैं। जिस मुमुक्षु ने इन आरम्भ-समारम्भ के कार्यों को भली-भाँति जान कर त्याग दिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वीकाय, अप्काय के अध्ययन के अंतिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से कर चुके हैं। अतः यहां चर्वित-चर्वण करना उपयुक्त न समझ कर विशेष विवेचन नहीं कर रहे हैं। पाठक यथास्थान देख लें।

ति बेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥शस्त्रपरिज्ञा पंचम उद्देशक समाप्त॥



अध्यात्मसार : 5

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए॥1/5/43

मूलार्थ—शब्दादि पाँच विषय-रूप को लोक कहा गया है। जो जीव मन-वचन और काय को विषयों से गोप कर नहीं रखता है, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयों में अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नहीं है।

जो जीव मन-वचन एवं काया को गोपन करके नहीं रखता, वह भगवान की आज्ञा में नहीं है। जब भी किसी के चारित्र की पडिवाई होती है, तब वह इन-इन अवस्थाओं से गुजरता है। ये तीन सूत्र इसी संबंध में हैं।

जो साधु अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करता, वह भगवान की आज्ञा में नहीं है। निम्न तीन दृष्टिकोण से यह तीन प्रकार है—

1. मन-वचन-काया को वश में करना जिसका लक्ष्य ही नहीं है। जिसको मनोगुप्ति में रस ही नहीं है, जो केवल मन-वचन-काया को विषयों में संलग्न रखना चाहता है, जिसका उद्देश्य ही विषयों का विस्तार है, जिसकी विषयेच्छा प्रबल है, वह प्रथम कोटि का निम्न स्तरीय साधु है।
2. मन का गोपन तो करना चाहता है, विषयों से बाहर निकलना भी चाहता है, इन्द्रियों को वश में करना जिसका लक्ष्य भी है, परन्तु उसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे कि गुप्ति की साधना की जा सके, वह मध्यम है; पहले से अच्छा है, क्योंकि इच्छा है तो उपाय भी ढूँढ़ेगा और उपाय मिलेगा भी।
3. जो उपाय को जानता है। मन-वचन-काया के गोपन की विधि भी जिसके पास है, महापुरुषों की संगत में रहकर सीखा है, परन्तु वैसा आचरण नहीं करता (अपेक्षा से) मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण प्रमाद करता है और प्रमादवश इन्द्रियों के वशवर्ती होकर चलता है। यह तीसरे प्रकार का साधु है।

ये तीनों ही प्रकार के साधु भगवान की आज्ञा में नहीं हैं। ऐसे तो श्रावक भी तभी श्रावक है, जब वह मन को गुपित करना जानता है और करता है। श्रावक मन का गोपन आंशिक रूप से करता है, साधु पूर्णतः करता है। इस प्रकार जिन भगवान का आराधक वही है, जो त्रिगुप्ति की साधना करता है।

कम से कम त्रिगुप्ति की साधना में विश्वास तो होना चाहिए कि सच्चे सुख एवं सत्य का मार्ग तो यही है पर मैं नहीं कर सकता। जैसे त्रिदण्डी के भव में भगवान महावीर का जीव कहता है सत्य मार्ग तो भगवान का है परन्तु मैं आचरण नहीं कर सकता। यह है दर्शन। त्रिगुप्ति की साधना में आस्था।

विषयों के विस्तार में जिसकी आस्था है वह मिथ्यादृष्टि है। विषयों के विस्तार सम्बन्धी जो ज्ञान है, वह मिथ्या ज्ञान है (व्यवहार नय से) और विषयों का विस्तार करते जाना दुश्चरित्र है। शुरुआत आस्था से होती है, क्योंकि आस्था से ही रुचि होती है। जहाँ आस्था होगी, वहीं रुचि आएगी। जिसके पास केवल आस्था है, वह भी जैन है। यह जघन्यतम अवस्था है। जो आस्था के साथ गुप्ति की विधि भी जानता है परन्तु आचरण नहीं करता, वह मध्यम है और विधि के साथ जो तदनुसार आचरण भी करता है वह उत्कृष्ट है।

साधु कौन है? जिसके पास दर्शन ज्ञान चारित्र्य तीनों हैं, जिसे त्रिगुप्ति की साधना पर आस्था है और त्रिगुप्ति की साधना का ज्ञान भी है तथा तदनुसार साधना भी करता है। साधु अर्थात् जो त्रिगुप्ति को पूर्णतः साधता है। यदि इस अपेक्षा से देखा जाए तो रत्नत्रय के धारक मुनिजन बहुत ही थोड़े हैं, क्योंकि मनोगुप्ति का अगर पता नहीं है तो किस प्रकार की दीक्षा? किस प्रकार का संयम? मन इधर-उधर अटकेगा और यदि विधि का भी पता है, लेकिन पुरुषार्थ नहीं किया जाए, तब भी मन जाएगा, इसलिए पुरुषार्थ करना भी जरूरी है।

मूलम्— पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे॥1/5/44॥

पमत्तेऽगारमावसे॥1/5/45॥

मूलार्थ—बार-बार शब्दादि गुणों का आस्वादन करने से व्यक्ति असंयम में प्रवृत्त हो जाता है। विषयों में आसक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर में निवास करने लगता है।

इस प्रकार तीन में से किसी प्रकार का व्यक्ति (साधु) पुनः-पुनः गुणों का सेवन कर वक्र समाचारी हो जाएगा। साधु समाचारी का पालन नहीं करेगा, करेगा तो भी माया, कपट, झूठ के साथ वक्रतापूर्वक करेगा। सबके समक्ष कुछ करेगा, अन्दर कुछ करेगा। सबके सामने साधु है, इस लज्जावश नहीं करेगा परन्तु भीतर करेगा। यह सूत्र भी तीन प्रकार से हैं।

1. पहले प्रकार के साधु जो समाचारी का लज्जा के वश सबके समक्ष पालन करते हैं, लेकिन जहाँ पर लज्जा का कोई निमित्त न हो, ऐसे भीतर से समाचारी का पालन नहीं करते।

2. दूसरे ऐसे साधु जो कि निर्लज्ज हैं, न तो अकेले में समाचारी का पालन करते हैं, न बाहर ही सबके समक्ष समाचारी का पालन करते हैं। सभी के समक्ष निर्लज्ज बनकर कुछ भी करेंगे।

3. ऐसे साधु भी समाचारी का पालन नहीं करते, परन्तु स्वार्थ-वश, अपने अहंकार को बनाये रखने के लिए, स्वयं को उत्कृष्ट प्रदर्शित करने के लिए कि हम सच्चे साधु हैं, बाहर से समाचारी का पालन करते हैं। यह बहुत बड़ी माया है। इससे मोहनीय कर्म का प्रगाढ़ बन्ध होता है।

इस प्रकार मनोगुप्ति की साधना के अभाव में अनेक साधु-जन पुनः-पुनः विषयों का सेवन करते हैं निर्लज्ज बनकर या फिर लज्जा सहित बाहर से जिसे हम व्यवहार कहते हैं ऐसा आचरण करते हैं। तीसरे अति मायावी, ऐसे व्यक्ति प्रमादी हो जाते हैं, संयम एवं यतना से अप्रमत्तता, वैसे ही पुनः-पुनः गुणों के सेवन से प्रमाद और इस प्रमाद के वश वे अनगार से गृहस्थ बन जाते हैं, सुख एवं सुविधाओं के दास बन जाते हैं। फिर जहाँ पर उन्हें सुख-सुविधा एवं विषयों का विस्तार मिलता है, उसी ओर उनके मन-वचन-काया गति करते हैं। यदि काया कभी जा भी न पाये तो भी मन तो चला ही जाता है।

‘जितना-जितना, मन का, विषयों का, इन्द्रियों का दासत्व उतना-उतना गृहस्थ, जितना-जितना स्वामित्व उतना-उतना साधुत्व।’

इस प्रकार कैसे व्यक्ति की पडिवाई होती है यह इन तीन सूत्रों में बताया गया है।

लज्जमाणा—लज्जा—मर्यादा, यहाँ पर लज्जावान का अर्थ है जो अपने प्राणों की मर्यादा में रहता है और दूसरे के प्राणों की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता है।

समुद्ठाए—सम्यक् प्रकार से उत्थित होकर।

असुत्ता मुनि-सुत्ता अमुनि—मुनि वही जो सम्यक् प्रकार से उत्थित है, जागरूक है, अप्रमत्त है। इससे विरोधी शब्द है मूच्छमाणे—अर्थात् तो मूच्छावान है। औदायिक भाव में परिणति मूर्च्छा है। क्षयोपशमिक भाव की जागृति उत्थान है। क्षायोपशमिक भाव से प्रशम भाव शांति आती है। औदायिक भाव से आसक्ति बढ़ती है।

अणगार—सब में अपना स्वरूप देखना।

संसार—औदायिक भावों की पर्यायों का परिवर्तन ही संसार है। क्षायोपशमिक भाव मुक्ति की ओर ले जाते हैं और सिद्धों की पर्याय क्षायिक है।

रसिया—रस में उत्पन्न होने वाले जीव (त्रस जीव) जैसे—दही—रात्रि का दही प्रथम प्रहर में ले सकते हैं। उसके बाद नहीं और सुबह का दही दही रूप में जम जाने पर अगले दो पहर तक ले सकते हैं, उसके आगे नहीं। रात के भिगोये हुए खटाई लाए हुए व्यंजन भी विकृत रस युक्त हो जाते हैं।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

षष्ठ उद्देशक

पांचवें उद्देशक में वनस्पतिकाय का विवेचन किया गया। अब छठे उद्देशक में सूत्रकार त्रस जीवों का वर्णन करते हैं। त्रस जीवों के गति-त्रस और लब्धि-त्रस ये दो भेद हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव गति-त्रस हैं तथा तेजस्काय एवं वायुकाय तक के जीव लब्धि-त्रस हैं। तेजस्काय और वायुकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से स्थावर ही हैं। अन्य एकेन्द्रिय जीवों की तरह इनके भी एक स्पर्श इन्द्रिय होने से इन्हें भी स्थावर माना गया है, परन्तु इनमें भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की गति देखी जाती है। इस लब्धि-शक्ति की अपेक्षा से इन्हें लब्धि-त्रस भी माना गया है। यों तो पानी भी गतिशील देखा जाता है, परन्तु उसकी गति स्वभाविक नहीं है, जिस ओर नीची जमीन होती है, वह उधर ही बहता है, अन्यत्र नहीं। वह अग्नि और वायु की तरह दशों दिशाओं में स्वतन्त्रतया गति नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय को ही लब्धि-त्रस माना गया है।

उक्त लब्धि-त्रस में तेजस्काय का वर्णन चौथे उद्देशक में कर चुके हैं तथा वायुकाय का वर्णन सातवें उद्देशक में किया जाएगा। अतः प्रस्तुत उद्देशक में द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के गति-त्रसों का ही वर्णन किया जाएगा; प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—से बेमि सन्तिमे तसा पाणा, तंजहा-अंडया, पोयया, जराउआ, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चई॥४९॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिमे त्रसाः प्राणिनः, तद्यथा-अंडजा, पोत-जाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, समूर्छनजाः, उद्भिजाः, औपपातिक एष संसार इति प्रोच्यते।

पदार्थ—से—वह—मैं। **बेमि**—कहता हूँ। **इमे**—ये। **तसा**—त्रस। **पाणा**—प्राणी। **संति**—हैं। **तंजहा**—जैसे कि। **अण्डया**—अण्डे से उत्पन्न होने वाले कपोत आदि पक्षी। **पोयया**—पोतज रूप से जन्म ने वाले हाथी आदि। **जराउआ**—जरायु से वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और मनुष्य आदि प्राणी। **रसया**—विकृत रस से अत्यधिक खट्टी छाछ आदि में उत्पन्न होने वाले जीव। **संसेयया**—स्वेद पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, लीख आदि जीव। **समुच्छिमा**—सम्मूर्च्छिम उत्पन्न होने वाले—चींटी, मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि जीव। **उब्भियया**—उद्भिज-उद्भेद से उत्पन्न होने वाले पतंगे, वीर-बहूटी आदि। **उववाइया**—उपपात से उत्पन्न होने वाले देव और नारक जीव। **एस**—ये अष्ट प्रकार के त्रस जीव ही। **संसारेत्ति**—संसार हैं, अर्थात् इन त्रस जीवों को संसार। **पवुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! त्रसकाय के सम्बन्ध में मैं तुमसे कहता हूँ कि ये प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाले त्रस प्राणी अण्डे, पोत, जरायु, चलितरस, स्वेद—पसीने, सम्मूर्च्छन, उद्भेद और उपपात से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले त्रस जीवों को संसार कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

आगमों में जीव के दो भेद किए गए हैं—1. सिद्ध और 2. संसार। संसारी जीव भी दो प्रकार के हैं—1. स्थावर और 2. त्रस। स्थावर जीवों के पांच भेद किए गए हैं—1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेजस्काय, 4. वायुकाय, और 5. वनस्पतिकाय। इनमें तेजस्काय और वायुकाय को लब्धि-त्रस भी माना है, परन्तु इनकी योनि स्थावर नाम-कर्म के उदय से प्राप्त होती है तथा इनके एक स्पर्श इन्द्रिय ही होती है, इसलिए इन्हें स्थावर माना गया है। त्रस जीवों के मुख्य चार भेद किए गए हैं—द्दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके अनेक भेद-उपभेद हैं—जिनका आगमों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

त्रस का अर्थ है—“त्रस्यन्तीति त्रसः—त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः जीवनात्—प्राणाधारणात् जीवाः त्रसा एव जीवाः त्रस जीवाः।” अर्थात् जो प्राणी त्रास पाकर उससे बचने के लिए चेष्टा करते हों, एक स्थान से दूसरे स्थान को आ-जा

सकते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं। या हम यों भी कह सकते हैं कि जिनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है, जो अपनी शारीरिक हरकत एवं चेष्टाओं के द्वारा सुख-दुःखानुभूति करते हुए स्पष्ट देखे जाते हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणी होते हैं और वे असंख्यात हैं। पर उनके उत्पत्ति-स्थान आठ माने गए हैं और प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

1. अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले—कबूतर, हंस, मयूर, कोयल आदि पक्षी।
2. पोतज—पोत—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले—हाथी; वल्लूली, चर्म-जलूक आदि पशु।
3. जरायुज—जेर से आवेष्टित उत्पन्न होने वाले—गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि पशु एवं मानव।
4. रसज—खाद्य पदार्थों में रस के विकृत होने-बिगड़ने से उसमें उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रियादि जीव—अधिक दिन की खड़ी छाछ, कांजी आदि में नन्ही-नन्ही कृमियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।
5. संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाली—जूं, लीख आदि।
6. समूर्च्छन—स्त्री-पुरुष के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले—चींटी, मच्छर, भ्रमर आदि जीव-जन्तु।
7. उद्भिज—भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले—टींड, पतंगे इत्यादि जन्तु।
8. औपपातिक—उपपात—देव-शय्या एवं कुंभी में उत्पन्न होने वाले देव एवं नारकी जीव।

संसार में जितने भी त्रस जीव हैं, वे सब आठ प्रकार से उत्पन्न होते हैं¹ इस तरह समस्त त्रस जीवों का इन आठ भेदों में समावेश हो जाता है। इनके समन्वित रूप को ही संसार कहते हैं, अर्थात् जहां इन सब जीवों का आवागमन होता रहता है, एक गति से दूसरी गति में संसरण होता है, उसे ही संसार कहते हैं। क्योंकि जीवों के एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करने के आधार पर ही संसार का

1. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4 में भी उक्त आठ प्रकार के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख मिलता है।

अस्तित्व रहा हुआ है। इसी कारण इन उत्पत्तिशील या भ्रमणशील जीवों को संसार कहा गया है।

त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान के संबन्ध में एक और मान्यता भी है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान तीन मानते हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भज और औपपातिक¹। इन दोनों विचारधाओं में केवल संख्या का भेद दृष्टिगोचर होता है। परंतु वास्तव में दोनों में सैद्धांतिक अंतर नहीं है। दोनों विचार एक-दूसरे से विरोध नहीं रखते। क्योंकि-रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये तीनों सम्मूर्च्छन जीवों के ही भेद हैं, अंडज, पोतज और जरायुज ये तीनों गर्भज जीवों के भेद हैं और देव एवं नारकों का उपपात से जन्म होने के कारण वे औपपातिक कहलाते हैं। अतः तीन और आठ भेदों में कोई अंतर नहीं है। यों कह सकते हैं कि त्रस जीवों के मूल उत्पत्ति स्थान तीन प्रकार के हैं और आठ प्रकार के उत्पत्ति स्थान उन्हीं के विशेष भेद हैं, जिससे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से उनके स्वरूप को समझ सकें

इससे स्पष्ट हो गया कि उत्पत्ति स्थान के तीन या आठ भेदों में कोई सैद्धांतिक भेद नहीं है। ये सभी उत्पत्ति स्थान जीवों के कर्मों की विभिन्नता के प्रतीक हैं। प्रत्येक संसारी प्राणी अपने कृत कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से सब आत्माओं में समानता होने पर भी कर्म बंधन की विभिन्नता के कारण कोई आत्मा विकास के शिखर पर आ पहुंचती है, तो कोई पतन के गड्ढे में जा गिरती है। आगम में भी कहा है कि अपने कृत कर्म के कारण कोई देवशय्या पर जन्म ग्रहण करता है, तो कोई कुंभी (नरक) में जा उपजता है। कोई एक असुरकाय में उत्पन्न होते हैं, तो कोई मनुष्य शरीर में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चंडाल-बुक्कस आदि कुलों में जन्म लेते हैं और कोई प्राणी पशु-पक्षी, टीड-पतंग, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि जंतुओं की योनि में जन्म लेते हैं। इस तरह विभिन्न कर्मों में प्रवृत्तमान प्राणी संसार में विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते रहते हैं²।

योनि और जन्म ये दो शब्द हैं और दोनों का अपना स्वतंत्र अर्थ है। यह आत्मा अपने पूर्व स्थान के आयुष्य कर्म को भोगकर अपने बांधे हुए कर्म के अनुसार जिस

1. सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता।

—तत्त्वार्थ सूत्र 2/32

2. उत्तराध्ययन, 3/3-4।

स्थान में आकर उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं और उस योनि में आकर अपने औदारिक या वैक्रिय शरीर को बनाने के लिए आत्मा औदारिक या वैक्रिय पुद्गलों का जो प्राथमिक ग्रहण करता है, उसे जन्म कहते हैं। इस तरह योनि और जन्म का आधेय-आधार संबंध है। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

जैनदर्शन में शरीर के पांच भेद बताए गए हैं—1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस और 5. कर्मण। इनमें आहारक शरीर विशिष्ट लब्धियुक्त मुनि को ही प्राप्त होता है और वैक्रिय शरीर देव और नारकी तथा लब्धिधारी मनुष्य तिर्यचों को प्राप्त होता है। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यच गति में सभी जीवों को प्राप्त होता है। तैजस और कर्मण शरीर संसार के सभी जीवों में पाया जाता है। औदारिक या वैक्रिय शरीर का कुछ समय के लिए अभाव भी पाया जाता है, परन्तु तैजस और कर्मण शरीर का संसार अवस्था में कभी भी अभाव नहीं होता। जब आत्मा एक योनि के आयुष्य कर्म को भोग लेता है, तो उसका उस योनि में प्राप्त औदारिक या वैक्रिय शरीर वहीं छूट जाता है। उस समय केवल तैजस और कर्मण शरीर ही उसके साथ रहते हैं, जो उसके किए हुए स्वकर्म के अनुसार उसे (आत्मा को) उस योनि तक पहुंचा देते हैं। वहां आत्मा जन्म धारण करता है और कर्मण शरीर के द्वारा वहां पर स्थित पुद्गलों का आहार ग्रहण करके उसे औदारिक या वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत करता है। इस प्रकार उसका उत्पन्न होना जन्म है और जिस स्थान में उत्पन्न होता है, वह स्थान योनि कहलाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में उत्पत्ति स्थान तीन माने गए हैं—2. सम्मूर्च्छन, 2. गर्भाशय और 3. औपपातिक। स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना ही योनि-उत्पत्ति स्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को सर्वप्रथम ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्च्छन जन्म है।

स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पत्ति स्थान—गर्भाशय में स्थित रज-शुक्र (वीर्य) या शोणित के पुद्गलों को पहले-पहल शरीर बनाने के हेतु ग्रहण करने का नाम गर्भज जन्म है।

देव शय्या या नरक कुंभी में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को प्रथम समय में वैक्रिय शरीर का निर्माण करने के लिए ग्रहण करने का नाम उपपात जन्म है। देव शय्या के

ऊपर का भाग दिव्य वस्त्र से प्रच्छन्न रहता है, उस प्रच्छन्न भाग में देवों का जन्म होता है और कुम्भी वज्रमय भीत का गवाक्ष नारकों का उपपात क्षेत्र है। इन उभय स्थानों में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को देव और नारक ग्रहण करते हैं।

इन उत्पत्ति स्थानों में कौन जीव जन्म लेता है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मंदस्सावियाणओ॥50॥

छाया—मंदस्याविजानतः।

पदार्थ—मंदस्स—मंद व्यक्ति का। अवियाणओ—जो तत्त्व से अनभिज्ञ है, उसका संसार में भ्रमण होता है।

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव ही संसार में परिभ्रमण करता है।

हिन्दी-विवेचन

उक्त उत्पत्ति स्थानों में कौन व्यक्ति जन्म लेता है, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'मंदस्स' शब्द प्रयोग किया है। अर्थात् जो मंद बुद्धिवाला है, वह संसार में परिभ्रमण करता है। भेद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अवियाणओ' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मंद बुद्धिवाला वह है, जो जीव-अजीव आदि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है। इन्हें आगमिक भाषा में बाल भी कहते हैं। क्योंकि प्रायः बालक का ज्ञान अधिक विकसित न होने से वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में तथा अपना हिताहित सोचने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण अपनी आत्मा का हिताहित नहीं समझ पाता और इसी कारण विषय-वासना में आसक्त हो कर संसार बढ़ाता है। इसी अपेक्षा से अज्ञानी व्यक्ति को बाल कहा गया है। बालक के जीवन में व्यावहारिक ज्ञान की कमी है, तो इसमें आध्यात्मिक ज्ञान का विकास नहीं हो पाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान रहित है, वही संसार में परिभ्रमण करता है।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि हम देखते हैं कि जो व्यक्ति तत्त्व ज्ञान से युक्त हैं, वे भी उक्त उत्पत्ति स्थानों में किसी एक उत्पत्ति स्थान में जन्म ग्रहण करते हैं।

अनेक साधु संयम का परिपालन करते हुए भी देवगति का आयुष्य बांधते हैं और मनुष्य का आयुष्य भोग कर उपपात योनि में जन्मते हैं और स्वर्ग का आयुष्य पूरा करके फिर से गर्भज योनि में जन्मते हैं। इससे यह कहना कहां तक उचित है कि मंद बुद्धिवाला अतत्त्वज्ञ व्यक्ति ही इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म लेता है?

प्रस्तुत सूत्र में जो कहा गया है, वह एक अपेक्षा-विशेष से कहा गया है और वह अपेक्षा है—संसार-परिभ्रमण की। यह ठीक है कि सम्यग् दृष्टि, श्रावक एवं साधु भी उपपात, गर्भज जन्मों को ग्रहण करते हैं। परन्तु जब से उन्हें तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब से वे संसार-परिभ्रमण को बढ़ाते नहीं हैं। यह सत्य है कि तत्त्वज्ञ जन्म लेते भी हैं। परन्तु तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ के जन्म लेने में अंतर इतना ही है कि एक का संसार परिमित है और दूसरे का अपरिमित। जब से आत्मा ने सम्यक्त्व का संस्पर्श कर लिया, तब से उसे परिमित संसारी कहा है, संसार का छोर-किनारा उसके सामने आ गया है। यह ठीक है कि उसे पार करके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में उसे कुछ समय लग सकता है और इसके लिए वह अनेक उत्पत्ति स्थानों में जन्म भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु उसका जन्म ग्रहण करना संसार वृद्धि का नहीं, परन्तु संसार को घटाने का, कम करने का ही कारण है।

इसके विपरीत अतत्त्वज्ञ व्यक्ति का संसार अपरिमित है। उसके सामने अभी तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है, जिस पर गति करके वह किनारे को पा सके। अभी तक उसे अपने लक्ष्य स्थान एवं किनारे का भी ज्ञान नहीं है। इसलिए उसका प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कदम एवं प्रत्येक जन्म संसार को बढ़ाने वाला है, जन्म-मरण के प्रवाह को प्रवहमान रखने वाला है। तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ में रहे हुए इसी अंतर को सामने रख कर प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि जो मंद है, अतत्त्वज्ञ है, वही संसार-परिभ्रमण को बढ़ाता है, बार-बार इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म-मरण करता है।

इस परिभ्रमण से बचने के लिए क्या करना चाहिए, इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहिता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं

महब्भयं दुक्खंति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥51॥

छाया—निर्धायि—प्रतिलेख्य प्रत्येकं परिनिर्वाणं सर्वेषां प्राणिनाम्, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानाम्, असातम्, अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमिति ब्रवीमि—त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिशः दिशासु च ।

पदार्थ—निज्ज्ञाइता—चिन्तन करके। पडिलेहिता—देखकर। पत्तेयं—प्रत्येक जीव। परिनिव्वाणं—सुख के इच्छुक हैं। सव्वेसिं—सर्व। पाणाणं—प्राणियों को। सव्वेसिं भूयाणं—सर्व भूतों की। सव्वेसिं जीवाणं—सर्व जीवों को। सव्वेसिं सत्ताणं—सर्व सत्त्वों को। अस्सायं—असाता। अपरिनिव्वाणं—अशांति। महब्भयं—महाभय है। दुक्खं—दुःख रूप है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। दिसासु—दिशाओं में। य—और। पदिसो—विदिशाओं में। पाणा—ये प्राणी। तसंति—त्रास को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! त्रसकाय के सम्बन्ध में सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मैं तुम्हें कहता हूँ कि प्रत्येक जीव सुख का इच्छुक है। अतः समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु हैं और सब को असाता-अशान्ति रूप महाभयंकर दुःख से भय है और दिशा-विदिशाओं में स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दुःखों से संत्रस्त हो रहे हैं।

हिन्दी-विवेचन

संसार में प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है, दुःख से बचना चाहता है। फिर भी अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का स्वयं उपभोक्ता है। दुनिया में कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो एक के सुख-दुःख को भोग सके। सभी प्राणी अपने कृत कर्म के अनुरूप ही सुख-दुःख का संवेदन करते हैं। परन्तु अंतर इतना ही है कि सुख-संवेदन की अभिलाषा सबको रहती है। सुख सब प्राणियों को प्रिय लगता है, आनन्द देने वाला प्रतीत होता है, परन्तु दुःख कटु प्रतीत होता है। इसलिए दुनिया का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, वह दुःख से धबराता है, भयभीत होता है। फिर भी प्राणी दुःख से संतप्त एवं संत्रस्त होते हैं। सभी दिशा-विदिशाओं में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ उन्हें दुःख का संवेदन न होता हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व सामान्यतः जीव के संसूचक हैं¹ । निरन्तर प्राण के धारक होने के कारण प्राण, तीनों काल में रहने के कारण भूत, तीनों काल में जीवन युक्त होने से जीव और पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी त्रिकाल में आत्मद्रव्य की सत्ता में अंतर नहीं आता, इस दृष्टि से सत्त्व कहलाता है, इस अपेक्षा से सभी शब्द जीव के ही परिचायक हैं। इस तरह समभिरूढनय की अपेक्षा से इनमें भेद परिलक्षित होता है² ।

इन सब में थोड़ा भेद भी है, वह यह है—प्राण से तीन विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी लिए हैं, भूत से वनस्पतिकायिक जीवों को लिया जाता है, जीव से पंचेन्द्रिय तिर्यच एवं मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है और सत्त्व से पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को लिया जाता है³ ।

“परिनिर्वाण” शब्द का अर्थ सुख है, इस दृष्टि से अपरिनिर्वाण का अर्थ दुःख होता है और दिशा-विदिशा से द्रव्य और भाव-उभय दिशाओं को ग्रहण करना चाहिए ।

इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःख नहीं चाहता । फिर भी विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है । इसका कारण यह है कि वह विविध आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर कर्म-बन्धन से आबद्ध होकर दुःखों का संवेदन करता है । परन्तु जीव आरम्भ-समारम्भ-हिंसा के कार्य में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसका कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. गोयमा! जम्हा आणापाणं तम्हा पाणेति वत्तव्वं सिया, जम्हाभूते भवति भविस्सति य तम्हा भूएतिवत्तव्वं सिया, जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवइ तम्हा जीवेति वत्तव्वं सिया, जम्हा सत्ते सुहासुहेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्तेति वत्तव्वं सिया, जम्हा तित्तकडुयकसायअं बिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विन्नुत्ति वत्तव्वं सिया, वेदेइ य सुह-दुक्खं तम्हा वेदेति वत्तव्वं सिया । —भगवती सूत्र, श. 2, उ. 1

2. यदि वा शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः तद्यथा सततप्राणधारणात् प्राणाः, कालत्रयभवनात् भूताः, त्रिकालजीवनात् जीवाः सदास्तित्वात् सत्त्वा इति ।

3. प्राण द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः भूतास्तु तरवः स्मृताः ।

जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वाः उदीरिताः ॥ —आचारांग सूत्र, टीका-50

मूलम्—तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेति, संति पाणा पुढो सिया ॥52॥

छाया—तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः ।

पदार्थ—तत्थ-तत्थ—उन-उन कारणों में । पुढो—विभिन्न प्रयोजनों के लिए । पास—हे शिष्य! तू देख । आतुरा—विषयों में आतुर-अस्वस्थ मन वाले जीव । परितावेति—अन्य जीवों को परिताप देते हैं—दुःखों से पीड़ित करते हैं, किन्तु । पाणा—प्राणी । पुढो—पृथक्-पृथक् । सिया—पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित । संति—विद्यमान हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीड़ित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एवं अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियों को परिताप, कष्ट एवं वेदना पहुंचाते हैं । ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय में रहे हुए यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान हैं ।

हिन्दी-विवेचन

भारतीय चिन्तनधारा के प्रायः सभी चिन्तकों और विचारकों ने हिंसा को पाप माना है, त्याज्य कहा है । फिर भी हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि जब हिंसा दोषयुक्त है, तो फिर अनेक जीव उसमें प्रवृत्त क्यों होते हैं? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि विषय-वासना में आतुर बना व्यक्ति हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होता है ।

हिंसा में प्रवृत्ति के लिए सूत्रकार ने “आतुर” शब्द का प्रयोग किया है । वस्तुतः आतुरता—अधीरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है । जीवन-व्यवहार में भी हम देखते हैं कि आतुरता के कारण अनेकों काम बिगड़ जाते हैं, क्योंकि जब जीवन में किसी कार्य के लिए आतुरता, अधीरता या विवशता होती है, तो वह व्यक्ति उस समय अपने हिताहित को भूल जाता है । परिणाम-स्वरूप बाद में काम बिगड़ जाता है और केवल पश्चात्ताप करना ही अवशेष रह जाता है । इसलिए महापुरुषों का यह कथन

बिलकुल सत्य है कि कार्य करने के पूर्व खूब गहराई से सोच-विचार लेना चाहिए और धीरता के साथ काम करना चाहिए। जैसे व्यावहारिक कार्य के लिए धीरता आवश्यक है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना के लिए भी धीरता आवश्यक है।

इससे स्पष्ट हो गया कि आतुरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है। आतुर व्यक्ति जीवन का एवं प्राणियों का हिताहित नहीं देखता। वह तो अपना स्वार्थ या प्रयोजन पूरा करने की चिन्ता में रहता है। भले ही, उसमें अनेक जीवों का नाश हो या उन्हें परिताप हो वह यह नहीं देखता, क्योंकि आतुरता में उसकी दृष्टि धुंधली हो जाती है। अपने स्वार्थ एवं विषय-वासना के अतिरिक्त उसके सामने कुछ रहता ही नहीं। इसी अपेक्षा से कहा गया कि विषय-वासना में आतुर व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं और पृथ्वी, पानी, वायु आदि के आश्रय में रहे हुए विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार से परिताप देते हैं। अतः हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण आतुरता एवं स्वार्थी मनोभावना ही है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आतुरता हिंसा का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को आतुरता का त्याग करके हिंसा से दूर रहना चाहिए। उसे प्रत्येक कार्य धीरता के साथ विवेक एवं यत्ना पूर्वक करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में अन्य मत के विचारों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाईमरणभोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे-एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गट्ठिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं

तसकाय समारंभेण तसकाय सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसन्ति॥53॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारंभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारंभयति अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकाय-समारंभेण त्रसकाय शस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए । पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को । पास—हे शिष्य ! तू देख । अणगारामो त्ति—हम अनगार हैं । एणे—कोई-कोई वादी । पवयमाणा—कहते हुए । जमिणं—जो यह प्रत्यक्ष । विरुवरूवेहिं—नाना प्रकार के । सत्थेहिं—शस्त्रों से । तसकायसमारंभेण—त्रसकाय के समारंभ—हिंसा के निमित्त । तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का । समारंभमाणा—समारंभ का प्रयोग करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक प्रकार के । पाणे—प्राणियों की । विहिंसन्ति—हिंसा करते हैं । तत्थ खलु—वहां निश्चय ही । भगवया—भगवान ने । परिण्णा पवेइया—परिज्ञा-ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है । इमस्स चैव जीवियस्स—इस जीवन के निमित्त । परिवंदण—प्रशंसा के लिए । माणण—सम्मान के लिए । पूयणाए—पूजा के लिए । जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए । दुक्खपडिघायहेउं—दुःख-प्रतिघात के लिए । से—वह । सयमेव—स्वयं । तसकायसत्थं—त्रस काय शस्त्र का । समारंभइ—समारंभ-हिंसा करता है । वा—अथवा । अण्णेहिं—दूसरों से । तसकायसत्थं—त्रसकाय शस्त्र का । समारंभावेइ—समारंभ कराता है । वा—अथवा । अण्णे—अन्य । तसकायसत्थं—त्रसकाय शस्त्र द्वारा । समारंभमाणे—

समारम्भ करने वालों की। समणुजाणइ—अनुमोदन करता है। तं—वह-त्रसकाय का आरम्भ। से—उसको। अहियाए—अहित के लिए है। तं—वह-आरम्भ। से—उसको। अबोहियाए—अबोध के लिए है। से—वह। तं—उस आरम्भ के फल के। संबुज्झमाणे—संबोध को प्राप्त होता हुआ। आयाणीयं—आचरणीय—सम्यग् दर्शनादि विषय में। समुद्घाय—सावधान होकर। सोच्चा—सुनकर। भगवओ—भगवान वा। अणगाराणं—अनगारों के। अंतिए—समीप। इहं—इस संसार में। एगेसिं—किसी-किसी जीव को। णायं—विदित। भवति—होता है। एस खलु—निश्चय ही यह आरंभ। गंथे—आठ कर्मों की ग्रन्थि रूप है। एस खलु—यह आरंभ। मोहे—मोह अज्ञान रूप है। एस खलु—यह आरंभ। मारे—मृत्यु रूप है। एस खलु—यह आरंभ। णरए—नरक रूप है। इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थादि में। गड्ढिण्ण—मूर्च्छित है। लोए—लोक-प्राणि-समुदाय। जमिणं—जिस कारण से। विरुवरूवेहिं—नाना प्रकार के। सत्थेहिं—शस्त्रों से। तसकाय-समारंभेणं—त्रसकाय के समारंभ के निमित्त। तसकाय-सत्थं—त्रसकाय-शस्त्र का। समारंभमाणे—समारंभ करता हुआ। अण्णे—अन्य। अणेगरूवे—अनेक प्रकार के। पाणे—प्राणियों की। विहिंसति—विविध प्रकार से हिंसा करता है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं, हे शिष्य! तू सावधानुष्ठान से लज्जित हुए इन अन्यमत वालों को देख। जोकि हम अनगार हैं इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय के समारंभ के निमित्त त्रसकाय का विनाश करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं। इस त्रसकाय-समारंभ के विषय में भगवान ने अपने प्रकृष्ट ज्ञान से प्रतिपादन किया है कि जो यह प्रमादी जीव इस क्षण-भंगुर जीवन के निमित्त प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए तथा अन्य कायिक-वाचिक और मानसिक दुःखों की निवृत्ति के लिए त्रसकाय का स्वयं आरंभ करता है, दूसरों से कराता है और जो आरंभ कर रहे हैं, उनकी प्रशंसा करता है वह आरंभ उसके अहित और अबोधि लाभ के लिए है। इस प्रकार स्वयं भगवान अथवा उनके सम्भावित साधुओं से त्रसकाय के समारम्भ के अनिष्ट फल को सुन कर पूर्ण श्रद्धा और सम्यक् बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि यह त्रसकाय का समारम्भ अष्ट कर्मों की ग्रन्थि रूप है, मोह का कारण होने से मोह रूप है तथा मृत्यु

का कारण होने से मृत्यु रूप है और नरक का हेतु होने से नरक रूप है। फिर भी विषय-भोगों में अधिक मूर्च्छित हुआ आसक्त हुआ यह लोक प्राणिसमूह इससे निवृत्त नहीं होता। जोकि यह प्रत्यक्ष रूप से नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय के समारम्भ से त्रसकाय के विनाश के साथ साथ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र को व्याख्या पृथ्वी और अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं। यहां इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत सूत्र में अध्यात्म योग साधना की ओर भी एक संकेत है। साधक को आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मशक्ति को विकसित करना चाहिए। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है—योगों को स्थिर करना या सावध कार्यों से हटाकर साधना में स्थिर होना। इसका स्पष्ट अर्थ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस आदि समस्त प्राणिजगत के साथ समता एवं मैत्री भाव स्थापित करके, सर्व जीवों की हिंसा से त्रिकरण एवं त्रियोग से निवृत्त होना, इसी को आध्यात्म योग कहा है¹।

प्रस्तुत सूत्र में “तसपाणे—त्रस प्राण” वाक्य का प्रयोग किया गया है। प्राण नाम श्वासोच्छ्वास का है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्राण संतृप्त हैं—विषम चल रहे हैं, उन्हें निरोध कर के सम करना, जिससे मन और आत्मा में समता का प्रादुर्भाव हो सके। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक चिन्तन एवं आत्म-विकास की ओर बढ़ने का भी संकेत मिलता है।

यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रमादी जीव आतुरता के वश तथा अपना स्वार्थ साधने के लिए या अपने जीवन को सुखमय बनाने आदि के लिए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंसा में प्रवृत्त होने के और भी कई कारण हैं। उन्हें स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि, अप्पेगे अच्चाए हणांति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हियाए, पित्ताए,

1. आत्माननोरूपतत्त्व समतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः।

—नीतिवा. समु: 6, सूत्र 1

वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, णहारुणीए, अट्ठीए, अट्ठमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिसु मेत्ति वा वहन्ति, अप्पेगे हिंसन्ति मेत्ति वा वहन्ति, अप्पेगे हिंसिस्सन्ति मेत्ति वा वहन्ति॥54॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, अप्येके अर्चायै धनवन्ति, अप्येके अजिनाय धनन्ति, अप्येके मांसाय धनन्ति, अप्येके शोणिताय धनन्ति एवं-हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय, वालाय, शृंगाय, विषाणाय, दन्ताय, दंष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थने, अस्थिमज्जायै, अर्थाय-अनर्थाय, अप्येके हिंसितवन्तः मे इति वा धनन्ति, अप्येके हिंसन्ति मे इति वा धनन्ति, अप्येके हिंसिष्यन्ति मे इति वा धनन्ति ।

पदार्थ—से—मैं वह । बेमि—कहता हूँ । अप्पेगे—कोई एक । अच्छाए—अर्चना-देवी-देवता की पूजा के लिए । हणन्ति—जीवों की हिंसा करते हैं । अप्पेगे—कोई एक । अजिणाए—चर्म के लिए । वहन्ति—जीवों का वध करते हैं । अप्पेगे—कोई एक । मंसाए वहन्ति—मांस के लिए प्राणियों को मारते हैं । अप्पेगे—कोई एक । सोणियाए वहन्ति—खून के लिए वध करते हैं । एवं—इसी प्रकार, कोई । हिययाए—हृदय के लिए । पित्ताए—पित्त के लिए । वसाए—चर्बी के लिए । पिच्छाए—पिच्छ—पंख के लिए । पुच्छाए—पूँछ के लिए । बालाए—केशों के लिए । सिंगाए—शृंग—सींगों के लिए । विसाणाए—विषाण के लिए । दंताए—दांतों के लिए । दाढाए—दाढ़ों के लिए । णहाए—नाखूनों के लिए । णहारुणीए—स्नायु के लिए । अट्ठिण्ण—अस्थियों के लिए । अट्ठमिंज्जाए—अस्थि और मज्जा के लिए । अट्ठाए—किसी प्रयोजन के लिए । अणट्ठाए—निष्प्रयोजन ही । अप्पेगे—कोई एक । हिंसिसु मे त्ति वा—इसने मेरे स्वजन-स्नेहियों की हिंसा की है, ऐसा मानकर । वहन्ति—सिंह, सर्प आदि जन्तुओं की हिंसा करते हैं । अप्पेगे—कोई एक । हिंसन्ति मेत्ति वा वहन्ति—ये मुझे मारते हैं, ऐसा सोच कर सिंह-सर्प आदि का वध करते हैं । अप्पेगे—कोई एक । हिंसिस्सन्ति मेत्ति वा वहन्ति—ये भविष्य में मुझे मारेंगे, ऐसा विचार कर के सिंह-सर्प आदि प्राणियों के प्राणों का नाश करते हैं ।

मूलार्थ—हे शिष्य ! मैं तुमसे कहता हूँ कि इस संसार में अनेक जीव देवी-देवता

की पूजा के लिए, कई चर्म के लिए या मांस, खून, हृदय, पित्त; चरबी, पंख, पूंछ, केश, शृंग—सींग, विषाण, दन्त, दाढ़, नाखून, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, आदि पदार्थों के लिए, प्रयोजन या निष्प्रयोजन से अनेक प्राणियों का वध करते हैं। कुछ एक व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिंह, सर्प आदि जन्तुओं का वध करते हैं कि उन्होंने मेरे स्वजन-स्नेहियों को मारा है, यह मुझे मारता है तथा भविष्य में मारेगा।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य जब स्वार्थ के वश में होता है तो वह अपना स्वार्थ साधने के लिए विभिन्न जीवों की अनेक तरह से हिंसा करता है। अपने स्वार्थ के सामने उसे दूसरे प्राणियों के प्राणों की कोई चिन्ता एवं परवाह नहीं होती। अपनी प्रसन्नता, वैभवशालीता व्यक्त करने के लिए, मनोरंजन, ऐवश्य एवं स्वाद के लिए स्वार्थी व्यक्ति हजारों-लाखों प्राणियों का वध करते हुए ज़रा भी नहीं हिचकिचाता। कुछ व्यक्ति धन कमाने के लिए पशुओं का वध करते हैं, तो कुछ व्यक्ति अपने शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए अनेक प्राणियों के वध में सम्मिलित होते हैं। परन्तु कुछ व्यक्ति स्वाद के लिए अपने पेट को अनेक पशुओं का कब्रिस्तान ही बना डालते हैं। इस प्रकार स्वार्थी लोगों के हिंसा करने के अनेक कारणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कुछ लोग अर्चा के लिए प्राणियों का वध करते हैं। अर्चा के पूजा और शरीर ये दो अर्थ होते हैं। विद्या-मन्त्र आदि साधने हेतु या देवी-देवता को प्रसन्न करने के बहाने 32 लक्षणों से युक्त पुरुष या पशु का वध करते हैं तथा शरीर को शृंगारने के लिए अनेक जीवों को मारते हैं। इस प्रकार वे पूजा एवं शरीर-शृंगार दोनों के लिए अनेक प्रकार के पशुओं की हिंसा करते हैं।

इसके अतिरिक्त चमड़े के लिए अनेक प्राणियों का वध किया जाता है और उस मृग-चर्म एवं सिंह के चर्म का कई संन्यासी भी उपयोग करते हैं। परन्तु आजकल क्रूम, काफ़लेदर आदि चमड़े के बूट, हैंड बैग एवं घड़ियों कि फीते रखने का फैशन-सा हो गया है और इनके लिए अनेक गायों, गाय के बछड़ों एवं भैंसों की हिंसा होती है। इसी तरह मांस एवं खून के लिए बकरे, मृग, शूकर आदि का, पित्त एवं पंख आदि के लिए मयूर, शतरमुर्ग आदि पक्षियों का, चर्बी के लिए व्याघ्र, शूकर, मछली आदि का, पूंछ के लिए चमरी गाय का, शृंग के लिए मृग, बारहसिंगा आदि का, विषाण के

लिए सूअर का¹ या दांत के लिए हाथी का, दाढ़ के लिए वराह आदि का, स्नायु के लिए गो-महिषी आदि का, अस्थि के लिए शंख, सीप आदि का, अस्थि-मज्जा के लिए सूअर आदि का वध करते हैं। अनेक लोग प्रयोजन से पशु-पक्षियों का वध करते हैं और कुछ एक व्यक्ति निष्प्रयोजन ही अर्थात् केवल कुतूहल के लिए, मनोरंजन के लिए अनेक प्राणियों की जान ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति सिंह-सर्प आदि को इसलिए मार देते हैं कि इन्होंने मेरे स्वजन-स्नेहियों को मारा था। कुछ लोग उन्हें इसलिए मार देते हैं कि ये विषाक्त जन्तु मुझे मारते हैं और कुछ व्यक्ति इस संदेह से ही उनका प्राण ले लेते हैं कि ये जन्तु भविष्य में मुझे मारेगे। इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प एवं स्वार्थों के वश व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं और उससे प्रगाढ़ कर्म-बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिए विवेकशील पुरुष को इन हिंसा-जन्य कार्यों से दूर रहना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेवसयं, तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकाय सत्थ समारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, तिबेमि॥55॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकाय-शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः त्रसकाय-शस्त्रं समारम्भयेत्, नैवन्यान् त्रसकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते त्रसकाय समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—इस त्रस काय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। समारंभमाणस्स—समारंभ करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—समारंभ। अपरिण्णाया

1. हाथी और सूअर के दांत को विषाण कहते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में विषाण शब्द सूअर के दांत के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भवन्ति—अपरिज्ञात होते हैं। एत्थ—इस त्रसकाय के विषय में। सत्थं—शस्त्र का। असमारंभमाणस्स—समारम्भ नहीं करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरम्भ। परिण्णाय भवन्ति—परिज्ञात होते हैं। तं परिण्णाय—उस आरम्भ को परिज्ञात करके। मेहावी—बुद्धिमान। णेव सयं—न स्वयं। तसकाय-सत्थं—त्रसकाय-शस्त्र का। समारंभेज्जा—समारम्भ करे। णेवण्णेहिं—न अन्य से। तसकाय-सत्थं—त्रसकाय-शस्त्र का। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे, तथा। तसकाय सत्थं—त्रसकाय शस्त्र का। समारंभन्ते—समारंभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति का। णेव—नहीं। समणुजाणेज्जा—समर्थन करे। जस्सेते—जिसको ये। तसकाय-समारंभा—त्रसकाय-समारम्भ। परिण्णाय भवन्ति—परिज्ञात होते हैं। से हु मुणी—वही मुनि। परिण्णायकम्मे—परिज्ञातकर्मा है। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति त्रसकाय के आरंभ का त्यागी नहीं है, वह इन आरंभों से अपरिज्ञात है। और जो त्रसकाय के आरम्भ का त्यागी है, उसे ये आरम्भ परिज्ञात हैं। और ज्ञपरिज्ञा से इन आरंभों को जानने तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से इन आरम्भों का त्याग करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति न स्वयं त्रसकाय की हिंसा करता है, न दूसरों से कराता है और न हिंसा करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करता है। जिस व्यक्ति को ये आरम्भ परिज्ञात हैं, वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या दूसरे-तीसरे आदि उद्देशकों के अन्तिम सूत्रवत् ही समझनी चाहिए। 'त्ति बेमि' की व्याख्या भी पूर्ववत् ही समझें

॥शस्त्रपरिज्ञा षष्ठ उद्देशक समाप्त॥



अध्यात्मसार : 6

मूलम्—मंदस्तावियाणओ॥1/6/50॥

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव ही संसार में परिभ्रमण करता है।

संसार-परिभ्रमण का मूल क्या है?

जो मंद है, अविज्ञात है, वह इस संसार में परिभ्रमण करता है।

मंद किसे कहते हैं? व्यवहार में जो बुद्धिमान नहीं है, उसे मंद कहते हैं, परन्तु यहाँ पर जो जीव-अजीव के बोध से तत्त्वबोध से रहित, आत्मबोध से रहित है वह मंद है। तत्त्व—तत् अर्थात् वह तत्त्व अर्थात् मूल। दुनिया की दृष्टि में वह बहुत बुद्धिमान है, बड़ा विद्वान है, प्रखर पंडित भी हो सकता है, लेकिन आत्म-दृष्टि की अपेक्षा वह मन्द है, क्योंकि तत्त्व बोध से रहित है। हो सकता है वह दुनिया की अनेक विद्याओं को जानने वाला हो, मंत्र-तंत्र का ज्ञाता हो, ऋद्धि सिद्धिधारी हो, फिर भी आत्मबोध के अभाव में वह मंद ही कहलाएगा।

अविज्ञात किसे कहते हैं? ऐसा जो मंद है, जो अविज्ञ होगा, जब तत्त्वबोध होता है तब वह विज्ञ-सुज्ञ बन जाता है।

सुज्ञ—सुन्दर सम्यक् ज्ञान से युक्त।

विज्ञ—विशेष ज्ञान से युक्त—जो ज्ञान सभी के पास में नहीं है। सम्यक् ज्ञान को विशेष ज्ञान कहा है, क्योंकि वह विशेष फल को देने वाला है। जो हरेक को नहीं मिलता वह विशेष फल है। निर्वाण—इस प्रकार जो ज्ञान हरेक के पास नहीं है। जो ज्ञान निर्वाण रूपी विशेष फल को देने वाला है उस ज्ञान से युक्त व्यक्ति को विज्ञ कहते हैं।

यह विज्ञता और अविज्ञता भी तत्त्वबोध पर आधारित है। ऐसे तो ज्ञान ज्ञान ही है, लेकिन दर्शन की अपेक्षा से वही ज्ञान अज्ञान कहलाता है। दर्शन सम्यक् होने पर ज्ञान, अन्यथा अज्ञान। इस प्रकार जो आत्मबोध से रहित मंद है, वह अविज्ञात है।

इस प्रकार जो मंद है, अविज्ञात है वह संसार-परिभ्रमण करता है। यह व्याख्या तत्त्वबोध की अपेक्षा से है।

2. दूसरी अपेक्षा से, जो मंद है अर्थात् जो समुट्ठाए सम्यक् रूप से उत्थित नहीं हुआ है, जो पुरुषार्थ नहीं कर रहा है या जो सम्यक् दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर रहा है, ऐसा व्यक्ति मंद है, वह मंद ही रहेगा। आत्म-बोध के लिए, तत्त्वज्ञान के लिए सम्यक् रूप से उत्थित होगा, पुरुषार्थ करेगा तभी वह अविज्ञात से विज्ञात होगा और संसार-परिभ्रमण से मुक्त होगा। वह पुरुषार्थ की अपेक्षा से।

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहिता पत्तेयं परिनिब्बाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिच्चाणं महब्भयं दुक्खंति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य॥1/6/51

मूलार्थ—हे शिष्य! त्रसकाय के संबंध में सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मैं तुम्हें कहता हूँ कि प्रत्येक जीव सुख का इच्छुक है। अतः समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु हैं और सबको असाता-अशान्तिरूप महाभयंकर दुःख से भय है और दिशा-विदिशाओं में स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दुःखों से संतप्त हो रहे हैं।

निज्झाइत्ता—निदिध्यासन, जो पुनः-पुनः दोहराने से स्वयं स्मरण में रहे वह निदिध्यासन है।

पडिलेहिता—प्रतिलेखन करना, जैसे हम स्थान का प्रतिलेखन करते हैं, वैसे ही काया का, वाणी का एवं मन का प्रतिलेखन करना। समता एवं जागरूकता पूर्वक देखना।

परिनिच्चाणं—निर्वाण-वाण रहित होना—वाण जिससे आपके भीतर पीड़ा दुःख अशान्ति का अनुभव हो।

साधु—जो किसी को दुःख नहीं देता और परम सुख का मार्ग बताता है।

अविज्ञ होना संसार का मूल कारण है।

ऐसे तो प्रत्येक व्यक्ति सुख खोजता है। सुख चाहता है, फिर भी उसे दुःख मिलता है; क्योंकि उसे सुख-प्राप्ति का मार्ग पता नहीं है। जिस मार्ग से वह सुख

प्राप्त करना चाहता है, वह दुःख का मार्ग है। जैसे चूने को यदि पानी में मिला दें तब वह दूध न होते हुए भी दूर से सफेद पानी दूध जैसा लगता है। वैसे ही सुख तो नहीं मिलता, केवल सुखाभास होता है।

निर्बाध सुख : वांछित सुख

जो सदा ही बढ़ता रहे और जो सदा ही बना रहे, ऐसा सुख चाहिए। लेकिन हम जिस रास्ते से सुख पाना चाहते हैं, वह रास्ता ठीक नहीं है। जिन-शासन का मार्ग सुख प्राप्ति का सच्चा मार्ग है। कहते भी हैं सच्चा सुख पाना हो तो धर्म करो, लेकिन वस्तुतः सुख सच्चा और गलत नहीं होता, सुख पाने का रास्ता सही या गलत होता है। गलत रास्ते से क्या कभी कोई सही ठिकाने पर पहुँच सकता है? नहीं। वैसे ही क्या गलत रास्ते से निर्बाध सुख मिल सकता है?

सुख का स्वरूप

जिसमें दुःख न हो या दुःख की कमी हो। वह सुख, दुःख के विरोध में है। दुःख के पार नहीं, जैसे नरक की अग्नि तप्त लोहे से भी अधिक गरम है, वहाँ पर रहे हुए किसी जीव को यहाँ सूर्य की गरमी से तप्त सड़क पर रखें तो उसे सुख का अनुभव होता है। वस्तुतः यह सुख, दुःख की कमी का दूसरा नाम है। उसी प्रकार कमरे में बैठे हुए व्यक्ति को अगर गरमी लग सकती है, लेकिन उसी कमरे में यदि गरम सड़क पर घूमता हुआ कोई व्यक्ति आ जाए, तब उसे सुख का अनुभव होगा। यह भी सुख नहीं, अपितु दुःख की कमी का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार हमारे सभी सुख किसी अपेक्षा से हैं। यह सुखानुभूति अखण्ड निर्बाध और निरपेक्ष नहीं है। जैसे एक तरफ से किसी ने सुई चुभाई तो वह दुःख रूप है दूसरी तरफ से किसी ने कटार चुभाई तो उस कटार की चुभन की अपेक्षा सूई की चुभन सुख रूप है।

परिनिर्वाण—ऐसा सुख जो निरपेक्ष, निर्बाध और अखण्ड है। दुःख से पार है।

हम सुखाभास को ही सुख मानते हैं, सुख तो व्यक्ति को प्रत्येक क्षण चाहिए। जब तक उसे दुःख के पार रहे सुख का अहसास नहीं होता, तब तक वह पुनः-पुनः सुखाभास में डूबने को आतुर रहता है, क्योंकि अभी तक व्यक्ति को परिनिर्वाण के सुख का स्वाद नहीं है। अतः वह दुःख रूप अथवा दुःख की कमी रूप सुख को ही

सुख मान लेता है। जैसे किसी कुत्ते को भूख लगी है और रोटी के अभाव में वह सूखी हड्डी को चबाये तो उसकी भूख तो मिटती नहीं, लेकिन अपने ही खून के स्वाद से उसके मन में यह आशा एवं अपेक्षा जगती है कि इससे मेरी भूख अवश्य मिटेगी। वस्तुतः सूखी हड्डी को चबाना दुःख है, लेकिन किसी उपयुक्त एवं यथार्थ भोजन के अभाव में उसे वह सूखी हड्डी ही सुख रूप पेट भरने का साधन लगती है।

सुख का अनुभव मुख्य रूप से किसी स्थान विशेष में होता है और साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर में सभी आत्म-प्रदेशों में एक साथ होता है। जैसे आँख पर किसी रूप का आघात हुआ तब मुख्य रूप से आँख पर असर होगा। साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर पर असर होगा। इस असर को इन्द्रियों के विषय को, पूरे शरीर में फैल जाने को हम संवेदना कहते हैं। संवेदना मुख्य रूप से किसी स्थान विशेष में और साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर में एक साथ अनुभव में आती है।

पात्र एवं बर्तन—साधुजनों के लिए—भगवान महावीर ने तीन प्रकार के पात्र बताएँ—1. लकड़ी का, 2. मिट्टी का, 3. तुम्बे का।

प्लास्टिक अशुद्ध वस्तु है, उससे काँच ठीक है। पहले लोग वार्निश के बजाए पात्र को सरसों के तेल में भिगोकर रखते थे। आठ-दस दिन, तेल पी हुई लकड़ी को सुखाते थे, फिर पानी या वस्त्र से साफ करके प्रयोग में लेते थे।

गृहस्थ के लिए—सबसे उत्तम सुवर्ण, फिर रजत, फिर कांस्य, फिर तांबा एवं पीतल, फिर लोहा। पर लोहे के बजाय मिट्टी अच्छी है। मिट्टी-सुवर्ण के समान ही उत्तम है। किसी अपेक्षा से सुवर्ण से भी मिट्टी अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि मिट्टी सत्त्व के अधिक नजदीक है। भगवान ने कहा था कि लोग लोहे के पात्र में खाएँगे और इस प्रकार से आहार करने से लोग राजसिक होंगे।

प्राणी—विकलेन्द्रिय जीवों को प्राणी कहा जाता है, क्योंकि वह प्राणों के धारक हैं, परन्तु वह हमारे शरीर को प्रत्यक्ष रूप से सत्त्व प्रदान नहीं करते हैं।

भूत—वनस्पतिकाय को भूत कहते हैं, क्योंकि वह सभी जीवों के लिए आधार-रूप है। वह सभी जीवों का भूत-काल है और सभी में दीर्घलोक है।

जीव—पंचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य में जीव का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है, अतः पंचेन्द्रिय तिर्यच एवं मनुष्य को जीव कहा जाता है।

सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को सत्त्व कहा जाता है; क्योंकि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से हमारे शरीर को सत्त्व मिलता है। जितने ही वे चारों शुद्ध होंगे, उतना ही वे हमें सात्त्विकता का अनुभव कराते हैं। उतना ही शरीर सत्त्व से भरपूर रहता है।

सत्त्व अर्थात् अस्तित्व जो हमारे अस्तित्व को टिकाने में सहयोगी बनते हैं, वे सत्त्व हैं।

शुद्ध सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जितने नजदीक रहोगे, उतना ही शरीर शुद्ध होगा। इसी सत्त्व के आधार पर जिस चिकित्सा पद्धति का विकास हुआ है, उसे प्राकृतिक चिकित्सा कहते हैं—शरीर एवं चित्त शान्ति के लिए।

मुनिजनों को इसका खयाल रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके, शुद्ध सत्त्व में निवास करें। उससे शरीर एवं चित्त शान्त रहता है।

मूलम्—तत्त्व-तत्त्व पुढो पास आतुरा परितावन्ति, संति पाणा पुढो सिया॥1/6/52

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीड़ित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एवं अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियों को परिताप, कष्ट एवं वेदना पहुँचाते हैं। ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय में रहे हुए यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान हैं।

आतुर—आतुर का एक अर्थ है धैर्य का अभाव।

मन को गति कौन देता है? मन को विषय गति देते हैं। संकल्प और विकल्प गति देते हैं—जितने संकल्प-विकल्प अधिक होंगे, विषयों में विलास होगा, मन उतना ही आतुर होगा।

चित्त की उपशान्ति से धैर्य का विकास होता है। आतुरता का अर्थ है, कुछ-न-कुछ करने की वृत्ति, कर्ताभाव, ऐसे कर्ता-भाव से परिताप का अनुभव होता है। परिताप का आगमन होता है। यह परिताप स्वसंबंधी एवं परसंबंधी दोनों रूप से है। आतुरता को मिटाने के लिए दीक्षा लेने के पश्चात् सामायिक से लेकर ग्यारह अंग तक का अभ्यास कराया जाता था।

सामायिक किसे कहते हैं? प्रथम श्री आचाराङ्ग-सूत्र को सामायिक कहते हैं। इसमें भी बाह्याचार एवं आभ्यन्तर साधना का ज्ञान एवं अनुष्ठान दोनों साथ-साथ चलते हैं जिससे आतुरता अपने आप उपशान्त होती है। जो ध्यान आप अभी करा रहे हैं, वह दीक्षा के प्रथम दिन से कराना आवश्यक है। इससे भी अच्छा तो यह है कि दीक्षित होने के पहले श्रावक अवस्था में ही ध्यान की शिक्षा एवं दीक्षा होनी जरूरी है और इस ध्यान अवस्था में यहाँ तक पहुँचना आवश्यक है जिसे हम आसन सिद्धि कहते हैं। आसन सिद्धि करीब साढ़े तीन घण्टे तक एक ही आसन में सुखपूर्वक अचल, अडिग, अकंप होकर स्थिर रहना। कायोत्सर्ग भाव से स्थिर रहना। उसके पश्चात् जब व्यक्ति दीक्षित होगा, तब आगे का मार्ग अपने आप खुलेगा। किसी विशेष कारण से अपवाद हो सकता है।



प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

सप्तम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में, छह काय में अवशिष्ट वायुकाय का वर्णन किया गया है। जैसे पृथ्वी, पानी आदि अन्य स्थावरकाय सजीव हैं, उसी प्रकार वायुकाय भी सजीव हैं; सचेतन हैं। इसलिए उनका आरम्भ-समारम्भ भी कर्म-बन्ध का कारण है, संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-परंपरा को बढ़ाने वाला है। अतः वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने वाला ही मुनि है। प्रस्तुत उद्देशक में इन्हीं बातों का विवेचन किया गया है। उसका आदि सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—पहू एजस्स दुगुंठणाए॥56॥

छाया—प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम् ।

पदार्थ—एजस्स—वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकाय के। दुगुंठणाए—आरम्भ का त्याग करने में। पहू—समर्थ होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

हिन्दी-विवेचन

वायुकायिक जीवों की हिंसा कर्म-बन्ध का कारण है। अतः कर्म-बन्ध से वही व्यक्ति बच सकता है, जो वायुकाय की हिंसा से निवृत्त होता है। इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वायुकायिक जीवों की हिंसा से कौन निवृत्त होता है? इस प्रश्न का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संकेत मात्र किया है कि अगले सूत्र में जिस व्यक्ति के गुणों का निर्देश किया जाने वाला है, उन गुणों से संपन्न व्यक्ति ही वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ है।

‘एज’ शब्द वायुकाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग वायुकाय की गति की अपेक्षा से हुआ है। क्योंकि ‘एज’ शब्द ‘एज् कम्पने’ धातु से बना है।

इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—“एजतीत्येजी वायुः कम्पनशीलत्वात्”। अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायु को ‘एज’ कहते हैं और जुगुप्सा का अर्थ निवृत्ति है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में वह व्यक्ति समर्थ है, जो सूत्रकार की भाषा में निम्नोक्त गुणों से युक्त होता है—

मूलम्—आयंकदंसी अहियंति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं॥५७॥

छाया—आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा, योऽध्यात्मं जानाति स बहिर्जानाति यो बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं जानाति एतां तुलामन्वेषयेत्।

पदार्थ—अहियं ति—वायुकायिक जीवों की रक्षा वही कर सकता है, जो आरंभ को अहितकर। णच्चा—जानकर। आयंकदंसी—आतंकदर्शी—दुःखों का ज्ञाता है, द्रष्टा है। जे—जो। अज्झत्थं—आत्मस्थित-अपने सुख-दुःख को। जाणइ—जानता है। से—वह। बहिआ—अन्य प्राणियों के सुख-दुःख आदि को जानता है। जे—जो। बहिया—अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को। जाणइ—जानता है। से—वह। अज्झत्थं जाणइ—अपने सुख-दुःख को जानता है। एवं—इन दोनों को। तुलं—तुल्य। अन्नेसिं—गवेषण करे, अर्थात् जगत के अन्य जीवों को अपने समान जानकर उनकी रक्षा करे।

मूलार्थ—वायुकायिक जीवों की हिंसा को दुःखोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने में समर्थ होता है और जो अपने सुख-दुःख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियों के सुख-दुःख आदि को भी जानता है, और जो प्राणि-जगत के सुख-दुःख को जानता है, वह अपने सुख-दुःख को भी जानता है। इस तरह मुनि अपने एवं प्राणिजगत के, अर्थात् समस्त प्राणियों के सुख-दुःख को समान समझ कर सब की रक्षा करे।

हिन्दी-विवेचन

संसार में दो प्रकार का आतंक होता है—1. द्रव्य-आतंक और 2. भाव-आतंक।

विष आदि जहरीले पदार्थों से मिश्रित भोजन द्रव्य आतंक है और नरक, तिर्यच आदि गतियों में भोगे जाने वाले दुःख भाव आतंक कहलाते हैं। इन उभय आतंकों के स्वरूप को भली-भाँति जानने वाला आतंकदर्शी कहलाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आरम्भ-समारम्भ एवं पाप-कार्य से डरने वाला व्यक्ति ही आतंकदर्शी होता है क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से पापकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म के बन्धन से जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है और वहाँ विविध दुःखों का संवेदन करता है। अस्तु, उन दुःखों से डरने वाला, अर्थात् नरक आदि गति में महावेदना का संवेदन न करना पड़े, ऐसी भावना रखने वाला आतंकदर्शी व्यक्ति सदा आरम्भ-समारम्भ से बचकर रहता है, वह हिंसा से निवृत्त रहता है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक कार्य करता है, फलस्वरूप वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता और न नरक-तिर्यच के दुःखों का संवेदन ही करता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो आतंकदर्शी है, वही व्यक्ति हिंसा को अहितकर एवं दुःखजनक समझकर उससे निवृत्त होने में समर्थ है। वस्तुस्थिति भी यही है कि हिंसा को अहितकर समझने वाला ही उसका परित्याग कर सकता है। जो व्यक्ति हिंसा के भयावने परिणाम से अनभिज्ञ है तथा हिंसा को अहितकर एवं बुरा नहीं समझता है, उससे हिंसा से निवृत्त होने की आशा भी कैसे रखी जा सकती है? अतः आतंकदर्शी ही हिंसा से निवृत्त हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे अज्झत्थं जाणइ.....' आदि पद भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन पदों के द्वारा सूत्रकार ने आत्म-विकास की ओर गतिशील आत्मा का वर्णन किया है। वास्तव में वही व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सकता है, जो अपने सुख-दुःख के समान ही अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को देखता है तथा दूसरों के सुख-दुःख के समान ही अपने सुख-दुःख को समझता है या यों कहिए जो अपनी आत्मा के तुल्य ही समस्त प्राणियों की आत्मा को देखता है, वही विकासगामी है या मोक्षमार्ग का पथिक है।

जब दृष्टि में समानता आ जाती है, तो फिर व्यक्ति किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता। वह अपने सुख या स्वार्थ के लिए दूसरे के सुख, स्वार्थ एवं हित पर आघात—चोट नहीं करता। दूसरे को दुःख, कष्ट पहुंचाकर भी

अपने सुख एवं स्वार्थ को साधने की भावना तभी तक बनी रहती है, जब तक दृष्टि में विषमता है, अपने और पराये सुख का भेद है। अतः समानता की भावना जागृत होने के बाद आत्मा की विचारधारा में और विचार के ही अनुरूप आचार में परिवर्तन हो जाता है। फिर तो मनुष्य आत्मा (अपनी) तुला से प्राणिमात्र के सुख-दुःख को तौलता हुआ सदा प्राणिमात्र के संरक्षण में संलग्न रहता है। यही उसकी आत्मा का विकास-मार्ग है, मोक्षमार्ग है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि आतंकदर्शी अपनी आत्मतुला से प्राणी जगत के सुख-दुःख को तौलकर हिंसा से निवृत्त होता है, अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा में प्रवृत्त होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वह आतंकदर्शी साधक स्थावर जीवों की या वायुकायिक जीवों की रक्षा में किस प्रकार प्रवृत्त होता है? इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ॥58॥

छाया—इह शान्तिगताः द्रविकाः नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम्।

पदार्थ—इह—इस जिन-शासन में। संतिगया—शान्ति को प्राप्त हुए। दविया—राग-द्वेष से रहित संयमी मुनि वायुकाय की हिंसा से। जीविउं—अपने जीवन को रखना। णावकंखंति—नहीं चाहते।

मूलार्थ—इस जिनशासन में शान्ति को प्राप्त हुए मोक्षमार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवों की हिंसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नहीं करते।

हिन्दी-विवेचन

यह हम सदा देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को—प्रत्येक प्राणी को, जीवन प्रिय है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अधिक-से-अधिक समय तक बनाए रखने की इच्छा रखता है और इसके लिए वह हर प्रकार का कार्य कर गुज़रता है। आज दुनिया में चलने वाले छल-कपट, झूठ, फरेब, हिंसा, चोरी आदि पापकार्य इस क्षणिक जीवन के लिए ही तो किए जाते हैं। इसके लिए प्रमादी व्यक्ति बड़े-से-बड़ा पाप एवं जघन्य कार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता है।

एक ओर जीवन का यह पहलू है, तो दूसरी ओर जिनके जीवन में ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा है—दया का, अहिंसा का शीतल झरना बह रहा है, वहां जीवन का दूसरा चित्र भी है। या यों कहना चाहिए कि एक ओर जहां अपने जीवन के लिए, अपने स्वार्थ के लिए दूसरे प्राणियों की रक्षा के लिए तत्पर रहता है और यहां तक कि उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देता है, परन्तु अपने जीवन के लिए वायुकाय आदि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता।

दया, रक्षा एवं अहिंसा की यह पराकाष्ठा जैन शासन में ही है, अन्यत्र नहीं। 'इह' शब्द दया एवं अहिंसा-प्रधान जैनधर्म का परिबोधक है। 'संतिगया' शब्द— 1. प्रशम, 2. संवेग, 3. निर्वेद, 4. अनुकम्पा और 5. आस्तिक्य को अभिव्यक्त करने वाले सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है और सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष रूप पूर्ण आनन्द या शान्ति का मूल कारण है, इसलिए इस आध्यात्मिक त्रिवेणी संगम को शान्ति कहा है। ऐसे शांत या मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधकों को 'संतिगया—शांतिगताः' कहा है।

'दविया-द्रविका' का अर्थ—'द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ताः', अर्थात् राग-द्वेष से उन्मुक्त भव्य आत्मा को द्रविक कहते हैं। 17 प्रकार के संयम का नाम द्रव है क्योंकि, संयम-साधना से कर्म की कठोरता को द्रवीभूत कर दिया जाता है। इसलिए संयम को द्रव कहा गया है और उक्त संयम को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु पुरुष को द्रविक कहते हैं।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना से परम शांति को प्राप्त महापुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकांक्षा नहीं रखते। तात्पर्य यह निकला कि उन्हें अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे के जीवन का अधिक ध्यान रहता है। इसलिए वे अपने सुख के लिए, अपने स्वार्थ के हेतु या अपने जीवन को बनाए रखने की अभिलाषा से दूसरे प्राणियों के सुख, हित, स्वार्थ एवं जीवन पर हाथ साफ नहीं करते। क्योंकि, अपनी आत्मा के समान ही जगत के अन्य जीवों की आत्मा है। अतः अपने स्वार्थ के लिए वे दूसरों की हिंसा की आकांक्षा नहीं रखते हुए, प्राणिजगत पर दया, उनकी रक्षा एवं उन पर

अनुकम्पा करते हैं। अतः अहिंसा का इतना सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ स्वरूप जैन शासन के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म में नहीं मिलता¹।

अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि जैन साधु ही त्रस एवं स्थावर जीवों के संरक्षक हो सकते हैं। वे हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं। अतः सूत्रकार अन्य मत वालों के संबन्ध में कहते हैं—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गहिण लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति॥59॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारंभेण वायुशस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारंभते, अन्यैश्च वायुशस्त्रं समारंभयति अन्यान् वा वायुशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां

1. इहेव जैन प्रवचने यः संयमस्तद्व्यवस्थिता एवोन्मूलितातितुङ्गरागद्वेषदुमाः परभूतोपमर्द-निष्पन्नसुखजीविकानिरभिलाषाः साधवः, नान्यत्र, एवंविधक्रियावबोधाभावादिति।

ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः
इत्यर्थं-गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्म-समारम्भेण वायुशस्त्रं
समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए । पुढो—पृथक्-पृथक् वादियों को । पास—हे
शिष्य! तू देख । अणगारामो त्ति—हम अनगार हैं । एगे—कई एक । पवयमाणा—कहते
हुए । जमिणं—जिससे वे । विरुवरूवेहिं—नाना प्रकार के । सत्येहिं—शस्त्रों से ।
वाउकम्मसमारंभेणं—वायु कर्म समारंभ से । वाउसत्थं—वायुकाय शस्त्र के द्वारा ।
समारंभमाणा—समारम्भ करते हुए । अण्णे—अन्य । अणेगरूवे—अनेक प्रकार के ।
पाणे—प्राणियों की । विहिसंति—हिंसा करते हैं । तत्थ—उस आरम्भ के विषय में ।
खलु—निश्चय ही । भगवया—भगवान ने । परिण्णा—परिज्ञा का । पवेइया—प्रतिपादन
किया है । इमस्स चेव—इस असार जीवन के लिए । परिवंदणमाणणपूयणाए—प्रशंसा,
मान और पूजा के लिए । जाइ-मरण-मोयणाए—जन्म-मरण से छूटने के लिए ।
दुक्खपडिघायहेउं—अन्य दुःखों के विनाशार्थ । से—वह । सयमेव—स्वयं ही ।
वाउसत्थं—वायुकाय शस्त्र का । समारभति—समारम्भ करता है । वा—अथवा ।
अण्णेहिं—दूसरों से । वाउसत्थं—वायु-शस्त्र का । समारंभावेइ—समारम्भ कराता
है । अण्णे—अन्य । वाउसत्थं—वायु-शस्त्र का । समारंभमाणे—समारम्भ करने वालों
की । समणुजाणइ—अनुमोदन करता है । तं—वह-वायुकाय का आरम्भ । से—उसको ।
अहियाए—अहित के लिए है । तं—वह-आरम्भ । से—उसको । अबोहीए—अबोधि
के लिए है । से—वह । तं—उस आरम्भ के फल को । संबुज्झमाणे—जानता हुआ ।
आयाणीयं—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि का । समुद्वाय—ग्रहणकर । सोच्चा—सुनकर ।
भगवओ—भगवान या । अणगाराणं—अनगारों के । अंतिए—समीप । इह—इस जिन
शासन में । एगेसिं—किसी-किसी प्राणी को । णायं भवति—यह ज्ञात होता है कि ।
एस खलु—निश्चय ही यह आरंभ । गंथे—आठ कर्मों की ग्रन्थि रूप है । एस
खलु—यह आरंभ । मोहे—मोहरूप है । एस खलु—निश्चय ही यह आरंभ । मारे—मृत्यु
रूप है । एस खलु—निश्चय ही यह आरम्भ । णरए—नरक का कारण होने से नरक
रूप है । इच्चत्थं—इस प्रकार अर्थ में । गड्ढिणए—मूर्च्छित है । लोए—लोक-प्राणि-
समुदाय । जमिणं—जिससे । विरुवरूवेहिं—नाना प्रकार के । सत्येहिं—शस्त्रों से ।
वाउकम्मसमारंभेणं—वायु कर्म समारंभ से । वाउसत्थं—वायु-शस्त्र का ।

समारंभमाणे—समारंभ करता हुआ। **अण्णे**—अन्य। **अणेरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियों की। **विहिंसति**—विविध प्रकार से हिंसा करता है।

मूलार्थ—हिंसा से लज्जित हुए दूसरे वादियों को हे शिष्य! तू देख। ये लोग, 'हम अनगार हैं' इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु कर्म-समारंभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारंभ-प्रयोग करते हुए साथ में अन्य प्रकार के भी अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं। इस विषय में भगवान ने परिज्ञा—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। ये प्रमादी जीव इस निसार जीवन के निमित्त प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दुःखों के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा स्वयं वायुकाय की विराधना करते हैं, दूसरों से कराते हैं तथा अन्य करने वालों की प्रशंसा करते हैं, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अबोध के लिए है। इस प्रकार वायुकाय समारंभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके संभावित साधुओं से सुनकर सम्यक् श्रद्धा-युक्त बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस संसार में किसी-किसी व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्ट कर्मों की ग्रन्थि रूप है, मोह, मृत्यु और नरक रूप है। ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकांक्षी लोक-प्राणिसमूह इससे पराङ्मुख नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा वायुकाय-समारंभ से वायुकाय के जीवों की विराधना के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों का भी विनाश करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में उसी बात को दोहराया गया है, जिसका वर्णन पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के प्रकरण में कर चुके हैं। अन्तर इतना ही है कि वहां पृथ्वी आदि का उल्लेख किया गया है, तो यहां वायुकाय का प्रकरण होने से वायुकाय का नामोल्लेख किया गया है।

योग-पद्धति से प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हैं, तो वह सूत्र साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वायु से आरोग्य लाभ के साथ-साथ आत्मा में अनेक शक्तियों एवं लब्धियों या सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि, मन एवं प्राणवायु का एक ही स्थान है। एक का निरोध करने पर दूसरे का सहज ही निरोध हो जाता है। इस

अपेक्षा से वायु को व्यवस्थित करने से मन में एकाग्रता आती है। इससे चिन्तन में गहराई-एवं सूक्ष्मता आती है। फलस्वरूप ज्ञान का विकास होता है और आत्मा धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियों को पार करते-करते एक दिन शरीर, वचन और मन योग के निरोध के साथ-साथ प्राणवायु का भी सर्वथा निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान में पहुंच कर आत्मा त्रियोग के साथ 'आण-पाण निरोहिइत्ता' अर्थात् श्वासोच्छ्वास का भी सर्वथा निरोध कर लेता है। श्वासोच्छ्वास का संबन्ध योग के साथ है, क्योंकि शरीर में ही सांस का आवागमन होता है और वाणी एवं मन का भी शरीर के साथ ही संबन्ध है। त्रियोग में शरीर सबसे स्थूल है, वाणी उससे सूक्ष्म है, और मन सबसे सूक्ष्म है। इसी कारण चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करते ही आत्मा सर्वप्रथम मन का निरोध करता है, उसके बाद वाणी का और फिर शरीर का निरोध करके समस्त कर्म-बन्धनों एवं कर्म-जन्य साधनों से मुक्त होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करता है। अस्तु चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करके सिद्धत्व को पाना ही साधना का एकमात्र उद्देश्य है और इसके लिए वायु का व्यवस्थित रूप से निरोध करना लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होता है। इसकी साधना से साधक को अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वरोदय शास्त्र का आविष्कार इसी वायु-तत्त्व के आधार पर हुआ है। परन्तु इन सब शक्तियों का उपयोग आध्यात्मिक साधना को विकसित करने के लिए करना चाहिए, न कि ऐहिक सुखों के लिए। क्योंकि भौतिक सुख क्षणिक हैं और उनके पीछे दुःखों का अनन्त सागर ठठें मार रहा है। अतः साधक को भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को त्याग कर अपनी शक्ति को आत्मा को कर्मों से सर्वथा निरावरण करने में ही लगाना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र का यही तात्पर्य है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि जो व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा में आसक्त रहता है, उसे उसका कटु फल भोगना पड़ता है। अतः मुनि को हिंसा से सर्वथा दूर रहना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघाय मावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ

सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवन्ति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वाउसत्थं समारम्भन्ते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थं समारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि॥60॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, सन्ति सम्पातिमाः प्राणिनः आहत्य संपतन्ति च स्पर्शं च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते, ये तत्र संघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति, अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारंभमाणस्य इत्येते आरंभा परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारंभेत, नैवान्यैश्च वायु शस्त्रं समारम्भयेत् नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात् यस्येते वायु शस्त्रं समारंभाः परिज्ञाता भवन्ति, सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। बेमि—मैं कहता हूँ। संपाइमा—संपातिम—उड़ने वाले। पाणा—प्राणी जो। संति—हैं वे। आहच्च—कदाचित्। संपयन्ति—वायुकाय के चक्र में आ पड़ते हैं। य—फिर वे। फरिसं—वायुकाय के स्पर्श को। पुट्ठा—स्पर्शित होते हैं। च, खलु—दोनों समुच्चयार्थक हैं। एगे—कोई एक जीव। संघायमावज्जन्ति—शरीर-संकोच को प्राप्त हो जाते हैं। जे—जो। तत्थ—वहाँ पर। संघायमावज्जन्ति—शरीर-संकोच को प्राप्त होते हैं। ते—वे जीव। तत्थ—वहाँ पर। परियावज्जन्ति—मूर्च्छा को प्राप्त हो जाते हैं। जे—जो जीव। तत्थ—वहाँ पर। परियावज्जन्ति—मूर्च्छा को प्राप्त करते हैं। ते—वे जीव। ततयं—वहाँ पर। उद्दायन्ति—मृत्यु को प्राप्त करते हैं—मर जाते हैं। एत्थ—इस वायुकाय में। सत्थं—शस्त्र का। समारंभमाणस्स—समारंभ करने वाले को। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरंभ। अपरिण्णाया भवन्ति—अपरिज्ञात—ज्ञात और प्रत्याख्यात नहीं होते हैं। एत्थ—इस वायुकाय में। सत्थं—शस्त्र का। असमारंभमाणस्स—समारम्भ न करने वाले के। इच्चेते—ये सब। आरंभा—आरंभ। परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते हैं। तं—उस आरंभ के। परिण्णाय—द्विविध

परिज्ञा से जानकर। मेहावी—बुद्धिमान। नेव संय—न तो स्वयं। वायु-सत्यं—वायु शस्त्र द्वारा। समारंभेज्जा—समारंभ करे और। नेवण्णेहिं—न दूसरों से। वाउसत्थं—वायु शस्त्र द्वारा। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे और। नेवण्णेहिं—न दूसरों से। वाउसत्थं—वायु शस्त्र द्वारा समारंभावेज्जा—समारंभ करावे और। नेवण्णे—न दूसरों से। वाउसत्थं—वायु-शस्त्र द्वारा। समारंभावेज्जा—समारंभ करावे और। नेवण्णे—न दूसरों की जो। वाउसत्थं समारंभते—वायु शस्त्र द्वारा समारंभ कर रहे हैं, उनकी। समणुजाणेज्जा—अनुमोदना-प्रशंसा करे। जस्सेते—जिसके ये। वाउसत्थ समारंभा—वायु शस्त्र समारंभ। परिण्णाया भवन्ति—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते हैं। से हु मुणी—वही निश्चय से मुनि। परिण्णायकम्भे—परिज्ञातकर्मा कहलाता है। तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—मैं कहता हूँ कि हे जम्बू! उड़नेवाले जीव वायु के चक्कर में आ पड़ते हैं। फिर वायु का स्पर्श लगने से शरीर को संकुचित कर लेते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं। और मूर्च्छित दशा में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। वायु के आरंभ से जो निवृत्त नहीं हुए, वे अपरिज्ञात होते हैं, तथा जो वायु शस्त्र समारंभ से निवृत्त हो गए हैं, वे परिज्ञात होते हैं। जिस आत्मा ने वायु शस्त्र द्वारा समारंभ छोड़ दिया है वही बुद्धिमान है तथा जो स्वयं वायु शस्त्र के द्वारा समारंभ न करता, दूसरों से समारंभ नहीं कराता, तथा जो समारंभ करता है, उसकी प्रशंसा भी नहीं करता एवं जिस व्यक्ति के आरंभ परिज्ञात और प्रत्याख्यात होता है, वही मुनि वास्तव में परिज्ञातकर्मा कहलाता है।

हिन्दी-विवेचन

वायु के प्रवाह में बहुत-से छोटे-मोटे जीव मूर्च्छित होकर अपने प्राण खो देते हैं और यह भी स्पष्ट है कि वायु के साथ अन्य अनेक त्रस जीव रहे हुए हैं। अतः वायु का आरंभ करने से उनकी भी हिंसा हो जाती है। जैसे पंखा चलाने से वायु के साथ अन्य त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इसी प्रकार ढोल, मृदंग एवं अन्य वाद्ययन्त्रों का उपयोग करने से वायु के साथ अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को वायु के समारंभ से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

जो व्यक्ति वायुकाय का आरम्भ करता है, वह उसके स्वरूप को भलीभाँति नहीं जानता है। इसी कारण वह उसकी हिंसा में प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस व्यक्ति को वायु के आरम्भ का स्वरूप परिज्ञात है, वह उसके आरम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहा गया है। यह प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य है। 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशकों में सामान्य रूप से आत्मा और कर्म के संबंध का तथा छह उद्देशकों में पृथक्-पृथक् रूप से षट्काय का वर्णन करके अब उपसंहार के रूप में सूत्रकार षट्काय के स्वरूप का एवं उसकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम्—एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरम्भसत्ता पकरंति संगं॥61॥

छाया—एतस्मिन्नपि जानीहि उपादीयमानान् ये आचारे न रमन्ते, आरंभमाणा विनयं वदन्ति, छन्दसा उपनीताः अध्युपपन्नाः आरंभसक्ताः प्रकुर्वन्ति संगम्।

पदार्थ—एत्थंपि—वायुकाय एवं अन्य पृथ्वी आदि छह काय का जो आरंभ करते हैं, वे। उवादीयमाणा—कर्मों से आबद्ध होते हैं। जाणे—हे शिष्य तू! इस बात को देख कि आरंभ कौन करते हैं? जे आयारे ण रमंति—जो आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार में रमण नहीं करते, और। आरंभमाणा—आरंभ करते हुए। विणयं—हम संयम में स्थित हैं, इस प्रकार। वयंति—बोलते हैं। छंदोवणीया—वे अपने विचारानुसार स्वेच्छा से विचरण करने वाले। अज्झोववण्णा—विषयों में आसक्त हो रहे हैं, तथा। आरंभसत्ता—आरंभ में आसक्त हैं, ऐसे प्राणी। पकरंति संगं—आत्मा के साथ अष्टकर्मों का संग करते हैं अर्थात् अष्टकर्मों से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बात को भली-भाँति जान ले कि जो जीव छह काय का आरंभ करते हैं, वे कर्मों से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं। और वे ही जीव हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, जो पंचाचार में रमण नहीं करते हैं, वे स्वेच्छाचारी

अपने आपको संयमी कहते हुए भी विषय-वासना एवं आरंभ में आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मों का संग करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

पीछे के उद्देशकों में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा कर्मबन्ध का कारण है। इस सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छह काय के जीवों की हिंसा करता है। जैसे जो व्यक्ति पृथ्वी की हिंसा करता है, उससे पृथ्वीकायिक जीवों के आश्रय में रहे हुए अन्य अप्कायिक तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रस जीवों की हिंसा भी होती है। इसी प्रकार अन्य जीवों की हिंसा के संबन्ध में भी जानना चाहिए। इस प्रकार छहकाय का आरम्भ-समारम्भ करने में कर्मों का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-परम्परा का प्रवाह बढ़ता है।

कुछ व्यक्ति अपने आपको साधु कहते हुए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण यह है कि वे शब्दों से अपने आप को साधु कहते हैं, परन्तु आचार की दृष्टि से वे अभी साधुत्व से बहुत दूर हैं, क्योंकि वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में रमण नहीं करते हैं और जब तक आचार को, सम्यक् चारित्र को क्रियात्मक रूप से स्वीकार नहीं करते, तब तक उनकी प्रवृत्ति साधुत्व में नहीं होती। इसी कारण वे आचार-रहित व्यक्ति विषय-वासना में आसक्त होकर विभिन्न प्रकार से अनेक जीवों की हिंसा करते हैं। इसलिए उनका सावध अनुष्ठान कर्मबन्ध का कारण है और परिणामस्वरूप वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इसलिए भुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए। कौन व्यक्ति जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थं समारंभा परिण्णाय भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे, त्ति बेमि॥62॥

छाया—स वसुमान् सर्व-समन्वागतप्रज्ञानेनात्मना अकरणीयं पापं कर्म नान्वेषयेत् तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभेत, नौवन्यैः षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते षड्जीवनिकायशस्त्र-समारंभा परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह छह काय के आरंभ से निवृत्त हुआ मुनि। वसुमं—चारित्र रूप धन-ऐश्वर्य-संपन्न। सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं—सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान-युक्त। अप्पाणेणं—अपनी आत्मा से। अकरणिज्जं—अकरणीय-अनाचरणीय है, जो। पाव कम्मं—18 पाप कर्म, उनके। णे अण्णेसिं—उपार्जन का प्रयत्न न करे। तं—उस पाप कर्म को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान साधु। णेव सयं—न स्वयं। छज्जीवनिकायसत्थं—छह काय के शस्त्र का। समारंभेज्जा—समारंभ करे। णेवण्णेहिं—न अन्य से। छज्जीवनिकाय-सत्थं—छहकाय के शस्त्र का। समारंभा-वेज्जा—समारंभ करावे तथा। छज्जीवनिकायसत्थं—छहकाय के शस्त्र का। समारंभते—समारंभ करने वाले। अण्णे—अन्य व्यक्ति को। णेव समणुजाणेज्जा—न अच्छा समझे या उसका समर्थन भी न करे। जस्सेते—जिसके ये। छज्जीवनि-कायसत्थं समारंभा—छहकाय के शस्त्र के समारंभ। परिण्णाय भवन्ति—परिज्ञात हैं। से हु मुणी—वही मुनि। परिण्णायकम्मे—परिज्ञातकर्मा है। ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह संयम रूप ऐश्वर्य-संपन्न साधु सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान-युक्त होने से वह आत्मा से अकरणीय 18 पाप कर्मों को जानकर और छह काय की हिंसा से पापकर्म का बन्ध होता है, ऐसा समझ कर, न तो स्वयं छह काय की हिंसा करता है, न अन्य से कराता है और न हिंसा करने वाले का समर्थन ही करता है। यह आरंभ-समारंभ जिसे परिज्ञात है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहलाता है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन में धन-ऐश्वर्य का भी महत्व है। ऐश्वर्य एकान्ततः त्याज्य नहीं है। क्योंकि धन-ऐश्वर्य भी दो प्रकार का है—1. द्रव्य धन और 2. भाव धन। स्वर्ण,

चांदी, रत्न, सिक्का, धन्य आदि भौतिक पदार्थ द्रव्य धन है। इससे जीवन में आसक्ति बढ़ती है, इस कारण इसे त्याज्य माना है। क्योंकि यह राग-द्वेष जन्य है तथा राग-द्वेष को बढ़ाने वाला है।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र भाव धन-ऐश्वर्य है और यह आत्मा की स्वाभाविक निधि है। इस ऐश्वर्य का जितना विकास होता है, उतना ही राग-द्वेष का हास होता है। अस्तु, उक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न मुनि को धनवान कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से युक्त मुनि अनाचरणीय पाप कर्म का सेवन नहीं करता। वह 18 प्रकार के सभी पापों से दूर रहता है¹। इन पापों के आसेवन से आत्मा का अधःपतन होता है, इसलिए इन्हें पाप कर्म कहा गया है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छह काय की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध होता है और उससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। अतः इस बात को भली-भाँति जानने एवं हिंसा का त्याग करने वाला साधु न स्वयं छह काय की हिंसा करे, न दूसरे को हिंसा करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसक के हिंसा-कार्य का समर्थन ही करे।

‘अप्पाणेण’ पद से आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को सिद्ध किया गया है, अर्थात् यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं कर्म का कर्ता है और वही स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता भी है। और ‘परिण्णायकम्मे’ शब्द से संयम-संपन्न मुनि के लिए बताया गया है कि ज्ञ परिज्ञा से हिंसा के स्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। अर्थात् उक्त शब्द से ज्ञान और क्रिया युक्त मार्ग को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत विषय पर हम पिछले उद्देशकों में विस्तार से विचार कर चुके हैं। इस लिए यहाँ फिर से पिष्ट-पेषण करना नहीं चाहते। ‘त्ति बेमि’ का अर्थ भी पूर्ववत् है।

सप्तम उद्देशक समाप्त

॥शस्त्रपरिज्ञा प्रथम अध्ययन समाप्त॥



1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान-कलंक, 14. पैशुन्य, 15. परपरिवाद, 16. रति-अरति, 17. माया-मृषा और 18. मिथ्यादर्शनशल्य। ये 18 प्रकार के पाप कहे गए हैं।

अध्यात्मसार : 7

मूलम्—पहू एजस्स दुगुंछणाए॥1/7/56

मूलार्थ—हे शिष्य! वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

पहू—अर्थात्—प्रभु या समर्थ, यह दो प्रकार से होता है—1. बाह्य—शारीरिक रूप से समर्थ, 2. आभ्यन्तर—दर्शनमोह एवं चारित्र मोहनीय कर्मों का क्षयोपशम। इन दोनों के योग से श्रमणत्व आता है। इसमें भी आवश्यक है आन्तरिक सामर्थ्य।

संसार—संसार का अर्थ बाह्य शक्ति का संवर्धन एवं विकास।

मोक्ष—मोक्ष का अर्थ आन्तरिक शक्ति का संवर्धन एवं विकास।

समर्थ कौन होता है? इन वक्ष्यमान गुणों से युक्त व्यक्ति ही समर्थ होता है, क्योंकि इन गुणों के कारण उसमें दुगुंछणाए—जीवों के आरंभ-समारंभ से निवृत्ति, सर्वजीवों के प्रति मैत्री, इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति एवं देह-भाव से उपरति, स्वभाव में सदा ही प्रवृत्ति रूप स्वाभाविक गुण होता है, ऐसा व्यक्ति 'पहू' प्रभु या समर्थ है। जैसे—शूकर की स्वाभाविक वृत्ति है विष्टा खाने की। इसी प्रकार देहाध्यास के रहते, मोहनीय कर्म के दर्शन-मोह तथा चारित्र मोह के उदय में, आरंभ-समारंभ की, विषय-विलास की स्वाभाविक वृत्ति होती है। मोहनीय कर्म के क्षय से आत्म-तत्त्व का बोध होने पर आरंभ-समारंभ से निवृत्ति-रूप स्वरूप-रमण की स्वाभाविक वृत्ति जागरूक होती है।

कोई शूकर को जाति-स्मरण ज्ञान होने पर यदि विष्टा का त्याग करे, तब अन्य शूकर उसके बारे में क्या कहेंगे? वह बड़ा त्यागी है। वस्तुतः ज्ञान के प्रकाश में उसे पता लग गया कि सार क्या है और असार क्या है।

संसारी किसे कहते हैं? जो निस्सार को सार मानता है। जैसे जिस शूकर को ज्ञान हो जाए तो वह स्वयं विष्टा का त्याग कर अन्य को भी विष्टा का त्याग करने

की प्रेरणा करेगा और यदि अन्य शूकर उसकी बात को प्रमाणरूप मानकर उसका अनुसरण करें, तब उन अन्य शूकरों को लाभ होगा या हानि? निश्चित ही लाभ होगा। प्रत्येक व्यक्ति के पास बोध नहीं होता। लेकिन जिनके पास बोध है, उनकी वाणी की स्वीकार कर आचरण करने से अवश्य ही लाभ होता है। इसलिए हमें भी तीर्थंकर भगवान की वाणी को यथातथ्य स्वीकार करना चाहिए। लेकिन कई लोग सबूत मांगते हैं कि हमें बताओ कि विष्टा क्यों ठीक नहीं है। ज्ञान का क्या प्रमाण है? ज्ञान तो स्वयं ही स्वयं का प्रमाण है।

ऐसे प्रमाण मांगने वाले ही भटक जाते हैं। वे चमत्कार को प्रमाण मानते हैं। किसी विशेष असाधारण व्यक्ति के दर्शन एवं प्रदर्शन में विश्वास करते हैं। वे फिर संसार में, मिथ्यात्व में भटक जाते हैं, क्योंकि ऐसी शक्तियाँ तो मिथ्यात्वी के पास भी होती हैं।

धर्म और अधर्म का प्रमाण

अधर्म से—उद्वेग और उपाधि वृद्धिगत होती है।

धर्म से—चित्त में संवेग और समाधि की वृद्धि होती है।

समाधि—समाधि अर्थात् कषायों की उपशांति, संकल्प एवं विकल्पों का जागरूकतापूर्ण उपशमन।

धर्म चमत्कार में नहीं है। धर्म तो संवेग और समाधि में है।

कहा भी है—‘जे स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दुःख अनंत’ अर्थात् स्वरूप का बोध होना मुनित्व की शुरुआत है, अंत नहीं। श्रीमद् राजचन्द्र जी कहते हैं कि चमत्कार के वश जब भी कोई धर्म करता है, तब वह साधारण रूप से क्षणिक होता है। अपवाद रूप से कभी-कभी चमत्कार भी धर्म-साधना का निमित्त बन जाता है। जब धर्म कर्मों के क्षयोपशम स्वरूपबोध, साधना एवं संवेग के द्वारा आता है, तब वह टिकता है। अतः चमत्कारों में नहीं पड़ना।

मूलम्—आयंकदंसी अहियंति, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से णच्या अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं॥1/7//57

मूलार्थ—वायुकायिक जीवों की हिंसा को दुःखोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने में समर्थ होता है और जो अपने सुख-दुःख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को भी जानता है और जो प्राणी जगत के सुख-दुःख को जानता है, वह अपने सुख-दुःख को भी जानता है। इस तरह मुनि अपने एवं प्राणिजगत, अर्थात् समस्त प्राणियों के सुख-दुःख को समान समझकर सबकी रक्षा करे।

1. आयंकदंसी—आतंकदर्शी, आतंक क्या है, जो अपने लिए तथा दूसरों के लिए, उस आतंक को, भय के स्थान को, भय के मूल कारण को सत्य स्वरूप में देख लेता है, वह आतंकदर्शी है।

भय के मूल कारण—यदि आरंभ, राग-द्वेष, इसको जो अपने अनुभव से जान लेता है, वह आतंकदर्शी है।

अहियंतिणच्या—अहितकर का बोध हो जाना। मेरे लिए एवं अन्य जीवों के लिए अहितकर क्या है? अहित का कारण एवं मूल क्या है? जो यह जान लेता है, वह अहियंतिणच्या है।

तुलमन्नेसिं—जो अपने अन्तःकरण को जानता है, वह दूसरों के अन्तःकरण को भी जानता है। जो अन्य के अन्तःकरण को जानता है, वह अपने अन्तःकरण को भी जानता है। एक अपेक्षा से जो अन्तःकरण में होने वाले सुख-दुःख को जानता है, ऐसा व्यक्ति तुल्यमना बन जाता है। उसके मन में साम्य-भाव जागृत होता है। इस प्रकार जो आरंभ-समारंभ में आतंक को देखता है, इस संसार में आतंक का मूल कारण क्या है, यह जानता है, ऐसा आतंकदर्शी तथा जिसे अहितकर का बोध है एवं जो तुल्यमना है, ऐसे व्यक्ति के चित्त में दुर्गच्छणाएँ—कषाय एवं विषयों से निवृत्ति-रूप, स्वरूप-रमण में प्रवृत्ति रूप स्वाभाविक वृत्ति जागृत होती है, जिससे वह 'पहू' प्रभु या समर्थ बनता है।

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं॥1/7/58

मूलार्थ—इस जिनशासन में शान्ति को प्राप्त हुए मोक्षमार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवों को हिंसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नहीं करते।

संतिगया—जो शांतिकर हो गया, परम शांति को प्राप्त हो गया, अर्थात् जिन्हें स्वरूप का बोध हो गया।

अशांति के दो प्रकार हैं—1. योग की चंचलता, 2. कषाय।

शक्ति किसमें है? शान्ति में समस्त शक्तियों का मूल है। चित्त की उपशान्ति जिससे आत्म शक्ति का विकास होता है। जितने-जितने अंशों में चित्त की उपशान्ति होगी, उतने-उतने अंशों में शक्ति मिलेगी। जिस दिन हम पूर्ण शान्त हो जाते हैं, उस दिन पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य उपलब्ध होती है। जैसे केवली भगवान्।

दविद्या—एक अपेक्षा से द्रव्य का बोध हो जाना। द्रव्य—अर्थात् मूलस्वरूप, सत्ता, मूलगुण, जो यथावत् सदा सर्वदा रहते हैं। पर्याय बदलती है। वह भिन्न-भिन्न रूप ले सकती है, लेकिन द्रव्य नहीं बदलता। जब व्यक्ति का, द्रव्य का आत्मगत शुद्ध स्वरूप का, मूल सत्ता का बोध हो जाता है, तब उसे लोक में रहे हुए, सभी जीव और अजीव की सत्ता का बोध होता है। इस द्रव्यबोध के होने पर जीवैषणा, जीवाकांक्षा, जो अनेक आकांक्षाओं का मूल है, उसका विच्छेद हो जाता है।

णाव क्खंति जीविउं—क्योंकि उसे यह बोध हो जाता है कि मुझे कोई मार नहीं सकता, मेरी कोई मृत्यु नहीं है, न मुझे अग्नि जला सकती है, न मुझे शस्त्र छेदन कर सकता है। न पवन उड़ा सकता है। न मुझे पानी डुबा सकता है। मेरा अस्तित्व अजर-अमर है। तब फिर जीने की आकांक्षा कैसे रहेगी?

जीवाकांक्षा तब तक है, जब तक मरण का भय रहता है। लेकिन जब यह बोध हो जाता है कि मैं अमर हूँ, अमृत मेरा स्वरूप है, तब जीने की आकांक्षा अपने आप चली जाती है।

आरंभ-समारंभ से साधक निवृत्त हो जाता है, क्योंकि जब उसे ज्ञात होता है कि मेरे जीवन के लिए अन्य जीवों का आरंभ-समारंभ आवश्यक नहीं है। जीवैषणा जो आरंभ का मूल है, अनेकानेक कामनाओं की जननी है, उससे रहित होने पर अपने आप आरंभ-समारंभ से निवृत्ति आती है।

स्वरूपबोध होने पर जब देहाध्यास से व्यक्ति निवृत्त होता है, तब मान इत्यादि कषाय न्यूनतम, अर्थात् बहुत ही कम हो जाते हैं। पूर्ण कषाय क्षय तो आगे जाकर होता है, लेकिन जो संज्वलन के रूप में रहते हैं, वे कभी-कभी वृद्धिगत भी हो जाते

हैं, परन्तु मुख्यतः न्यून ही रहते हैं। स्वरूपबोध होने पर कर्मबन्धन के जो आठ मूल स्थान हैं, जीवन, परिवन्दन इत्यादि उनमें से कुछेक का तो विच्छेद ही हो जाता है और अन्य न्यूनतम अवस्था में रहते हैं। अभी भी कषाय हैं, अतः कर्म बन्धन होता है। लेकिन जीवाकांक्षा न रहने पर वह जान जाता है कि मेरा जीवन किसी पर आधारित नहीं है।

इस प्रकार एक स्वरूपबोध के होने पर अनन्त-अनन्त जीवों को अभयदान मिलता है और एक आत्मज्योति जगने पर वह अनेकानेक आत्मज्योति के जागरण हेतु निमित्त बन सकती है। जीवाकांक्षा से व्यक्ति किस प्रकार मुक्त होता है? चिंतन-मनन एवं स्वाध्याय से कुछ फर्क पड़ता है, परन्तु मूल है—1. सद्गुरु का सत्संग, जिन्हें स्वरूप बोध हो गया है, ऐसे आत्म ज्ञानी गुरु का संग। 2. प्रमुख कारण हैं आभ्यंतर साधना।

सद्गुरु की कसौटी क्या है? ऐसे तो कोई भी कसौटी काम नहीं आती; फिर भी व्यक्ति की मुमुक्षा ही आत्मज्ञानी की पहचान कर लेती है। आत्मज्ञानी व्यक्ति के गुणों में मुख्य है—साम्य भाव, देहाध्यास से निवृत्ति, देहाध्यास से क्या पूर्ण निवृत्ति होती है? जहां पर हम खड़े हैं, उस अपेक्षा से पूर्ण, लेकिन केवलज्ञानी भगवान की अपेक्षा से अपूर्ण। जिसे हम विदेही अवस्था कहते हैं।

‘देह छता जेनी दशा वर्ते देहातीत।’

इस प्रकार अन्य लक्षण भी श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्म सिद्धि में बताए हैं, वहां पर आप देख सकते हैं।

कायोत्सर्ग—द्रव्य...ठाणेणं मोणेणं, ज्ञाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

भाव—स्वरूप में रमण। आत्मस्थित हो जाना।

श्रावक को क्या पढ़ना-पढ़ाना—साधुजन सामायिक से लेकर ग्यारह अंग तक अध्ययन करते थे, लेकिन श्रावक-जन नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें वह योग्यता नहीं है। श्रावक को यदि अध्ययन करना हो तो उसे साधु की तरह रहना चाहिए। जीवन भर के लिए पूर्णतः शीलव्रत अथवा महीने के पाँच दिन छोड़कर। फिर भी यह जो ज्ञान है वह मूलतः साधुजनों के लिए है। श्रावकों के लिए मुख्यतः उपासक-दशांग सूत्र, अंतकृत दशांग सूत्र, ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र, महापुरुषों के चरित। साधु का आचार पढ़कर वे क्या करेंगे? हाँ, इतना अवश्य बताना जरूरी है कि साधु का मुख्य

रूप से आचार-कैसा होता है। वह भी साधुजन स्वयं समझाए। इसमें भी मुख्यतः गोचरी संबंधी आचार—अन्न-पान-वस्त्र एवं शयन संबंध की गवेषणा की विधि बताना जरूरी है। इसके अतिरिक्त पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, साधु के सत्ताइस गुण, पंचपरमेष्ठी के गुण। समाचारी को प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो साधु नहीं हैं, वे समझ नहीं पाते। इससे अयोग्य हाथों में सत्ता चली जाती है।

गोचरी के नियमों से सुपात्र दान के नियमों से अवगत कराना जरूरी है, क्योंकि वह श्रावक का बारहवां व्रत है। बाकी अन्य बातें जहाँ-जहाँ प्रसंग-वश जो-जो योग्य हैं, उन्हें बताना।

मुनि की साधना—मुनि वह है, जो बाह्याचार एवं आभ्यंतर साधना से संकल्प-विकल्प से रहित समय में स्थित रहने की साधना करता है।

बाह्याचार से निमित्त शुद्धि, आभ्यंतर साधना से उपादान शुद्धि। बाह्याचार—आगमानुसार।

आभ्यंतर साधना—ज्ञान, ध्यान, कायोत्सर्ग, प्रभु-भक्ति आदि।

निंदा—कोई किसी व्यक्ति की निंदा कर रहा हो तब उसे प्रोत्साहन न देना, अपितु सहज-भाव से निषेध करना। यदि वह न माने तब तटस्थता बनाए रखना, क्योंकि अशुभ बातों की चर्चा करने से पाप कर्म का बन्ध होता है, ऐसे ही शुभ सत्य और सद्गुणों की चर्चा करने से पुण्य बन्धन होता है।

प्रज्ञा—परम उत्कृष्ट रूप से, इन्द्रियों के माध्यम से किसी को जानना प्रज्ञा कहलाता है। केवलज्ञान इन्द्रियातीत है। इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें तथा श्रुतज्ञान का सर्वोत्कृष्ट सार प्रज्ञा कहलाती है। प्रज्ञा का एक अर्थ सम्यक् ज्ञान भी होता है। शंका, विभ्रम इत्यादि दोषों से रहित शुद्ध श्रुत-ज्ञान प्रज्ञा है।

प्रज्ञा कैसे जागृत होती है? दो प्रकार से, ऐसे तो प्रज्ञा जागरण के अनेकों उपाय हैं किन्तु इनमें ये दो मनोनिरोध के, मनःविलय के सहज सरल उपाय हैं।

1. बाह्य कुम्भक—शून्य में ठहरना, 2. सहज—स्वाभाविक श्वास के साथ रहना। श्वास के आवागमन से स्वाभाविक रूप से होने वाली 'सोऽहं' ध्वनि के प्रति जागरूक रहना।

कई लोग केवल श्वास को देखने की बातें ही करते हैं। अनेक लोग साथ में सोऽहं जोड़ने को भी कहते हैं। प्रथम है पैदल चलना, द्वितीय है आकाश में चलने जैसा। कुम्भकपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक भी प्राणायाम हो सकता है, किन्तु यहाँ प्राणायाम का सहज रूप है। इसमें प्राणायाम होते-होते स्वयमेव धारणा ध्यान और समाधि की ओर गति होती है। महत्त्वपूर्ण है जो भी करे, दृढ़ श्रद्धापूर्वक करे, तब अधिक लाभ होता है।

प्रज्ञा से मन की एकाग्रता, आलस्य से दूरी एवं रोगमुक्ति

मन की एकाग्रता हेतु जैसे किसी का मन लग ही न रहा हो तब प्रयत्नपूर्वक जितना गहरा लम्बा धीरे-से श्वास ले सके, लेना। श्वास को भीतर लेते समय 'सो' कहना अथवा श्वास लेने पर स्वाभाविक रूप से होने वाली 'सो' ध्वनि के प्रति जागरूक रहना। फिर जितनी देर हो सके श्वास रोककर रखना, इससे मन एकाग्र हो जाएगा। जब श्वास भीतर रोककर रखते हैं, उस समय कुछ भी नहीं करना। विचार आएंगे और अपने आप चले जाएंगे। मन में किसी भी प्रकार की गिनती नहीं करना। तत्पश्चात् धीरे-से गहराई से श्वास छोड़ना और छोड़ते हुए 'हं' कहना अथवा श्वास छोड़ने पर होने वाली स्वाभाविक ध्वनि 'हं' के प्रति जागरूक रहना। उसके बाद जितना समय हो सके, शून्य बनाए रखना। कुम्भक के अनुसार शून्य में भी कुछ नहीं करना।

इस प्रकार 10 से 15 बार करने पर मन स्वयमेव शांत हो जाता है।

स्वास्थ्य-लाभ—किसी भी प्रकार की बीमारी हो, सभी के लिए यह एक अच्छा उपाय है। मन में यह धारणा करनी कि श्वास के माध्यम से श्वास के साथ वह रोग, अस्वस्थता बाहर जा रही है। ऐसा सोचते हुए, मन में धारण करते हुए श्वास छोड़ते हुए 'हं' कहना या स्वाभाविक ध्वनि 'हं' के प्रति जागरूक रहना। तत्पश्चात् जितनी देर हो सके शून्य बनाए रखना। उसके बाद गहरा लम्बा श्वास लेना एवं श्वास लेते हुए मन में यह धारणा करनी कि समस्त विश्व की प्राणशक्ति श्वास के साथ मेरे भीतर आ रही है। स्वास्थ्य मेरे भीतर आ रहा है। इस धारणा को मन में बनाए रखते

हुए, श्वास लेते हुए मन में 'सो' कहना अथवा श्वास लेने पर होने वाली ध्वनि 'सो' के प्रति जागरूक रहना। उसके बाद अन्तर कुम्भक करना व अन्तर कुम्भक करते हुए मन में यह धारणा बनानी कि भीतर आई हुई प्राणशक्ति समस्त अंग एवं उपांगों में फैल रही है। इसी प्रकार जितना कर सके, करते रहना।

आलस्य-निवारण—अत्यधिक शारीरिक शैथिल्य आलस्य, तन्द्रा से उपरत होने के लिए सर्वप्रथम श्वास बाहर छोड़ते हुए 'हं' कहना अथवा श्वास छोड़ने पर स्वाभाविक रूप से होने वाली ध्वनि 'हं' के प्रति जागरूक रहना। श्वास छोड़ते हुए मन में यह धारणा करनी कि एक अन्धकार के रूप में आलस्य भी बाहर जा रहा है, तत्पश्चात् जहाँ तक हो सके बाह्य कुम्भक। बाह्य कुम्भक करते हुए कुछ भी नहीं सोचना। फिर गहराई से लम्बा और धीमा श्वास लेते हुए 'सो' अथवा श्वास लेने पर होने वाली स्वाभाविक ध्वनि 'सो' के प्रति जागृत रहना तथा मन में यह धारणा करनी कि भीतर आते हुए श्वास के साथ स्फूर्ति, ताजगी और चैतन्य एक प्रकाश के रूप में भीतर आ रहा है। तत्पश्चात् अन्तर कुम्भक करना और मन में यह धारणा करनी कि वह प्रकाश स्फूर्ति और चैतन्य शरीर के कण-कण में फैल रहा है। सफेद जगमगाता हुआ प्रकाश और अंधकार गहरा काला।

हम जिस प्रकार की धारणा करते हैं, उसी प्रकार की मानसिक धारणा का प्रभाव शरीर पर अत्यधिक रूप से पड़ता है। मन और विचार भी पुद्गल हैं एवं शरीर भी पुद्गल है। अतः पुद्गल पुद्गल को गति देता है। सारा ध्यान मन की धारणा, सोऽहं के प्रति बनाए रखना। जितना आराम से हो सके, उतना करना।

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णेवाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सौच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे,

एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गड्ढए
लोए जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण वाउसत्थं
समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥1/7/59

मूलार्थ—हिंसा से लज्जित हुए दूसरे वादियों को हे शिष्य! तू देख। ये लोग, हम अनगार हैं, इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु कर्म समारंभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारम्भ—प्रयोग करते हुए साथ में अन्य प्रकार के भी अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं। इस विषय में भगवान ने परिज्ञा—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। ये प्रमादी जीव इस निस्सार जीवन के निमित्त प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दुःखों के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा स्वयं वायुकाय की विराधना करते हैं, दूसरों से कराते हैं तथा अन्य करने वालों की प्रशंसा करते हैं, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अबोध के लिए है। इस प्रकार वायुकाय समारंभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके संभावित साधुओं से सुनकर सम्यक् श्रद्धा युक्त बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस संसार में किसी-किसी व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्टकर्मों की ग्रन्थि रूप है, मोह, मृत्यु और नरक रूप है, ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकांक्षी लोक—प्राणिसमूह इससे पराङ्मुख नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा वायुकाय समारंभ से वायुकाय के जीवों की विराधना के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों का भी विनाश करता है।

अंतिए—अन्तेवासी अर्थात् जो अन्तिम होने को तैयार है। जो विनीत होकर विनय करता है।

विनय दो प्रकार से होता है—1. अविनीत का विनय—जिसके प्रति मोह है उस मोहवश विनय करना, कोई स्वार्थ है उस स्वार्थवश, स्वार्थ की पूर्ति हेतु विनय करना। किसी से भय है, भय के वश विनय करना, ईर्ष्या के वश विनय करना। 2. विनीत का विनय—कर्मों के क्षयोपशम के कारण, अहंकार के गल जाने से मोहनीय कर्म क्षीण एवं मंद हो जाने पर जो विनय होती है, वह विनीत का विनय है; क्योंकि वह विनय किसी प्रकार के मोह, स्वार्थ, भय या ईर्ष्या वश न होकर स्वभावगत होती है।

विनम्रता उसका आन्तरिक गुण है। ऐसे सत्य निश्चल विनय से, व्यक्ति परिज्ञात-कर्मा हो ज्ञाता है। मुनि की साधना, साधक की साधना में पुरुषार्थ के साथ विनम्रता होनी चाहिए। अतः मुनि दो प्रकार से पुरुषार्थ करता है—1. भगवान की आज्ञा में, 2. गुरु की आज्ञा में।

किसकी विनय करनी—भगवान की, आगम की, शासन की, सुसाधु की।

अरिहंत का अर्थ—मूलतः होता है तीर्थंकर भगवान, केवलज्ञानी भगवंत भी, अरिहंत की श्रेणी में ही हैं, परन्तु प्रमुख रूप से तीर्थंकर भगवंतों को अरिहंत कहते हैं; क्योंकि वे तीर्थ की स्थापना कर धर्म का पुनरुत्थान कहते हैं। उन्हीं का शासन चलता है। फिर भी साधारण रूप से अरिहंतों को नमस्कार करते हुए केवलज्ञानियों को भी नमस्कार हो जाता है।

मेधावी—मेधावी—मेधा से युक्त व्यक्ति, मेधा अर्थात् सत्य और असत्य का सार एवं असार ग्राह्य एवं अग्राह्य का निर्णय करने की दीर्घ दृष्टि युक्त सूक्ष्म बुद्धि, जो वस्तु जैसी प्रतीत हो रही है, वैसी नहीं अपितु वास्तव में जो जैसी है, वैसा जान सकने की बुद्धि ज्ञान दृष्टि। उदयमान बुद्धि के साथ जब दीर्घ दृष्टि एवं तत्त्वज्ञान का संयोग होता है, तब उसे मेधा कहते हैं। तत्त्व-ज्ञान से ही मेधा जागृत होती है, परिष्कृत होती है।

परिज्ञातकर्मा बनने का सरलतम उपाय—जिसे कर्माश्रव या संवर एवं निर्जरा का ज्ञान है, ऐसे परिज्ञातकर्मा मुनि बनने का सरल उपाय है 'सोडहं' ध्यान। बाह्य तप भी इसमें सहयोगी है। अनशन, ऊनोदरी, आर्यंबिल इत्यादि। इसमें भी सर्वश्रेष्ठ है आहार शुद्धि के साथ 'एगभंतं च भोयणं' एक समय भोजन, उससे भी श्रेष्ठ है, एक दिन 'एगभंतं भोयणं' दूसरे दिन उपवास इस प्रकार का क्रम।

साधु को रोग होने के कारण और उपाय

मुनिजनों को शरीर के संबंध में—स्वावलम्बी रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके, स्वावलम्बी रहना, जब सहयोग भी लेना पड़े तो संयमी तथा व्रतधारियों से लेना।

रोग का आगमन—कर्म के उदय से भी विपरीत होता है, साथ ही गलत

आहार, अधिक विपरीत अयोग्य, आवश्यकता से न्यून, गलत विहार इत्यादि।

उपाय है—उपयुक्त शुद्ध आहार, हो सके तो दिन में एक बार अन्यथा दो-बार, तपस्या एवं रोग में तीन बार।

आसन—प्राणायाम नियमित, छह माह में एक बार शंख प्रक्षालन, न्यूनतम हो सके तो 7 दिन में एक बार कुंजल, शुद्ध सत्त्व के संग में रहना।

गण की व्यवस्था हेतु निर्देश

गण को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए—गणनायक की आज्ञा से प्रत्येक कार्य होना चाहिए। गणनायक को भी निस्स्वार्थ, निरपेक्ष और निष्पक्ष होकर सभी सदस्यों की प्रकृति, स्वभाव, परिस्थिति, उनके सोचने-समझने की शक्ति, उनका संघयन, उनके संस्कार, जाति-कुल इत्यादि बातों को पूर्णतः खयाल में रखते हुए सभी के हित एवं मंगल के लिए जो भी उपयुक्त हो, उसके अनुसार आगम आज्ञा में रहते हुए प्रभावना के मंगल उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, आत्मसाधना के शुद्ध लक्ष्य को खयाल में रखकर, सम्यक् उचित निर्णय लेना चाहिए। उसी से गण एवं सदस्यों का विकास होता है। सद्गुणों का प्रोत्साहन और दुर्गुणों की प्रेमपूर्वक निवृत्ति की तरफ सदा लक्ष्य रहना चाहिए।

मूलम्—एत्थंप जाणे उवादीयमाणा, जो आयरे ण रमंति,
आरम्भमाणा विणयं, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरम्भ सत्ता पकरन्ति
संगं॥1/7/61

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बात को भली भाँति जान ले कि जो जीव छह काय का आरंभ करते हैं, वे कर्मों से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं और वे ही जीव हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। जो पंचाचार में रमण नहीं करते हैं, वे स्वेच्छाचारी अपने आपको संयमी कहते हुए भी विषय-वासना एवं आरंभ से आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मों का संग करते हैं।

उवादीयमाणा—औदायिक भाव में रमण करना, कर्मों से आबद्ध होना, संसार में रमण करना, इच्छाओं के पीछे दौड़ना, ऐसा कौन करता है? जे आयरे-ण रमंति।

आचार—आया-आत्मा, आत्मगत परिणामों का अभिव्यक्त रूप आचार है। आत्मगत भावों में रमण करना अथवा व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मबोध की साधना में रमण करना। इस प्रकार के आचार में, साधना में जो रमण नहीं करता, वह आरंभ करते हुए—आरंभमाणा।

विणयं—विशेष रूप से जिसका दृष्टिकोण आरंभ एवं स्वेच्छाचार का हो गया है, वह अपने आपको संयत कहते हुए भी, 'छंदोवणीया'—जो स्वच्छन्द है। छंद अर्थात् औदायिक भावों का चित्त वृत्तियों का प्रवाह। जो उस प्रवाह में बहता है, किसी की भी नहीं सुनता है। उन वृत्तियों के अनुसार अपने मन में जो बैठ गया, वही करता है, वह स्वच्छन्द है। यह स्वच्छंदता बाह्यआचार का खयाल न रखने से आती है।

अज्ज्ञोववण्णा—विषयों के पुनः-पुनः सेवन से मन में जो आसक्ति का निर्माण होता है उस आसक्ति के आधार पर आर्त एवं रौद्र ध्यान से युक्त परिणामों की जो धारा चलती है, उसे कहते हैं 'अज्ज्ञोववण्णा'। इस प्रकार के व्यक्ति आरंभ सत्ता आरंभ में स्थित रहते हुए पुनः-पुनः विशेष रूप से आरंभ में रुचि रखते हुए 'पकरंति संगं' कर्मरूपि पंक—कीचड़ का, विषयासक्ति रूप पंक का संग करते हुए उसी में, उसी से लिप्त रहते हैं। बाह्य आचार और आभ्यंतर साधना का पालन करने पर इन दोनों धाराओं से मुक्त हो सकते हैं। यह शुरूआत यदि श्रावक अवस्था में ही हो जाए, अर्थात् बारह व्रतों के साथ साधना तब साधु अवस्था में प्रवेश करना सुलभ रहता है। बाह्य आचार अथवा आन्तरिक साधना दोनों में से किसी एक का भी खण्डन होने पर आरंभ की शुरूआत होती है।

विरुवरूवेही—विविध प्रकार के उद्देश्यों से एक अर्थ यह भी होता है—विविध प्रकार के संकल्प-विकल्पों के कारण।

जे आयारे ण रमंति—व्यक्ति का मन किस प्रकार आत्मगत परिणामों में रमण कर सके।

गुरु कौन? गुरु वही होता है, जो जानता है कि किस प्रकार, किस उपाय से शिष्य का मन आत्मा में रमण करता रहे। मूल बात यही है कि कैसे उसे साधना में प्रसन्नता का अनुभव हो सके, प्रसन्नतापूर्वक आत्मगत भावों में रमण कर सके और यह बात वही सुसाधु, गुरु, देख सकता है जो स्वयं आत्मगत भावों में रमण करता है;

अन्यथा संभव नहीं है। संसार में सबसे कठिन कार्य यदि कोई है तो वह है चित्त का निरोध। लेकिन सद्गुरु की शरण में यह सहज हो सकता है। यही सद्गुरु की शरण का महत्त्व है।

गुरु की क्या आवश्यकता है? गुरु उपाय बताता है कि किस समय क्या आवश्यकता है? ध्यान आवश्यक है या प्रार्थना या भक्ति या जाप या तप या कायोत्सर्ग इत्यादि। साधना भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार बदलती है। जैसे औषध तो वही है, परन्तु भिन्न-भिन्न रूप से देनी होती है। मूल बात वही है कि कैसे आत्मगत भावों में रमण हो सके।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

प्रथम उद्देशक

आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में सामान्यतः जीव के अस्तित्व का, आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है तथा पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवों की सजीवता को स्पष्ट प्रमाणित करके यह बताया गया है कि षट्काय का आरम्भ-समारम्भ करने से कर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-परम्परा का प्रवाह बढ़ता है। इसलिए इस बात पर बल दिया गया है कि मुमुक्षु को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होना चाहिए; क्योंकि आरम्भ समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होने पर ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यदि एक शब्द में कहें तो प्रथम अध्ययन में साधना के मूलभूत अंग अहिंसा का सूक्ष्म, विस्तृत एवं यथार्थ विवेचन किया गया है।

आध्यात्मिक साधना में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, साधना का मूल केन्द्र है। सभी धार्मिक अनुष्ठान इसी से जीवन पाते हैं; इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं। अहिंसा के अभाव में कोई भी साधना जीवित नहीं रह सकती और न संयम में ही तेजस्विता रहती है। इसलिए जैन संस्कृति के उन्नायकों ने इसे साधना में सर्वप्रथम स्थान दिया है। पंच महाव्रतों में पीछे के चारों महाव्रत अहिंसा से संबद्ध हैं। जिस साधक के जीवन में अहिंसा का, दया का, अनुकम्पा का, साम्यभाव का झरना नहीं बह रहा है, वहां सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का विकास होना भी असंभव है। अहिंसा के शीतल, सरस एवं मधुर जल से अभिसिंचित होकर ही साधना का वृक्ष हरा-भरा रह सकता है, पल्लवित-पुष्पित हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा साधना का प्राण है। सूत्रकार के शब्दों में स्पष्ट ध्वनित होता है कि “जो षट्काय के आरम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, अन्य नहीं”।

अहिंसा की साधना के लिए जीवों का परिज्ञान होना ज़रूरी है। इस अपेक्षा से

प्रथम अध्ययन में विभिन्न योनियों में परिभ्रमणशील जीवों के अस्तित्व का विवेचन किया गया है। इससे मन में यह जानने की सहज ही जिज्ञासा होती है कि यह संसार क्या है और इस पर विजय कैसे पाई जा सकती है? इस प्रश्न का समाधान द्वितीय अध्ययन में किया गया है। इसके 'लोकविजय' नाम से भी इस बात का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—'लोकविजय'। लोक की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक का अर्थ है—कषाय या राग-द्वेष, जो भाव-लोक कहा जाता है। उसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र आदि भी लोक माने गए हैं, परन्तु प्रमुखता भावलोक की है; क्योंकि द्रव्यलोक का अस्तित्व भावलोक पर आधारित है। कारण स्पष्ट है कि राग-द्वेष एवं कषाय-युक्त परिणामों से कर्म का बन्धन होता है और परिणामस्वरूप आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करती रहती है। इसी परिभ्रमण का नाम संसार है और इस संसार का मूल बीज राग-द्वेष है। और राग-द्वेष भावलोक हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि द्रव्यलोक का मूल भावलोक है। अतः भावलोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर द्रव्यलोक पर विजय सहज ही हो जाती है। मूल का उन्मूलन कर देने पर शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्प आदि का विनाश तो स्वयं ही हो जाता है; क्योंकि उनको सारा पोषण मूल से मिलता है। मूल के अभाव में उन्हें पोषण नहीं मिलेगा और खुराक के अभाव में वे जीवित नहीं रह सकते। मूल का नाश होते ही उनका भी विनाश हो जाता है। इसलिए साधक को यह प्रेरणा दी गई है कि वह द्रव्यलोक पर विजय पाने की अपेक्षा भावलोक पर विजय पाने का प्रयत्न करे। भावलोक—राग-द्वेष का सर्वथा उन्मूलन करने का प्रयत्न करे। राग-द्वेष का उच्छेद कर दिया, तो फिर द्रव्यलोक का उच्छेद तो स्वतः ही हो जाएगा। यह कहावत सोलह आना सत्य है कि 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी'। अतः साधक को अपनी शक्ति, अपनी साधना की शक्ति राग-द्वेष एवं कषाय रूप भावलोक पर विजय पाने में लगानी चाहिए। साधक का एकमात्र ध्येय एवं लक्ष्य यही होना चाहिए। इसी बात की प्रबल प्रेरणा देते हुए सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे गुणे से मूलदृष्टाणे, जे मूलदृष्टाणे से गुणे। इति से

गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो-पुणो वसे पमत्ते-तंजहा-माया मे, पिया मे भज्जा मे पुत्ता मे, धूआ मे, ण्हुसा मे, सहिसयणसंगंथसंथुआ मे, विवित्तुवगरणपरिवहणभोयणच्छायणं मे । इच्चत्थं गड्ढिए लोय वसे पमत्ते अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं तंजहा॥63॥

छाया—यः गुणः स मूलस्थानं यत् मूलस्थानं स गुणः । इति स गुणार्थी महता परितापेन पुनः-पुनः वसेत् प्रमत्तः तद्यथा—माता मे, पिता मे, भ्राता मे, भार्या मे, भगिनी मे, पुत्राः मे, दुहिता मे, स्नुषा मे, सखि-स्वजन-संग्रन्थ-संस्तुता मे, विविक्तोपकरण परिवर्तनभोजनाच्छादनं मे । इत्येवमर्थं गृह्यो लोकः वसेत् प्रमत्तः । अहश्च रात्रिश्च परितप्यमानः काला कालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थालोभी, आलुम्पः, सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः-पुनः अल्पं च खलु आयुष्कमिहैकेषां मानवानां तद्यथा—

पदार्थ—जे—जो । गुणे—शब्दादि गुण हैं । से—वे । मूलठाणे—मूल-स्थान-संसार का मूल कारण हैं । जे—जो । मूलठाणे—मूलस्थान हैं । से—वे । गुणे—गुण हैं । इति—इसलिए । से—वह । गुणट्ठी—गुणार्थी—विषयों का अभिलाषी । महयापरियावेणं—महान् परिताप एवं दुःखों के अनुभव या संवेदन से । पुणो-पुणो—बार-बार । वसे पमत्ते—प्रमाद में बसता है । प्रमाद राग-द्वेष रूप होता है, इसलिए सूत्रकार राग की उत्पादक सामग्री का निर्देश कर रहे हैं । तंजहा—जैसे कि । माया मे—मेरी माता है । पिया मे—मेरा पिता है । भाया मे—मेरा भ्राता है । भइणी मे—मेरी बहिन है । भज्जा मे—मेरी पत्नी है । पुत्ता मे—मेरे पुत्र हैं । धूआ मे—मेरी पुत्री है । ण्हुसा मे—मेरी पुत्रवधू है । सहिसयणसंगंथसंथुआ मे—मेरा सखा, स्वजन-स्नेही, मित्र का मित्र एवं बार-बार मिलने वाला है । विवित्तुवगरणपरिवहण भोयणच्छायणं मे—मेरे उपकरण, भोजन—खाद्य-सामग्री एवं वस्त्र आदि सुन्दर हैं । इच्चत्थं—इस प्रकार के अर्थों में । गड्ढिए लोए—आसक्त व्यक्ति । वसे पमत्ते—प्रमादी बनकर रहते हैं । अहो—दिन । यः—और । राओ य—रात्रि में । परितप्पमाणे—सर्व प्रकार से संतप्त होता हुआ । कालाकाल समुट्ठाई—समय और असमय में सम्यक्तया उठने वाला ।

संजोगट्ठी—संयोग का अभिलाषी । अट्ठालोभी—धन का लोभी । आलुपे—गलकर्तन, चोरी-डाका आदि दुष्कर्म करता है । सहसाकारे—बिना सोचे-विचारे कार्य करने वाला । विणिविट्ठचित्ते—विभिन्न विषयों में जिसका मन संलग्न है । एत्थ—इन माता-पिता आदि परिजनों या शब्दादि विषयों में आसक्त बना व्यक्ति । सत्थे पुणो-पुणो—बार-बार शस्त्र से षट्काय की हिंसा करता है । च—और । खलु—निश्चय से । इह—इस संसार में । एगेसिं—कितने एक । माणवाणं—मनुष्यों का । अप्पं आउयं—अल्प आयुष्य है । तंजहा—जैसे कि ।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण हैं, वे मूलस्थान-कषाय रूप संसार का मूल कारण हैं और जो मूल स्थान हैं वही शब्दादि गुण हैं । इस तरह गुणार्थी विषयों का अभिलाषी व्यक्ति महान् परिताप एवं दुःखों का संवेदन करता हुआ बार-बार प्रमत्त होकर मोहरूप, रागद्वेष-रूप संसार में निवास करता है और राग-द्वेष में आसक्त वह कहता है—कि यह मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहिन है, मेरी पत्नी है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्रवधू है, मेरा मित्र स्वजन-स्नेही एवं विशिष्ट परिचित हैं, मेरे सुन्दर हाथी-घोड़े, ऐश्वर्य, विपुल खाद्य-सामग्री एवं वस्त्राभूषण हैं, उक्त पदार्थों में आसक्त बना प्राणी रात-दिन संतप्त रहता है, और काल या अकाल में अर्थात् प्रतिसमय अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए सावधान रहता है । वह धन का लोभी दूसरे का गला काटने या चोरी-डाका डालने जैसा दुष्कर्म करने एवं बिना सोचे-समझे अविवेक और दुर्विचारपूर्वक कार्य करने में संकोच नहीं करने वाला तथा येन-केन-प्रकारेण धन-उपार्जन करना ही जिसका ध्येय बना हुआ है, वह व्यक्ति बार-बार छह काय की हिंसा के लिए विभिन्न शस्त्रों का प्रयोग करता है और इस संसार में कई जीवों का आयुष्य बहुत थोड़ा होता है । जैसे कि—

हिन्दी-विवेचन

प्रथम अध्ययन में एक सूत्र आया है 'जे गुणे से आवट्टे.....' अर्थात् जो गुण हैं, वही आवर्त हैं । इस सूत्र की प्रस्तुत सूत्र के इस वाक्य से—जो गुण हैं वे मूलस्थान हैं और जो मूलस्थान हैं, वे गुण हैं—तुलना करते हैं; तो गुण को आवर्त—संसार कहने का कारण स्पष्टतः समझ में आ जाता है । संसार का मूल कषाय है और कषाय के आश्रय ये गुण हैं, अतएव गुण को संसार कहना उपयुक्त ही है । क्योंकि गुणों में

रम्यमान व्यक्ति के मन में राग-द्वेष, कषाय एवं आसक्ति-युक्त भावों से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम-स्वरूप संसार के प्रवाह को प्रवहमान करने के लिए गति-प्रगति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण भी संसार के कारण हैं, इसलिए उन्हें आवर्त कहा गया है और वास्तव में कषाय का आधार होने के कारण उन्हें आवर्त-संसार कहना उचित ही है।

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि गुणों के कारण आत्मा में तृष्णा, आसक्ति, कषाय एवं राग-द्वेष आदि का उद्भव होता है और आत्मा ऐन्द्रिय राग-रंग एवं भौतिक सुखों में संलग्न होता है, काय-भोग में प्रवृत्त होता है। यों साधारणतः काम-भोग शब्द का प्रयोग विषय-वासना की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है और काम-भोग का एक दूसरे से भिन्न अर्थ न समझ कर उसे एकार्थक ही समझा जाता है। वैषयिक दृष्टि से काम-भोग का इन्द्रियों एवं उनके विषय से सीधा संबन्ध होने से काम-भोग शब्दादि विषय रूप होने से एकरूपता के बोधक भी हैं। परन्तु इन्द्रियों एवं उनकी विभिन्नता के कारण काम-भोग भी अपना-अपना भिन्न एवं स्वतंत्र अर्थ रखते हैं। कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आकर्षण से इन्द्रियों में स्पन्दन होता है, और आत्मा उनके द्वारा हर्ष एवं शोक का संवेदन भी करती है; इस प्रकार उक्त विषय से काम-वासना उद्बुद्ध होती है परन्तु वे इन्द्रियाँ उन विषयों के साथ सीधा उपभोग नहीं करतीं और कुछ इन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ सीधा भोगोपभोग करके ही वासना में प्रवृत्त होती हैं। इसी विभिन्नता की अपेक्षा से आगम में श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय को कामी और शेष इन्द्रियों को भोगी कहा है। चक्षु एवं श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय की ग्रहण करने में इतनी पटु हैं कि उनका स्पर्श किए बिना ही आत्मा को उनकी अनुभूति करा देती हैं, परन्तु शेष तीनों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का अपने साथ सीधा संबन्ध होने पर ही अथवा यों कहिए, उनका भोग-उपभोग करके ही उन्हें ग्रहण करती हैं। इस अपेक्षा से काम-भोग भिन्न अर्थ-बोधक दो विषय हैं।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि काम-भोग में होने वाली प्रवृत्ति राग-द्वेषजन्य होती है। इस कारण विषय-वासना में आसक्ति बढ़ती है और उससे संसार-संबन्ध प्रगाढ़ होता है और आत्मा की गति साधनाविमुख हो जाती है और वह सांसारिक सुख-साधनों, भोगोपभोगों को बढ़ाने तथा संसार-संबन्धों में इतनी आसक्ति बन जाती

है कि अपने एवं प्राणिजगत के हिताहित को भूल कर दुष्कर्म में प्रवृत्त होते ज़रा भी संकोच नहीं करती। इतिहास साक्षी है और हम स्वयं देखते हैं कि व्यक्ति जब अपने स्वार्थ में केन्द्रित होता है, तब कितना अनर्थ कर बैठता है। आज राष्ट्र में व्याप्त रिश्वत, चोर-बाजारी एवं लूट-खसूट आदि की घटनाएं तथा छल-कपट, धोखा और विश्वासघात करने के षड्यन्त्र स्वार्थी मनोवृत्ति के ही परिणाम हैं। इसी बात को सूत्रकार ने “अट्ठालोभी अलुपे, सहसाकारे विणिविट्ठ चित्ते.....” वाक्य से स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य धन के पीछे इतना पागल एवं उन्मत्त बन जाता है कि वह भयंकर-से-भयंकर पाप को करने के लिए उद्यत हो जाता है। उस समय वह उसके दुःखद परिणाम की ओर से आंख मून्द कर पाप के प्रज्वलित दावानल में कूद पड़ता है।

वह पाप कार्य में निमज्जित व्यक्ति सदा अपने परिवार में आसक्त रहता है और अपने व्यक्तिगत एवं परिवारगत स्वार्थों को साधने के लिए विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है। वह कहता है कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है तथा इसके साथ मेरा भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू या स्वजन-स्नेही का संबन्ध है। ये मेरे प्रिय हैं, दुःख-सुख के साथी हैं, ऐसा समझ कर प्रमादी व्यक्ति विभिन्न शस्त्रों एवं विभिन्न उपायों एवं षड्यन्त्रों से अनेक प्राणियों को परिताप देता है, कष्ट देता है तथा उनके धन-वैभव एवं प्राणों को लूटता है। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वार्थ, धनप्राप्ति तथा परिजनों में आसक्त होकर पापों में प्रवृत्त होता है और उसके परिणामस्वरूप भविष्य में मनुष्य बनकर भी अल्प आयु में ही मर जाता है। यदि दीर्घ आयु भी प्राप्त कर ले, तो भी उस का जीवन सुख-शांति से व्यतीत नहीं होता। उसका जीवन अन्य के लिए तो क्या, उसके स्वयं के लिए बोझिल हो जाता है। वह रात-दिन संकटों के झूले में झूलता रहता है। उसे किस प्रकार के दुःखों का संवेदन करना पड़ता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सोयपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णानेहिं
परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, रसणपरिण्णानेहिं
परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णानेहिं, परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु
वयं संपेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयति॥64॥

छाया—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षु परिज्ञानैः परिहीयमानैः घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसनापरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, अभिक्रान्तं च खलु वयः सम्प्रेक्ष्य ततः (सः) तस्य एकदामूढ-भावं जनयति ।

पदार्थ—सोयपरिण्णानेहिं—श्रोत्र परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—सर्वतः हीन होने पर । चक्षुपरिण्णानेहिं—चक्षु परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । घ्राणपरिण्णानेहिं—घ्राण परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । रसना-परिण्णानेहिं—रस परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । फासपरिण्णानेहिं—स्पर्श परिज्ञान के । परिहायमाणेहिं—हीन होने पर । च—और । खलु—निश्चय ही । वयं—यौवन वय । अभिक्रान्तं—अभिक्रान्त हो गया—बीत गया है, तब फिर । संपेहाए—विचार कर देखा जाए तो । से—वह प्राणी । तओ—तत्पश्चात्— इन्द्रिय परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवन वय के निकल जाने से । एगदा—वृद्धावस्था में प्रविष्ट होने पर । मूढ भावं—मूढ़ भाव को । जणयति—प्राप्त होता है ।

मूलार्थ—सदा पाप कार्यों में प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एवं वृद्धावस्था में प्रविष्ट होते ही मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाता है ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन जन्म और मृत्यु का समन्वित रूप है । अपने कर्म के अनुसार जब से आत्मा जिस योनि में जन्म ग्रहण करती है, तब से काल उसके पीछे लग जाता है और प्रतिसमय वह मृत्यु के निकट पहुंचता है, या यों कहना चाहिए कि उसका भौतिक शरीर प्रतिक्षण पुराना होता रहता है । यह ठीक है कि उसमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को हम अपनी आंखों से स्पष्टतः देख नहीं पाते, कुछ स्थूल परिवर्तनों को ही देख पाते हैं और इसी अपेक्षा से हम जीवन को चार भागों में बांट कर चलते हैं—1. बाल्य काल, 2. यौवन काल, 4. प्रौढ़ अवस्था और 4. वृद्धावस्था ।

बाल्य काल जीवन का उदयकाल है । यौवन काल में जीवन में शक्ति का विकास होता है; मनुष्य भला या बुरा जो चाहे सो कर गुजरने की शक्ति रखता है ।

प्रौढ़ अवस्था में आकर शक्ति का विकासस्रोत रुक जाता है। धीरे-धीरे व्यक्ति इन्द्रियबल से निर्बल होने लगता है। यहीं से वृद्धावस्था का प्रारंभ हो जाता है। यह जीवन का जीर्ण-शीर्ण रूप है, इस काल में शक्ति का, स्वास्थ्य का, इन्द्रियों का, शरीर का, अर्थात् यों कहिए जीवन के सभी बाह्य अवयवों का हास होने लगता है। कान, आंख, नाक, जिह्वा और त्वचा की शक्ति कमजोर हो जाती है। इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में भी कठिनाई होने लगती है। बूढ़े का जीवन-निर्वाह भी कठिन एवं बोझिल हो जाता है। वह अपने जीवन से तंग होकर दुःख एवं संक्लेश का अनुभव करने लगता है। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने बहुत ही सुंदर कहा है—

गात्रं संकुचितं, गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशंगताः,
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
धिककष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते॥

अर्थात्—वृद्धत्व के आते ही शरीर में झुर्रिया पड़ जाती हैं, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, दांत गिर जाते हैं, दृष्टि कमजोर पड़ जाती है या नष्ट हो जाती है, रूप-सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेती है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन-स्नेही उसके आदेश का पालन नहीं करते, पत्नी सेवा-शुश्रूषा से जी चुराती हैं, पुत्र भी उसकी अवज्ञा करता है। कवि कहता है कि ओह! इस वृद्धत्व के कष्ट का क्या पार है? धिक्कार है, इस जरा ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने वृद्धावस्था के इसी चित्र को उपस्थित किया है। इस अवस्था में शारीरिक शक्ति एवं इन्द्रिय बल इतना क्षीण हो जाता है कि व्यक्ति अपने एवं परिजनों के लिए बोझ रूप बन जाता है। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति प्रायः मूढ़भाव को प्राप्त हो जाते हैं अथवा इसके प्रहारों से अत्यधिक प्रताड़ित होने के कारण उनमें कर्तव्य-अकर्तव्य का भी विवेक नहीं रह जाता है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, फिर इसमें वृद्धावस्था के आने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों का ज्ञान मन्द क्यों हो जाता है? क्या ज्ञान अवस्था के

अधीन रहता है? यदि ऐसा नहीं है, तो वृद्धावस्था में ज्ञान की बोधकता शिथिल क्यों हो जाती है?

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका—संसारी आत्मा के ज्ञान का अवस्था के साथ नहीं, कर्म के साथ संबन्ध है। हम देखते हैं कि कुछ बालकों में ज्ञान का इतना विकास होता है कि युवक एवं प्रौढ़ व्यक्ति भी उनकी समानता नहीं कर सकते। कुछ वृद्धों में जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है और कुछ युवक एवं प्रौढ़ व्यक्तियों में भी ज्ञान का विकास बहुत ही स्वल्प दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का विकास अवस्था के अधीन नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। चाहे बाल्यकाल हो, युवाकाल हो या वृद्धावस्था का अन्तिम चरण हो, जितना ज्ञानावरणीय कर्म का अधिक या कम क्षयोपशम होगा, उसी के अनुरूप आत्मा में ज्ञान की ज्योति का परिदर्शन होगा। अस्तु, ज्ञान की स्वल्पता या विशेषता में जो विचित्रता देखी जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता एवं अधिकता के आधार पर ही स्थित है।

दूसरा प्रश्न इन्द्रियों से संबद्ध है। इसमें इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रियों का नहीं। वह सदा आत्मा के साथ रहता है। इन्द्रियों के अभाव में भी ज्ञान का अस्तित्व बना रहता है। अतः ज्ञान का इन्द्रियों के साथ सीधा संबन्ध नहीं है। फिर भी इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है, इसका कारण यह है कि ये छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान के साधन हैं, निमित्त हैं। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का इतना आवरण छाया रहता है कि वह बिना किसी साधन के किसी पदार्थ का बोध नहीं कर सकती। वह मति और श्रुतज्ञान के द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान करती है और उक्त दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें आगम में परोक्ष ज्ञान कहा गया है, क्योंकि ये इन्द्रियों के आधार पर आधारित हैं। अतः छद्मस्थ अवस्था में जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उतना ही आत्मा में ज्ञान का विकास होता है। जैसे साधारणतः मति और श्रुत ज्ञान में इन्द्रिय-सहयोग की अपेक्षा रहती है, परन्तु उसकी विशेष अवस्था जाति-स्मृति ज्ञान में अपने निरन्तर सन्नी पंचेन्द्रिय के किए हुए भवों को देखने-जानने में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती और अवधि ज्ञान एवं मनःपर्यव ज्ञान युक्त व्यक्ति इन्द्रियों की

सहायता के बिना ही मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों एवं सन्नी पंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को जान-देख लेता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है, तो फिर वह संसार के समस्त पदार्थों को और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को अपने आत्मज्ञान से स्पष्ट देखने-जानने लगता है। इन्द्रियों का अस्तित्व रहते हुए भी उसे उनके सहयोग की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियों का सहयोग मति और श्रुतज्ञान तक ही अपेक्षित है और ये इन्द्रियां जानने के साधन मात्र हैं।

इन्द्रियां पांच मानी गई हैं—1. श्रोत, 2. चक्षु, 3. घ्राण, 4. रसना और 5. स्पर्श इन्द्रिय। द्रव्य और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो भेद किए गए हैं। द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति और उपकरण रूप से है तथा भाव इन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप से है¹। इन्द्रियों के बाह्य आकार को द्रव्य इन्द्रिय कहते हैं और उसके अन्दर देखने, सुनने, सूंघने आदि की जो शक्ति है, उसे भाव इन्द्रिय कहते हैं, वह लब्धि एवं उपयोग रूप में रहती है। उसके होने पर ही आत्मा इन द्रव्येन्द्रियों से पदार्थों का ज्ञान करती है। भाव इन्द्रिय के अभाव में द्रव्येन्द्रिय कोई कार्य नहीं कर सकती। आंख और कान का आकार तो बना हुआ है, परन्तु उसके साथ भाव इन्द्रिय नहीं है या लब्धि एवं उपयोग आवृत हो गया है, तो उस आंख एवं कान के आकार से न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों की पटुता एवं मूढ़ता क्षयोपशम के आधार पर स्थित है।

यह स्पष्ट है कि इन्द्रियां जड़ हैं। जड़ होने के कारण शरीर के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन आता है। वृद्धावस्था में शरीर के साथ ये भी जीर्ण हो जाती हैं और चेतना के निकलने के बाद निष्प्राण शरीर की तरह इनका भी कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अतः समय के साथ इनमें भी परिवर्तन आता है, इनकी शक्ति भी क्षीण होती है। परन्तु इतना अवश्य है कि यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिक है, तो उसकी इन्द्रिय जीर्ण होने पर भी पदार्थों का बोध करने में पटु ही रहेगी और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम है तो युवा काल में भी उनकी ग्रहण शक्ति कमजोर दिखाई देगी। हम देखते हैं कि बहुत-से वृद्ध व्यक्ति बिना ऐनक लगाए ही

अच्छी तरह देख लेते हैं, उनकी सुनने, सूंघने आदि की शक्ति में भी कमी दिखाई नहीं देती और कई युवक ऐसे भी देखे जाते हैं कि वे बिना ऐनक के देख ही नहीं सकते। अतः द्रव्य इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी उनमें अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षयोपशम पर आधारित है।

यह हम पीछे के उद्देशकों में देख चुके हैं कि हिंसा एवं आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहने से पाप कर्म का बन्ध होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आत्मा आवृत होती है और फलस्वरूप इन्द्रियों में ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाती है। हम यह स्वयं देखते हैं कि जब मनुष्य की इन्द्रियां ठीक तरह काम नहीं करती हैं, मस्तिष्क में चिन्तन शक्ति कम रह जाती है, तब उसे कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता है और यह सारी स्थिति कर्मोदय पर आधारित है। अतः जो व्यक्ति विषयों में आसक्त होकर परिजनों के व्यामोह में फंसता है, उनमें आसक्त होकर अपने एवं परिजनों के स्वार्थ के लिए विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह व्यक्ति पापकर्म का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप वृद्धावस्था में उसकी इन्द्रियां शिथिल हो जाने से वह मूढ़ता को प्राप्त होता है।

ऐसी अवस्था में जिन परिजनों के लिए वह पाप कार्य में प्रवृत्त हुआ था, वे भी उससे दूर होकर किस तरह उसकी निन्दा करने लगते हैं, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जेहिं वा सद्धिं संवसति तेऽपि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽपि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा, से ण हासाय, ण किड्ढाए, ण रतीए, ण विभूसाए॥65॥

छाया—यैः वा सार्द्धं संवसति तेऽपि एकदा निजकाः (आत्मीयाः) पूर्वं परिवदन्ति सोऽपि तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत्—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा, स न हास्यय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै।

पदार्थ—वा—यह शब्द पक्षान्तर या भिन्न क्रम का द्योतक है। जेहिं—जिनके।

सद्धि—साथ। संवसति—रहता है। तेऽवि—वे पत्नी-पुत्र आदि। णं—वाक्यालंकार में। एगदा—वृद्धावस्था आने पर। णियगा—स्वजन-स्नेही। पुत्विं—जिनका पहले पालन-पोषण किया था वे। परिवयंति—उस वृद्ध का तिरस्कार करते हैं, उसके मरने की प्रतीक्षा करते हैं। सोऽवि—वह वृद्ध भी। ते णियए—उन संबन्धियों की। पच्छा—पीछे से। परिवएज्जा—निन्दा करता है, भले ही किसी कारण से स्वजन-संबन्धी तिरस्कार न करे, तब भी। ते—से संबन्धी। तव—तेरे। ताणाए—त्राण के लिए। वा सरणाए—अथवा शरण के लिए। वा—परस्पर का बोधक है। णालं—समर्थ नहीं होते हैं, और। तुमपि—तू भी। तेसिं—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा सरणाए—अथवा शरण के लिए। णालं—समर्थ नहीं है। वा—पक्षान्तर में। से—वह वृद्ध। ण हासाय—न तो हास्य-विनोद करने योग्य रहता है। ण किड्ढाए—न क्रीड़ा करने योग्य रहता है। ण रतीए—न भोग-विलास करने योग्य होता है। ण विभूसाए—न विभूषा करने योग्य होता है, वह परिजनों के साथ किसी भी तरह के सांसारिक आनन्द लेने योग्य नहीं रहता है, परिजनों के लिए वह एक तरह से निरर्थक हो जाता है।

मूलार्थ—यह जीव जिन परिजनों के साथ रहता है और जिसने विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होकर परिवार का परिपोषण किया था, वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है, तो परिजन उसकी निन्दा करने लगते हैं, तिरस्कार जन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनके कटु वचन एवं व्यंग्य सुनकर वह वृद्ध भी उनसे घृणा करने लगता है, उनके चले जाने के बाद पीछे से उनकी निन्दा करता है। भले ही कोई परिजन निन्दा या तिरस्कार न भी करे, तब भी उस वृद्धत्व के दुःख एवं संकट से कोई भी परिजन उसका त्राण करने, उसे शरण देने में समर्थ नहीं है और वृद्धावस्था में व्यक्ति हास्य-विनोद करने, क्रीड़ा—विभिन्न खेल खेलने, भोग-विलास करने एवं शृंगार-विभूषा करने के योग्य भी नहीं रह जाता है। वह किसी भी तरह के सांसारिक सुखोपभोग के योग्य नहीं रह जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें बताया गया है कि जीवन सदा एक-सा नहीं रहता है। आयु में अनेक उतार-चढ़ाव आते

रहते हैं और उसमें विभिन्न तरह के अनुभव एवं परिस्थितियां सामने आती हैं। व्यक्ति जिन पर पूरा विश्वास करता था और जिनके लिए अपना धर्म-कर्म भुलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे किस तरह बदल जाते हैं तथा उनके जीवन-व्यवहार को देखकर तथा अपनी अशक्त अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध के मन में अपने परिजनों के प्रति जो भाव उद्बुद्ध होते हैं, प्रस्तुत सूत्र में उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्रायः बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर में शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते हैं, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते हैं। यह आदर-सम्मान एवं सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नहीं, अपितु उससे पूरा होने वाले स्वार्थ की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-संपत्ति के ढेर लगते रहते हैं, सुख-साधनों में अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणों के गीत गाए जाते रहते हैं। परन्तु प्रायः शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य के वर्तमान में परिवर्तित हो जाता है। अब उसे यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि “दुनिया में काम प्रिय है, चाम नहीं” अर्थात् जब तक काम करो, तब तक ही दुनिया का प्यार—स्नेह मिलता है, फिर नहीं।

इस तरह दुनिया के अधिकांश संबंध स्वार्थ की भीति पर आधारित हैं। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि वृद्धावस्था में इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए संक्लेश का कारण बन जाते हैं और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता है। क्योंकि, वृद्धावस्था में शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एवं तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगड़ने लगता है। खांसी से सारे घर के वातावरण को अशांत कर देता है, जगह-जगह कफ एवं खंखार थूक-थूक के कमरे को एवं आने-जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। ये सारी स्थितियां लड़कों एवं पुत्र-वधुओं के लिए भयावनी बन जाती हैं। उनका सारा समय बूढ़े के द्वारा यत्र-तत्र बिखरे गए कफ आदि को साफ करने में ही बीत जाता है। इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी नित नई मांगों एवं आकांक्षाओं से तो

वे परिजन चितित से हो जाते हैं। उसकी इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं, शरीर जर्जरित हो जाता है, पर एक वस्तु अब भी क्षीण नहीं होती, बल्कि उसकी शक्ति अधिक प्रबल हो उठती है, वह है—तृष्णा, आकांक्षा, लालसा। इस अवस्था में भी उसकी अभिलाषा बढ़ती ही रहती है। आचार्य शंकर ने भी कहा है—“केश पककर के श्वेत हो गए, शरीर के सारे अंग जीर्ण शीर्ण एवं शिथिल हो गए, मुंह में एक भी दांत नहीं रहा और लकड़ी के सहारे के बिना न खड़ा रह सकता है और न गति ही कर सकता है; फिर भी उसकी तृष्णा-आशा एवं अभिलाषा अभी भी शांत नहीं हुई, अपितु अपरिमित है। वह अभी भी तृष्णा की ज्वाला में जल रहा है।”¹

वृद्ध की शारीरिक विकृतियों एवं आशा-आकांक्षाओं तथा खाने-पीने की नित्य नई मांगों से परिजन घबरा जाते हैं और वे दुःखित मन से उसकी मरण-समय की प्रतीक्षा करते हैं। प्रतीक्षा ही नहीं, अपितु भगवान से प्रार्थना भी करते हैं कि इस बूढ़े को जल्दी उठा ले। इस प्रकार स्वार्थ समाप्त होते ही वह वृद्ध बोझ रूप प्रतीत होने लगता है। घर में उसका कोई विशेष आदर-सम्मान नहीं करता और न उसकी बात पर विशेष ध्यान ही दिया जाता है। अपने ही घर में अपनी यह स्थिति देखकर उसे दुःख एवं वेदना होती है। परन्तु परिजनों के सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता और कहे भी तो उससे कुछ बनता नहीं। इसलिए वह उनके चले जाने के बाद उनकी निन्दा करके अपना दिल हल्का कर लेता है।

इस तरह पाप में प्रवृत्तमान व्यक्ति वृद्धावस्था के आने पर दुःखी हो जाता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान में संलग्न होकर संसार को और अधिक बढ़ा लेता है। परन्तु उस समय उसका कोई संरक्षक नहीं होता। न धन उसका संरक्षण कर सकता है और न परिवार ही। कुछ परिजन ऐसे भी मिल सकते हैं कि वे उसे बोझ रूप समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उसे आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वे भी उसे वृद्धावस्था के दुःखों से बचा नहीं सकते और न उसे अपनी शरण में लेकर उन

1. अंगं गलितं पलितं मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुंचति आशा पिण्डम्॥

भज गोविन्दं, भज गोविन्दम्! भज गोविन्दं, मूढमते!! भज गोविन्दं॥

दुःखों से निर्भय ही कर सकते हैं¹। यदि उसे कोई शरण देने वाला है, तो केवल एक धर्म है। धर्म की शरण में जाने के बाद फिर जरा और मरण का प्रवाह सूखने लगता है, अर्थात् वह उन दुःखों से मुक्त हो जाता है।² इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह धन, यौवन, भोग-विलास एवं परिवार में आसक्त नहीं बने और अपने एवं पारिवारिक स्वार्थ को पूरा करने के लिए रात-दिन पाप कार्यों में प्रवृत्त न रहे।

प्रस्तुत सूत्र में अशरण भावना का वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था का चित्र चित्रित करके यह बताया गया है कि संसार में दुःख एवं विपत्ति के समय कोई किसी को शरण नहीं देता। इसलिए व्यक्ति को उस समय आर्त रौद्र ध्यान में न पड़कर अपने आत्म-चिन्तन में लगना चाहिए और समय पर किसी की शरण में न जाना पड़े, इसके लिए पहले से ही सावधान होकर गति करनी चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पाप कार्य से सदा दूर रहना चाहिए, विवेक एवं संयम के साथ कार्य करना चाहिए। क्योंकि संयम एवं धर्म ही सच्चा साथी है, सहायक है एवं शरण देने वाला है।

परन्तु उन धर्मयुक्त व्यक्तियों का जीवन कैसा होना चाहिए? इसलिए उनके प्रशस्त आचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इच्चेवं समुट्ठिण्ण अहोविहाराण अन्तरं च खलु इमं संपेहाण धीरे मुहुत्तमवि णो पमायण वओ अच्चेति जोव्वणं व॥66॥

छाया—इत्येवं समुत्थितः अहो विहाराय, अन्तरं च खलु इदं संप्रेक्ष्य धीरः मुहूर्तमपि नो प्रमादयेत् वयोऽत्येति यौवनं च (अत्येति)।

पदार्थ—इच्चेवं—इस प्रकार। अहोविहाराण—संयम अनुष्ठान के लिए। समुट्ठिण्ण—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। इमं च खलु अन्तरं—और इस अवसर को। संपेहाण—भली-भाँति सोच-विचार कर। धीरे—धैर्यवान् व्यक्ति को। मुहुत्तमवि—मुहूर्त मात्र भी। णो पमायण—प्रमाद नहीं करना चाहिए। व—अथवा, प्रमाद

1. दुःख एवं आपत्ति से बचाने को त्राण कहते हैं और अपनी शरण में लेकर उस दुःख से निर्भय कर देने की स्थिति को शरण कहते हैं।

2. जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।

धम्मो दीवो पड्डा य, गइ सरणमुत्तमं॥

इसलिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि। वओ—बाल्य काल। अच्छेई—बीत रहा है, और। जोव्वणं—यौवन भी बीत रहा है।

मूलार्थ—इस प्रकार त्राण एवं शरण का सम्यक्तया विचार करके मुमुक्षु पुरुष को संयमानुष्ठान के लिए उद्यत होना चाहिए, क्योंकि बाल्य एवं यौवन काल निरंतर बीत रहा है, इसलिए संयम में मुहूर्त मात्र भी, अर्थात् थोड़ा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

जीवन परिवर्तनशील है, प्रवाहमय है। वह सदा एक-सा नहीं रहता है। प्रायः चिन्ताओं, उलझनों से युक्त, सहज, स्वाभाविक और सुखद बाल्यकाल एवं यौवन का सुनहरा प्रवाह बह निकलता है और बुढ़ापे की कालिमा उसे आ घेरती है। अतः उस समय कोई भी स्नेही-साथी उसके दुःख को दूर करने या बंटाने में समर्थ नहीं होता। इस बात को सम्यक्तया जानकर, समझकर विवेकशील व्यक्ति को धर्म एवं साधना पथ पर गति करने में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन में धर्म ही एक मात्र सहायक है। क्योंकि धर्म से पाप कर्मों का नाश होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ज्योति प्रज्वलित होती है, चिन्तन-मनन में स्थिरता आती है, आचार में तेजस्विता आती है। इससे संकल्प-विकल्प का वेग कम होता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान की धारा धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान में बदल जाती है। इससे आत्मा में अपूर्व तेज एवं शक्ति की अनुभूति होती है और आत्मा सारे दुःखों एवं वेदनाओं से ऊपर उठकर आत्मसुख के अनन्त आनन्दमय झूले में झूलने लगती है। दुःख की तपती दुपहरियों में भी वह आत्मसुख की शीतल, सरस, सघन एवं सुखद कुंज में विहार करती है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य को जीवन की अस्थिरता को भली-भाँति जान कर वृद्धावस्था आने से पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और जरा एवं मृत्यु के शत्रुओं को परास्त करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक शस्त्रों को प्रबल एवं तीक्ष्ण बनाने के लिए अनवरत जागृत रहना चाहिए अथवा संयम-साधना में क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए¹।

यह हम देख चुके हैं कि वृद्धावस्था में शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस समय जीवन संबन्धी अनेक चिन्ताएं एवं अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियां उसे दबा लेती हैं, ऐसे समय में उसका मन चिन्तन-मनन एवं धर्मसाधना में लगना कठिन है। उस समय वह जीवन की चिन्ताओं के बोझ से इतना दब जाता है कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। इसलिए सर्वज्ञों ने मानव को सावधान करते हुए कहा है कि उसे धर्म एवं साधना करने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए¹। क्योंकि किसे पता है कि कौन सा समय, कौन सा क्षण उसके लिए काल के रूप में आ उपस्थित हो। अतः मनुष्य को आने वाले प्रत्येक समय को काल का, मृत्यु का दूत समझ कर उसे सफल बनाने में प्रत्यनशील रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में इसी मूल स्थान की ओर निर्देश किया गया है कि उसे पूर्व जन्म के पुण्य एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से जो आर्य क्षेत्र, शुद्ध आचारयुक्त कुल एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप धर्म साधन उपलब्ध हुए हैं, आत्म विकास में उनका उपयोग करने में उसे प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यौवन एक तरह से कल्पवृक्ष है, वह सब कामनाओं को पूरी करने में समर्थ है। इससे अर्थ और काम रूप विष भी प्राप्त किया जा सकता है और धर्म एवं मोक्ष रूप अमृत भी और दोनों के परिणाम दुनिया के सामने हैं। बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो विष की ज्वाला से अपने आपको बचाते हुए धर्म पथ पर गति करता है। यदि कभी वह अर्थ और काम के पथ पर बढ़ता है, तब भी धर्म और मोक्ष की भावना को साथ लेकर गति करता है, यों कहना चाहिए कि उसका भोग त्याग प्रधान होता है। काम की अंधेरी गुफा में भी धर्म एवं त्याग का प्रकाश लेकर प्रविष्ट होता है, तो वहां भी मार्ग पा लेता है। अस्तु, इस यौवन के सुनहरे क्षणों को व्यर्थ न खोकर मनुष्य को अप्रमत्तभाव से धर्म में संलग्न रहना चाहिए।

आत्मज्ञान का प्रकाश मनुष्य को इधर-उधर की ठोकड़ों से बचाता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य होकर काम-वासना में संलग्न रहते हैं, वे विषय-वासना के बीहड़ एवं भयावने जंगल में भटक जाते हैं। वे पथभ्रष्ट व्यक्ति अनेक दुष्प्रवृत्तियों में

1. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्डइ।

जाविदिया न हायति, ताव धम्मं समायरो॥

...दशवैकालिक सूत्र, 8/36,

प्रवृत्त होकर जीवन के सुनहरे समय को यों ही बर्बाद कर देते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा॥67॥

छाया—जीविते इह ये प्रमत्ताः, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयित्ता, विलुम्पयित्ता, अपद्रावयित्ता, उत्त्रासयित्ता, अकृतं करिष्यामीति मन्यमानः यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजका तं पूर्वमेव पोषयन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् पोषयेत्। नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि नालं त्राणाय वा शरणाय वा।

पदार्थ—इह—इस संसार में। जीविए—असंयम जीवन में। जे—जो। पमत्ता—प्रमत्त है। से—वह—असंयत व्यक्ति। हंता—जीवों को मारता है। छेत्ता—भेत्ता—जीवों के अंगोपांग का छेदन-भेदन करता है। लुंपित्ता—ग्रंथि आदि काटता है। विलुंपित्ता—पूरे परिवार या गांव आदि की घात—हत्या करता है। उद्दवित्ता—विष या किसी शस्त्र से जीवों की हत्या करता है। उत्तासइत्ता—पत्थर आदि मारकर प्राणियों को संत्रस्त करता है। अकडं करिस्सामित्ति—धन-ऐश्वर्य एवं सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिए वह काम मैं करूंगा जो कार्य अन्य किसी ने न किया हो। मण्णमाणे वा—ऐसा मानता हुआ वह उस हिंसाजन्य कर्म में प्रवृत्त होता है। जेहिं—जिनके। सद्धिं—साथ। संवसइ—रहता है। ते वा—वे व्यक्ति ही। णं—वाक्यालंकार अर्थ में। एगया—धन-संपत्ति के नाश होने पर। नियगा—स्वजन-स्नेही। पुव्विं—पहले ही। तं—उसको। पोसेंति—पोषण करते हैं। वा—अथवा। सो—वह। ते—उन। नियगे—परिजनों को। पच्छा—पश्चात्। पोसिज्जा—पोषण करता है, किन्तु। ते—वे। तव—तेरे। ताणाए—आपत्ति से बचाने के लिए। वा—अथवा। सरणाए—भय रहित करने के लिए। नालं—समर्थ नहीं हैं। वा—यह परस्पर अपेक्षा का द्योतक है। तुमंपि—तू

भी । तैसिं—उनके । ताणाए—त्राण के लिए । वा—अथवा सरणाए—शरण के लिए ।
नालं—समर्थ नहीं है । वा—यह शब्द पारस्परिक अपेक्षा का द्योतक है ।

मूलार्थ—इस संसार में जो जीव असंयम्य जीवन व्यतीत करने वाला है, वह प्रमत्त कहा जाता है । प्रमत्त जीव ही अन्य जीवों को मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियों का नाश करता है, त्रास देता है । आज पर्यन्त जो काम किसी ने नहीं किया, वह मैं करूंगा, इस प्रकार मानता हुआ अर्थोपार्जन करने के लिए जीवों के हनन आदि में प्रवृत्त होता है ।

जिनके साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते हैं । तत्पश्चात् रोगादि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा उन अपने सम्बन्धियों का भी पोषण करता है तथा भगवान् कहते हैं कि हे मनुष्य ! पोष्य और पोषक व तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे और न ही तू उनके त्राण और शरण के लिए समर्थ हो सकेगा ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में असंयमी, विषयाभिलाषी एवं प्रमत्त व्यक्तियों के जीवन का वर्णन किया गया है । इसमें बताया गया है कि विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति अपने भोगोपभोगों के साधनों को जुटाने के लिए अनेक प्राणियों का छेदन-भेदन करते हैं एवं अनेक प्राणियों के धन-वैभव पर हाथ साफ करते हैं । इस प्रकार वे लूट-खसूट एवं छल-कपट आदि विभिन्न उपायों से प्राणियों को त्रास देकर भोग-विलास में संलग्न रहते हैं । उनके इस कार्य में परिजन भी सहयोगी बन जाते हैं । जब वह व्यक्ति बीमार या कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, तो वे परिजन उसका पोषण करते हैं । क्योंकि उसके सहारे पर ही इनका भोग-विलास चलता है । इसलिए वे उसे स्वस्थ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते हैं । और वह प्रमादी व्यक्ति भी रात-दिन उनका पोषण करने में लगा रहता है । इस प्रकार परस्पर सहयोग के द्वारा एक-दूसरे के पाप कार्यों को प्रोत्साहन देते हैं । परन्तु जब मृत्यु सिर पर आकर खड़ी होती है, उस समय संसार का कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता और न उसे अपनी शरण में लेकर मृत्यु के भय से मुक्त या निर्भय ही कर सकता है । उस समय में उस प्रमादी व्यक्ति के परिजन उसकी तनिक भी सहायता नहीं कर पाते हैं

और न ऐसे समय में वह भी अपने परिजनों का सहयोगी बन सकता है। अतः इसका निष्कर्ष यह निकला कि संसार में कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नहीं दे सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी व्यक्तियों के लिए एक वचन का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि प्रमत्त जाति सामान्य की अपेक्षा से सभी प्रमादी व्यक्तियों का एक ही जाति के रूप में वर्णन किया गया है। व्यवहार में भी हम जाति विशेष के लिए एक वचन का भी प्रयोग करते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि काल की कराल चपेट से कोई भी व्यक्ति बचाने में समर्थ नहीं है। उस समय परिवार भी उससे किनारा कर लेता है। ऐसी स्थिति में धन-वैभव उसके क्या काम आ सकता है? जब चेतन व्यक्ति भी उसे काल से बचाने में समर्थ नहीं है, तो जड़ द्रव्य उसे क्या सहारा दे सकता है? अथवा कुछ भी सहारा नहीं दे सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचयो किज्जई, इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुब्बि परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा॥68॥

छाया—उपादित शेषेण वा संनिधिसन्निचयः क्रियते इहैकेषामसंयतानां भोजनाय, क्रियते ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुपपद्यन्ते, यैः वा सार्द्धं संवसति त एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् परिहरेत्, नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा।

पदार्थ—उवाइयसेसेण—उपभोग-व्यय करने के पश्चात् जो अवशेष बचा हुआ। वा—अथवा उपभोग में नहीं आया हुआ जो धन है, उसका। इहं—इस संसार में। एगेसिं—कई एक। असंजयाण—असंयत व्यक्तियों के। भोयणाए—उपभोग के लिए। संनिहिं—संग्रह और। संनिचयो—संचय। किज्जई—किया जाता है, परन्तु। तओ—संग्रह करने के पश्चात्। से—उसको। एगया—किसी समय। रोग-समुप्पाया—

ज्वर, कुष्ठ, तपेदिक आदि साध्य-असाध्य रोग। समुष्पज्जन्ति—उत्पन्न हो जाते हैं, तब।- जेहिं—जिनके। सद्धिं—साथ में। संवसइ—सम्यक्तया निवास करता है। वा—परस्पर समुच्चय के लिए। ते वा—वे ही। एगया—एक दिन रोगोत्पत्ति काल में। नियगा—उसके संबंधी। पुव्वि परिहरन्ति—पहले ही छोड़ देते हैं। वा—अथवा। सो—वह। ते नियगे—उन परिजनों को। पच्छा परिहरिज्जा—पीछे छोड़ देता है। ते—वे परिजन। तव—तेरे। ताणाय—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण देने के लिए। नालं—समर्थ नहीं होते। वा—परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। तुमपि—तू भी। तेसिं—उनके। ताणाए—त्राण के लिए। वा—अथवा। सरणाए—शरण के लिए। नालं—समर्थ नहीं हैं। वा—पूर्ववत्।

मूलार्थ—लोग अपने असंयत पुत्र, पौत्र आदि के लिए उपभोगावशिष्ट तथा अनुपभुक्त धन संभाल कर रखते हैं, किन्तु पुत्र आदि अन्तराय कर्म के उदय के कारण उस धन का उपभोग नहीं कर पाते।

असातावेदनीय कर्म के उदय से जब जीवों को रोग अक्रान्त कर लेते हैं, तब उनके साथ वाले साथी साथ नहीं देते, उन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। साथियों की इस स्वार्थमयी वृत्ति से खिन्न हुए दूसरे जीव भी अपने स्वार्थी सम्बन्धियों को, साथियों को छोड़ देते हैं, उनसे विरक्त हो जाते हैं।

भगवान कहते हैं कि हे शिष्य! मृत्यु की घड़ी में तेरे संबन्धी साथी तेरी रक्षा करने में तुझे शरण-सहारा देने में असमर्थ हैं। तू भी मृत्यु वेला में उनका त्राण नहीं कर सकता, न उन्हें शरण दे सकता है।

हिन्दी-विवेचन

मोह कर्म के उदय से प्रमादी प्राणी पर-पदार्थों में आसक्त रहते हैं। उन्हें अपने सुख का साधन एवं विपत्ति में सहायक के रूप में समझते हैं। इसलिए वे जीवन में धन-वैभव आदि को महत्त्व देते हैं और उसके संग्रह में रात-दिन लगे रहते हैं तथा अनेक प्रकार के पाप कार्य करते हुए भी संकोच नहीं करते। वे समझते हैं कि यह धन मेरे एवं मेरे पुत्र-पौत्र आदि के भोगोपभोग के काम आएगा, उनके लिए सुख का कारण बनेगा। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि जब एक खून के संबंध में आबद्ध

परिजन भी एक-दूसरे को शरण नहीं दे सकते, तब यह जड़ द्रव्य उनका सहायक कैसे होगा?

यही बात प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से समझाई गई है। सूत्रकार ने बताया है कि धन का प्रभूत संचय किया हुआ है, परन्तु वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोग ने आ घेरा तो उस समय वह धन एवं वे भोगोपभोग साधन उसका ज़रा भी दुःख हरने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। धन-वैभव को सनाथता एवं श्रेष्ठता का साधन मानने वाले पूंजीपतियों एवं सम्राटों की सनाथता को चुनौति देते हुए श्री अनाथी मुनि ने मगधाधिपति श्रेणिक को भी अनाथ बताया था, यह पूंजीवाद पर एक सबल व्यंग्य था। परन्तु इसमें सच्चाई थी, वास्तविकता थी। अनाथी मुनि ने वैभव की निस्सारता का चित्र उपस्थित करते हुए सम्राट श्रेणिक से कहा था कि हे राजन्! मेरे पिता प्रभूत, धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था। सुशील, विनीत एवं लावण्यमयी नवयौवना पत्नी थी परन्तु उस समय मेरे शरीर में दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। दिन-रात ज्वर की आग में जलता रहा; मैं ही नहीं मेरा सारा परिवार आकुल-व्याकुल हो गया, पत्नी रात-दिन आंसू बहाती रही, पिता ने मेरी वेदना को शांत करने के लिए धन को पानी की तरह बहाना आरम्भ कर दिया, फिर भी हे राजन्! वह धन, वह परिवार मेरी वेदना को शांत नहीं कर सका, मुझे शरण नहीं दे सका, इसलिए मैं उस समय अनाथ था। मैं ही नहीं, भोगों में आसक्त सारा संसार ही अनाथ है, क्योंकि ये भोग दुःख एवं संकट के समय किसी के रक्षक नहीं बनते हैं¹।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “उवाइयसेसेण” शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—“अद्भक्षणे, इत्येतस्मादुपपूर्व्वानिष्ठा प्रत्ययः, तत्र बहुलं छन्दसी-तीडागमः, उपादि तम्—उपमुक्तं, तस्य शेषमुपभुक्तशेषं, तेन वा, वा शब्दादनुपभुक्तशेषेण वा” अर्थात्—उप पूर्वक अद् भक्षणे धातु से ‘क्त’ प्रत्यय किए जाने पर ‘बहुलं छन्दसि’ इस सूत्र से इट् का आगम कर देने से ‘उपादित-उवाइय’ रूप सिद्ध हो जाता है। और उसका अर्थ होता है—उपभुक्त—उपभोग में आए हुए धन में से अवशिष्ट—शेष बचा हुआ जो अब तक भोगने में नहीं आया है।

‘संनिहिसंनिचयो’ पद का अर्थ है—“सम्यग् निधीयते अवस्थाप्यते उपभोगाय

योऽर्थं स सन्निधिस्तस्य सन्निचयः प्राचुर्यम् उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः” अर्थात् भोगोपभोग के लिए विभिन्न पदार्थों एवं धन-वैभव का अत्यधिक संग्रह करना।

परन्तु यह स्पष्ट है कि रोग के आने पर न तो वह द्रव्य ही उसे असातावेदनीय कर्म या दुःख की संवेदना से बचा सकता है और न उसका संरक्षक ही उसे असाता वेदनीय कर्म या दुःख की संवेदना से बचा सकता है और न उसका संरक्षक ही उसे बचा सकता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को धन-वैभव के संग्रह में आसक्त न होकर समभाव पूर्वक वेदनीयकर्म के उदय से प्राप्त कष्ट को सहन करके, उक्त कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसे यह दुःख एवं वेदना प्राप्त हुई है। रोग आदि दुःख एवं वेदना के समय किस तरह समभाव रखना चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं॥69॥

छाया—ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम्।

पदार्थ—पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी के। सायं—सुख और। दुक्खं—दुःख को। जाणित्तु—जानकर; प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए।

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को जानकर मनुष्य को अपने ऊपर आए हुए रोगादि कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

सुख और दुःख दोनों एक ही वृक्ष के फल हैं। वह वृक्ष है—वेदनीय कर्म। यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही पेड़ के दो विपरीत गुण वाले फल कैसे हो सकते हैं? इसमें आश्चर्य जैसी बात नहीं है। वेदनीय कर्म रूपी वृक्ष की दो शाखाएं हैं—एक शुभ और दूसरी अशुभ और उन दोनों शाखाओं से उभय रूप फल प्राप्त होते हैं, जबकि दोनों का मूल वेदनीय कर्म एक ही है। हम देखते हैं कि कई ऐसे वृक्ष हैं, जिन पर अनेक प्रकार के फल लगते हैं, विभिन्न रंगों के पुष्प खिलते हैं। आज वैज्ञानिकों ने इस बात को स्पष्ट दिखा दिया है। जापान में एक ही वृक्ष पर 27 प्रकार के फलों की कलमें लगाई गई और यह प्रयोग सफल भी रहा है, अर्थात् उस वृक्ष से 27 प्रकार के

फल प्राप्त हो रहे हैं। रूस में भी ऐसे प्रयोग किए जा चुके हैं। वैज्ञानिक और भी प्रयोग करने में संलग्न हैं। जब ये संसार के पेड़-पौधे अनेक प्रकार के फलों एवं विभिन्न रंगों के पुष्पों से पुष्पित एवं फलित हो सकते हैं, तो फिर वेदनीय कर्म के वृक्ष से सुख-दुःख रूप दो प्रकार के फलों का प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस तरह साधक सुख और दुःख रूप उभय फलों को वेदनीय कर्मजन्य जानकर समभाव पूर्वक संवेदन करे। न सुख में आसक्त बने और न दुःख में हाहाकार करे। परन्तु अपने किए हुए कर्म के फल समझकर शान्ति के साथ उनका संवेदन करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जाणित्तु' और 'पत्तेयं' शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। 'जाणित्तु' पद से यह अभिव्यक्त किया है कि प्रत्येक वस्तु को पहले जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञान के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। अतः दुःख में समभाव की साधना भी ज्ञान युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। और 'पत्तेयं' से यह बताया है कि दुनिया में सर्वत्र व्यापक एक आत्मा नहीं, अपितु अनेक आत्माएं हैं और उन सब आत्माओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'दुक्खं' और 'सायं' शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक संसारी आत्मा को प्राप्त सुख-दुःख उसके कृतकर्म के फल हैं, न कि किसी शक्ति द्वारा दिए गए वरदान या अभिशाप रूप प्राप्त हैं। व्यक्ति पापाचरण से अशुभ कर्मों का बन्ध कर के दुःखों को प्राप्त करता है और सत्कार्य में प्रवृत्त होकर शुभ कर्म बन्ध से सुख साधनों को उपलब्ध करता है।

अतः साधक को प्राप्त दुःख एवं वेदना में घबराना नहीं चाहिए, अपितु समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए। और वेदना में संलग्न मन की, विचार की, चिन्तन की धारा को आत्मचिन्तन की ओर मोड़ देना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणभिवक्कतं च खलु वयं संपेहाए॥७०॥

छाया—अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य।

पदार्थ—च और खलु शब्द क्रमशः अधिक और पुनरर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

अणभिवक्तं वयं—अभी धर्म करने योग्य अवस्था अवशेष है, ऐसा। संपेहाए—विचार कर, आत्म-चिन्तन में संलग्न होना चाहिए।

मूलार्थ—आत्म-साधना का समय अभी शेष है, ऐसा सोच-विचार कर साधक को आत्म-अन्वेषण में संलग्न होना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि हे साधक! तू संसार की अवस्था को जान-समझकर तथा सम्यक्तया अवलोकन करके आत्म चिन्तन में संलग्न हो। क्योंकि अभी तुम्हारे शरीर पर वार्धक्य एवं रोगों ने आक्रमण नहीं किया है, तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियां भी सशक्त हैं, ऐसी स्थिति में समय को व्यर्थ में नष्ट मत कर, क्योंकि इस अवस्था के बीत जाने पर इन्द्रियों की शक्ति कमजोर हो जाएगी, अनेक रोग तेरे शरीर पर आक्रमण करके उसे शक्तिहीन बना देंगे। फिर तू चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकेगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के लिए स्वस्थ शरीर एवं सशक्त इन्द्रियों का होना आवश्यक है। यह सब सापेक्ष साधन हैं। निश्चय दृष्टि से निर्वाण-प्राप्ति के कारण रूप क्षायिक भाव की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम भाव सहायक है, न कि औदयिक भाव और शरीर आदि की नीरोगता, साता वेदनीय कर्म के उदय से है, फिर यहां जो यौवन वय को साधना में लगाने को कहा है, उसका कारण यह है कि अभी शरीर क्षायिक भाव प्राप्ति का साधन है और साधना की सिद्धि के लिए साधनों का स्वस्थ एवं सशक्त होना जरूरी है। इसी अपेक्षा से एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा रह सकती है' क्योंकि रोग के कारण, मन सदा चिन्ताग्रस्त रहेगा और मन की अस्वस्थता के कारण आत्मचिन्तन ठीक तरह हो नहीं सकता; इसलिए साधना काल में स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है। इसलिए प्राप्त समय को सफल बनाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए॥71॥

छाया—क्षणं जानीहि पंडित!

पदार्थ—पंडिए—हे पंडित! आत्मज्ञानी! खणं—समय को। जानाहि—
जान-पहचान।

मूलार्थ—हे पंडित! तू साधना के समय को जान-पहचान।

हिन्दी-विवेचन

समय की गति बड़ी तेज है। समय प्रकाश, शब्द और विद्युत से भी अधिक तीव्र गति से भागता है। शब्द और विद्युत को आज हम पकड़ कर भी रख सकते हैं, परन्तु समय हमारी पकड़ से बाहर है। बीता हुआ समय कभी भी लौटाकर नहीं लाया जा सकता। इसीलिए आगम में कहा गया है कि द्रुतगति से भागने वाले समय को जानकर साधक को उसे सफल बनाने में सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ऐसा सुअवसर बार-बार मिलना कठिन है।

‘क्षण’ शब्द का अर्थ है—अवसर या समय। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, सशक्त इन्द्रियाँ आदि की प्राप्ति द्रव्य क्षण है। आर्यक्षेत्र, आर्यकुल और आर्यधर्म की प्राप्ति क्षेत्रक्षण है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के वे आरे जिनमें धर्म की साधना की जा सके—जैसे अवसर्पिणी काल का तृतीय, चतुर्थ और पंचम आरा तथा महाविदेह क्षेत्र का सभी काल, कालक्षण है। क्षयोपशम आदि भाव की प्राप्ति भावक्षण है।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म-साधना में सहायक साधन क्षण है और ऐसे समय को प्राप्त करके साधक को साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि समय को जानने वाला व्यक्ति ही पंडित है। अतः साधक को चाहिए कि प्राप्त क्षणों को प्रमाद में नष्ट न करे। इस बात को उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा,
घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा,
फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं
अपरिहीणेहिं आयट्ठ सम्मं समणुवासिज्जासि। त्ति बेमि॥७२॥

छाया—यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि,

घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिह्वा परिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि इत्येतैः विरूपरूपैः प्रज्ञानैः अपरिहानैः आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेत् । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—जाव—जब तक । सोयपरिण्णाणा—श्रोत्र विज्ञान । अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ । नेत्त परिण्णाणा—नेत्र विज्ञान । अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ । घ्राणपरिण्णाणा—नासिका विज्ञान । अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ । जीहपरिण्णाणा—रसना का परिज्ञान । अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ । फरिसपरिण्णाणा—स्पर्श विज्ञान । अपरिहीणा—हीन नहीं हुआ । इच्चेएहिं—ये सब । विरूपरूपेहिं—विविध रूप वाले । पण्णाणेहिं—प्रकृष्ट ज्ञान । अपरिहीणेहिं—हीन नहीं हुआ, अर्थात् इनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई । आयट्ठं—आत्मा के लिए आत्महित के लिए । सम्मं—सम्यक्तया । समणुवासिज्जासि—प्रयत्न करे । त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जब तक श्रोत्र विज्ञान हीन नहीं हुआ, चक्षु विज्ञान हीन नहीं हुआ, घ्राण विज्ञान हीन नहीं हुआ, जिह्वा विज्ञान हीन नहीं हुआ, स्पर्शेन्द्रिय विज्ञान हीन नहीं हुआ, इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानों का जब तक हास नहीं हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित में निवास करना चाहिए, अर्थात् आत्महित के लिए प्रयत्न करना चाहिए । ऐसा मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

हम यह देख चुके हैं कि व्यक्ति शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता तथा सशक्त अवस्था में ही साधना कर सकता है । चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति निर्बल हो जाने के बाद वह भली-भाँति साधना मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता । न वह अपना आत्महित ही साध सकता है और न ठीक तरह से प्राणियों की रक्षा ही कर सकता है । इसलिए शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता के रहते ही साधक को आत्मसाधना में संलग्न हो जाना चाहिए । यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है ।

‘आयट्ठं’ पद का अर्थ आत्मार्थ है । प्रस्तुत प्रकरण में आत्मार्थ से आत्मा की वास्तविक निधि ज्ञान, दर्शन, चरित्र लिए गए हैं । क्योंकि उक्त त्रयरत्न की सम्यग् आराधना से ही मोक्ष रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है और यही साधक का मूल

लक्ष्य है। या यों कह सकते हैं कि जिस साधना से आत्मा का हित हो उसी का नाम आत्मार्थ है। इस अपेक्षा से भी रत्नत्रय ही आत्मा के लिए हितकर हैं, क्योंकि इनकी साधना से ही आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'आयट्ठं' का संस्कृत रूप 'आयतार्थ' भी बनता है। आयत का अर्थ होता है—ऐसा स्वरूप जिसकी कभी समाप्ति न हो। आयत मोक्ष को कहते हैं, अतः मोक्षप्राप्ति के लिए जो साधना की जाए उसे 'आयार्थ' कहते हैं। इस अपेक्षा से भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप रत्नत्रय की साधना को ही स्वीकार किया गया है।

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि शरीर की स्वस्थता एवं इन्द्रियों में शक्ति रहते हुए साधक को संयम-साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे विषय-वासना, धन एवं परिजनों की आसक्ति का त्याग कर आत्मसाधना में प्रवृत्त होना चाहिए। इसीसे आत्मा लोक पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुख-शान्ति-रूप निर्वाण को पा सकेगा।

'त्तिबेमि' का अर्थ प्रथम अध्ययन की तरह समझना चाहिए।

॥प्रथम उद्देशक समाप्त॥



अध्यात्मसार : 1

मूलम्—सोयपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णानेहिं परिहायमाणेहिं अभिक्कं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति॥2/1/64॥

मूलार्थ—पाप-कार्यों में सदा प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एवं वृद्धावस्था में प्रविष्ट होते ही मूढभाव को प्राप्त हो जाता है।

वृद्धावस्था में मनुष्य की जो दशा होती है, यहां उसका वर्णन है। अनेक साधु-साध्वी जिनमें कई विद्वान होते हैं और जिन्हें अनेक आगमों का ज्ञाता कहा जाता है, वृद्धावस्था में वे भी मूढभाव को प्राप्त होते हैं। इसका क्या कारण है?

यहाँ जो वर्णन है, वह ऐसे व्यक्ति का है, जो गृहस्थ है और जो घर एवं परिवार के बीच रहता है। और उसे मतिभ्रम एवं मूढभाव होता है। लेकिन जिन्होंने घर-परिवार इत्यादि के त्याग का संकल्प लिया है, ऐसे साधु-साध्वीजनों की ऐसी दशा क्यों होती है—इसका मूल कारण है—मनोगुप्ति की साधना का अभाव। जिसने बाह्य चारित्र का पालन तो किया, परन्तु आन्तरिक साधना के अभाव में, समाधिमरण योग्य, चित्त उपशान्ति योग्य कषायों का उपशमन रूप योग्य स्थैर्य उपलब्ध नहीं हुआ। केवल द्रव्यश्रुत इतना सहयोगी नहीं बनता, भावश्रुत का जागरण आवश्यक है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत के जागरण का आधार तो है, पर भावश्रुत का जागरण तभी होता है, जब बाह्य आचार के साथ आभ्यंतर साधना भी हो। वस्तुतः मनोगुप्ति ही भावश्रुत को जगाती है, वही मूल है।

इसीलिए भगवान ने कहा—जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हो जाएँ, व्यक्ति को साधना में लीन हो जाना चाहिए।

धर्म क्या है? कैसे हम स्वभाव में स्थिर हो जाएँ, कैसे हम मन को साध लें? धर्म

का मूल है, मनोगुप्ति की साधना। यदि यह साधना इन्द्रियों के बलवान रहते हो गयी तब जाकर बुढ़ापे में यह अवस्था, मूढ़ता, मतिविभ्रम इत्यादि नहीं आते।

जो मनोगुप्ति की साधना करता है, वही सच्ची संलेखना एवं समाधिमरण को उपलब्ध हो सकता है। यही राजमार्ग है। अपवाद रूप से कभी-कभी प्रबल पुण्य के उदय से अन्तिम समय समाधिमरण की प्राप्ति होकर गति सुधर जाती है। इस प्रकार समाधिमरण का राजमार्ग है, मनोगुप्ति और अपवाद है पुण्योदय। इस प्रकार मूल में है। आभ्यन्तर साधना उसी के सहयोग हेतु बाह्य आचार आवश्यक है।

जीवनभर यदि मन को साधा न हो, तब अन्तिम समय उत्तर अवस्था में यह सब करना मुश्किल है। इसलिए व्यक्ति को जिस मार्ग पर भी चलना हो पूर्णतया समर्पित होकर चलना चाहिए। यदि साधु भी बनें तो उच्चतम और यदि श्रावक भी बनें तो उच्चतम। अगर छल-कपट करोगे तो कहीं के भी न रहोगे। इसलिए धर्म रूपी रत्न ऐसे ही किसी को नहीं दिया जा सकता। फिर व्यक्ति का मन कहीं भी नहीं लगता। निश्चित ही साधु-धर्म उत्तम है, लेकिन वैसी योग्यता भी चाहिए, मूल में व्यक्ति की साधना चाहिए, साधना भी बिना काल के परिपक्व नहीं होती। साधना करे तो परिवर्तन भी हो सकता है। सत्य, सत्य होता है। सत्य का सामूहिक होना आवश्यक नहीं है, वह सामूहिक हो भी सकता है और नहीं भी।

मूढ़भाव क्यों होता है? क्योंकि आत्मबोध होता नहीं और आत्मबोध के अभाव में जब इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं, तब इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी विभ्रमयुक्त हो जाता है।

ऐसे विभ्रमयुक्त ज्ञान की अवस्था में व्यक्ति सोचता कुछ है और करता कुछ है। उसके आचरण मन-वचन एवं काया की क्रियाओं में विसंगति एवं असंबद्धता उत्पन्न हो जाती है। जैसे यह शरीर है, युवावस्था में बल रहने पर तुम कोई अस्वास्थ्यपूर्ण आचरण या शरीर धर्म के विरुद्ध कोई कार्य भी करो तो शरीर उसे सह लेता है। लेकिन वृद्धावस्था में शरीर फिर निर्बल होने पर अनेक प्रकार की तकलीफें चालू होती हैं।

जैसे किसी व्यक्ति के दस मालिक हों, कोई ऊपर की दिशा में, कोई नीचे की तरफ, कोई दायें, कोई बायें और सभी व्यक्ति उसे एक साथ बुलाएं और यदि वह न

जाए, तब दण्ड मिले, तब धीरे-धीरे उसकी हालत कैसी हो जाएगी? तब धीरे-धीरे वह व्यक्ति तनावयुक्त होकर विक्षिप्त-सा हो जाएगा।

इसी प्रकार वृद्धावस्था में शरीर की क्षमता और इन्द्रियों का बल अति क्षीण हो जाता है, किन्तु जीवनभर के संस्कारों के वश मन की इच्छाएं अधिक प्रबल एवं मन की तृप्ति अतृप्त रहती है। तब वह चाहता है इच्छा को पूर्ण करना, मन को तृप्त करना। लेकिन शरीर व इन्द्रियाँ साथ नहीं देतीं, तब उसके चित्त में एक तनाव उत्पन्न होता है। वह बहुत कुछ करना चाहता है, लेकिन कर कुछ भी नहीं पाता, तब एक प्रकार का चिड़चिड़ापन और व्याकुलता जागती है। अतृप्त इच्छाएं और अधिक प्रबल हो जाती हैं, जिससे उन्माद जागता है। वह स्वयं के जीवन से घृणा करने लग जाता है और आसपास की परिस्थिति एवं सम्बन्धियों के प्रति तिरस्कार जागता है। इस प्रकार वह सब पर भार रूप बन जाता है। जो उसकी सेवा करना चाहते हैं और उसके प्रति स्नेहभाव रखते हैं, वे भी उसके चिड़चिड़ेपन एवं तनावयुक्त व्याकुलता के कारण उससे दूर हो जाते हैं। .

इसका निवारण कैसे हो? यदि जीवन में व्यक्ति ने शरीर-शुद्धि की साधना की हो, आसन-प्राणायाम आदि किये हों, जिसने आसनस्थैर्य के माध्यम से शरीर को साधा है और जो मनोगुप्ति की साधना में निपुण है, ऐसा व्यक्ति मूढ़भाव को प्राप्त नहीं होता। वृद्धावस्था आने पर इन्द्रियाँ क्षीण हो जाने पर वह विवेक और धैर्य से काम लेता है। इसके साथ आसपास के संयोग भी काम करते हैं जैसे मित्र, परिवार, संबंधी इत्यादि। प्रतिदिन यदि समाधिमरण की भावना की जाए, इस मनोरथ का उच्चभाव से भव्य चिन्तन हो, तब समाधिमरण की योग्यता एवं अवसर में वृद्धि होती है।

यहाँ पर हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमारे दुःख का कारण कोई व्यक्ति या परिस्थिति नहीं है। साधारणतः सुख-दुःख के लिए जिम्मेदार हम किसी व्यक्ति या परिस्थिति को देखते हैं। लेकिन अगर व्यक्ति थोड़ा तत्त्वज्ञ है, तब वह कर्म को जिम्मेदार ठहराता है कि कर्म के कारण मुझको दुःख आया। लेकिन व्यक्ति यह देख नहीं पाता कि आधि-व्याधि-उपाधि रूप दुःख कर्मों के कारण नहीं हैं।

दुःख का एक ही कारण : अज्ञान

अज्ञानवश दुःख है। ज्ञान आ जाए तब आनंद है। इसलिए धर्म छोटी-छोटी तकलीफों को दूर करने के लिए नहीं है। धर्म तो है कि अज्ञान का परिहार कैसे हो, बिना ज्ञान मिले आज यदि सुख आ भी गया, तब वह कल पुनः दुःख रूप हो जाएगा। मूलतः सुख का एक ही कारण है, ज्ञान और दुःख का कारण है, अज्ञान। संसार का कारण है कर्म और कर्म का कारण है कषाय और कषाय का कारण है अज्ञान। ज्ञान होते ही चित्त शांत हो जाएगा और वह ज्ञान है, आत्मबोध। उस आत्मबोध हेतु जो मार्ग है, उसीको हम व्यवहारनय से धर्म कहते हैं। निश्चय में आत्म-रमण करना ही धर्म है।

साधना

कर्म कभी आत्मा को दुःखी नहीं कर सकते। कर्म तो पुद्गल हैं और पुद्गल का प्रभाव पुद्गल पर पड़ता है, आत्मा पर नहीं। जैसे हमारे कर्म हैं, वैसे ही भगवान् के भी कर्म थे। अज्ञानी के भी कर्म का उदय होता है और ज्ञानी के भी। लेकिन एक व्यक्ति जो व्याकुल होता है, जिसका चित्त चंचल होता है और दूसरा व्यक्ति शान्त, समाधिस्थ, आनंदित रहता है। कर्म के उदय से आसपास की परिस्थितियाँ शरीर की अवस्था और मन के विचार बदलते हैं। लेकिन सबके उदय होते हुए भी हम समाधि में रहें, इन सबसे अप्रभावित रहें, यही साधना है। बाह्याचार इस समाधि अवस्था में रहने हेतु हमें सहयोग देता है, एक वातावरण देता है। आभ्यंतर साधना हमारी समाधि को परिपुष्ट और बलवान बनाती है। इस प्रकार मूल बात है किसी भी प्रकार के संयोगों से प्रभावित नहीं होना। लेकिन यदि साधना निरन्तर चलती रही तो स्वयमेव ये लक्षण प्रकट होंगे। जैसे सम्यग् दर्शन के ये लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्था। यह सब प्रकट कब होगा, सोचने-विचारने से नहीं, अपितु साधना से होगा, क्योंकि साम्यभाव हमारा शुद्ध स्वभाव है—जितना व्यक्ति साम्यभाव में पुष्ट होगा, उतना ही ज्ञान भी प्रकट होगा। इसी को भगवान ने सामायिक कहा, अर्थात् स्व में स्थित रहना।

सामायिक—श्रावक के लिए दो घड़ी की सामायिक अभ्यास के लिए है। सामायिक

से यहाँ कई अपेक्षाएँ हैं। शुद्ध सामायिक तो है अपने स्वभाव में रहना, लेकिन साम्यभाव की भी अनेक अवस्थाएँ हैं—

उत्तम है—‘संकल्प-विकल्प की विचलितता रहित शुद्ध वीतराग-भाव से ‘रमण’। यदि इस प्रकार दो घड़ी की निरन्तरता रहे, तब केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त साम्यभाव की अनेक अवस्थाएँ हैं। संकल्प-विकल्प की विचलितता के आधार पर ये सारे भेद हैं। यह इस प्रकार है जैसे पानी ठहर जाए और शांत हो जाए। किसी भी एक आलम्बन पर चित्त की स्थिरता छद्मस्थ अवस्था में दो घड़ी से अधिक नहीं रहती। इस प्रकार दो घड़ी की सामायिक श्रावक के लिए अभ्यास रूप है। साधु के लिए तो प्रतिक्षण की सामायिक है। श्रावक की सामायिक साधुत्व का अभ्यास है। साधु के लिए प्रतिक्षण मनोगुप्ति है और कभी आवश्यक प्रवृत्ति भी करनी हो, तब भी वह समितिपूर्वक करे।

सामायिक में श्रावक की साधना

1. स्वाध्याय—जैनत्व की झांकी, जैन तत्त्व प्रकाश आदि।
2. ध्यान—श्वास को देखना।
3. उँकार का उच्चारण एवं ध्यान।
4. प्रभु का नामस्मरण या नमस्कार मंत्र का जाप।
5. लोगस का काउस्सग।
6. स्तुति—स्तोत्र, प्रार्थना-भजन इत्यादि।

ध्यान और मनोगुप्ति की साधना : स्वाध्याय

सामायिक का अर्थ है—साम्य-भाव में स्थैर्य अथवा साम्यभाव की साधना। इन सभी आलम्बनों में भी मुख्य है ध्यान। इससे मन में जल्दी स्थिरता आती है, इससे मन की गति जल्दी ही अवरुद्ध होती है। कभी-कभी लगता है कि ध्यान में तो मन स्थिर नहीं रहता, लेकिन प्रार्थना, स्वाध्याय इत्यादि में मन लग जाता है। इसका कारण यह है कि प्रार्थना-स्वाध्याय आदि में आलम्बन बदलते रहने से मन में चंचलता का बोध नहीं होता, जबकि ध्यान में एक ही आलम्बन का आश्रय होने से मन में चंचलता का बोध तुरन्त हो जाता है। ऐसे देखा जाए तो जप भी अच्छा है। इसे हम

पदस्थ ध्यान कहते हैं, किसी पद का ध्यान करना। इस प्रकार सामायिक की मूल साधना है मनोगुप्ति—स्वाध्याय। यह मनोगुप्ति की साधना कैसे करनी, इसी की विधि बताते हैं।

भूलम्—जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुब्बि पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुभिं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा॥2/1/67

मूलार्थ—इस संसार में जो असंयत या असंयमी जीवन जीने वाला है, वह प्रमत्त कहा जाता है। प्रमत्त जीव ही अन्य जीवों को मारता है, उनका छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियों का नाश करता है और उन्हें त्रास देता है। ऐसा प्रमत्त व्यक्ति यह मानता है कि आज तक जो काम किसी ने नहीं किया, वह मैं करूंगा। इस प्रकार मानता हुआ वह अर्थोपार्जन करने के लिए जीवों के हनन इत्यादि में प्रवृत्त होता है।

जिनके साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते हैं। तत्पश्चात् रोगादि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा अपने उन संबन्धियों का भी पोषण करता है। अतः भगवान् कहते हैं कि हे मनुष्य! पोष्य और पोषक एवं तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे और न तू ही उनके त्राण एवं शरण के लिए समर्थ हो सकेगा।

समाज-संघटन का सूत्र

यहाँ 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' का दर्शन होता है। पहले व्यक्ति परिवार का पोषण करता है, जिससे परिवार की वृद्धि होती है और परिवार के सभी सदस्य यथोचित भोगोपभोग को प्राप्त करते हैं, फिर जब वह पोषणकर्ता रोगग्रस्त हो जाता है तो सभी परिवारी जन उसका सहयोग करते हैं।

'परस्परोग्रहो जीवानाम्' यह एक निरपेक्ष सूत्र है। परस्पर उपग्रह सहयोग पाप

को बढ़ाने वाला भी हो सकता है और धर्म की वृद्धि करने वाला भी हो सकता है। जैसे श्रावक का, गृहस्थ का परिवार होता है, वैसे ही साधु का गण होता है। गृहस्थ धन-सम्पत्ति एवं सुख की वृद्धि में एक दूसरे का सहयोग करता है, भोग-विलास में एक दूसरे का सहयोग करता है। साधुजन अन्योन्य-परस्पर संयम-साधना एवं धर्म की वृद्धि तथा संयम-निर्वाह में सहयोग देते हैं।

यह सूत्र एक प्रकार से प्रेम एवं मैत्री का भी सूचक है। सामान्य अर्थों में यह निर्देश करता है कि सभी जीव एक-दूसरे से कहीं-न-कहीं जुड़े हुए हैं। एक दूसरे का उन पर उपग्रह है। इस प्रकार यह एक सामाजिक सूत्र है। यह सूत्र आध्यात्मिक रूप से तभी महत्त्वपूर्ण बनता है, जब वह धर्म एवं साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है। जिस क्षेत्र की अपेक्षा से इसका अर्थ करेंगे, वैसा ही इसका अर्थ निकलेगा।

भगवान का तीर्थ भी परस्पर सहयोग पर टिका हुआ है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह तीर्थ का संयोजन करने वाला है। श्रमण वर्ग का श्रावक वर्ग को सहयोग है और श्रावक का श्रमणवर्ग को; फिर भी वे एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। वे एक दूसरे का सहयोग तो लेते हैं, परन्तु आश्रित नहीं हैं।

व्यक्ति : आश्रय के कारण

जब मन में किसी के प्रति आशा और अपेक्षा होती है। यह आशा कि वह मुझे सहयोग देगा ही। यह अपेक्षा कि उससे तो मुझे सहयोग मिलेगा ही। लेकिन साधक का भाव यह होना चाहिए कि सहयोग मिले तो भी ठीक है और न मिले तो भी ठीक है। साधक का अन्तःकरण निरपेक्ष होता है, क्योंकि यदि आशा होगी तो निराशा भी आएगी। फिर राग-द्वेष और सुख-दुःख का जन्म होगा। अतः साधु को किसी से आशा नहीं रखनी चाहिए। आशा दुःख की जननी है और संसार का विस्तार है।

व्यक्ति आशा क्यों रखता है—क्योंकि उसके मन में भ्रम है कि किसी से मुझे कुछ मिल सकता है, कोई मुझे सुख दे सकता है। वह अभी तक यह समझ नहीं पाया कि मैं स्वयं आनंद स्वरूप चिन्मय ज्योति हूँ। कोई मुझे न सुख दे सकता है और न दुःख। जब तक हमें अपने आनंद का पता नहीं है, तभी तक बाहर से सुख की चाह रहती है। निष्कर्ष यह है कि किसी से आशा आत्मअज्ञान के कारण होती है।

आशा अज्ञानस्वरूप है। भ्रम है। जब आशा होगी, तब आसरा या सहारा भी होगा, अर्थात् जो मेरी आशा पूरी करेगा, वही मेरा आसरा है, सहारा है।

तो क्या फिर मोक्ष की भी आशा नहीं रखनी चाहिए ? यह एक अस्वाभाविक प्रश्न है, क्योंकि मुमुक्षा कर्मों के क्षयोपशम से जागने वाला क्षायोपशमिक भाव है और आशा कर्मों के उदय से जागने वाला भाव है। आशा चित्त की चललता का आगमन है। मुमुक्षा—चित्तस्थैर्य का प्रतीक है। जैसे पहले एक शब्द आया 'दुगच्छणाए' अर्थात् आरंभ-समारंभ से स्वाभाविक निवृत्ति। इस प्रकार आत्मस्वरूप के प्रति वीतरागता के प्रति, योग स्थैर्य के प्रति रही हुई स्वाभाविक वृत्ति को मुमुक्षा कहते हैं। पूर्व में दिया गया शूकर का दृष्टान्त देखें।

मुमुक्षा केवल बौद्धिक संकल्प-विकल्प या विचार मात्र नहीं है। बौद्धिक चिन्तन और विचार सहयोगी बन सकते हैं। लेकिन वह मुमुक्षा का मूल स्वरूप नहीं है। जैसे सम्यक् दृष्टि बनने पर सम-संवेग इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। इसमें जो संवेग हैं वह मुमुक्षा है। जीव को स्वयमेव जीवन के सम्यक् तत्त्वों में रुचि आ जाती है। मुमुक्षा भी सभी की एक जैसी नहीं होती। जितनी-जितनी सम्यक्त्व एवं मोहकर्म की विशुद्धि होगी, उतनी ही मुमुक्षा तीव्र होगी। निश्चय में तो आत्मबोध होने पर व्यक्ति की रुचि जो पौद्गलिक आनंद से हटकर आत्मिक आनंद में जुड़ जाती है, उसे ही मुमुक्षा कहते हैं। समाधिमरण के मनोरथ से भी मुमुक्षा में सहयोग मिलता है।

सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु का अर्थ—ऐसे तो इसके अनंत अर्थ हैं। 1. सिद्ध भगवान् मुझे भी आपकी तरह सिद्धगति मिले, 2. मुझे सिद्धगति का मार्ग मिले, 3. इस मार्ग पर सदा ही दृढ़तापूर्वक चलता रहूँ।

प्रश्न—जब अरिहंत के नाम में सभी तीर्थकरों का समावेश हो जाता है, तब लोगस्स में सभी तीर्थकरों के नाम को अलग-अलग क्यों दिया?

ऐसे तो सिद्धों में सभी आ गये, क्योंकि सभी को सिद्ध होना है चाहे वह पंचपरमेष्ठी में से कोई भी हो; फिर भी हम व्यवहार दृष्टि से अलग-अलग वंदन करते हैं। जैसे आपने किसी पर उपकार किया, तब वह आपके प्रति कृतज्ञता दर्शाता है। स्वरूप दृष्टि से तो सभी एक जैसे ही हैं, फिर भी व्यवहार दृष्टि से हम भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार अरिहंत में सभी तीर्थकरों का समावेश हो जाता है; फिर भी व्यवहार

दृष्टि से सभी तीर्थकर भगवंतों का अलग-अलग स्मरण करने पर हमारे अंतःकरण में भक्ति जागृत होती है। उपादान की शुद्धि होती है, इन पवित्र नामों के स्मरण से आसपास का वातावरण पावन और पवित्र बनता है। हम पुद्गलों में जी रहे हैं, अतः यह पुद्गल स्वरूप शब्द पवित्र होने पर हमारे शरीर, वचन और मन को भी पवित्र बनाते हैं। सभी तीर्थकर भगवंतों के अधिष्ठाता देवगण होते हैं। अतः उनका भावपूर्वक स्मरण करने से वे दिव्य शक्तियाँ हमारे मिथ्यात्व का परिहार कर संयम-समाधि और सम्यक्त्व हेतु सहयोग करती हैं।

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं॥2/1/69

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को जानकर मुनष्य को अपने ऊपर आए हुए रोगादि कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

दुःख मृत्यु स्वरूप है। दुःख का संयोग और सुख का वियोग, क्योंकि प्रत्येक प्राणी की अभिलाषा है कि उसे सुख मिले। जब इस अभिलाषा के विपरीत होता है, तब उसे मृत्यु स्वरूप कष्ट प्रतीत होता है।

चैतन्य आनंद रूप है। इसलिए चैतन्य शब्द का प्रयोग हम आनंद के लिए, उत्साह के लिए करते हैं। जब व्यक्ति पूर्णतः निश्चल हो जाता है, तब हम कहते हैं मृत्यु हो गयी। दुःख आंशिक मृत्यु के समान है। आनंद चैतन्य स्वरूप है और सदैव मृत्यु स्वरूप है। ऐसे तो मृत्यु का अर्थ होता है प्राणों का वियोग। यहाँ पर त्राण व शरण की बात की है। वह दुःख की अपेक्षा से न तो वह किसी को दुःख दे सकता है, न वह किसी का दुःख हटा सकता है; क्योंकि बिना ज्ञान दुःख जाता नहीं है। दुःख अज्ञान आश्रित है, आनंद ज्ञान आश्रित है। दोनों ही व्यक्ति एवं परिस्थिति आश्रित नहीं हैं। फिर भी हमें जहाँ से ज्ञान एवं आनंद का रास्ता मिलता है, हम उस निमित्त का उपकार मानते हैं। इसमें हमारी उपकार एवं कृतज्ञता से उपादान शुद्धि होती है और जहाँ प्राप्त किया वह टिका रहता है। जब व्यक्ति आधि-व्याधि एवं उपाधि में ग्रसित होता है, तब उसे यह देखना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी दुःख एवं सुख में पड़ा हुआ है। कोई भी एकान्ततः नित्य सुखी नहीं है। आज सुखी है तो कल दुःखी है। वह सुख भी एक रूप से दुःख रूप ही है। लगता है, सुख लेकिन वह सुख भी हमें

अपने स्वभाव से, आनंद से दूर ले जाता है। प्रत्येक प्राणी सुख-दुःख से संतप्त है। यह देख-जानकर व्यक्ति को इन सबसे परे जो आनंद है, उसकी खोज करनी चाहिए। लेकिन लोक एवं प्राणी की इस अवस्था को कोई देखता ही नहीं। सभी आँख बन्द किए हुए चले जा रहे हैं। वे यह देख नहीं पाते कि जब प्रत्येक प्राणी सुख-दुःख में पड़ा हुआ है तब उस तरह का जीवन जी कर मैं कैसे एकान्त नित्य सुखी हो जाऊँगा? हमने दुःख को जीवन का एक अनिवार्य अंग मान लिया है। अतः आनंद का मार्ग खोजते ही नहीं हैं। जब सभी दुःखी हैं तो मैं भी दुःखी हूँ, ऐसा सोचकर हम अपने आपको एवं दूसरों को सांत्वना देते हैं। यह सांत्वना घातक है। इससे व्यक्ति सुख-दुःख में ही उलझा रहता है। जो सुख सापेक्ष है वह दुःख ही है। सच्चा सुख तो निरपेक्ष होता है। प्रश्न यह नहीं है कि सुख को कैसे प्राप्त करें और दुःख से कैसे छूटें। प्रश्न यह है कि कैसे दोनों से पार जाएँ, क्योंकि दोनों ही चिन्ता एवं जन्म-मरण देने वाले हैं। दोनों ही उपादेय नहीं हैं, केवल ज्ञेय हैं। यह प्रज्ञा, यह बोध किसी भवितात्मा को जागता है कि समस्त लोक सुख-दुःख के पीछे भाग रहा है और मुझे इन्द्रियों से पार जाना है। इन सुख-दुःख के पीछे नहीं भागना है।

जब जीवन में दुःख आए, तब यह देखना कि मैं ही नहीं प्रत्येक प्राणी दुःखी है। यह हमारी दृष्टि का भ्रम है कि कोई हमें दुःखी दिखाई देता है तो कोई सुखी। वस्तुतः सुख-दुःख दोनों वेदना के उदय से होते हैं। दोनों ही वेदना स्वरूप हैं पर किसी वेदना को हम सुख मानते हैं और किसी को दुःख। जो अपने को सुखी मानते हैं, वे भी दुःखी हैं। इन्द्रियों का सुख ऐसा है जैसे खुजली का रोग होने पर खुलजाने से जो सुख होता है। जीव इसे समझ नहीं पाता, यह तो वही समझ पाता है जो इन दोनों से परे है। इस ज्ञान के द्वारा इस लोक के, संसार के स्वरूप को जानकर व्यक्ति को जो भी समय शेष बचा है, उसे साधना में लगाना चाहिए। वस्तुतः सुख-दुःख दोनों ही एक हैं। उन्हें अलग-अलग मानना ही भ्रान्ति है। मूलतः सुख-दुःख का विभाजन करना ही गलत है।

यह कर्मों का विभाजन केवल परिचय के लिए है। साता और असाता इस प्रकार विभाजन ही मत करो। न सुख है, न दुःख है। केवल मन की कल्पना है। सब कुछ वेदनीय के उदय से आ रहा है। केवल एक वेदना अनुभव के रूप में देखो। परिस्थिति का अर्थ है जो आती है और चली जाती है, चाहे वह सुख की हो, चाहे

दुःख की ह्री; आज है कल चली जाएगी। इस रूप में देखेंगे तब राग-द्वेष नहीं होगा और इस विदेह भावना का, इन सबसे अलग होने की भावना का उदय तब होता है, जब कर्मों का क्षयोपशम होता है। कर्मों का क्षयोपशम होता है, साम्य भाव की साधना से, आत्मदर्शन की साधना से।

परिस्थिति का अर्थ है जो आती है-जाती है। आज है कल चली जाएगी, अधिक से अधिक जीवन भर रहेगी। अगर इस रूप में देखोगे, तब राग-द्वेष नहीं आएगा और यह विदेह भावना सबसे अलग होने की भावना का उदय होता है, कर्मों के क्षयोपशम द्वारा।

‘आयट्ठ’ का अर्थ होता है, आत्मा का अर्थ, यानी जो आत्मा का मूल स्वरूप है, उस स्वरूप प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए। आत्मस्वरूप को जान लो आपको आगमों में ऐसा नहीं मिलेगा। ‘आयट्ठ’ शब्द इस अर्थ का बोधक है। उस समय ‘आयट्ठ’ कहने से लोग समझ जाते थे। आज उसे ही स्वरूप बोध कहते हैं।

आयट्ठ—आत्मा के अर्थ को जानना जिससे आत्मा का अर्थ सिद्ध हो जाए, वह करो। एक अपेक्षा से ‘आयट्ठ’ का अर्थ होता है हेतु क्या है। प्रत्येक आत्मा का हेतु क्या है, वह क्या चाहती है। सभी नित्य सुख और जीवन चाहते हैं। सुख क्यों चाहते हैं? क्योंकि वह आत्मा की स्वाभाविक रुचि है। उसका मूल हेतु है कि मुझे सुख चाहिए। लेकिन उसे पता नहीं है कि सच्चा सुख कैसे मिले। वह सुख-दुःख में भटकता रहता है। जो क्षणिक सुख अथवा सुखाभास है, उसके मिलने पर उसे लगता है, सच्चा सुख मिलता है। हेतु अभी तक सिद्ध नहीं हुआ, लेकिन उसे लगता है कि हो गया। वह बाह्य सुख साता की परिस्थिति को आन्तरिक सुख मान लेता है; क्योंकि उसने सच्चे सुख का अनुभव नहीं किया। जब उसे किसी ऐसे संत का मिलन होता है जो आत्मसुख से भरपूर है, तब उसे पता चलता है कि सच्चा सुख तो कुछ और ही है। यह सूक्ष्म दृष्टि साधना से ही आती है। जब उसे यह पता लगता है कि मेरा हेतु अभी तक सधा नहीं, फिर वह पुरुषार्थ करता है।

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए॥1/2/71

मूलार्थ—हे पंडित! तू साधना के समय को जान—पहचान।

क्षण, अर्थात् धर्म साधना हेतु प्राप्त हुआ सुयोग्य अवसर। चूँकि यहाँ पर धर्म के क्षेत्र में इसका प्रयोग हुआ है, अतः धर्म साधना हेतु सुयोग्य अवसर जैसे भगवान् महावीर गौतम स्वामी से कहते हैं कि 'समयं गोयम मा पमायए' हे गौतम। समय मात्र का प्रमाद मत करो, क्योंकि तीर्थकर स्वयं उपस्थित हैं, तीर्थकर के जानने के बाद सद्धर्म को पहचानना मुश्किल हो जाएगा। अतः जब तक सुयोग्य अवसर है, अप्रमत्त होकर साधना करो।

पण्डित—अर्थात् जो पण्डा से युक्त है। **पण्डा**—अर्थात् प्रज्ञा सम्यक् ज्ञान विवेक से जो युक्त है, उसे पंडित कहते हैं। ऐसे पण्डित को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम अपनी पण्डा के द्वारा क्षण को जानो और एक क्षण में सम्यक् पूर्वक आत्म-उपयोग में लगाओ। किसी भी कार्य की सिद्धि पाँच समवाय से होती है। या तो ऐसे भी कह सकते हैं द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव परिपक्व होने पर कार्य-सिद्धि होती है।

सुयोग्य अवसर का अर्थ—धर्म साधना हेतु काल, स्वभाव, पूर्व कर्म का उदय और नियति अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों ही परिपक्व हैं, धर्म साधना हेतु योग्य हैं, अब जीव के सविशेष उपयोगपूर्वक प्रयत्न की आवश्यकता है। दूसरा अर्थ जैसे अनेक लोग करते हैं। न भूतकाल की याद करो, न भविष्य की कल्पना, लेकिन वर्तमान में स्थिर हो जाओ, इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है जो पंडित हैं वे भूतकाल की यादों में नहीं खोते और न भविष्य की ही कपोल कल्पनाओं में खोते हैं, अपितु वर्तमान में साधना करते हैं। भूतकाल को भूलने का अर्थ यह नहीं है कि आलोचना और पश्चात्ताप भी नहीं करना। आलोचना और प्रायश्चित्त करना जरूरी है, लेकिन भूतकाल को याद कर शोक नहीं करते। लेकिन भूत एवं भविष्य के संबंध में राग-द्वेष आर्त एवं रौद्र ध्यान नहीं करना। भविष्य के बारे में दीर्घ-दृष्टि से सोचना एवं योग्य अवसर देखना भी जरूरी है। यहाँ जो अर्थ-गर्भित है, वह है भूत एवं भविष्य में उलझने से व्यर्थ का ऊहापोह होता है। अतः इसमें उलझने की अपेक्षा जो भी सुयोग्य क्षण तुम्हारे पास मौजूद है, उसका सम्यक् उपयोग कर साधना करो।

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा, अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं

अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि तिबेमि॥2/1/72

मूलार्थ—जब एक श्रोत्र विज्ञान हीन नहीं हुआ, चक्षु विज्ञान हीन नहीं हुआ, घ्राण विज्ञान हीन नहीं हुआ, जिह्वा विज्ञान हीन नहीं हुआ, स्पर्शेन्द्रिय विज्ञान हीन नहीं हुआ, इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानों का जब तक हास नहीं हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित में निवास करना चाहिए, अर्थात् आत्मा के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

यहाँ बताया गया है कि जब तक सारी इन्द्रियाँ ठीक हैं, जब तक इन्द्रिय विज्ञान का हास नहीं हुआ है; जब तक आभ्यन्तर प्रज्ञा, सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म रूप विविध रूप से, प्रज्ञावान का संयोग मिला है, तब तक इन सभी सुयोग्य निमित्तों को लेकर व्यक्ति को आत्मार्थ को साध लेना चाहिए, क्योंकि इन सबका एक साथ मिलना कठिन है। कभी स्वस्थ शरीर मिलता है तो धर्म नहीं मिलता और धर्म मिलता है तो स्वस्थ शरीर नहीं मिलता।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पारिवारिक एवं भौतिक सुख साधनों तथा धन-ऐश्वर्य आदि के मोह का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि पारिवारिक एवं संपत्ति का मोह तथा बन्धन साधना के पथ में अवरोधक चट्टान है। पारिवारिक व्यामोह एवं माता-पिता के संबन्धों की आसक्ति से ऊपर उठे बिना साधक साधना-पथ पर गतिशील नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता संग्राम के समय हम देख चुके हैं कि देश की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रहियों को पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना ही होता था, उन्हें घर एवं संपत्ति की आसक्ति से भी कुछ सीमा तक निश्चिन्त होना पड़ता था। इससे हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि आत्मस्वातंत्र्य के लिए वासना एवं विकारों से अनवरत लड़ने वाले आध्यात्मिक सेनानियों—साधकों के लिए पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना अनिवार्य है; क्योंकि व्यामोह का त्याग किए बिना संयम में स्थिरता नहीं आ सकती।

चिन्तन-मनन से प्राप्त सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचार में प्रवृत्त होने का नाम संयम है। इसके लिए सबसे पहले चिन्तन में सात्त्विकता का आना जरूरी है और वह योगों की एकाग्रता पर आधारित है और जब तक साधक पारिवारिक व्यामोह से आबद्ध है, तब तक उसके योगों में एकाग्रता आ नहीं पाती। क्योंकि उसके सामने अनेक समस्याएँ मुंह फाड़े खड़ी रहती हैं, कभी मन किसी समस्या से उलझा हुआ है तो वचन का प्रयोग किसी और ही पहलू को हल करने में लग रहा है और शरीर किसी तीसरे कार्य में ही व्यस्त है। इस प्रकार तीनों योगों की विभिन्न दिशाओं में दौड़-धूप होती रहने से, उनमें एकाग्रता नहीं आ पाती। अतः योगों की एकाग्रता के अभाव में चिन्तन में सात्त्विकता एवं ज्ञान तथा आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती है। अस्तु संयम की साधना के लिए, साधना के मूल चिन्तन में सात्त्विकता एवं ज्ञान में निर्धूमता लाने के लिए पारिवारिक व्यामोह का त्याग करना अनिवार्य है। इसी कारण प्रथम

उद्देशक में मोह एवं आसक्ति के परित्याग की बात कही गई है। इससे साधक के मन में साहस एवं उत्साह का संचार होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं कि साधक का मन लड़खड़ाने लगता है। उसकी अस्थिरता को दूर करके साधना में दृढ़ता लाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार संयम-मार्ग में आने वाली अरुचियों का वर्णन करके यह स्पष्ट कर रहे हैं कि साधक को उन पर कैसे विजय पानी चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रारंभ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के॥73॥

छाया—अरतिं आवर्त्तेत (अपवर्त्तेत) स मेधावी क्षणे मुक्तः।

पदार्थ—से—वह। मेहावी—बुद्धिमान है, जो। अरइं—अरति—चिन्ता को। आउट्टे—दूर करता है, वह फिर। खणंसि—क्षण मात्र—स्वल्प काल में। मुक्के—अष्ट कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति—चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्तामुक्त व्यक्ति स्वल्प समय में कर्मबन्धन से भी मुक्त—उन्मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि “साधना का मार्ग फूलों का मार्ग नहीं, कंटीली पगडंडी है।” अतः उस पर गतिशील साधक को पूरी सावधानी रखने का आदेश दिया गया है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक गति करने को कहा गया है। इतने पर भी परीषहों का कोई-न-कोई कांटा चुभ ही जाता है। उस समय निर्बल साधक के मन में वेदना की अनुभूति का होना भी स्वभाविक है। इसलिए सूत्रकार ने साधक को सावधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया है कि ऐसे विकट समय में भी अपने मार्ग पर गतिशील रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है और वही कर्मबन्धन की शृंखला को तोड़कर मुक्त हो सकता है। अतः साधक को थोड़े-से परीषह से घबराकर अपने प्रशस्त मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और अपनी श्रद्धा एवं ज्ञान की ज्योति को धूमिल नहीं पड़ने देना चाहिए।

साधना के पथ से विचलित होने का अर्थ है—पतन के गर्त में गिरना। अतः जरा-से परीषह से परास्त होने वाला व्यक्ति कुंडरीक की तरह अपने जीवन को बर्बाद

कर लेता है, अनुपम सुखों को खो देता है और इसके विपरीत उसके लघु भ्राता पुंडरीक का अनुकरण करने वाला व्यक्ति निर्बाध गति से मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है। साधना-पथ पर गतिशील साधक के लिए ये दोनों उदाहरण सर्चलाइट की तरह उपयोगी हैं।

कुंडरीक और पुंडरीक दोनों सगे भाई थे। कुण्डरीक बड़ा भाई होने के कारण राज्य का मालिक था। परन्तु मुनि के सदुपदेश से राज्य का त्याग करके वह साधु बन गया और निरन्तर एक हजार वर्ष तक साधना करता रहा। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वह परीषहों एवं वोसना से परास्त हो गया। अपने लघु भ्राता पुण्डरीक को राज्य का सुख भोगते देखकर उसका मन भी उस ओर लुढ़क गया। वह अपने को संभाल नहीं सका। अतः उसने अपनी अभिलाषा पुण्डरीक के सामने व्यक्त कर दी। पुण्डरीक को भाई के विचार सुनकर अति वेदना हुई और उसने धर्म एवं शासन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता को उस का राज्य सौंपकर, उसके स्थान में उन्होंने दीक्षा ग्रहणकर ली और तप साधना में संलग्न हो गए।

कुंडरीक प्रकाम भोजन एवं भोगों में आसक्त हो गया और पुंडरीक तप करने लगा तथा रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल गया उसी पर संतोष करके संयम साधना में संलग्न हो गया। परिणाम यह निकला कि कुण्डरीक की तपस्या से निर्बल बनी हुई आतें प्रकाम भोजन को पचा नहीं सकीं और दुर्बल शरीर अधिक भोगों की मार को सह नहीं सका, इससे उसे असाध्य रोग हो गया और वह भोगों की आसक्ति में तड़पता हुआ मर गया। उधर पुंडरीक को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन नहीं मिलने से वह भी अस्वस्थ हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति में भी वह अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ। समभाव पूर्वक वेदना को सहते हुए अनशन करके पंडित मरण को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार संयम त्यागने एवं संयम स्वीकार करने के थोड़े ही समय बाद दोनों भाइयों ने देह का त्याग कर दिया और दोनों ने उपपात योनि में जन्म लिया और 33 सागरोपम की स्थिति को प्राप्त किया। योनि और स्थिति समान होते हुए भी दोनों की गति में बहुत बड़ा अंतर था। पुंडरीक ने अल्पकालीन साधना से सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त किया, तो कुंडरीक ने भोगों में आसक्त होकर सातवीं नरक के अंधकार में जन्म लिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि थोड़े-से परीषहों से घबरा कर जो व्यक्ति पथ-भ्रष्ट होता है, वह एकदम पतन के गर्त में गिरता ही जाता है। अतः साधक को परीषहों के उपस्थित होने पर घबराना नहीं चाहिए। अनुकूल परीषहों में भी अपने पथ पर दृढ़ता के साथ गतिशील होना चाहिए। जो साधक रति—अनुकूल परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कर्मबन्धनों को शिथिल करता हुआ एवं तोड़ता हुआ एक दिन कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतः वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर गतिशील व्यक्ति संसार-सागर से पार हो जाता है और उस पथ पर गति नहीं करने वाला साधक संसार-सागर में परिभ्रमण करता है, विभिन्न गतियों में महान् दुःखों का संवेदन करता है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाए पुट्ठावि एगे नियट्ठन्ति, मन्दा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहन्ति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए॥74॥

छाया—अनाज्ञया स्पृष्टा अपि एके निवर्तन्ते मन्दा मोहेन प्रावृताः अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय, लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते अनाज्ञया, मुनयः प्रत्युपेक्षन्ते, अत्र मोहे पुनः पुनः सन्ना नो अर्वाचे नो पाराय।

पदार्थ—मन्दा—विवेक शून्य। मोहेण पाउडा—मोह से प्रावृत्त—घिरे हुए। एगे—कई एक प्राणी। पुट्ठा वि—परीषहों के आने पर। अणाणाय—आज्ञा से विपरीत हो कर। नियट्ठन्ति—संयम से पतित होते हैं। अपरिग्गहा—परिग्रह रहित। भविस्सामो—बनेंगे। ऐसे वचन बोलकर। समुट्ठाय—दीक्षा लेकर। लद्धे कामे—प्राप्त हुए विषय-भोगों को। अभिग्गाहइ—सेवन करते हैं। अणाणाए—वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध। मुणिणो—मुनि वेष को लजाने वाले। पडिलेहन्ति—कामभोगों के उपायों की शोध करते हैं। इत्थ मोहे—इस प्रकार मोह में। पुणो-पुणो—बार-बार। सन्ना—आसक्त होकर। नो हव्वाए—न इस पार के। नो पाराए—न उस पार के होते हैं।

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत्त, विवेक शून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहों के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा के विरुद्ध आचरण करके संयम-मार्ग से च्युत हो जाते हैं और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम अपरिग्रही बनेंगे, इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगों का सेवन करते हैं एवं मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय-भोगों को प्राप्त करने के उपायों में संलग्न रहते हैं। वे विषय-भोग में आसक्त होने से मोह के कीचड़ में ऐसे फंस जाते हैं कि न इधर के रहते हैं और न उधर के, अर्थात् न तो गृहस्थ रहते हैं और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधना का पथ कांटों का पथ है। उसमें त्याग के पुष्पों के साथ-साथ परीषहों के कांटे भी बिखरे पड़े हैं। अतः साधना-पथ पर गतिशील साधक को परीषहों का प्राप्त होना स्वभाविक है। परन्तु उस समय वह साधक साधना में संलग्न रह सकता है, जिसकी श्रद्धा दृढ़ है एवं जिसके पास ज्ञान का प्रखर प्रकाश है। पर, जो साधक निर्बल है, जिसकी ज्ञान ज्योति क्षीण है, वह परीषहों के अंधड़ में लड़खड़ा जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए बताया है कि विवेकहीन व्यक्ति परीषहों से परास्त होकर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। वे विभिन्न भोगों में आसक्त होकर वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे वेशधारी साधकों को “इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः” कहा गया है। अर्थात् उनकी स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह होती है, वह न घर का रहता है और न घाट का। इसी प्रकार ये वेशधारी मुनि साधना को हृदयंगम नहीं कर सकने के कारण न तो मुनि का धर्म ही सम्यक्तया परिपालन करके उसका लाभ उठा सकते हैं और वेष-भूषा से गृहस्थ न होने के कारण न स्वतन्त्रतापूर्वक गृहस्थ-जीवन का उपभोग कर सकते हैं। वे न तो इधर के रहते हैं और न उधर के रहते हैं, बेचारे त्रिशंकु की तरह अधर में ही लटकते रहते हैं और भोग में आसक्त होने के कारण संसार बढ़ाते हैं। परन्तु इस भवसागर से पार नहीं हो सकते।

अस्तु, जो वीतराग देव की आज्ञानुसार आचरण करते हैं, वे ही संसार सागर से पार होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विमुक्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ॥75॥

छाया—विमुक्ताः खलु ते जनाः ये जनाः पारगामिनो, लोभमलोभेन जुगुप्समानो लब्धान् कामान् नाभिगाहते ।

पदार्थ—विमुक्ता—विभिन्न बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त । हु—निश्चय ही । ते—वे । जणा—जन । जे जणा पारगामिणो—पार जाने की इच्छा करते हैं, वे व्यक्ति । लोभं—लोभ को । अलोभेण—निर्लोभता से । दुगुंछमाणे—तिरस्कृत करते हुए । लद्धे कामे—प्राप्त काम-भोगों का भी नाभिगाहइ—आसेवन नहीं करते ।

मूलार्थ—सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्त साधक लोभ को अलोभ पराभूत करके प्राप्त काम-भोगों का भी आसेवन नहीं करता है ।

हिन्दी-विवेचन .

जैन संस्कृति में त्याग को महत्त्व दिया गया है, न कि वेष-भूषा को । यह ठीक है कि द्रव्य-वेष का भी महत्त्व है, परन्तु त्याग-वैराग्य युक्त भावना के साथ ही उस का मूल्य है । भाव शून्य वेषधारी साधक को, पथ भ्रष्ट कहा गया है । जो साधक त्याग-वैराग्य की भावना को त्याग कर रात-दिन खाने-पीने, सोने एवं विलास में व्यस्त रहता है, उसे पापी श्रमण कहा गया है¹ ।

प्रस्तुत सूत्र में त्यागी की परिभाषा बहुत ही सुन्दर की गई है । वह व्यक्ति त्यागी नहीं माना गया है, जिसके पास वस्तु का अभाव है, क्योंकि उसका मन अभी भी उसमें रम रहा है । जिसे वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, अलंकार, स्त्री, शय्या-घर आदि स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं हैं, पर उनकी वासना उसके मन में रही हुई है; तो वह भगवान् महावीर की भाषा में त्यागी नहीं है² । त्यागी वही है, जिसे सुन्दर भोग-विलास एवं भौतिक सुख-साधन प्राप्त हैं और जो उनका भोग करने में भी स्वतन्त्र एवं समर्थ है;

1. देखें उत्तराध्ययन, अध्ययन 17

2. वत्थ-गंधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि या॥

अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाई ति वुच्चई॥

फिर भी उन्हें संसार में परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है¹।

ऐसा त्यागी व्यक्ति लुभावने प्रसंग उपस्थित होने पर भी नहीं फिसलता, वह अलोभ के द्वारा तृष्णा के जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है, क्योंकि वह समझता है कि सुहावने से प्रतीत होने वाले सुख-साधनों के पीछे दुःख का अनंत सागर लहरा रहा है। इस आटे की उज्ज्वल गोली के साथ ही प्राणों को हरण करने वाले तीक्ष्ण कांटे की वेदना भी रही हुई है। इसलिए वह प्रबुद्ध साधक उसके क्षणिक लोभ में प्रवहमान होकर अपने आपको अथाह सागर में डूबने नहीं देता, अपितु उस तृष्णा पर विजय प्राप्त करके संसार-सागर से पार हो जाता है।

लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदों—1. क्रोध, 2. मान, 3. माया को भी समझ लेना चाहिए। जैसे अलोभ वृत्ति से लोभ को परास्त करने को कहा गया है, उसी प्रकार क्रोध, मान और माया का प्रसंग उपस्थित होने पर, उपशमन से क्रोध को, विनय-नम्रता से मान को एवं ऋजुता—सरलता से माया को परास्त करे।

इस प्रकार कषायों पर विजय पाने वाला विजेता ही साधना के पथ पर आगे बढ़ता है और उसका मार्ग ही प्रशस्त मार्ग कहा गया है। कषायों के प्रवाह में प्रवहमान का मार्ग भयावह एवं दुःखों से भरा हुआ है। इसी प्रशस्त एवं अप्रशस्त मार्ग को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारेत्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो-पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहिं विरुवरुवेहिं कज्जेहिं

1. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वई।

साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति बुच्चई॥

—दशवैकालिकं 2, 3, 4

दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए॥76॥

छाया—विनापि लोभं निष्क्रम्य एष अकर्मा जानति पश्यति प्रत्युपेक्षणया नावकांक्षति एष अनगाराः इति प्रोच्यते अहोचरात्रं परितप्यमानः कालाकाल-समुत्थायी संयोगार्थी अर्थाऽऽलोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रे पुनः पुनस्तद् आत्मबलं, तद् ज्ञातिबलं, तत् मित्रबलं, तत् प्रेत्यबलं, तद् देवबलं, तद् राजबलं, तच्चौरबलं, तदतिथिबलं, तत् कृपणबलं, तत् श्रमणबलं, इत्येतैः विरूपरूपैः कार्यैः दंडसमादानं संप्रेक्ष्य भयात् क्रियते पापमोक्षः इति मन्यमानः अथवा आशंसायै ।

पदार्थ—विणावि लोभं—लोभ के बिना । निक्खम्म—दीक्षा लेकर । एस—यह आत्मा । अकम्मे—कर्म-रहित होकर । जाणइ—सब कुछ जानता है । पासइ—सब कुछ देखता है । पडिलेहाए—यह विचार कर । नावकंखइ—जो लोभ को नहीं चाहता है । एस—वह । अणगारेत्ति—अनगार । पवुच्चई—कहा जाता है, अज्ञानी जीव । अहो य राओ—अहो रात्र-दिन । परितप्पमाणे—अनेक प्रकार से संतप्त होता हुआ । कालाकाल-समुट्ठाई—काल और अकाल में उठने वाला अर्थात्—अपने कार्य की सिद्धि के लिए काल और अकाल की उपेक्षा करने वाला । संजोगट्ठी—संयोग को चाहने वाला । अट्ठालोभी—धन का लोभी । आलुंप्पे—गला काटने वाला । सहसाक्कारे—बिना विचारे काम करने वाला । विणिविट्ठचित्ते—आरम्भ परिग्रह तथा विषय-कषायों में दत्तचित्त होता हुआ । इत्थ—पृथ्वीकायादि के उपघात करने में । सत्थे—शस्त्र का । पुणो पुणो—बारम्बार प्रयोग करता है । से—वह । आयबले—आत्म बल अपना शारीरिक बल । से—वह । नाइबले—ज्ञातिबल । से—वह । मित्तबले—मित्र बल । से—वह । पिच्चबले—परलोक बल । से—वह । देवबले—देव बल । से—वह । रायबले—राज बल । से—वह । चोरबले—चोर बल । से—वह । अतिहिबले—अतिथि बल । से—वह । किविणबले—कृपण बल । से—वह । समणबले—श्रमण बल । इच्चेएहिं—इत्यादि । विरूवरुवेहिं—विविध प्रकार के । कज्जेहिं—कार्यों के लिए । दंडसमायाणं—हिंसा की जाती है । संपेहाए—यह विचार कर तथा । भयाकज्जइ—भय से पाप कर्म किया जाता है, तथा । पावमुक्खुत्ति—मैं पाप से मुक्त हो जाऊंगा—पाप

से छूट जाऊंगा, इस आशय से पापकर्म किया जाता है। अदुवा—अथवा। आसंसाए—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो जाए इस इच्छा से पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है।

मूलार्थ—लोभ बिना दीक्षा लेकर, अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारों ही घाति कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थों के सामान्य और विशेष धर्मों का बोध प्राप्त करता है, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, कषायों के गुण-दोषों का विचार करके लोभादि की इच्छा नहीं करता। इस प्रकार वह अनगार कहलाता है और इसके विपरीत जो अज्ञ है और वह दिन-रात संतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल में उठने वाला, संयोग का अर्थी, धन का लोभी, गला काटने वाला, बिना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री में आसक्ति रखने वाला, षट्काय में बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करने वाला निम्नलिखित कारणों को मुख्य रखकर हिंसादि कर्म में प्रवृत्त होता है; यथा—मेरी आत्मशक्ति बढ़ेगी, मेरी जाति का बल बढ़ेगा, मेरा मित्रबल बढ़ेगा, मेरा परलोक बल बढ़ेगा, मेरा देवबल बढ़ेगा, मेरा राजबल बढ़ेगा, मेरा चोरबल बढ़ेगा, मेरा अतिथिबल बढ़ेगा, मेरा कृपणबल बढ़ेगा और मेरा श्रमणबल बढ़ेगा, इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यों से प्रेरित हुआ वह प्राणियों के वध में प्रवृत्त होता है एवं जब तक मैं ऐसा नहीं करूंगा तब तक मेरा आत्मबल नहीं बढ़ेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोचकर वह उक्त पाप कर्मों का आचरण करता है कि इस प्रकार के आचरण से मैं दुःखों से मुक्त हो जाऊंगा, या यों कहिए कि विभिन्न आशाओं के वशीभूत होकर वह पापकर्म करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में जीवन के प्रशस्त और अप्रशस्त उभय स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। जो संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित होता है और कषायों पर विजय पाता हुआ संयम में सदा संलग्न रहता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। संसार के सभी पदार्थों को एवं तीनों काल के भावों को भली-भाँति जानता-देखता है। उससे कोई भी बात प्रच्छन्न नहीं रहती है। इस स्थिति को प्राप्त करके सर्व कर्म बंधन मुक्त होना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। राग-द्वेष का क्षय करने पर ही यह स्थिति प्राप्त

हो सकती है, इसलिए राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उक्त साधना में संलग्न रहने वाले व्यक्ति को अनगार कहते हैं। वह अनगार एक दिन कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कषायों के प्रवाह में रहते हैं, वे उनके वश में होकर रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहते हैं और विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए मांस-मत्स्य आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं। अपनी जाति के व्यक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए तथा अधिकारी वर्ग से कुछ काम कराने अथवा उससे अपना स्वार्थ साधने के लिए, उनकी इच्छा का पोषण करने के लिए विभिन्न प्राणियों की हिंसा करके उनके लिए भोजन-शराब आदि की व्यवस्था करते हैं। कई लोग मित्रता निभाने के लिए उसे सामिष भोजन कराते हैं। कुछ यह सोचकर कि संकट के समय इससे काम लिया जा सकता है, इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के भोग-विलास एवं मांस-मदिरा युक्त खान-पान में सहयोग देते हैं तथा साथ में स्वयं भी उसका आस्वादन कर लेते हैं।

कुछ परलोक को सुधारने की अभिलाषा से या इस कामना से कि यज्ञ में बलिदान करने से मुझे स्वर्ग मिलेगा, यज्ञ वेदी पर अनेक मूक पशुओं का बलिदान करते हैं। कुछ देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्दिर-मस्जिद जैसे पवित्र देव-स्थानों को वधस्थल का रूप दे देते हैं।

इस प्रकार अज्ञान के वश मनुष्य अनेक पापों में प्रवृत्त होता है। वह धर्म समझ कर यज्ञ आदि हिंसाजन्य कार्यों में प्रवृत्त होता है। परन्तु उसकी यह समझ उतनी ही भूल भरी है जितनी कि कीचड़ या खून से भरे हुए वस्त्र को कीचड़ या खून से साफ करने की सोचने वाले व्यक्ति की है। इन प्रवृत्तियों से पाप घटता नहीं, अपितु बढ़ता है और परिणामस्वरूप संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-परंपरा में अभिवृद्धि ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र में उपयुक्त “पावमुक्खु” में पाव + मुक्खु अर्थात् पाप और मोक्ष दो शब्दों का संयोग है। जो क्रिया प्राणी को पतन के गर्त में गिराती है या जिससे आत्मा कर्म के प्रगाढ़ बन्धन में आबद्ध होता है, उसे पाप कहते हैं और जिस साधना से आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होती है, उसका नाम मोक्ष है।

‘दण्ड समायाणं’—‘दंड समादानं’ का अर्थ है—प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त

होना। यह क्रिया आत्मा को कर्म बन्धन में फंसाने वाली है। इसमें आत्मा का संसार बढ़ता है, वह मोक्ष से दूर होती है। अतः साधक को चाहिए कि वह हिंसा-जन्य कार्यों से एवं विषय-भोग से दूर रहे और चित्त में अशांति उत्पन्न करने वाली कषायों का त्याग करके संयम मार्ग में गतिशील बने। यही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है, जिस पर गति करके आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनकर, एक दिन पूर्ण स्वतंत्र बन जाती है।

प्रस्तुत सूत्र में बताई गई सावध क्रियाएँ आत्मा के लिए अहितकर होती हैं, उसे दुःखों के अथाह सागर में जा गिराती हैं। इसलिए मुमुक्षु को सावध अनुष्ठानों का परित्याग कर देना चाहिए। इसी बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिं पिज्जासि, ति बेमि॥७७॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं एतैः कार्यैः दण्डं समारभेत, नैवान्यमेतैः कार्यैः दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डं समारंभमाणमप्यन्यं न समनुज्ञापयेत् एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, यथा-अत्र कुशलः नोपलिम्प्येः—इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—इस पूर्वोक्त संपूर्ण विषय को। परिण्णाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान पुरुष। नेव सयं—न तो स्वयं। एएहिं—इन। कज्जेहिं—कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं समारंभिज्जा—दंड समारंभ करे और। नेव एएहिं कज्जेहिं—न इन कार्यों के उपस्थित होने पर। अन्नं—अन्य से। दंडं—हिंसा का। समारंभाविज्जा—समारंभ करावे, और। एएहिं कज्जेहिं—इन कार्यों के उपस्थित होने पर। दंडं—दंड का। समारंभंतंपि—समारंभ करने वाले। अन्नं—अन्य व्यक्ति को। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे। एस मग्गे—यह मार्ग। आरिएहिं—आर्यों द्वारा। पवेइए—प्ररूपित है। कुसले—हे कुशल! जहेत्थ—जैसे-पूर्वोक्त दंड समादान में। नोवलिंपिज्जासि—तेरी आत्मा उपलिप्त न हो ऐसा आचरण कर। ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह परिज्ञावान प्रबुद्ध पुरुष विषय-भोग एवं क्षणिक सुखों के लिए न स्वयं दण्ड का समारंभ करे न अन्य व्यक्ति से करावे और न उस कार्य में प्रवृत्तमान

व्यक्ति के उस कार्य का समर्थन ही करे। यह मार्ग आर्य पुरुषों ने प्ररूपित किया है। अतः कुशल व्यक्ति ऐसे हिंसा एवं पाप जन्य कार्य के द्वारा अपनी आत्मा को कर्मों से लिप्त न करे, अर्थात् पाप कर्म का उपार्जन न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन का मूल लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। इसके लिए बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष को त्रिकरण और त्रियोग के दण्ड-समारम्भ का परित्याग कर देना चाहिए। न स्वयं किसी प्राणी का दण्ड-समारम्भ करे, न दूसरे व्यक्ति से करावे, और न ऐसा कार्य करने वाले का ही समर्थन करे। इस प्रकार हिंसा जन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहने वाला मनुष्य पाप कर्म से लिप्त नहीं होता।

यह साधना-पथ अर्थात् त्याग मार्ग आर्य पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य की परिभाषा करते हुए कहा है—

आराद्याताः सर्वह्यधर्मेभ्य इत्यार्याः—संसारार्णवतटवर्तिनः क्षीणघातिकर्माशाः संसारोदरविवरवर्तिभावविदः तीर्थकृतस्तैः 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजायां पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेत्र्या प्रकर्षेण वेदित...कथित...प्रतिपादित इतियावत्।

अर्थात्—जो आत्मा पाप कर्म से सर्वथा अलिप्त है, जिसने घातिक कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थकर एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्यमार्ग या आर्यधर्म कहते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जो मार्ग प्राणिमात्र के लिए हितकर, हिंसा आदि दोष से दूषित नहीं है, सबके लिए सुख-शान्तिप्रद है, वह आर्य मार्ग है और उस पर गतिशील साधक पूर्ण आत्मज्योति को प्रकट कर लेता है।

'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व के उद्देशकों की तरह समझना चाहिए।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



अध्यात्मसार : 2

मूलम्—अरहं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के॥2/2/73

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति—चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्तामुक्त व्यक्ति स्वल्प समय में कर्मबन्धन से भी मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

साधना में गतिशीलता लाने के लिए, घर-परिवार का त्याग आवश्यक है। घर-परिवार किस प्रकार बनता है? सांसारिक सम्बन्धों से मुनि को किसी से भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। जहाँ पर भी संबंधों में उलझेंगे तो साधना में डगमगाहट आ जाएगी।

जैसे-जैसे व्यक्ति साधना में आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे आसपास लोग आते चले जाते हैं। अधिकांश लोग आते हैं, अपने स्वार्थ के लिए, और वे ही धीरे-धीरे साधना में बाधक बन जाते हैं। अतः सबसे सुन्दर मार्ग है साधना का एकान्त का, जहाँ पर भी योग्य द्रव्य, क्षेत्र-काल हो साधना करते रहो। किसी भी सम्बन्ध परिस्थिति और व्यक्ति में अधिक उलझना नहीं, सबको आशीर्वाद देना और अपना कार्य करते रहना। जहाँ पर भी इन्द्रिय शक्ति आती है, वहीं पर दुःख और विघ्नों को निमंत्रण मिलता है।

अरइ-अरति-रति—प्रियता, प्रिय संयोग से आसक्ति—अरति अर्थात् अप्रियता, अप्रिय संयोग से द्वेष। जो मेहावी, यह समझता है कि प्रिय-अप्रिय मन की कल्पना मात्र है। जो इन दोनों से परे होकर यह देखता है कि दोनों ही वेदना स्वरूप हैं, ऐसा मेहावी तटस्थ व्यक्ति क्षणभर में, स्वल्प काल में मुक्त हो जाता है। यहाँ पर क्षण का अर्थ है स्वल्प समय, इस अनंत काल चक्र के सामने सम्पूर्ण जीवन भी क्षण मात्र है। इस प्रकार की तटस्थता असंगत्व के लिए आवश्यक है, सम्यक् आलम्बन में एकाग्रता, त्रिगुप्ति की साधना से तटस्थता आती है।

इसके आगे पुण्डरीक-कुंडरीक का उदाहरण इस बात की ओर संकेत करता है कि महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि तुम कितने समय साधना करते हो, अपितु कितनी

दृढ़ता एवं भाव से करते हो। ऐसे अनेक मुनिराज हैं, जिनकी दीक्षा दीर्घकाल की, अर्धशतक की हो गयी, परन्तु वह तटस्थता नहीं आई और कई मुनिराज ऐसे भी हैं जो स्वल्पकाल में ही अपने गन्तव्य को साध लेते हैं। फिर भी किया हुआ कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता, आगे कहीं न कहीं वह मदद करता है। जैसे वासुदेव श्रीकृष्ण ने जीवनभर अरिहंत भगवान की सेवा की, धर्म-प्रभावना का उत्कृष्ट पुण्य बन्धन किया, लेकिन अन्त समय में तीव्र कषाय आ जाने पर नरक की गति हुई।

जो व्यक्ति साधना करके छोड़ दे, वह सुखी नहीं रह सकता, ऐसा कहना और मानना निश्चित रूप से सत्य नहीं है। हाँ, जब व्यक्ति बहुत लम्बे समय से लगा हुआ हो, साधना के समय में बहुत लम्बे समय तक स्थिर हुआ हो, तब उसके मन-वचन-काया इस प्रकार ढल जाते हैं कि वह संसार में अपने आपको योग्य रूप से ढाल नहीं पाता। फिर भी व्यक्ति अगर सरल है, सत्य के प्रति निष्ठावान है, प्रभु भक्ति करता है, तब वह गिर कर भी उठता है, उसको मार्ग मिलता है। इसलिए कहा है 'सत्य निष्ठा एवं सरलता'। मायावी व्यक्ति को कुछ नहीं मिलता।

दीक्षार्थी के लिए क्या देखना?

जिसको धर्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ना है, उसके लिए यह देखना जरूरी है कि सम्यक् आलम्बन में उसकी कितनी स्थिरता है, इस योग्यतानुसार धर्मरत्न देना, साधना पथ हेतु चलने की सबसे बड़ी तैयारी है योगों की सम्यक् आलम्बन में स्थिरता। वह भी जब साधक की स्वयं की रुचि हो। केवल क्षणिक मोह में इस मार्ग में आ जाने पर बाद में पछतावा आता है। आगे जब कोई साधना हेतु तैयार हो, तब दो बातें देखनी और दो बातों की शिक्षा देनी—1. तत्त्वज्ञान, 2. योगों की सम्यक् आलम्बन में स्थिरता।

छोटी दीक्षा एवं बड़ी दीक्षा के बीच में छह माह का अन्तर अथवा एक वर्ष का भी अन्तर रख सकते हैं। उस नवदीक्षित मुनि को साथ में ही रखना जरूरी है। आहार वह अलग से भी ला सकता है अथवा आप भी लाकर दे सकते हैं। कई व्यक्ति दीक्षा लेने से पहले उच्च भावना से आते हैं और संयम लेने के बाद कई बार भावों में परिवर्तन आता है। इस अन्तराल के मध्य इसका अवसर मिलता है। नवदीक्षित साधु एवं गण के सभी सदस्य इस अन्तराल के पूर्ण होने के पहले यदि वह पुनः

लौटना चाहे तब भी व्रत खण्डित नहीं होते हैं। यह बात समस्त संघ को समझानी आवश्यक है।

क्या दीक्षा हेतु मुहूर्त देखना जरूरी है?

ऐसे तो यह एक आध्यात्मिक साधना है, अतः मुहूर्त देखना नितान्त आवश्यक नहीं है। फिर भी अभी काल का असर ऐसा है और कर्मों का उदय भारी है। अतः मुहूर्त देखना जरूरी है।

जाप हेतु—श्रद्धा, शुद्धि, एकाग्रता।

शुद्धि—शरीर, वस्त्र एवं स्थान अशुचि से रहित।

मूलम्—अणाणाए पुट्ठावि एगे नियट्ठंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिहग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए॥2/2/74

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत, विवेकशून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहों के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण करके संयम मार्ग से च्युत हो जाते हैं और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम परिग्रही बनेंगे, इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगों का सेवन करते हैं। ऐसे मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय-भोगों को प्राप्त करने के उपायों में संलग्न रहते हैं। वे विषय-भोग में आसक्त होने से मोह के कीचड़ में ऐसे फंस जाते हैं कि न इधर के रहते हैं और न उधर के, अर्थात् न तो गृहस्थ रहते हैं और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं।

एक बार जब व्यक्ति पूरी तैयारी एवं संकल्प के साथ मुनि बन जाए तब तो यही देखना चाहिए कि अब साधना कैसे (दीपे) हो सके। तब भूलकर भी भोगों की ओर नहीं देखना। विचार आ भी जाए, तब भी उसका संवर्धन नहीं करना। यदि संवर्धन करना होगा, तब वह वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध जाना होगा। कम-से-कम वीतरागवाणी के अनुसार आचार पालन होता रहे तब इतनी भी स्थिरता रहने पर,

धीरे-धीरे दूषित विचार अपने आप चले जायेंगे। क्योंकि साधना के मार्ग पर आने के पश्चात् भीगों की ओर मन का आकृष्ट करना व्यक्ति की साधना को भ्रष्ट करता ही है; साथ ही उसमें माया, डर एवं हीन-भावना का जन्म होगा। फिर वह अधिक उच्छृंखल हो जाएगा।

दूसरी बात अनेक मंत्र साधनाएँ हैं, तप अनुष्ठान हैं। जिससे कर्मों की उदीरणा होती है वह भी शक्ति अनुसार करनी चाहिए। वह गुरु को देखना चाहिए कि जितनी शिष्य की शक्ति है, उतनी ही कठिन साधना देनी चाहिए, उससे अधिक नहीं; अन्यथा अरुचि एवं डिगने की संभावना रहती है। जैसे किसी का शरीर मानता नहीं और आप अत्यधिक लम्बा उग्र विहार कर रहे हैं तब हो सकता है कि शरीर की असातावश कहीं संयम के प्रति ही अरुचि हो जाए। गुरु को यह देखना चाहिए कि मूल बात है गुप्ति की साधना और संयम। इसीके लिए भगवान की आज्ञा में रहते हुए शरीर एवं स्वास्थ्य के अनुसार जिस प्रकार से सुखपूर्वक हो सके उस प्रकार करना।

मंत्र के संबंध में—कुछ मंत्र ऐसे हैं जो तीव्र हैं जिसके कारण साधक के भीतर प्रकम्पन अधिक हो सकता है, उस समय योग्यता देखकर मंत्र देना चाहिए।

मूलम्—विणाविलोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारेत्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो-पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहिं विरुवरुवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए॥2/2/76॥

मूलार्थ—लोभ बिना दीक्षा लेकर, अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारों ही घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थों के सामान्य और विशेष धर्मों का बोध प्राप्त करता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, कषायों के गुण-दोषों का विचार करके लोभादि की इच्छा नहीं करता। इस प्रकार वह अनगर कहलाता है और इसके विपरीत जो अज्ञ है वह दिन-रात

संतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल में उठने वाला, संयोग का अर्थी, धन का लोभी, गला काटने वाला, बिना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री में आसक्ति रखने वाला, षट्काय में बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करने वाला, निम्नलिखित कारणों को मुख्य रखकर हिंसादि कर्म में प्रवृत्त होता है, तथा मेरी आत्म शक्ति बढ़ेगी, मेरी जाति का बल बढ़ेगा, मेरा मित्रबल बढ़ेगा, मेरा परलोक बल बढ़ेगा, मेरा देवबल बढ़ेगा, मेरा राजबल बढ़ेगा, मेरा चोरबल बढ़ेगा, मेरा कृपण बल बढ़ेगा और मेरा श्रमण बल बढ़ेगा। इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यों से प्रेरित हुआ वह प्राणियों के वध में प्रवृत्त होता है एवं जब तक मैं ऐसा नहीं करूंगा, तब तक मेरा आत्मबल नहीं बढ़ेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोचकर वह उक्त पाप कर्मों का आचरण करता है कि इस प्रकार के आचरण से मैं दुःखों से मुक्त हो जाऊंगा या यों कहिए कि विभिन्न आशाओं के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है।

इस सूत्र में दीक्षा किस प्रकार ली जाती है और दीक्षा धारण करने वालों की योग्यता क्या है, इस संबंध में कहा है। 'विणावि लोभं'—जब अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान-वरणीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तब प्रत्याख्यान की योग्यता, प्रत्याख्यान के भाव आते हैं। यहाँ पर लोभ के अन्तर्गत क्रोध, मान, माया इत्यादि का भी समावेश हो गया है। यहाँ से प्रत्याख्यान की शुरूआत होती है और प्रत्याख्यानवरणीय का क्षय होने पर सर्वविरति के भाव आते हैं। चारों कषायों के जो लक्षण दिये गये हैं, उन्हें खयाल में रखते हुए व्यक्ति की भाव दशा को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि व्यक्ति किस गुणस्थान एवं दशा में है। इस प्रकार देशविरति या सर्वविरति के प्रत्याख्यान देने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि उसमें यह योग्यता है या नहीं, क्योंकि कषायों के बलवान रहते आचरण कैसे होगा।

अणगार के लिए विशेषण दिया गया है। 'नावकंखइ' यहाँ पर कांक्षा का अर्थ है संकल्प करना या तो मैं ऐसा करूंगा या मुझे ऐसा चाहिए ही। एक तो विचार आकर के चला जाता है, लेकिन एक ही विचार पुनः-पुनः आकर के मन की धारणा या मन का संकल्प बन जाए, तब उसे कांक्षा कहते हैं।

अणगार—अर्थात् जिसके चित्त में ऐसी कोई कांक्षा नहीं है। उस स्वाभाविक

आत्म रुचि के आने पर नावकंखड़ की अवस्था आती है। यह अवस्था भी साधना से या पुरुषार्थ से आती है। मूलतः व्यक्ति अणगार तब बनता है, जब ऐसी अवस्था आती है और ऐसा अणगार शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

दूसरी ओर ऐसा व्यक्ति जो कषायों के और इन्द्रियों के परिताप से युक्त है, वह यह सब कुछ अपना बल बढ़ाने के लिए करता है। प्रथम वह शरीर का बल बढ़ाने हेतु आरंभ-समारंभ करता है। खयाल रखें शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है, लेकिन केवल बलवृद्धि के लिए कि मैं दूसरों से अधिक बलवान बनूं, अधिक सुन्दर बनूं यहां इस ओर संकेत है। इसी प्रकार मित्रबल, जातिबल, देवबल इत्यादि। जैसे देवबल बढ़ाने के लिए हिंसा करना, बलि चढ़ाना यह सब अज्ञानवश होता है। कभी-कभी व्यक्ति सत्ता और मोह के वश भी करता है। अनेक साधनाएं ऐसी हैं जिनसे सत्ता व शक्ति मिलती है, क्योंकि वे निम्न स्तर की हैं, अतः जल्दी सिद्ध भी हो जाती हैं। लेकिन आरंभ-समारंभ से युक्त हैं। मेधावी साधक को 'संपेहाए' सम्यक् प्रकार से इसे जानकर न स्वयं करना चाहिए, न करवानी चाहिए और न अनुमोदना ही करनी चाहिए।

‘विणाविलोभं’—इस प्रथम पद से संयम की शुरुआत होती है। यह संयम की साधना भी है और यह संयम की सर्वोत्कृष्ट अवस्था भी है। शुरुआत इसलिए कि जब कोई संयम लेता है, तब वह संयम का ग्रहण लोभ वश या आकांक्षा वश नहीं कर सकता। लोभ का अर्थ है आकांक्षा या तो दुःख से दूर जाने की आकांक्षा अथवा सुख पाने की आकांक्षा। इन दो बातों में सभी प्रकार की आकांक्षाएं आ जाती हैं। जब भी कोई संयम लेता है, तब वह लोभ के वश नहीं ले सकता। यदि वह लोभ के अधीन होकर ले तो वह संयम में आगे नहीं बढ़ सकता। जब तक आकांक्षा न छूट जाए, तब तक स्थिरता नहीं आती। जब तक वह आकांक्षा बनी रहती है, तब तक वह संयम में स्थिर नहीं हो सकेगा। यदि संयम लेने के बाद भी कोई आकांक्षा जग गई तो अस्थिरता आ जाएगी। किसी भी प्रकार के सुख की आकांक्षा, देवगति का सुख, मान-सम्मान का सुख, मित्र-परिवार का सुख, दुःख से दूर जाने की आकांक्षा, शरीर को रोग या कलह से दूर जाने की इच्छा। उससे संयम में क्लेश उत्पन्न होता है, अस्थिरता आती है। विणाविलोभं यह पद महत्त्वपूर्ण है। इसी से संयम की शुरुआत,

इसी से संयम में स्थिरता है और यही संयम की उत्कृष्टता है कि जब लोभ पूर्णतः छूट जाता है।

प्रत्येक साधक को यह देखना जरूरी है कि कहीं कोई आकांक्षा तो नहीं जग गई, सुख को पाने की या दुःख को दूर करने की।

तब यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हम साधना क्यों करें? साधारणतः व्यक्ति सुख को पाने के लिए साधना करता है। यदि व्यक्ति केवल इसीलिए साधना करता है कि सुख मिले अथवा दुःख दूर हो जाए, रोग ठीक हो जाए या धन मिले, तब वह जब तक आकांक्षा पूरी नहीं होगी, तब तक वह साधना करेगा। आकांक्षा पूरी होने पर उसका साधना के प्रति उत्साह क्षीण भी हो सकता है।

दीक्षा लेने का कारण—न सुख को पाने के लिए, न दुःख को छोड़ने के लिए। जब किसी भी आत्मा में ज्ञान जागृत होता है, तब वह उस जागृत ज्ञान के आधार पर त्याग करता है। जैसे शूकर का दृष्टान्त। या तो जैसे कहते हैं इन्द्रियों का सुख, संसार का सुख कैसा है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और उसके दांतों का खून निकलकर उसे स्वाद देता है, लेकिन जब उसे लगता है कि यह स्वाद हड्डी चबाने से, हड्डी से आ रहा है, यही उसका अज्ञान है और इसी अज्ञान का नाम संसार है। लेकिन उसे जब यह ज्ञान हो जाता है कि खून हड्डी चबाने से हड्डी से नहीं, अपितु अपने ही दांतों से आ रहा है, तब वह हड्डी को निस्सार जानकर छोड़ देता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों के भोग-उपभोग में सुख दिखायी देता है परन्तु जब व्यक्ति आत्म-जागरण के द्वार देख लेता है कि सुख भोगोपभोग में नहीं, अपितु स्वयं से स्वयं में है, तब व्यक्ति की भोगोपभोग का सुख त्यागकर स्वयं में ही रुचि लेता है। उसे ज्ञान युक्त वैराग्य कहते हैं। इस प्रकार दीक्षा का अर्थ हुआ संसार की असारता का भान होना। जैसे कुत्ते ने निस्सार सूखी हड्डी को छोड़ दिया, वैसे ही संसार असार लगा और छोड़ दिया। सबकी दृष्टि में यह त्याग है, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि में यह सार का ग्रहण है, निस्सार को छोड़ दिया। यह है ज्ञानयुक्त वैराग्य।

हमें प्रतिदिन अपनी साधना में देखना है कि कहीं वह लोभयुक्त तो नहीं है, क्योंकि आकांक्षा अस्थिरता को लाती है। अस्थिरता एवं कषाय के मिलन से खेद, दुःख का जन्म होता है। जैसे स्थिरता एवं उपशान्ति के मिलन से आनंद मिलता है।

संघ में शक्तिशाली कौन?

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नहीं है, वास्तव में तो आत्मबल ही मेरा बल है, लेकिन अपनी भ्रान्ति के कारण वह उन सारे बलों को बढ़ाने के लिए अनेक पापकर्मों का उपार्जन करता है, अनंत अशुभ कर्मवर्णणाओं को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलों को बढ़ा कर भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कहीं मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए। उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है, वह वास्तविक बल नहीं है।

वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है, उतना ही अभय का विकास बढ़ता है। बाकी सारे बल भय बढ़ाते हैं। जितना व्यक्ति भयभीत होगा, उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढ़ता है और उस भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य रूप से बलवान है, उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता। भगवान अभय में जीवन को लिए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वे चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे, लेकिन उन्होंने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा नहीं ली, क्योंकि वे जान गए थे, बाह्य बल बढ़ाने से आत्मबल नहीं बढ़ता और सहारा लेने पर आत्मबल का विकास नहीं होता तथा बिना आत्मबल के ज्ञान का जागरण नहीं होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल आश्रित आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होते हैं, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नहीं खड़ा है, अपितु स्वयं अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है, वह सदैव दूसरों को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पाप कर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढ़ाना ही तो सत्य, अहिंसा और साधना का मार्ग। भगवान का मार्ग वीरों का मार्ग है। वीर वह जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकांश लोगों को है कि बाह्यबल बढ़ाने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते हैं कि मेरा श्रावक बल बढ़ेगा, तो मेरा

बल बढ़ेगा, मेरे प्रति मान-सम्मान एवं भक्ति रखने वालों की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपंच भी बढ़ेगा। यही अज्ञान है।

वास्तविकता यह है कि बाह्यबल बढ़ाने से उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नहीं बढ़ता, अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढ़ते हैं।

साधु वही है, जो बाह्यबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर ही आधारित रहता है। अतः आत्मबल का विकास करो, उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो, जितनी चित्त में स्थिरता और समाधि होगी, उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज, श्रावक, इत्यादि बल आपके साथ चलेंगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नहीं देगा।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में परिवार एवं धन-वैभव आदि में रही हुई आसक्ति का परित्याग करने एवं संयम में दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। संयम-साधना में तेजस्विता लाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ की आंधी में भी अपने पैरों को दृढ़ जमाए रखना ही साधना का उद्देश्य है। कई बार साधक क्रोध को पी जाता है। क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर वह अपने मन में आवेश को नहीं आने देता है और न उसे जीवन-व्यवहार में ही प्रकट होने देता है। परन्तु अनेक बार मानवीय दुर्बलता के कारण साधक भी मान के प्रवाह में बहने लगता है। उसे अपने ज्ञान, तप, साधना या अन्य गुणों पर गर्व होने लगता है और इनके कारण वह अपने आपको अन्य साधकों से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट समझने लगता है। यह अभिमान भी पतन का कारण है, क्योंकि इससे आत्मा में ऊंच-नीच की भावना उद्बुद्ध होती है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझने लगता है। परिणामस्वरूप दूसरे के प्रति उसके मन में घृणा एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। यह भावना पापबन्ध का कारण है। इसके फलस्वरूप आगामी भव में उसकी शक्ति का सम्यक्तया विकास नहीं हो पाता है। इसलिए साधक को अभिमान का परित्याग करना चाहिए। उसे निरभिमान रहकर साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। यही बात बताते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देशक में कहा है—

मूलम्—से असइ उच्चागोए असइ नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्जा, तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहि जाण पडिलेह सायं॥७८॥

छाया—सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे, असकृन्नीचैर्गोत्रे नो हीनः नोप्यतिरिक्तः न स्पृहयेत् (नोपीहेत्) इति संख्याय को गोत्रवादी (भवेत्)? को मानवादी (भवेत्)

कस्मिन् वा एकः गृध्येत् तस्मात् पण्डितो न हृष्येन् न कुप्येद् भूतेषु जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातम् ।

पदार्थ—से—वह जीव । असई—अनेक बार । उच्चागोए—उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ और । असई—अनेक बार । नीआगोए—नीच गोत्र में उत्पन्न हुआ, परन्तु । नो हीणे—नीच गोत्र में हीनता नहीं, और । नो अइरित्ते—न उच्च गोत्र में विशेषता-श्रेष्ठता है । नोऽपीहए—स्पृहा-अभिलाषा न करे । इय—इस प्रकार । संखाय—जानकर । को गोयावाई—कौन गोत्र का वाद करेगा । को माणावाई—कौन गोत्र का मान करेगा । वा—अथवा । कंसि एगे—किसी भी मान के स्थान में । गिज्जे—कौन आसक्त होगा ? तम्हा—इसलिए । पंडिय—बुद्धिमान पुरुष । नो हरिसे—उच्च गोत्र के प्राप्त होने पर न हर्षित होवे और । नो कुप्पे—नीच गोत्र की प्राप्ति से कुपित भी न होवे । भूएहिं—भूतों के विषय । पडिलेह—अनुपेक्षा करके । जाण—यह जानो कि । सातं—सब जीवों को सुख प्रिय है ।

मूलार्थ—यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में । इसमें किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नहीं है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान हैं । ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता भाव नहीं लाना चाहिए और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिए । अनेकों बार उच्च गोत्र में जन्म लिया जा चुका है, ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा ? कौन अभिमानी बनेगा ? और किस बात में आसक्त होगा ?

पंडित पुरुष उक्त सत्य को समझता है । इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्षित नहीं होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नहीं होने पाता, अर्थात् सदा समभावी रहता है । पंडित पुरुष यह भी समझता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है ।

हिन्दी-विवेचन

संसार एक झूला है । जीव अपने कृतकर्म के अनुसार उस झूले में झूलते रहते हैं । कभी ऊपर और कभी नीचे, इस प्रकार वे विभिन्न योनियों में इधर-उधर घूमते रहते हैं । उनका संसारप्रवाह चलता रहता है । जब तक कर्म के अस्तित्व को निर्मूल

नहीं कर दिया जाता, तब तक संसार का प्रवाह किसी भी अवस्था में नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों में गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत या जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है या यों कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च-नीच गोत्र वाला कहा जाता है और ये गोत्र या श्रेणियाँ केवल मनुष्यों में हों, ऐसी बात नहीं है। नरक, तीर्थंच, मनुष्य और देव—चारों गतियों में दोनों गोत्र पाए जाते हैं। संसार की समस्त योनियों में दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु, ये उभय श्रेणियाँ कर्मोदय का फल हैं, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म में उच्चता एवं नीचता का बन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित है। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इसमें मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समक्ष संसार को कुछ भी नहीं समझता। एक विचारक ने लिखा है कि “सौ रूपए में एक बोतल शराब का नशा रहता है।” इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम में आठ प्रकार के मद बताए गए हैं—
1. जातिमद 2. कुलमद 3. बलमद 4. रूपमद 5. विद्यामद 6. तपमद 7. लाभमद और 8. ऐश्वर्यमद। आठ प्रकार के इन भेदों में प्रायः सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। इन पर या इन में से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव में प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है। अंतर इतना ही है कि अभिमान करने से ये वस्तुएं अशुभ, हीन एवं विकृत रूप में प्राप्त होती हैं और अन्यथा शुभ रूप में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा में महानता आ पाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योंकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियों के समूह समान—तुल्य ही हैं और प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्त बार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र में दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों की आत्मा भी अनेक बार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना में, उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति

में कोई न्यूनता आई हो, ऐसा परिलक्षित नहीं होता। आगम में हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्रकर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्मविकास में बाधक नहीं है; साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने में समर्थ नहीं है। अतः साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब मात्र है। जब शीशे के सामने काले रंग का परदा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रंग का पदार्थ पड़ने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है और उक्त आवरण के अनावृत होते ही, वह अपने शुद्ध रूप में परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रंगों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नहीं खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य में कोई अंतर नहीं आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नहीं बनती।

आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नहीं, अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के बल पर नीच माने जाने वाले चांडाल आदि कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्मविकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा बन सकता है। अस्तु, गोत्र को लेकर उच्चता एवं नीचता पर विवाद करना एवं भेद की दीवारें खड़ी करना किसी भी दशा में उचित एवं न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एवं नीचता के झूले में आत्मा अनेक बार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'एगो' शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म में उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय में न तो अभिमान ही करना चाहिए और न हर्ष एवं शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

संसार में श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन प्रायः व्यक्ति या जाति के प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति या जाति का प्रभाव अधिक होता है, लोगों

से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, उसे उच्च गोत्र या कुल कह देते हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, उसे नीच गोत्र या कुल में मान लिया जाता है। आचार्य शीलांक ने भी उच्च और नीच गोत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

“उच्चैर्गोत्रे मानसत्कारार्हे, नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते...।”

प्रज्ञापना सूत्र के 23 में पद की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि सूरि गोत्र कर्म के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

“गूयते-शब्दते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद्गोत्रम्-उच्चनीचकुलौत्पत्तिलक्षणः पर्याय विशेषः तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं, कार्यकारणोपचाराद् यद्धा कर्मणोपादानविवक्षा गूयते-शब्दते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् (तद्) गोत्रम्।”

‘गोत्र’ पद में ‘गो+त्र’ दो शब्द हैं। ‘गो’ का अर्थ वाणी भी होता है और ‘त्र’ का अर्थ है, त्राण करना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणी का रक्षण करना गोत्र कहलाता है। वाणी या भाषा उच्च और नीच के भेद से दो प्रकार की है। अतः जो उच्च—श्रेष्ठ वाणी, भाषा या विचार का रक्षण करता है अथवा उसे धारण करता है, वह उच्च गोत्र वाला है और नीच वाणी को प्रश्रय देने वाला नीच गोत्र के नाम से पुकारा जाता है।

हम ऊपर बता आए हैं कि आठ प्रकार के मर्दों में जाति एवं कुल का मद या अभिमान करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है और अभिमान को अभिव्यक्त करने के लिए अन्य शारीरिक चेष्टाओं के साथ वाणी के साधन का भी प्रयोग होता है। भगवान महावीर के विषय में कहा जाता है कि भगवान ऋषभ देव के समवसरण के बाहर त्रिदण्डिक संन्यासी के वेश में साधना करते हुए अपने पिता भरत चक्रवर्ती के मुख से यह सुनकर कि तुम इस अवसर्पिणी काल में मांडलिक राजा वासुदेव एवं अंतिम—24वें तीर्थंकर बनोगे, उस त्रिदण्डिक के मन में अपने कुल का अभिमान उद्बुद्ध हो गया और वह अभिमान शारीरिक उछल-कूद के साथ वाणी के द्वारा इस प्रकार प्रकट हुआ—“मेरा दादा तीर्थंकर है; मेरा पिता चक्रवर्ती है और मैं मांडलिक राजा, वासुदेव एवं तीर्थंकर बनूंगा। इस प्रकार मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है।” इसीका परिणाम है कि वे अपने अंतिम जन्म में ब्राह्मण कुल में 82 दिन तक गर्भ में रहे।

इससे स्पष्ट होता है कि गोत्र का वाणी के साथ संबन्ध है। अभिमान की भाषा आध्यात्मिक दृष्टि से हेय मानी गई है। अतः कुल एवं जाति का अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण माना गया है। अतः नीच भाषा नीच कुल की प्रतीक है, तो उच्च भाषा श्रेष्ठ कुल की संसूचक है।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि भाषा जीवन को अभिव्यक्त करने का अच्छा साधन है। इसके आधार से हम मनुष्य-जीवन की गहराई नाप सकते हैं। भाषा-वैज्ञानिकों एवं मनोविज्ञान वेत्ताओं का यह अभिमत है कि भाषा का आचरण के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। जीवन में जितना उच्च आचरण होगा, भाषा भी उसी के आधार पर उच्चता एवं श्रेष्ठता लिए हुए होगी और हम स्वयं देखते हैं कि प्रायः आचरणनिष्ठ श्रेष्ठ विचारकों की भाषा में जितनी गंभीरता रहती है, उतनी गंभीरता साधारण जीवन वाले व्यक्तियों की भाषा में नहीं पाई जाती। आचरणहीन व्यक्तियों की भाषा में नितान्त छिछलापन, अश्लीलता एवं निम्नस्तर देखा जाता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि गोत्र की उच्चता एवं नीचता का आधार भाषा ही है और इसके कारण शुभ एवं अशुभ कर्म का बन्ध भी होता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि गोत्र की उच्चता एवं नीचता जन्मगत नहीं, अपितु कर्मजन्य है। मानव अपने श्रेष्ठ आचरण से नीच गोत्र को उच्च गोत्र के रूप में परिवर्तित भी कर सकता है। नीच कुल में उत्पन्न होकर श्रेष्ठता की ओर बढ़ सकता है। जन्म और जातिगत उच्चता या नीचता से आत्मविकास के पथ में कोई रुकावट उत्पन्न नहीं होती। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को स्पष्ट किया गया है।

कर्मवाद के संबन्ध में जैन धर्म का अपना मौलिक चिन्तन है और आज के विद्वान एवं ऐतिहासिक विचारक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि वैदिक परम्परा में मान्य कर्म विचारणा का मूल स्रोत (औरिजिनल सोर्स) जैन परम्परा में ही परिलक्षित होता है। वस्तुतः यह सत्य भी है कि कर्मवाद पर जितना गहरा चिन्तन एवं विशद विवेचन जैनागम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उतना अन्य दर्शनों में कहीं नहीं मिलता। अस्तु, अष्ट कर्मों के साथ गोत्रकर्म पर जितनी विराट् एवं उदार दृष्टि से जैनों ने सोचा-विचारा है, उतना अन्य ने नहीं सोचा। इसलिए जैन एवं वैदिक—उभय संस्कृतियों के गोत्र संबन्धी मान्यता में रात-दिन का अंतर दिखाई देता है।

वैदिक परंपरा में गोत्र जन्मगत माना गया है। ब्राह्मणों ने अपने आपको सर्वश्रेष्ठ घोषित करके वर्णभेद की एक दीवार खड़ी कर दी। साधना के सारे अधिकार उन्होंने अपने पास रखे; यहां तक कि शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति को वेद पढ़ने एवं सुनने का भी अधिकार नहीं दिया गया। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का शोषण किया गया। उनके अधिकारों का अपहरण करके उन्हें मानवीय हितों से भी वंचित कर दिया। उस समय भगवान महावीर ने जन्मगत श्रेष्ठता एवं हीनता की असत्य एवं अमानवीय मान्यता का विरोध किया और इसके लिए उन्हें उस युग के एक बहुत बड़ी जातीय शक्ति का सामना भी करना पड़ा। परन्तु यह सत्य है कि उस युग में महावीर के चिन्तन ने वैदिक परंपरा की नींव को एक प्रकार से हिला दिया और उन्हें भी अपनी रूढ़ मान्यता में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इतना तो मानना ही होगा कि भगवान महावीर के चिन्तन ने आज के विचारकों को काफी प्रभावित किया है और वे इस बात से सहमत हैं कि आत्मविकास के लिए उच्च या नीच कुल बाधक नहीं है। निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी साधना के पथ पर गतिशील हो सकता है।

पाठभेद

कुछ प्रतियों में 'पंडिय—पंडितः' शब्द का उल्लेख मिलता है। और नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—“एगमेगे खलु जीवे अईअब्बाए असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए कंडंगट्ठयाए नो हीणो नो अइरित्ते।” इस प्रकार उक्त पाठभेद से विभिन्न वाचनाओं की सिद्धि होती है, जोकि विद्वानों के अन्वेषण की अपेक्षा रखती है।

प्रस्तुत सूत्र में जाति एवं कुलमद के त्याग का उपदेश दिया गया। परन्तु इसके साथ अन्य 6 मद भी त्यागने योग्य हैं, इस बात को भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार साधक को अभिमान का पूर्णतः त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होना चाहिए। उसे न नीच गोत्र की प्राप्ति पर चिन्ता करनी चाहिए और न उच्च गोत्र की उपलब्धि पर हर्ष ही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी को अच्छे-बुरे साधन शुभाशुभ कर्म के अनुसार मिलते हैं। अतः साधक को किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए और शुभाशुभ कर्मफल का

विचार करके हर्ष एवं शोक का त्याग करके हर परिस्थिति में समभाव की साधना करनी चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समिह एयाणुपस्सी, तंजहा-अन्धत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुण्टत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ ॥79॥

छाया—समितः एतदनुदर्शी तद्यथा—अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्वं, कुब्जत्वं, वडभत्वं, श्यामत्वं, श्वलत्वं सह प्रमादेन अनेक-रूपाः योनिः, संदधाति विरूपरूपान्, स्पर्शान् परिसंवेदयते।

पदार्थ—समिह—समिति से युक्त होकर। एयाणुपस्सी—यह देखने वाला हो। तंजहा—जैसे कि। अन्धत्तं—अन्धापन। बहिरत्तं—बहरापन। मूयत्तं—गूंगापन। काणत्तं—काणापन। कुण्टत्तं—हाथों की वक्रता। खुज्जत्तं—कुब्जत्व—वामनपन। वडभत्तं—कुबड़ापन। सामत्तं—श्यामता-कालापन। सबलत्तं—चितकबरापन। सह पमाएणं—प्रमाद के कारण से होता है, और प्रमादी जीव। अणेगरूवाओ—नाना प्रकार की। जोणीओ—योनियों में। संधायइ—जन्म लेता है, और। विरूवरूवे—विभिन्न। फासे—स्पर्शों—दुःखों का। परिसंवेयइ—संवेदन करता है।

मूलार्थ—समिति युक्त जीव अर्थात् संयमी पुरुष कर्मविपाक को इस प्रकार देखता है कि संसार में जीवों को अन्धापन, बहरापन, गूंगापन, कानापन, हाथों की वक्रता, वामन रूप, कुबड़ापन, कालापन एवं चितकबरापन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता है और वहां अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन करता है।

हिन्दी-विवेचन

संसार विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार युक्त शरीरधारी जीवों से भरा हुआ है। इस विभिन्नता एवं विचित्रता का कारण कर्म है। अपने कृतकर्म के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी अच्छे या बुरे साधनों को प्राप्त करता है। इतना स्पष्ट होते हुए भी इस बात को वही जानता है, जो व्यक्ति समिति—संयम से युक्त है, अन्य व्यक्ति इस बात को सम्यक्त्व नहीं जानता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समिप' शब्द महत्वपूर्ण आदर्श की ओर निर्देश करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि किसी विषय को जानने का काम ज्ञान का है, अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक बात को भली-भांति जान-देख लेता है। फिर यहां ज्ञान युक्त व्यक्ति का निर्देश नहीं करके समिति युक्त व्यक्ति का जो निर्देश किया गया है, उसके पीछे गंभीर भाव अन्तर्निहित है।

समिति आचरण—चारित्र की प्रतीक है और जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं। दोनों एक साथ रहते हैं, परन्तु चारित्र के संबंध में यह नियम नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र की भजना मानी है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र हो भी सकता और नहीं भी हो सकता है। परन्तु चारित्र के साथ ज्ञान की नियमा मानी है, अर्थात् जहां सम्यक् चारित्र होगा, वहां सम्यक् दर्शन और ज्ञान अवश्य ही होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति शब्द से ज्ञान और दर्शन का भी स्पष्ट बोध हो जाता है। समिति युक्त व्यक्ति ज्ञान युक्त होता ही है।

ज्ञान विषय का अवलोकन मात्र करता है, आचरण नहीं। और यहां सूत्रकार को केवल विषय का बोध करना ही इष्ट नहीं है, प्रत्युत उस बोध को, ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप देने की प्रेरणा देना है। इसलिए सूत्रकार ने ज्ञान युक्त शब्द के स्थान में समिति युक्त शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् प्रकार से आचरण में प्रवृत्तमान व्यक्ति ही कर्मजन्य दोषों का सम्यग् ज्ञान करके उन दोषों से अपने आपको बचा सकता है। वह अपने ज्ञान से इस बात को भली-भांति जान लेता है कि संसार में अंधे, बहिरे मूक, काने, वामन, कुबड़े, विकृत हाथ-पैर वाले, चित्तकबरे, कुष्ट आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति अपने पूर्वभव में किए गए प्रमाद युक्त आचरण का फल पा रहे हैं। अर्थात् प्रमाद के आसेवन से आत्मा विभिन्न योनियों में जन्म लेता है और उक्त विभिन्न प्रकार की शारीरिक विकृतियों एवं स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए संयमी पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए, उसे अपनी साधना में सदा जागरूक रहना चाहिए।

समिति का अर्थ है—विवेक के साथ संयम मार्ग में प्रवृत्त होना और वह पांच

प्रकार की है—1. इर्यासमिति, 2. भाषासमिति, 3. एषणासमिति, 4. आदाननिक्षेप समिति, और 5. उत्सर्ग समिति।

1. इर्यासमिति—विवेकपूर्वक गमनागमन करना।
2. भाषासमिति—विवेकपूर्वक संभाषण करना।
3. एषणासमिति—विवेकपूर्वक आहार आदि की गवेषणा करना।
4. आदान निक्षेपसमिति—वस्त्र-पात्र आदि विवेक से रखना एवं उठाना।
5. उत्सर्गसमिति—मल-मूत्र आदि का विवेकपूर्वक उत्सर्ग करना।

उक्त समिति से युक्त साधक प्रमाद एवं तज्जन्य अशुभ कर्मों के फल को भली-भाँति देखकर, सदा उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखता है और सदा अप्रमत्त भाव से साधना-पथ पर गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

अन्धत्व आदि के दो भेद किए हैं—1. द्रव्य और 2. भाव। आंखों में देखने की शक्ति का अभाव द्रव्य अन्धत्व है और ज्ञान चक्षु का अनावृत्तना नहीं भाव अन्धत्व है और उभय दोषों से आत्मा विभिन्न दुःखों एवं कष्टों का संवेदन करती है। द्रव्य अन्धत्व से वह पराधीनता के दुःख का अनुभव करती है और भाव अन्धत्व के कारण नरक-तिर्य्यच आदि विभिन्न योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करती है। अन्धत्व की तरह अन्य दोषों को भी समझ लेना चाहिए।

अन्धत्वादि दोषों की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं। अतः जो जीव प्रमाद के वश हिताहित में विवेक नहीं करते, अर्थात् अपने अज्ञान के कारण हित को अहित एवं अहित को हित समझते हैं, उनकी जो स्थिति होती है, उसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से अबुज्झमाणे अहओवहए जाईमरणं अणुपरियट्ठमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवणं खित्तवत्थुग्गमायमाणानं, आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ॥80॥

छाया—स अबुध्यमानः हतोपहतो जातिमरणमनुपरिवर्तमानः जीवितं पृथक् प्रियमिहैकेषां मानवानां क्षेत्र वास्तु ममायमानानाम् आरक्तं, विरक्तं, मणिकुण्डलं सह हिरण्येन स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव रक्ताः नात्र तपो वा; दमो वा, नियमो वा दृश्यते सम्पूर्ण बालो जीवितुकामः लालप्यमानः मूढः विपर्यासमुपैति।

पदार्थ—से—वह अहं भाव युक्त। अबुज्झमाणे—कर्म स्वरूप को नहीं जानने वाला प्राणी। हओवहए—विभिन्न व्याधियों से पीड़ित होकर एवं अपयश को प्राप्त करके। जाइमरणं—जन्म-मरण के चक्र में। अणुपरियट्टमाणे—परिभ्रमण करता रहता है। इहं—इस संसार में। खित्तवत्थुममायमाणानं—खेत, मकान आदि के ममत्व रखने वाला। एणेसिं माणवानं—किन्हीं मनुष्यों को। पुढो—पृथक्-पृथक् प्रत्येक को। जीवियं—असंयम जीवन। पियं—प्रिय है। आरत्तं—रंगे हुए वस्त्रादि। विरत्तं—विभिन्न रंग वाले वस्त्र आदि। मणि—नीलमादि मणि। कुण्डलं—कानों के कुण्डल। सह हिरण्येण—स्वर्ण आदि के साथ। यत्थियाओ—स्त्रियों को। परिगिज्झ—प्राप्त करके। तत्थेव—तथा उक्त पदार्थों में। रत्ता—मूर्छित होते हुए, कहते हैं, कि। इत्थ—यहां पर। तवो—तप। वा—अथवा। दमो—दम—इन्द्रिय और मन का दमन। वा—अथवा। नियमो—अहिंसा आदि। न दिस्सई—फलित नहीं देखे जाते हैं। संपुण्णं—अत्यन्त। बाले—अज्ञानी जीव। जीविउकामे—असंयमित जीवन की कामना वाले। लालप्पमाणे—भोगों के लिए अत्यन्त प्रलाप करने वाले। मूढे—मूर्ख। विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—कर्म स्वरूप के बोध से रहित अज्ञानी जीव शारीरिक मानसिक दुःखों एवं अपयश को प्राप्त करता हुआ, जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। खेत, मकान आदि में आसक्त मनुष्यों को असंयत जीवन ही प्रिय लगता है और रंगे हुए एवं भिन्न रंग युक्त वस्त्रों, चन्द्रकान्त आदि मणियों, कुण्डल एवं स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियों को प्राप्त करके, उनमें आसक्त होने वाले मनुष्य यह कहते हैं कि इस लोक में तपश्चर्या, इन्द्रिय एवं मनोनिग्रह एवं अहिंसा आदि नियमों का कोई फल दिखाई नहीं पड़ता। अत्यन्त अज्ञानी जीव, असंयमित जीवन के इच्छुक विषय-भोगों के लिए अत्यन्त प्रलाप करता हुआ मूढ़ता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है।

हिन्दी-विवेचन

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि सम्पद्-ज्ञान से रहित विषयासक्त प्राणी कर्मजन्य फल को नहीं जानते हैं। अतः वे तप, संयम, नियम आदि पर विश्वास नहीं करके, भौतिक सुख-साधनों में आसक्त रहते हैं। और रात-दिन खेत-मकान, वस्त्र, स्त्री आदि भोगोपभोग साधनों में ही लिप्त रहते हैं और उन्हीं में सुख की अनुभूति करते हुए विपरीत बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'हओवहए भवइ' शब्द का अर्थ है—ये विषयासक्त प्राणी विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों से, दुःखों से हत—पीड़ित होते हैं। और दूसरे व्यक्तियों के द्वारा तिरस्कृत एवं अपमानित होने से उपहत—विशेष पीड़ित होते हैं। या उच्च गोत्र के अभिमान से हत होते हैं और नीच गोत्र में तिरस्कार का संवेदन करते हुए उपहत होते हैं। इस प्रकार ये प्रमादी प्राणी विषयों में आसक्त होकर जन्म-मरण प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं।

विषयों में अत्यधिक ममता-मूर्छा के कारण उसके विचारों में विपरीतता आ जाती है। इसीलिए कहा गया है कि वह 'विप्परियासमुवेइ' अर्थात् विपरीतता को प्राप्त होता है। तत्त्व में अतत्त्व और अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि रखने का नाम विपर्यास है। यही विपरीत-विचारणा आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराती है।

सांसारिक भोगों की पूर्ति धन एवं स्त्री दोनों की प्राप्ति होने पर होती है। धन की प्राप्ति हो परन्तु स्त्री का अभाव हो तो वैषयिक सुख की पूर्ति नहीं हो सकती और वैषयिक सुख का साधन स्त्री तो हो, परन्तु धन का अभाव हो तब भी भोगोपभोग का पूरा आनन्द नहीं आ सकता। क्योंकि भोगेच्छा की पूर्ति के साधनों को जुटाने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। अतः विषय-वासना की पूर्ति के लिए दोनों साधन अपेक्षित हैं। सूत्रकार ने यही बात 'सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ' शब्द से अभिव्यक्त की है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विषयासक्त प्राणी भोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलाप करते रहते हैं। अर्थात् भोग भोगते हुए भी उन्हें तृप्ति नहीं होती और न वास्तविक सुख की ही अनुभूति होती है।

अतः साधक को वासना का परित्याग करके आत्मविकास की ओर बढ़ना चाहिए। अब सूत्रकार आत्मसाधना के पथ पर बढ़ने वाले साधकों के विषय में कहते हैं—

मूलम्—इणमेव नावकंखंति, जे जणा ध्रुवचारिणो । जाईमरणं परिज्जाय, चरे सकमणे दढे । नत्थि कालस्स णागमो, सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गह्णिए चिट्ठइ, भोअणाए । तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्जइ । इय से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ॥४१॥

छाया—इदमेव नावकाक्षन्ति ये जनाः ध्रुवचारिणः । जाति-मरणं परिज्ञाय, चरेत् संक्रमणे दृढः ! नास्ति कालस्य नागमः, सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः, सुखास्वादाः, दुःख प्रतिकूलाः अप्रिय वधाः प्रिय जीविनः, जीवितुकामाः सर्वेषां जीवितं प्रियं, तत् परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा स तत्र गृह्यः तिष्ठति भोजनाय ततः तस्यैकदा विविधं परिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति तमपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य अगार दाहेन (गृहदाहेन) वा तस्य दह्यते इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन संमूढः विपर्यासमुपैति मुनिना खलु एतत् प्रवेदितं अनोधन्तराः एते न च ओघं तरितुं, अतीरंगमाः एते न च तीरं गन्तुम्, अपारंगमाः एते, न च पारं गन्तुम् आदानीयं चादाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति, वितथं प्राप्याखेदज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति ।

पदार्थ—जे—जो। जण—जन। ध्रुवचारिणो—ध्रुवचारी मोक्ष साधक ज्ञान दर्शनादि सम्यग् आचरण करने वाले हैं वे। इणमेव—पूर्वोक्त असंयत जीवन को। नावकंखंति—नहीं चाहते। हे शिष्य! तू। जाइमरणं—जन्म-मरण के स्वरूप को। परिन्नायं—जानकर। संकमणे—चारित्र्य में। दढे—दृढ़ होकर। चरे—चल-विचर, कारण कि। कालस्स—काल का। णागमो—अनागमन। नत्थि—नहीं है, अर्थात् मृत्यु का समय अनिश्चित है, और। सव्वे—सब। पाणा—प्राणियों को। पियाउआ—अपनी आयु प्रिय है तथा सब जीव। सुह साया—सुख चाहने वाले हैं और। दुक्ख पडिकूला—दुःख सब को प्रतिकूल है। अप्पियवहा—वध सबको अप्रिय है। पियजीविणो—जीवन सब को प्रिय है और वे जीव। जीविउकामा—जीवन की इच्छा करने वाले हैं और। सव्वेसिं—सर्व जीवों को। जीवियं—असंयममय जीवन। पियं—प्रिय है। तं—उस असंयममय जीवन को। परिगिज्झ—ग्रहण करके। दुप्पयं—द्विपाद-मनुष्यादि नौकर-चाकर। चउप्पयं—चतुष्पाद—गो महिषी और अश्व आदि पशुओं को। अभिजुज्जिया—कार्य में नियुक्त करके तथा। संसिचया—धन का संचय करके। तिविहेण—तीन करण व तीन योग से। जाऽवि—जो कुछ भी। से—उसे। तत्थ—उसमें। मत्ता—माया (धन) आदि पदार्थों की इयता। भवई—प्राप्त होती है। अप्पा वा—अल्प अथवा। बहुया वा—बहुत धन मात्रा के। से—वह व्यक्ति। तत्थ—धन मात्रा के। भोयणाए—उपभोग के लिए। गड्ढिहए चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है। तओ—तत्पश्चात्। से—उसके पास। एगया—किसी समय। विविहं—नाना प्रकार का। परिसिट्ठं—भोगने से बचा हुआ। संभूयं—संभूत पर्याप्त। महोवगरणं—महा उपकरण-द्रव्य समूह एकत्रित। भवइ—हो जाता है। से—उसकी। तंप्पि—उस एकत्रित धन राशि का भी। एगया—एक समय-भाग्य के क्षय होने पर। दायाया—सम्बन्धी जन। विभयंति—बांट लेते हैं। वा—अथवा। अदत्तहारो—दस्यु-चोर। से—उसके धन को। अवहरत्ति—चुरा ले जाते हैं। वा—अथवा। रायाणो—राजा लोग। से—उसके धन को। विलुम्पति—लूट लेते हैं। वा—अथवा। से—उनका वह धन। नस्सइ—व्यापारादि में नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—उसका वह धन। विणस्सइ—अन्य प्रकार से नष्ट हो जाता है। वा—अथवा। से—वह उसका धन। अगारदाहेण—घर के दग्ध होने से। डज्झई—जल जाता है। इय—इस प्रकार। से—वह धन के सम्पादन करने वाला।

परस्सद्दुआए—दूसरों के लिए। कूराइं—क्रूर। कम्माइं—कर्म। पकुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस। दुक्खेण—कर्म विपाक जन्य दुःख से। संमूढे—विवेक शून्य होता हुआ। विपरियासमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त होता है विकल बुद्धि वाला हो जाता है। हु—निश्चय ही। एयं—यह विषय। मुणिणा—मुनि, तीर्थकर देव ने। पवेइयं—सम्यक् प्रकार से प्ररूपित किया है कि। एए—ये। अन्यतीर्थी लोग सब ज्ञान और चारित्र से हीन। अणोहंतरा—अनोधन्तर हैं—अर्थात् (इन्होंने—ने) संसार सागर को अथवा आठ प्रकार के कर्मों के ओघ को नहीं तरा है। नो य—और ना ही वे। ओहं—संसार समुद्र को। तरित्तए—तैरने में समर्थ ही हैं। एए—ये सब। अतीरंगमा—तीर को प्राप्त नहीं कर पाए हैं। नो य—और नाहि हैं। तीरंगमित्तए—तीर को प्राप्त करने में समर्थ ही है। एए—ये सब। अपारंगमा—पार को प्राप्त नहीं कर पाए हैं। नो य—और नाहि। पारंगमित्तए—पार को प्राप्त करने में समर्थ ही हैं। आयाणिज्जं—आदानीय श्रुत-ज्ञान को। आयाय—ग्रहण करके। तंमि ठाणे—उस संयम स्थान में। अखेयन्ने—अज्ञानी जीव। न चिट्ठइ—नहीं ठहरता है अपितु। वितहुं—मिथ्या उपदेश को। पप्प—प्राप्त करके। तमि—उस। ठाणंमि—असंयम स्थान में। चिट्ठइ—स्थित रहता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! जो मोक्ष के साधक हैं, वे इस असंयत जीवन की इच्छा नहीं रखते हैं। अतः तुम जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर संयम मार्ग में दृढ़ होकर चलो।

काल—मृत्यु के आने का कोई समय नियत नहीं है। न जाने कब आ जाए। सब प्राणियों को जीवन प्रिय है, सभी सुख की अभिलाषा रखते हैं, और दुःख सबको प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है, सभी जीवन की कामना करने वाले हैं, सब जीवों को जीवन प्रिय है, असंयम जीवन के आश्रित होकर द्विपद—मनुष्य, दास-दासी आदि और चतुष्पद पशु—गोमहिषी और अश्व आदि को उन-उन कार्यों में नियुक्त करके और इस प्रकार धन का संचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने में प्राणी मन, वचन और काय से आसक्त रहता है। किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत-सा धन भोगने के पश्चात् भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय

अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस संचित धन को उसके सगे-सम्बन्धी आपस में बांट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा लूट लेता है, व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एवं घर में आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरों के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मों को करता हुआ उस दुःख से मूढ़ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है, तीर्थंकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग संसार समुद्र को न तो तर ही पाए हैं और न तरने में समर्थ ही हैं। तथा ये सब न तो तीर-को किनारे को प्राप्त हुए हैं और न प्राप्त करने में समर्थ ही हैं। अतएव ये सब पार नहीं पहुंचे हैं और पार होने में समर्थ भी नहीं हैं। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अखेदज्ञ, अकुशल जीव संयम स्थान में स्थित नहीं रहता है, अपितु मिथ्या उपदेशों को प्राप्त करके असंयम स्थान में स्थित रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधना के प्रशस्त मार्ग का तथा उसके प्रतिबन्ध कारणों का विवेचन किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है। ध्रुव का अर्थ स्थायी होता है और मोक्ष में आत्मा सदैव स्थित रहती है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा फिर से संसार में नहीं लौटती है। इसलिए मोक्ष को ध्रुव कहा है और इसके विपरीत संसार अध्रुव कहलाता है और इसी कारण सांसारिक वैषयिक सुख भी अस्थिर, क्षणिक एवं अध्रुव कहलाते हैं। अतः मोक्षाभिलाषी साधक क्षणिक, विनश्वर और परिणाम में दुःख रूप विषय-भोगों की आकांक्षा नहीं रखते। इतना ही नहीं, अपितु वे तो प्राप्त भोगों का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि ये ऊपर से आकर्षक एवं सुहावने प्रतीत होने वाले विषय सुख आत्मा को पतन के गर्त में गिराने वाले हैं। इसलिए वे उनके प्रलोभन में नहीं फंसे।

प्रथम तो भौतिक सुख-साधन ही अस्थिर हैं। जो धन-वैभव आज दिखाई दे रहा है, वह कल ही नष्ट हो सकता है और परिक्षीण होने पर उसकी समाप्ति के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं। कभी परिवार में विभक्त हो जाने के कारण ऐश्वर्य की

शक्ति कम हो जाती है या चोर लूट ले जाते हैं, नदी आदि के प्रवाह में बह जाता है, आग में जल जाता है या व्यापार में हानि हो जाती है। इस प्रकार संपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नहीं है और दूसरे यह जीवन भी अस्थिर है। कोई नहीं जानता कि काल किस समय आकर सारे बने-बनाए खेल को ही बिगाड़ दे। समस्त वैभव एवं परिवार यहीं पड़ा रहता है और व्यक्ति अगले लक्ष्य पर चल पड़ता है। उसकी समस्त अभिलाषाएं, भोगेच्छाएं मन में ही रह जाती हैं, सब भोग के साधन यहीं रह जाते हैं। वह तो केवल कर्मबन्धन का बोझ लेकर चल पड़ता है। अस्तु सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभाव में व्यक्ति भोगेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक पापकर्म करता है, विषय-वासना में आसक्त रहता है और कभी-कभी पापकर्म को बांध कर भी प्राप्त किए गए भोगों को भोग नहीं सकता। इसलिए साधक को इन भोगों से अलग रहना चाहिए। क्योंकि विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'ध्रुवचारिणो' का अर्थ है—'ध्रुवो मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुवं तदाचरितुं शीलं येषां ते' अर्थात्—ध्रुव नाम मोक्ष का है, अतः उसके साधन भूत ज्ञानादि साधन भी ध्रुव कहलाते हैं। उनका सम्यक्तया आचरण करने वाला ध्रुवचारी कहलाता है। इसके अतिरिक्त 'धूत चारिणो' पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है—'धुनातीति धूतं—चारित्रं तच्चारिणः' अर्थात्—कर्म रज को धुनने—झाड़ने वाले साधन को धूत कहते हैं। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अतः सम्यक्चारित्र को धूत कहा है और उसकी आराधना करने वाले मुनि को धूतचारी कहा गया है।

'संकमणे दढे' पद का अर्थ है—संकम्यतेऽनेनेति संक्रमणं चारित्रं तत्र दृढ—विश्रोतसिकारहितः परीषहोपसर्गे निष्प्रकम्पः।' अर्थात्—संक्रमण चारित्र का नाम है। अतः परीषह एवं उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दृढ़ता पूर्वक चारित्र का परिपालन करने वाले साधक को 'संकमणे दढे'—चारित्र में दृढ़ कहा जाता है। साधक की कसौटी परीषह के समय ही होती है। संकट के समय ही विचलित नहीं होने वाला मुनि ही आत्मसाधना के पथ पर आगे बढ़ता है।

'सर्वे पाणा पियाउया सुहसाया.....' आदि पाठ से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान महावीर के युग में हिंसा का प्राबल्य था। यों तो हर युग में हिंसक

व्यक्ति मिल ही जाते हैं। परन्तु उस युग में हिंसा का प्रचार इतना बढ़ गया था कि धर्मस्थान भी वधस्थान से बन रहे थे। यज्ञ की वेदियां खून से रंगी रहती थीं। धर्म के नाम पर हजारों-लाखों पशुओं की गर्दनों पर छुरियां चलती थीं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिंसक यज्ञों का विरोध किया और लोगों को यह बताया कि संसार का प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दुःख सबको अप्रिय लगता है, सभी प्राणी दुःख की एवं मृत्यु की दारुण वेदना से बचना चाहते हैं, जीवन सबको प्रिय है। इसलिए प्रबुद्ध पुरुष को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में यही कहा है¹।

कुछ प्रतियों में “सव्वे पाणा पियायाया” यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है—सब प्राणियों को अपनी आत्मा प्रिय है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नहीं चाहता है। अतः साधक को चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाए।

जो व्यक्ति हिंसा, झूठ आदि पापों में आसक्त हैं, उन व्यक्तियों को प्रस्तुत सूत्र में अनोधतर कहा है। ओघ दो प्रकार का होता है—1. द्रव्यओघ और 2. भावओघ। नदी के प्रवाह को द्रव्य ओघ कहते हैं। और अष्टकर्म या संसार को भावओघ कहते हैं और इस संसार रूपी सागर को पार करने वाले व्यक्ति को ओघतर कहते हैं। परन्तु वही व्यक्ति इसे तैर कर पार कर सकता है, जो हिंसा आदि दोषों से मुक्त है। उक्त दोषों में आसक्त एवं प्रवृत्त व्यक्ति इसे पार करने में असमर्थ है। इसलिए सूत्रकार ने उसे अनोधतर, अतीरंगम और अपारंगम कहा है। यहां उक्त शब्द भाव ओघ अर्थात् संसार सागर के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। तीर और पार शब्द के अर्थ में इतना ही अन्तर है—‘तीर’ शब्द मोह कर्म के क्षय को व्यक्त करता है और ‘पार’ शब्द शेष अन्य तीन घातिक कर्मों के क्षय का संसूचक है। अथवा ‘तीर’ शब्द से चारों घातिक कर्मों का क्षय और ‘पार’ शब्द से चारों अघातिक कर्मों का क्षय करने का अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाले व्यक्ति अष्ट कर्मों का क्षय करके संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं।

इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह उपदेश किसके लिए है? प्रबुद्ध

1. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति।

पुरुष के लिए या मूढ़ व्यक्ति के लिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देशो पासगस्स नत्थि बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ठं अणुपरियट्ठइ, तिबेमि॥४२॥

छाया—उद्देशः (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनस्निहः कामसमनोज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्तमनुपरिवर्तते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देशो—उपदेश। पासगस्स—तत्त्वज्ञ-प्रबुद्ध पुरुषों के लिए। नत्थि—नहीं है। बाले पुण—फिर अज्ञानी व्यक्ति। निहे—राग युक्त। कामसमणुण्णे—काम भोगों का आसेवन करने वाला। असमिय दुक्खे—जिसके अभी तक दुःख उपशान्त नहीं हुए हैं, ऐसा। दुक्खी—दुःखी प्राणी। दुक्खाणमेव—दुःखों के। आवट्ठं—चक्र में। अणुपरियट्ठइ—परिभ्रमण करता रहता है।

मूलार्थ—तत्त्वज्ञ पुरुष के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानी जीव राग-युक्त और विषय-भोगों में आसक्त होता है। अतः उसके दुःख उपशान्त नहीं होते हैं। ऐसा दुःखी प्राणी दुःखों के चक्र में ही परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ या प्रबुद्ध और बाल दो प्रकृतियों का चित्रण किया गया है। इसमें बताया गया है कि जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ है, प्रबुद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह विषय-वासना से प्राप्त होने वाले कटु फल को भली-भांति जानता है, अतः वह उससे निवृत्त हो चुका है और उससे निर्लिप्त रहने के लिए अपनी साधना में सदा सजग रहता है। परिणाम-स्वरूप, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता है और न दुःख के प्रवाह में प्रवहमान ही होता है।

इसके विपरीत, जो वासना के कटु फल को नहीं जानता है, ऐसा अज्ञानी व्यक्ति दुःखों का उपशमन करने के लिए विषय-भोगों का आसेवन करता है। जैसे गरमी की ऋतु में पसीने से भीगा बालक खेलते-कूदते घर में आता है और सारे वस्त्र उतार कर

पसीना सुखाने के लिए नंगे शरीर धूप में जा खड़ा होता है। वह समझता है कि भीगे हुए वस्त्रों की तरह धूप मेरे पसीने को सुखा देगी। परन्तु परिणाम इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् पसीना सूखने के स्थान में और अधिक आने लगता है। यही स्थिति भोगों से दुःख दूर करने वाले अज्ञानी जीवों की होती है। उससे दुःख कम नहीं होते, अपितु बढ़ते हैं। क्योंकि दुःख का मूल कारण राग-द्वेष आसक्ति एवं मोह है और विषय-भोग एवं भौतिक ऐश्वर्य को संप्राप्त करने से उसका प्राबल्य रहता है। अतः उससे दुःखों की एवं जन्म-मरण की परम्परा में अभिवृद्धि होती है। ऐसा समझकर साधक को भोगों से सदा दूर रहना चाहिए। 'त्ति बेप्पि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



अध्यात्मसार : 3

मूलम् : से असइं उच्चागोए असउं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्जे तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहि जाण पडिलेह सायं॥ 2/3/78

मूलार्थ : यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में। इसमें किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नहीं है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान हैं। ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता का भाव नहीं लाना चाहिए और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिए। अनेकों बार उच्च गोत्र में जन्म लिया जा चुका है, ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा? कौन अभिमानी बनेगा? और किस बात में आसक्त होगा?

पंडित पुरुष उक्त सत्य समझता है, इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्षित नहीं होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नहीं होने पाता, अर्थात् सदा समभावी रहता है। पंडित पुरुष यह भी समझता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है।

जीव का अज्ञान

व्यक्ति का अज्ञान क्या है? जो दुःख संवर्धन का रास्ता है, उसे वह दुःखमुक्ति का रास्ता मानता है। जैसे इससे पूर्व आपने देखा जो बल को क्षीण करने वाले कारण हैं, उन्हें वह बल संवर्धन के उपाय समझता है, ऐसा ही अज्ञान मान के सम्बन्ध में भी समझना।

आत्मा का मूल स्वभाव

मूलतः आत्मा का स्वभाव क्या है? समत्व आत्मा का स्वभाव है। यह समत्व इस दृष्टि से भी है कि निज रूप में सभी समान हैं। न कोई हीन है, न कोई उच्च है। फिर

भी सत्ता एवं मूल गुणों के विकास की दृष्टि से हम किसी को वन्दन करते हैं तो यह हमारी प्रमोद भावना है। ऐसे तो सत्ता रूप से सभी में शुद्धता है, लेकिन प्रमोद रूपी भावना से धीरे-धीरे यह व्यवहार बन गया कि रत्नाधिक को वन्दन करना, लेकिन इसे ही अन्तिम नहीं मान लेना। किसी के प्रति प्रमोद भावना होना उचित है, लेकिन किसी के प्रति भी हीन भावना नहीं रखना। यह जो व्यवहार बनाया वह संघ की व्यवस्था के लिए है, लेकिन उसका मूल है प्रमोद भावना।

यह व्यवहार आवश्यक है, व्यवस्था और अनुशासन के लिए; अन्यथा अव्यवस्था हो जाएगी। जैसे समाज में यह व्यवहार बन गया है कि पुत्र माता-पिता को वन्दन करना। आवश्यक नहीं है कि माता-पिता उच्च गुणों से युक्त ही हों। कई बार पुत्र अधिक तेजस्वी होता है, फिर भी पुत्र माता-पिता को प्रणाम करता है, यही समाज की व्यवस्था है। ऐसे ही यह संघ की व्यवस्था है कि रत्नाधिक को वन्दन करना। ऐसे तो किसका दर्शन अधिक शुद्ध है, किसका चारित्र्य अधिक निर्मल है, यह हम नहीं जान सकते; फिर भी समय की अपेक्षा जो बड़ा हो, उसे वन्दन करना। लेकिन इसे जड़ता से नहीं लेना। कभी-कभी अपनों से छोटों में भी गुणों की अधिकता हो सकती है। अतः किसी को भी हीन नहीं समझना, अपितु वन्दन करें या न करें, लेकिन सभी के प्रति प्रमोदभाव रखना।

दूसरी बात मूल रूप से वन्दना हम सभी को कर सकते हैं, क्योंकि सत्ता रूप से न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। यदि तुमने प्रणाम किया 'अपने से किसी छोटे व्यक्ति को' तो पाप नहीं लगता। यहाँ तक कि गृहस्थ को भी वन्दन करने से पाप नहीं लगता, क्योंकि वन्दन सभी को कर सकते हैं, लेकिन इसके लिए आपके पास गुणों की पहचान होनी आवश्यक है, क्योंकि वन्दन एक प्रकार से उस व्यक्ति में रहे हुए गुणों की अनुमोदना है, जैसे किसी तपस्वी को आप वन्दन करते हैं, प्रमोदभाव से उसके तप को देखकर तब यह वन्दन उसके तपस्वी गुण और उसके पुरुषार्थ की अनुमोदना है। मुझमें भी ऐसा पुरुषार्थ जागे उस गुण का तथारूप विकास हो, लेकिन जब आप सर्व-साधारण जन के समक्ष किसी गृहस्थ को वन्दन करते हैं, तब साधारण लोग उसे आपका एक आदर्श समझ लेते हैं। सभी लोग यह नहीं देख पाते कि आप क्यों झुक रहे हैं। हो सकता है कि आपको उनमें कोई विशेष गुण दिखाई दिया हो और आपने प्रणाम किया, लेकिन साधारण व्यक्ति वह उस विशेष गुण को देख नहीं

पाता। वह तो यही समझता है कि वह व्यक्ति जैसा भी है पूर्णतः अनुमोदनीय है, आचरणीय है।

यदि आप समझपूर्वक शुद्ध भावपूर्वक किसी सद्गुणी को वन्दन कर रहे हैं तो हम उसकी पात्रता की अनुमोदना कर रहे हैं। जैसे हम भगवान की माँ को प्रेमपूर्वक याद कर उन्हें प्रणाम भी करते हैं, तो यह उनकी पात्रता की अनुमोदना है कि तीर्थंकर भगवान को जन्म देने की योग्यता उन्होंने प्राप्त की। यह सब आध्यात्मिक दृष्टिकोण से है। व्यवहारदृष्टि से रत्नत्रय में जो हमसे बड़े हैं, जिन्होंने पहले दीक्षा ली, उनको वन्दन करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो आपके प्रति वन्दन कर रहा है, उसमें कोई सद्गुणों की कमी है, वह किसी प्रकार से हीन है, नहीं। आदर और प्रमोद भाव तो सभी के प्रति रखना। यदि यह पारस्परिक आदर और प्रमोद भाव नहीं रहता, तब फिर ऊँच-नीच, मान-अपमान की भावना का जन्म होता है।

इस प्रकार मूलतः दो बातें सदा ध्यान में रखनी, 1. ना कोई ऊँच है ना कोई नीच, वरन सभी समान हैं, 2. सभी के प्रति प्रमोद भावना, जीवो मंगलम् सभी जीव मंगल स्वरूप हैं। भगवत् स्वरूप हैं, सभी जीव महान हैं।

कहते हैं अयोग्य को वन्दना करने से पाप कर्म का बन्धन होता है, या फिर चित्र को वन्दन करने से पापकर्म का बन्धन होता है।

शुभ भाव पूर्वक सद्गुणों के प्रति रहे हुए प्रमोदभाव पूर्वक वन्दन करते हैं; तब पापकर्म का बन्धन नहीं होता है। जब भगवान के चित्र को आप देखते हैं, तब आपके भीतर भगवान के उन गुणों का स्मरण होता है, अर्थात् आप चित्र में भगवान की स्थापना करते हैं और चित्र के निमित्त को लेकर आपके आन्तरिक उच्चतम भावों का प्रकर्ष होता है और उसे भावपूर्वक वन्दन करते हैं तो वह कर्म निर्जरा का कारण बनता है।

कहा भी है, 'गुणी जनों को देख, मेरे हृदय में प्रेम उमड़ आवे' इस प्रकार गुणी जनों के प्रति स्नेह और आदरभाव रखना उचित है।

तो क्या हम किसी की भी शरण में जा सकते हैं। शरण और वन्दन में अन्तर है। वन्दन प्रमोद भाव पूर्वक सद्गुणों की अनुमोदना है।

शरण : अर्थात् आप जिसकी शरण में जाते हैं, उसे आपने पूर्णतः स्वीकार कर

लिया। अपने मन-वचन-काया से आप पूरी तरह समर्पित हो गये। अपने आपको पूरी तरह चढ़ा दिया कि अब मैं तुम्हारी शरण में हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है। अतः हम वन्दन भले ही किसी को भी करें, लेकिन शरण तो अरिहंतों की ही है।

तो क्या हम किसी भी देव-देवी को वन्दन कर सकते हैं? यदि आप यह समझकर करते हैं कि उनमें ये विशेष गुण हैं, उन गुणों के प्रति अनुमोदना है, तब बात अलग है। लेकिन साधारण मनुष्य वन्दन और शरण के अन्तर को समझ नहीं पाता। वह किसी भी देव या देवी के प्रति झुकता है तो वह उसी को शरण मान लेता है। अतः जरूरी नहीं है कि हम हर किसी के सामने जाकर सिर झुकाएँ। हाँ, हमें किसी की निन्दा नहीं करनी है। क्योंकि निन्दा योग्य कोई भी नहीं है। सभी के प्रति अहोभाव और प्रेम रखना, सभी के प्रति मंगल का भाव रखना है, लेकिन शरण तो हमारी एक ही है, अरिहन्त की शरण।

मूलम् : समिए एयाणुपस्सी, तंजहा-अन्धत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुणटत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ॥ 2/3/79

मूलार्थ : समिति युक्त जीव अर्थात् संयमी पुरुष कर्मविपाक को इस प्रकार देखता है कि संसार में जीवों को अन्धापन, बहरापन, गूंगापन, कानापन, हाथों की वक्रता, वामन रूप, कुबड़ापन, कालापन एवं चितकबरापन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता है और वहाँ अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन करता है।

यहाँ पर समिति के अन्तर्गत गुप्ति का भी समावेश अपने आप हो जाता है क्योंकि बिना गुप्ति के समिति नहीं हो सकती। समिति कहने से गुप्ति अपने आप आ जाती है, क्योंकि गुप्ति होगी तो समिति होगी। मूल साधना है गुप्ति की और जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक है समिति। इस गुप्ति और समिति की समन्वित साधना को साधक एयाणुपस्सी, यह देख लेता है कि ये जो शरीर के रोग हैं ये जो शरीर के दोष हैं, वे सारे प्रमाद जन्य कर्मों के कारण हैं। यह बात वह स्वयं के श्रुतज्ञान के विकास से इन्द्रियातीत अवधि ज्ञान से जान लेता है। महत्त्वपूर्ण है

समिति और गुप्ति की साधना। इससे समस्त कर्मों के स्वरूप का बोध हो जाता है। एक बार यह बोध हो जाए, तब फिर हर्ष या शोक नहीं सताता। मूल साधना गुप्ति की है, गुप्ति के साथ है समिति। यहाँ पर जाति और कुल की बात कही गयी है। खानदान सम्बन्धी जो महत्त्व पहले बताया गया, वही महत्त्व गोत्र का भी है।

जब भी कोई साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है तो जैसे पूर्व में बताया गया है, उसका जाति और कुल उत्तम होना चाहिए। इसमें अपवाद भी हो सकता है। परन्तु साधारणतः यही नियम है।

जाति एवं कुल अर्थात् मातृपक्ष एवं पितृपक्ष उच्च होना चाहिए। प्रमाद के पाँच भेद—मद्य, विषय, कषाय, निन्दा और विकथा है।

मूलम् : से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियड्डमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणानं, आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ॥ 2/3/80॥

मूलार्थ : कर्मस्वरूप के बोध से रहित अज्ञानी जीव शारीरिक-मानसिक दुःखों एवं अपयश को प्राप्त करता हुआ, जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। खेत-मकान आदि में आसक्त मनुष्यों को असंयत जीवन ही प्रिय लगता है और रंगे हुए एवं विभिन्न रंग युक्त वस्त्रों, चन्द्रकान्त आदि मणियों, कुण्डल एवं स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियों को प्राप्त करके, उनमें आसक्त होने वाले मनुष्य यह कहते हैं कि इस लोक में तपश्चर्या, इन्द्रिय एवं मनोनिग्रह एवं अहिंसा आदि नियमों का कोई फल दिखाई नहीं पड़ता। अत्यन्त अज्ञानी जीव, असंयमी जीवन के इच्छुक विषय-भोगों के लिए अत्यन्त प्रलाप करता हुआ, मूढ़ता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है।

यहाँ पर जो पहले का सूत्र है, इससे विपरीत अवस्था का चित्रण किया गया है। जो समिति-गुप्ति का पालन करता है, उसे कर्मों के स्वरूप का बोध हो जाता है। जो पालन नहीं करता है, वह अज्ञान में ही रह जाता है और उस अज्ञान से ही यह सब

पैदा होता है। उसे जीने की तीव्र आकांक्षा रहती है। जीने की आकांक्षा किससे आती है? जीने की आकांक्षा का जन्म होता है इस देह के प्रति रही हुई आसक्ति के कारण, क्योंकि वह मानता है, अनुभव करता है कि मैं देह हूँ, वह देह के संयोग को जन्म और देह के वियोग को मृत्यु मानता है। जितनी देहासक्ति होगी, उतनी ही समाधिमरण में जीने की जो कांक्षा है, उसका त्याग किया जाता है, जिससे कि देहासक्ति से व्यक्ति दूर हों, जीने की आकांक्षा तथा मरने की कांक्षा, दोनों ही देहासक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। देहासक्ति के छूटते ही ये दोनों आकांक्षाएं भी छूट जाती हैं।

संयम

इन्द्रियनिग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह संयम है और विषयों को जुटाने के लिए अथवा 'प्राप्त करने के लिए' जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह असंयम है।

मूल बात तो मन की है। मन में यदि देह के प्रति आसक्ति रही तो नियम, उपनियमों का पालन करते हुए भी वह असंयम है, तभी वह दिखावा कर रहा है, क्योंकि देहासक्ति से दबा हुआ उसका मन सदा विषयों के प्रति दौड़ रहा है। अतः बाहर से नियम-उपनियम के द्वारा संयम का पालन करते हुए भी उसका पुरुषार्थ भीतर से इन्द्रियों की पूर्ति के लिए ही है, तब वह असंयमी है।

तप की विधि : अनशन का महत्त्व

देहासक्ति की मूल जड़ क्या है? देहासक्ति की मूल जड़ है आहार। इसलिए अनशन को महत्त्व दिया। व्यक्ति सब कुछ सहन कर सकता है, लेकिन भूख नहीं। तुम कितने ही सुन्दर साधन, वस्त्र, मकान कुछ भी दे दो, लेकिन बिना भोजन कुछ भी नहीं सुहाता, वह व्याकुल ही रहेगा। इस प्रकार देहासक्ति का मूल है आहार। आहार का अर्थ है आहार संज्ञा। वह शरीर की भूख को अपनी भूख मानता है। अनशन को इतना महत्त्व इसलिए दिया कि जिसके माध्यम से तुम यह देख सको कि यह भूख मेरी नहीं देह की है। अनशन वस्तुतः तुम्हारी देहासक्ति की परीक्षा है।

जबर्दस्ती भूखा रहना अलग बात है। कोई बलवान है और भूखा रह रहा है, यह बात अलग है, क्योंकि केवल भूखा रहना ही सब कुछ नहीं है। देहासक्ति का दूटना

भी जरूरी है और वह होता है अनशन के साथ किये गये आत्मनिरीक्षण से। इसलिए कई जमह आयम्बिल को उपवास से अधिक महत्व दिया गया है। देहासक्ति को तोड़ने के लिए अनशन, आयम्बिल इत्यादि बहुत ही सहायक हैं, लेकिन अनशन किस प्रकार करना है, यह देखना भी जरूरी है। अनशन में यह देखना है कि यह भूख मुझे लगी या देह को लगी। यह निरीक्षण होता है मनोगुप्ति की साधना से, अतः अनशन के साथ-साथ समिति व गुप्ति का अभ्यास भी आवश्यक है। मन का गोपन करना ही तब स्वयं का स्वयं तक आना आवश्यक है। जैसे ध्यान के द्वारा हम मनोगुप्ति को साधते हैं। तब व्यक्ति का मन स्वयं में लीन होता है और उस तल्लीनता से आत्मनिरीक्षण स्वयमेव होता है। इस प्रकार अनशन करते हुए अपने आपको देखने पर देहासक्ति टूटती है। यहाँ पर आहार त्याग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मनिरीक्षण। केवल आहार त्याग कर दिया, इतना ही नहीं, साथ-साथ ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना भी होनी चाहिए।

मनोगुप्ति की साधना अर्थात् मूलतः ध्यान एवं कायोत्सर्ग की साधना। इस प्रकार ध्यान करते हुए देहासक्ति टूटने का अपने आप अनुभव होगा। अनशन से मनोगुप्ति में प्रगाढ़ता आती है, लेकिन बिना समिति और गुप्ति की साधना के कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं हो सकता। चाहे वह अनशन है, भक्ति और प्रार्थना है, पूजा या प्रभु नाम स्मरण है। कुछ भी हो साथ में समिति-गुप्ति आवश्यक हैं।

समिति : सम्यक् प्रकार से की गयी प्रवृत्ति ही समिति है। सम्यक् प्रकार से अर्थात् यत्नापूर्वक, विवेकपूर्वक जीवों की रक्षा करते हुए। सबकी समझ में अच्छी तरह आ सके, इसलिए हमने समस्त प्रवृत्ति को पाँच भागों में बाँट दिया है। उसे ही सम्यक् प्रकार करने को समिति कहते हैं।

क्या गृहस्थ भी समिति-गुप्ति की साधना कर सकता है?

गृहस्थ भी कर सकता है। जितना गुप्ति को साध सके अच्छा है, साथ में जो भी करें समितिपूर्वक करें।

गुप्ति—मन-वचन-काया का गोपन करना गुप्ति है। जितना हम मन-वचन और काया को साध सकें, उतना ही संयम, बाकी असंयम। गुप्ति-निवृत्ति रूप है—‘ठाणेणं मोणेणं ज्ञाणेणं।’

संयम का मूल आधार

बाह्य आचार भी महत्त्वपूर्ण है, लेकिन आन्तरिक दृष्टिकोण संयम का मूल आधार है। यदि आन्तरिक दृष्टिकोण देह के सुख की पूर्ति का है, तब बाह्य आचार होते हुए भी असंयम है। अगर आन्तरिक दृष्टिकोण देह के पार जाने का है, तब वह संयम के अभिमुख है। यदि दृष्टिकोण देह के पार जाने का है, तब भोग-उपभोग के मध्य रहते हुए भी वह यह सोचता है कि मुझे इनसे मुक्ति कैसे मिले। अतः सम्यक् दृष्टि का लक्षण है, रुचि। निश्चय में—सम्यक् दर्शन मिलने पर संयम में रुचि जागती है। व्यवहार में—अरिहंत, सुसाधु एवं सद्धर्म पर श्रद्धा रखने को, उनकी शरण में जाने को सम्यक् दर्शन कहते हैं। इस व्यवहार सम्यक्त्व से इनकी शरण में जाने से आन्तरिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है। यहाँ पर देहासक्ति के अन्तर्गत धन, पद, प्रतिष्ठा, परिवार इन सबके प्रति जो आसक्ति है, ये सब समाविष्ट हैं। तो जिसे पद-प्रतिष्ठा का मोह है, वह भी असंयमी है, क्योंकि पद प्रतिष्ठा का मोह भी देहासक्ति का ही एक रूप है, और जिसके भीतर देहासक्ति की पूर्णता का दृष्टिकोण विद्यमान है, उसका पुरुषार्थ भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में एतदर्थ आसक्ति की पूर्ति के साधनों की ओर ही होगा।

देह सुख का अर्थ केवल भोजन एवं काम सुख ही नहीं है, क्योंकि धन, पद, प्रतिष्ठा, परिवार सब कुछ इसी से जुड़ा हुआ है। जब भी कोई आपका नाम लेकर आपको ढूँढ़ने के लिए आएगा, तब वह किसे ढूँढ़ेगा? आपकी इस देह को ही ढूँढ़ेगा, क्योंकि यह नाम इत्यादि आपकी देह को दी हुई एक संज्ञा है। इस प्रकार पद-प्रतिष्ठा को पाने की आकांक्षा ही वस्तुतः असंयम का आधार है। ऐसा व्यक्ति हर समय देखता रहेगा कि मेरी पद-प्रतिष्ठा कैसे बढ़े। इसलिए साधु के लिए कहा गया, सभी प्रकार की आकांक्षाओं को छोड़ वीतरागी बने। वीतरागी बनने की आकांक्षा कोई आकांक्षा नहीं है, वरन् यह इन्द्रियों के पार जाने की एक स्वाभाविक रुचि है। यदि आज रुचि है तो कल पहुँचेगा ही। यह रुचि वैचारिक नहीं, अपितु सहज होनी चाहिए। जैसे, भोजन के लिए भूख लगती है। यह भूख लगना स्वाभाविक है। भूख सोच-विचार करके नहीं लगती है। इसी प्रकार जिसमें ऐसी सहज रुचि जागती है, वही साधक है। इस रुचि से आगे है, चारित्र्य।

यह रुचि-जागृत होती है, जब सम्यक् दर्शन जागृत होता है। सम्यक् दर्शन के द्वारा, अर्थात् देव-गुरु-धर्म की शरण में जाने पर अपने आप एक दिन स्वरूप बोध होकर 'निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर' यह रुचि जागती है। कहते हैं एक बार सम्यक् दर्शन का स्पर्श होने पर व्यक्ति का मोक्ष जाना निश्चित है, क्यों? क्योंकि सम्यक् दर्शन होने पर जो स्वाभाविक रुचि जागी, वह रुचि अपने आप रास्ता ढूँढ़ेगी। उपादान तैयार होने पर निमित्त मिलता है। अपनी उस रुचि के कारण कितने ही भोग-बन्धनों में रहते हुए भी, वह निरन्तर यह खोजता रहेगा कि मैं कैसे बन्धन से बाहर आऊँ। उसकी सही खोज उसे चारित्र्य तक ले जाएगी। यह सब कुछ समिति और गुप्ति की साधना से होता है। समिति-गुप्ति की साधना के अभाव में व्यक्ति अज्ञान में ही रहता है और जीता है। इस अज्ञानवश इतना पुरुषार्थ करते हुए भी वह अतृप्त ही रहता है। इन्द्रियों के सुख-दुःख में जीते हुए, वह सदा परितप्त रहता है।

दूसरा वह अपयश को प्राप्त करता है। अपयश का अर्थ अपमान नहीं है। हो सकता है असंयमी व्यक्ति को अधिक सम्मान मिले। अपमान तो साधु का भी हो सकता है और असंयमी का भी सम्मान हो सकता है। हो सकता है कि पूर्व अर्जित पुण्य के उदय से, असंयमी व्यक्ति के सम्मान में वृद्धि हो, लेकिन वह यश नहीं है।

यश और कीर्ति

सम्यक् पुरुषार्थ एवं पराक्रम के द्वारा व्यक्ति के नाम में जो संवर्धन होता है, उसे यश कहते हैं। जैसे—चक्रवर्ती और तीर्थंकर में यह अन्तर है। चक्रवर्ती कीर्ति को प्राप्त करते हैं, तीर्थंकर यश को।

कीर्ति : अपने पुरुषार्थ एवं पूर्व अर्जित पुण्य के माध्यम से पद-प्रतिष्ठा, भोग-उपभोग के साधनों को एकत्र कर परिग्रह के क्षेत्र में उच्चता, धन के माध्यम से, पद के माध्यम से, अपने नाम में संवर्धन करना कीर्ति का उपार्जन है।

यश : इन्द्रियों का निग्रह करने हेतु जो पुरुषार्थ किया जाता है और उस पुरुषार्थ से जो आन्तरिक उच्चता प्राप्त होती है, उस आन्तरिक उच्चता के प्रति लोगों की श्रद्धा और उनका सम्मान प्राप्त करना यश है।

'यह सारे सूत्र का मूल है'। जरूरी नहीं है कि संयमी व्यक्ति को यश मिले ही,

मिल भी सकता है और नहीं भी मिल सकता। लेकिन असंयमी व्यक्ति को कभी भी यश नहीं मिल सकता। असंयमी को केवल कीर्ति ही मिलती है। वह भी पूर्व पुण्य अथवा वर्तमान में की हुई दान-सेवा इत्यादि से।

इस सारे सूत्र का मूल है देहासक्ति, उससे इन्द्रियासक्ति, अर्थात् देहासक्ति से इन्द्रियासक्ति। इन्द्रियासक्ति से इन्द्रियों के विषयों के प्राप्त होने के साधनों से आसक्ति और उस आसक्ति से व्यक्ति विपरिणाम और मूढ़ता को प्राप्त करता है और फिर इसी मूढ़ता में मृत्यु को प्राप्त कर नीच गति में जन्म लेता है। कभी-कभी पूर्व पुण्य के आकस्मिक उदय से उसे मृत्यु से पहले जागरण आ जाता है और मूढ़ता टूटती है तो सद्गति भी हो सकती है।

मूलम् : इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे। नत्थि कालस्स णागमो, सब्बे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सब्बेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिण चिड्डइ, भोअर्णाए। तओ से एगया विविहं परिसिड्डं संभूयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डंज्झइ। इय से परस्सडाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिड्डइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिड्डइ॥ 2/3/81

मूलार्थ : हे शिष्य! जो मोक्ष के साधक हैं, वे इस असंयमी जीवन की इच्छा नहीं रखते हैं। अतः तुम जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर संयम मार्ग में दृढ़ होकर चलो।

काल—मृत्यु के आने का कोई समय नियत नहीं है। न जाने कब आ जाए। सब प्राणियों को जीवन प्रिय है, सभी सुख की अभिलाषा रखते हैं, और दुःख सबको प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है, सभी जीवन की कामना करने वाले हैं, सब जीवों को जीवन प्रिय है, असंयमी जीवन के आश्रित होकर द्विपद—मनुष्य, दास-दासी आदि और चतुष्पद—पशु—गो-महिषी और अश्व आदि को उन-उन कार्यों में नियुक्त करके और इस प्रकार धन का संचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने में प्राणी मन-वचन और काया से आसक्त रहता है। किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत-सा धन भोगने के पश्चात् भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस संचित धन को उसके सगे-सम्बन्धी आपस में बांट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा लूट लेता है, व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एवं घर में आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरों के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मों को करता हुआ उस दुःख से मूढ़ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है। तीर्थंकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग, संसार समुद्र को न तो तर ही पाये हैं और न तरने में समर्थ ही हैं तथा ये सब न तो तीर को—किनारे को प्राप्त हुए हैं और न प्राप्त करने में समर्थ ही हैं। अतएव ये सब पार नहीं पहुँचे हैं और पार होने में समर्थ भी नहीं हैं। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अखेदज्ञ, अकुशल जीव संयम स्थान में स्थित नहीं रहता है, अपितु मिथ्या उपदेशों को प्राप्त करके असंयम स्थान में स्थित रहता है।

ध्रुवचारिणो—जो ध्रुव में विश्वास करता है जिसकी श्रद्धा ध्रुव के प्रति है, जो ध्रुव के प्रति गति करता है और जिसकी रुचि ध्रुव में है।

ध्रुव—स्थिरता, स्थैर्य—समिति एवं गुप्ति ध्रुवता की ओर ले जाती है और इन्द्रियों के विषय अध्रुव की ओर ले जाते हैं।

मुनि की साधना क्या है? कैसे ध्रुवता आये, मुनि स्थैर्य का साधक है।

धर्म—ध्रुव का दूसरा अर्थ होता है धर्म, स्वभाव जो अनादि अनन्त है। यहाँ पर धर्म अर्थात् केवली की वाणी भी है और धर्म अर्थात् स्वभाव भी है। उस पर जो

चलने वाला है, उसमें जो रमने वाला है, उस पर जो आचरण करने वाला है, वह ध्रुवचारी है।

जिसकी आस्था शाश्वत की है और जो पर्याय को नहीं, शुद्ध द्रव्य को देखता है। शुद्ध द्रव्य जो कल भी था, आज भी है, आगे भी रहेगा। संसार के सारे पदार्थ बदलते हैं, सभी उत्पाद, व्यय और ध्रुव से युक्त हैं। पर्याय सदा बदलती हैं, लेकिन मूल स्वभाव ध्रुव है। ध्रुवचारी उस मूल स्वभाव को देख लेता है। स्वभाव को देखने से उसके जीवन में जो व्यवहार आता है, आचरण आता है, वह ध्रुवाचार है।

ऐसे तो मोक्ष को भी ध्रुव कहते हैं। अस्तित्व की अपेक्षा से देखें तो संसार में सब कुछ शाश्वत है। जैसे मोक्ष शाश्वत है, वैसे ही नरक, स्वर्ग सभी कुछ शाश्वत है। इनमें परिवर्तन हो सकता है, लेकिन ये नष्ट कभी नहीं होते। इतना अवश्य है कि मोक्ष गति में जाने के पश्चात् पुनः कोई लौटकर आता नहीं, इस अपेक्षा से मोक्ष को विशेष रूप से ध्रुव कह सकते हैं।

हमारी साधना—अध्रुव से ध्रुव की ओर जाना, जैसे सारे सम्बन्ध जिसे हम सम्बन्ध कहते हैं वे अध्रुव हैं। लेकिन एक सम्बन्ध ध्रुव है वह है मैत्री। दस्तुतः मैत्री कोई सम्बन्ध नहीं है, वरन् सम्बन्धित होने का दृष्टिकोण है। जैसे कोई सम्बन्ध बनता है माता-पिता, भाई-बहिन इत्यादि ये सारे सम्बन्ध शरीर के हैं।

व्यक्ति को स्वरूप बोध हो जाने पर सभी के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है, जिस सम्बन्ध का निर्माण होता है, वह है मैत्री। स्वरूप बोध से जिस दृष्टिकोण का निर्माण होता है, वह है मैत्री।

यह सम्बन्ध बताया नहीं गया, अपितु स्वरूप का बोध होने पर स्वयमेव मैत्री जागती है, तुल्यभाव का जागरण होता है, प्रत्येक में लगता है, वह मेरा ही स्वरूप है।

नावकांक्षंति : ध्रुवचारी व्यक्ति, कांक्षा नहीं करता। 'यह विशेष आकांक्षा की अपेक्षा सामान्य संकल्प-विकल्प हो सकता है,' क्योंकि जब स्वभाव और ध्रुव को व्यक्ति जान ले तब कांक्षा कैसी? कांक्षा शाश्वत की नहीं होती, अशाश्वत् की होती है। जो था, है और रहेगा, उसकी क्या कांक्षा? कांक्षा उसकी हो सकती है, जो या तो अभी नहीं है अथवा अभी तो है पर आगे नहीं रहने वाला है, अर्थात् जो अशाश्वत है। इसलिए मोक्ष की कांक्षा नहीं होती, वरन् मोक्ष की रुचि होती है।

जाईमरणं परिन्नाय : वह जन्म और मरण को परिज्ञात कर लेता है, परिपूर्ण रूप से जान लेता है। जो ध्रुव को जान लेता है, वह उत्पाद और व्यय दोनों को जान लेता है। लेकिन जो केवल उत्पाद को देखता है, वह अधिक-से-अधिक व्यय को देखता है। ध्रुव को जान भी सकता है और नहीं भी जान सकता। इसी प्रकार जो व्यय को देखता है, वह अधिक-से-अधिक उत्पाद को देखता है, पर जो ध्रुव को देखता है, वह उत्पाद-व्यय दोनों को जान लेता है। इसलिए जो स्वभाव को जान लेता है, वह जाई मरण—जन्म-मरण दोनों का परिज्ञान कर लेता है। इस प्रकार दोनों को जान लेता है, वह धर्म पर दृढ़ होकर आचरण कर लेता है, क्योंकि हमारा मन, हमारे कर्म संस्कार सदा ही पर्याय में आसक्त और मग्न रहते हैं। पर्याय देह की, पर्याय संकल्प और विकल्प रूप विचारों की। इसलिए साधक को ध्रुव में दृढ़ रहना होगा। संकल्प-विकल्पों में न उलझकर स्वभाव में स्थिरता रखनी होगी।

नत्थि कालस्स णागमो : बीता हुआ काल पुनः लौटकर आने वाला नहीं। यहाँ पर संयम की दुर्लभता बताई है। जितनी ध्रुव की आराधना कर सको, उतनी कर लेनी चाहिए; क्योंकि पुनः-पुनः ध्रुव में रमण करने का अवसर नहीं मिलता।

सभी प्राणियों को सुख-साता प्रिय है। इस प्रकार सभी प्राणी मूलतः ध्रुव तक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन वह सुख-साता और जीवन को, अध्रुव में ही ढूँढते हैं। वस्तुतः सुख-साता और जीवन कहाँ पर है? ध्रुव में है लेकिन हम कहाँ पर ढूँढते हैं अध्रुव में। यही हमारा अज्ञान है।

नत्थि कालस्स णागमो : यह काल पुनः लौटकर आने वाला नहीं है। इसीलिए कहा गया है 'खणं जाणां सो पंडिओ' पंडित व्यक्ति क्षण को—उचित अवसर को जानकर उसका उपयोग कर लेते हैं, क्योंकि साधना योग्य अवसर पुनः-पुनः नहीं आते हैं। जब सारे संयोग अनुकूल होते हैं, तब कहीं अनन्त जन्मों के पश्चात् साधना का अवसर आता है। इसलिए जब भी ऐसा अवसर आये, उसका उपयोग कर लेना चाहिए। उसके आगे जो स्थिति बतायी गयी है कि जो द्विपद, चतुष्पद इत्यादि प्रकार के परिग्रह को व्यक्ति एकत्रित करता है। जैसे पहले कहा था, देहासक्ति से इन्द्रियासक्ति, इन्द्रियासक्ति से विषयासक्ति को पूर्ण करने वाले, साधनों के प्रति आसक्ति।

अध्रुव क्या है? यह देह। अध्रुव अर्थात्—आज देह का संयोग है कल नहीं भी

रह सकता है। ऐसी अध्रुव देह की आसक्ति से संसार की शुरूआत होती है। इस प्रकार संसारी को अध्रुवाचारी कहते हैं। जिसका दृष्टिकोण अध्रुव की वृद्धि का है, जिसकी दृष्टि अध्रुव के प्रति आसक्ति की है, वह अध्रुवचारी है, संसारी है। वह अध्रुव कुछ भी हो सकता है। देह, देह से सम्बन्धित भोग-उभोग, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा इत्यादि।

ध्रुव में चलना संयम है, अध्रुव में चलना असंयम है। या तो यों भी कह सकते हैं कि संयम ध्रुव है, असंयम अध्रुव है। जो अध्रुव में आसक्त है वह सदा राग-द्वेष में उलझा रहता है। जिसकी वृत्ति ध्रुव में रहती है, वह ध्रुव में स्थित हो जाता है। जिसकी दृष्टि ध्रुव के प्रति अभिमुख है, वह विरागी है। जो ध्रुव में पूरी तरह स्थित हो जाता है, वह वीतरागी है। यहाँ पर जो सारी स्थिति बताई गयी है, वह अध्रुवाचारी की है।

इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति के लिए वह साधन एकत्रित करता रहता है। व्यक्ति की यहाँ पर मूढ़ता देखिए कि वह इतने साधन इकट्ठे कर लेता है। साधन एकत्रित करने की प्रवृत्ति इतनी महत्वपूर्ण और प्रमुख हो जाती है कि वह शान्ति से इनका उपभोग भी नहीं कर पाता। फिर एक दिन इनमें से कोई-न-कोई बात होती है कि या तो वह धन राजा आदि ले लेता है या चोर चोरी कर लेता है या फिर अग्नि में दग्ध हो जाता है।

व्यक्ति की आसक्ति इतनी बढ़ जाती है कि उस आसक्तिवश उसे तब खयाल नहीं रहता और बिना सत्य-असत्य का खयाल रखे वह धन को एकत्रित करना चाहता है। असत्य-पूर्वक जो भी धन, जो भी सामर्थ्य आएगा वह अधिक दिन तक टिक नहीं सकता। वह अपने आप नष्ट हो जाएगा और उसके नष्ट होने पर व्यक्ति परितप्त होगा।

चारों अवस्थाओं में दुःख : भगवान ने ठीक कहा है, धन एकत्रित करने से पहले भी व्यक्ति दुःखी होता है। एकत्रित करते हुए भी दुःखी और एकत्रित होने पर भी दुःखी और एकत्रित हुआ धन नष्ट होने पर भी दुःखी होता है।

आगे बताया है, ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान ने कहा है—‘अणोहंतरा, अतिरंगमा अपारंगमा’ ये जितने भी विशेषण हैं, ये उस व्यक्ति के लिए हैं, जो अध्रुवचारी है;

क्योंकि तृष्णा की कोई अन्त नहीं है। यह तो अनन्त महासागर है। तब फिर पार कैसे होगा, किनारा कैसे आएगा?

यहाँ पर यह बात अधुवाचारी की है, अन्य तीर्थियों की नहीं। इसे एक रूप से आप अन्य तीर्थ भी कह सकते हैं।

भगवान ने तीर्थ किसे कहा? साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका जिनकी रुचि ध्रुव में है, स्थैर्य में है। जो समिति-गुप्ति की साधना करते हैं या उसमें रुचि है। जिसकी रुचि ध्रुव में नहीं है, वह तीर्थ में भी नहीं है। जो संसार की वृद्धि के लिए, कामना की वृद्धि और पूर्ति के लिए, राग-द्वेष की वृद्धि और पूर्ति के लिए साधना भी करते हैं, वे अन्य तीर्थ हैं।

यहाँ पर लोग समझ नहीं पाते, भले ही व्यक्ति जिनेश्वर-देव को मानने वाला हो पर उसकी रुचि अध्रुव में है, तो वह अन्य तीर्थ है। परन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसकी रुचि सत्य में है, ध्रुव में है, वह तीर्थ में है। मूल बात रुचि किसमें है। ध्रुव में है या अध्रुव में है। ध्रुवाचारी साधक है। अध्रुवाचारी संसार में डूबा हुआ है।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में विषय-भोगों में आसक्त नहीं रहने का उपदेश दिया है। और चौथे उद्देशक के प्रारम्भ में भोगासक्त जीवों की जो दुर्दशा होती है, उसका सजीव चित्र चित्रित करके बताया है कि उन जीवों की भोगेच्छा, विषयाभिलाषा एवं ऐश्वर्य की तृष्णा तो पूरी होगी या न होगी, अर्थात् उसकी पूर्ति होने में असंदिग्धता नहीं है। कभी आंशिक रूप से हो भी सकती है और कभी नहीं भी हो सकती है। अतः उसकी पूर्ति हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि भोगों की आशा, तृष्णा, आकांक्षा एवं अभिलाषा के शल्य की चुभन तो उसे अनवरत पीड़ित करती ही रहेगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेवा अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥४३॥

छाया—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते यैः वा सार्द्धं संवसति त एव एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत् नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं भोगानेव अनुशोचन्ति इहैकेषां मानवानाम्।

पदार्थ—तओ—उस काम-भोग के सेवन से। से—उस कामी व्यक्ति को। एगया—किसी समय असाता वेदनीय कर्म के उदय से। रोग समुप्पाया—रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जेहिं वा सद्धिं—जिनके साथ। संवसइ—रहता है। ते एव णं—वे ही। नियया—स्वजन ने ही। पुव्विं—पहले। परिवयंति—उसकी निन्दा करने

लगते हैं। वा—अथवा। सो—वह रोगी। ते नियगे—उन सम्बन्धियों की। पच्छा—पीछे। परिवइज्जा—निन्दा करता है। कभी निन्दा न भी करे तब भी। ते—वे सम्बन्धी। तव—तेरी। ताणाए—रक्षा करने में। वा—अथवा तुझे। सरणाए—शरण देने में। नालं—समर्थ नहीं हैं, तथा। तुमंषि—तू भी। तेसिं—उनकी। ताणाए—रक्षा करने में। वा—अथवा। सरणाए—शरण देने में। नालं—समर्थ नहीं हैं, यह। जाणित्तुं—जानकर कि। दुक्खं—दुख और। सायं—सुख को। पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्मानुसार स्वयं भोगता है, अतः रोगोत्पत्ति के समय मन में संकल्प-विकल्प एवं दुर्भावना नहीं लानी चाहिए। परन्तु कुछ प्राणी। भोगामेव—भोगों का ही। अणुसोयंति—चिन्तन करते रहते हैं। इहमेगेसिं माणवाणं—इस संसार में कुछ ही मनुष्यों को भोग विषयक अध्यवसाय होता है।

मूलार्थ—आसक्तिपूर्वक काम-भोगों के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है, वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एवं उसकी निन्दा करने लगते हैं और वह भी पीछे से उनकी निन्दा करता है। यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आए, तब भी वे सम्बन्धी उसकी रक्षा करने एवं उसे शरण देने में समर्थ नहीं हैं, और न ही उनका रक्षण करने एवं उन्हें शरण देने में वह समर्थ है।

यह जान कर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृतकर्म के अनुसार सुख-दुःख का संवेदन करता है। अतः रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एवं व्याकुल नहीं होना चाहिए, कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगों का चिन्तन करते रहते हैं, रात-दिन विषय-वासना में ही संलग्न रहते हैं।

हिन्दी-विवेचन

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं कि जो दिन-रात विषय-भोगों में निमज्जित रहते हैं। वैषेयिक जीवन को ही सुखमय मानते हैं। अतः अत्यधिक भोगों के कारण या असाता-वेदनीय कर्मोदय से उन्हें रोग उत्पन्न हो जाता है। और उस भयंकर व्याधि के समय यथोचित सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था न होने से रोगी एवं परिवार के व्यक्तियों में परस्पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती है। और फलस्वरूप एक-दूसरे को

भला-बुरा भी कहने लगते हैं। इससे दोनों के जीवन में मनोमालिन्य बढ़ता है और उसकी वेदना में अभिवृद्धि होती है।

अतः साधक को वेदना के समय किसी को दोष न देकर यह सोचना चाहिए कि यह वेदना मेरे अशुभ कर्म के उदय का ही फल है और इसे मुझे ही भोगना है। क्योंकि कृत कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, मुक्ति नहीं मिलती¹। और इस वेदना से मुझे मेरी आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं बचा सकता है। परिवार के व्यक्ति न तो इससे मेरी रक्षा ही कर सकते हैं और न मुझे शरण ही दे सकते हैं और मैं भी उनकी रक्षा करने या उन्हें शरण देने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसे समय में धैर्य, सहिष्णुता एवं समभाव ही सच्चे सहायक हैं। उन्हीं के सहयोग से वेदना की अनुभूति कम हो सकती है। ऐसा सोचकर साधक को वेदना के समय भी शांति एवं धैर्य रखना चाहिए।

परन्तु जिन व्यक्तियों में ज्ञान की कमी है, वे उस समय अधीर हो उठते हैं। वैषयिक सुख को भोगने में समर्थ न होने पर भी रात-दिन उसके चिन्तन में ही संलग्न रहते हैं²। और उसे संप्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं।

भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के लिए धन-वैभव की आवश्यकता होती है। उसके बिना साधनों की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति धन को बटोरने में कृत-अकृत सभी कार्य कर गुज़रता है; फिर भी वह धन उसका सहायक नहीं बनता। उसका संरक्षण नहीं कर पाता। इसी सत्य को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवइअप्पा वा बहुगा वा से तत्थ गड्डिए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं

1. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन सूत्र

2. भोगाः—शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयाऽभिलाषास्तानेवानुशोचयन्ति-कथमस्यामप्यवस्थायां वयं भोगान् भुङ्क्ष्महे? एवंभूता वाऽस्माकंदशाऽभूद् येन मनोज्ञा अपि विषया उपनता नोपभोगायेति। ईदृक्षश्चाध्यवसायः केषीचिदेव भवतीत्याह-‘इहमेगेसिं’ ‘इह’ संसारे एकेषामनवगत-विषयविपाकानां ब्रह्मदत्तादीनां मानवानामेवंभूतोऽध्यवसायो भवति, न सर्वेषां, सनत्कुमारादिना व्यभिचारात्।

महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्ताहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुम्पन्ति नस्सइ वा से विणस्सइवा से, अगारदाहेण वा से इज्झइ, इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥84॥

छाया—त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा तस्य तत्र गृह्णस्तिष्ठति भोजनाय तत्तस्तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्यैकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते अतः स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति ।

पदार्थ—तिविहेण—तीन करण और तीन योग से एकत्रित की हुई । जावि—जो कुछ भी । से—उसकी । तत्थ—वहां पर । मत्ता—अर्थ मात्रा । भवइ—होती है । अप्पा वा बहुगा वा—अल्प या बहुत । तत्थ—उस अर्थ-द्रव्य मे । भोयणा—उसका उपभोग करने के लिए । से—वह व्यक्ति । गड्ढिण्ण चिट्ठइ—आसक्त बना रहता है । तओ—तत्पश्चात् । से—उसके पास । एगया—किसी समय । विपरिसिट्ठं—भोग के पश्चात् शेष बचा हुआ । संभूयं—प्रचुर मात्रा में । महोवगरणं—महान् धन । भवई—एकत्रित हो जाता है । से—उसके । तंपि—उस एकत्रित धन को भी । एगया—किसी समय । दायाया—सगे सम्बन्धी । विभयन्ति—परस्पर बांट लेते हैं । अदत्ताहारो वा—अथवा चोर । से हरति—उस धन को चुरा लेते हैं । रायाणो वा—राजा लोग । से विलुम्पन्ति—उस धन को विभिन्न करों के रूप में लूट लेते हैं । वा—अथवा । से—उसका धन । नस्सइ—नष्ट हो जाता है । वा से—या उसका धन । विणस्सइ—विनष्ट हो जाता है । वा—अथवा । अगारदाहेण—घर में आग लग जाने से । से—उसका धन । इज्झइ—जल जाता है । इय—इस प्रकार से । से—वह अज्ञानी जीव । परस्सअट्ठाए—दूसरों के लिए । क्रूराणि कम्माइं—कूर कर्म । पकुव्वमाणे—करता हुआ । तेण—उस । दुक्खेण—दुःख से । मूढे—मूढ़ बना हुआ । विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त हो जाता है ।

मूलार्थ—त्रिकरण और त्रियोग से एकत्रित की हुई संपत्ति की अल्प या बहुत मात्रा के उपभोग में वह व्यक्ति आसक्त रहता है। और उपभोग करने के बाद अवशिष्ट विशाल धन राशि को जिसे उसने अपने कष्ट के समय या पुत्र आदि के लिए संग्रह करके रखा था, उसके परिजन आपस में बांट लेते हैं या विभिन्न कर लगाकर तथा अन्य किसी बहाने से राजा ले लेता है, चोर चुरा लेता है या व्यापार में हानि होने से वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है या घर में आग लगने से जल जाती है। इस तरह उस धन का नाश हो जाता है और उसका संग्रह कर्ता अज्ञानी जीव दूसरों के लिए क्रूर कर्म कर के उपार्जित धन का नाश होने पर विमूढ़ या विक्षिप्त होकर विपरीत भाव को प्राप्त होता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य धन के लिए दूसरों का हिताहित नहीं देखता। वह येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने में लगा रहता है और दिन-रात उसका संचय करता रहता है। परन्तु वह धन कभी स्थायी नहीं रहता। कभी परिजन उसे बांट कर खा जाते हैं, तो कभी राजा विभिन्न प्रकार के—कर लगाकर या निर्माण-योजना आदि के बहाने उससे धन ले लेता है। कभी चोर-डाकू उसे लूट ले जाते हैं, तो कभी व्यापार आदि में घाटा पड़ जाने से उसका नाश हो जाता है या कभी घर में आग लग गई तो उसमें जलकर भस्म हो जाता है। इस तरह अनेक प्रकार से उसका हास हो जाता है। परन्तु उससे आत्मा का ज़रा भी हित नहीं होता। इतना अवश्य है कि उसके लिए किए गए क्रूर कार्य से कर्मबन्धन हो जाता है, जिससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है और इतनी कठिनता एवं पाप कार्य से प्राप्त धन के यों ही चले जाने से मन में अत्यधिक वेदना एवं संकल्प-विकल्प होता है और कभी-कभी मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है और उस मूढ़ अवस्था में विपरीत आचरण करने लगता है।

इस तरह विषय-भोगों के कटु परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुषों को उसमें आसक्त नहीं बनना चाहिए। तो उसे क्या करना चाहिए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसं च छंदं च विगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु,
जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा,

श्रीभि लोए पव्वहिए, ते भो! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं, संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं॥85॥

छाया—आशां च छन्दं च विवेक्ष्व धीर! त्वमेव तच्छल्यमाहत्य येन स्यात् तेन नो स्यात् इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः महोप्रावृत्ताः, स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः ते भो! वदन्ति एतानि आयातनानि, एतद् दुःखाय, मोहाय, माराय, नरकाय नरकतिरश्चे (नरक तिर्यग् योन्यर्थम्) सतत मूढो धर्म नाभि-जानाति उदाह—वीरः अप्रमादः महामोहे अलं कुशलस्यप्रमादेन शान्ति मरणं संप्रेक्ष्य भिदुर-धर्मं संप्रेक्ष्य नालं पश्य अलं ते (तव) एभिः।

पदार्थ—धीरे—हे धीर पुरुष! तू। आसं च—भोग आकांक्षा। छन्दं च—और भोगों के संकल्प को। विगिंच—त्याग दे। तुमंचेव—तू ही। तं सल्लमाहट्टु—उस भोगेच्छा रूप काटि को स्वीकार करके दुःख पा रहा है। जेण सिया—जिस धन-संपत्ति आदि साधन से भोगोपभोग प्राप्त हो सकते हैं। तेण नो सिया—उस धन से वे नहीं भी प्राप्त होते हैं। जे जणा—जो मनुष्य। मोह पाउड़ा—मोह से आवृत्त हैं। इणमेव—इस तत्त्व को। नावबुज्झन्ति—नहीं जानते हैं। थीभि—स्त्रियों द्वारा। लोए—लोक। पव्वहिए—दुःखित हैं। ते—वे कामी पुरुष। वयंति—कहते हैं। भो—हे मनुष्यो! एयाइं—ये स्त्री आदि। आययणाइं—भोगोपभोग के स्थान हैं। से—उनका यह कहना। दुक्खाए—दुःख के लिए। मोहाए—मोह की अभिवृद्धि करने के लिए। माराए—मृत्यु के लिए। नरगाए—नरक के लिए। नरग तिरिक्खाए—नरक के पश्चात् तिर्यच गति के लिए होता है। सययं—निरन्तर। मूढे—मूढ़ बना हुआ जीव। धम्मं—धर्म को। नाभिजाणइ—नहीं जानता है। वीरे—वीर प्रभु ने। उदाहु—दृढ़ता पूर्वक कहा है कि। अप्पमाओ—प्रमाद नहीं करना चाहिए। महामोहो—महा मोह की कारणभूत स्त्रियों के साथ (आसक्ति रूप) प्रमाद का सेवन नहीं करना चाहिए। अलं कुसलस्स पमाएण—बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमाद से दूर रहना चाहिए। संति मरणं—शान्ति—मुक्ति और मरण संसार का। संपेहाए—विचार करके, तथा। भेउरधम्मं—इस शरीर की विनश्वरता का। संपेहाए—विचार करके, प्रमाद का

आसेवन नहीं करना चाहिए। पास—हे शिष्य! तू देख। नालं—इन भोगों से तृप्ति नहीं हो सकती। अलं ते एएहिं—इन भोगों का सेवन नहीं करना चाहिए, अर्थात् इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

मूलार्थ—हे धीर पुरुष! तू भोगों की आशा एवं संकल्प-विकल्प का परित्याग कर दे। जिस धन से भोगोपभोग साधन प्राप्त किए जा सकते हैं, अन्तराय कर्म का उदय होने पर उसी धन से वे साधन प्राप्त नहीं भी हो सकते हैं। जो व्यक्ति मोह एवं अज्ञान से आवृत्त हैं, वे इस बात को नहीं समझते हैं। यह लोक स्त्रियों के मोह से आवृत्त है, पीड़ित है। अतः कामी व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि स्त्रियां भोग का साधन हैं। परन्तु उनका यह कथन मोह के लिए है, मृत्यु के हेतु है, नरक गति में तथा वहां से निकल कर तिर्यच गति में जाने के लिए है।

भगवान् महावीर ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि स्त्रियों को महामोह का कारण जानकर उनमें प्रमाद का सेवन न करे। और शरीर की विनश्वरता को समझकर प्रमाद से सदा दूर रहना चाहिए। हे शिष्य! तू इस बात को भली-भांति जान ले कि भोगों से आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। अतः साधक इनसे 'सदा दूर रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषय-भोगों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। भोग-विलास को दुःख का कारण बताया गया है। क्योंकि विषय-भोग में प्रवृत्तमान व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा एवं तृष्णा सदा बनी रहती है। वह आकाश की तरह अनन्त है और जीवन सीमित है; इसलिए उसकी पूर्ति होना दुष्कर है। यदि कभी किसी इच्छा-आकांक्षा की कुछ सीमा तक सम्पूर्ति हो भी जाए, तब भी विषयेच्छा, भोगाभिलाषा एवं पदार्थों की तृष्णा के शल्य का कांटा उसके हृदय में सदा चुभता ही रहता है। विशाल भोगोपभोग के साधनों में भी उसे सन्तोष एवं सुख की अनुभूति नहीं होती, अपितु कुछ न कुछ कमी खटकती रहती है, जिसे पूरा करने के लिए वह रात-दिन चिन्तित एवं उदास सा रहता है। फिर भी, वे साधन, वे विषय-भोग उसकी चिन्ता को, वेदना को मिटा नहीं सकते। वे तो वासना की आग को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। विषय-भोग एक तरह से प्रज्वलित आग में मिट्टी के तेल का काम करते हैं। इससे तृष्णा की ज्वाला सदा बढ़ती रहती है। अतः साधक को

भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। बुद्धिमान वही है, जो तृष्णा एवं आकांक्षा के शल्य को जीवन से निकाल देता है और वही अपने जीवन में वास्तविक सुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है।

परन्तु, जो व्यक्ति अज्ञान एवं मोह से आवृत्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि विषय-भोग एवं भोगों के साधन स्त्री आदि सुख से स्थान हैं। पर, ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ये साधन दुःख के कारण बनते हैं। कामेच्छा—भोगाकांक्षा मोह कर्म के उदय से है। अतः उसमें आसक्त होने से मोह कर्म का नाश न होकर और उसकी उदीरणा होती है, इससे तृष्णा एवं आकांक्षा में अभिवृद्धि होती है और उससे कर्मबन्धन होता है और परिणामस्वरूप आत्मा अनेक तरह के दुःखों का संवेदन करता है। अतः भोग के सभी साधन मोह को बढ़ाने वाले हैं, परन्तु काम-विकार या मैथुन मोह को अधिक उत्तेजित करनेवाला है, इससे भोगेच्छा एवं तृष्णा को वेग मिलता है और इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी कारण सूत्रकार ने महामोह शब्द से इसी भाव को अभिव्यक्त किया है। और यह स्पष्ट कर दिया है कि इससे तृष्णा एवं वासना का उपशमन नहीं होता, अपितु उसका अभ्युदय होता है। अतः विषय-वासना की तृष्णा या भोगेच्छा को मोह, मृत्यु, नरक एवं तिर्यच गति का कारण कहा है, संसार एवं दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाली बताया है। अतः उसके भयावह परिणामों को देख जान कर मुमुक्षु पुरुष को सदा-सर्वदा उससे बचकर रहना चाहिए। और साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यही भगवान महावीर का आदेश है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'थीभि' को व्याकरण से अनुसार 'हि' का आदेश होना चाहिए था, परन्तु आर्ष वचन होने के कारण यहां 'हि' का आदेश नहीं हुआ¹। मैथुन मोह का प्रधान कारण होने के कारण महामोह शब्द से स्त्री अर्थ स्वीकार किया गया है। वृत्तिकार ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

1. प्राकृत व्याकरण के नियम से 'भिस्' प्रत्यय को 'भिसोहिहिं' (प्राकृत व्याकरण 8/3/37) इस सूत्र से हिं हिं हि, ये तीन आदेश होते हैं। यथा—वच्छेभि के स्थान में वच्छेहिं, वच्छेहिं वच्छेहि तीन रूप बनते हैं। परन्तु यहां 'थीभि' के स्थान में हि आदि का प्रयोग नहीं हुआ, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्ष वाक्य में भिस् का बिना आदेश के भी प्रयोग हो सकता है।

‘संतिमरणं’ अर्थात् शान्ति और मरण शब्द से मोक्ष एवं संसार का अर्थ ग्रहण किया गया है। संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को परम शान्ति मिलती है और यह स्थिति मोक्ष में ही संभव है, इसलिए शान्ति शब्द का तात्पर्य मोक्ष है। जिस स्थान में प्राणी बार-बार मरण को प्राप्त होते हैं, उसे संसार कहते हैं। अतः मोक्ष एवं संसार दोनों के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान करके साधु को प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

यदि ‘संतिमरणं’ इसमें द्वन्द्व समास के स्थान पर तत्पुरुष समास करते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उपशम भाव में प्रवृत्तमान व्यक्ति को जिस महान् फल की प्राप्ति होती है, उसका विचार करते हुए बुद्धिमान पुरुष को प्रमाद से सर्वथा दूर रहना चाहिए¹।

भोगेच्छा जीवन को दुःखमय बना देती है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवं पस्स मुणी! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचण, एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा, थोवं लद्धं न खिंसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि, ति बेमि॥86॥

छाया—एवं पश्य मुने! महद्भयं नातिपातयेत् कंचन एष वीरः प्रशंसितः, यो न निविद्यते आदानाय, न मे ददाति न कुप्येत्, स्तोत्रं लब्ध्वा न निन्देत्, प्रतिषिद्धः परिणमेत्, एतन्मौनं समनुवायसेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मुनि—हे मुनि! एयं पस्स—ऐसा समझ कि। महब्भयं—काम-भोग महाभय का कारण हैं अतः। कंचण—किसी प्राणी को। नाइवाइज्जा—पीड़ा नहीं

1. शमनं शान्तिः—अशेष कर्मापगमोऽतोमोक्ष एव शान्तिरिति, प्रियन्ते प्राणिनः पौनः पुन्येन यत्र चतुर्गतिके संसारे स मरणः—संसारः शान्तिश्च मरणं च शान्तिमरणं, समाहारद्वन्द्वस्तत् ‘संप्रेक्ष्य’ पर्यालोच्य प्रमादवतः, संसारनुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयं, स वा कुशलः प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्यात् अथवा शान्त्या उपशमेन मरण-मरणावधिं यावत् तिष्ठतो यत्फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति। —आचारांग वृत्तिः

पहुंचानी चाहिए। एस—वह। वीरे—वीर व्यक्ति। पसंसिए—इन्द्रादि द्वारा प्रशंसा को प्राप्त करता है। जे—जो। आयाणाए—संयम का पालन करने में। न निव्विज्जइ—खेद का अनुभव नहीं करता। न मे देइ—यह गृहस्थ मुझे नहीं देता, यह विचार कर। न कुप्पिज्जा—उस पर क्रोध न करे। थोवं—अल्प। लद्धुं—प्राप्त होने पर। न खिंसए—उस गृहस्थ की निन्दा न करे। पडिसेहिए—प्रतिषेध-इनकार कर देने पर। परिणमिज्जा—उस स्थान से वापस लौट आए। एयं मोणं—इस प्रकार मुनित्व-संयम की। समणुवासिज्जासि—सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे मुनि। तू देख कि काम-भोग महाभय के उत्पादक हैं। अतः संयमी को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति संयम के परिपालन करने में किसी भी तरह खेदानुभव नहीं करता, उसकी इन्द्रादि भी प्रशंसा करते हैं।

मुनि को कभी कोई गृहस्थ भिक्षा न दे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए। और न अल्प परिमाण में देने पर देनेवाले की निन्दा करनी चाहिए, और गृहस्थ के निषेध कर देने पर मुनि को उसके घर में खड़े नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत वहां से वापस आ जाना चाहिए। इस प्रकार मुनित्व-संयम का सम्यक्तया आराधन करना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

भोग का अर्थ केवल काम-वासना एवं मैथुन सेवन ही नहीं है, प्रत्युत भौतिक पदार्थों की आकांक्षा, लालसा मात्र का भोगेच्छा में समावेश किया गया है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थों में आसक्त होना, ममत्व भाव रखना भोग है और यह लोक कहावत प्रसिद्ध है कि “भोग रोग का घर है।” यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि काम-भोग महाभय के उत्पादक हैं। उनसे वर्तमान जीवन में अनेक रोगों एवं दुःखों का संवेदन करना पड़ता है तथा भविष्य में विभिन्न योनियों में अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। अस्तु आगमों का यह कथन नितान्त सत्य है—“खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा” अर्थात् काम-भोग क्षणिक सुख रूप प्रतीत होते हैं, अतः साधक को भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए। यहां तक कि शरीर-निर्वाह के लिए

स्वीकार करने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि साधनों में भी आसक्त नहीं रहना चाहिए और न इनके लिए किसी भी प्राणी को मानसिक, शाब्दिक और शारीरिक कष्ट ही पहुंचाना चाहिए।

यदि मुनि किसी गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए गया, वहां उसे अपनी विधि के अनुसार आहार आदि उपलब्ध नहीं हुआ या गृहस्थ ने उसे आहार आदि दिया नहीं या किसी गृहस्थ ने उसे थोड़ा सा आहार दिया या किसी ने अपने घर से खाली हाथ ही लौट जाने के लिए कह दिया। इस प्रकार के अनेक विकल्पों के उपस्थित होने पर भी साधु अपने धैर्य एवं उपशान्त भावना का परित्याग करके उनके संकल्प-विकल्प के जाल में उलझ न जाए। चाहे जैसी स्थिति-परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो, पर साधक को प्रत्येक परिस्थिति में सदा-सर्वदा समभाव रखना चाहिए। गृहस्थ के न देने पर उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और थोड़ा देने पर उसकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए और उसके इनकार कर देने पर उसके घर में नहीं ठहरना चाहिए और न दीनता के भाव प्रकट करने चाहिए। क्योंकि साधु आहार आदि पदार्थों का उपभोग केवल संयम-साधना के लिए करता है, न कि पदार्थों का स्वाद चखने के लिए। अतः उसे समय पर जैसा भी पदार्थ मिल जाए उसमें सन्तोष करना चाहिए और यदि कभी परिस्थिति वश पदार्थों का संयोग न मिले, तो उसे सहज ही तप का सुअवसर समझकर सन्तोष करना चाहिए। परन्तु उन पदार्थों में आसक्त होकर साधना के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार भोगों की आसक्ति से दूर रहने वाला मुनि इन्द्रादि के द्वारा प्रशंसा को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'महब्ययं' शब्द आत्मविकास की साधना में प्रवर्तमान व्यक्ति के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द से यह अभिव्यक्त किया गया है कि विषय-भोग में आसक्त व्यक्ति सदा-सर्वदा भयभीत रहते हैं। भौतिक शक्ति एवं धन-वैभव से संपन्न होने पर भी वे निर्भयता के साथ नहीं घूम-फिर सकते। जितने भौतिक साधन अधिक होंगे उन्हें उतना ही अधिक भय होगा। रूस और अमेरिका का उदाहरण हमारे सामने है, दोनों आज के युग की महान् भौतिक शक्ति अणु आयुधों से संपन्न होने पर एक-दूसरे से अत्यधिक भयभीत हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विषय-भोग भय में अभिवृद्धि करने वाले हैं। अतः उनका परित्याग करने वाला

वीर पुरुष ही निर्भय हो सकता है। उसे संसार के किसी भी कोने में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह निर्भयता का देवता स्वयं निर्भय बनकर संसार को निर्भय बनाता हुआ यत्र-तत्र-सर्वत्र शांत भाव से विचरण करता है। अतः साधक को विषयों की आसक्ति का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त मुनिवृत्ति को 'मौन'—मौन शब्द से व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी मुनि न तो मन में किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है और न वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है। अतः मुनित्व की साधना को मौन कहा गया है—'मुनेरिदं मौनं—मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम्' इत्यादि।

'तिबेभि' का अर्थ पूर्व उद्देशक की तरह ही समझना चाहिए।

॥चतुर्थ उद्देशक समाप्त॥



अध्यात्मसार : 4

मूलम् : तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव एणवं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेवा अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं॥ 2/4/83

मूलार्थ : आसक्तिपूर्वक काम-भोगों के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है, वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एवं उसकी निन्दा करने लगते हैं और वह भी पीछे से उनकी निन्दा करता है। यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आये, तब भी वे सम्बन्धी उसकी रक्षा करने एवं उसे शरण देने में समर्थ नहीं हैं, और न ही उनका रक्षण करने एवं उन्हें शरण देने में वह समर्थ है।

यह जानकर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का संवेदन करता है। अतः रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एवं व्याकुल नहीं होना चाहिए। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं, जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगों का चिन्तन करते रहते हैं, रात-दिन विषय-वासना में ही संलग्न रहते हैं।

हर सूत्र में पुनः-पुनः जिस एक ही बात को दुहराया गया है, वह है अशरणभावना। न तो कोई तेरी रक्षा करने में समर्थ है और न तू ही किसी की रक्षा कर सकेगा। फिर भी व्यक्ति सुख और सुरक्षा खोजता रहता है। वह समझता है कि सुरक्षा है बच्चों में, धन में, परिवार में, मकान इत्यादि परिग्रह एवं भोग-उपभोग के साधनों में। उसे लगता है कि घर-परिवार, धन इत्यादि है तो मैं सुरक्षित हूँ और यह सब नहीं होगा तो मेरी रक्षा कौन करेगा। इसीलिए वह धन, मकान, परिग्रह इत्यादि बनाता है। मित्र, सगे-सम्बन्धियों से अच्छे सम्बन्ध बनाता है। यह सब कुछ वह करता है सुख व सुरक्षा के लिए कि किसी भी तरह मेरा सुख बना रहे। लेकिन वह जितने सुरक्षा के

इन उपायों को करता है, उतना ही वह असुरक्षित होता है। पहले तो उसे केवल अपनी ही सुरक्षा का ध्यान था, लेकिन अब धन की सुरक्षा का भी ध्यान रखना होगा। पहले तो उसे केवल अपनी ही रक्षा करनी थी, पर अब परिवार की रक्षा की भी चिन्ता हो गयी। इस प्रकार इन सबकी चिन्ता अपनी चिन्ता बन गयी।

इस प्रकार सुख और सुरक्षा के जितने भी उपाय करते हैं, वो उपाय उसके दुःख और असुरक्षा की वृद्धि का कारण बनते हैं।

सुरक्षा के लिए मकान बनाया पर अब मकान की रक्षा कौन करेगा? जितना ही व्यक्ति सुरक्षित होना चाहता है उतना ही असुरक्षा का भाव बढ़ता है। अतः बार-बार कहते हैं कि कोई तेरी शरण नहीं, कोई तुझे सुरक्षा नहीं दे सकता। रक्षा और शरण तो केवल धर्म की है।

धर्म क्या है?

व्यावहारिक रूप से चार शरण, निश्चय में स्वभाव की शरण में आ जाना।

यह सभी की समझ में नहीं आता और फिर अज्ञानवश वह स्वयं भी उलझता है और आसपास के लोगों को भी उलझाता है। उसी उलझन से आधि-व्याधि एवं उपाधि उत्पन्न होती है। मन के रोग, शरीर के रोग तथा परिग्रह के सम्बन्ध में चिन्ता, पीड़ा जागती है। जब यह ज्ञान हो जाए, यह समझ आ जाए कि कोई शरण देने वाला नहीं है। धर्म ही शरण है। साधना ही शरण है, तब समाधि की प्राप्ति होती है।

धन, पद-प्रतिष्ठा, घर-परिवार, समाज इत्यादि की शरण में गये, तब बाह्य शरण में गये, तब आधि-व्याधि एवं उपाधि मिलती है और यदि धर्म की शरण में गये, तब समाधि की प्राप्ति होती है।

समाधि का अर्थ : आधि-व्याधि-उपाधि का नष्ट हो जाना नहीं है, अपितु इन सबके बीच में भी आप भीतर से समाधि में रहना। क्या इसको हम समझ भी कह सकते हैं? यह समझ ही है, लेकिन समाधि कहना उपयुक्त है। समाधि अर्थात् समाधान हो गया। अब कोई समस्या नहीं रही। सारी समस्याएं वस्तुतः परिस्थितियाँ हैं, परन्तु ऐसी परिस्थिति जो प्रतिकूल है और वह प्रतिकूल परिस्थिति जब हमें

व्याकुल बना देती है, तब उस व्याकुलता के वश सामान्य परिस्थिति समस्या का रूप धारण कर लेती है।

सारी शरण छोड़ दे और केवल धर्म की शरण में आ जाए, यही साधक का लक्षण है। व्यक्ति साधक है या संसारी, यही इसका लक्षण है। एक तो है संसार और दूसरा है साधना का पथ। साधना की शुरुआत कब होती है, संसार से साधना में छलांग कब लगती है? जब व्यक्ति की समझ में यह आ जाए कि केवल धर्म ही शरण है। ऐसे कहने को तो सभी कहते हैं कि हम धर्म की शरण में हैं। ऊपर से कहते हैं कि हम शरण में हैं, परन्तु भीतर से उनको यही लगता है कि अभी धन के बिना नहीं चल सकता, बिना परिवार एवं बच्चों के मेरी सेवा कौन करेगा? बिना पद के मुझे कौन पूछेगा?

यहाँ तक कि जो साधु हैं, वे भी कहते हैं कि मेरी प्रतिष्ठा नहीं होगी तो मुझे कौन पूछेगा। कभी-कभी ऐसा विचार भी आ जाता है कि मुझे आहार कौन देगा। बिना भक्त के, बिना समाज के, बिना पद के, मैं साधना कैसे कर सकता हूँ? इस विचार के कारण आज साधुओं में इतनी विसंगति है। जैसे जिनके भक्त हैं वैसे ही चल जाता है। उनको साधना पर विश्वास नहीं है। कहने के लिए वे भी कहते हैं कि अरिहंत देव महान हैं, धर्म जीवन का अंग है। चार ही शरण हैं। परन्तु उनका जीवन बताता है कि वे अरिहंत और धर्म की शरण में नहीं हैं। उनका जीवन तो यही दर्शाता है कि मेरा पद, मेरी प्रतिष्ठा, मेरा समाज, मेरे भक्त ही मेरी शरण हैं, वे ही मेरी रक्षा करेंगे। इस अज्ञानवश ऐसे साधक अनेकानेक आधि-व्याधि एवं उपाधि को जन्म देते हैं। धर्म के नाम विसंगति एवं भ्रान्ति का पोषण करते हैं और अनेक बार गृहस्थ की कामना-पूर्ति के लिए अपनी साधना को भी दाँव पर लगा देते हैं।

ऐसे साधक धर्म के नाम पर बहुत बड़ा कलंक हैं। इसीमें धर्म और शासन की हानि है।

व्यक्ति धर्म की शरण में आ जाए, उसे यह समझ में आ जाए कि धर्म ही एक मात्र शरण है, इस हेतु क्या उपाय है? सर्वप्रथम व्यक्ति को आत्मनिरीक्षण करते हुए प्रामाणिक होना चाहिए। यदि अरिहन्त देव के प्रति विश्वास नहीं है, मन भीतर से, धन, पद इत्यादि साधनों की शरण में है, तब यही कहें कि मुझे विश्वास नहीं है,

क्योंकि भीतर से मन यही कहता है कि मेरी शरण धर्म की नहीं, बाह्य पदार्थों की है। तब फिर ऊपर से कहने के लिए कहना कि मैं धर्म की शरण में हूँ यह माया-कपट है।

साधना करते-करते अपने आप आन्तरिक समझ जागती है और उस आन्तरिक समझ से व्यक्ति वास्तव में धर्म की शरण में जाता है। बिना साधना के समझ नहीं आती, बिना समझ के व्यक्ति धर्म की शरण में नहीं जाता और धर्म की शरण में जाए बिना श्रेय या कल्याण की उपलब्धि नहीं होती। जन्म-जन्म के संस्कारवश अज्ञान बना ही रहता है।

साधना करते-करते स्वयमेव समाधान आएगा, उस समाधान से समझ जागती है। उसी समझ से व्यक्ति शरण में जाता है। जन्म-जन्म के गहरे संस्कार बिना समझ के नहीं जाते।

समझ भी दो प्रकार से है। एक बाह्य समझ, दूसरी आन्तरिक। बाह्य समझ आने का साधन है—सत्संग, सद्वाचन इत्यादि। आन्तरिक समझ तो साधना से ही जागती है। दोनों ही जरूरी हैं। बाहर की समझ अकेली परिवर्तन नहीं ला सकती है।

संसार से छलांग

जब बाह्य शरण 'धन, वैभव, परिवार' छोड़ कर व्यक्ति धर्म की शरण, अरिहंत और सिद्ध और साधु की शरण में आ जाए, यह समझ उसके भीतर से जाग जाए, यही एक मार्ग है, यही एक सुरक्षा है, यही एक मेरे जीवन का आधार है।

जरा मरण वेगेणं बुज्झ, माणाण पाणिणं।

धम्मो दीवो पहट्ठाणं, गई शरण मुत्तमं॥

इस प्रकार शरण में आने पर व्यक्ति साधक बनता है, अर्थात् श्रावक बने या साधु बने। अणुव्रत लेना भी बाह्य समझ है। वास्तविक समझ तो साधना से आएगी। क्योंकि अणुव्रत लेने के बाद भी शरण की भावना न बदली हो, ऊपर से भले ही समझ रहा हो, लेकिन भीतर के मन के संस्कार उसे पुनः बाह्य पदार्थों की ओर खींचकर ले जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि धन शरण नहीं देता, लेकिन फिर भी धन का मोह नहीं छूटता।

बाहर की समझ एक प्रेरणा बन सकती है। इससे आन्तरिक समझ हेतु भूमिका तैयार होती है।

धर्म ही शरण है, इसका अर्थ यह नहीं है कि धन, पद-प्रतिष्ठा उपयोगी नहीं हैं। आप धर्म की शरण में आ जाओ, उसके बाद आपके लिए जो भी जरूरी होगा, धर्म वह देगा।

यदि आपके विकास के लिए धन आवश्यक होगा तो धन मिलेगा। पद आवश्यक होगा तो पद भी मिलेगा। आप जो चाहते हैं वह नहीं, अपितु आपकी साधना और विकास के लिए जो जरूरी है, वह मिलेगा। इस प्रकार शरण तो धर्म की है, उसके पश्चात् जो भी आपके लिए आवश्यक है, वह मिलेगा। फिर वह धन भी हो सकता है और निर्धनता भी, मान भी हो सकता है और अपमान भी, कुछ भी हो सकता है। जो भी साधना के लिए आवश्यक है, अच्छे संयोग भी हो सकते हैं और कटु संयोग भी।

यदि व्यक्ति को सब कुछ एक जैसा ही मिलता रहे, तब वह भटक जाएगा। कभी ठोकर देना भी जरूरी है। धर्म ऐसे ही है जैसे माँ बच्चे का खयाल रखती है। जो भी जरूरी है, बच्चे के लिए वह करती है। लेकिन अगर बच्चा स्वच्छन्दचारी है, तब माँ कुछ करना भी चाहे तो भी नहीं कर सकती। वह तभी कुछ कर सकती है, जब बच्चा स्वच्छन्दता को छोड़ कर माँ की शरण में आ जाए। लेकिन सभी यह नहीं समझ पाते। अतः सभी को धर्म का मर्म नहीं समझ आता, क्योंकि उन्हें साधना नहीं, सुख और सुविधा चाहिए। जब तक सुख और सुविधा मिलती है तो धर्म करते हैं, नहीं तो छोड़ देते हैं।

साधक का भाव क्या है? कि मैं अब धर्म की शरण में आ गया हूँ अथवा मैं अब धर्म की शरण में हूँ, तब फिर जो भी उसके जीवन में उसके साथ रहा है वह उसके विकास के लिए है। इस प्रकार साधक जब समझपूर्वक, समाधानपूर्वक स्वीकार करता है, तब समाधि। यदि असमाधान से स्वीकार करेगा, तब उपाधि जागेगी। साधक की अपनी कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे कहा है—

‘नाव कखंति’—जब शरण में आ गया, तब उसकी अपनी कोई अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा का अर्थ है, जो भी मिल रहा है, वह ठीक नहीं है। जब आप धर्म की शरण

में हैं और आपको लगता है कि जो भी मिल रहा है, वह ठीक नहीं है, तब यह धर्म में सन्देह हुआ। लेकिन जब यह शरण और समर्पण हो तो जो मुझे मिल रहा है, वही उचित है। फिर जीवन से न कोई माँग है, न कोई फरियाद। जब तक आपकी कोई-न-कोई शिकायत है, माँग है, तब तक आप समर्पण से शरण में नहीं हैं। मन की पुरानी आदत है पुनः-पुनः सन्देह, पुनः-पुनः शिकायत बस इन्हीं संस्कारों से पार होते जाना, यही साधना है। समर्पण की अपेक्षा शरण अधिक उपयुक्त है। व्यक्ति मोहपूर्वक भी समर्पण कर सकता है। वस्तुतः वह समर्पण नहीं है। समर्पण अर्थात् सम्यक् अर्पण। अर्पण अर्थात् पूरी तरह दे देना। मोहपूर्वक नहीं सम्यक् बोध-पूर्वक, अरिहन्त, सुसाधु व सद्धर्म की धारा में अपने आपको दे देना।

धर्म का किसी से भी विरोध नहीं है। न धन से, न पद से और न प्रतिष्ठा से। जो भी तुम्हारे विकास के लिए आवश्यक होगा, वह मिलेगा। हो सकता है धर्म की शरण में आने पर धनवान-निर्धन हो जाए, तब फिर क्या कहेंगे? वह निर्धनता उसके लिए जरूरी थी। इस प्रकार जो भी आवश्यक होगा, वही होगा। वह मान भी हो सकता है और अपमान भी, कुछ भी हो सकता है।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में भोगेच्छा के परित्याग एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देने का उपदेश दिया गया है। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर साधक अपने जीवन का निर्वाह कैसे करे? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक में किया गया है।

संयम-साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है। आध्यात्मिक साधना की चरम सीमा तक पहुंचने के लिए उसके माध्यम की आवश्यकता है और उसको स्वस्थ एवं समाधियुक्त बनाए रखने के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या-संधारा आदि साधन भी आवश्यक हैं। इनमें आहार सबसे पहली आवश्यकता है। कभी मकान न मिले तो साधक जंगल में वृक्ष के नीचे भी अपनी साधना में संलग्न रह सकता है। अन्य आवश्यकता का भी कभी संयोग न मिलने पर भी वह अपनी साधना को गतिमान रख सकता है, परन्तु आहार की आवश्यकता तो जिनकल्पी या स्थिवर कल्पी विशेष अभिग्रहधारी या अनभिग्रहधारी सभी को रहती है और इन सब साधनों की पूर्ति गृहस्थ लोगों से होती है, अतः उसे लोक का आश्रय भी लेना पड़ता है, परन्तु आश्रय लेने का यह अर्थ नहीं है कि वह आहार, वस्त्र-पात्र आदि के लिए अपनी संयम वृत्ति का त्याग करके गृहस्थ की पराधीनता स्वीकार कर ले। आश्रय लेने का यहां यह अभिप्राय है कि साधक बिना स्वार्थ एवं आकांक्षा के केवल संयम-साधना को गति देने के लिए गृहस्थों के यहां से निर्दोष आहार आदि की गवेषणा करे। इन साधनों को प्राप्त करते समय संयम को सदा सामने रखे।

प्रस्तुत उद्देशक में यही बताया गया है कि साधक को किस विधि से आहार ग्रहण करना चाहिए। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—जमिणं विरुवरुर्वेहिं सत्येहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तंजहा-अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं नाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए

- सामासाए पायरासाए, संनिहि संनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए॥87॥

छाया—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः लोकस्य (लोकाय) कर्म समारम्भाः क्रियन्ते तद्यथा आत्मने तस्य पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुषाभ्यः ज्ञातिभ्यः धातृभ्यः राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदेशाय पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय, प्रातराशाय संनिधिः संनिचयः क्रियते इहैकेषां मानवानां भोजनाय ।

पदार्थ—विरूपरूपेहि—विभिन्न प्रकार के। सत्येहिं—शस्त्रों से। जमिणं कम्मसमारंभा—ये पचन-पाचनादि कर्म समारंभ। लोगस्स कज्जंति—लोगों के लिए किए जाते हैं। तंजहा—जैसे कि। अप्पणो से—अपने लिए। पुत्ताणं—पुत्रों के लिए। धूयाणं—पुत्रियों के लिए। सुण्हाणं—पुत्रवधुओं के लिए। नाईणं—जाति भाइयों के लिए। धाईणं—धाय माताओं के लिए। राईणं—राजाओं के लिए। दासाणं—दासों के लिए। दासीणं—दासियों के लिए। कम्मकराणं—कर्मचारियों के लिए। कम्मकरीणं—कर्मचारिणियों के लिए। आएसाए—अतिथियों—पाहुनों के लिए। पुढोपहेणाए—पुत्रादि में पृथक्-पृथक् बांटने के लिए। सामासाए—सायंकालीन भोजन के लिए। पायरासाए—प्रातःकालीन भोजन के लिए। संनिधि—विनाशशील एवं संनिचय—चिरस्थायी द्रव्यों का संग्रह। कज्जइ—किया जाता है। इहं—इस संसार में। एगेसिंमाणवाणं—किन्हीं मनुष्यों को। भोयणाए—भोजन कराने के लिए। संनिहि संनिचओ कज्जइ—द्रव्य का संग्रह किया जाता है।

मूलार्थ—विभिन्न शस्त्रों से पचन-पाचनादि कर्म समारंभ किए जाते हैं। जैसे कि अपने लिए एवं पुत्र-पुत्रियों, पुत्रवधुओं, जाति भाइयों, धाय माताओं, राजाओं, दास-दासियों, कर्मचारी कर्मचारिणियों तथा अतिथियों को सायंकालीन एवं प्रातःकालीन भोजन कराने के लिए या किन्हीं मनुष्यों को भोजन कराने के लिए द्रव्य एवं घृत, चीनी, अन्न आदि पदार्थों का संग्रह किया जाता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य कर्म समारंभ में क्यों प्रवृत्त होता है? इसके अनेक कारणों को सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी

है। उसका जीवन समाज एवं परिवार के साथ संबद्ध है। वह अकेला नहीं रह सकता। उसे अपने जीवन को गति-प्रगति देने के लिए दूसरों का सहारा—सहयोग भी लेना पड़ता है और देना भी। यह जीवन का एक साधारण नियम है कि बिना समन्वय के यह चल नहीं सकता। उसे गतिशील रखने के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति ने जीव का उपकारी लक्षण बताते हुए कहा है—‘परस्पर एक दूसरे का उपकार-सहयोग करना यह जीव का लक्षण है¹।’

इसलिए अपने पारिवारिक सदस्यों एवं जाति के अन्य स्नेही-संबन्धियों के लिए मनुष्य आरम्भ के कार्य में प्रवृत्त होता है। वह क्षुधा, पिपासा आदि वेदनीय-कर्मजन्य दुःखों से निवृत्त होकर सुख एवं शांति को प्राप्त करने के लिए विभिन्न शस्त्रों से समारम्भ करता है। मनुष्य किन प्राणियों के लिए आरम्भ में प्रवृत्त होता है, उनका प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है। उसमें पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू, राजा, दास-दासी, कर्मचारी-कर्मचारिणी, स्वजन-स्नेही आदि परिवार, जाति एवं समाज के सभी संबन्धित व्यक्तियों का समावेश कर दिया गया है।

‘लोगस्स’ पद यहां चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग है। ‘सामासाए’ और ‘पायरासाए’ का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—‘रात्रि के पूर्व सायंकाल में तथा मध्याह्न के पूर्व प्रातः किए जाने वाले भोजन को ‘सामासाए’ और ‘पायरासाए’ कहते हैं²। ‘संनिधि’ और ‘संन्निचय’ शब्द से क्रमशः दूध-दही आदि थोड़े समय तक और चीनी, गुड़, अन्न आदि अधिक समय तक स्थिर रहने वाले पदार्थों को ग्रहण किया गया है।

किसी भी सावध कार्य में प्रवृत्ति करने के तीन स्तर हैं—1. सारंभ 2. समारंभ और 3. आरम्भ। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं अनष्टि पदार्थ संयोग को नष्ट करने के लिए प्राणातिपात—हिंसा आदि दोषों की मन में कल्पना करना, उनका चिंतन करना सारंभ कहलाता है। अपने द्वारा चिंतित विचारों को साकार रूप देने के लिए

1. परस्परोपग्रहो जीवानाम्। तत्त्वार्थ सूत्र 5, 21

2. सामासायति श्यामा—रजनी तस्यामशनं श्यामाशः तदर्थं तथा पायरासाए, ति प्रातरशनं प्रातराशस्तस्मै, कर्म समारम्भाः क्रियन्त इति।
—आचारांगं वृत्तिः

तद्रूप-साधनों या शस्त्रों का संग्रह करना समारम्भ है और उक्त विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन शस्त्रों का प्रयोग करने का नाम आरम्भ है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए आरम्भ-समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्तमान जीवन आठ कर्मों का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप संसार में परिभ्रमण करता है।

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति में संयमनिष्ठ साधु को क्या करना चाहिए? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधित्ति अदक्खु, से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए॥४८॥

छाया—समुत्थितः अनगारः आर्यः, आर्यप्रज्ञः, आर्यदर्शी अयंसन्धिः इति अद्राक्षीत् स नाददीत् नादापयेत् (नाद्यात्) न समनुजानाति, सर्वामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत् ।

पदार्थ—समुट्ठिए—संयम साधना में उद्यत-सजग । अणगारे—मुनि । आरिय—आर्य—चारित्रनिष्ठ । आरियपन्ने—आर्य प्रज्ञा संपन्न—सम्यग्ज्ञान से युक्त । आरियदंशी—न्याय मार्ग का द्रष्टा । अयंसंधित्ति—साधु समाचारी—क्रियाओं का यथाकाल परिपालक । अदक्खु—समय का द्रष्टा या परिज्ञाता । से—वह मुनि । नाईए—अकल्पनीय आहार न स्वयं ग्रहण करे । न इयावए—न दूसरे मुनियों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करे । न समणुजाणइ—और न अकल्पनीय आहार ग्रहण करने वाले मुनि का समर्थन ही करे । सव्वामगंधं—समस्त आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार को । परिन्नाय—ज्ञपरिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर । निरामगंधो—समस्त दोषों से रहित आहार को ग्रहण करे और । परिव्वए—संयम-साधना का सम्यक्तया पालन करे ।

मूलार्थ—संयम-साधना में प्रवर्तमान अनगार, जो कि आर्य है, आर्य प्रज्ञावान है, आर्यदर्शी—न्याय मार्ग का द्रष्टा है, यथासमय अनुष्ठान संयम का आचरण करने वाला है, वह न स्वयं दोषयुक्त आहार ग्रहण करे, न दूसरे मुनि को दोषयुक्त आहार

स्वीकार करने के लिए कहे और न दोष युक्त आहार लेने वाले का समर्थन ही करे। परन्तु सदा-सर्वदा निर्दोष आहार को स्वीकार करके भाव पूर्वक संयम-साधना में संलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में संयम-मार्ग में प्रवर्तमान अनगार को निर्दोष आहार की गवेषणा करने एवं संयम-मार्ग की क्रियाओं के परिपालन करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। और साधक को इस बात के लिए सावधान किया गया है कि वह त्रि-करण और त्रि-योग से सदोष आहार का त्याग करके शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समुद्दिष्ट' शब्द का अर्थ है—सम्यक्तया उत्थितः अर्थात् सम्यक् प्रकार से संयममार्ग में प्रवृत्ति करने वाला साधक। संयममार्ग में प्रवर्तमान होकर जिस मुनि ने घर-परिवार एवं धन-वैभव आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं। आर्य वह है—जिसने त्यागने योग्य धर्म—अधर्म का त्याग कर दिया है और श्रुत के अध्ययन से जिसकी बुद्धि शुद्ध एवं निर्मल हो गई है, उसे आर्यप्रज्ञ कहते हैं। सत्य एवं न्याय मार्ग के द्रष्टा को आर्यदर्शी कहते हैं। 'अयसंधिति' का तात्पर्य है—साधु जीवन की समस्त क्रियाओं को यथाविधि एवं यथासमय अर्थात् जिनके लिए आगम में जिस उपाय एवं समय का विधान किया है—तद्रूप उसका आचरण करने वाला।¹

'आमगन्ध' शब्द का अशुद्ध एवं आधाकर्म आदि दोष अर्थ किया गया है। 'आम' शब्द प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक ग्रंथों में यह शब्द अपक्व अन्न आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है और पालि ग्रंथों में इसका पाप के अर्थ में प्रयोग किया गया है, शारीरिक रोग की भांति पाप भी आध्यात्मिक रोग है। इस अपेक्षा से 'निराम' का अर्थ होगा—निष्पाप, क्लेश रहित और 'आमगन्ध' का अर्थ होगा पाप की गन्ध। किन्तु टीकाकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आमगन्ध' का

1. अयसंधीति—सन्धानं—सन्धीयते वाऽसाविति सन्धिः, अयं सन्धिर्यस्य साधो रसावर्यसन्धिः छान्दसत्वाद्भिक्तेरनुगुण्य- सन्धिः—यथाकालमनुष्ठानविधियी, यो यत्र वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपरिस्थितस्तत्करणतया तमेव सन्धत इति।

अर्ध—आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार किया है। अतः समस्त दोषों से रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करके संयम साधना में संलग्न रहना ही साधु का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदिस्समाणे कयविक्रयेसु, से ण किणे न किण्णावए—
किणंतं न समणुजाणइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने
खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे
कालाणुट्ठाई अपडिण्णे॥89॥

छाया—अदृश्यमानः क्रयविक्रयौ स न क्रीणीयात् न क्रापयेत् क्रीणन्तमपि
न समुनजानीयात् स भिक्षुः कालज्ञः बलज्ञः मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञः क्षणज्ञः
विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञः भावज्ञः परिग्रहमममीकुर्बन् (अस्वीकुर्वन्)
कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—कय-विक्रयेसु—खरीदने और बेचने में। अदिस्समाणे—अदृश्यमान्
अर्थात् न क्रय-विक्रय करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ। से—वह
भिक्षु। ण किणे—धर्मोपकरणादि न खरीदे। ण किण्णावए—न अन्य से मोल मंगवाये।
किणंतं—खरीद रहे व्यक्ति का। न समणुजाणइ—अनुमोदन भी न करे। से
भिक्खू—वह भिक्षु। कालन्ने—समय का ज्ञाता। बालन्ने—आत्मबल का ज्ञाता।
मायन्ने—अहारादि के प्रमाण का जानकार। खेयन्ने—अभ्यास को जानने वाला या
संसार के पर्यटन के श्रम को जानने वाला। खणयन्ने—अवसर का जानकार।
विणयन्ने—विनय के स्वरूप को जानने वाला। ससमय परसमयन्ने—स्वमत और
परमत के स्वरूप का परिज्ञाता। भावन्ने—दाता और श्रोताओं के भाव को जानने
वाला। परिग्गहं—परिग्रह को। अममायमाणे—न स्वीकार करता हुआ। कालाणुट्ठाई—
यथासमय क्रियानुष्ठान करनेवाला। अपडिण्णे—दुष्ट प्रतिज्ञा से रहित, तथा निदानादि
कर्म न करने वाला।

मूलार्थ—स्वयं क्रय-विक्रय कार्य को नहीं करता हुआ और न उसका उपदेश
देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वयं वस्तु खरीदे और न दूसरों से मोल मंगाये तथा मूल्य

से खरीदने वाले का अनुमोदन भी न करे। वह भिक्षु काल-समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का, संसार में परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनय का ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का दाता और श्रोताओं के भाव का परिज्ञाता हो और यथासमय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रह का त्यागी एवं दुराग्रह से रहित अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञान करने वाला हो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु-वृत्ति का विवेचन किया गया है। साधु परिग्रह—धन वैभव, मकान, परिवार आदि का सर्वथा त्यागी होता है, अतः वह क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होता। क्रय-शक्ति की प्रवृत्ति द्रव्य के माध्यम से होती है और मुनि द्रव्य का त्यागी होता है। इसीलिए वह अपने उपयोग में आने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि किसी भी पदार्थ को न स्वयं खरीदता है और न किसी व्यक्ति को खरीदने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए खरीद कर लाई वस्तु को वह स्वीकार भी नहीं करता है। 'से न किणे....' इत्यादि पाठ इस बात का संसूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अपनी संयम-साधना में आवश्यक उपकरण आदि को न स्वयं खरीदे, न अन्य व्यक्ति को खरीदने के लिए उपदेश दे और न खरीदते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन ही करे।

पूर्व सूत्र में 'निरामगन्धो परिव्वए' पाठ में प्रयुक्त 'निराम और गन्ध' शब्द हनन एवं पचन आदि क्रिया से होने वाली हिंसा का त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का उपदेश दिया है और प्रस्तुत सूत्र में क्रय-विक्रय के द्वारा होने वाले दोष का सर्वथा त्रि-करण और त्रियोग से त्याग करने का निर्देश किया है। जैसे आधाकर्म आदि कार्य में हिंसा होती है, उसी प्रकार क्रय-विक्रय की क्रिया भी हिंसा आदि दोष का कारण है। क्योंकि क्रय-विक्रय में पैसे की, धन की आवश्यकता रहती है और पैसे की प्राप्ति हिंसा आदि दोषों के बिना संभव नहीं है।

अतः हिंसा आदि दोषों के सर्वथा त्यागी मुनि के लिए आधाकर्म एवं क्रय आदि दोषों से युक्त आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। साधु को पूर्णतया शुद्ध, एषणीय एवं निर्दोष आहार की गवेषणा करनी चाहिए और तद्रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

निर्दोष संयम का परिपालन करने वाला साधु कैसा होता है, इसका वर्णन 'से भिक्खू कालन्ने....' आदि पदों में किया है। वह काल—समय का, आत्म-शक्ति का¹; आहार आदि के परिमाण का परिज्ञाता होता है और 'खेयन्ने' अर्थात् खेदज्ञ होता है। खेद अभ्यास को भी कहते हैं²। अतः अभ्यास के द्वारा पदार्थों का ज्ञाता, संसार पर्यटन एवं क्षेत्र को भी खेद कहते हैं। इस दृष्टि से खेदज्ञ का अर्थ होगा—संसार परिभ्रमण के लिए किए जाने वाले श्रम को एवं क्षेत्र के स्वरूप को जानने वाला। 'खणयन्ने' अर्थात् भिक्षा का एवं अन्य संयम क्रियाओं के समय को जानने वाला। प्रत्येक व्यक्ति के आंतरिक भावों का परिज्ञाता और स्व-परमत् का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिए। जो साधु स्व-परमत् का ज्ञाता नहीं होगा, वह अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों द्वारा या किसी भी व्यक्ति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर भली-भांति नहीं दे सकेगा।

'अपडिन्ने' का अर्थ है—कषाय के वश किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा न करने वाला। क्योंकि कषायों के वेग एवं आवेश के समय विवेक दब जाता है, अतः ऐसी अविवेक की स्थिति में की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती है। जैसे टीका में उल्लेख आता है कि स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों को यन्त्र में पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश में नगर, राजा एवं पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग में बाहुबली ने अपने से पहले दीक्षित हुए लघु भ्राताओं को वन्दन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना, अर्थात् निदानपूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं से आत्मा स्वयं पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अतः संयमनिष्ठ मुनि को कषाय वश कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। उसे विवेकपूर्वक संयम-साधना में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिज्ञा का जो निषेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि प्रतिज्ञा मात्र का ही। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. बालन्ने, पद में छन्द के कारण दीर्घता की गई है।

2. खेदः अभ्यासस्तेन जानाति खेदज्ञः।

मूलम्—दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा॥१०॥

छाया—द्विधा छित्त्वा नियाति वस्त्रं, पतद्ग्रहं, कम्बलं पादपुच्छनम्, अवग्रहणं च कटासनमेतेषु चैव जानीयात् ।

पदार्थ—दुहओ—राग और द्वेष से जो प्रतिज्ञा की हो उसका । छेत्ता—छेदन करके । नियाइ—जो मोक्ष पथ पर गतिशील हैं, उन्हें क्या करना चाहिए? वत्थं—वस्त्र । पडिग्गहं—पात्र । कम्बलं—कम्बल । पायपुच्छणं—रजोहरण । च—और । उग्गहणं—उपाश्रय आदि स्थान । कडासण—कटासन—संस्तारक और आसन बिस्तर आदि । च—समुच्चय अर्थ में । एव—अवधारणा अर्थ में । एएसु—जो गृहस्थ साधु के लिए आरम्भ करके इन उपकरणों को देते हैं, उसे । जाणिज्जा—भली-भाति जाने अर्थात् सदोष उपकरणों का त्याग करके निर्दोष उपकरणों को ही स्वीकार करे ।

मूलार्थ—राग-द्वेष युक्त की गई प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थों के लिए जो गृहस्थ आरम्भ करते हैं, उसे भली-भाति जाने और उसमें सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे ।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में जो अप्रतिज्ञा अर्थात् प्रतिज्ञा नहीं करने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने पूर्व सूत्र में प्रतिज्ञा मात्र का निषेध नहीं किया है । उनका अभिप्राय राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का परित्याग करने से है । यह बात प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाती है कि मुनि राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का छेदन करके वस्त्र-पात्र आदि निर्दोष पदार्थों को ग्रहण करे ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आहार, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले अभिग्रहों का त्याग करने को नहीं कहा है, परन्तु यह कहा गया है कि राग-द्वेष या निदानपूर्वक कोई अभिग्रह—प्रतिज्ञा न करे । क्योंकि राग-द्वेष से परिणामों में विशुद्धता नहीं रहती और परिणामों एवं विचारों का दूषित प्रवाह उस प्रतिज्ञा को स्पर्श किए बिना नहीं रहता है । अतः दोष युक्त भावों से की गई प्रतिज्ञा में भी अनेक

दोषों का प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। जैसे मकान के चारों ओर लगी हुई आग की ज्वाला में अपने मकान का आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहना असम्भव है। उसी प्रकार जिस साधक के मन में राग-द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित है, उस समय की गई विशुद्ध प्रतिज्ञा भी उस आग से निर्लिप्त नहीं रह सकती, उस पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। अतः साधक को चाहिए कि वह राग-द्वेष की धारा का छेदन करे। यदि कभी राग-द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठी हो तो पहले उसे उपशान्त करे, उसके बाद शान्त मन से प्रतिज्ञा धारण करे।

इससे स्पष्ट हुआ कि साधु राग-द्वेष का परित्याग करके संयम में प्रवृत्ति करे। इससे उसके मन में चंचलता नहीं रहेगी और दृष्टि में धूंधलापन एवं विकार नहीं रहेगा। इससे लाभ यह होगा कि वह अपनी की गई प्रतिज्ञा तथा जीवन में और की जाने वाली प्रतिज्ञाओं का भली-भांति परिपालन कर सकेगा। उस साधु की प्रतिज्ञा है कि वह किसी भी प्रकार के दोष—हिंसा आदि का सेवन न करे और न उस के निमित्त किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ किया जाए। इस प्रतिज्ञा का पालन राग-द्वेष का छेदन कर के ही किया जा सकता है। क्योंकि साधना में सहायकभूत वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है और उनके लिए गृहस्थ अनेक प्रकार के दोष लगाकर भी साधु को दे सकता है। यदि साधु के मन में राग-द्वेष है, या यों कहिए कि पात्र आदि देने वाले गृहस्थ के प्रति अनुराग है, तो वह अपने साधना पथ से फिसल जाएगा और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर सदोष—निर्दोष की जांच किए बिना ही उन उपकरणों को ले लेगा। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में साधक को यह आदेश देते हुए कहा है कि वह राग-द्वेष का छेदन करके वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण; आसन आदि के दोषों का परिज्ञान करे, यह देखे कि ये साधन गृहस्थ के यहां किस प्रयोजन से आए हैं। वह अपने उपभोग के लिए इन्हें लाया है या मेरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, इसका सम्यक्तया परीक्षण करे। परीक्षण के बाद यदि वे साधन सदोष प्रतीत हों तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनों—उपकरणों की गवेषणा करे। इससे आहार-एषणा, वस्त्र-एषणा आदि का भी स्पष्ट निर्दोष किया गया है।

‘उगग्रहणं—अवग्रहणं’ शब्द का अर्थ प्रत्येक पदार्थ को आज्ञा से ग्रहण करने का है। उसके 5 भेद किए गए हैं—

1. देवेन्द्र अवग्रह, 2. राजअवग्रह, 3. गृहपतिअवग्रह, 4. शय्यातर अवग्रह और 5. साधर्मिक अवग्रह। इनमें प्रथम अवग्रह को छोड़कर शेष चारों अवग्रह स्पष्ट हैं। देवेन्द्र अवग्रह जरा अस्पष्ट है। कुछ लोग सोचते होंगे कि देवेन्द्र की आज्ञा कैसे ली जाती है और वह आज्ञा कैसे देता होगा? भगवती सूत्र शतक 16 उद्देशक 1 में वर्णन आता है कि एक बार शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर से कहा था कि मैं आपके साधुओं को पृथ्वी पर पड़े हुए तृण-काष्ठ आदि ग्रहण करने की आज्ञा देता हूँ। देवेन्द्रअवग्रह का यही अभिप्राय है और इस पर से ही यह परम्परा है कि जंगल आदि में जहां कोई व्यक्ति नहीं होता है; वहां तृण-कंकर आदि लेने की आवश्यकता होती है, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा लेते हैं।

‘कडासन-कटासन’ पद में प्रयुक्त ‘कट’ शब्द से संस्तारक और ‘आसन’ शब्द से शय्या; मकान आदि ग्रहण किया है। अतः वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, शय्या—संस्तारक आदि की सदोषता-निर्दोषता का भली-भाँति परिज्ञान करे और उसमें सदोष का त्याग करके निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे।

यह सत्य है कि जीवन-निर्वाह के लिए निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने का आदेश दिया गया है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि निर्दोष पदार्थ होने से वह चाहे जितना ग्रहण कर ले। उसमें भी मर्यादा है, परिमाण है। साधु अपने परिमाण से अधिक आहार को ग्रहण नहीं करे। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लब्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा, बहुपि लब्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसव्किज्जा॥११॥

छाया—लब्धे आहारे अनगारः मात्रां जानीयात् तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितं, लाभः इति न माद्ययेत् (मदं न विदध्यात्) अलाभः इति न शोचयेत् बहु अपि लब्ध्वा न निहेत् (न संनिधिं कुर्यात्)। परिग्रहात् आत्मानं अपष्वष्केत्।

पदार्थ—लब्धे आहारे—आहार के प्राप्त होने पर। अणगारो—अनगार, मुनि। मायं जाणिज्जा—मात्रा-परिमाण को जाने। से भगवया—उस भगवान ने। जहेयं—जैसा कि। पवेइयं—प्रतिपादन किया है कि। लाभुत्ति—मुझे आहार आदि का लाभ हुआ

हैं, ऐसा जानकर। न मज्जिज्जा—अभिमान न करे और। अलाभुत्ति—मुझे आहार आदि की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा समझकर। न सोइज्जा—शोक या खेद न करे और। बहुपि लब्धुं—बहुत मिलने पर। न निहे—संग्रह न करे अर्थात्—मर्यादित काल से अधिक समय तक प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक और रात्रि में संचय करके नहीं रखे, इस तरह। परिग्गह—परिग्रह से। अप्पाणं—अपनी आत्मा का। अवसकिज्जा—पीछे हटाय।

मूलार्थ—आहार के प्राप्त होने पर मुनि उसके परिमाण को जाने और भगवान ने जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार आचरण करे। अर्थात् आहार की प्राप्ति होने पर गर्व एवं अभिमान नहीं करे और न मिलने पर खेद या शोक न करे। अधिक आहार मिलने पर उसे मर्यादा से अधिक समय तक—प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखे और दिन में लाया हुआ आहार रात्रि में संग्रह करके नहीं रखे। अपने आपको परिग्रह से दूर रखे।

हिन्दी-विवेचन

आहार आदि पदार्थ लेते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि बिना परिमाण को जाने पात्र भर लेने से संयम के स्थान में असंयम का पोषण हो जाता है। यदि परिमाण से अधिक आहार ले लिया है, तो उस गृहस्थ को अपने एवं अपने परिवार के लिए फिर से आरम्भ करना पड़ेगा। दूसरे अर्थ यह है कि अपने आहार की मात्रा का ज्ञाता हो। शरीर-निर्वाह के लिए जितने आहार की आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। जिसे अपना आहार के परिमाण का ज्ञान नहीं है, तो अधिक आहार आ जाने से, वह खा नहीं सकेगा। इससे अयतना होगी और यदि कभी खा लिया तो मर्यादा से अधिक आहार करने के कारण उसे आलस्य—प्रमाद आएगा या वह बीमार हो जाएगा, जिसके कारण वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की सम्यक्तया साधना नहीं कर सकेगा। इसलिए मुनि को गृहस्थ के घर की स्थिति-परिस्थिति एवं अपने आहार की आवश्यकता का परिज्ञान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगवान की यह आज्ञा है कि आहार उपलब्ध हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में मुनि को समभाव रखना चाहिए। आहार के मिलने पर मुनि को

गर्व नहीं करना चाहिए और न मिलने पर खेद नहीं करना चाहिए और अधिक आहार प्राप्त हो जाने पर उसे मर्यादित काल से अर्थात् प्रथम प्रहर में लाया हुआ चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखना चाहिए और आगामी दिन में खाने की अभिलाषा से रात को भी संग्रह करके नहीं रखना चाहिए। इससे लालसा एवं तृष्णा की अभिवृद्धि होती है और तृष्णा, आसक्ति या लालसा को ही परिग्रह कहा गया है। अतः साधक को परिग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। आहार आदि का संग्रह करके नहीं रखना चाहिए।

इन वस्त्र आदि पदार्थों पर आसक्ति रखने से परिग्रह का दोष लगता है। इसलिए मुनि को वस्त्र आदि किसी पदार्थ पर मूर्ख या आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसी बात का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अन्नहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि तिबेमि॥१२॥

छाया—अन्यथा पश्यकः परिहरेत् एष मार्ग आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्रकुशलः नोपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकारार्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्नहा—अन्य प्रकार से। पासए—देखता हुआ। परिहरिज्जा—परिग्रह को दूर करे। एस—यह। मग्गे—मार्ग। आयरिएहिं—आर्य तीर्थकरों द्वारा। पवेइए—प्रतिपादित है। जहित्थ—जो यहां धर्म सामग्री प्राप्त है, उसमें। कुसले—कुशल तत्त्वों का परिज्ञाता। नोवलिंपिज्जासि—अपनी आत्मा पापकर्म से लिप्त न करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—साधु धर्मोपकरणों को अन्यथा बुद्धि से देखे, अर्थात् उनको संयम पालन का साधन समझे, किन्तु उनमें ममत्व बुद्धि न रखे, विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त रीति से संयमपालन करे, जिससे उसे पापकर्म बन्ध न हो, प्रत्युत कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति हो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह का स्पष्ट अर्थ व्यक्त किया गया है। यह बताया गया है

कि केवल वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ परिग्रह नहीं हैं। उनमें आसक्ति रखना परिग्रह है। अतः कुशल साधक को परिग्रह का त्याग करके अपनी आत्मा को पापकर्मों से सर्वथा लिप्त नहीं होने देना चाहिए।

‘अन्नहा पासए परिहरिज्जा’ का अर्थ है कि अन्य प्रकार से देखता हुआ परिग्रह का त्याग करे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गृहस्थ, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या आदि साधनों को सुखरूप समझकर उनमें आसक्ति रहते हैं और रात-दिन उनका संग्रह करने में संलग्न रहते हैं, परन्तु मुनि की दृष्टि इससे भिन्न होती है। वह साधनों को, उपकरणों को गृहस्थ की तरह सुखमय समझकर नहीं स्वीकार करता, अपितु संयम साधना को गतिशील बनाने के लिए उन्हें सहायक के रूप में स्वीकार करता, इसलिए वह उनमें आसक्ति नहीं होता और न इस भाव से वस्त्र आदि को ग्रहण करता है कि ये साधन सुखरूप हैं। समय पर जैसे भी साधारण वस्त्र-पात्र मिल जाते हैं, उसी में संतोष मानता हुआ समभाव से साधना में संलग्न रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र-पात्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं हैं। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है कि वस्त्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं है, अपितु उन पर मूर्छा रखना परिग्रह है, ऐसा भगवान ने कहा है¹। आचार्य उमास्वाति ने भी मूर्छा—ममत्व रखने की भावना को परिग्रह कहा है²।

साधक साधना काल में उपकरणों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। उसे संयम में प्रवृत्त होने के लिए वस्त्र, पात्र, तृण-घास, फलक, मकान आदि की आवश्यकता होती है। इन सब साधनों का सर्वथा त्याग तो 14वें गुणस्थान में ही संभव हो सकता है, जहाँ पहुँचकर साधक समस्त कर्मों एवं कर्मजन्य मन-वचन एवं शरीर का भी त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक साधक को भी वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपकरणों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए सत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्त्र-पात्र आदि रखना

1. न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुतेण ताइणा,

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥

2. मूर्छा परिग्रहः।

—दशवैकालिक, 6, 21

—तत्त्वार्थ सूत्र 7, 17

परिग्रह नहीं है, परिग्रह है—उसमें राग-द्वेष एवं ममत्व भाव रखा। अतः भगवान की यह आज्ञा है कि साधक उपकरणों में आसक्ति न रखे। इस बात को सूत्रकार ने 'एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया है कि उपर्युक्त मार्ग आर्यपुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य का अर्थ तीर्थंकर किया गया है।

अतः विचारशील व्यक्ति को आर्य द्वारा प्ररूपित मार्ग पर निर्द्वंद भाव से गतिशील होना चाहिए और अपने आपको समस्त पापकर्मों से सदा अलिप्त रखना चाहिए। यहां उद्देशक के मध्य में 'त्तिबेमि' का प्रयोग अधिकार की समाप्ति के लिए हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। परिग्रह का त्याग तभी संभव है, जबकि लालसा-वासना एवं आकांक्षा का त्याग किया जाएगा। अतः सूत्रकार आगामी सूत्र में काम-वासना के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—कामा दुरतिक्रमा, जीवियं दुष्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ परितप्पइ॥१३॥

छाया—कामाः दुरतिक्रमाः जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयं कामकामी खलु अयं पुरुषः स शोचते, खिद्यते तेपते परितप्पते।

पदार्थ—कामा—काम-भोग। दुरतिक्रमा-दुरितक्रम—छोड़ने कठिन हैं। जीवियं—जीवन। दुष्पडिवूहगं—वृद्धि नहीं पा सकता, इसलिए। खलु—निश्चय से। कामकामी—काम-भोगों का इच्छुक। अयं पुरिसे—यह पुरुष अनेक दुःखों का संवेदन करता है जैसे। से—वह कामी व्यक्ति। सोयइ—शोक करता है। जूरइ—मन में खेद मानता है। तिप्पइ—रुदन करता है। परितप्पइ—परिताप को प्राप्त करता है, अर्थात् सब तरह से पश्चात्ताप करता है।

मूलार्थ—काम-भोगों का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षीण होता है, उसे बढ़ाया नहीं जा सकता है, अतः कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है, खेद करता है, रोता है, और सब प्रकार से पश्चात्ताप करता है।

हिन्दी-विवेचन

जीवन में अन्य विकारों की अपेक्षा काम को सबसे बलशाली शत्रु माना है। उस पर विजय पाना बहुत ही कठिन है। इसी कारण सूत्रकार ने इसे 'दुरितकम्मा' कहा है, अर्थात् इसे परास्त करना दुष्कर है। साधारण मनुष्य तो क्या, कभी कभी महान् साधक भी इसके प्रहार से विचलित हो उठते हैं, उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं।

काम के दो भेद हैं—1. इच्छा-वासना रूप काम और 2. मैथुन सेवन रूप काम। दोनों प्रकार के काम का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य, रति आदि से इच्छा आकांक्षा एवं वासना उद्बुद्ध होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अतः काम-भोग मोहनीय कर्मजन्य हैं और जब तक मोह कर्म का सद्भाव रहता है, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर सकना कठिन है। इसलिए सूत्रकार ने इसे जीतना दुष्कर कहा है। क्योंकि मोह कर्म को सब कर्मों का राजा माना गया है। इसलिए घातक कर्मों का क्षय करने वाले सर्वज्ञ सबसे पहले मोह कर्म का ही नाश करते हैं। क्योंकि राजा को परास्त करने पर शेष शत्रु तो स्वयं ही पराजित हो जाते हैं; फिर उनका नाश करने में देर नहीं लगती, परन्तु राजा को या मोह कर्म को जीतना आसान काम नहीं है। यह इतना भयंकर है कि बड़े-बड़े योद्धाओं के दांत खट्टे कर देता है। इसलिए साधक को इस पर विजय पाने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। अपने मन-वचन एवं शरीर को वासना की ओर प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए।

वासना एक ऐसी भूख है, जो कभी शांत नहीं होती। काम-भोग को आग कहा गया है और आग ईंधन डालने पर शांत नहीं, अपितु अधिक प्रज्वलित होती है। यही बात विषय-वासना की है। यह पदार्थों के भोगोपभोग से शांत नहीं होती, अपितु अधिक उग्र बनती जाती है। हम सदा देखते हैं कि एक इच्छा पूरी भी नहीं हो पाती कि दूसरी इच्छा जाग उठती है। उसके समाप्त होते, न होते तीसरी, चौथी आदि जागती रहती हैं, उनका कभी भी अन्त नहीं आता। इसलिए मानव को कभी भी सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। यदि कभी भाग्य से इच्छाएं पूरी भी हो जाएं, तब भी मनुष्य सुख को नहीं पा सकता। क्योंकि आखिर यह जीवन भी तो सीमित है और वासना असीम है, अनन्त है, और उसकी अभिवृद्धि के साथ-साथ जीवन को बढ़ाया

नहीं जा सकता। इसलिए वासना, इच्छा एवं आकांक्षा मन में ही रह जाती है और मानव आगे की यात्रा के लिए चल पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वासना की आग मनुष्य को सदा जलाती रहती है और उसमें प्रज्वलित मनुष्य विषय-वासना की पूर्ति न हो सकने के कारण उसके लिए चिन्ता-शोक करता है, मन में खेद करता है और रोने लगता है। इस प्रकार वासना के ताप से सदा सन्तप्त रहता है।

इसलिए साधक को प्रमाद का त्याग करके सदा विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर विषय-भोगों में नहीं फँसता, वह सदा सुखी रहता है और पूर्ण सुख-शांति को प्राप्त करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिण्ण लोए अणुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवन्ताइं पंडिए पडिलेहाए॥१४॥

छाया—आयतचक्षुः लोकविदर्शी (लोकं विपश्यति) लोकस्याधो भागं जानाति ऊर्ध्वं भागं जानाति तिर्यग्भागं जानाति गृद्धो लोकः अनुपरिवर्तमानः सन्धिं विदित्वा इहमर्त्येषु एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचयति यथा अन्तस्तथा बहिस्तथा बहि थान्तः, अन्तेऽन्ते पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत।

पदार्थ—आययचक्खू—दीर्घदर्शी। लोगविपस्सी—लोक के स्वरूप को जानने वाला। लोगस्स—लोक के। अहोभागं—अधो भाग को। जाणइ—जानता है। उड्ढभागं—ऊर्ध्व भाग को। जाणइ—जानता है। तिरियं भागं—तिर्यग् भाग को। जाणइ—जानता है। गड्ढिण्ण लोए—प्रमादी लोग काम भोगों में मूर्च्छित हैं। अणुपरियट्टमाणे—संसार चक्र में परिभ्रमण करने वाला। इह मच्चिएहिं—इस मनुष्य लोक में। संधिं विइत्ता—ज्ञानादि के प्राप्त करने का अवसर जानकर, जो काम-भोगों का परित्याग करता है। एस वीरे—वही वीर है। पसंसिए—वही प्रशंसा के योग्य है।

जो बद्धे—जो बंधे हुआओं को। पडिभोयए—बन्धनों से मुक्त करता है। जहा—जैसे। अन्तो—अन्दर से यह शरीर मल-मूत्र से अपवित्र है, उसी प्रकार। वाहिं—बाहर से भी मलयुक्त है, फिर। जहा—जैसे। बाहिं—बाहर से मलयुक्त है, उसी प्रकार। अन्तो—भीतर से भी है। अन्तो अन्तो—शरीर के मध्य-मध्य में। पूइदेहन्तराणि—पूति—शरीर के अन्तर्भाग में पूति व देह की अवस्था को। पासइ—देखता है। पुढोवि—पृथक्-पृथक् ही। सवन्ताइं—सवते हैं—अर्थात् नवद्वारों से मल का स्राव होता रहता है, अतः। पंडिए—पंडित पुरुष। पडिलेहाए—इनका प्रत्यवेक्षण करे, इनके स्वरूप को देखे।

मूलार्थ—दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है। और वह यह भी जानता है कि काम में मूर्छित जन संसारचक्र में परिभ्रमण कर रहा है। इस मनुष्य लोक में और मनुष्य जन्म में ज्ञानादि प्राप्त करने के अवसर को जान कर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानों द्वारा प्रशंसित है। स्वयं बन्धन-मुक्त होने से वही दूसरों को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है। जैसे यह शरीर मल-मूत्रादि के कारण भीतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहर से भी है तथा जिस प्रकार बाहर से है, उसी प्रकार भीतर से है। शरीर के भीतर-देह के विभागों में दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवों द्वारों में से वह मल के रूप में बाहर निकलती रहती है। अतः पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि काम-भोगों से वही व्यक्ति विरक्त हो सकता है, जो दीर्घदर्शी है। अर्थात् जो काम भोगों से प्राप्त होने वाली स्थिति को भी देखता है। इसलिए उसे आयतचक्षु—दीर्घदर्शी के साथ लोकदर्शी भी कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग् ज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेता है। उसे वह स्पष्ट हो जाता है कि लोक का आधार विषय-वासना ही है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विषय-वासना मोहनीय कर्म जन्य है और मोह कर्म ही लोक में परिभ्रमण कराने वाला है। इसके वशीभूत जीव विभिन्न गतियों में शुभाशुभ अनेक

वेदनाओं का संवेदन करता है। इस प्रकार प्रबुद्ध साधक मोहकर्म के विपाक को जानकर वासना का परित्याग करता है, वह भोगों से सदा दूर रहता है।

वह विषय-वासना से निवृत्त होकर अपने कर्म के बन्धन को तोड़ता है और दूसरों के कर्म बन्धन काटने में भी सहायक बनता है। यह सत्य है कि आत्मा स्वयं ही अपने बन्धनों को तोड़ती है। कोई भी शक्ति न उसे बन्धनों से बांध सकती है और न मुक्त ही कर सकती है। फिर भी, यहां जो बन्धन तोड़ने में सहायक शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि विषय-वासना से मुक्त बना जीव किसी भी बद्ध जीव के बन्धन तोड़ता नहीं है, प्रत्युत उसे बन्धन तोड़ने का मार्ग दिखा देता है, उपाय बता देता है, इसी कारण उसे निमित्त रूप से सहायक माना है। बन्धन तोड़ने का प्रयत्न तो आत्मा को ही करना होगा। वह तो केवल पथप्रदर्शक बन सकता है।

उसने जीवन के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है कि वह मल-मूत्र से भरा हुआ है। जैसे शरीर के अन्दर मल-मूत्र है, उसी प्रकार बाहर भी मल लगा हुआ है और जैसे बाहर से मल-युक्त है उसी प्रकार भीतर से भी है। उसके नव द्वारों से सदा मल का प्रस्रवण होता रहता है। इस प्रकार अपवित्रता के भंडार को देखकर वह अशुचि भावना भाता है और दूसरों को भी इस भावना को भाने के लिए प्रेरित करता है। उनका ध्यान भी इस अशुचि के पुतले से निवृत्त होने की ओर लगाता है।

प्रस्तुत सूत्र में अशुचि भावना का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। साधक अपने अन्दर एवं बाहर भरी हुई अपवित्रता को तथा समय-समय पर होने वाले कुष्ठ आदि रोगों से होने वाली शारीरिक विकृति एवं घाव आदि से झरने वाले रक्त, पीप आदि को देखकर वह सोचता है कि यह शरीर कितना विकृत है और इसके भोग भी क्या हैं—मात्र अशौच्य को बढ़ाने वाले! उससे मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक अशुद्धि की ही अभिवृद्धि होती है। अतः प्रबुद्ध साधक इस भावना के द्वारा भोगों की निस्सारता को जानकर उनसे निवृत्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ उड्ढ भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ” वाक्य में ‘ॐ’ की ध्वनि भी स्पष्ट प्रतिभासित होती है। क्योंकि जो महापुरुष तीनों लोक के स्वरूप का

भली-भांति जानता है और सांसारिक विषय-भोगों से सर्वथा निवृत्त होकर अनन्त सुख पा चुका है, वही दीर्घदर्शी है और ऐसा महापुरुष ही संसार में फंसे हुए व्यक्तियों को मुक्त बनने की राह बता सकता है। अस्तु तीन लोक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जानने वाला सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होता है। उसके स्वरूप को 'ॐ' शब्द से भी अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अहोभागं' 'उड्ढभागं' और 'तिरियं' 'मध्य भागं' तीनों शब्दों के आदि के एक एक अक्षर को लेकर 'अउम्' तीनों का संयोग किया जाए, अर्थात् 'आद् गुणः' सूत्र से 'अउ' में गुण किया जाए तो 'ओम् या ॐ' शब्द की सिद्धि हो जाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द तीन लोक के स्वरूप को भली-भांति जानने वाले सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी का परिबोधक है, योगदर्शन में इसी भाव का समर्थन किया गया है¹।

जबकि प्रस्तुत सूत्र उक्त शब्दों को लेकर टीकाकार या वृत्तिकार आदि ने 'ॐ' शब्द की कल्पना नहीं की है। परन्तु मेरी समझ से प्रस्तुत सूत्र की रचना करते समय सूत्रकार के मन में यह कल्पना रही होगी। इसका आधार यह है कि उन्होंने 'अधो' 'तिर्यक्' और 'ऊर्ध्व' के क्रम से तीनों लोक निर्देशन करके आकार आदि क्रम से निर्देश किया। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि सूत्रकार को इन पदों से 'ॐ' को सिद्ध करना ही अभीष्ट रहा है।

इसके अतिरिक्त जैनों का पंच परमेष्ठी मन्त्र भी 'ॐ' का प्रतीक माना गया है। 'अरिहन्त' 'अशरीरी' 'सिद्ध' और 'आयरिय' उक्त तीन पदों के 'अ+अ+अ' आदि अक्षरों का 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से दीर्घ करने पर 'आ' बनता है। और 'आ' में उपाध्याय के 'उ' का संयोग करने पर 'आउ' 'आद्गुणः' सूत्र से 'ओ' बन जाता है और उसमें 'मुनि' पद के 'म्' का संयोग करने पर 'ओम्—ॐ' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने नमस्कार मन्त्र से 'ॐ' शब्द सिद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द के पंच पदों से जिन गुणों का बोध होता है, वे समस्त गुण जिसमें पूंजीभूत हैं अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एवं बल-वीर्य से सम्पन्न हो वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आत्मा का संसूचक है।

यह ठीक है कि 'ॐ' शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा में होता रहा है। जैन आगमों में इसका साधना के रूप में प्रयोग नहीं हुआ। परन्तु जैन परम्परा में आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। और उक्त शब्द को अपनी संस्कृति एवं सिद्धांत के अनुरूप ढाल लिया। तब से जैन संस्कृति में भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि जो अपने ज्ञान से या सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित श्रुतज्ञान से तीन लोक के स्वरूप एवं कर्मों के फल तथा काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर भोगों का सर्वथा परित्याग कर देता है, वास्तव में वह वीर है, प्रशंसा के योग्य है और वह सर्व कर्म बन्धन से मुक्त बनता है और दूसरों को भी मुक्ति का पथ बताता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के द्वारा साधक भोगों से निवृत्त होता है। उसके बाद अर्थात् काम-वासना से निवृत्त होने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए? अपनी साधना को किस प्रकार गति-प्रगति देनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणयाए, अमराय महासद्धी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ॥95॥

छाया—स मतिमान् परिज्ञान मा च लालां प्रत्याशी मा तेषु तिरिश्चीन-मात्मानमापादयेत्, अकार्ष करिष्ये खलु अयं पुरुषः बहुमायी कृतेन मूढ पुनस्तत् करोति लोभं वैरं वर्द्धते आत्मनः यदिदं परिकथ्यते अस्य चैव परिवृंहणार्थं (अमरायमाणः) महाश्रद्धी, आर्तमेतं (अमरायमाणं) तु प्रेक्ष्यापरिज्ञाय क्रन्दते।

पदार्थ—से—वह। मइमं—मतिमान्। परिण्णाय—परिज्ञात—जानकर। य—समुच्चय अर्थ में। ह—वाक्यालंकार अर्थ में है। लालं—मुख की लाल को। मा—मत। पच्चासी—प्रत्याश न करे, अर्थात् छोड़े हुए काम-भोगों को बालक की लारवत् फिर से सेवन न करे। मा—मत। तेसु—उन अव्रतों में। तिरिच्छं—प्रतिकूल भाव रूप से।

अप्याणं—अपनी आत्मा को। आवायए—स्थापन न करे। अर्थात् ज्ञान आदि के मार्ग से आत्मा को प्रतिकूल न करे और अज्ञान, अविरति, मिथ्यादर्शनादि के अनुकूल न करे, किन्तु। कासंकासे—यह कार्य मैंने कर लिया है और यह मैं करूंगा। खलु—निश्चय। अयं—यह। पुरिसे—पुरुष शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता, अपितु वह पुरुष। बहुमाई—बहुत माया। कडेण—करने से। मूढे—मूढ़ हो जाता है। पुणो—फिर। तं—वह लोभानुष्ठान। करेइ—करता है तथा। लोहं—लोभ। करेइ—करता है और जिससे। अप्पणो बेरं—आत्मा के साथ वैर भाव। वड्ढेइ—बढ़ता है। जमिणं—जिससे यह। परिकहिज्जइ—कहा जाता है, कि। च—और एव-शब्द पूर्ववत् जानने। इमस्स—इस शरीर की। पडिबूहणाए—वृद्धि के लिए, वह पूर्वोक्त क्रियायें करता है। य—और। अमराए—देव के समान आचरण करता है। महासङ्की—काम भोगों में अत्यन्त श्रद्धा-अभिलाषा रखने वाला। एयं—यह। तु—वितर्क अर्थ में है। अट्ठं—काम-भोग आर्त ध्यान का मुख्य कारण हैं, अतः। पेहाए—यह देखकर, काम-भोगों से निवृत्त होना चाहिए। किन्तु जो लोग काम-भोगों से निवृत्त नहीं होते, अब उनके विषय में कहते हैं। अप्परिण्णाय—काम-भोगों के विपाक को न जानने से अर्थात् ज्ञ और प्रत्याख्यान परिज्ञा से तद्विषयक सम्यक् बोध को प्राप्त न करने से। कंदइ—वह कामी पुरुष अनेक प्रकार से आक्रोश करता है। शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—वह बुद्धिमान् साधु मुख की लार को चाटने वाले बाल की भांति वमन किए—त्यागे हुए काम-भोगों को फिर से भोगने की इच्छा न करे तथा अपने आत्मा को प्रतिकूल मार्ग में न ले जाए, अर्थात् ज्ञान से विपरीत दिशा में न ले जाए। मैंने यह काम कर लिया है और यह काम मैं करूंगा, इस प्रकार की चिन्ता करने वाला पुरुष कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। वह अत्यन्त मायावी होने से अधिक छल-कपट करने के कारण मूर्ख हो जाता है। फिर लोभ करता है और अपनी आत्मा के साथ वैर को बढ़ाता है, जिससे ऐसा कहा जाता है कि इस शरीर की वृद्धि के लिए आरम्भ करता हुआ अपने आत्मा को देवों के समान मानता है, तथा विषय भोगों में आसक्त होने के कारण, वह आर्तध्यान के वश होकर अनेक प्रकार की चिन्ताओं से आवृत्त हो जाता है। हे शिष्य! तू इस

स्वरूप को भली-भांति जानकर काम-भोगों की आशा का परित्याग कर? तथा जिन जीवों ने काम-भोगों की वास्तविकता को नहीं जाना, अर्थात् उनको तुच्छ, निस्सार और अनर्थकारी जानकर त्याग नहीं किया है, वे उनकी अप्राप्ति से तथा प्राप्त होकर नष्ट हो जाने से निरन्तर शोक और सन्ताप का ही अनुभव करते हैं!

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में अशुचि भावना के द्वारा त्यागपथ पर गति करने का आदेश दिया गया है और प्रस्तुत सूत्र में उस पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि साधक को त्यागे हुए भोगों को फिर से प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इसके लिए बालचेष्टा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। जैसे अबोध बालक अपनी गिरती हुई लार को फिर से मुँह में लेकर चूसने लगता है। इस प्रकार प्रबुद्ध साधक त्यागे हुए भोगों की लार को फिर से आस्वादन करने की कामना भी न करे। और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के पथ पर गतिशील आत्मा को विपरीत दिशा में न देखने दे, अर्थात् अपने मन को विषय-वासना एवं अव्रत आदि की ओर न दौड़ने दे। क्योंकि इच्छित भोग कभी पूरे नहीं होते और जो प्राप्त हुए हैं, उनका भी वियोग होता रहता है। इस प्रकार आशा की अपूर्ति एवं प्राप्त के वियोग से कामी व्यक्ति का मन सदा शोक एवं चिन्तना से सन्तप्त रहता है। उसे विषयों की तृष्णा एवं आसक्ति से इस जीवन में विभिन्न दुःख उठाने पड़ते हैं और परलोक में भी आत्मा दुःख के महागर्त में गिरती है। अतः साधक को भोगों में आसक्त होने वाले प्राणियों की स्थिति को देखकर उनसे सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “तिरिच्छमप्पाणमावायए—तिरिच्छीनमात्मानमापादयेः” पाठ का तात्पर्य यह है—कि विचारशील पुरुष अविरति, मिथ्यादर्शन आदि दोषों में अपनी आत्मा को नहीं लगावे। परन्तु उसे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ओर मोड़े और निरन्तर उसी साधना में संलग्न रहे जिससे शीघ्र ही कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को पा सके।

‘अमराए’ पद का अर्थ है—“अमरायतेऽनमरः सन् द्रव्ययौवनप्रभुत्वरूपावस-क्तोऽमर इवाचरति अमरायते” अर्थात् जो व्यक्ति अपने धन, यौवन, अधिकार

और रूप के गर्व में देव न होते हुए भी अपने आपको देव तुल्य मान कर भोगों में आसक्त रहता है, परिणामस्वरूप विभिन्न वेदनाओं एवं चिन्ताओं का संवेदन करता है। इस बात को 'अट्टमेयं तु पेहाए' पद से व्यक्त किया गया है। अतः भोगों की शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं को देखकर मुमुक्षु पुरुष को उनमें अपने मन को नहीं लगाना चाहिए।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

मूलम्—से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्वइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्य संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिबेमि॥96॥

छाया—तत्तद् जानीत यदहं ब्रवीमि चिकित्सां (काम चिकित्सा) पण्डितः प्रवदन् स हन्ता, छेत्ता भेत्ता, लुम्पयिता विलुम्पयिता, अप्रदावयिता अकृतं करिष्ये इति मन्यमानः यस्यापि च यत् करोति अलं बालस्य संगेन या वो एतत् कारयति बालः न एवमनगारस्य जायते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। तं—अतः। जं—तो। अहं—मैं। बेमि—कहता हूँ, उसको। जाणह—जानो। पंडिए—पांडित्याभिमानि जन। तेइच्छं—कामचिकित्सा को। पवयमाणे—कहता हुआ। से—वह फिर। हंता—जीवों का हनन करता है। छित्ता—छेदन करता है। भित्ता—भेदन करता है। लुंपइत्ता—लुम्पन करता है। विलुम्पइत्ता—विलुम्पन करता है। उद्वइत्ता—प्राणों का नाश करता है। अकडं—अकृत कार्य। करिस्सामित्ति—मैं करूंगा इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ। जस्सवि—जिसकी भी। करेइ—काम चिकित्सा करता है। अपि—अपनी तथा अन्य और दोनों की करता है, ऐसा जानना। च और णं—का अर्थ पूर्व की भांति समझना। अलं बालस्स संगेणं—बालक के संग से अलं पर्याप्त है अर्थात् उसका संग नहीं करना चाहिए। वा—अथवा। से—वह। बाले—बाल अज्ञानी जन जो। करेइ—काम चिकित्सा करवाता है, उससे भी। अलं—बस। एवं—इस प्रकार की क्रियाओं का अनुशासन करना। अणगारस्स—अनगार साधु को। न—नहीं। जायइ—कल्पता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मैं कहता हूँ उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्सा का उपदेशक पांडित्याभिमानी व्यक्ति, जीवों का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणों का विनाश करता है, और मैं अकृत जिसे अभी तक किसी ने नहीं किया है, ऐसा काम करूंगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी व पर की अथवा दोनों की चिकित्सा करता है। इस प्रकार कामचिकित्सा वा व्याधिचिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी जीवों का संग नहीं करना चाहिए। अतः इन क्रियाओं के अनुष्ठान में अनगार को कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अनगार—मुनि को उक्त सदोष क्रियाएं करनी नहीं कल्पती हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को काम एवं रोग चिकित्सा करने का निषेध किया गया है। क्योंकि उक्त चिकित्साओं में अनेक जीवों की हिंसा होती है, अतः साधक को किसी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। काम चिकित्सा का वात्स्यायन सूत्र में विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमें कामसेवन के विविध आसनों, प्रकाम भोजन एवं पौष्टिक औषधियों का उल्लेख किया गया है। इससे काम-वासना उद्दीप्त होती है और मनुष्य भोग की ओर प्रवृत्त होता है। वस्तुतः यह काम की चिकित्सा नहीं, अपितु उसको बढ़ाने वाली है। चिकित्सा का अर्थ है—औषध आदि प्रयोगों से रोग का उपशमन या नाश करना। काम भी एक रोग है और इसका मूल है मोह कर्म। अतः मोह कर्म का उपशमन करना या क्षय करना वास्तव में काम चिकित्सा है। परन्तु अक्षरी पांडित्य के अभिमानी भोग प्राप्ति की योग्यता को चिकित्सा का रूप देते हैं। जो वस्तुतः काम के रोग को बढ़ाने वाली है। उससे मोहकर्म की उदीरणा होती है और मनुष्य की भोगेच्छा में अभिवृद्धि होती है। मोहकर्म संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। अतः साधु को ऐसी चिकित्सा करना नहीं कल्पता।

इस प्रकार रोग चिकित्सा में जड़ी-बूटी आदि से तथा स्वर्ण भस्म आदि रासायनिक औषधों को बनाने या बनाने की विधि बताने में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस प्राणियों की हिंसा होती है और ऐसी प्रवृत्ति में लगे रहने से आध्यात्मिक चिन्तन में भी विघ्न उपस्थित होता है। क्योंकि रोगी रात-दिन उसे घेरे रहेंगे, अतः

वह अपनी साधना नहीं कर सकेगा और इसके कारण गृहस्थों से घनिष्ठ परिचय बढ़ने से अन्य दोषों में प्रवृत्ति होना भी सम्भव है। इसलिए साधक को काम एवं व्याधि चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी व्यक्तियों का संसर्ग ही करना चाहिए।

यह प्रश्न हो सकता है कि अपने शरीर में काम की पीड़ा पीड़ित करने लगे या रोग उत्पन्न हो जाए उस समय क्या करे? काम की चिकित्सा के लिए वह काम शास्त्र में प्रयुक्त किसी भी प्रयोग का सेवन न करे। क्योंकि उससे काम व्याधि को उत्तेजना मिलती है, रोग उपशान्त न होकर अधिक बढ़ता है। उसके लिए आगमों में बताई गई तप, आतापना, स्वाध्याय, ध्यान एवं सेवा-शुश्रूषा की विधि को स्वीकार करके काम-वासना पर विजय प्राप्त करे, अर्थात् काम के मूल मोह को उन्मूलन करने का प्रयत्न करे।

रोग को उपशान्त करने के लिए साधु अपनी मर्यादा के अनुसार चिकित्सा कर भी सकता है या दूसर से करवा भी सकता है। उसके लिए सावधऔषध के त्याग का विधान है, निर्दोष औषध ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को सदोष आहार एवं वस्त्र-पात्र, स्थानादि को स्वीकार नहीं करना चाहिए और उक्त निर्दोष वस्तुओं में परिमाण—मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् उक्त वस्तुओं को मर्यादा से अधिक न लिया जाए और उनमें आसक्ति एवं ममत्व भाव नहीं रखे। इसके बाद काम-वासना का सर्वथा परित्याग करे। जिनके संसर्ग से काम की वासना एवं हिंसा की प्रवृत्ति के भावों को उत्तेजना मिलने की संभावना हो, उनका संसर्ग भी नहीं करना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक को आहार, उपधि सम्बन्धी सदोषता आसक्ति एवं भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करके निर्विकार एवं निर्दोष भाव से संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेभि’ का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥



अध्यात्मसार : 5

मूलम् : अदिस्समाणे कयविककयेसु, से ण किण्णे न किणाकिणंतं न समणुजाणइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालाणुड्ढाई अपडिण्णे । 12/5/89

मूलार्थ : स्वयं क्रय-विक्रय कार्य को नहीं करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वयं वस्तु खरीदे और न दूसरों से मोल मंगावे तथा मूल्य से खरीदने वाले का अनुमोदन भी न करे। वह भिक्षु काल-समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का संसार के परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनय का ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का दाता और श्रोताओं के भाव का परिज्ञाता हो और यथासमय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रह का त्यागी एवं दुराग्रह से रहित, अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञा न करने वाला हो।

ये आहार विधि किसके लिए हैं? यहाँ एक विशेषण दिया है 'अणगार'। यह आहार विधि अणगार के लिए है।

अणगार किसे कहते हैं? इसका मूलभाव क्या है? जो बाह्य सुरक्षा का त्याग करके धर्म की शरण में आ गया।

धन-परिवार, पद इत्यादि क्यों चाहिए? इनके प्रति आसक्ति क्यों है? क्योंकि व्यक्ति की मन की यह समझ है कि यह सब मेरी रक्षा करेंगे।

एक पत्नी पति को क्यों चाहती है? वस्तुतः पत्नी की यह समझ है कि मेरा पति मेरी सुरक्षा है। उसके सुख और सुरक्षा में पति निमित्त है। इसलिए वह पति को चाहती है। यह ऐसे ही है जैसे इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्ति है, इस कारण उन विषयों की पूर्ति जिन साधनों से होती है, उन साधनों के प्रति भी आसक्ति होती है। हम किसी भी साधन को क्यों चाहते हैं? क्योंकि हमारी अब तक की यह समझ है कि मेरी सुख-सुविधा की पूर्ति इस साधन से हो सकती है।

इस प्रकार अणगार का अर्थ हुआ जिसने बाहर की शरण छोड़ कर धर्म की शरण ले ली है। घर का त्याग 'घर के प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग', धन का त्याग अर्थात् सुरक्षा का त्याग। बाहर की जितनी भी सुरक्षाएं हैं, उनका त्याग। या तो यों कह सकते हैं जिसने मिथ्या सुरक्षा का त्याग करके सम्यक् सुरक्षा स्वीकार कर ली, वह अणगार है।

ऐसे अणगार की यह आहार विधि है। इसमें अधिकांश स्थान पर निषेध-ही-निषेध है तो फिर इसका विधेयात्मक स्वरूप क्या है? विधेयात्मक स्वरूप है, अपनी साधना की रक्षा करते हुए, अपनी साधना के पोषण के लिए, जो भी आहार मिले वह ग्रहण करना। यहाँ महत्त्वपूर्ण है, अपनी साधना की रक्षा करना और यह भी महत्त्वपूर्ण है जिससे अपनी साधना का पोषण होता हो ऐसा आहार लेना। इस प्रकार एक तो हुआ, किस प्रकार आहार लेना। दूसरा कैसा आहार लेना। दोनों ही बातें आवश्यक हैं। यहाँ जो भी विधि-विधान बताए गए हैं, वे किस प्रकार आहार लेना चाहिए उस सम्बन्ध में हैं। आहार कैसा लेना चाहिए? इसका वर्णन पहले हो चुका है।

आहार तो इन विधि-विधानों के अनुसार ही लेना है और उनमें चार आहार बताए हैं—'रोगी, बाल, वृद्ध, तपस्वी'। यह साधक को स्वयं निर्णय करना चाहिए कि किस समय, किस प्रकार उपयोग करना है। यदि वास्तव में अपवाद मार्ग से आहार लेना आवश्यक है तभी लेना, अन्यथा नहीं। अब आपको यह देखना है कि मैं जीभ के स्वाद के लिए ले रहा हूँ या स्वास्थ्य के लिए। यदि व्यक्ति स्वयं के प्रति प्रामाणिक होगा तो स्वयमेव समझ में आ जाएगा। मूलभाव क्या है? आहार लेते समय यह ध्यान रखना कि जिससे मेरी साधना का पोषण हो। अब इसमें आहार की गुणवत्ता भी आ गयी और आहार लेने का प्रकार भी। दोनों में से किसी में भी दोष होगा, तब साधना की हानि होगी। सदा ही भीतर देखते रहना की साधना के पोषण और उसके आधार रूप यह देखना कि मैं स्वास्थ्य के लिए आहार ले रहा हूँ या इन्द्रियों के पोषण और उसके हेतु रूप जिह्वा के स्वाद के लिए आहार ले रहा हूँ।

जिस प्रकार का आहार साधना के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार का आहार सभी को बताना। इस प्रकार की समझ श्रावकों को देने पर उन्हें भी लाभ होगा और वे श्रमणों की साधना में भी सहयोगी बन सकेंगे।

‘कालन्ते खेयन्ने’ यह सारे गुण बताए गए हैं, जो अणगार के विशेषण हैं। जो इन विशेषणों से युक्त है, उसी व्यक्ति में, आहार, गोचरी लाने की योग्यता है। गोचरी लाने का अर्थ, पात्र को भरकर ही लाना नहीं है। यह सभी साधारण भिक्षु करते हैं, लेकिन साधुत्व में यह विशेषता है कि विधिपूर्वक आहार लाना और इस प्रकार आहार वह ला सकता है जो इन विशेषणों से युक्त है। गोचरी लाने वाले की विशेषता इसी में है कि साधना के लिए किस प्रकार की गुणवत्ता से युक्त आहार की आवश्यकता है। ऐसा आहार किस प्रकार सम्यक् रूप से विधिपूर्वक मिल सकता है, तत्सम्बन्धी काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव का बोध।

जैसे वक्ता की विशेषता क्या है कि श्रोता कहाँ पर खड़ा है यह देखना और फिर उसे धर्म का मर्म कैसे समझाया जा सकता है। तदनुसार उसे उसकी भाषा में अपना अर्थ समझाना। इसी प्रकार गोचरी लाने वाले भिक्षु की अपनी विचक्षणता होती है। इसी कारण नवदीक्षित को आप गोचरी के लिए नहीं भेजते, अभी वह सामायिक चारित्र में है। गोचरी कैसे लानी यह उसे पूर्ण रूप से पता नहीं। यह जितने भी विशेषण दिये हैं, उन विशेषणों से वह युक्त हो जाए तभी उसे पंच महाव्रत दिये जाते हैं। ये उत्कृष्ट भाव हैं। इतनी योग्यता आने में समय लगता है। अतः इस योग्यता के साधारण रूप से आने पर आप पंच महाव्रत दे सकते हैं। लेकिन पूरे गण के लिए गोचरी लाने में तो यह योग्यता आनी आवश्यक है। तद् हेतु वह बुद्धिमत्ता और विचक्षणता होनी चाहिए, जो साधना, श्रुत के अभ्यास और गुरुजनों की संगति से आती है। यदि वह विचक्षण नहीं है, तब या तो उपयुक्त गोचरी नहीं मिलेगी या वह नियम तोड़ कर गोचरी लाएगा।

अपने भीतर निरीक्षण करो कि मेरे भीतर वह योग्यता है कि नहीं। वह योग्यता क्या है और उसे कैसे अर्जित किया जा सकता है, इस हेतु जिज्ञासा और तत्परता रखें। हर समय जागरूक रहें। आगम हमारे चक्षु हैं। उन चक्षुओं का उपयोग करके स्वयं के प्रति जागरूक रहना।

जिस प्रकार की साधना के लिए आहार उपयोगी है, उसी प्रकार की समझ श्रावकजनों को भी देनी। यह भी गोचरी सम्बन्धी एक विचक्षणता है। जैसे आप पीने हेतु गरम पानी का उपयोग करते हैं तब गरम पानी पीने का महत्त्व और उसका

हमारी साधना से सम्बन्ध सभी कुछ समझाते हुए श्रावकजनों को गरम पानी के उपयोग हेतु प्रेरित करना। इस प्रकार ऐसे श्रावकों के मध्य रहते हुए साधुजनों की साधना अल्प प्रयास से उत्थान प्राप्त करती है।

मूलम् : दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कबलं पायपुंच्छणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा॥ 2/5/90

मूलार्थ : राग-द्वेष युक्त की गयी प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थों के लिए जो गृहस्थ आरंभ करते हैं, उसे भली-भाँति जाने और उसमें सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थों को स्वीकार करे।

यहाँ पहले दिया था—दुहओ छेत्ता—दोनों का छेदन करने वाला।

नियाइ—निवृत्ति के मार्ग पर चलने वाला। निवृत्ति के मार्ग पर चलने वाला कैसा हो, राग और द्वेष को छेदन करने वाला होगा। ऐसे व्यक्ति को जब ग्रहण करना हो तो 'जाणिज्जा' यह जानकर और देखकर लेना कि प्रथम इस वस्तु की मुझे आवश्यकता है या नहीं। अनावश्यक वस्तुओं को, आहार को ग्रहण न करें। ऐसा भी नहीं कि कोई विशेष व्यक्ति दे रहा है तो ले लूं, वास्तव में आवश्यक हो तभी लेना।

दूसरा : जिस वस्तु को ग्रहण करना है, वह मेरे योग्य है या नहीं। वह मेरी आवश्यकतानुसार है या नहीं।

तीसरा : किस प्रकार से वस्तु को ग्रहण करना—सम्यक् प्रकार से वस्तु को ग्रहण करना। सम्यक् प्रकार से, अर्थात् जो भी गवेषणा की मर्यादा है, उसके अनुसार।

अपडिन्ने : अर्थात् प्रतिज्ञा से रहित—प्रतिज्ञा से रहित अर्थात् आग्रह से रहित। एकान्त से रहित अनेकान्त। इसलिए साधु के व्रत होते हैं प्रतिज्ञा नहीं। इसी प्रकार आहार आदि ग्रहण करने से पूर्व जो संकल्प किया जाता है, उसे अभिग्रह कहते हैं। यह अभिग्रह किसलिए होता है? शरण में हमारी जो आस्था है, अभिग्रह उसकी परीक्षा है। मैं धर्म की शरण में हूँ तो जो भी आवश्यक होगा, वह मुझे मिलेगा। अभिग्रह अर्थात् इस प्रकार की परिस्थितियाँ हुईं तो मैं ग्रहण करूँगा। अभिग्रह करके वह देखता है कि आवश्यक हुआ तो अभिग्रह धारण करने पर भी मिलेगा। ऐसा

करने से उसकी शरण में दृढ़ता आती है। अभिग्रह करना आवश्यक नहीं है, यह एक तप है। अभिग्रह में काल की मर्यादा का प्रश्न नहीं है कि इस काल तक अभिग्रह हुआ तो ठीक है, अन्यथा ऐसे ही ग्रहण कर लूँगा। इसमें तो कोई परीक्षा ही नहीं हुई। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर व्यक्ति आगे जाएगा। तब तो परीक्षा का महत्त्व है। यदि आगे जाना निश्चित ही हो, चाहे परीक्षा में उत्तीर्ण हो या न हो, तब फिर परीक्षा का कोई महत्त्व नहीं है। यही बात अभिग्रह के सम्बन्ध में है। भगवान ने अपने साधनाकाल में अनेक अभिग्रह किये पर किसी में भी काल की कोई मर्यादा नहीं थी। वे तो अपने स्वभाव की शरण में थे। इन अभिग्रहों से उनकी शरण में स्थिरता और दृढ़ता आयी।

ऐसे तो साधु की परीक्षा रोज होती है। फिर भी अभिग्रह अपने आप में एक विशेष तप है। परीक्षा इन अर्थों में कि साधु संग्रह करके नहीं रखता। सुबह को मिला है पता नहीं शाम को मिले या न मिले। पर वह शरण में, विश्वास में जीता है कि आवश्यक हुआ तो अपने आप मिलेगा। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है। साधारणतः व्यक्ति व कई साधुगण भी इच्छाओं में जीते हैं। वे भविष्य के लिए संग्रह करके रखते हैं, जबकि साधुजनों के नियम हैं कि रात को संग्रह करके नहीं रखना, तब वह नहीं रखेगा। लेकिन किसी को दे देगा कि आप मेरे लिए संभालकर रखें। यह सब मन की गतिविधियाँ हैं। जब संग्रह ही नहीं करना तब न स्वयं करना, न ही अपने लिए किसी से करवाना, क्योंकि संग्रह करने पर चाहे स्वयं करें चाहे किसी से करवाएं, साधक का मन उन्हीं वस्तुओं में अटका रहता है। उसे पुनः-पुनः खयाल आता है कि जो मैंने संग्रह करके रखा है, वह सुरक्षित है या नहीं। मन साधना की अपेक्षा साधनों में अटक जाता है। साधक के लिए साधन होते हैं, न कि साधन के लिए साधक। जैसे तुमने कोई कीमती कलम रखी तो फिर पुनः-पुनः यही चिन्ता होगी कि कहीं कोई मेरी कलम उठाकर न ले जाए। तब अच्छा है कलम छोड़ दो। जिस चीज की भी चिन्ता हो जाए, उसे छोड़ देना ही अच्छा है। अभिग्रह ग्रहण करने योग्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में यह कर सकते हैं।

मूलम् : आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ,
उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिआए लोए अणुपरियड्ढमाणो,

संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए,
जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइदेहंतराणि
पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए॥ 12/5/94

मूलार्थ : दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है। वह यह भी जानता है कि काम में मूर्च्छित जन संसारचक्र में परिभ्रमण कर रहा है, इस मनुष्य लोक में और मनुष्य-जन्म में ज्ञानादि प्राप्त करने के अवसर को जानकर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानों द्वारा प्रशंसित है। स्वयं बन्धन-मुक्त होने से वही दूसरों को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है। जैसे यह शरीर मल-मूत्रादि के कारण भीतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहर से भी है। जिस प्रकार बाहर से है, उसी प्रकार भीतर से है। शरीर के भीतर—देह के विभागों में दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवों द्वारा में से वह मल के रूप में बाहर निकलती रहती है। अतः पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करें।

1. आयय चक्खू : अर्थात् दीर्घद्रष्टा, 1. दीर्घद्रष्टा का साधारण अर्थ होता है दूर तक देखने वाला। 2. दूसरा अर्थ है जो सम्पूर्ण देखता है। यहाँ दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं। सम्पूर्ण को अर्थात् जो दृश्य को ही नहीं, अदृश्य को भी देख लेता है। केवल रूप को ही नहीं अरूप को भी देखता है। जो सामने प्रतीत हो रहा है वही नहीं, लेकिन उस प्रतीति के पीछे जो अप्रतीत है, उसे भी देख लेता है। उसके पास ज्ञान की दृष्टि है, गहराई है। अतः जो साधारण मनुष्य नहीं देख पाता, दीर्घ द्रष्टा उस सत्य को भी साक्षात् कर लेता है।

साधारण मनुष्य वही देखता है, जो इन्द्रियों की पकड़ में है। लेकिन जो दीर्घद्रष्टा होता है, वह जो इन्द्रियों की पकड़ में नहीं है, उसे भी देखता है। यह एक अर्थ हुआ दीर्घद्रष्टा का।

दूसरा अर्थ है—जो कारण और परिणाम दोनों को जानता है जैसे—पहले के सूत्र में आया था, कर्मों के स्वरूप को जानने वाला 'एयाणुपस्सी-79' साधारण व्यक्ति केवल वर्तमान परिस्थिति को देखते हैं। दीर्घद्रष्टा उस परिस्थिति का क्या भूतकाल है और आगे परिणाम क्या आएगा, यह भी देखता है। अभी जो वर्तमान है, उसका भूत

और भविष्य क्या है, इस परिस्थिति का कारण और परिणाम क्या है—दीर्घद्रष्टा दोनों को जान लेता है। जैसे—

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में कहा गया है कि अनेक जीवों को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कहाँ से आया हूँ और मैं कहाँ जाने वाला हूँ। वर्तमान में मैं जो कर्म कर रहा हूँ, मैं जहाँ पर हूँ, उसका कारण क्या है? उसका परिणाम क्या है? जैसे चण्ड कौशिक की तरह कोई व्यक्ति बहुत क्रोध कर रहा है। तब दीर्घ द्रष्टा उसके क्रोध को ही नहीं देखता, अपितु वह यह भी देखता है कि इसके पीछे उसके पूर्व जन्म के संस्कार क्या है? आगे उसके इस कर्म का क्या परिणाम आने वाला है? इसलिए भगवान् महावीर को चण्डकौशिक के क्रोध के प्रति क्रोध नहीं जागा, अपितु उसके क्रोध के प्रतिदान में उसे प्रतिबोध दिया।

इसी प्रकार संगम ने भगवान् को बहुत परीषह दिये। लेकिन भगवान् ने केवल उसके वर्तमान को नहीं देखा। उसके भूत और भविष्य दोनों को देखा और करुणा जागी। केवल वर्तमान को देखेंगे तब क्रोध जाग सकता है। लेकिन इस प्रकार कारण और परिणाम दोनों को जानने पर करुणा ही जागती है। इस प्रकार इस बात को पुनः-पुनः समझना आवश्यक है।

दीर्घद्रष्टा—आत्मज्ञानी से लेकर केवलज्ञानी तक कोई भी दीर्घद्रष्टा हो सकता है। इसके अनन्त अर्थ हैं। ऐसा दीर्घद्रष्टा साधक से लेकर सिद्ध तक कोई भी हो सकता है। इस प्रकार दीर्घद्रष्टा, अर्थात् जो साधारण मनुष्य से कुछ अधिक देखता है। साधारण व्यक्ति केवल इन्द्रियों में जीता है। दीर्घद्रष्टा इन्द्रियों से परे भी देखता है।

गुरु दीर्घद्रष्टा होते हैं : उनके पास वह दीर्घदृष्टि है जिसके माध्यम से शिष्य जिसे कल जानेगा, गुरु उसे आज ही जान लेते हैं। शिष्य की वृत्तियों का मूल कारण क्या है और इसका परिणाम क्या होगा, गुरु यह भी जान लेते हैं। शिष्य के अन्तर का जो रोग है, जो भूल है, अब इन रोगों में सभी रोग आ गये। दुःख, क्लेश, जन्म-मरण इत्यादि सारे रोग। इन सबकी दवा गुरु ही कर सकते हैं; क्योंकि गुरु उस रोग के मूल कारण को जानते हैं। ऊपर-ऊपर से कारण कुछ दिखाई देते हैं, लेकिन मूल में कारण कुछ और हैं। जैसे चिकित्सक मूल कारण जानकर ही चिकित्सा कर

सकता है। इसीलिए ज्ञानीजन कहते हैं—तुम अपनी बुद्धि से लाख उपाय करो, पर बात नहीं बनती। लेकिन गुरु की शरण में जाते ही बात बन जाती है, क्योंकि गुरु की शरण में जाते ही गुरु मूल कारण को पकड़ कर उपाय बता देते हैं। इसलिए यह भी कहा गया है कि गुरु के प्रति अनन्य अटूट श्रद्धा रहे, जैसे आप चिकित्सक के पास गये तो वह जो भी दवा देते हैं, आप ले लेते हैं। आप यह सवाल नहीं करते कि यही दवा क्यों? उसी प्रकार गुरु जो भी उपाय बताएं, उसे श्रद्धा-पूर्वक करना। इस प्रकार दीर्घद्रष्टा का दूसरा अर्थ हुआ, कारण और परिणाम को जानने वाला, अर्थात् गुरु।

ऊँकार—एक ध्वनि है। यह तब प्रकट होती है जब व्यक्ति अपने शरीर के पार कुछ अनुभव करने लगता है, उसको हम 'अनाहत नाद' कहते हैं। यह ध्वनि उस अनाहत नाद के रूप में प्रकट होती है तो जरूरी नहीं है कि वह ऊँ के रूप में ही हो, वह ध्वनि किसी भी रूप में हो सकती है। लेकिन वस्तुतः वह ओम् का ही एक रूप है। सुनने में सभी ध्वनियाँ अलग-अलग दिखाई देती हैं। लेकिन मूल में उन सभी ध्वनियों की गुणवत्ता एक ही है। ध्वनि की उस विशेष गुणवत्ता का नाम ऊँ है।

इस प्रकार ऊँकार का अनुभव प्रत्येक साधक को हो सकता है। तत्कालीन आचार्यों ने देखा कि यह बाहर की ऊँकार की ध्वनि उस आन्तरिक ध्वनि हेतु भूमिका तैयार करती है। शरीर और मन को सात्त्विक बनाती है। अतः उन्होंने प्रत्येक मन्त्र के आदि में ऊँकार को जोड़ दिया है। ऊँकार भाषा का कोई अक्षर नहीं है। ऐसे तो प्रत्येक अक्षर अपने आप में एक ध्वनि है, लेकिन ऊँकार रूप ध्वनि साधक के लिए उपयोगी है, इससे साधना की भूमिका तैयार होती है।

ऊँकार ध्यान की विधि : ऊँकार का अर्थ जानने के पश्चात् ऊँकार साधना की विधि क्या है? उसके लिए प्रथम गहरा श्वास लेना, पश्चात् दो अक्षर कहना ओ एवं म्; ओ कहते-कहते फिर म् कहना, ओ दो हिस्से में कहना एवं म् एक हिस्से में। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कुछ भी न कर सके, तब गहरे श्वास के साथ इसका उच्चारण करे।

कितनी बार उच्चारण करना? जिसकी जैसी आवश्यकता हो, फिर भी कम-से-कम 5 से 10 बार। इस प्रकार गहरा श्वास लेना और उच्चारण करना। उच्चारण करने के बाद शान्त रहकर ऊँकार का ध्यान कर सकते हैं।

ऊँकार का ध्यान उच्चारण करते हुए साथ में अथवा उच्चारण करने के पश्चात् दोनों विधि से कर सकते हैं अथवा बाद में भी कर सकते हैं। आज्ञा-चक्र पर ऊँकार का ध्यान करना आसान है; परन्तु इससे अच्छा यह है कि पहले हृदयचक्र में शुरूआत करें, वहाँ जब ध्यान सध जाए, तब आज्ञा चक्र पर करना ठीक है। जब आज्ञाचक्र पर भी सध जाए, तब फिर सहस्रार चक्र पर ध्यान करना चाहिए। यहाँ ध्यान सधने का अर्थ है, ऊँकार की स्थापना करना एवं उसके साथ रहना। इस प्रकार करते-करते जब व्यक्ति पूरी तरह लीन हो जाए, बाकी सब कुछ भूल जाए, केवल उसी में लीन हो जाए, तब वहाँ ध्यान सधता है।

आयत् चक्खू : जो अर्थ इस सूत्र का आप ध्यान को लेकर करते हैं, वह भी कर सकते हैं। वहाँ भी अर्थ तो यही होगा दीर्घद्रष्टा। लेकिन जब हम ध्यान के परिप्रेक्ष्य में दीर्घद्रष्टा कहेंगे तब दीर्घद्रष्टा साधना के रूप में आएगा, अवस्था के रूप में नहीं। यहाँ पर दीर्घद्रष्टा, अर्थात् साधना की दृष्टि से शरीर और मन को देखने वाला अर्थ होगा। इस परिप्रेक्ष्य में दीर्घद्रष्टा का आत्मज्ञानी होना आवश्यक नहीं है। कोई भी साधारण व्यक्ति 'साधक' भी दीर्घद्रष्टा हो सकता है। ऐसा दीर्घद्रष्टा, शरीर और मन को—विचारों को विशेष रूप से देखता है।

लोगविपस्सी : लोक का अर्थ बहुत विस्तृत है। लोक का प्रथम अर्थ है—सारा जगत् तीनों लोक। लोक का दूसरा अर्थ है हम जहाँ पर भी हैं, हमारे आसपास जो कुछ भी है, उसे विशेष रूप से देखना। वह सम्पूर्ण लोक तो नहीं देखता परन्तु जो कुछ भी देखता है, वह विशेष रूप से देखता है। उसके पास वह ज्ञान दृष्टि है, दृष्टि में वह गहराई है कि जो कुछ भी देखता है, उसे वह विशेष रूप से देखता है।

लोक का अर्थ है : यह शरीर और मन।

इस प्रकार प्रथम अर्थ में शेष दोनों अर्थ भी समाविष्ट हो जाते हैं। द्वितीय अर्थ में तीसरा अर्थ अपने आप आ जाता है। तीसरे में केवल तीसरा अर्थ है।

प्रथम अवस्था—सम्पूर्ण ज्ञानी, केवलज्ञानी की है। द्वितीय अवस्था आत्मज्ञानी की है और तीसरी अवस्था साधारण साधक की है। साधना करते-करते अवस्था बदलती है। लोक को वह देखता है।

किस प्रकार—विपस्सी—विशेष रूप से। जो देखने वाला है, उसका नाम

है आयत्, अर्थात् चक्खू द्रष्टा का नाम आयत् चक्खू और दृष्टि का नाम है विपस्सी।

विपस्सी : विशेष रूप से देखना। यहाँ इस दृष्टि की विशेषता क्या है? विपस्सी का अर्थ होता है कि द्रष्टा और दृश्य के बीच में केवलज्ञान का सम्बन्ध है, राग और द्वेष का नहीं। अन्यथा—पस्सती भी कह सकते थे, विपस्सी क्यों कहा? क्योंकि यहाँ पर उन्हें यह कहना है कि साधारणतः द्रष्टा और दृश्य के बीच में ज्ञान के साथ-साथ राग और द्वेष भी जुड़े हुए हैं। लेकिन यहाँ द्रष्टा और दृश्य के बीच केवलज्ञान का सम्बन्ध है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान : द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि

तीनों एक भी हैं और अनेक भी हैं। एक प्रकार से वे अनेक हैं, क्योंकि द्रष्टा अलग है। द्रष्टा का गुण है दृष्टि और दृश्य अलग है और दूसरे प्रकार से तीनों एक ही हैं, क्योंकि दृष्टि द्रष्टा का ही गुण है। अतः गुण गुणी अभेदनय की अपेक्षा दोनों एक ही हैं और दृश्य द्रष्टा में ही प्रतिफलित होता है, इस अपेक्षा से द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि तीनों एक ही हैं।

अब यह विपस्सी निम्न तीनों अवस्थाओं पर लागू होती है—

1. केवलज्ञानी भी बिना राग-द्वेष के देखता है।
2. आत्म-ज्ञानी बिना राग-द्वेष के देखें तब वे विपस्सी हैं; अन्यथा—जब राग-द्वेष आ जाए तब नहीं।
3. साधारण साधक जब बिना राग-द्वेष के देखता है तब विपस्सी है, अन्यथा नहीं। क्योंकि साधना तभी है, जब बिना राग-द्वेष के देखें।

राग-द्वेष भी दो प्रकार से है—पहला स्थूल रूप से, दूसरा सूक्ष्म रूप से। स्थूल रूप से जो राग-द्वेष हैं, वे हमारे ध्यान में आते हैं और सूक्ष्म रूप से होने वाले राग-द्वेष कर्मों के क्षयोपशम वश वे हमारे ध्यान में नहीं आते। केवलज्ञानी में राग और द्वेष न स्थूल रूप से हैं और न सूक्ष्म रूप से। आत्मज्ञानी में सूक्ष्म रूप से कभी हो सकता है, कभी नहीं। साधारण साधक में अधिकांश रूप से सूक्ष्म रूप से होता ही है, कभी-कभी नहीं भी हो सकता।

जितना-जितना व्यक्ति शान्त होता जाता है, उतना ही स्थूल से सूक्ष्म राग-द्वेष का भी पता चलता है।

‘अहो भागं जाणई, उड्ढ भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।’

अधोलोक, मध्य लोग, ऊर्ध्वलोक।

इसका एक अर्थ है, इस विश्व के तीनों लोक। दूसरा अर्थ है—शरीर का अधोभाग, मध्य भाग और ऊर्ध्व भाग, तीसरा—कारण, परिस्थिति और परिणाम।

कारण—अधोभाग—भूतकाल

परिस्थिति—मध्य भाग—वर्तमान

परिणाम—ऊर्ध्वभाग—भविष्यकाल।

वह इन तीनों लोकों को देखता है। प्रथम अर्थ सम्पूर्ण ज्ञानी की अपेक्षा से है। द्वितीय अर्थ—साधारण साधक की अपेक्षा से है। इसमें साधना की अपेक्षा से मन भी आ सकता है। लेकिन तब वह बहुत ही गहरी बात हो जाएगी। वर्तमान वृत्ति के पीछे रहा हुआ पुरातन संस्कार अधोभाग। वर्तमान वृत्ति मध्य भाग और उस वृत्ति का परिणाम ऊर्ध्व भाग। तीसरा अर्थ—आत्मज्ञानी की अपेक्षा से है। वह प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति को अपनी ज्ञानदृष्टि से देखता हुआ कारण और परिणाम सहित सभी को जानता है।

गडिडए लोए : जो इस लोक में मूर्च्छित होता है, वह ‘अणु परियट्टमाणे’ अर्थात् बार-बार यहीं पर घूमता रहता है। वह यह भी देखता है कि देखो मेरा मन कितना मूर्च्छित है और मन की परिस्थितियों को देखते हुए यह भी देखता है कि मन की वृत्तियों में मूर्च्छित रहने के कारण पुनः-पुनः उन्हीं वृत्तियों में घूम रहा हूँ। वह यह भी देखता है कि मूर्च्छित रहने के कारण कितनी बार मैं पुनः-पुनः घूम चुका हूँ।

संधि विइत्ता : संधि का अर्थ होता है, प्रथम ग्रन्थि—अर्थात् गांठ, वह इस ग्रन्थि को जान लेता है। कर्मों की ग्रन्थि, कषायों की ग्रन्थि, जितना-जितना ग्रन्थि को जानता है, उतना-उतना मुक्त होता है। वह देखता है कि देखो मैं किस प्रकार ग्रन्थि को बाँध रहा हूँ। वह यह भी देखता है कि इस ग्रन्थि के बंधन का कारण क्या है और परिणाम क्या है और वह यह भी देखता है कि इन ग्रन्थियों के कारण ही बन्धन और

परिभ्रमण है। तब वह फिर ग्रन्थि से विरत होता है, ग्रन्थि से पीछे हटता है और गांठों को खोलने की शुरुआत करता है, क्योंकि जान-बूझ कर गांठों को कौन बाँधेगा? अज्ञानवश ही हम गांठें बाँध रहे हैं। इन गांठों का ज्ञान होते ही, 'संधि विइत्ता मच्चिएहिं' अर्थात् उनसे मुक्ति होती है।

सन्धि : का दूसरा अर्थ है—क्षण अर्थात् उचित अवसर। दीर्घद्रष्टा इस उचित अवसर को जानकर इसका उपयोग करता है। संस्कारों से मुक्ति का अवसर और बन्धनों से मुक्त होने की सन्धि विशेष रूप से कहाँ प्राप्त होती है? इस मर्त्यलोक में, मनुष्य लोक में, जो साधक—दीर्घद्रष्टा है, वह इस अवसर को जान लेता है।

जे बद्ध पडिमोयए : बन्धनों से मुक्त होने हेतु, ग्रन्थियों से मुक्त होने के लिए उपयोग करता है वह वीर है। ऐसा वीर जो बन्धनों से मुक्ति की ओर बढ़ जाता है अथवा जो बन्धनों से मुक्त हो गया है, वह प्रशंसनीय है।

एस वीरे पसंसिए : इस प्रकार जो आयत चक्खू दीर्घद्रष्टा है और अपनी दीर्घदृष्टि से 'लोग विपस्सी' इस लोक को विशेष रूप से देखता है, वह वीर है, वह प्रशंसनीय है।

जहां अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो ।

1. प्रथम अर्थ : जैसे मेरे भीतर मेरा स्वरूप है, वैसा ही बाहर में सभी का स्वरूप है। स्वरूप दृष्टि से सभी एक हैं।

2. दूसरा अर्थ : जैसी मेरे अन्तर की दृष्टि है, वैसा ही मेरे बाहर का जगत् है। जैसा मुझे बाहर का जगत् प्रतीत होता है, वैसी मेरी अन्तर की दृष्टि है।

3. तीसरा अर्थ : जैसा मेरा शरीर और मन परिवर्तित हो रहा है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् में परिवर्तन हो रहा है।

4. चौथा अर्थ : जैसा मेरा शरीर नश्वर है, वैसा ही आसपास सभी कुछ नश्वर है। मेरा शरीर पुद्गल का है और पुद्गल जगत् का एक हिस्सा है।

निष्कर्षतः व्यक्ति का स्वयं के सम्बन्ध में जो अनुभव होगा, वैसा ही वह बाहर सम्पूर्ण जगत् को देखेगा।

अशुचि भावना का अर्थ : यह देखना नहीं है कि देखो इस शरीर में कितनी गन्दगी है। मूल बात देखने योग्य यह है कि इस शरीर में जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों

में आकर्षित होने जैसा कुछ भी नहीं है। इसका अर्थ उन पुद्गलों से द्वेष करना भी नहीं है, अपितु शरीर के वास्तविक धर्म को आयत-चक्खू बनकर जान लेना है, क्योंकि जैसा हम इस शरीर को जानेंगे, वैसा ही इस जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध होगा। जो शरीर में होता है, वही 'ब्रह्माण्ड में' वैसा ही इस विश्व में। फिर मूल क्या है, इस संसार का—इस देह के प्रति रही हुई आसक्ति। इस देहासक्ति से ही इस विश्व में नाना प्रकार के आसक्ति के सम्बन्ध बनते हैं, क्योंकि इस जगत् के साथ में हम इस देह के द्वारा ही जुड़े हुए हैं।

स्वभाव में लौटना : शरीर को गन्दा, अच्छा या बुरा मानना नहीं, क्योंकि गन्दा या अच्छा क्या है, यह मन की धारणा है, यह सारा पुद्गलों का परिणामन है। वही विष्ठा और मल कल परिवर्तित होकर मिट्टी बन जाएगा और कल कोई इसी से स्नान करेगा। अशुचि भावना का अर्थ, यह देखना है कि मेरे शरीर में क्या है, जैसा भीतर है वैसा ही बाहर, तुम्हारे शरीर में विश्व का सार समाया हुआ है और फिर इस विश्व के साथ भी हम उसी देह से जुड़े हुए हैं। एक अन्य दृष्टि से, शुचि अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य है। अशुचि अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य नहीं है। शुचि अर्थात् जो मेरा स्वभाव है। अशुचि अर्थात् जो मेरा स्वभाव नहीं है। मैं इससे अलग हूँ। शरीर के प्रति अशुचि भावना का अर्थ है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है, उसे अपना मानना भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति को देखना और जानना ही अशुचि भावना है। शरीर को देखते-देखते यह समझ में आ जाएगा कि यह मेरे ग्रहण करने योग्य नहीं है। शरीर के प्रति जो आकर्षण है, वह इस बोध से विरत होगा। मैं और शरीर भिन्न हैं, भिन्न थे और भिन्न रहेंगे, इस प्रकार से देखने से भ्रान्ति टूटती है और व्यक्ति स्वभाव में आता है।

पंडिए पडिलेहाए : यह पद महत्त्वपूर्ण है। जो पंडित है वह प्रतिलेखन करता है। प्रतिलेखन अर्थात् विपस्ती; वह विशेष रूप से देखता है। जो पण्डा अर्थात् बोध से युक्त है। प्रतिलेखन मन के विचारों का भी होता है। इस सूत्र की विशेषता यह है कि इसमें तीनों ही अवस्था आ सकती हैं। साधारण साधक की, आत्म-ज्ञानी की और केवलज्ञानी की।

घृणा : यहाँ पर यह ख्याल रखना कि घृणा करने जैसा कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो कोई निकृष्ट से निकृष्ट कार्य भी कर रहा है, वह भी अन्ततः आत्मा का ही रूप है।

मूलम् : कामा दुरतिक्रमा, जीवियं दुष्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ परितप्पइ॥ 2/5/93

मूलार्थ : काम-भोगों का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षीण होता है, उसे बढ़ाया नहीं जा सकता है, अतः कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है, खेद करता है, रोता है और सब प्रकार से पश्चात्ताप करता है।

यहाँ पर दिया हुआ है दुरतिकम्पा—काम-भोग का त्याग करना दुष्कर है।

काम-भोगों के त्याग की दुष्करता—पहले काम-भोग के अर्थ को समझें। इसमें दो शब्द हैं काम और भोग। काम अर्थात् कामना जागना और भोग, अर्थात् कामना का पूर्ण होना। इस प्रकार काम-भोग शब्द के अन्दर सभी अवस्थाएं आ गयीं। अतिक्रम से अनाचार तक।

काम : कामना जागना—अतिक्रम, भोग अर्थात् उस कामना को पूर्ण करना अनाचार—अब यह काम-भोग अतिक्रम से—अनाचार ये चारों ही अवस्थाएं तीन प्रकार से त्रियोग—मन से, वचन से, काया से। मन से भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। वचन से भी अतिक्रम और काया से भी।

यह बात जरा भिन्न है। जैसे अभी तक आपने पढ़ा हुआ है कि मन में विचार आना, इच्छा जागना, अतिक्रम, पूर्ण संकल्प जागना व्यतिक्रम, कार्य करने हेतु पूरी तरह तैयार हो जाना। अतिचार और उस कार्य को सम्पन्न कर लेना अनाचार। इस प्रकार इसका अर्थ यह हुआ। अतिचार और अनाचार, अधिक-से-अधिक काया से ही हो सकते हैं, मन से नहीं। तब फिर त्रिकरण और त्रियोग से प्रत्याख्यान कैसे होंगे? यदि मन से अतिचार-अनाचार नहीं हो सकता तब फिर, मन से करना, कराना एवं अनुमोदना के प्रत्याख्यान किस प्रकार? लेकिन क्योंकि प्रत्याख्यान त्रिकरण त्रियोग से दिये हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मन से भी करना, कराना एवं अनुमोदना हो सकता है। अतः केवल मन से ही अतिचार और अनाचार भी हो सकता है।

मन से अतिचार और अनाचार किस प्रकार? मन में साधारण रूप से इच्छा का जागना, जैसे किसी व्यक्ति के प्रति क्रोध आना, अतिक्रम। अनेक विचारों के पश्चात्

अथवा उसी विचार के पुनः-पुनः आने पर उस क्रोध, स्वरूप, उसे किसी भी प्रकार से हानि पहुँचाने हेतु संकल्प करना व्यतिक्रम। मन-ही-मन उस कार्य को सम्पन्न करने हेतु संकल्प करना, सामग्री जुटाना अतिचार; मन के द्वारा उस कार्य को सम्पन्न कर लेना, उस व्यक्ति को मन-ही-मन हानि पहुँचा देना अनाचार। इसमें भी सबसे शक्तिशाली है मन, सबसे अधिक कर्म-बन्धन मन के द्वारा होता है। काया और वचन के पीछे भी अन्ततः मूल कारण है मन।

मन के इस जाल से बचने के लिए, मन के द्वारा अतिचार और अनाचारों से विमुक्त होने के लिए मन में जब भी कोई इच्छा जागे, विचार आये तो उसका प्रतिलेखन करना, अर्थात् अवलोकन करना। यह अवलोकन करना कभी-कभी, तीव्र मूर्च्छा और मोह के समय कठिन प्रतीत होता है। उस समय प्रभु के प्रति, शरण एवं प्रार्थना का भाव में आपकी शरण आया हूँ। मुझे इस मूर्च्छा से बाहर निकालो। इस प्रकार प्रार्थना-स्तुति, सत्संग सभी का धीरे-धीरे असर होता है।

इस प्रकार तीनों योगों में चारों की अवस्थाएं हो सकती हैं, वह भी तीन रूप से। करना-कराना और अनुमोदना। अनुमोदना का अर्थ—होता है—समणुजाणाति, अर्थात् उसको सम्यक् जानना। अच्छा है ऐसा होता रहे। अच्छा है वह ऐसा करता रहे। इस तरह किसी भी कार्य को, बात को सम्यक् जानना मन से, वचन से बोलकर और काया से।

कर्मों का आगमन

जैसे ही किसी भी प्रकार का संकल्प या आत्मपरिणाम जागता है, उस परिणाम से आत्मप्रदेशों में प्रकम्पन होता है। उस प्रकम्पन से उस आकाश प्रदेश में रही हुई कर्म वर्णाण्ड, आत्म प्रदेशों की ओर आकृष्ट होती हैं। तदनन्तर परिणाम और इसके अनुसार स्थिति और रस-बन्ध होता है।

अतिक्रम से अनाचार तो किसी भी कर्म बन्धन की चार अवस्थाएं हैं। फिर वह कर्म पाप हो या पुण्य हो, ये चारों ही अवस्थाएं होती हैं। सबसे हल्का कर्म बन्धन न्यूनतम, अतिक्रम सबसे भारी कर्म बन्धन, अधिकतम अनाचार। कर्मों का आगमन और बन्धन तो अतिक्रम से ही चालू हो जाता है। फिर आगे जैसा रस होगा, उस प्रकार कर्म अवस्थाएं होती हैं।

उसमें भी अनेक भंग हैं। अनाचार की भी अनेकानेक अवस्थाएं हैं। एक तो पूरी तरह से लीन हो जाना; तीनों ही योगों का उस कार्य के साथ लीन हो जाना, किसी एक योग का लीन होना, अंशतः लीन होना इस प्रकार अनेकानेक अवस्थाएं होती हैं।

अब यह देखना है कि काम-भोग छोड़ना दुष्कर क्यों? क्योंकि कामनाएं, सदैव जागती रहती हैं और इन कामनाओं का कारण क्या है? इन सारी कामनाओं के पीछे एक मूलभूत आधारभूत कामना है, जीने की कामना, जीवैषणा।

जीवैषणा क्यों? क्योंकि उसे अपने स्वभाव का पता नहीं है कि मैं अनादि अनन्त और अजर-अमर हूँ। उसको लगता है कि मैं मर भी सकता हूँ। उसे मृत्यु का भय है। उसे मृत्यु का भय क्यों है? क्योंकि वह अपने आपको देह स्वरूप मानता है, आत्मज्ञान का अभाव है।

काम-भोग छोड़ना दुष्कर है, क्योंकि जैसे पहले ही बताया गया कि कामनाएं निरन्तर जगती रहती हैं। एक पूरी हुई दूसरी और दूसरी के पूरी होने के बाद तीसरी प्रारंभ होती है। यहाँ पर भी साधक के लिए कहा गया है कि कामना जग भी जाए पर यदि वह केवल उसका अवलोकन करता रहे, तब वह अपने आप चली जाएगी। यह साधना का रास्ता है; फिर भी कुछ कामनाएं इतनी प्रबल होती हैं, कुछ संस्कार इतने तीव्र और चिकने होते हैं कि साधक उनके साथ बह जाता है। इस प्रकार जब तक देह के साथ अभेद बुद्धि है, तब तक कामनाएं जागती ही रहेंगी। देहासक्ति मूल जड़ है और फिर जन्म से हमें यही पता है कि मैं देह हूँ। आत्मा और देह का नीर-क्षीर का सम्बन्ध हो गया है। इस सम्बन्ध से परे सत्य को जानने के लिए आत्म-ज्ञान, भेद-ज्ञान और स्वरूपबोध आवश्यक है। इस देहबुद्धि के पीछे अनंत जन्मों के संस्कार हैं। ये संस्कार मुख्यतः चार प्रकार के हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रहसंज्ञा।

साधना करते रहें, अपने आप अनुभव होगा। अभी हम देह से जुड़े हुए हैं। इस देहबुद्धि के कारण आहारशुद्धि स्थानशुद्धि, सद् वाचन, संत-समागम, स्वाध्याय, विधि-निषेध को बताने वाले ये नियम-उपनियम आवश्यक हैं। इन सारी बातों का प्रभाव मुख्यतः देह और मानसिक भावनाओं पर पड़ता है। हम देह और भावनाओं के

साथ नीर-क्षीरवत् जुड़े हैं जिस दिन हम देहबुद्धि से मुक्त हुए, फिर आसपास का वातावरण, आहार इत्यादि असर नहीं करते।

यह प्रत्यक्ष है कि अशुद्ध भोजन करने पर उसका असर देह पर होता है और इन्द्रियां एवं मन के माध्यम से आत्मपरिणाम भी विचलित होते हैं। इस प्रकार देह-बुद्धि रहते हुए, यह सब आवश्यक है। इसी कारण साधु भी दो प्रकार के होते हैं।

1. कल्प में रहने वाले, 2. कल्पातीत। जिसकी देहबुद्धि अभी शेष है उसे कल्प में रहना आवश्यक है। दूसरी प्रकार के कल्पातीत साधु के लिए कल्प में रहना यद्यपि आवश्यक नहीं है; फिर भी अधिकांशतः वह उसका पालन करेगा, क्योंकि एक तो उसके लिए वे सारे नियम-उपनियम स्वाभाविक हो जाएंगे। और दूसरे लोग संदा ही बड़ों का अनुकरण करते हैं। इस कारण छोटों को अनुकरण/मार्गदर्शन देने के लिए कल्पातीत साधु नियमों का पालन करते हैं। यदि वे नियमों का पालन न भी करें, तब भी उनका चारित्र सम्पक् चारित्र ही है।

हम कभी इस देहबुद्धि में डूब न जाएं, इसलिए सारे कल्प की व्यवस्था है। अधिकतर हम देखते हैं कि बिना नियमों के देहबुद्धि रहते हुए, जागरूकता नहीं रह पाती। भीतर से जितनी शुद्धि कम होगी, उतनी ही साधक को नियमों की आवश्यकता है। इस कारण पंचमकाल में समस्त संघ के लिए इतने नियम-उपनियमों को बनाया गया चूंकि इस काल में मोहनीय कर्म की प्रबलता है, इसलिए निमित्तों से बचना आवश्यक है।

नियमों के बिना साधना का मार्ग जोखिम का मार्ग है। हम तो देखते हैं कि यह बाह्य साधना, नियम-उपनियम और आन्तरिक साधना रूप समन्वित मार्ग बहुत आसान है। यही जिन-शासन की महिमा है। ऐसे तो सभी मार्ग अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक हैं। अनेकान्तवाद के आधार पर देखें, तब सभी में कहीं-न-कहीं कोई सत्य समाया हुआ है। परन्तु उन सब में जिन-शासन का मार्ग राजमार्ग है। कोई स्वीकार करे या न करे, चलकर देखने पर स्वयं पता चल जाएगा।

आचार्य, उपाध्याय पद की योग्यता

जैसा कि कहा जाता है, आचार्य, उपाध्याय और स्थविर कल्पातीत होते हैं।

इसका अर्थ यह है जो साधक कल्पातीत अवस्था को प्राप्त हुए हों, वे ही आचार्य, उपाध्याय पद के लिए योग्य हैं।

स्थविर तीन प्रकार के—1. दीक्षा स्थविर, 2. वय स्थविर एवं 3. श्रुत स्थविर।

दीक्षा स्थविर : दीक्षा स्थविर का अर्थ है जिसकी दीक्षा बीस वर्ष या उससे अधिक। इसके पीछे यह अर्थ है कि यदि कोई साधक किसी सुयोग्य आत्म-ज्ञानी गुरु की नेत्राय में सुचारु रूप से साधना करता है तो 20 वर्ष के अन्तर्गत वह कल्पातीत हो ही जाएगा। बीस वर्ष भी बहुत अधिक हैं। वस्तुतः आत्म-ज्ञानी गुरु के सान्निध्य में तो साधक बहुत ही जल्दी पहुँच सकता है।

श्रुत स्थविर : इसी प्रकार सद्गुरु की सन्निधि में श्रुत-मार्ग पर बढ़ते हुए व्यक्ति कल्पातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है और इतना श्रुत-अध्ययन करते हुए उसे 15 से 20 वर्ष अपने आप लग जाएंगे।

वय स्थविर : वय स्थविर के सम्बन्ध में वर्तमानकालीन अवस्थाओं में कोई विशेष योग्यताएं आवश्यक नहीं हैं। केवल वय के आधार पर ही वे कल्पातीत हो जाते हैं, क्योंकि 60 वर्ष की उम्र के पश्चात् शरीरबल क्षीण होकर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। इस कारण स्थविर सम्बन्धी विशेष योग्यताएं न होते हुए भी, संयम मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए वे विशेष परिस्थितियों में अपवाद मार्ग ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार वे वय के आधार पर कल्पातीत हैं।

मूलम् : से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुप्पइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिवेमि॥ 1/2/5/96

मूलार्थ : जो मैं कहता हूँ उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्सा का उपदेशक पांडित्याभिमानी व्यक्ति, जीवों का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणों का विनाश करता है, और मैं अकृत जिसे अभी तक किसी ने नहीं किया है, ऐसा काम करूँगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी या पर की अथवा दोनों की चिकित्सा करता है। इस प्रकार काम-चिकित्सा

या व्याधि-चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी जीवों का संग नहीं करना चाहिए। अतः इन क्रियाओं के अनुष्ठान में अणगार को कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अणगार—मुनि को उक्त सदोष क्रियाएं करनी नहीं कल्पती हैं।

जैनाचार्यों के पास अनेक विधि विधान थे और अनेक प्रकार की विधाओं का ज्ञान था। लेकिन वह आगे नहीं आया। उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उसको सँभालने की शक्ति किसी के पास नहीं थी। जितनी महान विद्या होगी, उतनी ही अधिक शक्ति चाहिए। दूसरा कारण उतनी शुद्धता नहीं थी। मोह कर्म का प्राबल्य था। जैसे कि आज वर्तमानकाल में है, क्योंकि शक्ति होने पर साधना तो कर लेंगे, लेकिन शुद्धता नहीं हुई तो साधना को कैसे सँभालेंगे?

इस प्रकार शक्ति और शुद्धता की न्यूनता के कारण साधना, अनेक विद्याएं, आगे नहीं बढ़ सकीं। फिर भी कुछ ऐसे लोग होते हैं जो इन्हें साधते भी हैं और सँभालते भी हैं। लेकिन प्रकट नहीं करते, क्योंकि इससे धर्म प्रभावना होने के बदले अनेक बार कई स्वार्थी और लोभी लोग आसपास इकट्ठे हो जाते हैं, इसलिए महापुरुष इन्हें विशेष रूप से प्रकट नहीं करते।

यहाँ पर आपने पिछले दो सूत्रों में देखा कि एक महत्त्वपूर्ण भाव की बात की गयी। वह है, कर्ता। मैंने किया था, मैं कर रहा हूँ अथवा मैं करूँगा; आज तक किसी ने नहीं किया ऐसा मैं करूँगा। इस कर्ताभाव की चिकित्सा क्या है? इसकी चिकित्सा है—शरणभावना, समर्पणभावना। तब फिर कर्ताभाव नहीं रहेगा। यह कर्ता-भाव बहुत ही सूक्ष्म परन्तु बहुत ही प्रभावशाली बन्धन है। कर्ता-भाव तीनों काल सम्बन्धी हो सकता है। अतः शरण-भाव आवश्यक है। इसके पूर्व शरण-भाव के सम्बन्ध में बताया था। उस प्रकार शरणभाव के आने पर कर्ता-भाव स्वयमेव तिरोहित हो जाता है और शरण में जाने के लिए क्या करना है? कुछ भी नहीं करना है, बस केवल शरण में रहना है।



द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

षष्ठ उद्देशक

पांचवें उद्देशक में यह बताया गया है कि संयम का सम्यक्तया परिपालन करने के लिए मुनि आहार आदि का ग्रहण तो करे, परन्तु उसमें आसक्त नहीं बने। प्रस्तुत उद्देशक में भी मुख्यतया इसी बात का वर्णन किया गया है कि मुनि को आहार आदि में मूर्च्छा भाव नहीं रखना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार निम्नोक्त है—

मूलम्—से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं
नेव कुज्जा, न कारवेज्जा॥१७॥

छाया—स तत् संबुद्धयमानः आदानीयं समुत्थाय तस्मात् पाप कर्म नैव
कुर्यात् न कारयेत्।

पदार्थ—से—ब्रह्म। तं—उस चिकित्सा के फल को। संबुज्झमाणे—जानता हुआ। आयाणीयं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को स्वीकार करे। समुट्ठाय—संयम साधना में सावधान हो कर। तम्हा—इसलिए। पाव कम्मं—पाप कर्म को। नेव कुज्जा—न स्वयं करे; और न। कारवेज्जा—न अन्य से करावे।

मूलार्थ—वह मुनि चिकित्सा के फल को जानता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को स्वीकार करके, सावधानी पूर्वक संयम का परिपालन करे, किन्तु न तो स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्ति करे और न अन्य को पाप कर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करे।

हिन्दी-विवेचन

पंचम उद्देशक के अन्तिम सूत्र में यह बता आए हैं कि काम एवं व्याधि, चिकित्सा अनेक दोषों से युक्त है। उसमें अनेक प्राणियों की हिंसा होती है और उससे साधु जीवन में अनेक दोषों के प्रविष्ट होने की संभावना रहती है। अतः साधु को उसके दुष्परिणाम को जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में प्रवृत्ति करते हुए समस्त पाप

कार्यों से बचकर रहना चाहिए। न स्वयं कोई पाप कर्म करना चाहिए और न अन्य व्यक्ति से पाप कर्म करवाना चाहिए, क्योंकि इससे उसके अन्य महाव्रतों में भी दोष लगता है।

पांचों महाव्रतों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। एक में दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए बिना नहीं रहता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अन्नयरंमि कप्पइ, सुहट्ठी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, सएण विप्पमाणेण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती॥११८॥

छाया—स्यात्तत्र एकतरं विपरामृशति षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते सुखार्थी लालप्पमानः स्वकीयेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति स्वकीयेन दुःखेन प्रमादेन पृथग् वयं (व्रतं) प्रकरोति यस्मिन् इमे प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रत्युपेक्ष्य नो निकरणाय एषा परिज्ञा प्रोच्यते कर्मोपशान्तिः।

पदार्थ—सिया—कदाचित्। तत्थ—उससे। एगयरं—किसी एक पृथ्वी आदि काय का। विप्परामुसइ—समारम्भ—किसी एक आस्रव से आरम्भ करता है, तो। छसु—6 काय में। अन्नयरंमि—किसी एक काय का आरम्भ करने पर। कप्पइ—प्रायः 6 काय का आरम्भ हो जाता है। सुहट्ठी—सुखाभिलाषी। लालप्पमाणे—अधिक प्रलाप करता हुआ या अपने मन, वचन और काय को उस क्रिया में लगाता हुआ। सएण—स्वकीय। दुक्खेण—दुःख से। मूढे—वह मूढ़। विप्परियासमुवेइ—विपरीत भाव को प्राप्त होता है, और फिर। सएण—स्वकीय। विप्पमाणेण—प्रमाद से। पुढो—पृथक्-पृथक्। वयं—व्रत का। पकुव्वइ—भेदन करता है। जंसिमे—इस संसार में ये। पाणा—प्राणी। पव्वहिया—विभिन्न दुःखों से संतप्त एवं पीड़ित होते हैं। पडिलेहाए—ऐसे कर्म फल को जानकर या विचार कर। नो निकरणयाए—जिससे दुःख की अभिवृद्धि होती है, वैसा कर्म न करे। एस—यह। परिन्ना—परिज्ञा। पवुच्चइ—कही जाती है, जिससे। कम्मोवसंती—कर्म उपशान्त हो जाते हैं।

• **मूलार्थ**—कई बार ऐसा भी होता है कि एक काय की हिंसा करते हुए छह काय की हिंसा हो जाती है और एक प्राणातिपात विरमण व्रत का भंग करने से अन्य व्रतों का भी भंग हो जाता है। भौतिक सुखाभिलाषी व्यक्ति भोगों के लिए प्रलाप करता है। अपने कर्मोदय से मूढ़ता एवं विपरीत भाव को प्राप्त होता है और विभिन्न प्रकार से प्रमाद का सेवन करने से वह व्रतों का भंग करता है और परिणाम स्वरूप अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःख का संवेदन करता है। पाप कर्म में संलग्न प्राणी विभिन्न दुःखों को भोगते हैं। अतः साधक को पाप कर्म का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए। यही तेजस्वी एवं शक्तिशाली परिज्ञा है, इससे कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि एककाय की हिंसा से छह काय की हिंसा भी हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम अध्ययन में कर चुके हैं। यहां यह विशेष रूप से बताया गया है कि जैसे एककाय की हिंसा से छह काय की हिंसा होती है, उसी प्रकार एक महाव्रत के भंग होने पर शेष महाव्रत भी भंग हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पाँचों महाव्रत एक-दूसरे से संबद्ध हैं और एक दूसरे पर आधारित हैं। जैसे साधु किसी प्राणी की हिंसा करता है तो वह केवल अहिंसा व्रत से ही च्युत नहीं होता है, अपितु अन्य व्रतों से भी गिरता है। उसकी हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा असत्य हो गई, इसलिए उसका दूसरा व्रत दूषित हो जाता है और जीव की बिना आज्ञा उसके प्राणों का अपहरण करने रूप चोरी करता है। जो व्यक्ति हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह किसी कामनावश होता है और कामना-वासना अब्रह्मचर्य है और उस सजीव प्राणी को ग्रहण करने रूप परिग्रह तो है ही। इस प्रकार जो साधु झूठ बोलता है, वह व्यक्ति के मन को आघात पहुंचाने रूप हिंसा करता है; वीतराग आज्ञा का उल्लंघन रूपी चोरी करता है। वह झूठ भी किसी कामना-वासना एवं आसक्तिवश बोलता है। इसलिए चौथा एवं पांचवां महाव्रत भी भंग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्रत में दोष लगने से, शेष व्रत भी दूषित हो जाते हैं।

प्रश्न—फिर मनुष्य पापकर्म में क्यों प्रवृत्त होते हैं?

बात तो ठीक है, परन्तु इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने सुख के लिए या यों कहिए कि अपने स्वार्थ को साधने के लिए पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। जब मनुष्य के जीवन में स्वार्थ की भावना जागृत होती है तो उस समय वह संसार के प्राणियों के हित को तो क्या अपने हित को भी भूल जाता है। पदार्थों एवं भौतिक सुखों का मोह एवं तृष्णा मनुष्य की हिताहित की दृष्टि को आवृत कर लेती है। वह कुछ सब जानते हुए भी मूढ़ बन जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

एक राजा को भयंकर रोग हो गया। कई राजवैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया। एक अनुभवी वैद्य को बुलाया, उसने राजा के रोग को शांत कर दिया और साथ में यह भी कह दिया कि इस रोग का मूल कारण आम्रफल है। अतः यदि आप स्वस्थ एवं कुछ दिन जीवित रहना चाहते हैं, तो कभी भी आम न खाएँ। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय बीतता चला गया, एक दिन राजा उद्यान में घूम रहा था। आम का मौसम था। आम के वृक्षों की शाखाएं मधुर पके फलों से लदी हुई विनम्र शिष्य की भांति झुक रही थीं। आम्र फलों की मधुर सुवास चारों ओर फैल रही थी। फलों की सुवास एवं उनके सौंदर्य को देखकर राजा का मन ललचा गया। मंत्री ने उसे रोकना भी चाहा, परन्तु तृष्णा ने राजा के मन पर अधिकार जमा लिया था। अतः सबके उपदेश को ठुकराकर वह आम खा ही गया और उसका परिणाम महावेदना के रूप में प्रकट हुआ और उसने राजा के प्राण भी ले लिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वार्थ, तृष्णा एवं मोह के वश मनुष्य अपना हित भी भूल जाता है। तो ऐसी स्थिति में दूसरों के हित को देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि दोषों में आसक्त व्यक्ति को भी अंधा कहा गया है। उसके बाहरी आंख तो रहती है, परन्तु आत्मज्ञान पर मोह, अज्ञान एवं कषायों का गहरा अवगुण्ठन पड़ा रहने से वह हिताहित को नहीं देख पाता। इसलिए वह पाप कार्य में प्रवृत्त होता है।

‘लालप्पमाणे’ का अर्थ है—बार-बार प्रवृत्ति करना ‘विप्परियासमुवेइ’ का अर्थ है—‘हितमप्यहितबुद्ध्याऽधिष्ठत्यहितं च हितबुद्धयेति’ अर्थात् हित के कार्य को अहितकर एवं अहित के कार्य को हितप्रद समझना। इसे बुद्धि की विपरीतता भी कहते हैं। ‘पुढो वयं पकुव्वइ, पृथग्-विभिन्नं व्रतं करोति यदि वा—का तात्पर्य

यह है—पृथु—विस्तीर्ण ‘वयमिति वयन्ति पर्यटन्ति प्राणिनःस्वकीयेन कर्मणा यस्मिन् स वयः—संसारस्तं करोति, तथा वयः अवस्था विशेषः’ अर्थात् यह जीव व्रत का भंग करता है और परिणामस्वरूप संसार में परिभ्रमण करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाद के वश मनुष्य अपने पथ से भटक जाता है और विभिन्न दुष्कार्यों में संलग्न होता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को प्रमाद का त्याग करके संयम में प्रवृत्त होना चाहिए, जिसके कारण वह सारे कर्मों को क्षय करके पूर्ण सुख को प्राप्त कर सके।

व्यक्ति सुख-दुःख जो कुछ भी पा रहा है, वह स्वकृत कर्म का फल है। स्वयं प्रमाद एवं आसक्ति का सेवन करके ही वह मूढ़ भाव को प्राप्त होता है। अतः सबसे पहले आसक्ति, ममत्व एवं मूर्च्छाभाव का त्याग करना चाहिए। इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि॥

नारइं सहइ वीरे, वीरे न सहइ रतिं।

जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ॥99॥

छाया—यो ममायित मतिं जहाति, स त्यजति ममायितं, स खलु दृष्ट पथः मुनिः, यस्य नास्ति ममायितं, तं परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोकं वांत्वा लोके संज्ञां स मतिमान् प्राक्रमेत, इति ब्रवीमि।

नारतिं सहते वीरः, वीरो न सहते रतिं।

यस्माद् अविमनो वीरः, तस्माद् वीरो न रज्यति॥1॥

पदार्थ—जे—जो। ममाइयमइं—ममत्व बुद्धि को। जहाइ—छोड़ता है। से—वह। ममाइयं—स्वीकृत परिग्रह को। चयइ—छोड़ता है। से—वह। हु—निश्चय ही। मुणी—मुनि। दिट्ठपहे—मोक्ष पथ को देखने वाला है, तथा। जस्स—जिसके। ममाइयं—स्वीकृत परिग्रह। नत्थि—नहीं है, तथा। तं—उस परिग्रह के स्वरूप को। परिन्नाय—जानकर। मेहावी—बुद्धिमान् फिर। विइत्ता—जानकर। लोगं—लोक को।

लोगसन्नं—लोक संज्ञा को। वंता—वमन कर जो विचरता है। से—वह है। मइमं—मतिमान्। परिवक्कमिज्जासि—संयमानुष्ठान में पराक्रम करे। तिबेमि—इस प्रकार में कहता हूँ।

वीरे—वीर पुरुष। अरइं—संयम में अरति को। न सहइ—सहन नहीं करता और फिर। वीरे—वीर पुरुष। रतिं—असंयम में रति को। न सहइ—सहन नहीं करता। जम्हा—जिससे। वीरे—वीर पुरुष का। अविमणे—मन दूषित न हो। तम्हा—इसलिए। वीरे—वीर पुरुष। न रज्जइ—शब्दादि विषय एवं परिग्रह में मूर्छित नहीं होता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति ममत्व भाव का परित्याग करता है, वही स्वीकृत परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके मन में ममत्व भाव नहीं है, वह मोक्षमार्ग का द्रष्टा है। अतः जिसने परिग्रह के दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग कर दिया है, वह बुद्धिमान है। क्योंकि जो लोक के स्वरूप को जानकर लोक संज्ञा का त्याग करता है, वहीं प्रबुद्ध पुरुष संयम साधना में पुरुषार्थ करता है।

वीर पुरुष संयम में अरति और असंयम में रति को सहन नहीं करते। वे रति-अरति दोनों का त्याग करते हैं। इसलिए वीर पुरुष शब्दादि विषयों में आसक्ति नहीं होते।

हिन्दी-विवेचन

मुनि के लिए यह आवश्यक है कि वह परिग्रह का सर्वथा त्याग करे। पूर्ण अपरिग्रही व्यक्ति ही मुनित्व को स्वीकार कर सकते हैं और इसके लिए—पूर्ण अपरिग्रही बनने के लिए केवल बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उनकी ममता, आसक्ति एवं मूर्छा का परित्याग करना आवश्यक है। हम यों भी कह सकते हैं कि ममत्व का त्याग करने पर ही व्यक्ति अपरिग्रह की ओर बढ़ सकता है। जब तक पदार्थों की लालसा, भोगेच्छा एवं आसक्ति मन में चक्कर काट रही है, तब तक बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा है। आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है—“कि जो साधक वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, पुष्पमाला, आभूषण, स्त्री आदि का उपभोग करने में स्वतन्त्र नहीं है या उसे ये साधन उपलब्ध नहीं हैं; परन्तु उसके मन में भोगेच्छा अवशेष है तो वह त्यागी नहीं कहा जा सकता है। त्यागी

वही कहला सकता है, जो कांतकारी, प्रियकारी प्राप्त भोगों को भोगने में स्वतन्त्र एवं समर्थ होते हुए भी उनका एवं उनकी वासना का त्याग कर देता है।¹

इससे स्पष्ट होता है कि आसक्ति का त्याग करने वाला व्यक्ति ही परिग्रह का त्याग कर सकता है। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले आसक्ति के कारणों का परिज्ञान करे। इसमें यह बताया गया है कि लोक संज्ञा से आहार, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा मन में जाग-सकती है। अतः मुनि को लोक संज्ञा का परित्याग करके संयम में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित गाथा के चारों पदों में 'वीर' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संयम साधना में अरति का, असंयम में रति का, मन में अमध्यस्थ भाव का और शब्दादि विषयों में आसक्ति उत्पन्न होने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी जो अपने मन को, विचार को एवं आत्मा को उस प्रवाह में नहीं बहने देता, वही वास्तव में वीर है। योद्धा का वीरत्व तभी माना जाता है, जब वह बलवान शत्रु के बाणों के प्रवाह में, भीषण बम वर्षा में भी अपने मार्ग को छोड़कर नहीं भागता, अपितु शत्रु को परास्त करके छोड़ता है। इसी प्रकार विषय-वासना एवं कषायों के प्रबल झोंकों में भी जो लड़खड़ाता नहीं, उसे ही वीर कहा गया है और ऐसे संयमनिष्ठ साधक का बार-बार वीर शब्द का प्रयोग करके आदर-सत्कार किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'दिट्ठपहे' पद भी इस अर्थ को परिपुष्ट करता है। इसका अर्थ है—दृष्टो ज्ञानादिको मोक्षपथो येन स दृष्टपथः" जिस व्यक्ति ने ज्ञानादि रूप मोक्ष मार्ग को सम्यक्तया देख लिया है, उस मुनि को दृष्टपथ कहा गया है। यदि इसे 'दृष्ट भय' पढ़ा जाए तो इसका अर्थ होगा—सात भय का परिज्ञान करके उनकी उत्पत्ति के मूल कारण परिग्रह का जिसने त्याग कर दिया है।

'मइमं' का अर्थ है—बुद्धिमान्। अर्थात् जिसमें सत्-असत् को समझने की बुद्धि

1. वत्थगन्धमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुज्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विप्पिड्ढि कुव्वइ। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ ति वुच्चइ॥

है। इससे यह सिद्ध होता है कि विचारशील एवं विवेकवान व्यक्ति संयम के प्रतिकूल परिस्थितियों एवं वातावरण के उपस्थित होने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, वह समस्त विकारों पर विजय पा लेता है, इसलिए उसे वीर शब्द से संबोधित किया गया है।

‘वीर’ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह है—“विशेषेणेऱयति—प्रेरयति अष्ट प्रकारं कर्म्मरिषड्वर्गं वेति वीरः” अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों को आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि छह आंतरिक शत्रुओं को परास्त करता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीर पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सदे फासे अहियासमाणे, निर्विद नंदिं इह जीवियस्स ।

मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं॥2॥

पंतं लूहं सेवन्ति वीरा सम्मत्तदंसिणो ।

एस ओहंतरे मुणी, तिन्ने मुत्ते विरे वियाहिण्॥3॥

त्तिबेमि॥100॥

छाया—शब्दान् स्पर्शान् अध्यासमानः सम्यक् सहमानः, निर्विदस्व नन्दिमिह जीवितस्य मुनिर्मौनं समादाय धुनीयात् कर्म शारीरिकं प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीराः सम्यक्त्व दर्शिनः । एष ओघंतरो मुनिस्तीर्णमुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—सदे—शब्द । फासे—स्पर्श को । अहियासमाणे—सम्यक् प्रकार से सहता हुआ, हे शिष्य! निर्विद—तू निवृत्त हो । नंदिं—राग-और द्वेष से, तथा । इह—इस मनुष्य लोक में । जीवियस्स—असंयम मय जीवन के सम्बन्ध से । नंदिं—राग से निवृत्त हो । मुणी मोणं समायाय—यही मुनि का मौन भाव है, इसी को ग्रहण करके । धुणे कम्म सरीरगं—कर्म शरीर और औदारिक शरीर को धुन देवे । पंतं—तथा जो स्वाभाविक रस रहित वा स्वल्प । लूहं—राग रहित रूक्षाहार । सेवन्ति—सेवन करते हैं । वीरा—वीर पुरुष । सम्मत्तदंसिणो—सम्यक्त्वदर्शी वा परमार्थ के

देखने वाले। एस—यह। मुणी—मुनि। ओहंतरे—भवौष संसार-सागर को तैरता है, तथा। तिन्ने—संसार समुद्र को पार कर जाता है, तथा। मुत्ते—परिग्रह से मुक्त हुआ। विरए—विषयादि से विरत हुआ। वियाहिए—कहा गया। तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू शब्द और स्पर्श आदि को सम्यक्तया सहन करता हुआ राग और द्वेष से रहित हो, तथा असंयम जीवन के संबन्ध में हर्ष मत कर, हे मुने! तू मौन भाव को ग्रहण करके कर्मण शरीर को धुन दे। समदर्शी आत्माएं प्रांत और रुक्ष आहार का सेवन करती हैं, वे ही वीर हैं। यह मुनि संसार सागर को पार कर गया, अतः उसे तीर्ण, मुक्त विरत कहा गया है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को शब्दादि विषयों को भली-भांति जानकर, उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि उनमें आसक्त होने से अनुकूल विषयों पर राग-भाव और प्रतिकूल विषयों पर द्वेष भाव आना स्वाभाविक है और राग-द्वेष ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। यह बात ठीक है कि मनुष्य के सामने, जहां तक साधक के सामने भी ये विषय आते हैं, अनुकूल एवं प्रतिकूल शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श का संयोग भी मिलता रहता है। अतः इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु कान-आंख आदि बन्द करके चले या बैठा रहे। विषयों से बचने का तात्पर्य इतना ही है कि उनमें आसक्त न हो, अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार के विषयों की ओर ध्यान न दे। अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रसंग उपस्थित होने पर समभाव का त्याग न करे, अर्थात् विषमता के प्रवाह में न बहे।

इसलिए यह आदेश दिया गया है कि मुनि विषयों में राग-द्वेष न करे। यही उसका मौन है। वस्तुतः देखा जाए तो मौन का अर्थ केवल नहीं बोलना ही नहीं है। नहीं बोलना, यह व्यावहारिक या द्रव्य मौन है। इसमें केवल शब्द के विषय-भाषा को रोका जाता है, उसमें भी बोलने पर ही प्रतिबन्ध है, न कि सुनने पर भी। श्रोत्र-इंद्रिय की प्रवृत्ति द्रव्य मौन में खुली रहती है, अतः मौन का यथार्थ अर्थ है—शब्दादि विषयों में राग-द्वेष नहीं करना। क्योंकि कर्म बन्ध राग-द्वेष से होता है। केवल इन्द्रियों के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता है, जब तक

कि उसके साथ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए साधक को राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे यह होगा कि राग-द्वेष से निवृत्त हो जाने पर नए कर्मों का बन्ध नहीं होगा और पुराने कर्म की निर्जरा करके वह कर्मण शरीर को ही नष्ट कर देगा, जिसके आधार पर जीव औदारिक आदि शरीर धारण करता है और विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है। संसार का सारा खेल कर्म पर ही आधारित है, उसका नाश होने पर खेल की समाप्ति स्वतः ही हो जाएगी। नींव उखाड़ फेंकने पर गगनचुम्बी भवनों का स्थित रहना भी नितांत असंभव है। इसी प्रकार कर्म का उन्मूलन ही संसार का उन्मूलन है और उसके लिए कर्म के मूल कारण राग-द्वेष को समाप्त करने की आवश्यकता है। अतः मुनि को चाहिए कि वह विषयों से सदा मौन रहे, अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करे। यही कर्मों को नष्ट-विनष्ट करने का प्रशस्त मार्ग है।

‘संमत्तदंसिणो—पाठ भी इसी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो समदर्शी है—अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों के उपस्थित होने पर भी जिसकी दृष्टि में विषमता नहीं आती, वही वीर पुरुष कर्म की विषाक्त लता को निर्मूल कर सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि संसार-सागर को पार करने के लिए समता की नौका को स्वीकार करना अनिवार्य है। समभाव की साधना जितनी विकसित होती जाएगी, उतना ही राग-द्वेष कम होता जाएगा और राग-द्वेष के घटने का अर्थ है—संसार का घटना। जब हमारी आत्मा में समभाव की पूर्ण ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी, तो राग-द्वेष का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा और उसके साथ संसार का भी अन्त ही समझिए।

अतः मुनि को चाहिए कि वह परिग्रह एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करे। क्योंकि आसक्ति से परिणामों एवं विचारों में विषमता आती है, राग-द्वेष के भाव उद्बुद्ध होते हैं। इसलिए उसके मूल कारण आसक्ति का त्याग करने वाला साधक ही बाह्य परिग्रह से भी निवृत्त होता है और एक दिन समस्त कर्मों एवं कर्मजन्य साधनों से मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। ‘ब्रवीमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

जो व्यक्ति परिग्रह एवं विषयों की आसक्ति से मुक्त एवं विरत नहीं हुआ है, उसकी क्या स्थिति होती है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ॥101॥

छाया—दुर्वसुमुनिः अनाज्ञया तुच्छः ग्लायति वक्तुम् एष वीरः प्रशंसितः अत्यति लोकसंयोगं एष न्यायः प्रोच्यते ।

पदार्थ—दुव्वसु—दुर्वसु । मुणी—मुनि । अणाणाए—आज्ञा के बिना—दुःखों को संवेदन करता है । तुच्छए—ज्ञानादि शून्य, वह । गिलाइ वत्तए—शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में ग्लानि पाता है । किन्तु जो साधक शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करता है । एस वीरे—वह वीर । पसंसिए—प्रशंसित है, और । लोए—लोक । संजोगं—संयोग को । अच्चेइ—छोड़ देता है । एस—यह । नाए—न्याय-संगत । पवुच्चइ—कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो साधक मोक्षमार्ग पर गति करने के योग्य नहीं है, वह आज्ञा से बाहर है और ज्ञानादि से भी रहित है । अतः वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में ग्लानि का अनुभव करता है । परन्तु प्रबुद्ध साधक वास्तविक मार्ग को बताने में नहीं सकुचाता । इसलिए वह वीर प्रशंसनीय है और वह लोक के संयोग से भी मुक्त हो जाता है । ऐसा कहना न्यायसंगत कहा जाता है ।

हिन्दी-विवेचन

आगम में कहा गया है कि 'आणाए धम्मं' अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है । इस पर प्रश्न हो सकता है कि आज्ञा में कौन है?

इसी प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जो मोक्ष के योग्य है, वही भगवान की आज्ञा में है । मोक्ष की योग्यता सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर आधारित है । इससे स्पष्ट हो गया कि जिस व्यक्ति को सम्यग् ज्ञान का आलोक नहीं, वह अज्ञान के अन्धकार में इधर-उधर टकराता फिरेगा, किन्तु मोक्ष मार्ग पर गति नहीं कर सकेगा । क्योंकि उसे उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं और जब ज्ञान ही नहीं, तब उस पर चलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए यह कहा गया कि सम्यग् ज्ञान से रहित व्यक्ति भगवान की आज्ञा में नहीं है और ज्ञानाभाव के कारण ही वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में हिचकिचाता है । इसके विपरीत ज्ञानसंपन्न व्यक्ति भगवान की

आज्ञा में है, क्योंकि वह भगवान द्वारा प्ररूपित शुद्ध मार्ग पर चलने एवं उसकी प्ररूपणा करने में सकुचाता नहीं है। अतः भगवान की आज्ञा में प्रवर्तने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग के योग्य है। इस मार्ग को न्याय मार्ग भी कहा गया है, क्योंकि संसार संबन्ध का त्याग करने वाला मुनि ही इसे स्वीकार करता है।

‘दुव्वसुमुणी-दुर्वसुमुनिः’ का अर्थ है—भव्यजीव मुक्ति के योग्य है। क्योंकि ‘वसु’ का अर्थ द्रव्य माना है और भव्य संज्ञक जीव द्रव्य ही मुक्ति योग्य है। अतः अभव्य जीव को ‘दुर्वसुमुनिः’ कहा है। कारण कि उसमें मोक्ष जाने की योग्यता नहीं है, अर्थात् साधुवेश ग्रहण कर लेने पर भी मोक्ष के आधारभूत सम्यग् ज्ञान आदि का अभाव होने से वह मोक्ष के अयोग्य है।¹ इसी कारण वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान युक्त व्यक्ति ही इस पथ पर चल सकता है और इसका उपदेश देकर दूसरों को भी सन्मार्ग बता सकता है। इसलिए उपदेश का भी महत्त्व माना गया है। उपदेश के महत्त्व को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरन्ति, इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ॥102॥

छाया—यद् दुःखं प्रवेदितमिह मानवानां तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञा-मुदाहरन्ति, इति कर्म परिज्ञाय सर्वशो योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यारामो योऽनन्यारामः स अनन्यदर्शी यथा पुण्यवतः कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते यथा तुच्छस्य कथ्यते तथा पुण्यवतः कथ्यते।

पदार्थ—जं—जो। दुक्खं—दुःख का कारण। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। इह—इस संसार में। माणवाणं—जीवों को। तस्स—उस। दुक्खस्स—दुःख रूप कर्म

1. वसु—द्रव्यम्, एतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादितं ‘द्रव्यं च भव्य’ इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्ति-गमनयोग्यः, ततश्च मुक्तिगमनयोग्यं यद्द्रव्यं तद्वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनिः—मोक्षगमनायोग्यः।
—आचाराङ्ग वृत्ति

को। कुसला—निपुण पुरुष। परिन्नमुदाहरति—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर इस प्रकार कहते हैं। इइ कम्मं—इस प्रकार कर्म को। परिन्नाय—जान कर। सब्वसो—सर्व प्रकार से। जे—जो। अणन्नदंसी—यथावस्थित पदार्थों को देखने वाला है। से—वह। अणन्नारामे—मोक्ष मार्ग के बिना अन्यत्र रमण नहीं करता। जे—जो। अणण्णारामे—मोक्ष मार्ग के बिना अन्यत्र नहीं रमता है। से—वह। अणन्नदंसी—अनन्यदर्शी—यथार्थदर्शी है। जहा—जैसे। पुण्णस्स—पुण्यवान् के आगे। कत्थइ—धर्म कथादि कहता है। तहा—उसी प्रकार। तुच्छस्स—निर्धन के आगे। कत्थइ—कहता है, फिर। जहा—जैसे। तुच्छस्स—निर्धन के आगे। कत्थइ—कहता है। तहा—वैसे ही। पुण्णस्स—पुण्यवान् के आगे। कत्थइ—कहता है। (केवलं समभाव और निर्जरा के लिए ही उक्त दोनों के आगे धर्म कथादि कहता है)।

मूलार्थ—इस संसार में जीवों के लिए, जो दुःख के कारण बताए गए हैं, कुशल पुरुष उनका परिज्ञान करके त्याग कर देता है। इस प्रकार वह कर्म के स्वरूप को जानकर उससे छूट जाता है। जो यथार्थ द्रष्टा है वह मोक्ष पथ के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रमता है, वही अनन्यदर्शी यथार्थ द्रष्टा है। अतः वह जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को धर्मोपदेश देता है, मोक्ष मार्ग का पथ बताता है, उसी प्रकार निर्धन व्यक्ति को भी उपदेश देता है। जिस भाव से निर्धन को उपदेश देता है, उसी भाव से ऐश्वर्यवान् को भी उपदेश देता है। तात्पर्य यह है कि उसकी उपदेश धारा में प्राणिमात्र के प्रति समभाव एवं हित बुद्धि रही हुई है, उसमें बड़े-छोटे का भेद नहीं रहता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो साधक कुशल—बुद्धिमान है, वह संसार में उपलब्ध होने वाले दुःखों के कारण को जानकर उस मार्ग का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह दुःखों एवं कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति का मन संसार में नहीं लगता। वह संसार से ऊपर उठ जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि “जो अनन्यदर्शी है वह अनन्याराम है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।” इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो यथार्थ द्रष्टा है—संसार एवं आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता-पहचानता है, वह मोक्ष मार्ग

से अन्यत्र गति नहीं करता। क्योंकि उसका लक्ष्य, उसका ध्येय आत्मा को समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त करना है। इसलिए उसके पग उसी पथ पर ही उठेंगे। जिसके पग उस मोक्ष-पथ पर बढ़ रहे हैं तो समझना चाहिए कि वह यथार्थ द्रष्टा है। इससे यह बात सिद्ध की है कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। उक्त त्रिपथ की समन्वित साधना से ही आत्मा समस्त दुःखों से सर्वथा छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि इस सूत्र में दर्शन और चारित्राचार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु ज्ञान और दर्शन दोनों सहभावी हैं। बिना ज्ञान के दर्शन, दर्शन के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिए 'अनन्यदर्शी और अनन्याराम' के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित साधना से ही निर्वाण पद बताया गया है।

इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले कर्मों के स्वरूप को जाने। क्योंकि दुःख के मूल कारण कर्म ही हैं। अतः उनके स्वरूप का बोध हुए बिना उनका त्याग कर सकना कठिन है। यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मों का स्वरूप किस प्रकार जाना जाए? इसके लिए आगम में बताया गया है—कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उनका चार प्रकार से बन्ध होता है—1. प्रकृतिबन्ध, 2. स्थितिबन्ध; 3. अनुभागबन्ध और 4. प्रदेशबन्ध। इनके स्वरूप को समझने से कर्म का स्वरूप भली-भाँति समझ में आ जाता है¹।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अणन्नदंसी और अणन्नारामे' पाठ की ध्याख्या इस प्रकार की गई है—“अन्यद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी—यथावस्थित-पदार्थद्रष्टा, कश्चैवं भूतो? यः सम्यग्दृष्टिमौनीन्द्रप्रवचना-विर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यामो—मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते।” अर्थात् जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धांत के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो अपने चिन्तन-मनन, विचारणा एवं आचरण को अन्यत्र नहीं लगाता, वही तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है और ऐसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग का पथ बता सकते हैं, यथार्थ

1. इस विषय में विशेष जानकारी करने में लिए पाठक मेरे द्वारा लिखित 'जीव कर्म संवाद' निबन्ध पढ़ें।

उपदेश दे सकते हैं। क्योंकि उनके उपदेश में समभाव की प्रमुखता रहती है। वे महापुरुष समदर्शी होते हैं। उनके मन में धनी, निर्धन का, छूत-अछूत का, पापी-धर्मी का कोई भेद नहीं होता। उनका ज्ञान-प्रकाश उनकी उपदेश धारा किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, संप्रदाय विशेष, वर्ग विशेष के बंधनों से आबद्ध नहीं होती। वे जिस विशुद्ध भाव से एक ऐश्वर्य सन्पन्न व्यक्ति को उपदेश देते हैं, उसी भाव से घर-घर की खाक छानने वाले भिखारी को भी देते हैं। जिस भाव से एक निर्धन को देते हैं, उसी भाव से एक धनी को देते हैं। ऐसा नहीं कि गरीब को जो कुछ मन में आया, वह कह दिया और सेठ जी के आते ही ज़रा चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने लगे। आगम में अनाथी मुनि का उदाहरण आता है। वे उस युग के एक महान् ऐश्वर्य सम्पन्न एवं शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक को भी अनाथ कहते हुए नहीं हिचकिचाते और निर्भयता के साथ श्रेणिक की अनाथता को सिद्ध कर देते हैं। जिसे श्रेणिक स्वयं स्वीकार कर लेता है। उस महामुनि ने केवल श्रेणिक की ही अनाथता नहीं बताई थी, अपितु समस्त पूंजीपतियों के धन-सम्पत्ति और राजाओं के ऐश्वर्य एवं सैनिक शक्ति के मिथ्याभिमान एवं अहंकार को अनावृत करके रख दिया था। तो कहने का तात्पर्य यह है कि भय प्राणियों को सन्माग पर लाने के लिए वे यथार्थ द्रष्टा कभी भी छोटे-बड़े का भेद नहीं करते। वे सबको समान भाव से उपदेश देते हैं।

उपदेष्टा को सबके प्रति समभाव रखना चाहिए, उसके मन में भेद भाव नहीं होना चाहिए। परन्तु इसके साथ उसे परिषद् अर्थात् श्रोताओं की योग्यता, परिस्थिति एवं वहां के देश काल का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे इन बातों का पूरा-पूरा बोध नहीं है, तो उससे अहित होने की भी संभावना हो सकती है। अतः उपदेष्टा कैसा होना चाहिए, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि य हणे अणाइयमाणे; इत्थं पि जाण सेयंति नत्थि,
केयं पुरिसे कं च नए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं
अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं
वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले
पुण नो बद्धे नो मुक्के॥103॥

छाया—अपि च हन्यात् अनाद्रियमाणः अत्रापिजानीहि श्रेय इति नास्ति कोऽयं पुरुषः कं च नतः? एष वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचकः ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु सः सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते क्षणपदेन वीरः, स मेधावी अणोद्धातन खेदज्ञः यश्च बन्धप्रमोक्षान्वेषी कुशलः पुनः नो बद्धः नो मुक्तः!

पदार्थ—जाण—हे शिष्य! तू यह जान कि। इत्यपि—यहां पर भी। अवि—अपि शब्द संभावनार्थक है, जैसे कोई व्यक्ति। अणाइयमाणे—साधु के वाक्य का अनादर करता है। य हणे—और दण्ड आदि से मारता है, तो। सेयंति नत्थि—इस प्रकार कथा करनी श्रेयस्कर नहीं है (कारण कि-राजादि के प्रतिकूल कही गई कथा लाभ के बदले हानि का ही कारण बन जाती है। तब किस प्रकार से धर्म कथा करनी चाहिए? केयं—कौन-यह। पुरिसे—पुरुष है। च—और फिर। कं—किस देव को। नए—नमस्कार करने वाला है, अर्थात् किस देव को मानता है (इस प्रकार जानकर धर्मकथा करनी चाहिए)। एस—यह व्याख्यान की विधि को जानने वाला। वीरे—कर्मों के विदारण में समर्थ पुरुष। पसंसिए—प्रशंसा के योग्य है, क्योंकि वह। जे—जो व्यक्ति। बद्धे—आठ प्रकार के कर्मों से बद्ध है उसको। परिमोयए—कर्म बन्धन से मुक्त कराने में समर्थ है। तथा वह। उड्ढं—ऊर्ध्व। अहं—नीची। तिरियं—मध्य। दिसासु—दिशाओं में—जो जीव रहते हैं उनको कर्म बन्धन से मुक्त कराने में समर्थ है। से—वह वीर पुरुष। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्व परिन्नाचारी—सर्व परिज्ञाओं का आचरण करने वाला अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से युक्त। छण पएण—हिंसा के पद से। न लिप्पइ—लिप्त नहीं होता। वीरे—अतः वह वीर है। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान् है, तथा वह। अणुग्घायणखेयन्ने—कर्मों के नाश करने में निपुण है। य—और वह। बंधपमुक्खमन्नेसी—बन्ध और मोक्ष का अन्वेषक—अन्वेषण करने वाला है। कुसले—चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला-तीर्थंकर वा सामान्य केवली। पुणो—फिर वह। नोबद्धे—न तो घातिकर्मों से बद्ध होता है। नोमुक्के—और न मुक्त अर्थात् भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से वह मुक्त भी नहीं।

मूलार्थ—ऐसा होना भी संभव है कि श्रोताओं के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किए बिना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल

देनेवाला हो! अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओं में से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने या ताड़ना तर्जना करने पर भी उतारू हो जाए तो यह असम्भव नहीं, इसलिए परिषद् के अभिप्राय को जाने बिना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नहीं है। अतः उपदेशक के लिए उपदेश देने से पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है? इन सब बातों का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशंसा के योग्य है तथा वह ऊँची-नीची और मध्य दिशा में उत्पन्न होने वाले जीवों को आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त कराने में समर्थ है, और सब प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम बुद्धिमान्, कर्मों के नाश करने में समर्थ और बन्ध मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है एवं वह कुशल, अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को प्राप्त करने वाला, मिथ्यात्व और कषाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला (तीर्थंकर वा सामान्य केवली) न तो बद्ध है और (भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से) न ही मुक्त है। तात्पर्य कि घातिकर्मों के क्षय होने के बाद उसको कर्म का बन्ध नहीं होता, इसलिए वह बद्ध नहीं और नाम गोत्र आदि अघातिकर्मों का वहां सद्भाव है। अतः वह कर्मों से सर्वथा मुक्त भी नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि उपदेशक को स्व और पर-सिद्धान्त के साथ श्रोताओं की स्थिति, योग्यता एवं मान्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि वह परिषद् में उपस्थित व्यक्तियों की मान्यता से परिचित नहीं है; तो ऐसी स्थिति में दिया गया उपदेश और रूप में परिणत हो सकता है, उसका परिणाम उपदेशक की आशा के विपरीत आ सकता है।

श्रोताओं के विचारों को जाने बिना दिया गया उपदेश कभी-कभी उनकी उत्तेजना को बढ़ा देता है। अपने विश्वासों एवं मान्यताओं से विपरीत विचार सुनकर उनके विचारों में आवेश आ जाना स्वाभाविक है और फिर उन्हें संभालना वक्ता के लिए कठिन हो जाता है। आजकल सभाओं में कई बार ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि धर्मोपदेशक मुनि को श्रोताओं के अभिप्राय

का, उनकी मान्यताओं का बोध होना चाहिए। अन्यथा उसके उपदेश से लोगों में उनके प्रति अनादर का भाव उत्पन्न होगा और परिणाम स्वरूप वे उपदेशक को तिरस्कार एवं अपमान जन्य शब्दों से विभूषित कर सकते हैं। यदि कहीं अधिक उग्रवादी व्यक्ति हुए तो डंडे आदि का भी प्रयोग कर सकते हैं। अतः जो वक्ता देश, काल एवं श्रोताओं की मान्यताओं से परिचित होता है, वह परिषद् में कभी भी अपमान को प्राप्त नहीं होता।

उपदेश का उद्देश्य लोगों को यथार्थ मार्ग दिखाना है। इसलिए उपदेशक को बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। उसका काम इतना ही है कि वह उपदेश के द्वारा उनके मन में सत्य-अहिंसा आदि आत्म गुणों की ज्योति जगाकर उन्हें आत्म-चिन्तन एवं सदाचार की ओर गतिशील कर दे और यह काम तभी हो सकेगा जब कि वह उनके विचारों से परिचित होगा और उन्हीं की भाषा में उन्हें समझने में प्रवीण होगा। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष-विजयघोष के प्रकरण में उपदेशक की शैली का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। दोनों व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्मे थे, परन्तु एक श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गया और दूसरा वैदिक यज्ञ-याग में उलझ रहा है। एक समय मुनि जयघोष वाराणसी में पधारते हैं और भिक्षा के लिए विजयघोष के यहां जा पहुंचते हैं। विजयघोष मुनि को यह कह कर भिक्षा देने से इनकार कर देता है कि मैं वेद में पारंगत एवं वैदिक धर्म का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को ही भिक्षा दूंगा। मुनि इससे रुष्ट नहीं होते हैं, वे समभाव पूर्वक खड़े रहते हैं और उसे वैदिक विश्वासों के अनुसार धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझाते हैं। वे उसे याज्ञिक भाषा में तत्त्व का उपदेश देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि विजयघोष के मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह चिन्तन की गहराई में उतरता है और वास्तविकता को समझकर साधना के यथार्थ पथ पर गतिशील हो उठता है, मुनि धर्म को स्वीकार कर लेता है और उत्कृष्ट साधना के द्वारा समस्त कर्मों को तोड़कर दोनों महामुनि मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता को बोलने से पहले श्रोता के विचारों का ज्ञान होना जरूरी है। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि यह किस मत का है और यदि कोई उससे प्रश्न पूछ रहा हो तो उस समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न

कर्ता का उद्देश्य क्या है? वह समझने की दृष्टि से पूछ रहा है या वक्ता की परीक्षा करने के लिए या उसे निरुत्तर करने या हराने की दृष्टि से पूछ रहा है। उक्त सारी परिस्थितियों एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला वक्ता ही उपदेश देने योग्य है। वह श्रोताओं के तथा प्रश्नकर्ता के मन का यथार्थ समाधान कर सकता है। उन्हें यथार्थ मार्ग बता सकता है। वह उन्हें कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग बताने में भी योग्य है। क्योंकि वह ज्ञान सम्पन्न और सदा-सर्वदा हिंसा आदि दोषों से दूर रहता है। इसलिए वह प्रबुद्ध पुरुष कर्मों को क्षय करने में निपुण है और वह प्रवृत्ति एवं पूर्व बँधे हुए बन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न में सदा संलग्न रहता है। ऐसे महापुरुष को वीर, मेधावी, कुशल, खेदज्ञ आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “अणुघायण खेयन्ने” और “बन्धपमुखमन्नेसी” दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—“जिसके प्रभाव से यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है, उसको अण-कर्म कहते हैं। उस कर्म का जो सर्वथा क्षय करने में समर्थ है, उसे खेदज्ञ कहते हैं।” इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति कर्मों को क्षय करने की विधि जानता है, वही मुमुक्षु—कर्म करने के लिए उद्यत पुरुषों में कुशल एवं वीर माना जाता है। जो चारों प्रकार के बन्ध एवं बन्धन से छूटने के उपाय में संलग्न है, उसे बन्ध-मोक्षान्वेषक कहते हैं। परन्तु यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि ‘अणुघायणखेयन्ने’ शब्द से मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के भेद से विभिन्न योग निमित्त से आने वाले ‘कषायमूलकबध्मान’ कर्म की जो बद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित रूप अवस्था है, उसको तथा उसे दूर करने के उपाय को जो जानता है, लिया गया और बन्धपमुखमन्नेसी, शब्द से कर्म बन्धन से छूटने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान अपेक्षित है, इसलिए यहां पुनरुक्ति दोष का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है¹।

1. अणोद्घातनस्य खेदज्ञः अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिकं संसारमित्यण-कर्म तस्योत्प्रावत्येन घातनं अपनयनं तस्य तत्र वा खेदज्ञो-निपुणः इह हि कर्मक्षपणोद्यतानां मुमुक्षूणां यः कर्मक्षपण विधिज्ञः स मेधावी कुशलो वीर इत्युक्तं भवति। 2. यश्च प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि बन्धस्य यः प्रमोक्षः तदुपायो वा तमन्वेष्टुं-मृगयितुं शीलमस्येत्यन्वेषी, यश्चैवं भूतः स वीरो मेधावी खेदज्ञ इतिपूर्वेण सम्बन्धः, अणोद्घातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन मूलोत्तर प्रकृतिभेद भिन्नस्य योगनिमित्ताघातस्य कषायस्थितिकस्य कर्मणो बध्यमानावस्थां

प्रश्न—इस विवेचन से मन में यह जानने की इच्छा होती है कि कर्मों को सर्वथा क्षय करने में निपुण एवं बन्ध मोक्ष का अन्वेषक पुरुष छद्मस्थ है या वीतराग—सर्वज्ञ है?

उत्तर—इसका समाधान यह है कि ऐसा व्यक्ति छद्मस्थ ही हो सकता है, न कि केवली। क्योंकि उक्त विशेषण केवली पर घटित नहीं होते हैं। इसलिए उसे असर्वज्ञ ही समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त 'कुसले' शब्द केवली और छद्मस्थ दोनों का परिचायक है। यदि उसका अर्थ यह करें कि जिसने घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है; उसे कुशल कहते हैं तो कुशल शब्द तीर्थंकर या सामान्य केवली का बोधक है और जब इसका यह अर्थ करते हैं—जो मोक्षाभिलाषी है और कर्मों को क्षय करने का उपाय सोचने एवं उसका प्रयोग करने में संलग्न है, उसे कुशल कहते हैं तो कुशल शब्द से छद्मस्थ साधक का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त केवली ने चारों घातिकर्मों का क्षय कर दिया है, इसलिए वह कर्मों से आबद्ध नहीं होता, परन्तु अभी तक उसमें भवोपग्राही—वेदनीय; नाम गोत्र और आयु कर्म का सद्भाव है, अतः वह मुक्त भी नहीं कहलाता। इसलिए 'कुसले' शब्द के आगे 'नो बद्धे न मुक्के' शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु छद्मस्थ साधक के अर्थ में कुशल शब्द का अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को प्राप्त करके उस पथ पर गतिशील साधक है¹। मिथ्यात्व एवं कषाय के उपशम से उसकी आत्मा में ज्ञान का उदय है, इसलिए वह संसार में परिभ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व आदि से बद्ध नहीं है; परन्तु अभी तक उसने उनको क्षय नहीं किया है, उनका अस्तित्व है, इसलिए वह मुक्त भी नहीं है।

बद्धस्पृष्ट निधत्त निकाचित रूपां तदपनयनोपायं च वेत्तीत्येतदभिहितं, अनेन चापनयनानुष्ठानमिति न पुनरुक्त दोषानुषंगः प्रसजति।

1. कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षितः स च तीर्थकृत सामान्य केवली वा छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः, केवली तु पुनर्घातिकर्म क्षयान्तो बद्धो भवोपग्राहिकर्मसद्भावान्तो मुक्तः कुशलः—अवाप्त ज्ञान दर्शन चारित्र्यो मिथ्यात्वद्वादश कषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासद्भावान्तो मुक्त इति।

—आचारांग वृत्तिः

इसलिए मुमुक्षु पुरुष को किस प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जं च आरभे जं च नारभे, अणारब्धं च न आरभे, छणं-छणं परिणाय लोगसन्नं च सव्वसो॥104॥

छाया—स यच्चारभते, यच्च नारभते अनारब्धं च नारभते, क्षणं-क्षणं परिज्ञाय लोकसंज्ञां च सर्वशः।

पदार्थ—से—वह कुशल साधक। जं—जिस—कर्मों को क्षय करने के लिए संयमानुष्ठान को। आरभे—आरम्भ करता है। च—समुच्चयार्थक है। जं च—और जिन मिथ्यात्वादि संसार परिभ्रमण के कारणों को। नारभे—आरम्भ नहीं करता है। च—और। अणारब्धं—जो आचरणीय नहीं है। नारभे—उन्हें स्वीकार न करे, किन्तु। छणं-छणं—जिन-जिन कारणों से हिंसा होती है, उन्हें। परिणाय—जानकर। च—तथा। सव्वसो लोगसन्नं—सर्व प्रकार से आहार आदि लोक संज्ञाओं का भी परित्याग कर दे, अर्थात् त्रिकरण त्रियोग से संज्ञा का परित्याग कर दे।

मूलार्थ—वह कुशल मुनि कर्मों का क्षय करने के लिए संयम-साधना को स्वीकार करता है। अतः वह मिथ्यात्व, अविरति आदि संसार परिभ्रमण के कारणों एवं सर्वज्ञों द्वारा अनाचरणीय आचार को स्वीकार नहीं करता है और वह हिंसा के स्थान को तथा लोकसंज्ञा आदि के स्वरूप को भली-भाँति जानकर उनका सर्वथा परित्याग कर देता है।

हिन्दी-विवेचन

संसार का कारण कर्म है और उनसे सदा मुक्त होना यह साधक का उद्देश्य है, लक्ष्य है। इसलिए वह मुनि कुशल कहा गया है, जो संयम-साधना के द्वारा कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करता है। वह प्रबुद्ध साधक मिथ्यात्व, अविरति आदि दोषों को ग्रहण नहीं करता और न वह ऐसे आचार को स्वीकार करता है, जो केवली भगवान द्वारा अनाचरित हैं¹।

1. अनारब्धं—अनाधीर्ण केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षुनारभते—न कुर्यादित्युपदेशो, यच्च मोक्षांगमाचीर्णं त कुर्यादित्युक्तं भवति।
—आचारांगं वृत्ति

‘छणं—छणं’ शब्द का अर्थ है—हिंसा¹। अतः मुनि हिंसा का त्याग कर के संयम साधना में प्रवृत्त होता है। उसके लिए वह लोक संज्ञा आदि का भी त्याग कर देता है। लौकिक सुख एवं परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह आत्म सुख का अनुभव कर सकता है²।

इससे स्पष्ट हुआ कि कर्मों को क्षय करने के लिए हिंसा आदि दोषों एवं अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करके जो शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करता है, वह साधक अपना आत्म विकास करते हुए दूसरे को भी यथार्थ मार्ग बताता है।

वस्तुतः उपदेश की किसको आवश्यकता होती है और संसार में कौन परिभ्रमण करता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देशो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने
असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ठं अणुपरियट्ठइ, त्तिबेमि॥105॥

छाया—उद्देशः (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनर्निह कामसमनुज्ञः
अशमित दुःख दुःखी दुःखानामेवावर्तमनुपरिवर्तते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देशो—उपदेश। पासगस्स—यथाद्रष्टा को। नत्थि—नहीं हैं, किन्तु जो। बाले—अज्ञानी है। पुण—फिर। निहे—स्नेह करने वाला। कामसमणुन्ने—काम-भोगों के अभिलाषी को। असमिय दुक्खे—असीम दुःख होता है। दुक्खी—वह बार-बार दुःख का संवेदन करता है। दुक्खाणमेव—दुःखों के ही। आवट्ठं—आवर्त में। अणुपरियट्ठइ—परिभ्रमण करता रहता है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—यथार्थ द्रष्टा के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है। जो बाल अज्ञानी पुरुष है, वही बार-बार काम-भोगों में स्नेह करता है और बार-बार दुःखों के आवर्त में अनुवर्तन करता रहता है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

1. ‘क्षण हिंसायां’ क्षणनं क्षणो—हिंसनं कारणे कार्योपचारात् येन येन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तत् जपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। —आचारांग वृत्तिः
2. लोकस्य—गृहस्थ लोकस्य संज्ञानं संज्ञा—विषयाभिर्ष्वगजनितासुखेच्छा परिग्रह संज्ञा वा तां च जपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यान परिज्ञया च परिहरेत्। —आचारांग वृत्तिः

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है कि जो यथार्थ द्रष्टा है, तत्त्वज्ञ है, उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वह अपने कर्तव्य को जानता है और अपने संयम पथ पर सम्यक्तया गति कर रहा है। इसलिए वह संसार-सागर से पार होने में समर्थ है। संसार सागर को पार करने के लिए ज्ञान और क्रिया आवश्यक हैं। इनकी समन्वित साधना से ही साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए निर्वाण पद को पाने के लिए ज्ञान और चारित्र्य दोनों को स्वीकार करना जरूरी है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यही है कि कषाय, राग-द्वेष एवं विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि कषाय, राग-द्वेष एवं विषय-वासना ही संसार है। क्योंकि संसार का मूलाधार ये ही हैं। इनमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति ही संसार में घूमता है। अतः इनका त्याग करना, विषय-वासना में जाते हुए योगों को उस ओर से रोक कर संयम में लगाना, यही संसार से मुक्त होने का उपाय है और यही लोक पर विजय प्राप्त करना है। जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं को जीत लेता है, उसके लिए और कुछ जीतना शेष नहीं रह जाता। फिर लोक में उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता। सारा लोक—संसार उसका अनुचर—सेवक बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि विषय-वासना की आसक्ति का त्याग-करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त करता है। उसमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति असीम दुःखों को प्राप्त करता है। उसके दुःखों का कभी अन्त नहीं आता। अतः मुमुक्षु पुरुष को विषयों में आसक्त न होकर, साधना में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेभि’ का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्ययन लोकविजय समाप्त ॥



अध्यात्मसार : 6

मूलम् : अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्डं अहं तिरियं दिसासु, से सब्बओ सब्ब परिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के॥ 2/6/103

मूलार्थ : ऐसा होना भी सम्भव है कि श्रोताओं के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किये बिना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल देने वाला हो, अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओं में से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने-ताड़ने या तर्जना करने पर भी उतारू हो जाए तो यह असम्भव नहीं, इसलिए परिषद् के अभिप्राय को जाने बिना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नहीं है। अतः उपदेशक के लिए उपदेश देने से पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है, वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है। इन सब बातों का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशंसा के योग्य है तथा वह ऊँची-नीची और मध्य दिशा में उत्पन्न होने वाले जीवों को आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त कराने में समर्थ है, और सब प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम बुद्धिमान, कर्मों के नाश करने में समर्थ और बन्ध-मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है और वह कुशल अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को प्राप्त करने वाला, मिथ्यात्व और कषाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल, अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करने वाला 'तीर्थंकर या सामान्य केवली' न तो बद्ध है और न 'भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से' ही मुक्त है। तात्पर्य यह कि घातिकर्मों के क्षय से उसके कर्म का बन्ध नहीं होता, इसलिए वह बद्ध नहीं और नाम-गोत्र

- आदि अघातिकर्मों का वहाँ सद्भाव है, अतः वह कर्मों से सर्वथा मुक्त भी नहीं कहा जा सकता।

वक्ता की योग्यता : कौशल

यहाँ वक्ता के सम्बन्ध में बताया गया है। 'के यं पुरिसे कंच नए?' वह पुरुष कौन है, कैसा है, उसकी आस्था कहाँ पर है, क्योंकि जो व्यक्ति जैसा होगा, उसे वैसी ही भाषा में समझाना होगा। वैसी ही भाषा वह समझ सकता है; अन्यथा बात सत्य होते हुए भी उसे असत्य प्रतीत होती है।

सर्वप्रथम यह कि वह पुरुष कौन है? अब यह कैसे पता चलेगा कि वह कैसा है? यह योग्यता वक्ता में होनी चाहिए कि वह बिना पूछे पहचान जाए कि वह पुरुष कौन है, कैसा है? उसके आने से, बैठने से, चेहरे से, बोलने से, भाव-भंगिमा और शिष्टाचार से, उसे यह बोध हो जाना चाहिए कि उसके जीवन की मूल विचारधारा कैसी है, बिना पूछे ही वक्ता में यह जानने की क्षमता होनी चाहिए कि श्रोता का जीवन कैसा है। क्योंकि अगर पूछोगे तो वह स्वयं भी नहीं बता पाएगा कि मेरा जीवन कैसा है।

वक्ता में यह योग्यता होती है कि जो व्यक्ति ने नहीं बताया वह उसे भी जान लेता है कि व्यक्ति की मूल प्रकृति कैसी है। वह परिग्रही है या लोभी है या उदार है, रोगी है या स्वस्थ है, आलसी है या परिश्रमी है? वह सदा अकेला रहता है या मित्र के साथ रहता है? इस प्रकार उसके सम्पूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर व्यक्तित्व का पूरा लेखा-जोखा वक्ता दे सके। यह सब तत्क्षण होना चाहिए। ऐसा नहीं कि आज देखा और दो दिन बाद पहचाना। यदि प्रज्ञा इतनी सूक्ष्म हुई और पहचान इतनी प्रामाणिक हुई तो आगे का कार्य बहुत आसान एवं सुचारु रूप से हो सकता है। इस प्रकार उपदेश के तीन हिस्से हुए—1. वह पुरुष कैसा है, 2. उसकी आस्था किसके प्रति है, 3. दोनों बातों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, दिया गया योग्य उपदेश।

आस्था : आस्था सभी में होती है, किसी की आस्था सत्य के प्रति होती है तो किसी की आस्था असत्य के प्रति। इसलिए जीव को दर्शन रहित नहीं कहा। या तो वह सम्यक् दृष्टि है या फिर वह मिथ्या-दृष्टि है। वक्ता को यह देखना चाहिए कि

वह पुरुष यथार्थ का द्रष्टा है या अयथार्थ का। जो जैसा है वैसा देखना यथार्थ है।

अयथार्थ : जो जैसा है, वैसा नहीं देखना—भ्रान्त दृष्टिकोण, मोहनीय कर्म के उदय से दृष्टिकोण भ्रान्त हो गया। जैसे आँखें तो हैं परन्तु आवरण आ जाने पर वह देख तो सकता है लेकिन जो है उससे कुछ अलग देखता है। जीव का गुण है दर्शन। अतः आस्था तो सभी में है। किसी की सत्य के प्रति, किसी की असत्य के प्रति, बिना आस्था के जीव हो नहीं सकता। बिना गुण के गुणी कैसे रहेगा?

इसे हम इस प्रकार से भी जान सकते हैं कि उसकी आस्था जीवन के किस दृष्टिकोण में है। केवल खाना-पीना और जीना यही उसका साध्य है या वह जीवन एक संघर्ष है, ऐसा मानता है। व्यक्ति मान्यता में जीता है। वह जैसी मान्यता बना लेता है, ठीक वैसे ही वह जीता है। यदि मान्यता भ्रान्त है तो उसका सारा जीवन भ्रान्त हो जाएगा।

व्यवहार सम्यक्त्व सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म की शरण, अर्थात् यथार्थ सत्य की शरण। निश्चय में, यथार्थ का बोध होना, पूरे आवरण हट जाना, मिथ्या-दर्शन का आवरण हट जाना। जैसे कमरे की खिड़की बन्द हो तब पूर्ण रूप से अँधेरा, फिर एक छोटा-सा छिद्र हो तो प्रकाश की किरण भीतर प्रवेश करती है। माना कि एक ही किरण है, लेकिन वह एक छिद्र भी और उस एक छिद्र से आने वाला प्रकाश भी—प्रकाश के अस्तित्व का, मूल स्वरूप का बोध करा देता है। वह है निश्चय सम्यक्त्व। व्यवहार क्या है? जो यथार्थ है उस यथार्थ के सम्बन्ध में विश्वास अथवा मान्यता। जैसे देह अलग है, चेतन अलग है, लेकिन अभी वह हमें दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी, क्योंकि हमने अरिहन्त की शरण ली है अतः वे तो यह साक्षात् देख रहे हैं। लेकिन वे जो देख रहे हैं, वह हमें नहीं दिखाई पड़ता। अतः अरिहन्त के शरण ऐसे हैं, जैसे अन्धा व्यक्ति आँख वाले की उँगली पकड़ लेता है। उसके पास तो आँख नहीं है, लेकिन आँख वाले की उँगली पकड़ कर वह सुचारु रूपेण रास्ता पार कर लेता है। इसी का नाम शरण है।

अरिहन्त प्रभु ने जो यथार्थ देखा है और बताया है, देह और चेतन भिन्न है, उसे मैं भी मानता हूँ और उस मान्यता के अनुसार अपने जीवन को ढालता हूँ, क्योंकि जैसा मेरा जीवन के प्रति दृष्टिकोण होगा, वैसा ही मेरे जीवन का आचरण होगा।

जैसे प्रभु ने बताया कि कन्द-मूल में अनन्त जीव हैं और हमने स्वीकार किया कि प्रभु ने जो कहा है, वह सत्य है। फिर हमने उसका त्याग किया।

जैसे प्रभु ने बताया कि रात्रि में भोजन करने से असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। स्थविर-एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक, पंचेन्द्रिय सूक्ष्म समुच्छिन्न जीव। इस प्रकार एक से लेकर पंचेन्द्रिय तक की हिंसा हो सकती है। आहार के प्रत्येक स्थान में जीवोत्पत्ति हो जाती है। हमने यह सब प्रत्यक्ष और पूर्ण रूप से नहीं देखा, लेकिन भगवान ने जो देखा, वह मैं मानता हूँ और तदनुसार आचरण करता हूँ। आचरण कर भी सकूँ या न भी कर सकूँ, लेकिन मैं स्वीकार जरूर करता हूँ।

व्यवहार सम्यक्त्व में सबसे बड़ी दुविधा क्या है? दुविधा यह है कि भगवान ने वास्तव में क्या कहा? सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं। भले ही सभी एक ही भगवान और एक ही शासन को मानने वाले हैं, लेकिन मान्यताओं में बड़ा भेद है। जैसे कोई कहता है कि मन्दिर में जाना पुण्य बन्धन और कर्म-निर्जरा का कारण है। कोई कहता है मंदिर में जाना ठीक नहीं है। अब सामान्य जनता इतनी प्रज्ञावान नहीं है कि वह दोनों ही दृष्टिकोण के पीछे रहे हुए आधार को देख पाए। अतः भ्रान्ति होना स्वाभाविक है। इसका उपाय क्या है?

अनेकान्त दृष्टि : यदि साधुजन कहें कि मुझे यह मार्ग ऐसा लग रहा है। यह मेरा सोचना अथवा मेरा अनुभव अथवा मेरा अनुमान है। बल्कि इसके विपरीत भी सत्य हो सकता है। लेकिन जब दो विरोधी मान्यता वाले, धर्म गुरु हों और दोनों ही कहें मेरी ही बात सत्य है तब श्रोता असमंजस और दुविधा में पड़ जाते हैं। अनेकान्तवाद का सहारा सभी दृष्टिकोणों को अपने में समाहित कर लेता है। अनेकान्त में समन्वय है, सत्य है, शान्ति, प्रेम और सौहार्द है तथा एकान्त में संघर्ष है। यदि व्यवहार में अनेकान्तवाद का आधार लिया जाए, तब कोई दुविधा नहीं। जैसे आपको लगता है ध्यान कर्म निर्जरा हेतु सर्वोत्तम मार्ग है, तब कोई कहेगा ध्यान करने से कुछ नहीं होता, स्वाध्याय करो। अब अनेकान्त की दृष्टि से देखें तो अनेकान्त किसी का विरोध नहीं करता। 'जीवो मंगलम्' सभी जीव मंगल हैं। यदि कोई विरोध भी करता है, तब भी हमें उनका विरोध नहीं करना। कहना कि उनकी बात भी ठीक हो सकती है, लेकिन मुझे यह बात ऐसी प्रतीत होती है और हो सकता है कि वे मेरी बात को

समझ नहीं पाए हैं। यदि कोई निंदा भी करे, तब भी हमें निन्दा नहीं करनी। हो सकता है उन्हें इसमें यह गुण दिखाई नहीं देते। उन्हें मुझमें अवगुण दिखाई दे रहे हैं। यह उनका दृष्टिकोण है। उस सम्बन्ध में हम न ही कुछ कह सकते हैं और न ही कुछ कर सकते हैं।

अभी जो समय आ रहा है, उसमें दो प्रकार के लोग हैं—एक तो अन्धानुकरण करने वाले और दूसरे जब तक उनको अनुभव नहीं आएगा, तब तक एक कदम भी आगे बढ़ाने को तैयार न होने वाले। अब साधना के क्षेत्र में दोनों आवश्यक हैं। जैसे हमने अभी-अभी देखा कि हम नहीं देख सकते; फिर भी हम श्रद्धा करते हैं, क्योंकि हमें अनुभव हुआ है कि उनकी शरण लेने से हमें मार्ग मिला है, हमारा विकास हुआ है।

जीवन में शरण कब लेंगे? जब आप अनुभव करेंगे कि शरण लेने से मेरे जीवन में विकास हो रहा है और उस अनुभव से पहले, उस अनुभव की सम्भावना के प्रति भरोसा, अज्ञात में भरोसा जैसे किसी को ध्यान का जरा भी अनुभव नहीं है, लेकिन उसके मन में यह भरोसा है अथवा मन में थोड़ा-सा अहसास है कि कुछ मिल सकता है। इस भरोसे से ही शुरुआत होगी। यदि भरोसा नहीं हुआ, तब प्रथम तो वह आएगा ही नहीं। यदि आ भी गया तो काम नहीं करेगा। हालांकि वह भरोसा थोड़े समय का है। वह टूट भी सकता है और बलवान भी हो सकता है। यदि उसे जो विकास चाहिए, वह नहीं मिलता, तब भरोसा नहीं रहेगा। यदि मिलने की शुरुआत हुई, तब भरोसा उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा।

यहाँ साधना के मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिए भरोसा पहले करना जरूरी है और उस भरोसे का विकास आपकी साधना एवं आपके अनुभव से होगा। उस भरोसे का आपके जीवन में प्रतिफल और परिणाम, आपकी साधना और अनुभव से आएगा।

प्रथम अहसास होना जरूरी है। हालांकि अहसास होने मात्र से पूरा जीवन तो नहीं बदलेगा। अहसास होना पर्याप्त नहीं है।

जब कोई व्यक्ति आपसे पूछे कि ध्यान करना आवश्यक है या नहीं। ध्यान करना चाहिए या नहीं। तब उसे कहना मैंने करके देखा और मुझे ठीक लगा, आप भी करके देखिए। अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण से देखो मुझे ठीक लग रहा है। हो

सकता है, आपको ठीक न भी लगे, लेकिन पहले करके देखने पर ही पता लगेगा।

हरेक को यही कहना कि पहले आप स्वयं करके देखो। यह बात साधना के हरेक क्षेत्र में लागू होती है। फिर वह ध्यान है, अणुव्रत है, कन्दमूल या रात्रि-भोजन का त्याग। प्रत्येक अनुभव के लिए कम-से-कम छह माह आवश्यक हैं। चार से छह माह तक के समय में अनुभव आ सकता है, क्योंकि मूल मार्ग तो कषाय की उपशान्ति है। अब यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर देखना है कि कन्द-मूल छोड़ने से मेरे कषाय उपशान्त होते हैं या नहीं। ध्यान, स्वाध्याय अथवा किसी भी अनुभव के लिए 6 माह का समय देना।

अन्धानुकरण किसी का भी हो सकता है। उसमें व्यक्ति का अपना कोई आधार नहीं होता है। ऐसा अन्धानुकरण करने वाला व्यक्ति यदि सद्गुरु के पास जाए तो तर भी सकता है और यदि कुगुरु का सान्निध्य किया, तब डूब भी सकता है। ऐसे कई लोग होंगे जो आपका भी अन्धानुकरण करेंगे।

दोनों ही मार्ग सम्यक् नहीं हैं और दोनों भी जरूरी हैं। भरोसा भी और अनुभव भी। अनुभव भरोसे को पक्का करता है और भरोसा अनुभव करने के लिए तैयार करता है। इस काल में हमें दोनों को ही साथ में लेना होगा। जैसे आपके बताए हुए मार्ग पर कोई तभी चलेगा, जब पहले उसे आप पर थोड़ा भरोसा होगा। वह भरोसा अनुभव के लिए व्यक्ति को तैयार करता है। आगे तो उसको अपना अनुभव ही उसे अपने आप आगे ले जाएगा। अतः इस काल में हमें ऐसा ही समझना होगा। केवल यही कहने से बात नहीं बनेगी कि किसी साधु ने कहा है, इसलिए तुम मान लो। ऐसा सिखाने पर और करने पर लोगों की यह वृत्ति बन जाती है कि साधुजी जो भी फरमाते हैं वैसा कर लो, तब फिर आज वे आपकी बात को मानकर चलेंगे, कल फिर कोई और आएगा और उसकी बात मानकर चलेंगे। परसों कोई और आएगा और उसकी बात को मानकर चलेंगे। इस प्रकार पहुँचना तो कहीं नहीं होगा। बस थोड़े दिन जब तक साधुजी रहेंगे, तब तक चलेंगे। फिर भूल जाएंगे। इसलिए यह बताना जरूरी है कि हम जो बता रहे हैं, वह हमें ठीक लग रहा है। लेकिन तुम्हारे लिए वह सत्य तभी बनेगा, जब तुम भरोसा रखते हुए अनुभव करोगे और फिर अपने अनुभव से जानोगे कि यह ठीक है या नहीं, आपको यही वातावरण बनाना है।

1. **अनेकान्तवाद की दृष्टि** : हमें किसी से कोई विरोध नहीं है, सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक हैं। हमारा कोई विरोध कर भी रहा है तो हो सकता है उन्हें हमारी दृष्टि समझ में न आयी हो, और यदि समझ में आयी हो, तब भी जरूरी नहीं है कि वे हम से सहमत हों। अतः हो सकता है कि वे हमसे विरुद्ध हों। पर हमें किसी से विरोध नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ, वह सत्य है। मैं जो कह रहा हूँ, उससे विपरीत भी सत्य हो सकता है।

2. **अनुभव की दृष्टि** : भरोसा रखते हुए पहले स्वयं अनुभव करके देखना। फिर आगे ठीक लगे तो स्वीकार करना। कोई भी व्यक्ति भटक नहीं सकता। अगर इन दोनों बातों को कोई भी साधक साथ में रखे।

एकायनो मग्गो : मार्ग तो एक ही है, किसी भी मार्ग से जाओ। अन्ततः प्रत्येक मार्ग की गुणवत्ता एक ही है।

समता का मार्ग : वीतरागता का मार्ग : चाहे कोई प्रकट रूप से जिनेश्वर भगवान को माने या न माने, परन्तु यदि समता में उसकी आस्था है, वीतरागता की जीवन में आराधना करता है तो वह भगवान के मार्ग पर है।

जैन : जिसको जिन में, राग-द्वेष को जीतने में, समता में विश्वास हैं, वह जैन है। यदि तुम भले ही जन्म से जैन हो परन्तु तुम्हारा विश्वास क्रोध में है, भोग में है, तब फिर आप जैन कैसे हैं? रोज कार्य वैसे ही करते हो जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ बढ़ता है, तब फिर जैन कैसे? मार्ग तो केवल एक ही है। वह है वीतरागता का मार्ग। विश्व में जितनी भी साधना-पद्धतियाँ हैं, वे सभी-की-सभी समता की बात करती हैं। इस प्रकार देखा जाए तो जो भी मार्ग हमें समता की ओर ले जाता है, वह जिनेश्वर भगवान का मार्ग है। लेकिन फिर भी जिन-शासन की, जिनेश्वर भगवान के मार्ग की विशेषता क्या है? यह महाविधि है, यह राजमार्ग है। अल्प समय में सहजता और सरलतापूर्वक पहुँचाने वाला मार्ग है। दूसरी विशेषता यह है कि यह अनेकान्त का मार्ग है, सभी को अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है। सत्य का प्रतिपादन तो करो, किन्तु असत्य का निषेध किसी का विरोध मत करो। जब भी आप कोई सत्य बात कहेंगे, तब वे अपने आप करेंगे और सत्य को पहचान लेंगे। इसमें भी भव्य जीव जल्दी पहचान लेता है।

आचरणयोग्य महत्त्वपूर्ण बातें :

किसी भी क्रोधी व्यक्ति को क्षमा से जीत सकते हो। अगर क्रोध से जीतोगे तो तुम हार जाओगे। अहंकारी व्यक्ति को विनम्रता से जीत सकते हैं, वैसे ही मायावी व्यक्ति को सरलता से जीत सकते हैं। लोभी को वीतरागता एवं धैर्य से जीत सकते हैं। यह प्रतिदिन अपने आप में अवलोकन करना कि मैंने कहाँ-कहाँ क्रोध के सामने क्रोध किया, कहाँ-कहाँ मान के समाने मान—इसका दिन में एक बार अवश्य ध्यान करना। मान को मान से जीतने से विरोध और बढ़ता है।

चार प्रकार के लोग : जो जाति व्यवस्था है, वह व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार है, व्यक्ति के स्वभाव को समझ गये तो उसे समझना बहुत सरल हो जाता है।

ब्राह्मण—ज्ञान की भाषा से समझते हैं।

क्षत्रिय—प्रेम की भाषा से समझते हैं।

वैश्य—बुद्धि प्रधान होते हैं। वे बुद्धि से समझते हैं।

शूद्र—दण्ड से समझते हैं।

ये चार प्रकार के लोग दुनिया में होते हैं। अनुशासन करते समय या उन्हें जीतते समय उपर्युक्त बातों का ध्यान रखा जाए तो व्यक्ति को सहज में ही जीता जा सकता है। अनुशासन में कषाय नहीं है, कठोरता एवं दृढ़ता है।

गणनायक के कर्तव्य : महत्त्वपूर्ण है त्याग और बलिदान। खाना और झपटना तो सभी जानते हैं, इसमें कोई बहादुरी नहीं है। मूल्य त्याग का है। व्यक्ति में जितना ही निस्स्वार्थ प्रेम का विकास होता है, व्यक्ति उतना ही उच्चता को प्राप्त होता है।

घर में सर्वप्रथम स्थान माँ का है, उसके बाद पिता का, क्योंकि माँ सबका खयाल रखती है। सबको खाना खिलाकर बाद में खाती है। सबकी रुचि को ध्यान में रखती है। अपनी रुचि और अपने विचार उसके लिए गौण रहते हैं। इसी प्रकार गणनायक को होना चाहिए स्वयं के स्वार्थ का पूर्णतः त्याग करने वाला।

आहार सम्बन्धी कर्तव्य : गणनायक को देखना चाहिए कि सभी मुनिजनों को यथायोग्य गवेषणीय आहार मिला या नहीं, तत्पश्चात् स्वयं आहार करें। प्रथा यह है कि बड़े साधु को प्रथम आहार दिया जाता है, यह लघु जनों की विनय है। लेकिन

गुरुजनों का, गणनायक का कर्तव्य यह है कि पहले सभी को देखकर तत्पश्चात् ग्रहण करें। उसी प्रकार वस्त्र एवं अन्य गवेषणीय वस्तु संबन्धी विचार हैं। पहले जिसको आवश्यक है उन्हें देखें, तत्पश्चात् स्वयं का विचार करें। इस प्रकार गणनायक वह है, जो सबका खयाल रखता है और सबका खयाल रखने में समर्थ है। गणनायक का यह सामर्थ्य और यह प्रेमपूर्ण त्याग ही गण के विकास का प्रथम सोपान है।

गण में कलह का निवारण : गण में किसी प्रकार का असामंजस्य, विसंगति या कलह हो जाए तब—1. कभी भी किन्हीं भी श्रावकजनों को बीच में न लाएं, क्योंकि जो स्वयं अविरति हैं, वह विरति के मन की गति और समस्या कैसे समझ सकेगा? लेकिन इस प्रकार की मूढ़ता अनेक जन करते हैं, जिससे समस्या में वृद्धि होती है एवं शासन की भी अवहेलना होती है। श्रमण की समस्या श्रमण तक ही रहनी चाहिए, क्योंकि मूलतः श्रमण की समस्या का जन्म उसके आचार शैथिल्य, समझ में न्यूनता एवं अज्ञानवश होता है। कर्मों का प्रबल उदय भी कार्य करता है और इसका निवारण श्रमणचर्या एवं श्रमणसाधना से ही हो सकता है।

जब गणनायक समस्या के समाधान में अड़चन महसूस करें, तब किसी ऐसे सुसाधु को, किसी ऐसे स्थविर को देखें जो समाधान दे सकें, अगर उन तक प्रत्यक्ष रूप से पहुँचना संभव न हो तो किसी अन्य माध्यम से समाचार दें, यदि बहुत ही आवश्यक लगे और समस्या अति गम्भीर हो तब अन्तिम समाधान स्वरूप किसी अति गम्भीर व्रतधारी, निष्ठा-युक्त धर्म-ध्यान में स्थिर श्रावक के द्वारा स्थविर तक समाचार दे सकते हैं।

कोई श्रावकगण के किसी साधु के सम्बन्ध में कुछ पूछे तो भी कुछ नहीं कहना, क्योंकि श्रावक में वह समझ होनी संभव नहीं है। श्रावक पर विश्वास करें परन्तु पूर्ण विश्वास नहीं। इससे शासन पर, गण पर या किसी साधु पर आपत्ति आ सकती है। क्योंकि वे रहते हैं कषायों के मध्य और कषाय-वश मन का विचलित होना स्वाभाविक है।

गण-नायक अपने लिए ही नहीं, गण के सभी सदस्यों के लिए जिम्मेदार हैं, जिस प्रकार आचार्य संघ के लिए जिम्मेदार होता है। आचार्य जितना बड़ा हो, उतना ही त्याग, बलिदान और निस्स्वार्थता।

उच्चता और बड़प्पन का आधार

व्यक्ति जितना दूसरों की संभाल रख सकता है या दूसरों का खयाल रख सकता है, उतना ही उसके बड़प्पन का विकास होता है। संभाल कब रख सकता है, जब वह प्रभुता से, सामर्थ्य से युक्त हो।

सामर्थ्य : ज्ञान से, दर्शन से, चारित्र्य से और तप से आत्म-शक्ति आती है। आचार्य को भी यही करना चाहिए। संघ की बात संघ में ही रखनी चाहिए। श्रावकों को बताना उचित नहीं। आजकल जो हो रहा है, वह ठीक नहीं है। संघ का संचालन आचार्य को साधुओं के माध्यम से करना चाहिए। आचार्य केवल पद बनकर न रह जाए, अपितु उस पद का प्रयोग साधु के साथ सम्बन्ध रखने में होना चाहिए। इतनी विशाल दृष्टि हो कि मैं सबके लिए जिम्मेदार हूँ, सबका विकास मेरा विकास है।

जब कोई साध्वाचार से पूर्णतः विचलित हो जाए, तब भी श्रावकों को कुछ भी नहीं कहना। उन्हें पूछने की कुछ आवश्यकता नहीं है कि अब हम क्या करें। जैसा कि वर्तमान में हो रहा है। पहले श्रावकों को बुलाते हैं, फिर निर्णय करते हैं। ऐसा करना उचित नहीं है। साधु धर्म से जो विचलित हुआ है, उसके स्थिरीकरण के लिए गणनायक को प्रयत्न करने स्वयं या स्थविर के द्वारा जैसे पहले बताया गया। फिर भी स्थिरीकरण न हो तो उसे श्रावक-धर्म समझाना, आगे उसके परिणाम (निकालना) लेकिन निर्णय स्वयं गणनायक को ही करना चाहिए।

श्रावकों के साथ सम्बन्ध :

धर्म कथा एवं शुद्ध आहार, वस्त्र इत्यादि दान से श्रावकों के साथ साधु का सम्बन्ध रहता है। जहाँ पर भी धर्मोपदेश देकर धर्म जागरण हो सके एवं जहाँ पर भी गवेषणा करके संयम अनुष्ठान हेतु शुद्ध भिक्षा मिल सके, उतना ही हमारा श्रावकों के साथ सम्बन्ध है। इससे अधिक सम्बन्ध रखने से जैसा संग वैसा रंग चढ़ता है।

धर्मकथा एवं प्रवचन का रूप : प्रशिक्षण

धर्मकथा स्वाध्याय का पंचम अंग है। धर्मकथा को केवल एक साधारण प्रवचन का रूप न देकर, प्रशिक्षण शिविर का रूप दे सकते हैं। जो भी विषय आप लेना

चाहते हैं, उस विषय का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है। दैनिक जीवन में उसका क्या उपयोग है, उसका व्यावहारिक स्वरूप क्या है? यह सब कुछ स्वयं के अभ्यास के द्वारा जानकर तैयार करना।

प्रथम उसको अपने जीवन में उतारकर देखना। अनुभव करना, उसके बाद उस अनुभव को खयाल में रखते हुए, लोगों को विविध दृष्टान्त एवं अनुभवों के सरल एवं स्पष्ट विवरण द्वारा समझाना। यदि एक घण्टे का प्रवचन हो तो पहले आधा या पौना घण्टा समझाना और शेषकाल में उसके व्यावहारिक स्वरूप को उन्हें करवाना, जिससे लोगों को यह समझ में आ जाए कि उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों स्वरूप क्या हैं और उन्हें हम अपने जीवन में किस प्रकार उतार सकते हैं, यह भी उन्हें बोध हो जाएगा। तत्पश्चात् इस बात को उन्हें घर पर करके देखने के लिए कहना और यह भी बताना कि सुनने व समझने का फायदा तभी है, जब आप अपने जीवन में साधना और प्रयोग करेंगे; अन्यथा केवल शब्द एवं बुद्धि विलास है।

सुनने के सम्बन्ध में श्रोताओं को जागरूक और जिम्मेदार बनाना। आज आपने क्या सुना और आपको क्या समझ में आया, इन प्रयोगों को जीवन में करने से, इस साधना के माध्यम से, आपको अपने जीवन में क्या अनुभव हुए इत्यादि कुछ बातें, घर से लिखकर लाने के लिए कहना। यह सब करेंगे, तब वास्तव में कुछ समझ में आएगा और जीवन की दिशा में परिवर्तन होगा; अन्यथा केवल ऐसे ही सुनते रहना व्यर्थ है।

इस धर्मकथा के लिए कोई भी विषय ले सकते हैं। जैसे ध्यान, स्वाध्याय, ऊँकार का स्वरूप जैन तत्त्व प्रकाश में दिये हुए विविध विषय, चार भावनाएं इत्यादि। इन प्रवचनों में नये लोग भी आकर बैठ सकते हैं। यह सभी के लिए खुला है। लेकिन जो निरन्तर आते हैं, उन्हें अहसास दिलाना जरूरी है कि जो सुना, उसका अभ्यास करना आवश्यक है। एक प्रयोग के रूप में। विषय को यथातथ्य समझने के लिए यदि उनको अच्छा लगे तो आगे कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

यही प्रवचन और भाषण में अन्तर है। भाषण केवल सुनने के लिए होते हैं और प्रवचन जीवन के प्रशिक्षण और परिवर्तन के लिए हैं। अतः प्रवचन में वक्ता और श्रोता दोनों का साथ में मिलकर चलना, सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का स्पष्टीकरण

और प्रशिक्षण आवश्यक है। किसी भी विषय को लें, जहाँ तक हो सके इसकी निरन्तरता बनाए रखते हुए, इसे पूरा करें। किसी विशेष कारण के अतिरिक्त किसी अमुक विषय को बीच में ही अधूरा छोड़ कर दूसरा विषय चालू न करें। यह भी स्वाध्याय का एक महत्त्वपूर्ण नियम है।

जिस विषय पर आपने प्रवचन सुनाया है और प्रयोग करवाया है, अगर आप चाहें तो कुछ लिखित सामग्री भी उन्हें दे सकते हैं, जो व्यक्ति भविष्य में उस साधना को जीवन में गतिमान रखना चाहते हैं।

तप और अणुव्रत : तप और अणुव्रत का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसे संवर और निर्जरा का। अणुव्रत सहित तप करने पर 'अनशन करने पर' संवर और निर्जरा का लाभ होता है। बिना व्रत लिए तप करते हैं तो शुभ भावों के परिणाम से निर्जरा भी होती है परन्तु अधिकांशतः पुण्य बन्धन होता है। संवर निर्जरा का पूर्ण लाभ नहीं मिलता है और इससे भी आगे यह अनुभव की बात है। एक बिना व्रत के तप करके देखना और एक व्रत सहित तप करके देखें, व्यक्ति को स्वयं ही अन्तर का अनुभव होगा। बिना व्रत लिए तप करने पर मन के भाव क्या होते हैं और व्रत सहित तप करने पर मन के भाव क्या होते हैं, इसका निरीक्षण करें।

तप और ध्यान : ध्यान और कायोत्सर्ग साधु एवं श्रावक की मूल साधना है। साथ में व्रत, अनशन इत्यादि बाह्य साधना के मुख्य अंग हैं। वस्तुतः मन को उपशांत करने के लिए ही अनशन किया जाता है। व्रत, अनशन इन सभी के साथ ध्यान का होना आवश्यक है। ध्यान और कायोत्सर्ग भी आभ्यन्तर साधना की परिवृद्धि के लिए बाह्य साधन हैं और उपयोगी हैं। लेकिन ये पूर्ण रूप से प्रभावित एवं विकसित तभी होते हैं, जब आभ्यन्तर साधना साथ में हो, क्योंकि ये आभ्यन्तर साधना के लिए ही हैं। प्रार्थना-स्तुति ये स्वाध्याय के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।

लोच का महत्त्व

प्रश्न—लोच चारित्र के अन्तर्गत है या तप के अन्तर्गत और यह क्यों आवश्यक है?

उत्तर—लोच एक रूप से चारित्र भी है और एक अन्य प्रकार से तप भी है। जैसे संवत्सरी के दिन सभी साधुजनों को उपवास करना आवश्यक कहा गया, उसी प्रकार

लोच है। जैसे उपवास तप का प्रथम प्रकार है, उसी प्रकार बाह्य तप का अन्तिम प्रकार कायक्लेश के अन्तर्गत आता है।

यदि किसी ने संवत्सरी को उपवास नहीं किया, तब उसे पंच महाव्रत को कोई दोष तो नहीं लगेगा, क्योंकि इस संदर्भ में भगवान ने कोई विशेष निर्देश भी नहीं दिया है। लेकिन पूर्वाचार्यों ने देखा कि सभी साधुजनों को कम-से-कम इतना तप तो करना ही चाहिए, इसलिए यह नियम बनाया। क्योंकि उन्होंने देखा कि पंचमकाल में प्रमाद बढ़ गया है और उसका प्रमाण आप आसपास देखते हैं कि जहाँ पर केवल एक बार भोजन का विधान था, वहाँ पर आज साधुजन बहुत अधिक समय आहार इत्यादि में व्यतीत करते हैं। यह देखकर सोचकर उन्हें लगा, कम-से-कम इतनी लगाम तो लगानी ही होगी। ऐसे तो न्यूनतम महीने में दो उपवास जरूरी हैं। इसी प्रकार यह लोच है। इसमें प्रथम बात तो यह है कि व्यक्ति स्वयं पर निर्भर रहे! दूसरी मूल बात यह कि काय-क्लेश तप का हिस्सा है। इससे शरीर में दृढ़ता आती है, सहनशीलता बढ़ती है, साधना में सहयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त काय-क्लेश तप के जो भी लाभ हैं, वे सभी लोच में मिलते हैं।

लोच का अभाव मूलव्रतों में तो कोई दोष नहीं लाता। लेकिन साधुजनों के लिए न्यूनतम आवश्यक तप होने की वजह से, लोच का अभाव नियम भंग गिना जाता है। भगवान के समय में भी सभी लोच करते थे और स्वयं ही करते थे, क्योंकि श्रमण को केश विभूषा नहीं करनी, स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिए। श्रमण के सिर पर इतने केश नहीं होने चाहिए कि विभूषा के योग्य हों। इसलिए कहा, साल में दो बार लोच। उत्सर्ग-मार्ग यही है। अपवाद मार्ग इसके अतिरिक्त कुछ भी हो सकता है। इसमें भी रोगी, तपस्वी, बाल और वृद्ध—इन चारों का आगार कहा गया है।

जिनशासन जड़ता का मार्ग नहीं है। मूल बात क्या है? किसी भी प्रकार के तप के सम्बन्ध में। क्षमता होते हुए चोरी नहीं करना। नहीं तो साधक का प्रमाद बढ़ेगा। ऐसे ही यदि अपवाद मार्ग पर चलने की छूट दे देंगे, तब प्रमाद अवश्य ही बढ़ जाएगा।

लोच का सम्बन्ध तप से अधिक है, चारित्र से कम। निश्चय में विशेष रूप से यह तप ही है, लेकिन सभी साधुजनों के लिए यह न्यूनतम काय-क्लेश तप आवश्यक

बना दिया गया इसलिए अब यह व्यवहार से चारित्र्य का एक अंग बन गया है। ऐसे देखा जाए तो, तुम व्यवहार में इसकी कोई स्पष्ट कड़ी नहीं दिखा पाओगे। लेकिन आचार्यों ने इसे न्यूनतम तप को योग्य समझा।

जितने भी साधन और सुविधाएं बढ़ाएंगे, उतना ही प्रमाद बढ़ेगा। इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ के समय में साधु जन सभी रंग के कपड़े पहन सकते थे। लेकिन भगवान् महावीर ने अपने शासन में केवल श्वेत रंग का ही विधान रखा, क्योंकि उन्होंने देखा, पंचमकाल में मोह का प्रबल उदय है और कर्म बीज भारी है।

उन्होंने देखा कि आगे आने वाली मोह की आँधी में लोग भँति-भँति के वस्त्र पहनेंगे, अतः केवल सफेद वस्त्र की मर्यादा कर दी।

लोच से कायक्लेश तप के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। जैसे शरीर की जड़ता का दूर होना। शरीर पर नियंत्रण बढ़ना इत्यादि। ऐसे तो दीक्षा के समय लोच करनी चाहिए, लेकिन अब केवल प्रतीक मात्र के रूप से उस विधान का निर्वाह होता है। पंच मुष्टि का अर्थ—पाँच बार में ही वे सम्पूर्ण केशराशि को अलग कर देते हैं।

इस प्रकार के तप से कर्मनिर्जरा किस प्रकार होती है? कर्म-निर्जरा का मूल आधार भाव है। यदि कषाय की उपशान्ति के साथ में और कषाय की उपशान्ति के लिए जो भी तप किया जाता है, उससे संवर और निर्जरा का वेग बढ़ता है और आत्मा निर्मल होती है। यदि कषायवश, क्रोधवश, गुस्से में आकर अहंकारवश, मान-सम्मान को प्राप्त करने के लिए, दूसरे के समक्ष, दूसरे से अधिक, अपने आपको ऊँचा बताने के लिए, सिद्ध करने के लिए, अपने चारित्र्य के अन्य दोषों का गोपन करने के लिए, ताकि लोगों का ध्यान तप के लिए आकर्षित हो और स्वयं के दोष ढक जाएँ। इस प्रकार मायापूर्वक अथवा किसी ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति के लिए लौकिक-पारलौकिक, दैविक इत्यादि लोभवश जब-तप का अनुष्ठान किया जाता है; अनशन से लेकर काय-क्लेश तक सारे बाह्य तप, क्योंकि आभ्यन्तर तप कषायवश नहीं हो सकते, तब कर्मों की संवर निर्जरा होने की अपेक्षा पुण्यबन्ध होता है और वह भी पापानुबन्धी पुण्य। उससे भविष्य में पुण्य उपलब्ध होने वाले सारे भोग-उपभोग के साधन मिलते हैं। इसे ही अज्ञान तप या बाल तप कहते हैं। जैसे तापस—कमठ, गौशालक।

इस प्रकार कषाय की उपशांति के लिए और उपशांति के साथ जो तप-अनुष्ठान किया जाता है, वही संवर-निर्जरा का कारण है तथा वास्तविक तप है, और कषाय पूर्वक जो तप किया जाता है, वह बालतप अथवा अज्ञानतप है।

जैसे यदि कोई साधु कहता है कि मैं अन्य साधुओं से अधिक और शुद्ध क्रियानुष्ठान का पालन करता हूँ। अतः मैं दूसरों से महान हूँ। यह अहंकार का पोषण है। सभी जीव महान हैं।

जीवो मंगलम्

मुझे सभी जीवों की सेवा करने का अवसर मिला है। मैं एक सेवक हूँ। व्यर्थ की तुलना छोड़ दो। इसी तुलनात्मक दृष्टिकोण के कारण अनेकानेक सालों के बाह्य क्रियानुष्ठान के बाद भी साधक वहीं-का-वहीं है। मूल बात है, कषाय की उपशान्तता। इसीलिए तप और दान जितने गुप्त रहें, उतने ही फलदायी होते हैं।

लोच के सम्बन्ध में ये सारी बातें इसलिए हैं कि आपकी समझ बढ़े। यदि कोई समझना चाहे तो समझ सकता है; अन्यथा यह बात जन-साधारण की समझ में आने योग्य नहीं है। लोच का अपना महत्त्व है। इस सम्बन्ध में हम कोई छूट नहीं दे सकते। हमें यह भी देखना है कि इसका हम साधना के लिए कैसे उपयोग कर सकते हैं। फिर भी मूल बात भाव की है कि संवत्सरी के दिन रोटी खाने वाले भी केवल ज्ञान को उपलब्ध हो जाते हैं। वस्तुतः जिनशासन का मार्ग अनेकान्त का मार्ग है। यहाँ कोई पकड़ नहीं है। पकड़ करोगे तो अटक जाओगे। इसीलिए इसे समझने के लिए प्रज्ञा और सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। लेकिन आज अधिकांश लोग जड़ और वक्र-बुद्धि के हैं। अतः धर्म इतना सीधा, सरल, स्पष्ट, सुगम होते हुए भी लोग समझ नहीं पाते हैं। इस कारण आप स्वयं साधना करें। इसी साधना के माध्यम से अनेकानेक भव्य जीवों का उद्धार होने वाला है। अपनी स्वयं की साधना करते हुए आप जो भी जनकल्याण, समाज-विकास का कार्य कर सकते हैं, अवश्य करें। परन्तु अपनी साधना से हटकर नहीं। साधना को प्रमुखता दें।

वैर से वैर का उपशमन नहीं होता। क्षमा से ही वैर का उपशमन होता है। यह कितना सरल, सत्य है। धर्म और साधना के नाम पर क्या संघर्ष? पहले वैदिक मान्यता वालों ने श्रमण धर्म का विरोध किया, फिर श्रमणों ने वेद को मिथ्यात्व कहा,

ये दोनों ही अयथार्थ के द्रष्टा हैं। यथार्थ का द्रष्टा किसी का भी विरोध नहीं करता है। उसकी दृष्टि में जो आता है, वह तो उसका प्रतिपादन करता है और अन्य सभी के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव रखता है।

पूर्व में कथित सूत्र 103 के मूलार्थ को पुनः देखने के बाद कुछ बातें और समझनी हैं। उनमें पहली यह कि जो बन्धनों का प्रतिमोचन करता है, यानी उन बन्धनों को विशेष रूप से उधाड़ कर उन्हें पूर्णतः उधाड़ने में कुशल हो गया है, ऐसा वीर प्रशंसनीय है। ऐसा वीर कैसा होता है? उद्ध, अहं, तिरियं, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में स्थित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञाता, अर्थात् सर्वज्ञ।

सत्त्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपणं :

फिर वह छण अर्थात् 'छद्म' आवरण, दूसरा अर्थ है छण यानी हिंसा। हिंसा मूल में क्या है? राग और द्वेष, जो उससे लिप्त नहीं होता। इस प्रकार जो आवरण से, हिंसा अर्थात् राग-द्वेष से लिप्त नहीं होता।

प्रथम हम सूत्र को आत्मज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं और फिर केवल-ज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं।

यह सूत्र जब हम आत्म-ज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं, तब आत्म-ज्ञानी वह है, जिसे स्वरूप का बोध हो गया है। अतः छह दिशाओं में जो सम्यक् सत्य है, उसे वह जानता है। जैसा है, वैसा जानता है। उसे हम सम्यक् दृष्टि भी कह सकते हैं। जड़ को जड़ और चेतन को चेतन जानता है। उनके सही रूप, भाव और अर्थ में जानता है। इन अर्थों में 'सत्त्व परिन्नाचारी' और फिर जैसा है, वैसा जानेगा तो क्या परिणाम आएगा? राग-द्वेष नहीं।

छणपरिन्नाचारी : जो जैसा है, वैसा जान ले। फिर राग-द्वेष नहीं होगा, क्योंकि फिर मिथ्यात्व नहीं है। हिंसा का मूल है 'राग और द्वेष' और राग-द्वेष का जनक है, मिथ्यात्व। इस प्रकार कर्म आश्रय की जड़ हैं मिथ्यात्व और मोक्ष का मूल है संवर। जैसे वृक्ष की जड़ सूख जाए तो फिर क्या होगा?

वीर कौन है? जिसने स्वरूप का बोध कर लिया, सत्य को सत्य रूप में पहचान लिया, ऐसा व्यक्ति वीर है; क्योंकि इस जगत् में एक ही वीरता पूर्ण कार्य है और वह

है स्वरूप का बोध, बाकी सब सामान्य। ऐसा व्यक्ति, ऐसा वीर ही समर्थ है। अन्य लोगों को मुक्त करवाने के लिए।

केवलज्ञानी की दृष्टि में : सर्व दिशाओं के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ज्ञान से युक्त होने के कारण मिथ्यात्व से विमुक्त होने के कारण राग-द्वेष से मुक्त है, हिंसा से अलिप्त है।

‘से मेधावी अणुग्घायणखेयन्ने’ वह मेधावी मेधा से युक्त है। एक साधारण व्यक्ति है और दूसरा साधना के माध्यम से परिपक्व तीव्र एवं स्पष्ट बुद्धि। साधना के माध्यम से, एक को अनुभव से अपना ज्ञान प्राप्त होता है, और दूसरा गुरु की नेश्राय में श्रुत ज्ञान के अभ्यास करते हुए ज्ञानी बनता है। इन दोनों साधकों में ‘जो बुद्धि उत्पन्न होती है’ और बुद्धि में जो परिपक्वता, स्पष्टता, निर्मलता एवं तीव्रता आती है, उसे मेधा कहते हैं। जिसे अपनी दिशा, अपना मार्ग और गन्तव्य स्पष्ट हो गया है। शरीर और मन की उपशान्ति के कारण जिसे स्वरूप की प्रतीति हुई है और उस प्रतीति के आधार पर जिसको अपना गन्तव्य स्थान का पता लग गया है, जिसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो गयी हैं, बोध के कारण जबर्दस्ती नहीं। ऐसी अवस्था में जो बुद्धि विद्यमान है, उसे मेधा कहते हैं। इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए, बुद्धि जो उच्च स्तरीय स्वरूप लेती है, उसे प्रज्ञा कहते हैं।

प्रज्ञा : यह बुद्धि का उच्चतम रूप है। जब स्वरूप की स्पष्ट प्रतीति होती है, तब प्रज्ञा का जागरण होता है। अध्यात्म की शुरुआत का प्रारम्भ होता है मेधा से और उच्चतम प्रज्ञा। इसके बाद फिर अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान जो, इन्द्रियातीत हैं, बुद्धि से परे हैं। ऐसा मेधावी साधक अणुग्घायणखेयन्ने—कर्मों का अनुघात करने वाला है।

खेयन्ने : भीतर कुछ चुभन हुई, कहीं कोई चोट लगी। जो दुःख को जानता है कि दुःख क्या है? हम सभी दुःखी होते हैं और सुखी भी होते हैं। लेकिन यह नहीं जानते कि दुःख क्या है, और सुख क्या है। जिस दिन यह पता चल जाए कि दुःख क्या है और सुख क्या है, तब फिर उसका कारण और फिर निवारण दोनों का ही पता चल जाता है। हमने कभी भीतर जाकर देखा ही नहीं कि दुःख क्या है। हम कहते हैं कि मैं दुःखी हूँ और अनुभव करते हुए कि मैं दुःखी हूँ तो दुःख का कारण खोजने लगते हैं, तब हमें लगता है यह उस व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के कारण

-अथवा कर्म के कारण। जब दुःख क्या है, यह जान गये तब उस दुःख का वास्तविक कारण भी जान जाएंगे।

देखो कि दुःख क्या है। इसमें सोचना नहीं है, वरन् शान्त भाव से बैठ जाओ, और साक्षीभाव से देखो, जो विचार आ रहे हैं, जा रहे हैं। जो भी अनुभव में आ रहा है और उसके प्रति मन में प्रतिक्रियाएं उठ रही हैं, देखो कि आज मैं दुःखी हूँ। इस प्रकार से निष्पक्ष भाव से जो कुछ भी याद आ रहा है, भीतर गतिविधि चल रही है, बस उसे देखते रहो और उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया जागे तो उस प्रतिक्रिया को भी देखो। हर बार देखोगे तो हर बार नया-नया सत्य सामने आएगा। हर बार नया, नया अनुभव होगा।

इसी प्रकार सुखी हो गये, तब भी भीतर देखो कि यह क्या हो रहा है। क्या है सुख? इस प्रकार जो सुख और दुःख को देखना सीख गया, उनके कारण और निवारण से अवगत हो गया, तो उसे 'खेदज्ञ' कहते हैं।

मूलतः ज्ञाता-द्रष्टा भाव समान हैं, लेकिन प्रत्येक की अनुभूति अलग-अलग है।

तीव्र भूख लगे तब देखना कि भूख क्या है। कुछ क्षण देखो कि भीतर क्या हो रहा है। क्या है भावना, कैसे हैं परिणाम शरीर के स्तर पर क्या हो रहा है, मन क्या कह रहा है। शरीर और मन दोनों के स्तर पर क्या हो रहा है? कहने के लिए दो स्तर हैं। वस्तुतः समग्रता में चेतना में क्या हो रहा है? इसी को कहा है—'अप्पा अप्पणो अट्ठे' आत्मा के द्वारा आत्मा के अर्थ को अनुभव भी चेतना को हो रहा है। उस अनुभव को जानने और देखने वाला भी चैतन्य, देखने का अर्थ केवल साक्षी-भाव से। इस देखने में सब कुछ आ गया। केवल देखना है, करना कुछ भी नहीं।

बन्ध पमुक्ख मन्नेसी : बन्धन और मुक्ति का अन्वेषक

जो बन्धन और मुक्ति से अलग है, अर्थात् जो न बन्धन में है न मुक्ति में है। बन्धन और मुक्ति एक भेद है। ऐसे ही जैसे जन्म और मरण, रोगी और स्वस्थ, सुखी और दुःखी, ज्ञानी और अज्ञानी, वैसे ही बन्धन और मुक्ति का भेद है। अभेद जो इन दोनों से परे हो गया, वहाँ मैं हूँ। जो इन दोनों से परे हो गया और जिसने यह जान लिया कि मैं मुक्त हूँ। मैं मुक्त हो गया हूँ ऐसा नहीं, अपितु मैं मुक्त हूँ और मुक्त

रहूँगा और मैं मुक्त था। इस स्वरूप का बोध अन्तर-अन्वेषण में यह देखने पर कि बन्धन क्या है, समझ में आता है। बन्धन एक भ्रम है। किसने किसको बाँध रखा है? स्व ने ही स्व को बाँधा है। मूल में बन्धन अज्ञान है। भ्रम है, मिथ्यात्व है, मूर्च्छा है। वास्तव में बन्धन है ही नहीं। केवल मूर्च्छा-वश दिखाई पड़ता है कि मैं बँधा हूँ। वास्तव में अज्ञान ही है। लेकिन कर्मों के वश, संस्कारों के वश लगता है कि मैं अज्ञानी हूँ। जो कर्म संस्कारों के वश लगता है कि मैं बन्धन में हूँ तो इच्छा होती है मुक्त हो जाऊँ। यह अनुभव प्रत्येक जीव का है। लेकिन प्रत्येक जीव के बन्धन का स्वरूप अलग है। किसी को यह लग रहा है कि मैं परिवार के बन्धन में हूँ। मेरा परिवार मेरा बन्धन है। किसी को लगता है कि मैं शरीर की अस्वस्थता के बन्धन में हूँ। यह बीमारी मेरा बन्धन है। किसी को लगता है कि मैं विचारों के बन्धन में हूँ, ये विचार मेरे बन्धन हैं। जैसा-जैसा उसे बन्धन का अनुभव होगा, जिस स्वरूप और जिस अर्थों में उसे बन्धन का अनुभव होगा, वैसे स्वरूप और वैसे अर्थों में मुक्ति का उपाय भी ढूँढ़ेगा।

मुक्ति का स्वरूप : बन्धन का प्रतिरूप

जैसे किसी को लगता है, मेरी गरीबी मेरा बन्धन है, मैं स्वामी के बन्धन में हूँ। तब वह उपाय खोजेगा कि मैं कैसे धनवान बन जाऊँ। उसके लिए गरीबी बन्धन है तो धनवान होना मुक्ति है। दासत्व बन्धन है तो दासत्व से मुक्त होकर स्वामी हो जाना मुक्ति है। नियम और उप-नियम बन्धन हैं। कायदे और कानून बन्धन हैं, परिवार बन्धन है। तो वह कायदे-कानून और परिवार से दूर भागने का प्रयत्न करेगा। साधारण समझ यह है कि संसार एक बन्धन है। लेकिन वस्तुतः बन्धन का बन्धन के रूप में प्रतीत होना ही संसार है। कहते हैं परिवार एक बन्धन है। अंतः परिवार का मोह छोड़ो, लेकिन जहाँ जाओगे, वहाँ एक परिवार। फिर वहाँ-वहाँ भी बन्धन लगेगा। वस्तुतः जो परिवार को बन्धन रूप मानते हैं, वे जहाँ भी जाएँगे इस खोज में रहेंगे कि परिवार से मैं मुक्त कैसे हो जाऊँ। बन्धन न परिवार में है, न धन में है, न गरीबी में है, न शरीर में है और न विचारों में ही है। फिर बन्धन है क्या, यह देखना आवश्यक है।

जब पुनः-पुनः अपना अन्वेषण करोगे समत्व और अप्रमत्तता में स्थिर होगे, तब

धीरे-धीरे यह समझ में आने लगेगा कि मैं स्वयं ही अपना बन्धन हूँ। जब तक मैं न बदलूँगा, तब तक कहीं भी जाऊँ, बन्धन में ही रहूँगा। चाहे परिवार में रहूँ या परिवार से दूर रहूँ। चाहे धन में रहूँ या धन से दूर रहूँ। केवल बाह्य परिस्थितियाँ बदलने मात्र से व्यक्ति बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

व्यक्ति का बन्धन है, उसका मिथ्यात्व, उसका भ्रम। अन्तर-अन्वेषण से जब यह भ्रम टूटता है तब उसे अनुभव होता है कि मैं मुक्त हूँ, तब फिर प्रतिपल मुक्ति है।



तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

प्रथम उद्देशक

प्रथम अध्ययन में आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध तथा पृथ्वी आदि छह कार्यों में जीव की सजीवता एवं उनकी हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्ययन में कषायों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है, परन्तु कषायों का उद्भव पदार्थों के निमित्त से होता है। अच्छे और बुरे पदार्थों को देखकर तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोग मिलने पर या परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भावना में, विचारों में उत्तेजना एवं अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति एवं संयोग में—भले ही वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, समभाव रखना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में साम्यभाव को बनाए रखने वाला व्यक्ति ही कषायों पर विजय पा सकता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के परीषहों के उपस्थित होने पर उनका संवेदन न करे।

प्रस्तुत अध्ययन का 'शीतोष्णीय' नाम है। 'शीतोष्णीय' शब्द का अर्थ है—ठण्डा और गरम, परन्तु इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए बताया है—परीषह (कष्ट सहन), प्रमाद, उपशम, विरति और सुख शीत हैं तथा परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दुःख उष्ण हैं। परीषहों की गणना शीत और उष्ण दोनों में करने का कारण यह है—स्त्री और सत्कार परीषह मन को लुभाने वाले होने से शीत हैं और शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। एक विचारणा यह भी है कि तीव्र परिणामी उष्ण और मन्द परिणामी शीत हैं।

व्यवहार में भी, जो व्यक्ति धर्म में एवं व्यवसाय के कार्य में प्रमादी—आलसी या सुस्त होता है, उसे ठण्डा और जो मेहनती—परिश्रमी होता है, उसे उष्ण—तेज या गरम कहते हैं। जब कोई व्यक्ति आवेश में होता है तो झट कह दिया जाता है कि यह क्रोध में जल रहा है। अतः जिस व्यक्ति के क्रोध आदि उपशांत हो गए हैं, उसे

शीतल या उपशांत कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो परीषह मन के अनुकूल हैं, उन्हें शीत कहा है और जो प्रतिकूल हैं, उन्हें उष्ण कहा गया है।

निर्युक्तिकार ने मोक्ष सुख को शीत एवं कषाय को उष्ण कहा है। क्योंकि मोक्ष में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है, एकान्त सुख है और कषाय में तपन है, दुःख है, द्वन्द्व है, इसलिए निर्वाण सुख शीत और कषाय उष्ण है। तात्पर्य यह है कि सुख शीत है और दुःख मात्र उष्ण है¹।

प्रस्तुत अध्ययन में इसी आभ्यन्तर और बाह्य शीतोष्ण का विवेचन किया गया है। क्योंकि श्रमण शीत-उष्ण या अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श, सुख-दुःख, कषाय, परीषह, वेद, कामवासना और शोक आदि के उपस्थित होने पर उन्हें सहन करता है और समभाव पूर्वक तप-संयम की साधना में संलग्न रहता है। वह अपनी साधना में सदा सजग रहता है। यही प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है कि श्रमण वह है—जो अपने जीवन में सदा—सर्वदा विवेकपूर्वक गति करता है, वह सदा जागृत रहता है। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—सुप्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति॥106॥

छाया—सुप्ता अमुनयः सदा मुनयः जाग्रति।

पदार्थ—अमुणी—मिथ्यादृष्टि। सुप्ता—भाव निद्रा में सोए पड़े हैं, किन्तु मुणिणो—प्रबुद्ध पुरुष। सया—सदा। जागरंति—जागते हैं।

मूलार्थ—अज्ञानी लोग सदा सोए रहते हैं और मुनि—ज्ञानी जन सदा जागते हैं।

हिन्दी-विवेचन

जागरण और सुषुप्ति जीवन की दो अवस्थाएं हैं। मनुष्य दिन भर की शारीरिक, मानसिक एवं मस्तिष्क की थकान को दूर करने के लिए कुछ देर के लिए सोता है और फिर जागृत होकर अपने काम में लग जाता है। इस प्रकार सांसारिक प्राणी

1. निब्बणसुहं सायं सीईभूयं पयं अणावाहं। इहमवि जं किंचि सुहं तं सीयं दुक्खमवि उण्हं॥
उज्झइ तिव्वकसाओ सोगऽभिभूओ उइन्नवेओ य। उण्हयरो होइ तवो कसायमाईवि जं
उहइ॥
आचाराङ्ग—निर्युक्ति 207, 208

जागते और सोते रहते हैं। परन्तु यहां जागरण और सुषुप्ति का साधारण अर्थ में नहीं, अपितु आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है और इसके द्वारा मुनित्व एवं अमुनित्व का लक्षण बताया गया है। जो सुषुप्त हैं, वे अमुनि हैं, बोध से रहित हैं और जो सदा जागते रहते हैं, वे मुनि हैं, प्रबुद्ध पुरुष हैं।

सुषुप्ति और जागरण के दो भेद हैं—1. द्रव्य और 2. भाव। निद्रा लेना एवं समय पर जागृत होना द्रव्य सुषुप्ति या जागरण है और विषय, कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि में आसक्त एवं संलग्न रहना भाव सुषुप्ति—निद्रा है और त्याग, तप एवं संयम में विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असंयम, अव्रत एवं मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और संयम, व्रत एवं सम्यग्ज्ञान में अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिबन्धक है। क्योंकि भाव निद्रा में उसका विवेक सोया रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नहीं देख पाता और अनेक पापों का संग्रह कर लेता है। आगम में अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के बन्ध का कारण माना है। यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में क्रिया लगती है। परन्तु जहां विवेक चक्षु खुले हैं, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, तो वहां पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा और जहां विवेक चक्षु बन्द हैं, वहां पाप कर्म का बन्ध होता है। इससे यह साफ हो गया कि पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नहीं पहुंचाती, जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। यही कारण है कि भाव निद्रा में निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुषुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवों को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है। साधु को द्रव्य निद्रा के समय भी जागता हुआ माना है। इसका कारण यह है कि उसकी प्रत्येक क्रिया संयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक के चक्षु खुले होते हैं। संयम में तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। उसका शयन सोने के लिए जागने के लिए है, सुषुप्ति से मुक्त होने के लिए। आगम में जहां साधु समाचारी—दिन-रात की चर्या का उल्लेख किया गया है, वहां बताया है कि साधु तीसरे पहर निद्रा से मुक्त होवे।¹

साधु का जीवन संयममय है। उसका प्रत्येक समय संयम में बीतता है। वह दिन में या रात में, अकेले में या व्यक्तियों के समूह में, सुषुप्त अवस्था में या जाग्रत अवस्था में किसी भी तरह का पाप कर्म नहीं करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता एवं न झूठ, स्तेय आदि दोषों का सेवन ही करता है,¹ इसलिए साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है। जयन्ती श्राविका के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियों को सदा सुषुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को सदा जागरणशील कहा है और जो मनुष्य सदा पाप एवं अधर्म में संलग्न रहते हैं, उन्हें आलसी कहा है और जो सदा धर्म में, सत्कार्य में एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते हैं, उन्हें दक्ष, प्रवीण, चतुर कहा है²।

भगवद्गीता में भी इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है कि जिसे सब लोग रात्रि समझते हैं उसमें संयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं तो ज्ञानवान उसे रात्रि समझता है³। तात्पर्य यह है कि विषय-भोगों की आसक्ति भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण है। अतः भोगी व्यक्ति भोगों में आसक्त होने से सदा सोए रहते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते हैं, इसलिए वे सदा जागते रहते हैं। हम यों भी कह सकते हैं कि अज्ञान निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एवं मोह के कारण ही मनुष्य भोगों में फंस्ता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। और ये दुःख अहितकर हैं। इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता,
इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सदा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य
अभिसमन्नागया भवन्ति॥107॥**

1. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4।

2. भगवती सूत्र, शतक 12, उद्देशक 2

3. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

छाया—लोके जानीहि अहिताय दुःखं, समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः, यस्य इमे शब्दाश्च, रूपाश्च, रसाश्च, गन्धाश्च, स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति ।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य! तू यह समझ कि । लोर्यसि—लोक में । दुक्खं—दुःख । अहियाय—अहितकर है । लोगस्स समयं—लोक के संयमानुष्ठान को । जाणित्ता—जानकर । जस्सिमे—जिस मुनि को, ये । सद्दा—शब्द । य—और । रूवा—रूप । य—और । रसा—रस । य—और । गंधा—गंध । य—और । फासा—स्पर्श । य—समुच्चय अर्थ में । अभिसमन्नागया—अभिसमन्वागत । भवन्ति—होते हैं, वह । इत्थ—इस लोक में । सत्थोवरए—शस्त्र से उपरत होता है ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू यह जान कि लोक में दुःख अहितकर है । इसलिए लोक में संयमानुष्ठान एवं समभाव को जान कर शस्त्र का त्याग कर दे । जिस मुनि के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अभिसमन्वागत होते हैं, वास्तव में वही शस्त्रों से उपरत होता है या वही मुनि है ।

हिन्दी-विवेचन

अज्ञान एवं मोह आदि से पाप कर्म का बन्ध होता है और अशुभ कर्म का फल दुःख रूप में प्राप्त होता है । इस प्रकार सूत्रकार ने अज्ञान को दुःख का कारण बताया है और ज्ञान को दुःख से मुक्त होने का कारण कहा है । इसलिए प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक को संयम एवं आचार के स्वरूप को जानकर उसका परिपालन करना चाहिए और शब्दादि विषयों राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति से निवृत्त होकर छह काय की हिंसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिए, वास्तव में विषय में राग-द्वेष एवं हिंसा जन्य शस्त्रों का परित्याग ही मुनित्व है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समयं' शब्द के दो अर्थ होते हैं—“समयः-आचारोऽनुष्ठानं तथा २ समता—समशत्रु-मित्रतां समात्परतां वा’ अर्थात् 'समय' शब्द आचार का भी परिबोधक है और इसका अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखना ।

‘लोर्यसि अहियाय दुक्खं’ वाक्य का तात्पर्य यह है कि अज्ञान और मोह दुःख

का कारण है। मोह और अज्ञान के कारण ही जीव नरकादि योनियों में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए नरकादि में प्राप्त होने वाले दुःखों को अहितप्रद कहा है। अतः इन दुःखों से छूटने का उपाय है—अज्ञान एवं मोह का त्याग करना।

‘अभिसमन्नागया’ का अर्थ है—जिस आत्मा ने शब्दादि विषयों के स्वरूप को जान लिया है और उनमें उसकी राग-द्वेष मय प्रवृत्ति नहीं है, वही मुनि है और उसी ने लोक के स्वरूप को जाना है¹।

जो प्रबुद्ध पुरुष शब्दादि विषयों के परिणाम को जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, उन्हें किस गुण की प्राप्ति होती है। इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ
लोकं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ॥108॥

छाया—स आत्मवान् (आत्मवित्) ज्ञानवान् (ज्ञानवित्), वेदवान् (वेदवित्), धर्मवान् (धर्मवित्), ब्रह्मवान् (ब्रह्मवित्), प्रज्ञानैः परिजानाति लोकं मुनिः इति वाच्यः धर्मवित् ऋजु आवर्त स्रोतसि संगमभिजानाति।

पदार्थ—से—वह मुमुक्षु पुरुष। आयवं—आत्मवान्। नाणवं—ज्ञानवान्। वेयवं—वेदवित्—आगमों का परिज्ञाता। धम्मवं—धर्म स्वरूप का ज्ञाता। बंभवं—ब्रह्म को जानने वाला। पन्नाणेहिं—मति-श्रुत ज्ञान आदि से। लोकं—लोक के स्वरूप को। परियाणइ—जानता है। मुणीतिवच्चे—उसे मुनि कहते हैं, क्योंकि। धम्मविऊ—धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता। उज्जू—सरल आत्मा। आवट्ट सोए—संसार चक्र और विषयाभिलाषा के। संगं—सम्बन्ध को। अभिजाणइ—जानता है।

मूलार्थ—वह प्रबुद्ध पुरुष आत्मा स्वरूप को जानता है, ज्ञानयुक्त है, वेद-आगमों का ज्ञाता है, धर्म को जानने वाला है, ब्रह्म को जानने वाला है, मति-श्रुत आदि ज्ञानों से लोक के स्वरूप को जानता है, अतः उसे मुनि कहते हैं। क्योंकि वह धर्म

1. ‘अभिसमन्वागता’ इति; अभिः—आभिमुख्येन सम्यग्—इष्टानिष्टावधारणतयाऽ
अन्विति—शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोकं
जानातीति सम्बन्धः।
—आचारांग वृत्तिः

के स्वरूप का ज्ञाता सरल आत्मा संसार-चक्र एवं विषयाभिलाषा के सम्बन्ध को भली-भाँति जानता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के क्षेत्र में सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक साधक को अपनी आत्मा का, लोक-परलोक का बोध नहीं है, जीव-अजीव की पहचान नहीं है, तब तक वह संयम में प्रवृत्त नहीं हो सकता। संयम का अर्थ है—दोषों से निवृत्त होना। अतः दोषों से निवृत्त होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष क्या है? कौन-सी प्रवृत्ति दोषमय और कौन-सी निर्दोष प्रवृत्ति है? इसलिए आगम में स्पष्ट भाषा में कहा गया है कि साधक पहले ज्ञान प्राप्त करे, फिर क्रिया में प्रवृत्ति करे।¹

प्रस्तुत सूत्र में भी मुनि जीवन का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। इसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वह ज्ञानवान हो, आत्म स्वरूप का, वेदों का, धर्म का, ब्रह्म स्वरूप का एवं मति-श्रुत आदि ज्ञान से लोक के स्वरूप का ज्ञाता हो। जो साधक इनके स्वरूप को नहीं जानता है, वह संयम का भली-भाँति पालन नहीं कर सकता। अतः साधक के लिए सबसे पहले आत्मस्वरूप को जानना जरूरी है। जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को जान सकता है। फिर उसके लिए वेद-आगम, ब्रह्म एवं लोक के स्वरूप का परिज्ञान करना कठिन नहीं रह जाता है और आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर उसकी साधना में, उसके आचरण में सहज ही गति एवं तेजस्विता आ जाती है। वह अपने आपको दोषों से बचाता चलता है। क्योंकि वह इस बात को भली-भाँति जान चुका है कि इन दोषों में आसक्त होने के कारण ही आत्मा लोक में इधर-उधर भटकती फिरती है और विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करती है। इससे स्पष्ट हो गया कि दोषों से बचने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में आत्मज्ञान के बाद वेदवित् होने को कहा गया है। 'वेयव' 'वेदवित्' का अर्थ है जिस साधन के द्वारा जीवाजीव आदि के स्वरूप को जाना

जाता है, उसे वेद कहते हैं। वह आचारांग आदि आगम हैं। अतः उनके परिज्ञाता को वेदवित् कहते हैं¹।

इसके बाद धर्म के स्वरूप को जानने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आचारांग आदि आगम साहित्य के द्वारा ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है, इसलिए पहले श्रुत-साहित्य के अध्ययन का उल्लेख करके धर्म को जानने का विवेचन किया गया है।

आत्मस्वरूप, श्रुत एवं धर्म के स्वरूप को जानने के बाद ब्रह्म के स्वरूप का सुगमता से बोध हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म-परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। जब आत्मा अपने समस्त कर्म आवरणों को सर्वथा हटा देती है, तो वह परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेती है। इसी अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है² और ब्रह्म शब्द से 18 प्रकार के ब्रह्मचर्य को भी ग्रहण किया गया है³। पहले अर्थ में परमात्मस्वरूप को स्वीकार किया है और दूसरे अर्थ में ब्रह्मचर्य का बोध कराया है।

‘प्रज्ञान’ शब्द से मति-श्रुत आदि ज्ञान समझने चाहिए। क्योंकि मति-श्रुत आदि ज्ञान से ही लोक के स्वरूप का बोध होता है और इसी ज्ञान के द्वारा साधक संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा के संबन्ध को जान लेता है। ‘आवट्टसोए संगमभिजाणइ’ में ‘संग’ शब्द संबन्ध का परिचायक है। शास्त्रों में संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा का स्थायी संबन्ध माना गया है। जब तक विषयाभिलाषा है, तब तक संसार परिभ्रमण है। क्योंकि जहां राग-द्वेष की प्रवृत्ति है, वहीं जन्म-मरण की परम्परा का पोषण होता है, संसार का संवर्द्धन होता है। अतः संसार-परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए राग-द्वेष का संग छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके संयम मार्ग पर गतिशील साधक सुषुप्ति-भाव निद्रा का त्याग करके अपनी साधना में सदा सजग रहता है। क्योंकि जागरणशील साधक ही राग-द्वेष से बच सकता है। इसलिए सुषुप्त एवं जागरण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। अतः

1. वेद्यते जीवादि स्वरूपम् अनेनेति वेदः—आचाराद्यागमः तं वेत्तीति वेदवित्।

—आचारांग वृत्तिः

2. ब्रह्म-अशेषमलकलङ्कविकलं योगीशं वेत्तीति ब्रह्मवित्।

—आचारांग वृत्तिः

3. यदिवथा अष्टादशा ब्रमेति।

—आचारांग वृत्तिः

ऐसे ज्ञाता को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सीउसिणच्चाई से निगगंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खापमुक्खसि, जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ॥109॥

छाया—शीतोष्णत्यागी स निर्ग्रन्थः अरतिरतिसहः परुषतां नो वेत्ति जागर वैरोपरतः, वीरः एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि जरामृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति ।

पदार्थ—सीउसिणच्चाई—शीतोष्ण का त्यागी । से निगगंथे—वह निर्ग्रन्थ । अरइरइसहे—अरति और रति को सहता हुआ । फरुसयंनोवेएइ—परुषता—कठोरता का अनुभव नहीं करता । जागर—असंयम रूप भाव निद्रा से जागता है । वेरोवरए—वैर से उपरत हो गया है, उसे गुरु कहते हैं । एवं—इस प्रकार । वीरे—हे वीर ! दुक्खापमुक्खसि—तू दुःखों से मुक्त हो जाएगा और दूसरों को भी मुक्त करेगा, परन्तु जो उक्त गुणों से रहित है, वह । नरे—मनुष्य । जरामच्चुवसोवणीए—जरा और मृत्यु के वशीभूत हुआ । धम्मं नाभिजाणइ—धर्म के स्वरूप को नहीं जानता । क्योंकि मोह कर्म के उदय से वह । मूढे—मूढ़-भाव निद्रा में सुप्त है ।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ—मुनि असंयम—भावनिद्रा का त्यागी होने के कारण जागरणशील है और वैर-विरोध से निवृत्त हो चुका है । इस लिए वह शीतोष्ण का त्यागी, अरति और रति को सहता हुआ कठिन परीषहों के उपस्थित होने पर भी कठोरता का अनुभव नहीं करता । गुरु कहते हैं कि हे वीर ! इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा तू दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाएगा तथा दूसरों को भी मुक्त करने में समर्थ होगा ।

परन्तु जो जागरणशील नहीं है, वह जरा और मरण के वशीभूत होकर मोह से मूढ़ बना हुआ दुःखों के प्रवाह में बहता रहता है । वह धर्म के स्वरूप को भी नहीं जान पाता, इसलिए वह दुःखों से मुक्त भी नहीं हो सकता ।

हिन्दी-विवेचन

साधक का लक्ष्य है—मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना । इसी लक्ष्य को, साध्य को सिद्ध करने के लिए वह साधना करता है । जब साधक अपने साध्य में तन्मय होता है, तो उसे उस समय बाह्य संवेदन की अनुभूति नहीं होती । क्योंकि अनुकूल

एवं प्रतिकूल विषयों का अनुभव मन के द्वारा होता है। जब इन्द्रियों के साथ मन का संबन्ध जुड़ा होता है, तो हमें उसके द्वारा अच्छे-बुरे विषयों का अनुभव एवं उससे सुख-दुःख का संवेदन होता है। परन्तु जब मन का सम्बन्ध साध्य के साथ जुड़ा होता है, वह अपने लक्ष्य में तन्मय होता है, तो उस समय उसे इन्द्रियों के साथ विषयों का संबन्ध होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं होती, सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

कुछ वर्ष हुए प्रो. भंसाली¹ के जीवन की एक घटना समाचार पत्रों में छपी थी। गरमी का महीना था। वे नंगे सिर नंगे पैर सेवाग्राम से वर्धा को जा रहे थे। उधर से महादेव देसाई अपने दो-तीन साथियों के साथ वर्धा से सेवाग्राम आ रहे थे। पैरों में जूते पहने हुए, सिर पर छाता ताने हुए चले आ रहे थे। फिर भी गरमी के कारण परेशान हो रहे थे। मार्ग में भंसाली जी को नंगे सिर नंगे पांव मस्ती में झूमते हुए आते देखा, तो सब हैरान रह गए। निकट आते ही महादेव भाई ने पूछा—क्यों भंसाली जी, गरमी नहीं लगती? महादेव भाई का स्वर सुनते ही वे एकदम चौंक उठे और ऊपर को देखते हुए बोले—क्या गरमी पड़ रही है? और आगे बढ़ गए।¹

आगमों में भी वर्णन आता है कि साधु दिन के तीसरे पहर अथवा बारह बजे के बाद भिक्षा के लिए जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको गरमी नहीं लगती थी। उष्णता का स्पर्श तो होता था, परन्तु मन आत्म-साधना में संलग्न होने के कारण उस कष्ट की अनुभूति नहीं होती थी। कभी-कभी चिन्तन में इतनी तन्मयता हो जाती कि उन्हें पता ही नहीं लगता कि गरमी पड़ रही है या नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब साधक अपने लक्ष्य या साध्य को सिद्ध करने में तन्मय हो जाता है, तो उस समय वह अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषह को आसानी से सहन कर लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रखने वाला साधक शीतोष्ण परीषह को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है और वह वैर-विरोध से निवृत्त होकर संयम साधना में संलग्न हो जाता है और इस प्रक्रिया के द्वारा वह समस्त कर्म बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है और अन्य प्राणियों को मोक्ष का मार्ग बताने में समर्थ होता है।

1. प्रो. भंसाली गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के एक सैनिक थे और अभी कुछ मास पहले अणु परीक्षण बन्द करने के विरोध में आपने 61 दिन का अनशन किया था।

इसके विपरीत जिसका मन साधना में नहीं लगा है, जिसके समक्ष कोई लक्ष्य नहीं है; और जिसके मन में साध्य में तन्मयता एवं एकरूपता नहीं है, वह मोह के वश संसार में परिभ्रमण करता है। विषयों की आसक्ति एवं मोह के कारण वह धर्म के स्वरूप को नहीं समझ पाता; इसलिए वह बार-बार जन्म-मरण के प्रवाह में बहता हुआ विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सीउसिणच्चाई' पद का पांचों आचार के अनुसार भी अर्थ किया जाता है। वह इस प्रकार है—

1. ज्ञानाचार विषयक—आगम, ग्रंथ आदि को मन्दता से पढ़ना शीत कहा जाता है और अति शीघ्रता से पढ़ना उष्ण। ये दोनों दोष हैं, अतः अतिमन्द एवं शीघ्र गति का त्याग करके आगम आदि को स्वाभाविक गति से पढ़ना चाहिए।

2. दर्शनाचार विषयक—दर्शन को परीषह शीत कहा है और आक्रोश आदि को उष्ण अथवा सत्कार आदि परीषह को शीत और वध परीषह की उष्ण कहा है। इन सब परीषहों को शान्तभाव से सहन कर लेना चाहिए।

3. चारित्राचार विषयक—शीतोष्ण—अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों के द्वारा संयम से विचलित नहीं होना।

4. तपाचार विषयक—आगम में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ तप कहा है। अतः उसकी सुरक्षा के लिए शीतोष्ण स्पर्श वाली योनि (स्त्री) से सम्बन्ध न करे।

5. वीर्याचार विषयक—मन्दगति को शीत और अति शीघ्र गति को उष्ण कहा है। साधु को अति मन्द एवं शीघ्र गमनागमन का त्याग कर देना चाहिए। इस के अतिरिक्त पंडितवीर्य ज्ञानबल को शीत और बालवीर्य—अज्ञान को उष्ण कहा है। प्रथम का फल निर्वाण है और द्वितीय का संसार-परिभ्रमण। अतः बालवीर्य का परित्याग करके ज्ञान की साधना में संलग्न होना चाहिए।

'फरुसयं नो वेएइ' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी पुरुष कठोर परीषहों को दुःख रूप नहीं, अपितु अपना सहायक मानता है। यदि तप साधना से शरीर में कोई वेदना हो जाए तो वह उसका संवेदन नहीं करता, हाय-हाय नहीं करता। परन्तु शान्तभाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है।

'वेरोवरए' का अर्थ है—वैर से निवृत्त होना। वैर से निवृत्त व्यक्ति ही आत्मविकास

के मथ पर आगे बढ़ सकता है और निर्वैरता के कारण ही वह अपनी साधना में सदा सजग रहता है।

‘दुःखापमुक्खसि’ इस पद का तात्पर्य यह है कि वैर-विरोध से निवृत्त व्यक्ति ही समस्त दुःखों से मुक्त हो सकता है। इसके विपरीत वैर-विरोध में फंसा हुआ व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है।

प्राणी जरा और मृत्यु के प्रहारों से प्रताड़ित हो रहा है। इससे बचने के लिए मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं पास, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सदरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणापमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवजाय सत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ कम्मं च पडिलेहाए॥110॥

छाया—दृष्ट्वा आतुरप्राणान् (प्राणिनः) अप्रमत्तः परिव्रजेत् मत्वा च मतिमन्! पश्य? आरंभजंदुःखम्, इदमिति ज्ञात्वा मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम्, उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु ऋजुः, माराभिशंकी मरणात् प्रमुच्यते, अप्रमत्तः कामैरुपरतः पाप कर्मभ्यः वीरः आत्म गुप्तः खेदज्ञो यः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः स अशस्त्रस्य खेदज्ञः यः अशस्त्रस्य खेदज्ञः स पर्यवजात शस्त्रस्य खेदज्ञः अकर्मणः व्यवहारो-न विद्यते कर्मणोपाधिर्जायते कर्म च प्रत्युपेक्ष्य।

पदार्थ—आउर पाणे—दुःखी प्राणियों को। पासिय—देखकर। अप्पमत्तो—अप्रमत्त भाव से। परिव्वए—संयम मार्ग का अनुसरण करे। य—और। मइमं—हे मतिमान्। पास—भाव सुप्त को देख? मंता—गुण और दोष को मानकर तू मत शयन कर? आरंभजं—आरम्भ से उत्पन्न हुआ। इणं—यह। दुक्खं—दुःख। ति—इस प्रकार। णच्चा—जानकर। माई—छल करने वाला। पमाई—प्रमाद करने वाला। गब्भं—गर्भ में। एइ—आता है; किन्तु जो। सदरूवेसु—शब्द और रूपादि विषयों में।

उवेहमाणो—रागद्वेष न करता हुआ। उज्जू—ऋजुमति होता है। माराभिसंकी—मरण से उद्विग्नचित्त वाला। मरणापमुच्चइ—मरण से विमुक्त हो जाता है। कामेहिं—काम-भोगों से। अप्रमत्तो—अप्रमत्त है और। पावकम्मेहिं—पाप कर्मों से। उवरओ—उपरत है। वीरे—वह वीर। आयगुत्ते—आत्मगुप्त है। खेयन्ने—खेदज्ञ है। जे—जो। पज्जवज्जाय सत्थस्स—शब्दादिविषयों की प्राप्ति के लिए जो हिंसादि क्रियाएं की जाती हैं, जो उनका। खेयन्ने—खेदज्ञ है। से—वह। असत्थस्स—संयम का। खेयन्ने—खेदज्ञ है। जे—जो। असत्थस्स—समय का। खेयन्ने—खेदज्ञ—जानने वाला है। से—वह। पज्जवजायसंस्थस्स—पर्यवजात शस्त्र का। खेयन्ने—खेदज्ञ है और फिर। अकम्मस्स—कर्म रहित का संसार चक्र में। ववहारो—व्यवहार। न विज्जइ—नहीं है। उवाही—संसार भ्रमण रूप उपाधि। कम्मुणा—कर्म से। जायइ—उत्पन्न होती है अतः। च—फिर। कम्मं—कर्म को। पडिलेहाए—विचार कर—भावनिद्रा को छोड़ जाग्रत अवस्था में ही सदा रहना चाहिए।

मूलार्थ—दुःखित प्राणियों को देखकर सदा अप्रमत्त भाव से ही संयम मार्ग में विचरे, हे बुद्धिमान्! आरम्भ—हिंसा से यह दुःख उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार मानकर फिर छल-कपट करने वाला प्रमादी जीव गर्भ में पुनः-पुनः आता है। अपितु जो शब्दादि विषयों में राग और द्वेष न करता हुआ ऋजुमति और मरणजन्य दुःख से उद्विग्न चित्तवाला है, वह मरण के दुःख से छूट जाता है तथा जो काम-भोगों में अप्रमत्त—प्रमाद-रहित एवं पापकर्मों से उपरत—रहित है, वह वीर आत्मगुप्त और खेदज्ञ है, निपुण है, तथा जो हिंसादि क्रियाओं का खेदज्ञ—जानकार है, वह संयम का खेदज्ञ जानने वाला है और जो संयम का जानकार है, अर्थात् संयम के स्वरूप को जानता है, वह हिंसादि क्रियाओं के स्वरूप को जानता है। किन्तु कर्म रहित आत्मा का संसारचक्र में व्यवहार—परिभ्रमण नहीं होता, संसार-चक्र की उपाधि कर्मजन्य है, कर्म से उत्पन्न होती है, अतः कर्म के यथार्थ स्वरूप का पर्यालोचन करके मुमुक्षु पुरुष को संयम मार्ग में ही यतना पूर्वक विचरना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

संसार-परिभ्रमण का मूल कारण राग-द्वेष-जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायों के वश होकर आरम्भ—हिंसा करता है और परिणामस्वरूप अशुभ कर्मों का बन्ध करके नरक, तिर्यच आदि गतियों में अनेक प्रकार के दुःखों का संवेदन करता है। इस

प्रकार व्यक्ति शब्दादि विषयों में आसक्त होकर हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त होकर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह में बहता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा जन्य प्रवृत्ति में प्रवर्तमान व्यक्ति दुःखों के महागर्त में जा गिरता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त दुःखों का मूल स्रोत हिंसाजन्य प्रवृत्ति है। हम यों भी कह सकते हैं कि जो व्यक्ति संयम से विमुख है, शब्दादि विषयों में आसक्त है; वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है; जागरणशील है, विवेकशील है, संयम-असंयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रत्येक क्रिया संयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, अतः वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु संयम एवं तप के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन आबद्ध कर्मों की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अपने लक्ष्य पर जा पहुँचता है। अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने' का अर्थ है—जो व्यक्ति शब्दादि विषयों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं एवं उसके परिणाम का ज्ञाता है, वही विशुद्ध संयम का परिज्ञाता हो सकता है¹। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतु-हेतुमद्भाव से वर्णन किया है, अर्थात् जो व्यक्ति संसार-परिभ्रमण के कारणों का परिज्ञाता है, वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है—मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ देता है और वह आठ कर्मों से मुक्त व्यक्ति फिर से

1. शब्दादीनां विषयाणां पर्यवाः—विशेषास्तेषु—तन्निमित्तं जातं शस्त्रं पर्यवजातं शस्त्रं—शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यानुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तत्पर्यवजातशस्त्रस्य यः खेदज्ञो—निपुणः सोऽशस्त्रस्य निरवधानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञः यश्चाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञः स पर्यवजात्—शस्त्रस्यापि खेदज्ञः, इत्यादि। —आचारंग वृत्ति

संसार में नहीं आता¹। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म बन्धन से मुक्त आत्मा फिर से संसार में अवतरित नहीं होती? कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में बहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म-ग्रहण नहीं करती है, क्योंकि जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था में कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितांत असत्य एवं कपोल कल्पित प्रतीत होती है। वस्तुतः कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है, फिर वह संसार में नहीं भटकती है।

अतः मुमुक्षु को कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कम्म मूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं
अन्तेहिं अदिस्समाणे तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं
से मेहावी परिक्कमिज्जासि, तिबेमि॥१११॥

छाया—कर्ममूलं च यत् क्षणं प्रत्युपेक्ष्य सर्वं समादाय द्वाभ्यामन्ताभ्याम-
दृश्यमानः तं परिज्ञाय मेधाविन्! विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसंज्ञां स मेधावी
परिक्रमेत्—पराक्रमेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कम्ममूलं—कर्म मूल को। पडिलेहिय—प्रत्युपेक्षण कर। च—समुच्चय
अर्थ में है, तथा। जं छणं—जो हिंसा है वही कर्म मूल है, उसको छोड़ देवे। सव्वं—
सर्व। समायाय—उपदेश पूर्व संयम ग्रहण करके। दोहिंअन्तेहिं—दोनों से—राग
और द्वेष से आत्मा को पृथक् करके तथा राग और द्वेष को। अदिस्समाणे—अदृश्यमान
करता हुआ। तं—उस कर्म के कारणों को। परिन्नाय—ज्ञपरिज्ञा से जानकर और
प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। मेहावी—बुद्धिमान। लोगं—विषय कषाय रूप
लोक को। विइत्ता—जानकर अतः। वंता—छोड़कर। लोगसन्नं—लोक संज्ञा को।
से—वह। मेहावी—मर्यादावर्ती बुद्धिमान पुरुष। परिक्कमिज्जासि—संयमानुष्ठान में
पराक्रम करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रबुद्ध पुरुष का कर्तव्य है कि वह हिंसा आदि दोषों को कर्म का मूल

1. न विद्यते कर्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य व्यवहारो न विद्यते। —आचारांग वृत्तिः।

ज्ञानकर और भगवान के उपदेश को जीवन में ग्रहण करके राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करे और मर्यादा का परिपालन करता हुआ संयम में पुरुषार्थ करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

कर्म बन्ध के मूल कारण पांच हैं—1. मिथ्यात्व, 2. अग्रत, 3. कषाय, 4. प्रमाद और 5. योग। इनके कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इस बात को जिनेश्वर भगवान ने अपने उपदेश में स्पष्ट कर दिया है और उससे मुक्त होने का मार्ग भी बताया है। अतः भगवान के उपदेश को हृदयंगम करके मुमुक्षु पुरुष को उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। संसार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

राग-द्वेष कर्म बन्ध के बीज हैं¹। इसलिए मुख्य रूप से इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देता है, उनका सर्वथा उन्मूलन कर देता है, फिर वह कर्म बन्धन से नहीं बन्धता है और परिणामस्वरूप जन्म-मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'अंत' शब्द राग-द्वेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है²। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का आराधन करके आत्मा को कर्ममल से मुक्त बनाने का प्रयत्न करे।

यहां 'मेधावी' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मर्यादा में स्थित रहता है, वही आत्म विकास कर सकता है, संयम में प्रवृत्त हो सकता है। अतः ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में पंडित एवं बुद्धिमान होता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



1. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।

—उत्तराध्ययन सूत्र-32

2. अन्तहेतुत्वादन्तौ—राग-द्वेषौ ताभ्यां सहादृश्यमानः ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्ममिति।

—आचारांग वृत्तिः

तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में भाव सुप्त एवं जागरणशील पुरुष के स्वरूप को बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म नहीं करता। पाप कर्म करने से जीव किस प्रकार दुःखी होता है, इस उद्देशक में इसका सजीव वर्णन किया गया है और कहा है कि आतंकदर्शी—नरक आदि दुर्गति में मिलने वाले दुःखों से बचने वाला कभी भी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। भाव निद्रा में सुप्त पुरुष ही पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए प्रायः वह दुःखों एवं असातावेदनीय कर्म का संवेदन करता है। इन भावों को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्न है—

मूलम्— जाइं च वुड्ढिं च इहज्ज! पासे,
भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा,
संमत्तदंसी न करेइ पावं॥४॥

छाया— जातिं च वृद्धिञ्च ऋार्य पश्य! भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं।
तस्मादतिविद्यः परमिति ज्ञात्वा, सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापं ॥

पदार्थ—अज्ज—हे आर्य! तू। जाइं—जन्म। च—और। वुड्ढिं—वृद्धत्व को। इह—इस मनुष्य लोक में। पासे—देख। भूएहिं—जीवों के। सायं—साता-सुख को। पडिलेह—प्रतिलेखन कर के। जाणे—अपने समान जान, अर्थात् सभी जीव मेरे समान सुख चाहते हैं। तम्हा—इसलिए। अतिविज्जे—तत्त्व निर्णायक विद्या एवं। परमं—मोक्ष को। णच्चा—जानकर। ति—पूर्णार्थ में है। सम्मत्तदंसी—सम्यग्दृष्टि। पाव न करेइ—पापकर्म नहीं करता है।

मूलार्थ—हे आर्य! तू इस लोक में जन्म जरा (बुढ़ापे) के दुःख को देख और जीवों के सुख का प्रतिलेखन कर यह जान ले कि सभी जीव सुख चाहते हैं। इसलिए तत्त्व एवं मोक्ष का परिज्ञाता सम्यग् दृष्टि जीव पाप कर्म नहीं करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक सबसे पहले जन्म-जरा एवं मृत्यु के स्वरूप तथा जीवों के स्वभाव को जाने। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जन्म-जरा एवं मरण कर्म जन्य हैं और आरम्भ हिंसा आदि दोषों को सेवन करने से कर्म का बन्ध होता है। क्योंकि हिंसा से दूसरे प्राणियों को कष्ट होता है, दुःख होता है और कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। कारण कि जीव स्वभाव से सुखाभिलाषी है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं। अतः उन्हें कष्ट देना, परिताप देना, पीड़ा पहुंचाना पाप है। इससे कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप जीव जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता है तथा विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है।

अतः जन्म-जरा के स्वरूप एवं जीवों के स्वभाव का ज्ञाता प्रबुद्ध पुरुष आरंभ-समारंभ से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म में आसक्ति तब तक रहती है, जब तक आत्मा में सद्ज्ञान की ज्योति नहीं जगती। अतः पाप का कारण अज्ञान है। यह ठीक है कि ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद आरम्भ होता है, परन्तु अज्ञान दशा में की जाने वाली प्रवृत्ति एवं ज्ञान पूर्वक होने वाली प्रवृत्ति में रात-दिन का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आरंभ-समारंभ में संलग्न रहता है, आसक्त रहता है और हार्दिक इच्छा पूर्वक उसमें प्रवृत्ति करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उसमें आसक्त नहीं बनता, वह परिस्थितिवश उसमें प्रवृत्त होता है; फिर भी वह भावना से उस कार्य को त्याज्य ही समझता है।

कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि सम्यग्दृष्टि को पाप कर्म नहीं लगता, परन्तु यह अर्थ सामान्य सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा घटित नहीं होता। छठे गुणस्थान की अपेक्षा से यह कथन उचित है कि उक्त गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को पाप कर्म नहीं लगता। परन्तु उसके नीचे के गुणस्थानों के लिए यह कथन ठीक नहीं है। इसके लिए हम यहां थोड़ा-सा गुणस्थान के विकासक्रम पर भी सोच लें तो यह विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा।

चौथे गुणस्थान से जीवन विकास आरम्भ होता है। इस गुणस्थान को स्पर्श करते ही मिथ्यादर्शन की क्रिया रुक जाती है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान की

क्रिया नहीं लगती, छठे गुणस्थान में परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, और वीतराग गुणस्थान में केवल इरियावहिया क्रिया लगती है और अयोगीगुणस्थान में कोई क्रिया नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म का बन्ध छठे गुणस्थान में रुकता है। उक्त गुणस्थान में अप्रत्याख्यान एवं परिग्रह—आसक्ति का अभाव रहता है। परन्तु पांचवें गुणस्थान में पदार्थों के प्रति आसक्ति का पूर्ण त्याग नहीं होता है और चौथे गुणस्थान में जीव आसक्ति को त्याग्य समझता है, परन्तु वह उसका आंशिक त्याग भी नहीं कर सकता। इसलिए चौथे एवं पांचवें गुणस्थान में रहा हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं होता। परन्तु उसकी भावना निवृत्त होने की रहती है और विवशतावश वह उसमें प्रवृत्त होता है। इसलिए यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि दुःखों से बचने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष ही पापों से बच सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि “भूएहिं जाणे पडिलेह सायं” इसका तात्पर्य यह है कि जो यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की साधना में संलग्न रहता है, वह पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह पाप कर्म के दुष्फल—दुःखद परिणाम से परिचित होता है¹।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर साधक अपने आपको सदा पाप कर्म से निवृत्त करने का प्रयत्न करता है। वह पाप कर्म के दुःखद परिणामों को जानकर उनसे बचने के लिए धर्म का आचरण करता है, संयम साधना में संलग्न होता है। यों कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है। वह अपनी आत्मा को भूलाकर कोई कार्य नहीं करता।

पाप कर्म की उत्पत्ति का कारण राग—स्नेह है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य विभिन्न दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः मुमुक्षु को राग भाव का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. भूताभि—चतुर्दशभूतग्रामास्तैः सममात्मनःसातं—सुखं प्रत्युपेक्ष्य पर्यलोच्य जानीहि, तथाहि—
यथा त्वं सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्वं दुःखद्विडेवमन्येऽपि जन्तवः, एवं
मत्वाऽन्येषामसातोत्सादनं न विदध्याः।
—आचारांग वृत्ति

मूलम्—उम्मुञ्च पासं इह मच्चिएहिं, आरम्भजीवी उभयाणुपस्सी कामेसु गिद्धा निचयं करंति, ससिच्चमाणा पुणरिति गब्भं॥5॥

छाया— उन्मुञ्च पाशमिह मर्त्यैः, आरम्भजीवी उभयानुदर्शी ।

कामेषु गृद्धाः निचयं कुर्वन्ति, ससिच्यमानाः पुनर्यान्ति गर्भम्॥

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक में । मच्चिएहिं—मनुष्यों से । पासं—राग-स्नेह बन्धन को । उम्मुञ्च—तोड़ दे । और यह जान कि जो व्यक्ति । आरम्भजीवी—आरम्भ से आजीविका करने वाले हैं । उभयाणुपस्सी—शारीरिक एवं मानसिक उभय सुखों के द्रष्टा—अभिलाषी । कामेसु गिद्धा—काम-भोग में मूर्छित हैं, वे निचयं करंति—कर्मों का उपचय करते हैं । पुण—और फिर । ससिच्चमाणा—काम-भोग रूप जल से भव भ्रमण रूप कर्म वृक्ष का सिञ्चन करते हुए । गब्भं—गर्भ को । एंति—प्राप्त होते हैं ।

मूलार्थ—हे आर्य! इस मनुष्य लोक में मनुष्यों के साथ तेरा जो राग भाव है, स्नेह बन्धन है, उसे तू छोड़ दे और यह जान ले कि जो व्यक्ति आरम्भ से आजीविका करने वाले, शारीरिक एवं मानसिक सुखाभिलाषी और काम भोगों में आसक्त हैं वे पाप कर्मों का उपचय करते हैं और भवभ्रमण रूप कर्मवृक्ष का सिंचन करते हुए बार-बार गर्भ में आते हैं अर्थात् जन्म मरण के प्रवाह में बहते रहते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

आगम में राग-द्वेष को कर्म का मूल बीज बताया है । प्रस्तुत सूत्र में राग-स्नेह-बन्धन के त्याग का उपदेश दिया गया है । क्योंकि जिस व्यक्ति के प्रति अनुराग होता है, मोह होता है तो उसके लिए मनुष्य अच्छे बुरे किसी भी कार्य को करने में संकोच नहीं करता । इसके लिए वह आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-वासना में सदा आसक्त रहता है और इससे पाप कर्म का संचय एवं प्रगाढ़ बन्ध करता है तथा परिणाम स्वरूप बार-बार गर्भ में जन्म ग्रहण करता है ।

अतः हे आर्य! तू कर्म एवं जन्म-मरण के मूल कारण राग भाव या स्नेह बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न कर और सावधान होकर संयम मार्ग पर गति कर ।

जो व्यक्ति बिना सोचे-विचारे, अविवेकपूर्वक काम करते हैं, उनके संसर्ग से क्या होता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नइ ।

अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेइ अप्पणो॥6॥

छाया— अपि स हासमासाद्य, हत्वा नन्दीति मन्यते ।

अलं बालस्य संगेन वैरं वर्द्धयति आत्मनः॥

पदार्थ—अवि—संभावना अर्थ में है । हासं आसज्ज—हास्य को स्वीकार करके । से—वह, विषयासक्त पुरुष । हंता—जीवों को मारकर । नंदीति—आनन्द । मन्नइ—मनाता है । अलंवस—पर्याप्त है, वह । बालस्स—बाल—अज्ञानी के । संगेण—संसर्ग से । अप्पणो—अपनी आत्मा के साथ । वेरं—वैर भाव को । वड्ढेइ—बढ़ा रहा है ।

मूलार्थ—वह विषयासक्त व्यक्ति हास्य को ग्रहण करके हंसी-विनोद के लिए जीवों को मारकर प्रसन्न होता है । ऐसे अज्ञानी पुरुष के संसर्ग से आत्मा वैर भाव को बढ़ाता है ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि हास्य एवं अज्ञान से आत्मा में वैर भाव बढ़ता है । क्योंकि हास्य एवं अज्ञान के वश मनुष्य हिंसा आदि पाप कार्य में प्रवृत्त होता है और उसमें आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता है । परन्तु मरने वाला प्राणी उस दुःख से बचने के लिए पूरा प्रयत्न करता है, अपनी सारी शक्ति लगा देता है । कारण यह है कि सभी प्राणी जीने के इच्छुक हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसलिए हम देखते हैं कि वध गृह, बलिदान के स्थान पर या किसी अन्य स्थान में मारने के लिए लाए हुए बकरे आदि पशुओं को जब मारा जाता है, तो वे उसके कठोर बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं । उनकी इस चेष्टा को रोकने के लिए घातक के मन में क्रूरता और अधिक उग्र रूप धारण करती है और प्रतिक्षण द्वेष-भाव बढ़ता है । उधर मरने वाले प्राणी के मन में भी बदले की भावना उद्बुद्ध होती है—भले ही वह दुर्बल होने के कारण अपनी चेष्टा में सफल नहीं होता, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से नहीं निकलती । इस प्रकार दोनों व्यक्ति वैर भाव का अनुबन्ध कर लेते हैं । इससे यह कहा गया कि ऐसा अज्ञानी व्यक्ति एवं उसका संसर्ग करने वाला व्यक्ति भी वैर-भाव को बढ़ाता है ।

कुछ लोग केवल विनोद एवं शौर्य प्रदर्शन के लिए शिकार करके प्रसन्न होते हैं। कुछ लोग वेद विहित यज्ञों में एवं देवी-देवताओं को तुष्ट करने के लिए पशुओं का बलिदान करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार स्वर्ग एवं पुत्र-धन आदि की प्राप्ति तथा शत्रुओं के नाश के लिए या धर्म के नाम पर मूक एवं असहाय प्राणी की हिंसा करना, धर्म की पवित्र मानी जाने वाली वेदी को निरपराध प्राणियों के खून से रंग कर आनन्द मनाना भी पतन की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट बाल-भाव—अज्ञान है। इससे आत्मा पतन के महागर्त में गिरता है।

इन सब पाप-कार्यों का मूल कारण विषय-कषाय है। अतः मुमुक्षु पुरुष को विषय-कषाय का परित्याग करके पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा आयंकदंसी न करेइ पावं ।
अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी॥४॥**

छाया—तस्मद्भक्तिविद्वान् परममिति ज्ञात्वा, आतंकदर्शी न करोति पापम् ।

अग्रञ्च मूलं च त्यज धीर! परिच्छिद्य निष्कर्मदर्शी॥

पदार्थ—तम्हा तिविज्जो—इसलिए प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी पुरुष। परमंति—मोक्ष के सर्वश्रेष्ठ। णच्चा—जानकर वह। आयंकदंसी—आतंकदर्शी—नरकादि दुःखों के कारण एवं परिणाम का द्रष्टा। पावं न करेइ—पाप कर्म को नहीं करता।

धीरे—हे धैर्यवान्! तू। अग्गं—भवोपग्राही वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन कर्म चतुष्टय और। मूलं—आत्मा के मूल गुण के घातक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म चतुष्टय को। च—समुच्चयार्थक। विगिंच—दूर कर। णं—वाक्यालंकार में। पलिच्छिंदिया—तप संयम के द्वारा कर्म वृक्ष के मूल एवं शाखा-प्रशाखा का छेदन करके। निक्कम्मदंसी—निष्कर्मदर्शी—कर्म रहित होकर जगत का द्रष्टा बन जाता है, अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाता है।

मूलार्थ—इसलिए आतंकदर्शी नरकादि दुःखों के कारण एवं उसके परिणाम का यथार्थ द्रष्टा प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

हे आर्य! तू आत्मा के मूल को प्रच्छन्न करने वाले घातिकर्म चतुष्टय और

संसार में रोक कर रखने वाले अघातिकर्म चतुष्टय को दूर कर, धैर्यवान पुरुष तप साधना के द्वारा कर्म वृक्ष की शाखा-प्रशाखा एवं मूल का उन्मूलन करके आत्मा एवं लोक के स्वरूप का द्रष्टा, निष्कर्म अर्थात् कर्म आवरण से रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जो इस बात को भली-भाँति जानता है कि यह जीव आरम्भ-समारम्भ आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर कर्म का संग्रह करता है और उसके परिणाम स्वरूप नरकादि लोक में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसके साथ वह यह भी जान लेता है कि जीव आरम्भ आदि दोष जन्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर निष्कर्म बन जाता है और वही मार्ग—जिस पर चलकर जीव निष्कर्म बनता है, मोक्ष मार्ग कहलाता है। अतः लोक एवं मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला साधक ही प्रबुद्ध पुरुष कहलाता है और वह यथार्थ द्रष्टा पाप कार्य के दुःखद परिणामों को जानता है, इसलिए वह पाप कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है।

जब मनुष्य पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, तो वह दुःख एवं भव परिभ्रमण के मूल एवं उत्तर कारणों का समूलतः नाश कर देता है। तथागत बुद्ध ने भी दुःख नाश करने का उपदेश दिया है। परन्तु बुद्ध एवं महावीर के उपदेश में पर्याप्त अन्तर है। बुद्ध की दृष्टि केवल भौतिक दुःखों तक ही सीमित रही है। वे एक डाक्टर की भाँति नशे का इंजेक्शन देकर बाहरी वेदना को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे दुःख की मूल जड़ को नहीं पकड़ते और न उसके नाश का ही प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु भगवान महावीर केवल भौतिक दुःख के नाश में ही नहीं उलझे रहे। उन्होंने दुःख के मूल कारण को खोजा और एक निपुण चिकित्सक की तरह रोग को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अगं च मूलं च...' पाठ इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि भगवान महावीर या जैन दर्शन का मूल स्वर संसार वृक्ष के पत्तों को ही नहीं, अपितु उसकी जड़ को उखाड़ने का रहा है। उन्होंने अग्र भाग को भी समाप्त करने

की बात कही, उसका भी मार्ग बताया है, परन्तु साधक का लक्ष्य केवल शाखा-प्रशाखाओं का नाश तक ही नहीं, अपितु उस विषाक्त वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने का है। जैन दर्शन ऊपर-ऊपर से ही कांट-छांट करने का पक्षपाती नहीं है, वह जड़ मूल से नाश करने का उपदेश देता है।

मूल कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म; क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणों को प्रच्छन्न करने वाले हैं। उसके अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्याबाध सुख और वीर्य—शक्ति को ढकने वाले हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के मूल गुणों को प्रभावित नहीं करते हैं। उनका प्रभाव इतना ही रहता है कि वे आत्मा को संसार में रोके रखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा के मूल गुणों के घातक पहले चार कर्म हैं, इसलिए उन्हें घातिकर्म कहते हैं। उनके नाश का अर्थ है—संसार का नाश। यह सत्य है कि वृक्ष को जड़ से उखाड़ते ही शाखा-प्रशाखा एवं पत्ते आदि नष्ट नहीं हो जाते। परन्तु साथ में यह भी तो है कि मूल का नाश होने के बाद शाखा आदि का अस्तित्व थोड़े समय का ही रह जाता है। क्योंकि उन्हें पोषण मूल से ही मिलता है और उसके नाश होते ही उन्हें पोषण मिलना बन्द हो जाता है और परिणाम स्वरूप वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति संसार की है। मूल कर्मों के क्षय होते ही शेष कर्म आयुष्य कर्म की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यह जीव पूर्णतः निष्कर्म—कर्म आवरण से रहित बन जाता है।

निष्कर्म जीव किस गुण को प्राप्त करता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस मरणापमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी; लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिव्वए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं॥११२॥

छाया—एष मरणात् प्रमुच्यते स खलु दृष्टभयो मुनिर्लोके परमदर्शी विविक्तजीवी उपशान्तः समितः सहितः सदायतः कालाकांक्षी परिव्रजेत् बहु च खलु पापकर्म प्रकृतम्।

पदार्थ—एस—वह निष्कर्मदर्शी। मरणा—मृत्यु से। पमुच्चइ—मुक्त हो जाता है, और। से हु—निश्चय ही वह। मुणी—मुनि। बहुं—बहुत। च—समुच्चयार्थ में। खलु—निश्चयार्थक है। पावकम्मं—पाप कर्म। पगडं—जो पूर्व में बंधा हुआ है या प्रकट है, उसे दूर करने के लिए वह। दिट्ठभए—भयों का द्रष्टा। लोगंसि—लोक में। परमदंसी—मोक्ष या संयम मार्ग का द्रष्टा। विवित्त जीवी—स्त्री, पशु और नपुंसक रहित निर्दोष उपाश्रय में रहने वाला या रागद्वेष रहित। उवसंते—उपशान्त रूप। समिए—पांच समिति से युक्त। सहिए—ज्ञानवान्। सया—सदा। जए—यत्नशील। कालकंखी—पंडित मरण का आकांक्षी। परिव्वए—संयम मार्ग पर चले।

मूलार्थ—निष्कर्मदर्शी जन्म-मरण से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है। अतः निष्कर्मदर्शी बनने का अभिलाषी मुनि पूर्व में बाँधे हुए पाप कर्म को क्षय करने के लिए वह सात भयों का द्रष्टा लोक में मोक्ष या संयम मार्ग का परिज्ञाता, शुद्ध एवं निर्दोष स्थान—उपाश्रय में ठहरने वाला, उपशान्त भाव में रमण करने वाला, पांच समिति से युक्त एवं सदा यत्नशील होकर पण्डितमरण की आकांक्षा रखते हुए संयम साधना में संलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

जन्म-मरण कर्मजन्य हैं। आयु कर्म के उदय से जन्म होता है और क्षय होने पर मृत्यु आ घेरती है। फिर आयु कर्म उदय होने पर अभिनव योनि में जन्म होता है और उसका क्षय होते ही वह उस योनि के भौतिक शरीर को वहीं छोड़कर चल देता है। इस प्रकार वह बार-बार जन्म-मरण के प्रवाह में बहता है और बार-बार गर्भाशय एवं विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करता है। अतः जब तक कर्म बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक आत्मा काल-चक्र से मुक्त नहीं होता। अतः मृत्यु पर विजय पाने के लिए जन्म के कारण कर्म का क्षय करना जरूरी है। जब जीव निष्कर्म हो जाता है, तब फिर वह मृत्यु के दुःख से मुक्त हो जाता है। कारण कि निष्कर्म आत्मा का जन्म नहीं होता और जब जन्म नहीं होता—तो फिर मृत्यु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है। हम यों भी कह सकते हैं कि जन्म का दूसरा रूप मृत्यु है। मनुष्य जिस क्षण जन्म लेता है, उसके दूसरे क्षण ही वह मृत्यु की ओर

पाँव बढ़ाने लगता है। इसलिए निष्कर्म बनने का अर्थ है—जन्म और मरण की परम्परा को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देना।

इसलिए साधक को सबसे पहले निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए। उसकी दृष्टि, भावना एवं विचार-चिन्तन निष्कर्म बनने की ओर ही होनी चाहिए। जब मन में निष्कर्म बनने की भावना उद्बुद्ध होगी, तभी वह उस ओर पाँव बढ़ा सकेगा और उस मार्ग में आने वाले प्रतिकूल एवं अनुकूल साधनों को भली-भाँति जान सकेगा। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है—वह सप्त भय एवं संयम मार्ग का द्रष्टा है। उनके स्वरूप एवं परिणाम को भली-भाँति जानता है। इसलिए उसे ‘परमदंसी’—परमदर्शी अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मोक्ष मार्ग का द्रष्टा कहा है।

वह ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न साधक आचार से भी सम्पन्न होता है। वह एकांत, शांत एवं निर्दोष स्थान में ठहरता है और अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी राग-द्वेष नहीं रखता हुआ समभाव से संयम साधना में संलग्न रहता है। सदा उपशांत भाव में निमज्जित रहता है और पाँच समिति से युक्त होकर तप संयम के द्वारा पूर्व में बंधे हुए पाप कर्मों का क्षय करने में सदा यत्नशील रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में ‘परमदंसी’ पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि साधक सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न होता है। ‘समिह’ शब्द चारित्र का परिचायक है और ‘विविक्त जीवी’ और ‘परिव्वए’ शब्द तप एवं वीर्य आचार के संसूचक हैं। इस प्रकार इस सूत्र में साधक का जीवन ज्ञान, दर्शन; चारित्र, तप और वीर्य पाँचों आचार से युक्त बताया गया है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कर्म से आबद्ध नहीं मानता है। उसके विचार में आत्मा शुद्ध है, इसलिए बन्ध एवं मोक्ष आत्मा का नहीं, प्रकृति का होता है। परन्तु वस्तुतः संसारी आत्मा बन्धन रहित नहीं हैं, क्योंकि वह निष्कर्म नहीं, अपितु कर्मयुक्त है। ‘बहु पावं कम्मं पगडं’ इस पाठ से इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि वह बहुत पापकर्म से आबद्ध है।

अतः निष्कर्म व्यक्ति को पापकर्मों का सर्वथा क्षय कैसे करना चाहिए, इसका मार्ग बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सच्चमि¹धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ॥113॥

छाया—सत्ये धृतिं कुरुध्वं अत्रोपरतो मेधावी सर्व पापं—कर्म शोषयति।

पदार्थ—सच्चमि—संयम में। धिइं—धृति। कुव्वहा—कर। एत्थोवरए—इस समय में जो उपरत है, वह। मेहावी—तत्त्वदर्शी। सव्वं—सभी। पावं कम्मं—पाप कर्म को। झोसइ—क्षय—नष्ट कर देता है।

मूलार्थ—जो तत्त्वदर्शी पुरुष संयम में संलग्न है, वह समस्त पाप-कर्म को क्षय कर देता है। अतः हे आर्य! सत्य-संयम में धैर्य करो, अर्थात् धैर्य के साथ सत्य-संयम का परिपालन करो।

हिन्दी-विवेचन

इस बात को हम देख चुके हैं कि हिंसा, असत्य, असंयम आदि दोषों से पाप कर्म का बन्ध होता है और संयम से पाप कर्म का प्रवाह रुकता है एवं उसके साथ सत्य एवं तप आदि सद्गुण होने से पूर्व बंधे हुए पाप कर्म का क्षय भी होता है। इस प्रकार संयम की साधना—आराधना से जीव कर्मों का आत्यंतिक क्षय कर देता है। इससे स्पष्ट हुआ कि संयम-साधना का फल निष्कर्म—कर्म रहित होता है।

‘एत्थोवरए’ पद का अर्थ है—भगवान के वचनों पर विश्वास करके संयम में जो रत है—संलग्न है। और ‘सव्वं पावं कम्मं झोसइ’ का तात्पर्य है—समस्त अवशिष्ट पाप कर्मों का क्षय करना²। अतः निष्कर्म बनने के लिए साधक को धैर्य के साथ सत्य-संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो संयम का परिपालन नहीं करते हैं, उन प्रमादी जीवों की स्थिति का चित्रण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. सच्चमि—इति पाठान्तरम्

2. ‘अत्र’ अस्मिन् संयमे भगवद् वचसि वा उप-सामीप्येन रतो—व्यवस्थितो। और, सर्व अशेषं पापं, कर्म, संसारार्णवपरिभ्रमणहेतुं शोषयति-शोषयति क्षयं नयतीति यावत्।

मूलम्—अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अण्णवहाए, अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए॥114॥

छाया—अनेक चित्तः खलु अयं पुरुषः स केतनमर्हति पूरयितुं सोऽन्यवधाय, अन्यपरितापाय, अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदपरितापाय, जनपद-परिग्रहाय (जनपदपरिवादाय)।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। अयं अणेग चित्ते—यह अनेक चित्त वाला। पुरिसे—पुरुष। से केयणं—वह लोभ रूप घर को। पूरित्तए—भरने की। अरिहए—इच्छा करता है। से—वह लोभ पूर्ति के लिए। अण्णवहाए—अन्य जीवों का वध करता है। अण्णपरियावाए—अन्य प्राणियों को परिताप देता है। अण्ण-परिग्गहाए—अन्य द्विपद-चतुष्पद आदि प्राणियों को अपने अधीन करता है। जणवयवहाए—जनपद का संहार करने के लिए प्रवृत्त होता है। जणवयपरिग्गहाए—जनपद को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है।

मूलार्थ—अनेक चित्त वाला पुरुष अपनी अतृप्त तृष्णा को पूरी करने की आकांक्षा रखता है और इसके लिए वह अन्य जीवों एवं जनपद का वध करने, उन्हें परिताप देने एवं उन्हें अपने अधीन बनाने के लिए प्रवृत्त होता है।

हिन्दी-विवेचन

कषाय आत्मगुणों के नाशक हैं। क्रोध प्रेम का, मान विनय का, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का विनाश करता है। क्रोधादि एक-एक आत्मगुण के नाशक हैं; परन्तु लोभ इतना भयंकर शत्रु है कि वह गुण मात्र को नष्ट कर देता है। लोभ के नशे में मनुष्य इतना बेईमान हो जाता है कि वह अच्छे-बुरे कार्य का भेद ही नहीं कर पाता। वह न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। लोभी मनुष्य अपनी अनन्त तृष्णा के गढ़े को भरने के लिए रात-दिन दुष्प्रवृत्तियों में लगा रहता है।

स्वाद एवं धन के लोभ से मनुष्य अनेक पशु-पक्षी एवं मनुष्यों तक की हिंसा करते हुए संकोच नहीं करता। आज देश में बढ़ती हुई हिंसा मनुष्यों के लोभ का ही परिणाम है। जिह्वा के स्वाद के लिए भी हिंसा होती है; परन्तु इसके अतिरिक्त करोड़ों

रुपए का पशुओं का चमड़ा, आँतें, जिगर, सींग एवं चर्बी विदेशों में भेजने के लिए भी प्रतिदिन हजारों पशुओं को मारा जाता है। इसके अतिरिक्त डाकू-लुटेरे राह चलते मनुष्यों को या गांवों में मनुष्यों को मार कर धन-माल लूट लेते हैं। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाकर उनके धन-वैभव से अपने राष्ट्र को सम्पन्न बनाने के लिए उन पर आक्रमण करके लाखों मनुष्यों को मार डालते हैं! आज के अणु युग में ऐटमबम की शक्ति से पूरे जनपद (राष्ट्र) को देखते ही देखते राख का ढेर बनाया जा सकता है। नागासाकी और हिरोशिमा का उदाहरण हमारे सामने है। इन सब दुष्कर्मों का मूल कारण तृष्णा है। लोभ-लालच के वश ही मनुष्य पशु-पक्षी एवं व्यक्तियों का संहार करने के लिए प्रवृत्त होता है।

‘जनपद परिग्रहाय’—जनपद परिवादाय का अर्थ है—लोगों को चोर-डाकू आदि बताकर उनकी निन्दा करना¹। जब कि सूत्र में क्रियापद का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी यहां क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

लोभ आत्मा के आध्यात्मिक विकास में प्रतिबन्धक चट्टान है। इसलिए मुमुक्षु को लोभ के स्वरूप एवं उसके परिणाम को जानकर उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसेवित्ता एतं (एवं) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणंइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं॥115॥

छाया—आसेव्य एतम् (एवं) अर्थमित्येवैके समुत्थिताः तस्मात् तं द्वितीयं नो सेवेत, निस्सारं दृष्ट्वा ज्ञानी उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा अनन्यं चर, माहन! (मुने) स। न क्षणयात् नाप्यपरं घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात्, निर्विन्दस्व नन्दिं अरक्तः प्रजासु (स्त्रीषु) अनवमदर्शी निषण्णः पापकर्मभ्यः—पापैःकर्मभिः—पापकर्मसु।

1. जनपदानां—लोकानां परिवादाय-दस्युरयं पिशुनो वेत्येवं मर्मोद्घाटनाय।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। इच्चेवेगे—लोभवश भरत चक्रवर्ती आदि राजाओं ने। अटूठ—धन-ऐवश्य आदि भोगों को। आसेवित्ता—आसेवन—भोगकर भी। समुट्ठया—संयम साधना में संलग्न हो गए। तम्हा—इसलिए। तं—उन त्यागे हुए भोगों को। विइयं—दूसरी बार। नो सेवे—सेवन नहीं करे अर्थात् हिंसा, झूठ आदि असंयम में प्रवृत्ति न करे। निस्सारं—विषयों की निस्सारता को। पासिय—देखकर। नाणी—ज्ञानी पुरुष। उववायं—चवणं—देव भव को जन्म-मृत्यु के प्रवाह में प्रवहमान। णच्चा—जानकर, विषय-भोगों का सेवन न करे। अण्णाणं—ज्ञानादि। चर—ग्रहण करे। माहणे—वह महान-मुनि है, अतः। न छणे—न स्वयं हिंसा करे। न छणावए—न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करवाए। छणंतं—हिंसा करते हुए व्यक्ति को। नाणु-समणुजाणइ—अच्छा नहीं समझता है। अब चौथे व्रत के विषय में कहते हैं। निव्विंद नन्दिं—विषय-भोगों से उत्पन्न हुए आनन्द को घृणित समझकर। पयासु—स्त्रियों में। अरए—अनासक्त—राग रहित रहे। अणोमदंसी—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य से युक्त, वह मुनि। पावेहिं कम्मेहिं—पाप कर्मों से। निस्सण्णे—निवृत्त हो जाता है।

मूलार्थ—लोभ के वश प्राप्त किए गए धन-वैभव एवं विषय-भोगों का आसेवन करके भी कई एक महापुरुष फिर से सावधान हो जाते हैं। दूसरी बार वे उन त्याज्य भोगों को भोगने की इच्छा नहीं करते। भोगों को निस्सार एवं देव भव को भी जन्म और मृत्यु रूप जानकर वे विषय-वासना में आसक्त नहीं होते। अतः हे मुनि! तू भोगों को त्याग, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को स्वीकार कर अथवा संयमपथ पर चल।

संयमशील मुनि स्वयं हिंसा नहीं करता, न अन्य से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले को भी अच्छा समझता है। इसी प्रकार रत्नत्रय से युक्त मुनि विषय-भोगों से उत्पन्न आनन्द को घृणित समझकर स्त्रियों में आसक्त नहीं बनता। वह संयम की आराधना करके पाप कर्म से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य चलते-चलते गिरता भी है और उठता भी है। ऐसा नहीं है कि जो गिर गया, वह गिरने के बाद कभी उठता ही नहीं है। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन की है। हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त आत्मा पतन के गर्त में गिरती जाती है। परन्तु अपने

आपको संभालने के बाद वह पतन के गर्त से बाहर निकल कर विकास के पथ की ओर बढ़ सकती है; अपना उत्थान कर सकती है। वह भी सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है। बस, आवश्यकता इस बात की है कि वह दोषों को दोष समझकर उनका परित्याग कर दे; अपने मन-वचन एवं शरीर को पाप चिन्तन; पाप कथन एवं पाप आचरण से हटा ले। इस प्रकार विचार एवं आचार में परिवर्तन होते ही जीवन बदल जाता है, मनुष्य पापी से धर्मात्मा बन जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि मनुष्य को पापी से नहीं पापों से घृणा करनी चाहिए और पापों का ही तिरस्कार करना चाहिए; क्योंकि आज जो पापी है, आने वाले कल को धर्मात्मा भी बन सकता है। इसलिए बुरे एवं अच्छे का आधार व्यक्ति नहीं, आचरण है।

प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि कई लोभ वश पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं, दोषों का आसेवन करते हैं; परन्तु उसी जीवन में जागृत होकर उनका परित्याग करते हैं और फिर उन परित्यक्त भोगों एवं दोषों की ओर घूमकर भी नहीं देखते क्योंकि वे उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके हैं। उन्होंने यह जान लिया है कि ये भोग-विलास दुःख के कारण हैं और अस्थायी हैं। यहां तक कि देवों के भोग विलास भी स्थायी नहीं हैं। वे भी मृत्यु की चपेट में आकर अपनी स्थिति से गिर जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक सुख स्थिर नहीं है। ऐश्वर्य एवं भोगों की दृष्टि से देव मनुष्य से अधिक संपन्न है। सामान्य देवों की भौतिक सम्पत्ति के समक्ष करोड़ अरबपति का वैभव भी तुच्छ-सा प्रतीत होता है। ऐसे महाऋद्धि वाले एवं ऐश्वर्य सम्पन्न देवों के सुख भी सदा नहीं रहते; कर्म उन्हें भी आ घेरते हैं तो मनुष्य के लिए अभिमान करने जैसी बात ही क्या है? इस प्रकार भोगों की असारता, अस्थिरता एवं पूर्ति न होना तथा उनके दुःखद परिणाम को जानकर मुमुक्षु पुरुष विषय-भोगों में आसक्त नहीं होते और वासना के साधन स्त्री-पुरुष-संयोग से सदा दूर रहते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं

लहुभूयगामी॥७॥

गंथं परिण्णाय इहञ्ज! धीरे, सोयं परिण्णाय चरिञ्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धुमिह माणवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि
त्तिबेमि॥४॥

छाया— क्रोधादि मानं हन्याच्चवीरः, लोभस्य पश्य! नरकं महान्तम् ।
तस्माच्च वीरः विरतो वधात्, छिंघात् शोकं लघुभूतगामी॥
ग्रन्थं परिज्ञाय इहाद्यैव धीरः स्रोतः परिज्ञाय चरेद् दान्तः ।
उम्मज्ज लब्ध्वा इह मानवैः, नो प्राणिनां प्राणान् समारंभेथाः॥
इति ब्रवीमि॥

पदार्थ—कोहाइ—क्रोधादि । य—तथा । माणं—मान को । वीरे—वीर पुरुष ।
हणिया—हनन करे—क्रोध, मान, माया को नष्ट करे और । लोभस्स—हे शिष्य! तू
लोभ को, लोभ के विपाक को । पासे—देख तो । महंतं—महान् । नरयं—नरक का
कारण है । तम्हा—इसलिए । य—समुच्चय अर्थ में । वीरे—वीर पुरुष । वहाओ—वध
हिंसा से । विरयो—निवृत्त हो जाए, और । लहुभूयगामी—मोक्ष गमन की इच्छा
करने वाला साधक । छिंविज्ज सोयं—भाव स्रोत को छेदन करे, अब उपदेश विषय
में कहते हैं । गंथं—परिग्रह को । परिण्णाय—ज्ञ परिज्ञा से । जानकर तथा प्रत्याख्यान
परिज्ञा से त्याग कर दिया है, जिसने । धीरे—वह धैर्यवान् । इहञ्ज—इस मनुष्य
लोक में । अज्ज—अति शीघ्रता से । सोयं—संसारस्रोत विषय स्रोत को । रिण्णाय—
जानकर और । दंते—दमेनन्द्रिय होकर इन्द्रियों का दमन कर । चरिञ्ज—संयम का
आचरण कर । उम्मज्ज—तैरने का मार्ग । लद्धुं—प्राप्त होने पर वह । इह—इस ।
माणवेहिं—मनुष्य लोक में । पाणिणं—प्राणियों के । पाणे—प्राणों का । नो
समारंभिज्जासि—समारम्भ न करे । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—वीर पुरुष क्रोध और मानादि का विनाश करे तथा महान नरक
आदि के हेतु भूत लोभ को देखे, लोभ यह महान नरकादि दुःखों का कारण है ऐसा
अनुभव करे, इसलिए वीर पुरुष को वध से निवृत्त होना चाहिए तथा मोक्ष गमन की
इच्छा रखने वाला साधक प्रथम भाव स्रोत को छेदन करे तथा इस लोक में दुःख का
मूल कारण धनादि पदार्थ ही हैं, ऐसा जानकर उनका—धनादि का तत्काल परित्याग
कर दे, एवं भाव स्रोत को जानकर इन्द्रियों का दमन करता हुआ संयम को धारण
करे, और इस लोक में तरने का मार्ग प्राप्त करके प्राणियों की हिंसा न करे, इस
प्रकार मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। कषाय शब्द कषूआय से बना है 'कष' का अर्थ है—संसार और आय का अर्थ है—लाभ। जिस क्रिया से संसार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं और यह उपर्युक्त चार प्रकार की हैं, इसलिए जनसाधारण की भाषा में इसे चांडाल-चौकड़ी भी कहते हैं। ये कषाय मोह कर्म के उदय का परिणाम हैं और सब कर्मों में मोह कर्म को प्रधान माना गया है। अतः साधक को सबसे पहले कषायों का नाश करना चाहिए; क्योंकि ये नरक एवं महादुःखों का कारण हैं। इसलिए साधक को कर्म आगमन के भाव स्रोत को नष्ट कर देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में लोभ को स्पष्ट रूप से नरक का कारण बताया है; क्योंकि लोभ समस्त गुणों का विनाशक है और छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम चरण तक उसका अस्तित्व रहता है। उसका क्षय करने पर ही आत्मा लघुभूत होता है और सर्व घातिकर्मों को क्षय कर शेष कर्मों का आत्यान्तिक क्षय करने की ओर बढ़ता है और आयुर्कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्मों का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए हे आर्य! द्रव्य एवं भाव ग्रंथि—गांठ को जानकर और शोक एवं दुःख के कारण का परिज्ञान करके संयम मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, परिग्रह एवं वासना में गम्यमान इन्द्रियों एवं मन का दमन करना चाहिए; उसे उस मार्ग से हटाकर साधना में संलग्न करना चाहिए। इस प्रकार संसार के स्वरूप का भली-भाँति अवलोकन कर के उससे पार होने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार से पार होने का साधन मनुष्य जन्म में ही मिल सकता है। इस मानव शरीर के द्वारा ही आत्मा सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अतः ऐसे श्रेष्ठ साधन मानव जीवन को प्राप्त करके साधक को फिर से संसार बढ़ाने के साधन—हिंसा आदि में प्रवृत्त न होकर, आरम्भ-समारम्भ एवं दोषजन्य प्रवृत्ति का त्याग करके संयम-साधना में प्रवृत्त होना चाहिए।

‘त्तिबेभि’ का अर्थ पूर्वोक्त समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कष्टसहिष्णुता का उपदेश दिया गया है। साधु को कठिन परीषह उत्पन्न होने पर भी घबराना नहीं चाहिए और कष्ट से विचलित होकर प्राणियों की हिंसा एवं अन्य पाप कार्य भी नहीं करने चाहिए। अहिंसा की इस विराट् भावना को जीवन में साकार रूप देने के लिए आत्मदृष्टि को विशाल बनाने की आवश्यकता है। अपने अन्दर समस्त प्राणियों के हित एवं उनके सुख का साक्षात्कार करना ज़रूरी है। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है और यह समझता है कि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं, व्याघात एवं दुःखों से बचना चाहते हैं, वही व्यक्ति हिंसा आदि दोषों से मुक्त-विमुक्त हो सकता है।

अतः हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए आत्मद्रष्टा बनना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही हमारे दुःख-सुख का, मुक्ति-बन्धन का आधार है। वस्तुतः देखा जाए तो आत्मा ही हमारा मित्र है और शत्रु भी वही हो जाता है। अतः जीवनविकास के लिए सहयोगी मित्रों को बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। मैत्री का वह अनन्त सागर अपने अन्दर ही लहर-लहर कर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अन्तर्द्रष्टा बनें। यही बात प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई है। इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवित्तिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया? ॥116॥

छाया—संधिं लोकस्य ज्ञात्वा आत्मनः बहिः पश्य! तस्मान्न हन्ता न व्यापादकः (न विघातयेत्) यदिदं अन्योन्यस्य विचिकित्सया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात्?

पदार्थ—संधिं—अवसर—धर्म साधना के अवसर को। **जाणिता—जानकर**। **लोयस्स**—लोक के जीवों को कष्ट नहीं देना, बल्कि उन्हें अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। **पास**—ऐसा देख, जैसे। **आयओ**—अपनी आत्मा को सुख प्रिय है, वैसे ही। **बहिया**—अन्य आत्माओं को भी सुख प्रिय है। **तम्हा**—इसलिए। **न हंता**—किसी जीव को नहीं मारना चाहिए। **न विघायए**—न उनकी विशेष रूप से घात-विघात करनी चाहिए। **जमिणं**—जो यह। **अन्नमन्न वितिगिच्छाए**—परस्पर भय या लज्जा के कारण। **पडिलेहाए**—प्रतिलेखन करके। **पावं कम्मं**—पाप कर्म। **न करेइ**—नहीं करता है, तो। **किं**—क्या। **तत्थ**—उस पाप कर्म के नहीं करने में। **मुणी—मुनि**। **कारणं सिया**—कारण है—मुनित्व है।

मूलार्थ—हे आर्य! लोक में धर्म करने के अवसर को जानकर, तू प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देख और यह समझ कि मेरी ही तरह प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। इसलिए किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न उनकी विशेष रूप से घात ही करनी चाहिए। जो व्यक्ति परस्पर भय एवं लज्जा को प्रतिलेखन—विशेष रूप से देख कर पाप कर्म नहीं करता है, तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है?

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि संधि का परिज्ञाता हो। संधि शब्द का सामान्य रूप से जोड़ना अर्थ होता है। संधि भी दो प्रकार की मानी गई है—1—द्रव्य सन्धि और 2—भाव सन्धि।

दीवार आदि में छिद्र का होना द्रव्य सन्धि कहलाता है और कर्म विवर को भाव सन्धि कहते हैं। भाव सन्धि भी तीन प्रकार की है—1—सम्यग्दर्शन, 2—सम्यग्ज्ञान और 3—सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

1—उदय में आए हुए दर्शनमोहनीय कर्म क्षय या क्षयोपशम और शेष का उपशमन करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना भी भाव सन्धि है। इससे मिथ्यात्व का छिद्र रुक जाता है।

2—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इससे आत्मदृष्टि का धुंधलापन दूर होता है। आत्मा बाह्य द्रष्टा ही न रहकर आत्म-द्रष्टा बन जाता है। अज्ञान के छिद्र नहीं रह पाते हैं।

3—चारित्रमोहनीय कर्म का देशतः या सर्वतः क्षयोपशम करने से आत्मा को देश एवं सर्व चारित्र—श्रावकत्व एवं साधुत्व की प्राप्ति होती है। इससे अग्रत के द्वार बन्द हो जाते हैं।

‘सन्धि’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—‘सन्धनम् सन्धिः—स च भाव सन्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मोदयात् त्रुटयतः पुनः सन्धाम्—मीलनम्’, अर्थात् स्खलित होते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पुनः संयोजन करना भाव सन्धि है।

सन्धि का अर्थ अवसर भी किया जाता है। संध्या एवं उषा काल को—दिन की समाप्ति एवं रात के प्रारम्भ तथा रात की समाप्ति एवं दिन के उदय का संयोग काल होने से सन्धि काल कहलाते हैं। इसी प्रकार धर्म या सद्ज्ञान, अधर्म या अज्ञान रूप निशा का अवसान और आत्म विकास का उदय काल होने से उसे भाव सन्धि कहा है। इस दृष्टि से धर्म अनुष्ठान के अवसर को जानना भी सन्धि का परिज्ञान करना कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में ‘सन्धि’ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं दर्शन और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर ही आत्मा में धर्म की भावना उद्बुद्ध होती है और मनुष्य अपने अन्दर झांकने लगता है—आत्म-द्रष्टा बनता है। यही से जीवन का अभ्युदय आरम्भ होता है। वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरे प्राणियों की आत्मा को देखने लगता है और उसे यह अनुभूति होती है कि मेरे समान प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय है।

जब व्यक्ति आत्मद्रष्टा होता है तो वह स्वतः हिंसा आदि दोषों से निवृत्त हो जाता है। उसे हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए व्यवहार, भय और लज्जा की अपेक्षा नहीं रहती, परन्तु जिस व्यक्ति की अन्तर दृष्टि कुछ धूमिल है, वह एक दूसरे के भय एवं लज्जा से हिंसा आदि पाप कर्म का सेवन नहीं करता है। तो वहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उसमें मुनित्व है? इसका समाधान नकार की भाषा में दिया गया है।

मुनित्व का सम्बन्ध भावना से है। आगम में बताया गया है कि जो व्यक्ति पस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनों का उपभोग करने में स्वतन्त्र न होने के कारण भोग नहीं करता है; परन्तु उसके मन में भोगेच्छा अवशेष है, तो वह त्यागी नहीं है, उसे मुनि नहीं कह सकते¹।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनित्व भावपूर्वक किए गए त्याग में है। केवल लोकज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप में प्रवृत्त न होना ही मुनित्व नहीं है।

निश्चय नय की अपेक्षा से मुनित्व आत्मा में राग-द्वेष के त्याग एवं सब प्राणियों के प्रति समानता के भाव में है, परन्तु यह अन्तर्दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। इसका साक्षात्कार सर्वज्ञ या स्वयं आत्मा ही कर सकता है। साधारणतः मनुष्य व्यवहार को ही देख सकता है। इस दृष्टि से निश्चय के साथ व्यवहार का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसी कारण किसी भी वेश-भूषा एवं अवस्था में सर्वज्ञ होने के बाद भी वे महापुरुष स्वलिंग को धारण करते हैं। भरत चक्रवर्ती को गृहस्थ के वेश में आरिसा भवन-कांच के महल में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद उन्होंने गृहस्थ लिंग का परित्याग करके मुनि वेश को स्वीकार किया। यह कार्य केवल व्यवहार का पालन मात्र है। इससे व्यवहार शुद्धि बनी रहती है, क्योंकि व्यवहार भी भाव या निश्चय शुद्धि का साधन है।

इस अपेक्षा से पारस्परिक व्यवहार शुद्धि के लिए दोषों से बचना एकांत रूप से अमुनित्व का परिचायक नहीं है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के साथ निश्चय और निश्चय के साथ व्यवहार का सम्बन्ध जुड़ा रहे। लोक मर्यादा के साथ आत्म भावना धूमिल न पड़ने पाए। अस्तु, आत्मा के उज्ज्वल, समुज्ज्वल प्रकाश में व्यावहारिकता का परिपालन करना मुनित्व है। जहां आत्मज्योति दीप्त नहीं है, वहां केवल दिखाने मात्र के लिए व्यावहारिकता को निभाने में मुनित्व का अभाव है, वहां द्रव्य ही रह जाता है।

मुनित्व भाव की साधना को सफल बनाने के लिए साधक को किस भाव की साधना करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. दशवैकालिक सूत्र, सूत्र-2-2।

मूलम्— समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए—

अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि।

आयगुत्ते सयावीरे, जाया मायाइ जावए॥10॥

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा, महया खुड्डएहिं य, आगइं गइं परिण्णाय
दोहिं वि अन्तेहिं आदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्जइ
न हम्मइ कंचणं सव्वलोए ॥117॥

छाया—समतां तत्रोत्प्रेक्ष्य आत्मानं विप्रसादयेद्यत्। अनन्य परमज्ञानी नो
प्रमादयेत् कदाचिदपि आत्म गुप्तः सदा वीरः यात्रामात्रया यापयेत्, विरागं
रूपेषु गच्छेत्, महता क्षल्लकेषु च आगतिं गतिं परिज्ञाय द्वाभ्या-
मप्यन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यां स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते केनचित्
सर्व लोके।

पदार्थ—समयं—समता को। तत्थुवेहाए—उस संयम में पर्यालोचन करके-जो
कुछ करता है, वह सब मुनित्व का ही कारण है, अथवा। समयं—आगम के।
तत्थुवेहाए—अनुसार जो अनुष्ठान किया जाता है, वह सब। मुनित्व—मुनि भाव
का ही कारण है, अतः। अप्पाणं—आत्मा को समता भाव से। विप्पसायए—प्रसन्न
करे, तथा। नाणी—ज्ञानी पुरुष। अणन्नपरमं—संयम में। कयाइवि—कभी भी। नो
पमाए—प्रमाद न करे। आयगुत्ते—वह आत्मगुप्त। सया—सदा। वीरे—कर्म विदारण
में समर्थ। जायामायाइ—संयम यात्रा मात्रा से। जावए—काल यापन करे। (अब
आत्म गुप्तता के कारणों का निर्देश करते हैं)। आगइं गइं—संसार में आवृत्ति—आगमन
और गति-गमन अर्थात् संसार परिभ्रमण को। परिण्णाय—जानकर। अंतेहिं—राग-द्वेष।
दोहिं वि—दोनों को। अदिस्समाणेहिं—आत्मा से अदृश्य करता हुआ, अर्थात्
राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ। रूवेहिं—प्रिय रूपों में। विरागं—वैराग्य भाव को।
गच्छेज्जा—प्राप्त करे, और। महया—दिव्य भाव से, अर्थात् प्राधान्यरूप से पुनः।
खुड्डएहिं—मनुष्य के रूपों में सब में वैराग्य भाव उत्पन्न करके, फिर। से—उसका।
सव्वलोए—समस्त लोक में। कंचणं—किसी के द्वारा। न छिज्जइ—छेदन नहीं
किया जाता। न भिज्जइ—भेदन नहीं किया जाता। न डज्जइ—दग्ध नहीं किया
जाता। न हम्मइ—न हनन किया जाता है।

मूलार्थ—समता—समभाव मुनित्व का प्रधान कारण है। अतः संयमनिष्ठ मुनि समता से आत्मा को प्रसन्न करे और संयम-परिपालन में कभी भी प्रमाद न करे। इस तरह आत्मा को वश में रखने वाला वीर पुरुष सदा संयम से जीवन व्यतीत करे। जीवों के आगमन एवं गमन के स्वरूप को जान कर, रागद्वेष से आत्मा को पृथक् करता हुआ, मानवी और दैवी रूपों में वैराग्य धारण करे, फिर वह इस लोक में किसी तरह भी छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होता, किसी द्वारा जलाया नहीं जाता और न उसका किसी द्वारा अवहनन ही होता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जिस साधक के जीवन में समता—समभाव है, जो आगम के अनुरूप संयमसाधना में संलग्न है और जो इन्द्रिय एवं नो-इन्द्रिय—मन का गोपन करके अपनी आत्मा में केन्द्रित होता है—आत्म-द्रष्टा बनता है, वही मुनि है। इससे स्पष्ट है कि मुनित्व की साधना केवल वेश में नहीं, अपितु भावों के साथ अन्तर्वृत्ति को बदलने में है। जब तक अन्तःकरण में विषय-वासना एवं राग-द्वेष की आग प्रज्वलित है, तब तक बाहर के त्याग एवं मात्र वेश धारण का विशेष मूल्य नहीं रह जाता है; क्योंकि मुनित्व वासना, ममता एवं आसक्ति के त्याग में है, प्रत्येक परिस्थिति में समभाव एवं सहिष्णुता को बनाए रखने में है।

संयम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि इसकी साधना में स्व और पर का हित रहा हुआ है। इसमें किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने, कष्ट देने या मन को आघात पहुंचाने के भाव नहीं रहते। संयमी पुरुष के मन में सब प्राणियों के प्रति समता का भाव रहता है। उसकी दृष्टि में विकार एवं वासना नहीं रहती। वह मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। इसलिए वह मनुष्य स्त्री एवं देवी के रूप-सौंदर्य को देखकर वासना के प्रवाह में नहीं बहता है।

शब्दादि पांचों विषय मानव को भटकाने वाले हैं। परन्तु उनमें रूप की प्रधानता है। मानव सौंदर्य को देखकर कभी-कभी पागल हो उठता है, उस रूप को देखते हुए थकता ही नहीं। अतः शब्दादि विषयों में रूप अधिक आकर्षक है। परन्तु, इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अनर्थ का मूल राग-द्वेष हैं, आसक्ति है। यदि जीवन में राग-द्वेष या आसक्ति नहीं है, तो जीवन के साथ विषयों का सम्बन्ध होने पर भी

कर्मबन्ध नहीं होता है। जो समभाव पूर्वक संयमसाधना में संलग्न है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता; क्योंकि वह रूप आदि विषयों में मुग्ध एवं आसक्त नहीं होता। अतः समभाव की साधना ही मुनित्व की साधना है। इस साधना में प्रवर्तमान साधक किसी भी प्राणी का छेदन-भेदन एवं अवहनन नहीं करता है और न अन्य व्यक्ति उसका छेदन-भेदन एवं अवहनन करते हैं।

हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण राग-द्वेष है। राग द्वेष से निवृत्त व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए वह संसार में परिभ्रमण भी नहीं करता है, अर्थात् वह चार गति के आवागमन को समाप्त कर देता है। अतः साधक को गति-आगति के स्वरूप को जानना चाहिए। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता मुनि ही गमनागमन के दुःखों से बच सकता है। लोक में चार गतिएं मानी गई हैं—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव। संसारी प्राणी अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार इन गतियों में गमनागमन करते हैं। इसके अतिरिक्त मोक्ष पांचवीं गति मानी गई है। मनुष्य साधना के द्वारा मोक्ष में जा सकता है; परन्तु वहां से वापस आना नहीं होता; क्योंकि वहां आत्मा की शुद्ध अवस्था रहती है, उस गति में जाने वाले जीव के कर्म एवं कर्म जन्य उपाधि नहीं रहती। इसलिए वह फिर से जन्म नहीं लेता। मानव ही उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्व कर्मों को नष्ट करके उक्त गति में जा सकता है। अतः मोक्ष गति मनुष्य भव की अपेक्षा से मानी गई है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कंचण' शब्द का 'केनचित्' रूप बनता है। इसका अर्थ है—राग-द्वेष से रहित आत्मा को किसी के द्वारा छेदन-भेदन आदि का भय नहीं रहता, वह अभय का देवता स्वयं निर्भय होकर प्राणी जगत को अभयदान देता है

जो व्यक्ति लोक एवं गतागति के स्वरूप को नहीं जानते हैं अथवा जिन्हें यह ज्ञात नहीं है कि हम कहां से आए हैं, हमें कहां जाना है तथा हमें किस वस्तु की प्राप्ति होगी; वही व्यक्ति संसार में दुःखों का अनुभव करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्— अवरेणपुर्वि नसरति एगे, किमस्स तीयं किं वागमिस्सं?
भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं॥११॥

नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥12॥

छाया—अपरेण पूर्वं न स्मरन्त्येके, किमस्य अतीतं किं वागमिष्यति?
भाषन्ते एके इह मानवाः, यदस्य अतीतं तदेवागमिष्यति॥
नातीतार्थमनागत रूपतया, नियच्छन्ति अर्थं तथागतास्तु ।
विधूतकल्पः एतदनुदर्शी, निज्झोषयिता क्षपकः महर्षिः॥

पदार्थ—अवरेण—आगामी काल और । पुर्वि—अतीत काल को । एगे—कोई एक । न सरन्ति—स्मरण नहीं करते, तथा । किमस्सतीयं—अतीत काल में इस जीव का क्या हुआ? वा—अथवा । किं आगमिस्सं—आगामी काल में क्या होगा तथा । एगे—कोई एक । इह—इस मनुष्य लोक में । माणवाओ—मनुष्य । भासन्ति—कहते हैं, कि । जमस्स—जीव का जो यह पुरुषादि वेद । तीयं—अतीत काल में था । तमागमिस्सं—वही आगामी काल में होगा । नाईय मट्ठं—अतीत काल के अर्थ को । य—एतः । आगमिस्सं—आगामी काल के । अट्ठं—अर्थ को । न नियच्छन्ति—नहीं चाहते—ना ही अवधारणा करते हैं, तथा । नाईयमट्ठं—न अतीत काल के भोगादि को । नय आगमिस्सं—और न आगामी काल के दिव्यांगनादि संग को । निर्यच्छन्ति—चाहते हैं और न उनका स्मरण करते हैं । उ—तु पुनः कौन? तहागया—तथागत—सर्वज्ञ । विहुयकप्पे—विधूत कल्प—शुद्धाचार के द्वारा कर्मों का नाश करने वाला । एयाणुपस्सी—इस प्रकार देखने वाला । महेसी—जो । महर्षि—महायोगीश्वर है, वह । निज्झोसइत्ता—पूर्वोपचित कर्मों का क्षय करने वाला या । खवगे—कर्म क्षय करता है तथा आगामी काल में कर्म क्षय करेगा ।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति पूर्व और अपर काल के स्वरूप का स्मरण नहीं करते—मैं पूर्व काल में क्या था और आगामी काल में क्या बनूंगा? तथा इस लोक में कई एक व्यक्ति इस प्रकार भी कहते हैं कि जो अतीत काल में था, वही आगामी काल में होगा, अतीत काल के अर्थ की और आगामी काल के अर्थ को तथागत नहीं चाहते, तथा पर्याय की विचित्रता से जो अतीत काल का अर्थ है वह आगामी काल का अर्थ नहीं हो सकता, और विधूत कल्प शुद्ध संयम के परिपालक महर्षि अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों में कर्मों का क्षय करते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

मोह एवं अज्ञान से आवृत्त आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जान सकती। वह न अपने पूर्व भव को देख सकती है और न भविष्य के स्वरूप को जान सकती है। इसलिए अज्ञानी लोग आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जिस व्यक्ति का जो रूप इस समय है, वही रूप इसके पूर्व भवों में भी था और भविष्य में भी वही स्वरूप रहेगा। सती प्रथा इसी परम्परा की देन थी। पति की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ पत्नी के जीवित शरीर को इसलिए जला दिया जाता था कि आगामी भव में फिर से दोनों पति-पत्नी के रूप में आबद्ध हो सकेंगे। इन लोगों की यह मान्यता रही है कि पुरुष सदा पुरुष ही बनता है और स्त्री स्त्री ही बनती है। प्राणी के लैंगिक जीवन में कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु यह मान्यता असत्य है।

आत्मा की तरह लिंग नित्य नहीं है; क्योंकि लिंग कर्मजन्य है और कर्म में परिवर्तन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार कभी पुरुष वेद को प्राप्त करता है, कभी स्त्री वेद को, तो कभी नपुंसक वेद को वेदता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म-परिवर्तन के कारण आत्मा एक भव में भी तीनों वेदों को वेद सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदोदय का सम्बन्ध मोह कर्म जन्य वासना की प्रबलता पर है। यदि वासना जल्दी जागृत होती है और भोग के बाद शीघ्र ही शांत हो जाती है, तो वहां पुरुष वेद का उदय रहता है। लेकिन जहां वासना जागृत होने के बाद बहुत देर तक शांत नहीं होती है, तो वहां स्त्री वेद का उदय होता है। इसी तरह जहां वासना की आग हर समय प्रज्वलित रहती है, वहां नपुंसक वेद का उदय समझना चाहिए। जिस समय पुरुष में वासना की प्रबलता रहती है और वह जल्दी शांत नहीं होती है, तो उस समय वह लैंगिक रूप से पुरुष होते हुए भी स्त्री वेद को वेदता है और यदि किसी नारी के जीवन में वासना की स्वल्पता है और उसे जल्दी ही सन्तोष हो जाता है, तो वह स्त्रीलिंग में पुरुषवेद का वेदन करती है। इस प्रकार मोह कर्म के शमन के साथ वेद के संवेदन में भी परिवर्तन आ जाता है।

इससे स्पष्ट है कि लिंग में हर समय एकरूपता नहीं रहती। अतः उक्त कथन तथागत—सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित नहीं है, क्योंकि पर्यायें सदा परिवर्तनशील हैं। उनमें

सदा एक रूपता नहीं रहती। सर्वज्ञ इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए कहा गया है कि तथागत—सर्वज्ञ अतीत और अनागत काल की पर्यायों को एक रूप से स्वीकार नहीं करते। वे भूत एवं भविष्य काल के भोगों में आसक्त भी नहीं होते और न विषय-भोगों की आकांक्षा ही रखते हैं। क्योंकि उन्होंने आकांक्षा के उत्पादक राग-द्वेष का ही क्षय कर दिया है।

‘तथागत’ शब्द का अर्थ है—सर्वज्ञ। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—“जो पुनरावृत्ति से रहित है और जो पदार्थ को यथार्थ स्वरूप—पूर्ण रूप से जानते है,” उन्हें तथागत कहते हैं—अरिहंत, सिद्ध और सर्वज्ञ को तथागत कहा जाता है¹।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त ‘विह्वय कप्पे—विधूत कल्पः’ का अर्थ है—अष्टकर्मों को आत्मा से पृथक् करने वाला व्यक्ति²।

कर्म क्षय करने के लिए उद्यत मुनि जब धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निमग्न होता है, तब उसे शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती।

उस समय उसकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—का अरई के आणदे? इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिच्चए, पुरिसा! तुममेव तुमं भित्तं, किं बहिया भित्तमिच्छसि?॥118॥

1. तथैव—अपुनरावृत्त्या गतं—गमनं येषां ते—तथागताः—सिद्धाः, यदि यथैव ज्ञेयं तथैव गतं—ज्ञानं येषां ते तथागताः—सर्वज्ञाः, ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति—अवधारयन्ति, नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणतेः, पुनरर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थं विषयभोगादिकं नाप्यनागतं दिव्यांगनासंगादिकं स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के? तथागताः—रागद्वेषाभावात्, पुनरावृत्तिरहिता; तु शब्दो विशेषमाहा—यथा मोहोदयादेके पूर्वभागामि वाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति।

—आचारांग वृत्तिः

2. विविधम्—अनेकधाधूतम्—अपनीतमष्टप्रकारं कर्म येन सः विधूतः; कोऽसौ? कल्पः—आचारो, विधूतः कल्पो यस्य साधो सः विधूतकल्पः। —आचारांग वृत्तिः

छाया—का अरतिः? कः आनन्दः? अत्रापि अग्रहः चरेत्, सर्वं हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिब्रजेत्, हे पुरुष! त्वमेव तव मित्रम् किं बहिर्मित्रमिच्छसि?

पदार्थ—का अरई—क्या अरति है? के आणंदे—क्या आनन्द है? इत्यपि—इस विषय में। अग्रहे—अनासक्त होकर। चरे—विचरण करे, और। सर्व्व—सब प्रकार के। हासं—हास्य को। परिच्चज्ज—परित्याग करे। आलीनगुप्तो—गुप्तेन्द्रिय होकर। परिच्चए—संयम का परिपालन करे। पुरिसा—हे पुरुष—आत्मन्। तुममेव—तू ही—सदनुष्ठान करने से। तुमं मित्तं—अपना मित्र है, फिर तू। बहिया—अपने आत्मस्वरूप से बाहर अन्य को। किं मित्तमिच्छसि—मित्र बनाने की क्या इच्छा रखता है अथवा अपने से बाहर मित्र ढूँढ़ता क्यों फिरता है?

मूलार्थ—हे आर्य! धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में संलग्न मुनि को यह अनुभूति नहीं होती कि भौतिक अरति—दुःख एवं आनन्द क्या है? वह दुःख-सुख के संवेदन से अनासक्त होकर आत्म-चिन्तन में तल्लीन होकर रहता है। इसलिए मुनि को कछुए की भांति मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके संयम-साधना में प्रवृत्त रहना चाहिए; क्योंकि वस्तुतः तेरी आत्मा ही तेरा मित्र है, अर्थात् सदनुष्ठान में प्रवृत्त आत्मा से ही तू कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर सकता है। अतः हे पुरुष—आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है फिर तू अपने से बाहर अन्य मित्रों की क्यों इच्छा रखता है, अर्थात् अपने मन को अन्यत्र से हटाकर अपनी आत्मज्योति को जगा।

हिन्दी-विवेचन

जीवन में योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये कर्म बन्धन के भी कारण हैं। और निर्जरा के भी कारण है। जब योगों की प्रवृत्ति विषय-वासना में होती है, तो उनसे पाप कर्म का बन्ध होता है और जब इन्हें बाह्य पदार्थों से हटाकर संयम में, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में लगाते हैं, तो ये निर्जरा के कारण बन जाते हैं। क्योंकि उस समय साधक की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। उसे इस बात का कोई ध्यान ही नहीं रहता कि बाहर क्या कुछ हो रहा है। जिस समय वह आत्मचिन्तन में संलग्न रहता है, उस समय उसे शारीरिक अनुभूति भी नहीं होती है। इसलिए उसे यह भान नहीं रहता कि दुःख एवं आनन्द क्या है। जिस समय गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमिल ब्राह्मण ने प्रज्वलित अंगारे रखे तो उनको तीव्र वेदना हुई होगी; इसकी हम कल्पना कर

सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि उनके शरीर को ताप नहीं हुआ हो, परन्तु उनका चिन्तन आत्मस्वरूप में था, इसलिए उन्हें उसकी अनुभूति नहीं हुई।

मनुष्य जब देहाभिमुख होकर सोचता है तो उसे अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों तथा स्पर्शों आदि में आनन्द एवं अरति (दुःख) की अनुभूति होती है। उससे उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत होती है, विषयों की आसक्ति बढ़ती है और परिणामस्वरूप संसार परिभ्रमण बढ़ता है। परन्तु साधक आत्माभिमुख होता है। अतः जब वह धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में संलग्न होता है तो उस समय उसे आनन्द एवं अरति का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उसका संवेदन नहीं होता; क्योंकि उस समय योगों की प्रवृत्ति चिन्तन में लगी होती है। अतः साधक को आत्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि रति एवं अरति मोह जन्य है और वहां मोह कर्म का अभाव होने के कारण उभय विकारों की अनुभूति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इससे स्पष्ट हो गया कि जब साधक आत्मचिन्तन में तल्लीन होता है, तब उसे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है और ऐसी स्थिति में ही ध्यान एवं चिन्तन-मनन में तेजस्विता आ पाती है। आगम में भी कहा गया है कि जब साधक का मन लेश्या, अध्यवसाय, तीव्र अध्यवसाय, आत्म चिन्तन में लगा होता है तथा उसे जिन वचनों में या आत्म-चिन्तन में अनुराग होता है, अपने योगों को आत्म-चिन्तन में अर्पित कर देता है; उसी की भावना रखता है और उसका मन अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं¹।

ध्यान योगों को एकाग्र करने का साधन है और इसी साधना के बल से साधक एक दिन शुक्लध्यान के द्वारा योगों का निरोध कर अयोगी अवस्था को प्राप्त करता है और फिर समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अपने साध्य को पा लेता है। अस्तु, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन, मनन साध्य सिद्धि का साधन हैं। इसलिए साधक को हास्य आदि का परित्याग

1. तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदञ्जवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउते तदप्पिअकरणे, तब्भावणाभाविए, अणत्थ कत्थइमणं अकरेमाणे...।

करके तथा विषय-वासना से मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके, उसे ध्यान एवं चिन्तन-मनन में संलग्न होना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा पर निर्भर रहना चाहिए, क्योंकि उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना विकास करने में वही समर्थ है। संसार की कोई भी शक्ति न उसे गिरा सकती है और न उसे उठा सकती है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि हे पुरुष—आत्मन्! तू ही अपना मित्र है। फिर अपने को छोड़कर बाहर मित्रों को कहां ढूँढ़ता फिरता है? मुझे अपनी शक्ति को पाने के लिए बाहर नहीं, अपने अंदर ही झाँकने की आवश्यकता है। तू अपनी दृष्टि को बाहर से हटाकर अपने अंदर मोड़ ले, फिर अनन्त ज्ञान-दर्शन की ज्योति से तू ज्योतिर्मान हो उठेगा, तेरे अंदर ही अनन्त सुख का सागर लहर-लहर कर लहराता दिखाई देगा और तेरे जीवन के कण-कण में अनन्त शक्ति का संचार होने लगेगा। यह अनन्त चतुष्टय तेरे ही भीतर निहित है। इसे प्रकट करने के लिए अन्तर्द्रष्टा बनकर आत्मचिन्तन और ध्यान में संलग्न होने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरुष' को सम्बोधित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान एवं आत्मचिन्तन का अधिकारी पुरुष ही है।

आत्मचिन्तन की पूर्व भूमिका का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जं जाणिज्जा उच्चाळइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चाळइयं, पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ॥119॥

छाया—यं जानीयादुच्चालयितारं तं जानीयात् दूरालयिकं, यं जानीयाद् दूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारम्, पुरुष! आत्मानमेवाभिनिगृह्य एवं दुःखात् प्रमोच्यसि, पुरुष! सत्यमेव समाभिजानीहि सत्यस्य आज्ञयोपस्थितो मेधावी मारंतरति, सहितोधर्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति।

1. पुरुषद्वारामंत्रणं तु पुरुषस्यैवोपदेशाहित्वात्तदनुष्ठानंसमर्थं त्वाच्चेति। —आचारांग वृत्ति

पदार्थ—जं—जो। उच्वालइयं—कर्म क्षय करना। जाणिज्जा—जानता है। तं—वह मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। जं—जो। दूरालइयं—मोक्ष मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। तं—वह। उच्वालइयं—कर्म क्षय करने के मार्ग को। जाणिज्जा—जानता है। पुरिसा—हे पुरुष! अत्ताणमेव—अपने आत्मा को ही। अभिणिगिज्झ—धर्म ध्यान से बाहर जाते हुए को रोक-निरोध कर। एवं—इस प्रकार तू। दुक्खा—दुःख से। पमुच्चसि—छूट जाएगा। पुरिसा—हे पुरुष! सच्चमेव—सत्य और संयम को ही। समभिजाणाहि—भली प्रकार जानकर आचरण कर। सच्चस्स—सत्य की। आणाए—आज्ञा में। उवट्ठिए—उपस्थित हुआ। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मारं—संसार को। तरइ—पार कर देता है। सहिओ—ज्ञानादि से वा हित से युक्त। धम्ममायाय—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। सेयं—पुण्य वा आत्महित को। समणुपस्सइ—सम्यक् प्रकार से देखता है।

मूलार्थ—जो कर्म क्षय करने के मार्ग को जानता है, वह मोक्ष को भी जानता है और जो मोक्ष को जानता है, वह कर्म क्षय करने के मार्गों को भी जानता है। हे पुरुष! तू अपने आत्मा का ही निग्रह कर, धर्मध्यान से विमुक्त जाते हुए आत्मा को रोक, इस प्रकार करने से तू दुःखों से छूट जाएगा। हे पुरुष! तू सत्य-संयम का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर, पालन कर, सूत्र की—आगम की आज्ञा में उपस्थित हुआ मेधावी—बुद्धिमान संसार को तैर जाता है और ज्ञानादि से युक्त हुआ श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके आत्महित को भली-भाँति देखता है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधक ध्यान के द्वारा योगों को एकाग्र करता है। मन-वचन एवं काया की बाह्य प्रवृत्ति को अपने अंदर मोड़ता है, आत्म चिन्तन में लगाता है। इससे संयम-साधना में तेजस्विता आती है और वह इस साधना के द्वारा नये कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन कर्मों का क्षय करता चलता है। इस प्रकार वह एक दिन समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को, निर्वाण को पा लेता है; क्योंकि कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करना ही मोक्ष है अथवा संपूर्ण कर्म क्षय का ही दूसरा नाम मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि जो कर्म क्षय करना

जानता है, वह मुक्ति को जानता है और जो मोक्ष को जानता है वह कम क्षय करने की प्रक्रिया को जानता है¹।

साधक अन्तर्मुखी साधना से ही कर्म क्षय करता है। इसलिए उसे आदेश देते हुए कहा गया है—तू अपनी आत्मा को बहिर्वृत्तियों से हटाकर धर्मध्यान या आत्म-चिन्तन की ओर मोड़। दूसरे शब्दों में यों कहते हैं कि तू बाहर से सिमट कर अपने अन्दर स्थित हो जा। इससे विषय-वासना की आसक्ति से आने वाले कर्म रुक जाएंगे और परिणामस्वरूप तू दुःखों से मुक्त हो जाएगा।

इसके लिए सत्य-संयम का आचरण आवश्यक है। सत्य पथ पर गतिशील एवं सत्य—आगम की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति संसार-सागर से पार हो जाता है; क्योंकि विषयों में आसक्त रहने का नाम संसार है और जब वह विषयों से अपने को सर्वथा हटा लेता है, तो उसके लिए संसार दूर होता जाता है और मोक्ष निकट होता जाता है। इसलिए साधक को सत्य-संयम के परिपालन करने एवं आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने का आदेश दिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में सत्य शब्द सत्य, संयम एवं आगम, तीनों अर्थ में प्रयुक्त हुआ है²।

‘मार’ शब्द का अर्थ संसार किया है, यह भी उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त ‘मार’ शब्द कामदेव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और वह अर्थ भी यहां अनुपयुक्त नहीं है; क्योंकि श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक काम-वासना पर विजय पा लेता

1. ‘उच्चालइयं’ शब्द कर्मों को दूर करने का तथा ‘दूरालइयं’ शब्द मोक्ष-मार्ग का संसूचक है। संस्कृत में इसका ‘दूरालयं’ रूप बनता है और इससे मत्वर्थीय प्रत्यय का संबंध कर देने से ‘दूरालयिक’ रूप बन जाता है, जो मोक्षमार्गानुगामी आत्मा का परिबोधक है; ‘दूरे सर्वहियधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालय—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयच्छन् दूरालयिकस्तमिति।’
—आचारांग वृत्ति

2. सद्भ्यो हितः सत्यः—संयमस्तमेवापर व्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहिआसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहि—गुरु साक्षिगृहीत प्रतिज्ञानिर्वाहको भव, यदिवा सत्यः—आगमस्तत्परिज्ञानं च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनं। ‘सच्चमेव समणुजाणाहि। इस वाक्य में प्रयुक्त सत्य शब्द के तीन अर्थ किए गए हैं और ‘सच्चस्स’ का अर्थ तो एक आगम ही किया है—“सत्यस्य—आगमस्याज्ञयोपस्थितः सन्।

—आचारांग वृत्ति

है और विषय-भोग का विजेता कर्म का क्षय करके जन्म-मरण रूप संसार सागर से पार हो जाता है।

“पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिञ्ज एवं दुक्खा पमुच्चसि” इस पाठ से अयोगी गुणस्थान की ओर संकेत किया गया है। इसमें कहा गया है कि हे पुरुष! तू योगों का निरोध कर, जिससे तू सारे दुःखों से छूट जाएगा। योगों का पूर्ण निरोध चौदहवें अयोगी गुणस्थान में ही होता है और इस गुणस्थान को स्पर्श करने के बाद जीव निर्वाण-पद को पा लेता है, समस्त कर्म बन्धन एवं कर्मजन्य उपाधि से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

इतना स्पष्ट होने पर भी कुछ लोग प्रमाद का सेवन करते हैं, विषय कषाय में आसक्त होते हैं। उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमायंति॥120॥

छाया—द्विहतः [दुर्हतः] जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थ (पूजनाय) यस्मिन्नेके प्रमाद्यन्ति।

पदार्थ—दुहओ—राग-द्वेष से पीड़ित जीव। जीवियस्स—जीवन के लिए। परिवंदण—परिवन्दनार्थ। माणण—मान के लिए। पूयणाए—पूजा के लिए। जं—उक्त निमित्तों से। एगे—कोई एक जीव। पमायंति—प्रमाद का सेवन करते हैं, अर्थात् हिंसादि पाप में प्रवृत्त होते हैं।

मूलार्थ—राग-द्वेष से संतप्त कई एक जीव अपने जीवन के मान-सम्मान के लिए, एवं पूजा-प्रतिष्ठा के लिए प्रमाद-हिंसा आदि परिवन्दन, पापों का आसेवन करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

जब मनुष्य की दृष्टि देहाभिमुख या भौतिकता की ओर होती है, तब वह दुःखों के नाश का उपाय भी बाह्य पदार्थों में खोजता है। इसलिए वह अनुकूल पदार्थ एवं साधनों पर अनुराग करता है और वह प्रतिकूल साधनों से द्वेष करता है। उनसे बचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग-द्वेष में संलग्न व्यक्ति अपने जीवन के लिए,

वन्दन, सत्कार पाने के लिए, मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रमाद का सेवन करता है। वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए हिंसा आदि अनेक दोषों का सेवन करता है और विषय-वासना में अधिक आसक्त होने के कारण रात-दिन अव्रत का पोषण करने में लगा रहता है। इससे वह पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है।

निष्कर्ष यह है कि राग-द्वेष के वश जीव हिंसादि दोषों में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का संग्रह करता है और परिणामस्वरूप दुःखों के प्रवाह में प्रवहमान रहता है।

अतः साधक को राग-द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देते हैं, उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सहिओ दुक्खमच्चत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकोलोकपवंचाओ मुच्चइ, तिबेमि॥121॥

छाया—सहितोदुःखमात्रया स्पृष्टः नो झञ्जयेत् (नो व्याकुलितमतिर्भवेत्) पश्य! इमं द्रव्यः लोकालोक प्रपंचात् मुच्यते। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सहिओ—हित-ज्ञान आदि से युक्त। दुक्खमच्चत्ताए—दुःख मात्र से। पुट्ठो—स्पर्शित हुआ। नो झंझाए—व्याकुल न होवे। पासिमं—हे शिष्य! तू इस बात को देख। दविए—द्रव्यभूत—मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधु। लोकोलोकप-वंचाओ—लोक के प्रपंच से। मुच्चइ—मुक्त हो जाता है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—ज्ञानवान साधु दुःखों से स्पर्शित होने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होते। अतः हे साधक! तू मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधुओं को देख। जो लोक के प्रपंच से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

विचारशील, चिन्तनशील साधक कष्ट उपस्थित होने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता। घबराता नहीं और न वह उन कष्टों को दूर करने के लिए कोई सावध अनुष्ठान ही करता है। वह समस्त दुःखों का मूल कारण कर्म को ही मानता है। अतः वह अपनी शक्ति दुःखों के मूल का उन्मूलन करने में लगा देता है। उसका प्रयत्न

केवल भौतिक दुःख नाश का नहीं, बल्कि समस्त दुखों का एवं संसार-भ्रमण के कारण कर्म का क्षय करने का रहता है। अतः वह अपनी वृत्ति को बाहर से मोड़ कर अन्दर की ओर हटा लेता है। या यों कहिए कि सदा आत्मसाधना में संलग्न रहता है।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र में साधक को आदेश देते हुए कहा गया है कि तू साधु जीवन की साधना को देख और अपने आचरण को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर; क्योंकि संयमनिष्ठ मुनि तप-संयम की साधना से मोक्ष पथ पर बढ़ता हुआ लोक-संसार के समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह रहा कि साधु को ज्ञान के साथ धैर्यशील एवं सहिष्णु होना चाहिए। कष्ट एवं वेदना के समय भी उसे साहस, शांति एवं आत्म-चिन्तन का त्याग नहीं करना चाहिए और जीवन से निराश होकर संकल्प-विकल्प में नहीं उलझना चाहिए। रोग उपशान्ति के लिए औषध की आवश्यकता पड़ने पर निर्दोष एवं सात्त्विक औषध का सेवन करते हुए भी धैर्य एवं आत्मचिन्तन में संलग्न रहना चाहिए; क्योंकि जब योगों की प्रवृत्ति चिन्तन में लगी रहेगी तो बाह्य वेदना की अनुभूति स्वतः कम हो जाएगी। इससे आत्मा में शांति की अनुभूति होगी और पहले के बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होगी। इसलिए साधक को कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए हर स्थिति-परिस्थिति में आत्माभिमुख होकर चलना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में संयम, आत्मचिन्तन एवं परीषहों के उपस्थित होने पर भी धैर्य एवं सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो अधैर्य एवं चंचलता का कारण कषाय, राग-द्वेष एवं भय ही हैं। अतः प्रस्तुत उद्देशक में इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। उसका प्रारम्भ करते हुए कहा है—

मूलम्—से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स, पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्भि॥१२२॥

छाया—सः वमिता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं स्वकृतभित्।

पदार्थ—से—वह, जो त्यागी है। कोहं—क्रोध को। च—और। माणं—मान को। च—और। मायं—माया को। च—और। लोभं—लोभ को। वंता—छोड़ता है। च—और। आयाणं—कर्मास्रव को छोड़ता है, वह। सगडब्भि—स्वकृत कर्मों का भेदन करता है। एयं—यह। दंसणं—अभिप्राय। उवरयसत्थस्स—द्रव्य और भाव शस्त्र से निवृत्त। पलियंतकरस्स—कर्मों का या संसार का अन्त करने वाले। पासगस्स—भगवान महावीर का है।

मूलार्थ—जो ज्ञान से युक्त संयमनिष्ठ मुनि है, वह कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन—त्याग कर देता है। जो कर्मास्रव का परित्याग करता है, वह स्वकृत कर्मों का भेदन करता है। संसार और कर्मों का अन्त करने वाले तथा द्रव्य और भाव शस्त्र से रहित भगवान महावीर ने ऐसा उपदेश दिया है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का उद्देश्य है—कर्मों से सर्वथा मुक्त होना। इसलिए प्रत्येक तीर्थंकर भगवान अपने शासनकाल में मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं। प्रस्तुत सूत्र में भगवान

महावीर कषाय के त्याग का उपदेश देते हैं। कषाय से कर्म का बन्ध होता है और कर्म-बंध से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह संसार-परिभ्रमण में सहायक क्रोध आदि का परित्याग कर दे। जो व्यक्ति कषाय का परित्याग कर देता है, वह स्वकृत कर्म का भी भेदन कर देता है; क्योंकि कषाय कर्म-बंधन का कारण है और जब कारण नष्ट कर देंगे तो कार्य का नाश सहज ही हो जाएगा। अतः कर्म का क्षय करने के लिए पहले कषाय-त्याग का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पासगस्स दंसणं' का अर्थ है—लोक के समस्त पदार्थों के यथार्थ द्रष्टा को पश्यक कहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर जी हैं, और उनका उपदेश एवं दर्शन 'पासगस्स दंसणं' कहलाता है¹। 'आयाणं' शब्द से हिंसा आदि 5 आस्रव एवं 18 पाप स्वीकार किए गए हैं। इनके द्वारा ही जीव अष्ट कर्मों को बांधता है। इसलिए इन्हें 'आयाणं-आदानं' कहते हैं²।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सर्वज्ञता या सर्वज्ञ के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। इसलिए उक्त विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥123॥

छाया—यो एकं जानाति स सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति स एकं जानाति।

पदार्थ—जे—जो। एगं—एक—परमाणु या आत्मा की स्वपर्याय और परपर्याय को। जाणइ—जानता है। से—वह। सव्वं—सर्व द्रव्यों की स्व-पर पर्यायों को। जाणइ—जानता है। जे—जो। सव्वं—सर्व वस्तु को। जाणइ—जानता है। से—वह।

1. सर्व निरावर्णत्वात्पश्यति—उपलभत इति पश्यः स एव पश्यकः—तीर्थकृत्। श्री वर्द्धमान स्वामी तस्य दर्शनम्—अप्रभिप्रायो यदिवा दृश्यते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्—उपदेशः। —आचारांग वृत्तिः

2. आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सहश्लिष्यतेऽष्ट प्रकार कर्म येन तदादानं—हिंसा-धाश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा। —आचारांग वृत्तिः

एंगं—आत्म आदि एक द्रव्य को। जाणइ—जानता है।

मूलार्थ—जो एक द्रव्य को जानता है, वह सब को जानता है, और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है।

हिन्दी-विवेचन

जैन दर्शन में मूल रूप से दो तत्त्व माने हैं—जीव और अजीव। संसार के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ इन्हीं दो तत्त्वों में आ जाते हैं। संसार में इन दोनों का इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक का ज्ञान होने पर दूसरे का या समस्त पदार्थों का परिज्ञान हो जाता है। जब व्यक्ति आत्मा का चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है तो वह सहज ही अन्य तत्त्वों से परिचित हो जाता है। क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी, अरूपी एवं अनन्त चतुष्टय युक्त शुद्ध है। फिर भी अनन्त आत्माएं संसार में परिभ्रमण कर रही हैं। इसका कारण यह है कि वे कर्म पुद्गलों से आवृत्त हैं। कर्म अजीव हैं, जड़ हैं। अतः जब कर्म-आवरण पर सोचते हैं, तो अजीव तत्त्व का बोध हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि अजीव या कर्म आत्मा को क्यों आवृत्त करते हैं। इस समस्या के समाधान में गोता लगाने पर ज्ञात होता है कि आत्मा राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों तथा योगों की प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ कर्मों—जिन्हें पाप और पुण्य भी कहते हैं, का संग्रह करती है। शुभाशुभ कर्म आगमन के द्वार को शास्त्रीय भाषा में आस्रव कहते हैं। इन आए हुए कर्मों के परिणामों की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार उनका तीव्र एवं मन्द बन्ध होता है। संयम के द्वारा आते हुए नए कर्मों को रोक दिया जाता है और तप के द्वारा पुराने कर्मों का क्षय कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया से आत्मा एक दिन कर्म एवं कर्मजन्य साधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। इन्हें क्रमशः संवर, निर्जरा और बन्ध कहते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान करने वाला व्यक्ति अन्य तत्त्वों को भी जान लेता है। एक तत्त्व के परिज्ञान में सब तत्त्वों का तथा सब तत्त्वों के परिज्ञान में एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के साथ अनेक या समस्त का संबंध जुड़ा हुआ है और अनेक में एक समाहित है। इसलिए सम्यक्तया एक का ज्ञान होने पर अनेक का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार आत्मचिन्तन की गहराई में उतरने

पर वह अज्ञान के आवरण को अनावृत करके पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेती है और सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर संसार के प्राणियों को मोक्ष-मार्ग दिखाती है।

सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थंकर क्या उपदेश देते हैं। इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं,
जे एगं नामे से बहं नामे; जे बहं नामे से एगं नामे, दुक्खं लोगस्स
जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति,
नावकंखति जीवियं॥124॥

छाया—सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम्। यः एकं नामयति स बहून् नामयति यः बहून् नामयति स एकं नामयति दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा वान्त्वा लोकस्य संयोगं यान्ति धीराः महायानं परेण परं यान्ति नावकां क्षन्ति जीवितम्।

पदार्थ—पमत्तस्स—प्रमादी व्यक्ति को। सव्वओ—सब तरह से। भयं—भय है। अप्पमत्तस्स—अप्रमत्त को। सव्वओ—सर्व तरह से। भयं—भय। नत्थि—नहीं है। जे—जो। एगं—एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को। नामे—क्षय करता है। से—वह। बहं—बहुत-से मानादि को भी। नामे—क्षय करता है। जे—जो। बहं—बहुतों को। नामे—क्षय करता है। से—वह। एगं—एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को। नामे—क्षय करता है। लोगस्स—लोक के। दुक्खं—दुःख को। जाणित्ता—जानकर फिर। लोगस्स—लोक के। संजोगं—संयोग को। वंता—छोड़ कर। धीरा—धीर पुरुष। महाजाणं जन्ति—महायान को अर्थात् एक जन्म में ही दर्शनादि का ग्रहण करके मुक्त हो जाते हैं अथवा। परेणपरंजंति—परम्परा से आगे बढ़ता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। परन्तु। नावकंखन्ति जीवियं—असंयम जीवन की इच्छा नहीं करते।

मूलार्थ—प्रमत्त—प्रमादी जीव को सब तरह से भय है और अप्रमत्त को सर्व तरह से कोई भय नहीं। जो एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय करता है, वह अन्य बहुत-सी कर्म-प्रकृतियों को क्षय करता है, और जो बहुत-सी कर्म-प्रकृतियों को क्षय

करता है, वह एक को क्षय करता है। लोक के दुःख को जान कर और उसके संयोग को त्याग कर धीर पुरुष मोक्ष मार्ग पर चलते हैं और वे अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वे महापुरुष कभी भी असंयममय जीवन की इच्छा नहीं करते।

हिन्दी-विवेचन

भय मोह जन्य है। चूँकि वह चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है, इसलिए असंयमनिष्ठ जीवन में उसका उदय रहता है। इससे प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि प्रमादी व्यक्ति को सब प्रकार से भय है, अर्थात् जहाँ प्रमाद है वहीं सब भय हैं। जब आत्मा अप्रमत्त भाव में विचरण करती है, तब मनुष्य को कोई भय नहीं रह जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमादी व्यक्ति की दृष्टि में भौतिक पदार्थों की मुख्यता है, अतः उनके नाश या वियोग की स्थिति उत्पन्न होते ही मन में भय एवं कम्पन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अप्रमत्त मुनि का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है, शरीर एवं अन्य भौतिक साधन उसकी दृष्टि में केवल आत्म विकास के साधन मात्र हैं— इससे अधिक नहीं, इसलिए और साधनों का तो क्या, देह के विनाश का प्रसंग आने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह उसे उसी प्रसन्न भाव से त्याग देता है, जिस प्रसन्न भाव से पुरातन वस्त्र का परित्याग करता है। अतः संयमनिष्ठ अप्रमत्त व्यक्ति को किसी भी प्रकार का भय नहीं होता, वह सदा निर्भय होकर विचरता है। वह अभय का देवता न स्वयं भयभीत होता है और न अन्य किसी भी प्राणी को भयभीत करता है।

जहाँ भय रहता है, वहाँ मोह कर्म की अन्य प्रकृतियाँ भी रहती हैं। वस्तुतः मोह कर्म ही सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश करना सरल हो जाता है। इसलिए कहा गया कि जो व्यक्ति मोह कर्म की एक प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय कर देता है, वह शेष प्रकृतियों को भी क्षय कर देता है और जो मोह कर्म की बहुत-सी प्रकृतियों को क्षय करता है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध का भी नाश करता है या जो मोह कर्म को क्षय करता है; वह बहुत-से कर्मों का अर्थात् तीन घातिकर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का उसी समय नाश करता है और शेष कर्मों का आयुर्कर्म के क्षय के साथ क्षय कर देता है। और जो बहुत-से कर्मों का क्षय करता है, वह मोह कर्म का भी क्षय करता है।

इस प्रकार आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है; क्योंकि दुःखों का मूल कारण कर्म है और विषय-वासना की आसक्ति एवं राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक राग-द्वेष एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करके मोक्ष-मार्ग पर चले। इससे वह उसी भव में या परम्परा से—कुछ भवों में समस्त कर्मों का नाश करके निर्वाण पद पा लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'महाजाणं—महायान' शब्द का प्रयोग मोक्षमार्ग के अर्थ में किया गया है।¹ इसके अतिरिक्त 'यान' शब्द का चारित्र्य अर्थ भी होता है। अतः 'महायान' का अर्थ हुआ—उत्कृष्ट चारित्र्य²। धैर्यवान् पुरुष चारित्र्य की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं; अतः इस अपेक्षा से चारित्र्य को भी महायान कहा है।

क्या चारित्र्य की आराधना से आत्मा उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेती है या वह देव, मनुष्य आदि गतियों में कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करती है? कुछ आत्माएं उसी भव में समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती हैं और कुछ आत्माएं संयम के साथ सरागता होने के कारण सौधर्म आदि स्वर्गों में उत्पन्न होती हैं। और वहां मनुष्य एवं विशिष्ट स्वर्गों में उत्पन्न होता हुआ, एक दिन मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इस बात को 'परेण परं जाति' पाठ से अभिव्यक्त किया है। 'परेण (तृतीयांत) और परं (द्वितीयान्त) इन दोनों शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे—1—धीर पुरुष संयम की आराधना से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। 2—आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में चढ़ते हुए, पंचम गुणस्थान आदि में होता हुआ अयोगि केवली 14वें गुणस्थान में पहुंच जाता है। 3—अनन्तानुबन्धी क्षय से दर्शन और चारित्र्य मोहनीय कर्म या घाति एवं अघाति कर्मों का क्षय कर देता है³। इसके अतिरिक्त इन

1. महायानं—सम्यग् दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो मोक्षः। —आचारांग वृत्ति
2. यान्त्यनेन मोक्षमिति यानं—चारित्रं तच्चात्रैकभवकोटिदुर्लभं लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविध कर्मोदयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद्यानं च महायानमिति। —आचारांग वृत्ति
3. यथा—“परेण-संयमेनोदिष्ट विधिनां परं-स्वर्गं पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदि-वा परेण—सम्यग्बुद्धिगुणस्थानेन 'परं'—देशवृत्त्यायोगिकेवलि पर्यंतं गुणस्थानकमधितिष्ठन्ति, परेण वा अनन्तानुबन्धि क्षयेणोल्लसत्कण्डकस्थानाः 'परं' 'दर्शनमोहनीयचारित्र्यमोहनीय-

उभय शब्दों का 'परेण'—तेजोलेण्या से भी 'परं'—विशिष्टतर लेण्या को प्राप्त करना भी अर्थ होता है।

'नामे' यह क्रियापद है, जैसे—नामयति—क्षपयति 'लोकस्य संयोग' पद में आत्मा के अतिरिक्त पुत्र, पत्नी आदि परिवार में आसक्त रहना। अतः इसका अभिप्राय यह है कि मुनि को धन-वैभव एवं पारिवारिक सम्बन्ध का त्याग करके संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो आत्मा अनन्तानुबन्धी आदि कर्म-प्रकृतियों का क्षय करने को तैयार होता है, उस समय उन्हीं का क्षय करता है या साथ में अन्य प्रकृतियों का भी क्षय करता है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि एगं, सङ्घी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं॥125॥

छाया—एकं क्षपयन् पृथक् (अन्यदपि) क्षपयति, पृथगपि (अन्यदपि) श्रद्धी (श्रद्धावान्) आज्ञया मेधावी लोकं च आज्ञया अभिसमेत्याकुतोभयं, अस्ति शस्त्रं परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम्।

पदार्थ—एगं—एक मोहनीय कर्म का। विगिंचमाणे—क्षय करता हुआ साधक। पुढो—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन अनेक कर्मों का। विगिंचइ—क्षय करता है। पुढोवि—ज्ञानावरणीय आदि अनेक कर्मों का क्षय करता हुआ साधक। एगं—एक कर्म का क्षय करता है।

आणाए—भगवत्प्रणीत आगम के अनुसार आचरण करने वाला। सङ्घी—श्रद्धावान और मेहावी—बुद्धिमान साधक द्वारा। लोगं—छह काय के जीव लोक को। आणाए—आगम के उपदेश से। अभिसमिच्चा—जानकर। अकुओभयं—किसी भी प्राणी को भय न हो, वैसा व्यवहार करना चाहिए। सत्थं—शस्त्र रूप असंयम।

क्षयंघातिभवोपग्राहीकर्मणांवा क्षयमवाप्नुवन्ति' एवं विधाश्च कर्म क्षपणोद्यत जीवितं कियद्गतं किं वा शेषमित्येवं नावकांक्षन्ति।”

परेणपरं—तारतम्य वाला है। अत्थि—है, परन्तु। असत्थं—संयम। परेण परं नत्थि—तारतम्य—उतार-चढ़ाव वाला नहीं है।

मूलार्थ—मुनि एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता हुआ दर्शन सप्तक का भी क्षय करता है और दर्शन सप्तक का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय कर देता है। ऐसा श्रद्धावान भगवत्प्रणीत आज्ञा के अनुसार अनुष्ठान करता हुआ बुद्धिमान साधक भगवान के उपदेश से लोक को जानकर किसी भी जीव को भय न दे, क्योंकि असंयम तारतम्य रूप वाला होता है, परन्तु संयम उतार-चढ़ाव वाला नहीं होता।

हिन्दी-विवेचन

जैन दर्शन विकासवादी है। वह आत्मा के स्वतन्त्र विकास पर विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से विकास करके निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी श्रेणिविकास का क्रम बताया गया है।

जब साधक क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय, दर्शन—सम्यक्त्वमोहनीय; मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उक्त गुणस्थान से ही उसका विकास आरम्भ होता है, दृष्टि में एक नया परिवर्तन आता है। उसका चिन्तन-मनन अब बाह्याभिमुखी नहीं, अपितु आत्माभिमुखी होता है।

इसके बाद वह अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यानी कषाय एवं संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता हुआ पांचवें, छठे, सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर तेरहवें गुणस्थान में पहुंचता है और वहां से चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहां समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके और मन-वचन एवं काय का निरोध करके निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक सदा कर्मबन्धन को शिथिल—ढीला करने की साधना में लगा रहता है। कुछ साधक एक भय में समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ नहीं होते। उनकी साधना में इतनी तेजस्विता नहीं होती कि वे शीघ्र गति से सभी सीढ़ियों को पार कर सकें। फिर भी उनका लक्ष्य संपूर्ण कर्म क्षय करने का होता है और वे उसी श्रेणी-क्रम से उस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिए कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी साधक श्रद्धानिष्ठ होकर संयम-मार्ग पर चलता है और भगवान की आज्ञा के अनुसार साधना में प्रवृत्त होता है। अथवा छह काय या कषाय रूप लोक एवं उसके आरम्भ-समारम्भ तथा कषाय-सेवन से बढ़ने वाले संसार परिभ्रमण को जानकर किसी भी जीव को त्रास एवं भय नहीं देता। वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान जानता है। अतः दूसरे प्राणी को कष्ट देना अपनी आत्मा को कष्ट देना है, ऐसा जानकर वह सब को अभयदान देता है।

वस्तुतः भय संयम का शस्त्र है। असंयम सबसे भयंकर शस्त्र है, क्योंकि असंयत जीवन में एकरूपता नहीं रहती। अपने स्वार्थ की प्रमुखता के कारण दूसरे जीवों पर समदृष्टि नहीं रहती। इसलिए असंयत जीव अपने स्वार्थ को साधने के लिए द्रव्य एवं भाव शस्त्रों को तीक्ष्ण बनाता रहता है। अस्थि-शस्त्र के युग से लेकर अणुबम एवं हाईड्रोजन बम तक का इतिहास असंयम की विषाक्त भावना का परिणाम है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रों में तीव्रता आती रहती है। परन्तु संयम अशस्त्र है, उसमें द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार के शस्त्रों का अभाव है। साधक समभाव की दृष्टि लेकर आगे बढ़ता है। इसलिए उसमें तरतमता नहीं पाई जाती है। वह शस्त्र से दूर रहता हुआ सदा आगे बढ़ता रहता है। उसकी साधना की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। फिर उसे संयम की भी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि साधना की उपयोगिता साध्य के प्राप्त होने तक ही है, उसके प्राप्त हो जाने के बाद उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार संयम-निष्ठ साधक श्रेणी-विकास करता हुआ अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

साधक कषाय के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिस प्रकार वह क्रोध के स्वरूप एवं परिणाम से परिचित है, उसी प्रकार मान एवं अन्य कषायों के स्वरूप से भी परिचित है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जन्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयंपासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणंसिद्धा सगडब्भि किमत्थि ओवाही पासगस्स न विज्जइ? नत्थि तिवेमि॥126॥

छाया—यः क्रोधदर्शी स मानदर्शी, यो मानदर्शी स मायादर्शी, यो मायादर्शी, स लोभदर्शी, यो लोभदर्शी, स प्रेमदर्शी यः प्रेमदर्शी स द्वेषदर्शी, यो द्वेषदर्शी स मोहदर्शी, यो मोहदर्शी, स गर्भदर्शी, यो गर्भदर्शी स जन्मदर्शी, यो जन्मदर्शी स मारदर्शी यो मारदर्शी स नरकदर्शी, यो नरकदर्शी स तिर्यगूदर्शी यः तिर्यगूदर्शी स दुःखदर्शी। स मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च प्रेमं च द्वेषं च मोहं च गर्भं च जन्मं च मारज्यं नरकं च तिर्यज्यं च दुःखं च। एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं निषेध्य स्वकृतकर्मभित् किमस्ति उपाधिः? पश्यकस्य न विद्यते, नास्ति! इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो। कोहदंसी—क्रोध के स्वरूप को देखने वाला है। से—वह। माणदंसी—मान के स्वरूप को देखने वाला है। जे—जो। माणदंसी—मान के देखने वाला है। से—वह। मायादंसी—माया के देखने वाला है। जे—जो। मायादंसी—माया को देखने वाला है। से—वह। लोभदंसी—लोभ के देखने वाला है। जे—जो। लोभदंसी—लोभ के देखने वाला है। से—वह। पिज्जदंसी—राग के देखने वाला है। जे—जो। पिज्जदंसी—राग के देखने वाला है। से—वह। दोसदंसी—द्वेष के देखने वाला है। जे—जो। दोसदंसी—द्वेष के देखने वाला है। से—वह। मोहदंसी—मोह के देखने वाला है। जे—जो। मोहदंसी—मोह देखने वाला है। से—वह। गब्भदंसी—गर्भ के देखने वाला है। जे—जो। गब्भदंसी—गर्भ के देखने वाला है। से—वह। जम्मदंसी—जन्म के देखने वाला है। जे—जो। जम्मदंसी—जन्म के देखने वाला है। से—वह। मारदंसी—मरण—मृत्यु के देखने वाला है। जे—जो। मारदंसी—मृत्यु को देखने वाला है। से—वह। नरयदंसी—नरक को देखने वाला है। जे—जो। नरयदंसी—नरक को देखने वाला है। से—वह। तिरियदंसी—तिर्यक् के देखने वाला है।

जे—जो। तिरियदंसी—तिर्यक् दर्शी है। से—वह। दुःखदंसी—दुःख के देखने वाला है। से—वह। मेहावी—बुद्धिमान है जो इन से। अभिणिवट्टिज्जा—निवृत्ति करे तथा बुद्धिमान वही है जो निम्नलिखित कारणों से निवृत्ति करता है, यथा। कोहं च—क्रोध। माणं च—मान। मायां च—माया। लोभं च—लोभ। पिज्जं च—प्रेम-राग। दोसं च—द्वेष। मोहं च—मोह। जम्मं च—जन्म। मारं च—मरण। नरयं च—नरक। तिरियं च—तिर्यक्, और। दुःखं च—दुःख से। (चकार शब्द प्रेरणार्थ वा समुच्चय अर्थ वा पादपूर्णार्थ में जानना चाहिए। तथा उक्त पदों का अर्थ द्वितीय विभक्ति का करना और भावार्थ में पांचवीं विभक्ति का भी हो सकता है) एयं—यह। पासगस्स—तीर्थकर देव का। दंसणं—दर्शन है, जो कि। उवरय सत्थस्स—शस्त्र से उपरत हैं। पलियंतकरस्स—कर्मों का अन्त करने वाले हैं। किं—क्या। पासगस्स—पश्यक केवली भगवान को। ओवाहि—उपाधि है। अत्थि—है? न विज्जइ—न विद्यते, नहीं है। नत्थि—नहीं है। तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो क्रोध के देखने वाला है, वह मान के देखने वाला है, जो मान के देखने वाला है, वह माया के देखने वाला है, जो माया के देखने वाला है, वह लोभ के देखने वाला है, जो लोभ के देखने वाला है, वह राग के देखने वाला है, जो राग के देखने वाला है, वह द्वेष के देखने वाला है, जो द्वेष के देखने वाला है, वह मोह के देखने वाला है, जो मोह के देखने वाला है, वह गर्भ के देखने वाला है, जो गर्भ के देखने वाला है, वह जन्म के देखने वाला है, जो जन्म के देखने वाला है, वह मरण के देखने वाला है, जो मरण—मृत्यु के देखने वाला है, वह नरक के देखने वाला है, जो नरक के देखने वाला है, वह तिर्यक् के देखने वाला है, जो तिर्यक् के देखने वाला है, वह दुःख के देखने वाला है। मेधावी व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को तथा राग-द्वेष और मोह का एवं गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यक् और दुःख को छोड़ देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है। यह तीर्थकर देव का दर्शन अर्थात् सिद्धांत है जो कि शस्त्र से उपरत और संसार का अन्त करने वाले और स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाले हैं। क्या तीर्थकर अथवा केवली भगवान के भी कोई उपाधि हैं? उत्तर—तीर्थकर वा केवली भगवान के कोई भी उपाधि नहीं है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है। ये ही संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-प्रवाह को बढ़ाने वाले हैं। अतः बुद्धिमान वही है, जो इनसे निवृत्त हो जाता है। तीर्थंकर भगवान का यही उपदेश है। वे असंयम रूप शस्त्र से रहित होते हैं। अतः वे संसार का अन्त करने वाले एवं उपाधि-रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए, उसे उपाधि कहते हैं। यह दो प्रकार की है—1—द्रव्य उपाधि और 2—भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन-सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते हैं और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते हैं¹। सर्वज्ञ भगवान में द्रव्य उपाधि तो होती ही नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घातिकर्मों का क्षय कर दिया है। इसलिए अवशिष्ट चार कर्म भी कर्मबन्धन के कारण नहीं बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हें भी उपाधि रूप नहीं माना गया है, क्योंकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव उपाधि संसार-परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग संसार-नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एवं भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय समाप्त ॥



1. उपाधि: विशेषणं, उपाधीयत इति वोपाधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्ट प्रकारं कर्मम्।

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—सम्यक्त्व। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व—यथार्थ श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है—जैसे सारे प्रयत्न करने पर भी अन्धा व्यक्ति शत्रु पर विजय नहीं पा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व संपन्न व्यक्ति धन-वैभव एवं परिजनों का त्याग करके, व्यवहार से निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करके तथा तप एवं कायक्लेश आदि अनेक कष्ट उठाकर भी वह राग-द्वेष रूपी शत्रु को परास्त करके मुक्ति नहीं पा सकता। अतः कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रद्धा-सम्पन्न होना आवश्यक है। श्रद्धा-युक्त व्यक्ति के ही ज्ञान, तप और चारित्र सफल होते हैं, मोक्ष के कारणभूत होते हैं और सम्यक्त्व को स्पर्श करने के अनन्तर ही क्रमशः उन्नति करके तीर्थकर आदि पद की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम यों भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व मोक्ष-साधना का मूल कारण है। इसी कारण आगमों में मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, संयम-परिपालन आदि को दुर्लभ कहा है¹। अस्तु, श्रद्धा साधना का प्राण है, जीवन है।

प्रश्न हो सकता है कि किस बात पर श्रद्धा की जाए और कौन-से तत्त्वों पर विश्वास रखा जाए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र में साधना के मूल मंत्र, श्रद्धा रखने के तत्त्व एवं जैन दर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न

हंतव्या, न अज्जावेयव्या, न परिधि तव्या, न परियावेयव्या, न उद्देवेयव्या, एस धम्मे सुद्धे, निइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तंजहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरएदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ॥127॥

छाया—अथ ब्रवीमि ये अतीताः ये प्रत्युत्पन्नाः ये आगामिनः (अनागताः) अर्हन्तः भगवन्तः ते सर्वे एवमावक्षते एवं भाषन्ते एवं ज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः न ज्ञापयितव्याः न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्याः एष धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः तद्यथा-उत्थितेषु वा अनुत्थितेषु वा उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा उपरतदंडेषु वा अनुपरतदण्डेषु वा, सोपधिकेषु वा अनोपधिकेषु वा संयोगरतेषु वा असंयोगरतेषु वा तथ्यचैतत् तथा चैतत् अस्मिन् चैतत् प्रोच्यते ।

पदार्थ—से—मैं। बेमि—कहता हूँ। जे—जो। अईया—अतीत काल में हो गए। य—और। पडुप्पन्ना—जो वर्तमान काल में हैं तथा जो। आगमिस्सा—भविष्य काल में होंगे। अरहन्ता—अर्हन्त। भगवंतो—भगवन्त। ते—वे। सव्वे—सब। एवमाइक्खंति—इस प्रकार कहते हैं। एवं—इस प्रकार। भासंति—भाषण करते हैं। एवं—इस प्रकार। पण्णविंति—प्रज्ञापन करते हैं। एवं—इस प्रकार। परूविंति—प्ररूपण करते हैं। सव्वे—सर्व। पाणा—प्राणी। सव्वे—सब। भूया—भूत। सव्वे—सब। जीवा—जीव। सव्वे—सब। सत्ता—सत्त्व। न हंतव्या—न मारने चाहिए। न अज्जावेयव्या—न दूसरों से मरवाने चाहिए। न परिधितव्या—न किसी अन्य के द्वारा पकड़वाने चाहिए। न परियावेयव्या—न इनको परितापना देनी चाहिए। न उद्देवेयव्या—न इनके ऊपर उपद्रव करना चाहिए अर्थात् प्राणों से वियुक्त न करना चाहिए। एस धम्मे—यह अहिंसा रूप धर्म। सुद्धे—शुद्ध है। निइए—नित्य है। सासए—शाश्वत है। लोयं—जंतु लोक के दुःख सागर के अवगाढ़ को। समिच्च—विचार कर।

खेयण्णेहिं—जीवों के दुःखों को जानने वालों ने। पवेइए—प्रतिपादन किया है। तंजहा—जैसे कि। उट्टिएसु—जो धर्म सुनने के लिए तैयार हैं। वा—अथवा। अणुट्टिएसु—जो अनुद्यत हैं। वा—अथवा। उवट्टिएसु—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित हैं। वा—अथवा। अणुवट्टिएसु—अनुपस्थित हैं। वा—अथवा। उवरयदंडेसु—जो मन-वचन और काया के दंड से उपरत हैं। वा—अथवा जो। अणुवरयदंडेसु—दंड से उपरत नहीं हैं। वा—अथवा। सोवहिएसु—जो उपाधि से युक्त हैं। वा—अथवा। अणोवहिएसु—जो उपधि से रहित हैं। वा—अथवा। संजोगरएसु—माता-पिता के संयोग में रक्त हैं। वा—अथवा। असंजोगरएसु—जो संयोग रत नहीं हैं—एकान्त भावना के ऊपर आश्रित हैं, इनके प्रति भगवान ने धर्मदेशना दी है। एयं—वह। तच्च—सत्य है। च—नियमार्थ है। तहा—तथा। चेयं—एतद् वस्तु अहिंसा धर्म। अस्सिं—इस मौनेन्द्र प्रवचन में सम्यक् मोक्ष-मार्ग के विधान करने वाली। चेयं—यह शिक्षा। पवुच्चइ—प्रकर्ष से कही गई है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे आर्य! जिस प्रकार मैंने भगवान के मुख से श्रवण किया है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे को कहता हूँ—जो अरिहंत भगवन्त अतीत काल में हो चुके हैं, वर्तमान काल में हैं, तथा आगामी काल में होंगे, वे सब इस प्रकार भाषण करते हैं, इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार प्रज्ञापित करते हैं, इस प्रकार प्ररूपण करते हैं—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार—उपद्रव करना चाहिए, यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है, लोक के दुःखों का विचार कर खेदज्ञ पुरुषों ने इसका वर्णन किया है, जैसे कि जो अहिंसा धर्म के सुनने के लिए उद्यत हैं अथवा अनुद्यत हैं, उपस्थित हैं, वा अनुपस्थित हैं, मन-वचन और काय रूप दण्ड से उपरत हैं वा अनुपरत हैं, सोपधिक हैं अथवा उपधि रहित हैं, संयोग में रत हैं वा संयोग से उपरत हैं, इन सबको अहिंसा रूप धर्म सुनाना चाहिए। कारण यह कि धर्म सत्य है, मोक्ष-प्रदाता है, जैनागम में इस अहिंसानिष्ठ धर्म का प्रकर्ष रूप से वर्णन किया गया है। अतः प्रत्येक साधक को इस शुद्ध एवं शाश्वत धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

जैन धर्म के मूल उद्देश्य को समझने के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा की निष्ठा का इससे अधिक वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें बताया गया है कि अतीत, अनागत एवं वर्तमान तीनों काल में रहने वाले समस्त तीर्थंकरों का यही उपदेश रहा है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्व की हत्या नहीं करनी चाहिए, उन्हें पीड़ा और सन्ताप नहीं देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। इसके आचरण से जीव दुर्गति के द्वार को बन्द करके सुगति या मोक्ष की ओर बढ़ता है, आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होता है। इसलिए वृत्तिकार ने अहिंसा की इस महासाधना को दुर्गति के लिए अर्गला एवं सुगति के लिए सोपान रूप बताया है¹।

यह अहिंसा धर्म सर्व प्राणिजगत के लिए हितकर है, कल्याणरूप है। इससे समस्त जीवों को शांति मिलती है, सबको आत्मविकास का सुअवसर मिलता है, इसलिए इसका समस्त प्राणियों को उपदेश देना चाहिए, भले ही, वे सुनने के इच्छुक हों या न हों; सुनने के लिए उपस्थित हों या न हों; मन-वचन-काय से संवृत्त हों या न हों; सांसारिक उपाधि से मुक्त हों या न हों; धन-वैभव एवं परिवार से अनासक्त हों या न हों अथवा हम एक शब्द में यों कह सकते हैं कि पापी एवं धर्मी सभी व्यक्तियों को यह उपदेश देना चाहिए। अहिंसा का मार्ग सबके लिए समान रूप से खुला है। साधना के क्षेत्र में ऊंच-नीच, अमीर-गरीब; धर्मी-अधर्मी का कोई भेद नहीं है। जीवन की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता बीते हुए जीवन से नहीं नापी जाती, प्रत्युत वर्तमान एवं भविष्य के जीवन से नापी जाती है; अतः जब साधक जागृत होता है, संयम एवं अहिंसा के पथ पर बढ़ता है, तभी से उसके जीवन का विकास आरम्भ हो जाता है और वह विश्व के लिए वन्दनीय एवं पूजनीय बन जाता है। अस्तु, अहिंसा धर्म का सभी प्राणियों को समान भाव से उपदेश देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि तीनों काल में होने वाले तीर्थंकर इसी अहिंसा धर्म का उपदेश देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म अनादि-अनन्त है। यह बात अलग है कि कुछ क्षेत्रों में कुछ काल के लिए तीर्थंकर एवं तीर्थंकरों का शासन नहीं होता। परन्तु महाविदेह क्षेत्र में हर समय तीर्थंकरों का शासन रहता है। अतः कर्मभूमि में धर्म की सरिता सदा बहती रहती है और धर्म का आधार अहिंसा है,

क्योंकि अन्य व्रत, नियम एवं साधना इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है और इससे प्रत्येक प्राणी को शांति मिलती है। साधक के मन में भी शांति का सागर ठाठें मारता रहता है। मन में संकल्प-विकल्प एवं कलुषता को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। इस कारण अहिंसा को धर्म का प्राण कहा गया है और धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर सर्व क्षेमकरी अहिंसा का उपदेश देते हैं।

अतः साधक को अहिंसा धर्म पर श्रद्धा रखना चाहिए। श्रद्धा के बाद वह क्या करे, इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं आइत्तु न निहे न निक्खवे जाणित्तु धम्मं, जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे॥128॥

छाया—तदादाय न गोपयेत्, न निक्षिपेत् ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा दृष्टैः निर्वेदं गच्छेत्, नो लोकस्यैषणं चरेत्।

पदार्थ—तं—सम्यग्दर्शन को। आइत्तु—स्वीकार करके। न निहे—उसका गोपन न करे। न निक्खवे—न उसका परित्याग करे। धम्मं—धर्म को। जहा-तहा—यथार्थ रूप से। जाणित्तु—जानकर। दिट्ठेहिं—इष्ट या अनिष्ट रूप आदि में। निव्वेयं—वैराग्य भाव। गच्छिज्जा—धारण करे। नो लोगस्सेसणं चरे—परन्तु, लोकैषणा को ग्रहण न करे।

मूलार्थ—सम्यक्त्व को स्पर्श करने के बाद उसकी आराधना में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए और मिथ्यात्व के प्रवाह में बहकर उसका परित्याग भी नहीं करना चाहिए। इष्ट-अनिष्ट, रूप-रस आदि में वैराग्य भाव रखे, अर्थात् उनमें आसक्त न बने, न प्रिय वस्तु पर राग करे और न अप्रिय पदार्थ पर द्वेष रखे और लोकैषणा—श्रद्धा-विहीन लोगों का अनुकरण करके इष्ट वस्तु को उपादेय एवं अनिष्ट वस्तु को हेय बुद्धि से ग्रहण न करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा में निष्ठा—श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को दृढ़ शब्दों में कहा गया है कि वह अपनी शक्ति श्रद्धा को दृढ़ बनाने एवं उसके अनुरूप आचरण करने

में लगावे। सम्यक्त्व का विस्तार करने में कभी भी शक्ति का गोपन न करे और उसका परित्याग करने की भी न सोचे। सम्यक्त्व का प्रकाश धुंधला न पड़ जाए। इसके लिए उसे उसके अतिचारों—दोषों से बच कर रहना चाहिए। लोकैषणा भी जीवन को गिराने वाली है। लोकैषणा से यहां पुत्र, धन, काम-भोग, विषय-वासना, विलासिता आदि की इच्छा-कामना समझनी चाहिए। यह विषयेच्छा कर्म-बन्ध एवं दुःखों की परम्परा को बढ़ाने वाली है। अतः मुमुक्षु को लोकैषणा से निवृत्त होना चाहिए।

जिस व्यक्ति के जीवन में लोकैषणा नहीं होती, उसके मन में कुमति भी नहीं होती है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो-पुणो जाई पकप्पन्ति॥129॥

छाया—यस्य नास्ति इयं ज्ञातिः तस्यान्या कुतः स्याद्? दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं यदेतत् परिकथ्यते शाम्यन्तः प्रतीयमानाः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति।

पदार्थ—जस्स—जिस मुमुक्षु पुरुष के मन में। इमा—यह। जाई—जाति-लोकैषणा बुद्धि। नत्थि—नहीं है। तस्स—उसके। अण्णा—सावद्य प्रवृत्ति। कओ—कहां से। सिया—हो। दिट्ठं—देखा हुआ। सुयं—सुना हुआ। मयं—माना हुआ। विण्णायं—विशेषता से जाना हुआ। जं—जो। एयं—यह। परिकहिज्जइ—मेरे द्वारा कहा जाता है, अर्थात् जो कुछ मैं कहता हूँ वह सब सर्वज्ञोक्त है तथा जो सर्वज्ञोक्त कथनानुसार क्रिया नहीं करते, उनकी जो दशा होती है, अब उसके विषय में कहते हैं—समेमाणा—भोगों में आसक्त एवं। पलेमाणा—मनोज्ञ इन्द्रियों के अर्थ में मूर्च्छित होते हुए। पुणोपुणो—बार-बार। जाई—एकेन्द्रियादि जातियों में। पकप्पन्ति—परिभ्रमण करते हैं।

मूलार्थ—जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य-सावद्य-रूप प्रवृत्ति कहां से हो सकती है? जो यह कहा जाता है कि वह सर्वज्ञों द्वारा देखा हुआ, सुना हुआ, माना हुआ और विशेषता से जाना हुआ है, कि जो जीव लोकैषणा के त्यागी नहीं

हैं, वे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले मूर्च्छित और इन्द्रियों के अर्थों में लीन होते हुए बार-बार एकेन्द्रियादि जाति में परिभ्रमण करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

विषयेच्छा से मन में पाप-भावना उद्बुद्ध होती है और उस तृष्णा एवं आकांक्षा को पूरी करने के लिए मनुष्य आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होता है। अतः जिस व्यक्ति के मन में भोगेच्छा नहीं होती है, विषयों की तृष्णा एवं आकांक्षा नहीं रहती है, उसके मन में पाप-भावना भी नहीं जागती और परिणामस्वरूप वह सावध कार्य में प्रवृत्त भी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि लोकैषणा, विषयेच्छा ही पाप एवं सावध कार्य का कारण है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा-जाना है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस मार्ग में सन्देह का अवकाश नहीं है। अतः साधक को लोकैषणा का त्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति विषयेच्छा का त्याग नहीं करते, रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हैं, वे पाप-कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणामस्वरूप एकेन्द्रिय आदि योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार वे दुःख के प्रवाह में बहते रहते हैं।

संसार की यथार्थ स्थिति को जानकर मनुष्य को इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार का प्रयत्न करे। इस का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि, तिबेमि॥१३०॥

छाया—अहश्च रात्रि च यत्तमानः धीरः सदागतप्रज्ञानः प्रमत्तान् बहिः पश्य! अप्रमत्तः सन् सदा पराक्रमेथाः।

पदार्थ—अहो—दिन। य—और। राओ—रात्रि। य—समुच्चयार्थ में। जयमाणे—यत्न करता हुआ। धीरे—धैर्यवान् पुरुष। सया—सदा। आगयपण्णाणे—जिसको विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है। बहिया पमत्ते—धर्म से बाहर प्रमादी लोगों को। पास—तू देख, और। अप्पमत्ते—अप्रमादी होकर। सया—सदा—उपयोग पूर्वक। परिक्कमिज्जासि—संयम-पालन में पुरुषार्थ कर। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस साधक को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह धैर्यवान् यत्न-पूर्वक सदा मोक्ष-मार्ग की साधना में संलग्न रहता है। हे आर्य! तू प्रमादी जीवों की स्थिति को देख! जो रात-दिन धर्म से बाहर विषयों में आसक्त हैं, उन्हें देखकर, तू स्वयं प्रमाद का त्याग करके विवेकपूर्वक संयम-साधना में पुरुषार्थ कर, ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया है। अप्रमत्त व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह बाह्य कष्टों से घबराकर संयम-मार्ग का त्याग नहीं करता, अपितु धैर्यपूर्वक कष्टों को सहन कर लेता है। भयंकर परीषद भी उसके मन को विचलित नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। आत्मसाधना में तल्लीन वह साधक बाहरी जीवन को भूल जाता है। उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

प्रमादी जीव की स्थिति इससे विपरीत है। उसकी दृष्टि शरीर एवं भौतिक पदार्थों पर लगी रहती है। वह रात-दिन शरीर को शृङ्गारने, परिपुष्ट बनाने एवं भौतिक सुखों की अभिवृद्धि करने का उपाय ढूँढता रहता है। उसका चिन्तन एवं प्रयत्न बाह्य सुखों को बढ़ाने तक ही सीमित रहता है। इसलिए वह अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए दूसरों के स्वार्थ को, सुख को लूटने लगता है। इसलिए उसके जीवन को धर्म से बाहर कहा गया है और साधक को सावधान किया गया है कि वह प्रमादी के आरम्भमय जीवन एवं उसके दुःखद परिणाम को जानकर उससे बचने का प्रयत्न करे, अर्थात् अपनी शक्ति संयम-साधना में लगाए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में सम्यक्त्व—श्रद्धा का विवेचन किया गया है। उसका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है। अतः मिथ्यात्व के हटने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और मिथ्यात्व का नाश सम्यग्ज्ञान से होता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है।

संसार-परिभ्रमण का कारण बन्ध है और संसार-समाप्ति का कारण संवर एवं निर्जरा है। इसलिए साधक को इस बात का बोध अवश्य होना चाहिए कि किस भावना से बन्ध होता है और किस से बन्ध रुकता है, अर्थात् संवर की साधना सधती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा से आसवा। जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा। एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं॥131॥

छाया—ये आसवाः ते परिस्रवाः, ये परिस्रवाः ते आसवाः। ये अनास्रवा ते अपरिस्रवाः ये अपरिस्रवाः ते अनास्रवाः। एतानि पदानि संबुध्यमानः लोक च आज्ञयाप्यभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम्।

पदार्थ—जे—जो। आसवा—आस्रव-कर्मबन्ध के स्थान हैं। ते—वे ही। परिस्सवा—निर्जरा के भी स्थान हैं। जे—जो। परिस्सवा—निर्जरा के स्थान हैं। ते—वे ही। आसवा—आस्रव के भी स्थान हैं। जे—जो। अणासवा—संवर के स्थान हैं। ते—वे। अपरिस्सवा—कर्म-आगमन के स्थान भी हैं। जे—जो। अपरिस्सवा—कर्म-आगमन के स्थान हैं। ते—वे अणासवा—संवर के भी स्थान हैं। एए पए—इन पदों के अर्थ को। संबुज्झमाणे—समझते हुए। च—और। लोयं—लोक के स्वरूप को। अभिसमिच्चा—विचार कर। आणाए—भगवान की आज्ञा से—भगवान के

उपदेशानुसार। पुढो—अलग-अलग जीव, अजीव, कर्म-बन्ध-संवरादि स्थानों का। पवेइयं—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—जो आस्रव के स्थान हैं, वे निर्जरा के भी स्थान हैं; जो निर्जरा के स्थान हैं, वे कर्म-बन्ध के भी स्थान हैं। जो व्रतों के स्थान हैं वे कर्म आगमन के स्थान भी हैं और जो कर्म-आगमन के स्थान हैं, वे व्रतों के भी स्थान हैं। इन पदों को समझकर तथा भगवान की आज्ञा के अनुसार लोक के स्वरूप का विचार करके कर्मबन्ध एवं उनकी निर्जरा आदि के स्थानों का अलग-अलग वर्णन किया है।

हिन्दी-विवेचन

आस्रव एवं संवर के लिए स्थान एवं क्रिया की अपेक्षा भावना का मूल्य अधिक है। जो स्थान कर्मबन्ध का कारण है, वही स्थान विशुद्ध भावना वाले साधक के लिए निर्जरा, संवर एवं संयम-साधना का कारण बन जाता है। जो स्थान निर्जरा, संवर एवं साधना का सुरम्य स्थल है, वह परिणामों की अशुद्धता के कारण कर्मबन्ध का कारण बन जाता है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मनुष्यलोक में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है कि जहां आस्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा की साधना नहीं की जा सकती है। भावना के परिवर्तित होते ही आस्रव का स्थान संवर-साधना का स्थान बन जाता है और संवर की साधना-भूमि आस्रव का स्थान ग्रहण कर लेती है। तो आस्रव एवं संवर भावना—परिणामों की अशुद्ध एवं विशुद्ध भावना पर आधारित है। इस चतुर्भुजी को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है।

1—सम्यग्दृष्टि साधक जब वैराग्य-भाव से आत्म-चिन्तन में गोते लगाने लगता है, तो उस समय आस्रव—कर्मबन्ध का स्थान भी उसके लिए संवर या निर्जरा का साधनास्थल बन जाता है। भरत चक्रवर्ती शीशमहल में शृंगार करने गये थे। शृंगार करने के अनन्तर अकस्मात् उनकी उँगली की मुद्रिका गिर पड़ी। सारा शृंगार फीका सा लगने लगा। बस, भावना परिवर्तित हो गई। बाह्य सजावट में लगा हुआ ध्यान आत्म-चिन्तन को ओर मोड़ खा गया और धीरे-धीरे शरीर से शृंगार का आवरण हटने लगा और उसके साथ ही आत्मा से कर्म का आवरण भी हटता गया और परिणामस्वरूप वहीं शीशमहल में भरत को निरावरण केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

2—अज्ञानी व्यक्ति दुर्भावना के वश निर्जरा के स्थान में पापकर्म का बन्ध कर

लेता है। एक दिन नागश्री ब्राह्मणी ने भूल से ककड़ी के स्थान में कड़वे तुम्बे की सब्जी बना ली। जब चाखने पर उसे तुम्बे की कटुता का ज्ञान हुआ तो उसने उसे एक ओर रख दिया और तुरन्त दूसरी सब्जी बना ली। कुछ देर पश्चात् एक-एक महीने की तपस्या करने वाले धर्मरुचि मुनि उसके यहां भिक्षार्थ आए और तब नागश्री ने उस तुम्बे को फेंकने के लिए बाहर जाने के कष्ट से बचने तथा घर वालों से अपने अज्ञान को छिपाने के लिए सारी सब्जी मुनि के पात्र में डाल दी। मुनि को दिया जाने वाला दान यद्यपि निर्जरा का कारण था। परन्तु उसके दुष्ट परिणामों के कारण वह नागश्री के कर्मबन्ध का कारण बन गया।

3—जो अनास्रव—व्रत विशेष या संयम-साधना संवर एवं निर्जरा का स्थान है, वह साधना के सुरम्य भाव स्थल में स्थिर होकर साधक सारे कष्टों को नष्ट कर देता है। परन्तु भावना की अस्थिरता एवं अविशुद्धता के कारण व्यक्ति निर्जरा के स्थान में कर्मबन्ध कर लेता है। कृण्डीक राजर्षि का उदाहरण इसी गिरावट का प्रतीक है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे वासना के प्रवाह में बह गए और रात-दिन उसी के चिन्तन में लगे रहे। एक दिन वेष त्याग कर फिर से राजसुख भोगने लगे और अति भोग के कारण भयंकर व्याधि से पीड़ित होकर तीन दिन में काल करके सातवीं नरक में जा पहुंचे। जो संयम कर्मनिर्जरा का स्थान था, परन्तु भावना में विकृति आते ही वह कर्मबन्ध का स्थान बन गया।

4—जो पापकर्म के स्थान हैं, शुभ अध्यवसायों के कारण वे निर्जरा के स्थान बन जाते हैं, चिलायती पुत्र बांस पर नाटक कर रहा है। निकट भविष्य में उसकी पत्नी होने वाली कन्या ढोलक बजा रही थी। दर्शक उसके नृत्य-कौशल को देखकर वाह-वाह पुकार रहे थे, परन्तु राजा का ध्यान नट के नृत्य पर नहीं, अपितु उस कन्या पर लगा हुआ था। राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया था। वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। इसलिए वह चाहता था कि किसी प्रकार यह नट नीचे गिर कर समाप्त हो जाए तो इस कन्या को मैं अपने अधिकार में कर लूं। उधर वह नट राजा को प्रसन्न करके धन पाने के लिए बार-बार बांस पर चढ़-उतर रहा था। फिर भी उसे पारितोषक नहीं मिल रहा था। इतने में पास के घर में एक मुनि को भिक्षा लेते देख कर उसकी भावना में परिवर्तन आया, और परिणामस्वरूप धन एवं भोग-विलास की

आकांक्षा त्याग में बदल गई। कर्मबन्ध का वह स्थान निर्जरा का कारण बन गया। यह सब भावों का चमत्कार है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्मबन्ध एवं निर्जरा में भावों की प्रमुखता है। परन्तु यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से भावों के साथ स्थान एवं क्रिया का भी मूल्य है। परिणामों की विशुद्ध एवं अशुद्ध धारा को प्रत्येक व्यक्ति देख नहीं सकता। परन्तु अल्प बुद्धि व्यक्ति भी व्यवहार को भली-भांति जान लेता है। भावों के साथ स्थान एवं व्यवहार-शुद्धि को भी भुला नहीं देना चाहिए। क्योंकि धर्मस्थान एवं धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की संगति का भी जीवन पर प्रभाव होता ही है। संयति राजा शिकार खेलने गया था और अपने बाण से एक मृग को घायल भी कर दिया था, परन्तु वहीं मुनि से बोध पाकर संसार से विरक्त हो गया, मुनि बन गया। इस प्रकार जीवन को मांजने एवं विचारों को नया मोड़ देने में संतों का, शास्त्रों का एवं धर्मस्थानों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। या हम यों कह सकते हैं कि व्यवहार शुद्धि के पथ से हम निश्चय दृष्टि से भी भावों की शुद्धि के सुरम्य स्थल तक पहुंच जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे आसवा ते परिस्सवा...' इत्यादि पाठ में 'आसवा' से आस्रव स्थान, 'परिस्सवा' से निर्जरा के स्थान, 'अणासवा' से व्रत विशेष और 'अपरिस्सवा' से कर्मबन्ध के स्थान विशेष समझना चाहिए।

जीव भावों के द्वारा बन्ध के स्थान को निर्जरा का एवं निर्जरा के स्थान को बन्ध का कारण बना लेता है। आस्रव और निर्जरा के स्थान पृथक्-पृथक् हैं। आस्रव में भी आठों कर्म के आठों स्थान भिन्न हैं और इसी प्रकार आठों कर्मों को रोकने वाले संवर एवं क्षय करने वाले निर्जरा स्थान भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को आस्रव, संवर एवं निर्जरा के स्वरूप को भली-भांति जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार भावों को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए¹।

प्रबुद्ध पुरुष भी अपने उपदेश द्वारा आर्त एवं प्रमत्त जीवों को जगाते रहते हैं। वे किस प्रकार का उपदेश देते हैं, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झ-
माण्णाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्ठावि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं
त्तिबेमि, नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा-पणीया वंकानिकेया
कालगहीया निचयनिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति॥132॥

छाया—आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां सम्बुध्यमानानां
विज्ञानप्राप्तानामार्त्ता अपिसन्तः अथवा प्रमत्ताः यथा सत्यमिदमिति ब्रवीमि,
नानागमो मृत्युमुखस्यास्ति इच्छा प्रणीताः वंकानिकेताः कालगृहीताः
निचयनिविष्टाः पृथक् पृथग् जातिं प्रकल्पयन्ति ।

पदार्थ—नाणी—ज्ञानी । इह—इस प्रवचन में वा संसार में । माणवाणं—मनुष्यों
को । संसार पडिवण्णाणं—संसार प्रतिपन्नो को । संबुज्झमाण्णाणं—जो सम्यग् प्रकार
से बोध को प्राप्त हुए हैं, उनको—विण्णाण पत्ताणं—विज्ञान प्राप्तों को ।
अट्ठाविसंता—किसी प्रकार से आर्त हुआ को । अदुवा—अथवा । पमत्ता—विषयों
में निमग्न चित्त वालों को । आघाइ—धर्म को कहता है । सच्चमिणं—यह विषय
सत्य है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ । अहा—जैसे दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त
कर, चारित्र के विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि । नाणागमो मच्चु
मुहस्स अत्थि—ऐसा नहीं है कि मृत्यु के मुख में कोई जीव नहीं आएगा, अपितु
अवश्य ही आएगा । इच्छापणीया—इच्छा के वश होकर संसाराभिमुख हुए ।
वंकानिकेया—असंयम के आश्रयभूत । कालगहीया—काल से । गृहीत—पकड़े हुए ।
निचय निविट्ठा—कर्म के निचय में निविष्ट । चित्त—सावध कर्म के करने में अत्यन्त
आसक्त । पुढो-पुढो—पृथक्-पृथक् । जाइं—एकेन्द्रियादि जाति को । पकप्पयंति—
प्रकल्पन करते हैं, अर्थात् एकेन्द्रियादि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करते हैं ।

मूलार्थ—प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष इस संसार में संसार-प्रतिपन्न, बोध एवं विज्ञान
का ज्ञाता, आर्त्त और प्रमत्त मनुष्यों को कहता है कि तुम्हें धर्म-परिपालन या
संयम-साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह कथन सत्य नहीं
है कि संसारी जीव मृत्यु के मुख में नहीं जाता अथवा वह अवश्य मरता है, और
इच्छा-आकांक्षा एवं असंयम में संलग्न संसाराभिमुख व्यक्ति आरम्भ-समारम्भ में

आसक्त होकर बार-बार जन्म-मरण करता है, एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष आर्त एवं प्रमादी जीवों को संयम-साधना में संलग्न रहने के लिए सदा प्रेरित करता रहता है। परन्तु साथ में यह भी बता दिया है कि उपदेश का प्रभाव उन्हीं जीवों पर पड़ता है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त हैं। वस्तुतः आत्म-स्वरूप को जानने या जानने की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति ही उपदेश को सुनकर आचरण में ला सकते हैं। कभी-कभी परिस्थितिवश ज्ञानी व्यक्ति भी भटक जाते हैं, परन्तु फिर से निमित्त मिलने पर वे साधना के पथ पर चल पड़ते हैं। चिलायति पुत्र जैसे हिंसक मानव एवं शालिभद्र जैसे काम-भोगों में आसक्त व्यक्ति भी प्रबुद्ध पुरुष का संकेत पाकर अपने जीवन को बदलने में देर नहीं करते।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त दुःखी एवं अत्यधिक सुखी तथा मध्यम अवस्था के सभी पुरुष धर्मोपदेश के अधिकारी हैं। इसलिए प्रबुद्ध मानव प्रत्येक जीव को धर्मोपदेश देते रहते हैं कि संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मृत्यु को प्राप्त न करता हो, अर्थात् सभी प्राणी मरते हैं। जो जीव नहीं मरते हैं, वे संसारी नहीं, अपितु सिद्ध हैं। संसारी जीव जब तक घातिकर्मों का क्षय नहीं कर लेता है, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है; इसलिए मानव को कर्मक्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति इस ओर प्रयत्न न करके विषय-वासना में आसक्त रहता है, ऐहिक एवं भौतिक सुखों को बटोरने में व्यस्त रहता है, वह पाप-कर्म का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को विषयेच्छा का त्याग करके संयम का परिपालन करना चाहिए।

क्योंकि जो विषयासक्त जीव दुःखों का संवेदन करते रहते हैं, वे प्राणी किस प्रकार की वेदना एवं दुःखों का संवेदन करते हैं, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संधवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं

कम्मेहिं नो चिट्ठं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि नाणी, नाणी वयंति अदुवा वि एगे॥133॥

छाया—इहैकेषां तत्र तत्र संस्तवः भवति अधः औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, चिट्ठं—भृशं कर्मभिः क्रूरैः चिट्ठं—भृशम् परितिष्ठति अतिष्ठ क्रूरैः कर्मभिः नो तिष्ठं परितिष्ठति, एके-वदन्ति अथवापि ज्ञानी वदन्ति ज्ञानिनो अथवाप्येके।

पदार्थ—इह—इस संसार में। एगेसिं—कई एक—मिथ्यात्व। अविरति—प्रमाद और विषय कषायादि से युक्त। तत्थ तत्थ—उन नरकादि गतियों में—यातनाओं के स्थानों में। संथवो—संस्तव—बार-बार जाने से। भवइ—होता है। अहोववाइए—नीचे—नरकादि गतियों में उत्पन्न होने वाले। फासे—दुःख-रूप स्पर्श को। पडिसंवेयंति—प्रतिसंवेदन करते हैं, अनुभव करते हैं, कारण कि। चिट्ठं—अत्यन्त। क्रूरहिं—क्रूर। कम्मेहिं—कर्मों के करने से। चिट्ठं—अत्यन्त। परिचिट्ठइ—दुःख स्थानों में स्थित होता है—ठहरता है किन्तु जो। अचिट्ठं—नहीं है। क्रूरहिं कम्मेहिं—क्रूर कर्मों से युक्त तो फिर। नो चिट्ठं परिचिट्ठइ—अत्यन्त दुःख रूप स्थानों में स्थित नहीं होता, नहीं ठहरता, इस प्रकार से। एगे वयन्ति—वे एक—चौदह पूर्व के पाठी कहते हैं। अदुवावि—अथवा। नाणी—केवल ज्ञानी। अपि से—श्रुत केवली। वदंति—कहते हैं। नाणी-वयन्ति—ज्ञानी कहते हैं। अदुवावि—अथवा। एगे—कई एकश्रुत केवली भी इसी प्रकार भाषण करते हैं। तात्पर्य कि जिस भांति केवली भगवान कहते हैं, उसी भांति श्रुत केवली भी कहते हैं।

मूलार्थ—इस संसार में कई एक अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले जीव नरक तिर्यक् आदि योनियों में नाना प्रकार के दुःख-रूप स्पर्शों का अनुभव करते हैं, अर्थात् अत्यन्त क्रूर कर्मों के फलस्वरूप चिरकाल तक नरक यातनाएं भोगते हैं, और जो इस प्रकार के क्रूर कर्मों का बन्ध नहीं करते हैं, वे अत्यन्त दुःख-रूप स्थानों में नहीं जाते, अर्थात् उनको नरक-यातनाएं भोगनी नहीं पड़ती। इस प्रकार कई एक अर्थात् केवली भगवान कहते हैं और श्रुत केवली भी ठीक इसी प्रकार कहते हैं तथा चतुर्दश पूर्व धारी जिस प्रकार उक्त विषय का समर्थन करते हैं, ठीक उसी प्रकार केवल ज्ञानी भी कहते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि प्रमादी जीव विषय-कषाय में आसक्त रहता है। अपनी अतृप्त वासना को पूरी करने की भावना से अनेक जीवों को दुःख एवं कष्ट देता है। अपने स्वार्थ को साधने के लिए अनेक प्राणियों का निर्दयतापूर्वक वध करता है। इस प्रकार क्रूर कर्म में प्रवृत्त होकर पाप-कर्म का संग्रह करता है और परिणामस्वरूप नरक-तिर्यच आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे आरम्भ-समारम्भ आदि दोषों से भी बचे रहते हैं और परिणामस्वरूप नरक आदि गतियों की वेदना को भी नहीं भोगते।

इससे यह स्पष्ट होता है कि संसार-परिभ्रमण का कारण कर्म है। प्रमाद के आसेवन से पापकर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप नरक आदि योनियों में महावेदना का संवेदन करना होता है। यह कथन सर्वज्ञ पुरुषों ने अपने निरावरण ज्ञान में देखकर किया है और उसी के अनुरूप श्रुत केवलियों ने किया है। श्रुत-केवलियों की निरूपण शक्ति सर्वज्ञों जैसी ही है। अतः इस बात को मानने में किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि जब सर्वज्ञ एवं श्रुत केवली की तत्त्व-निरूपण शैली एक समान है, तब फिर सर्वज्ञता एवं छद्मस्थता में क्या अन्तर रहा। इसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण होता है। अतः वे बिना किसी भी सहायक के स्वयं अपनी आत्मा से लोक के समस्त पदार्थों को देखते-जानते हैं। परन्तु श्रुत केवली का ज्ञान निरावरण नहीं होता। वे सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को हृदयंगम करके उसी का उपदेश देते हैं। इसलिए उनका उपदेश सर्वज्ञ वचनों के सदृश होता है।

श्रुत केवली वाद-विवाद को मिटाने में समर्थ हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे-सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जा-वेयव्वा परियावेयव्वा

परिधित्त्वा उद्देयव्वा, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, तत्थ जे आरिआ ते एवं वयासी—से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उट्ठं अहं तिरियंदिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पण्णवेह—सव्वे पाणा 4 हंतव्वा 5, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णावेमो—सव्वे पाणा 4 न हंतव्वा 1 न अज्जावेयव्वा 2 न परिधित्त्वा 3 न परियावेयव्वा 4 न उद्देयव्वा 5, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं, तिबेमि॥134॥

छाया—यावन्तः केचन लोके श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च पृथक् पृथक् विवादं वदन्ति तद् दृष्टं च नः (अस्माभिः अस्माकंवा-) श्रुतं च नः मतं च नः, विज्ञातं च नः, ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सुप्रत्युपेक्षितं च नः सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वाः हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परितापयितव्याः परिगृहीतव्याः अपद्रापयितव्याः अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः अनार्य वचनमेतत् तत्र ये आर्याः ते एवमावादिषुः तद् दुर्दृष्टं च युष्माभिः दुःश्रुतं च युष्माभिः दुर्मतं च युष्माभिः दुर्विज्ञातं च युष्माभिः ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः दुष्प्रत्युपेक्षितं युष्माभिः यदेतत् यूयमेवमाचक्षध्वे एवं भाषध्वे एवं प्ररूपयथ एवं प्रज्ञापथ सर्वे प्राणाः 4 हन्तव्याः 5 अत्रापिजानीथ नास्त्यत्र दोषोऽनार्यवचनमेतत् वयं पुनरेवम् आचक्षामहे एवं भाषामहे एवं प्ररूपयामः एवं प्रज्ञापयामः सर्वे प्राणाः 4 न हन्तव्या 1 न आज्ञापयितव्याः 2 न परिगृहीतव्याः 3 न परितापयितव्याः 4 न अपद्रापयितव्याः 5 अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः आर्यवचनमेतत् पूर्वं निकाय्य समयं प्रत्येकं-प्रत्येकं प्रश्नयिष्यामि भो प्रवादुकाः! किं युष्माकं सातं दुःखं उतासातम्? सम्यक् प्रतिपन्नान् चापि एवं ब्रूयात्

सर्वेषां प्राणिनां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानाम् असातम्
अपरिनिर्वाणं महद्भयं दुःखमिति इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—आवन्ति—जितने । केयावन्ति—कितने एक । लोयंसि—लोक में ।
समणा—श्रमण । य—और । माहणा—ब्राह्मण । य—समुच्चयार्थक है । पुढो—
पृथक्-पृथक् । विवादं—विवाद को । वयन्ति—कहते हैं । से—जो मैंने । दिट्ठं—देखा
है । च—शब्द उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है । णे—हमने । सुयं—सुना है । णे—हमने ।
मयं—माना है । णे—हमने । विण्णायं—जाना है । णे—हमने । उड्ढं—ऊंची ।
अहं—नीची । तिरिये—तिर्यक् । दिसासु—दिशाओं में । सव्वओ—सर्व प्रकार से ।
सुपडिलेहियं—सुष्ठु प्रकार से पर्यालोचन किया है । णे—हमने वा हमारे तीर्थंकरों
ने । च—प्राग्वत् जानना चाहिए । सव्वे—सब । पाणा—प्राणी । सव्वेजीवा—सब जीव ।
सव्वे भूया—सब भूत । सव्वेसत्ता—सब सत्त्व । हंतव्या—हनन करने चाहिए ।
अज्जावेयव्वा—उनसे आज्ञा से काम कराना चाहिए । परियावेयव्वा—उन्हें परिताप
देना चाहिए । परिघेत्तव्वा—उन्हें पकड़ना चाहिए । उदवेयव्वा—उन्हें मरणान्त कष्ट
देना चाहिए । परिघेत्तव्वा—उन्हें पकड़ना चाहिए । उदवेयव्वा—उन्हें मरणान्त कष्ट
देना चाहिए । इत्थावि—धर्म चिन्ता में वा यज्ञादि में । जाणह—समझो ।
नत्थित्थदोसो—यहां पर, अर्थात् यज्ञादि के लिए पशुओं के मारने में कोई दोष नहीं
है । अणारियवयणमेय—पापानुबन्धी होने से यह कथन अनार्यों का है ।
तत्थ—वाक्योपन्यास अथवा निर्धारण में जानना, वहां पर । जे—जो । आयरियां—आर्य
हैं । ते—वे । एवं—इस प्रकार । वयासी—कहते हैं । से भे दुदिट्ठं—यह तुम्हारा
देखना दुष्ट है । च—उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है । भे दुस्सुयं—तुम्हारा यह सुनना
मिथ्या है । च—पुनः । भे दुम्मयं—तुम्हारा यह मानना मिथ्या है । भे दुब्बिण्णाय—तुम्हारा
यह विज्ञान विशेष रूप में ज्ञात भी—मिथ्या है दुर्विज्ञात है । च—प्राग्वत् । भे—आपके
द्वारा । उड्ढं—ऊंची । अहं—नीची । तिरियं—तिर्यक् । दिसासु—दिशाओं में ।
सव्वओ—सब प्रकार से । दुप्पडिलेहियं—दुष्प्रतिलेखित वा दुष्प्रत्युपेक्षित है । च—और ।
भे—आपने । णं—वाक्यलंकार में । जं—जो वक्ष्यमाण । तुब्भे—तुम लोग । एवं—इस
प्रकार । आइक्खह—कहते हो । एवं—इस भांति । भासह—भाषण करते हो । एवं—इस
भांति । परुवेह—प्ररूपण करते हो । एवं—इस भांति । पण्णावेह—प्रज्ञापन करते हो ।

सर्वपाणा 4—सब प्राणी-भूत जीव और सत्त्व। हंतव्या 5—मारने चाहिए, आज्ञा द्वारा उनसे काम लेना चाहिए, परिताप देना चाहिए, पकड़ना चाहिए और मरणांत कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इन यज्ञादि में। जाणह—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इन क्रियाओं में कोई दोष नहीं है। अणारिय वयणमेयं—हिंसा युक्त होने से—यह सब अनार्य वचन हैं। वयं—हम। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार। आइक्खामो—कहते हैं। एवं—इस प्रकार। भासामो—भाषण करते हैं। एवं—इस प्रकार। परुवेमो—प्ररूपण करते हैं। एवं—इस प्रकार। पण्णवेमो—प्रज्ञापन करते हैं। सर्वपाणा 4—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व। न हंतव्या—नहीं मारने चाहिए। न अज्जावेयव्या—उनसे बलात् काम नहीं लेना चाहिए। न परि धित्तव्या—नहीं पकड़ना चाहिए। न परियावेयव्या—उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए। न उद्देयव्या—न ही मरणांत कष्ट देना चाहिए। इत्थवि—इस स्थान पर भी तुम। जाणइ—जान लो। नत्थित्थ दोसो—इस अहिंसा रूप क्रिया में कोई दोष नहीं। आयरिय-वयणमये—यह आर्यवचन है। पुव्वं—पहले। समयं—आगम की। निकाय—व्यवस्था करके फिर। पत्तेय पत्तेयं—प्रत्येक को। पुच्छिस्सामि—पूछूंगा। हंमो पवाइया—हे प्रवादको, वादिलोगो! किं—क्या। भे—आपको। सायं दुक्खं असायं—साता में दुःख है किं वा असाता में? अथवा दुःख यह साता रूप मन को प्रसन्न करने वाला है या मन के प्रतिकूल असाता रूप है? दुःख को साता रूप मानना लोक, आगम और अनुभव के विरुद्ध है और यदि असाता रूप कहें तब तो इस प्रकार से। समियापडिवण्णेयावि—यथार्थता को प्राप्त होने वाले यथार्थ कहने वाले उन वादियों के प्रति। एवं—इस प्रकार। वूया—कहना चाहिए। सर्वेसिं पाणाणं—सब प्राणियों को। सर्वेसिं भूयाणं—सर्व भूतों को। सर्वेसिंजीवाणं—सर्व जीवों को। सर्वेसिंसत्ताणं—सर्व सत्त्वों को। असायं—असाता। अपरिनिव्वाणं—अनिर्वृत्ति रूप। महम्मयं—महान भय है। दुक्खं—दुःख रूप है। तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस लोक में जितने मनुष्य हैं, उनमें कितने एक श्रमण और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् विवाद करते हुए इस प्रकार कहते हैं—हम ने देख लिया है, सुन लिया है, मान लिया और जान लिया है; इतना ही नहीं, किन्तु ऊर्ध्व-अधः और तिर्यगादि सभी दिशाओं में भली-भाँति पर्यालोचन कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी भूत,

सभी जीव और सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते; हनन करने चाहिए), उनसे बलात् काम लेना चाहिए, उनको परिताप देना चाहिए, उनको पकड़ना और मरणान्त कष्ट पहुंचाना चाहिए, धार्मिक क्रियानुष्ठान के सम्पादनार्थ इस काम में कोई दोष नहीं है, परन्तु यह अनार्य वचन है, अर्थात् जो आर्य नहीं, यह उनका कथन है, और जो आर्य हैं, वे इस प्रकार कहते हैं कि तुमने भली प्रकार से नहीं देखा, भली प्रकार से नहीं सुना, भली प्रकार से नहीं माना, भली प्रकार से नहीं जाना, और तुमने ऊंची, नीची और तिरछी आदि सभी दिशाओं में भली प्रकार से पर्यालोचन भी नहीं किया। जो कि तुम इस प्रकार कहते हो, इस प्रकार भाषण करते हो, इस प्रकार प्ररूपण करते हो और इस प्रकार प्रज्ञापन करते हो कि—सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते मारने चाहिए), जान लो कि इसमें कोई दोष नहीं? परन्तु यह कथन अनार्यों का है, आर्यों का नहीं? और जो हम आर्य हैं, वे इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार भाषण करते, इस प्रकार प्ररूपणा और प्रज्ञापना—करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व न तो मारने चाहिए, न उनसे बलात् काम कराना चाहिए, न उन्हें सन्ताप देना चाहिए एवं न उन्हें पकड़ना और न उन पर उपद्रव करना चाहिए। यहां पर भी जान लो, समझ लो कि इस काम में कोई भी दोष नहीं है! यह आर्य वचन है, अर्थात् आर्य पुरुषों का कथन है जो कि निर्दोष है। हे प्रवादियो! तुम पहले अपना समय—आगम विहित सिद्धांत स्थापित करो, फिर मैं तुम से प्रत्येक को पूछूंगा कि दुःख साता में है या असाता में? यदि कोई इसका यथार्थ उत्तर दे कि दुःख असाता में है साता में नहीं तो उनके प्रति इस प्रकार कहना चाहिए कि सब प्राणियों को, सब भूतों को, सब जीवों और सब सत्त्वों को असाता, अनिर्वृत्ति रूप है, महा भय रूप है और महादुःख रूप है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आर्य-अनार्य या-सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का स्पष्ट एवं सरस विवेचन किया गया है। दुनिया में अनेक विचारक हैं। परन्तु तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न होने से उन सबकी विचारधाराएं परस्पर टकराती हैं। इसलिए श्रमण-बौद्ध, सांख्य आदि मत के भिक्षु और ब्राह्मणों—वैदिक धर्म को मानने वालों का परस्पर संघर्ष होता रहता है।

भागवत के मानने वालों का कहना है कि 25 तत्त्वों का परिज्ञान कर लेने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा सर्वव्यापी, निष्क्रिय निर्गुण और चेतन है, संसार में निर्विशेष सामान्य ही एक तत्त्व है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि द्रव्य आदि 6 पदार्थों का ज्ञान कर लेने से मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा समवाय, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणों से युक्त है और सामान्य एवं विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। उनके विचार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। आत्मा भी प्रतिक्षण नई-नई उत्पन्न होती है और पुरानी आत्मा का नाश होता रहता है। इस प्रकार वह अनित्य है, अशाश्वत है।

मीमांसक सर्वज्ञ एवं मुक्ति को नहीं मानते। कुछ विचारक पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को सजीव नहीं मानते। कुछ वनस्पति को निर्जीव मानते हैं। कुछ नास्तिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को ही नहीं मानते। कुछ लोगों का कहना है कि हमारे महर्षि सब जीवों को जानते हैं। उनका उपदेश है कि वेद-विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान में किसी भी प्राणी का वध करना या उसके अंगों का छेदन-भेदन करना दोषयुक्त नहीं है। उक्त क्रिया से उन जीवों का कल्याण होता है, उन्हें स्वर्ग आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है¹। वेद-विहित यज्ञ में की गई हिंसा हिंसा नहीं है। वह मांस अभक्ष्य नहीं, भक्ष्य है। जो व्यक्ति वह मांस नहीं खाता है, वह प्रेत्य होता है²। श्राद्ध और मधुपर्क में आमन्त्रित व्यक्ति यदि मांस नहीं खाता है, तो वह मरकर 21 जन्म तक पशु होता है³। इस प्रकार वेद-विहित हिंसा में पाप नहीं लगता। उसमें धर्म ही होता है।

1. यज्ञार्थं पशवः सृष्टः स्वयमेव स्वयंभुवा, यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवधः। औषधयः पशवोवृक्षास्तिर्यज्वः पक्षिणस्तथा, यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता प्राप्नुवन्त्यसृती पुनः।

—मनुस्मृति, 5 38, 40

2. नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नास्ति मानवः,
स प्रेत्य पशुतां यातिसंभवानेकं विशतिम्।

—मनु, 5, 35

3. श्राद्धे मधुपर्के च यथान्यायनियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति स मृतः सन् एकविंशति जन्मानि पशुर्भवति।

उक्त कथन आर्यत्व का नहीं, अनार्यत्व का संसूचक है, क्योंकि आर्य पुरुष किसी भी स्थिति में हिंसा में धर्म नहीं मानते हैं। हिंसा हिंसा ही है, वेद आदि धर्म-ग्रंथों में उल्लेख होने मात्र से वह अहिंसा नहीं हो सकती। अपने स्वाद का पोषण करने एवं स्वार्थ को साधने हेतु किसी प्राणी को मारना या परिताप देना पाप ही है। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर हिंसा करना तो पाप ही नहीं, महापाप है, पतन की पराकाष्ठा है। धर्म सब प्राणियों का कल्याण करने वाला है, सब को शान्ति देने वाला है। उसके नाम पर जीवों को त्रास देना धर्म की हत्या करना है।

यह तो सूर्य के उजाले की भांति साफ है कि हिंसा में धर्म नहीं हैं। धर्म वही है, जिसमें प्राणिमात्र के हित की भावना रही हुई है और ऐसी क्रिया में हिंसा आदि पाप कार्यों का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिए हिंसा आदि पाप-कार्यों से निवृत्त व्यक्ति ही आर्य हैं और वे ही मोक्ष-मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं।

‘त्तिबेभि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कर्मबन्ध एवं निर्जरा तथा संवर के स्वरूप को बताया गया है। उसके ज्ञान के बाद यह जरूरी है कि कर्म के आगमन के द्वार को रोककर पूर्व बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करके कर्मों का आत्यन्तिक क्षय किया जाए। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक में निर्जरा के साधन—तप का उल्लेख किया गया है। सम्यग् ज्ञान पूर्वक किए गए तप से कर्म नष्ट होते हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू,
अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा
धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो,
ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय
सव्वसो॥135॥

छाया—उपेक्षस्व (णं) वहिः लोकं स सर्व-लोके ये केचिद् विज्ञाः अनविचिन्त्य
पश्य निक्षिप्त दण्डा ये केचित् सत्त्वाः पलितं—कर्म त्यजन्ति नराः मृतार्च्चा
धर्मविदः इति ऋजवः आरम्भजं दुःखमिदमिति ज्ञात्वा एवमाहुः सम्यक्त्व दर्शिनः—
समस्त दर्शिनः ते सर्वे प्रावादिकाः दुःखस्य कुशला परिज्ञा मुदाहरन्ति इति कर्म
परिज्ञाय सर्वशः ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में प्रयुक्त हुआ है। लोगं—अन्य धर्मावलम्बी व्यक्तियों को। बहिया—धर्म से बाहर आचरण करते देखकर। उवेहि—उपेक्षा करनी चाहिए। से—वह। सव्वलोगंमि—समस्त लोक में। जे—जो। केइ—कोई—लोक में विद्वान हैं, उनमें भी श्रेष्ठ। विण्णू—विद्वान हो जाता है। अणुवीइ—ऐसा विचार कर। पास—तू देख। निक्खित्त दंडा—जिन्होंने ने दंड को त्याग दिया है। जे केइ—जो कोई धर्म के ज्ञाता। सत्ता—प्राणी हैं, वे। पलियं—कर्म को। चयंति—छोड़ देते हैं। नरा—मनुष्य

ही कर्म क्षय करने में समर्थ है। मुयच्चा—जो शरीर को शृंगारित नहीं करने वाला है, तथा कषाय विजेता है। धम्मविउन्ति—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का ज्ञाता है। अंजू—सरल प्रकृति का है। आरंभजं दुक्खमिणंति—आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को। णच्चा—जानकर। एवमाहु—इस प्रकार कहते हैं। संमत्तदसिणो—सम्यग्दृष्टि। ते सव्वे पावाइया—तथा वे सब यथार्थ वक्ता तीर्थकरादि। दुक्खस्स—दुःख के कारण में। कुसला—कुशल। परिण्णं—परिज्ञा को। उदाहरंति—कहते हैं। इय—इस प्रकार। सव्वसो—सब प्रकार से। कम्मं—कर्म को। परिण्णाय—जानकर उसके स्वरूप को भी बताते हैं।

मूलार्थ—हे आर्य! तू अन्य धर्मावलम्बी लोगों को देख और उन्हें धर्म से बाहर आचरण करते हुए जान कर उनमें मध्यस्थ भाव रख। इस लोक में जो अक्षरी ज्ञान में निपुण एवं विद्वान हैं, त्यागी व्यक्ति उनसे भी अधिक विद्वान हैं। जिसने मन-वचन और काय दण्ड का त्याग कर दिया है। जो धर्म के परिज्ञाता, कर्मों का त्याग करने वाले, शरीर का शृंगार नहीं करने वाले और सरल स्वभाव के हैं, वे आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दुःख को जानकर उनका वर्णन करते हैं। वे सम्यग्दृष्टि कहते हैं कि सभी तीर्थकर दुःख के कारणों को जानने में कुशल हैं, एवं परिज्ञा का उपदेश देते हैं। इस तरह सब प्रकार से कुशल व्यक्ति कर्म के स्वरूप को जानकर उसका यथार्थ विवेचन करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व को दृढ़ बनाए रखने का उपदेश दिया है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को विपरीत बुद्धि एवं आचरण में प्रवृत्त व्यक्तियों का साथ नहीं करना चाहिए। वे कितने भी पढ़े-लिखे एवं प्रौढ़ विद्वान भी क्यों न हों, परन्तु सम्यग् ज्ञान एवं आचरण के अभाव के कारण, वे वास्तविक त्यागनिष्ठ मुनि की समता नहीं कर सकते। इसलिए त्यागी सन्त को उनसे भी अधिक विद्वान कहा है। इसका कारण यह है कि जो सम्यग्दृष्टि है, वह संसार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और यह भी जानता है कि आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होने से पाप-कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बढ़ेगा। इसलिए वह अपने योगों को हिंसा आदि दोषों से बचाकर रखता है, परन्तु, जिसे अपने स्वरूप एवं लोक का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह अक्षरी ज्ञान से

संपन्न होने पर भी आरम्भ-समारम्भ एवं पापों से बच नहीं सकता और हिंसादि दोषों में प्रवृत्त होने के कारण पापकर्म का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है। अतः त्यागी मनुष्य ही वास्तव में विद्वान् है।

दुःख का मूल कारण कर्म ही है और कर्म का बीज राग-द्वेष एवं हिंसा आदि दोषजन्य प्रवृत्ति है। इसलिए तीर्थकरों ने सब प्रकार के कर्मों को छोड़ने का उपदेश दिया है, क्योंकि कर्म छोड़ने का अर्थ है—राग-द्वेष का क्षय करना। राग-द्वेष कर्म का मूल है और जब मूल का नाश हो जाएगा तो फिर कर्मवृक्ष तो स्वतः ही सूखकर ठूठ हो जाएगा, निःसत्त्व हो जाएगा। इससे स्पष्ट है कि तीर्थकरों ने हिंसा आदि दोषों का त्याग करके वीतराग अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

निष्कर्ष यह निकला कि कर्मक्षय का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—सत्य और संयम का परिपालन और वह महापुरुषों की संगति से ही प्राप्त हो सकता है। अतः, साधक को अपनी निष्ठा—श्रद्धा को शुद्ध बनाए रखने एवं तप तथा त्याग में तेजस्विता लाने के लिए ज्ञान एवं चारित्रहीन व्यक्तियों की संगति का त्याग करके चारित्र-निष्ठ व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए, उनके पास बैठना चाहिए।

संसार एवं कर्मों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने से श्रद्धा में दृढ़ता आ जाती है। अतः उसके बाद साधक को कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्म-क्षय की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इह आणाकंखी पंडिअ अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिअ अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे॥136॥

छाया—इह आज्ञाकांक्षी पंडितोऽस्नेहः आत्मानमेकं संप्रेक्ष्य धुनियात् शरीरकं, कष आत्मानं, जर आत्मानं—यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहः प्रमथति एवमात्मसमाहितः अस्नेहः परित्यज क्रोधमविकम्पमानः।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन में। आणाकंखी—भगवान की आज्ञा का आकांक्षी। पंडिअ—पंडित। अणिहे—स्नेह—राग-द्वेष रहित होकर। एगमप्पाणं—अपनी एक आत्मा को। संपेहाए—भली-भांति देखे, और वह। सरीरं धुणे—शरीर को

सुखावे। अप्पाणं कसेहि—शरीर को कृश करे। अप्पाणं जरेहि—शरीर को जीर्ण करे। जहा—जैसे। जुन्नाइं कड्डाइं—पुराने काष्ठ को। हव्वावाहो—अग्नि। पमत्थइ—शीघ्र ही भस्म कर देती है। एवं—इसी प्रकार। अत्तसमाहिए—समाधिस्थ आत्मा। अणिहे—स्नेह-रहित होकर तपरूप अग्नि से कर्मरूप काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है। अतः हे शिष्य! तू। कोहं—क्रोध आदि का। विगिंच—परित्याग करके। अविकंपमाणे—कंप-रहित—निश्चल स्थिर हो।

मूलार्थ—इस जिन शासन में भगवान की आज्ञा के अनुरूप चलने वाला पंडित पुरुष स्नेह—राग रहित होकर अपनी आत्मा के एकत्व भाव को समझकर शरीर को सुखा लेता है। अतः हे आर्य! तू तप के द्वारा शरीर कर्मों को कृश एवं जीर्ण करने का प्रयत्न कर। जैसे अग्नि पुराने काष्ठ को तुरन्त जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार स्नेह—राग रहित समाधिस्थ साधक तपरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप काष्ठ को जला देता है। इसलिए हे आर्य तू! क्रोध का परित्याग करके निष्कम्प—स्थिर मन वाला बनने का प्रयत्न कर।

हिन्दी-वितेचन

संसार में कर्मबन्ध का कारण स्नेह-राग भाव है। स्नेह का अर्थ चिकनाहट भी होता है। इसी कारण तेल को भी स्नेह कहते हैं। हम देखते हैं कि जहां स्निग्धता होती है, वहां मैल जल्दी जम जाता है। इसी प्रकार जिस आत्मा में राग भाव रहता है, उससे ही कर्म आकर चिपकते हैं, राग-भाव से रहित आत्मा के कर्म-बन्ध नहीं होता। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि पंडित पुरुष राग-रहित होकर आत्मा के एकत्व स्वरूप का चिन्तन करके शरीर, अर्थात् कर्मों को पतला कर देता है और एक दिन निष्कर्म हो जाता है।

‘अणिहे’ शब्द का संस्कृत में ‘अनिहत’ रूप भी बनता है। इसका अर्थ होता है—जो विषय-कषाय आदि भाव शत्रुओं से अभिहत न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वीतराग आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला साधक आन्तरिक शत्रुओं से परास्त नहीं होता है। ऐसा साधक ही स्नेह-राग भाव से निवृत्त होकर आत्मसमाधि में संलग्न हो सकता है। इसलिए साधक को राग-भाव का त्याग करके तप के द्वारा शरीर को कृश एवं जीर्ण बनाना चाहिए, क्योंकि प्रज्वलित अग्नि में जीर्ण काष्ठ जल्दी ही जल

जाता है, उसी प्रकार तप से जीर्ण-शीर्ण बने कर्म भी जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्मसमाधि प्राप्त करने के लिए साधक को राग-भाव एवं क्रोध आदि, अर्थात् कषायों का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि क्रोध आदि विकारों से आत्मा में सदा व्याकुलता बनी रहती है। योगों में स्थिरता नहीं आ पाती। मानसिक वैचारिक चंचलता एवं शारीरिक कंपन को दूर करके निष्कर्म बनने के लिए क्रोध आदि विकारों का त्याग करना आवश्यक है। इससे आत्मचिन्तन में स्थिरता आती है।

प्रश्न यह है कि वीतराग आज्ञा का परिपालन करने वाले साधक को योगों के स्थिर होने पर किस वस्तु का चिन्तन करना चाहिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण, अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि, तिबेमि॥137॥

छाया—इदं निरुद्धायुष्कं संप्रेक्ष्य दुःखं च जानीहि अथवा आगामि (दुःखम्) पृथक् स्पर्शाञ्च स्पृशेल्लोकं च पश्य विस्यन्दमान ये निवृत्ताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः तस्मादतिविद्वान् न प्रतिसंज्वलेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—इमं—यह मनुष्य भव। निरुद्धाउयं—परिमित आयु वाला है, यह। संपेहाए—विचार कर, और। दुक्खं—क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले दुःखों को। जाण—जान। अदु—अथवा। आगमेस्सं—भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखों का, और। पुढो—पृथक् पृथक् नरकों में। फासाइफासे—दुःखों का स्पर्श करता है। च—समुच्चय अर्थ में। च—और। विफंदमाणं—दुःखों को दूर करने के लिए इधर-उधर भागते हुए। लोयं—लोक को। पास—देख। जे—जो। निव्वुडा—क्रोध आदि से निवृत्त हैं। पावेहिं—पाप-कर्मों से निवृत्त हैं। अणियाणा—निदान कर्म से रहित हैं। ते—वे। वियाहिया—इच्छा; आकांक्षा रहित हैं, ऐसा कहा गया है। तम्हा—इसलिए। अतिविज्जो—प्रबुद्ध पुरुष। नो पडिसंजलिज्जासि—अपने हृदय में क्रोध को प्रज्वलित न करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस मनुष्य-जन्म को अल्पायुष्क समझकर इसी जीवन में क्रोध से होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःखों को देख! इसके अतिरिक्त क्रोध से उत्पन्न होने वाले आगामी जन्मों के दुःखों को समझ! क्योंकि क्रोध के कारण ही जीव नरकादि योनियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टों को अनुभव करते हैं। दुःख के वशवर्ती बना हुआ यह जीव उनसे बचने के लिए इधर-उधर भागता फिरता है। यह भी तू देख! जो क्रोधादि विकारों एवं पापकर्मों से निवृत्त हो गए हैं और निदान रहित हैं, वे ही इच्छा-रहित कहे जाते हैं। अतः विद्वान् पुरुष को कभी अपने हृदय में क्रोध को प्रज्वलित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन सदा एक-सा नहीं है। जन्म के बाद मृत्यु का आगमन आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण आयु कम होती रहती है। इस प्रकार मानव-आयुष्य परिमित है। इसलिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए और विवेकपूर्वक संयम का परिपालन करना चाहिए, क्योंकि क्रोध आदि कषायों से विभिन्न दुःख एवं संक्लेश उत्पन्न होते हैं। क्रोध केवल वर्तमान के लिए ही दुःख रूप नहीं है, अपितु भविष्य में भी वह मनुष्य को दुःख के गर्त में गिरा देता है। कषायों के वश मानव नरक आदि योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए साधक को दुःख के मूल क्रोध आदि कषायों एवं पापकर्मों से निवृत्त होकर तप आदि साधना में किसी भी प्रकार का निदान-कामना नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि साधक को शांत एवं निष्पाप जीवन के साथ आकांक्षा का त्याग करना चाहिए। निराकांक्षी साधक ही समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ होता है और वास्तव में वही महा विद्वान् एवं प्रबुद्ध पुरुष है—जो क्रोध को प्रज्वलित नहीं होने देता है। क्रोध एवं कामना-रहित व्यक्ति सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है। उसे कभी भी दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को कषाय एवं कामना का त्याग कर सदा संयम में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में निष्काम तप का वर्णन किया गया है। तप का संयम-साधना के साथ सम्बन्ध है। वह भी चारित्र का एक अंग है। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक में संयम-साधना—चारित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवीलए, पवीलए, निष्पीलए जहिता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराण अनियट्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि॥138॥

छाया—आपीडयेत्, प्रंपीडयेत्, निष्पीडयेत् त्यक्त्वा पूर्व संयोगं हित्वोपशमं तस्मादविमनाः वीरः स्वारतः समितः, सहितः सदा यतेत, दुरनुचरो मार्गः वीराणामनिवर्तगामिनां विवेचय मांसशोणित एष पुरुषः द्रविकः, वीरः आदानीयः व्याख्यातः यो धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये ।

पदार्थ—पुव्वसंजोगं—मुमुक्षु पुरुष पूर्व संजोग को। जहिता—छोड़कर। उवसमं—हिच्चा—उपशम को प्राप्त कर, मन-वचन और काय योग का दमन करने के लिए। आवीलए—थोड़ा तप करे, फिर। पवीलए—विशिष्ट रूप से करे। निष्पीलए—उससे भी उत्कृष्ट, अर्थात् घोर तपश्चर्या करे। तम्हा—इसलिए। अविमणे—वैमनस्य से रहित। वीरे—वीर पुरुष। सारए—सम्यक् रूप से। समिए सहिए—समिति और ज्ञान से युक्त। सया—सदा। जए—संयम पालन में संलग्न रहे, क्योंकि। दुरणुचरो—जो दुष्करता से आचरित किया जाए, वह। वीराणमग्गो—वीरों का मार्ग है। अनियट्ट-गामीणं—मोक्ष गमन का इच्छुक। विगिज्ज—तप के द्वारा। मांस सोणियं—मांस और शोणित को अलग कर देता है, अर्थात् समस्त कर्मों को नष्ट करके शरीर-रहित

हो जाता है। एस—यह। पुरिसे—पुरुष। दविए—जो मोक्षगामी है, वह। आयाणिज्जे—आदेय वचन वाला। वियाहिए—कहा गया है। जे—जो व्यक्ति। बंभचेरंसि—ब्रह्मचर्य में। वसित्ता—निवास करके। समुस्सयं—तप के द्वारा शरीर एवं कर्मोपचय को। धुणाइ—कृश करता है।

मूलार्थ—मुमुक्षु पुरुष पूर्व संयोग—असंयम का परित्याग एवं संयम को स्वीकार करके तप साधना के द्वारा योगों का दमन करे, धीरे-धीरे योगों का निरोध करते हुए उनका संपूर्ण रूप से निरोध करे। इसके लिए वह वैमनस्य रहित, भली-भांति मर्यादा पूर्वक संयम में संलग्न, समिति एवं ज्ञान से युक्त होकर संयम का परिपालन करे। मोक्षगामी वीर पुरुषों का मार्ग दुष्कर है। अतः हे शिष्य! तू तपश्चर्या के द्वारा मांस-शोणित को सुखा दे। जो साधक ब्रह्मचर्य में स्थित रहकर तप के द्वारा शरीर एवं कर्मोपचय को कृश करता है, वह संयमी, मोक्षगामी वीर और आदेय वचन वाला कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

संयम-साधना का उद्देश्य कर्म क्षय करना है और कर्म क्षय के लिए तपश्चर्या एक साधन है। इसलिए मुनि को तप के द्वारा कर्म क्षय करना चाहिए। यह तप साधना दीक्षा ग्रहण करते ही प्रारम्भ करनी चाहिए। प्रारम्भ में सामान्य रूप से तप करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे आत्मशक्ति का विकास होगा और संयम में तेजस्विता आएगी। अतः साधु को आगमों का अध्ययन करने तक थोड़ी-थोड़ी तपश्चर्या करनी चाहिए। आगम का भली-भांति अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद, उसके परिणामों में परिपक्वता आ जाए, तब उसे विशिष्ट तप करना चाहिए और साधना के पथ पर चलते हुए उसे यह निश्चय हो जाए कि अब शरीर शिथिल हो गया। अब यह अधिक दिन रहने वाला नहीं है, तब पूर्णतया आहार-पानी त्याग करके जीवन पर्यन्त के लिए तप स्वीकार करके शान्तिभाव से समाधि मरण को प्राप्त करे। इस तप के साथ किसी भी प्रकार इस लोक या परलोक सम्बन्धी यश-प्रशंसा एवं भौतिक सुख की कामना नहीं होनी चाहिए। निष्काम भाव से एकान्त निर्जरा की दृष्टि से किया गया तप ही कर्मक्षय करने में समर्थ होता है।

तप-साधना का प्रमुख उद्देश्य कर्मण शरीर को कृश करना है। कर्मण शरीर

की कृशता से ही आत्म-गुणों का विकास होता है। इस अपेक्षा से आपीड़न आदि शब्दों का यह अर्थ होगा—चौथे से सातवें गुणस्थान तक आपीड़न—सामान्य तप, आठवें और नवमें गुणस्थान में प्रपीड़न—विशेष तप और दसवें गुणस्थान में निष्पीड़न-मांस-क्षमण आदि तप अथवा औपशमिक श्रेणी में आपीड़न तप, क्षपक श्रेणी में प्रपीड़न तप और सूक्ष्मसंपराम आदि शैलेसि अवस्था में निष्पीड़न तप होता है। तप साधना के लिए यह शास्त्रीय पद्धति है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि असंयम का त्याग करके उपशम भाव को प्राप्त व्यक्ति तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति ज्ञान एवं समिति से युक्त है, वही तप एवं संयम मार्ग पर चल सकता है। साधना का, मुक्ति का, संयम का मार्ग कायरों का नहीं, वीरों का है। इसका आचरण करना सरल नहीं है।

वही व्यक्ति इस पथ पर चल सकता है, जो संसार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और ब्रह्मचर्य से युक्त है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर देता है। परन्तु उसके पालन के लिए इन्द्रियां एवं मन को विशेष रूप से वश में रखना होता है और उन्हें वश में रखने का उपाय है—तप अर्थात् जिह्वा को नियन्त्रण में रखना। कहा भी जाता है कि—“एक इन्द्रिय—जिह्वा को भूखी रखने पर शेष चारों इन्द्रियां तृप्त रहती हैं और एक जिह्वा का पोषण करने पर चारों इन्द्रियां बुभुक्षित होकर इधर उधर उछल-कूद मचाती हैं।”

जिह्वा के पोषण से या प्रकाम भोजन से शरीर में मांस-खून एवं चर्बी बढ़ेगी। इससे विकार भाव जागेगा। मन एवं अन्य इन्द्रियां विषय-भोगों की ओर आकर्षित होंगी, इसलिए ब्रह्मचर्य का परिपालन करने वाले साधक के लिए यह बताया गया है कि वह तपश्चर्या के द्वारा मांस और शोणित को सुखा दे। मांस और शोणित की शक्ति निर्बल होने पर ब्रह्मचर्य की साधना भली-भांति सध सकेगी और इस प्रकार साधक कर्म क्षय करने में सहज ही सफलता प्राप्त कर लेगा।

जो साधक पूर्व आसक्ति का त्याग नहीं करता, उसकी क्या स्थिति होती है, इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगडिहं बाले, अव्वोच्छिन्न-

बंधणे आणभिव्कतंसंजोए तमंसि अविआणओ आणाए लंभो नत्थि, तिबेमि॥139॥

छाया—नेत्रैः परिच्छिन्नेः आदान श्रोतोगृह्यो बालः (अज्ञ) अव्यवच्छिन्न बन्धनोऽनभिक्रान्त-संयोगः तमसि अविजानतः आज्ञायाः लाभो नास्ति, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—नित्तेहिं—चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके । पत्तिच्छिन्नेहिं—फिर मोह कर्म के उदय से । आयाणं सोय गट्टिए—कर्म आने के स्रोत में आसक्त, वह । बाले—अज्ञानी जीव । अव्वोच्छिन्नबंधणो—जिसने कर्म बन्ध का छेदन नहीं किया है । अणाभिव्कतं संजोए—जिसने संयोग का त्याग नहीं किया है । तमंसि—जो मोह अन्धकार में स्थित है । अविआणओ—जो मोक्ष के उपाय—साधन को नहीं जानता है, उस व्यक्ति को । आणाए—तीर्थकर की आज्ञा का । लंभो नत्थि—लाभ प्राप्त नहीं होता । तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति विषयों से इन्द्रियों का निरोध करने पर भी मोह कर्म के उदय से आसक्त में आसक्त हो गया है और जिसने कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष का छेदन नहीं किया है, विषयों के संयोग को नहीं त्यागा है और जो मोह अन्धकार से बाहर नहीं निकलता है तथा मोक्ष मार्ग को नहीं जानता है, वह अज्ञानी व्यक्ति तीर्थकर की आज्ञा का लाभ नहीं उठा सकता, इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी मानव की मानसिक निर्बलता को बताया गया है । वह अपने आपको विषयों से निवृत्त कर लेता है और इन्द्रियों को भी कुछ समय के लिए वश में रख लेता है, परन्तु फिर से मोह कर्म का उदय होते ही विषयों में आसक्त हो जाता है । इसका कारण यह है कि उसने आसक्त एवं बन्ध के मूल कारण राग-द्वेष का उन्मूलन नहीं किया और न मोह कर्म का ही छेदन किया है । इसके अतिरिक्त उसे मोक्ष मार्ग का भी पूरा बोध नहीं है । इसी कारण वह मोह कर्म का थोड़ा-सा झोंका लगते ही अपने मार्ग से फिसल जाता है ।

इसलिए साधक को सबसे पहले साध्य एवं साधन का ज्ञान होना चाहिए । मार्ग

का यथार्थ बोध होने पर ही वह उस पथ पर सुगमता से चल सकेगा और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भी दूर कर सकेगा, अतः जिसे उस पथ का बोध नहीं है, वह संसार की हवा लगते ही इधर-उधर भटक जाता है। इसी कारण उसे तीर्थंकर की आज्ञा का भी लाभ प्राप्त नहीं होता, क्योंकि न तो उसे उस मार्ग का बोध ही है और न उस पथ के प्ररूपक पर निष्ठा ही है, ऐसी स्थिति में उसे लाभ कैसे मिल सकता है?

ऐसी आत्मा को न पीछे बोधि लाभ हुआ है, न अब होता है और न भविष्य में होगा। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया? से हु पन्नाणमन्ते बुद्धे आरम्भोवरए, सम्ममेयन्ति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिच्छिन्दिय बाहिरंगं च सोयं, निक्कमदंसी, इह मत्त्विएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी॥140॥

छाया—अस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात्? स खलु प्रज्ञानवान् बुद्धः आरम्भोपरतः सम्यगेतत् पश्यतः येन बन्धं वधं घोरं परितापं च दारुणं परिच्छिन्द्य बाह्यं च स्रोतः निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु कर्मणां सफलं दृष्ट्वा ततः निर्याति वेदवित्।

पदार्थ—जस्स—जिसको। पुरा—पूर्वकाल में सम्यक्त्व का लाभ। नत्थि—नहीं हुआ और। पच्छा—ना ही आगामी काल में सम्यक्त्व का लाभ होगा तो फिर। तस्स—उसको। मज्झे—मध्य जन्म में। कुओ—कहां से। सिया—सम्यक्त्व का लाभ होगा। हु—जिससे भोगों से निवृत्त हो गया है, इसलिये। से—वह। पन्नाणमन्ते—प्रज्ञावान है। बुद्धे—तत्त्वों को जानने वाला है। आरम्भोवरए—आरम्भ से उपरत हो गया है, हे शिष्यो! तुम। सम्ममेयन्ति—सम्यग् शोभन रूप इस सम्यक्त्व को। पासह—देखो क्योंकि। जेण—जिस कारण से। बंधं—बन्ध को। वहं—वध को। घोरं—घोर रूप। च—और। परियावं—परिताप को। दारुण—दारुण रूप असहनीय को। पलिच्छिन्दिय—दूर करके। च—पुनः। बाहिरंग—बाहर के धन—धान्यादि। सोयं—स्रोत को भी दूर कर दिया है। निक्कमदंसी—मोक्ष वा संवर मार्ग के देखने

वाला। इह—इस संसार में। मच्चिएहिं—मनुष्यों के मध्य में। कम्माणं—कर्मों के। सफलं—फल को। दट्ठूणं—देश कर। तओ—तत्पश्चात्। वेयवी—आगमों के जानने वाला। निज्जाइ—कर्मों के स्रोत से पृथक् हो जाता है, अर्थात् निष्कर्मदर्शी आत्मा कर्मों के स्रोत से निर्गच्छति—निकल जाता है। सकाम व अकाम निर्जरा से कर्मों को नष्ट कर देता है।

मूलार्थ—जिस आत्मा को पूर्व काल में सम्यक्त्व का लाभ नहीं हुआ, आगामी काल में होने का नहीं तो फिर उसको मध्य काल में सम्यक्त्व का लाभ किस प्रकार हो सकता है?

हे शिष्यो! तुम उन बुद्धिमानों तथा तत्त्वों को जानने वाले आरंभ से निवृत्त और सम्यग् देखने वाले व्यक्तियों को देखो! जिस कारण से बन्ध-वध—घोर भयंकर और दारुण परिताप को तथा बाह्य और आत्मन्तरिक स्रोतों को दूर करके जो निष्कर्मदर्शी बने हैं, वे इस लोक में सबसे बढ़कर हैं। आगमवेत्ता कर्मों के फल को देखकर तत्पश्चात् आस्रव स्रोत से निकल जाता है, अर्थात् आस्रव का सर्वथा निरोध कर देता है।

हिन्दी-विवेचन

कुछ जीव ऐसे हैं, जिन्होंने न अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श किया है और न अनागत काल में करेंगे। उन जीवों को आगमिक भाषा में अभव्य जीव कहते हैं। वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं करते। आगम में उनके लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अतीत काल में उन्होंने सम्यक्त्व का न स्पर्श किया और न अनागत में करेंगे और अतीत एवं अनागत इन दोनों काल में अनन्त-अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का समावेश हो जाता है। इनके मध्य का काल, अर्थात् वर्तमान काल तो केवल एक समय का होता है। अतः जब इन दोनों काल में वे सम्यक्त्व के प्रकाश को नहीं पा सकते तो मध्य काल में पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ऐसे अभव्य जीव कभी भी मोक्ष मार्ग पर नहीं चल सकते।

कुछ जीव ऐसे हैं कि जिन्होंने अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया परन्तु मोह कर्म के उदय से वे फिर से मिथ्यात्व में गिर गए। ऐसे जीव अनागत काल में फिर से सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। एक बार

सम्यक्त्व का स्पर्श करने के पश्चात् मिथ्यात्व में चले जाने पर भी वह अधिक से अधिक अपार्ष्ण्य पुद्गल परावर्त तक मिथ्यात्व में रह सकता है। उसके बाद तो वह अवश्य ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके मुक्ति की ओर पग बढ़ाएगा ही।

जिन जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे किसी भी प्राणी को मारने, काटने एवं पीड़ा पहुंचाने आदि आरम्भ एवं हिंसा जन्य कार्यों से अलग रहते हैं। वे आस्रव के द्वार को रोकते हुए सदा संयम-साधना में संलग्न रहते हैं। इसलिए उन्हें निष्कर्मदर्शी कहा गया है। उनकी दृष्टि संवरमय होती है। वे कर्म के दुःखद फल को जानते हुए उससे—कर्म बन्ध से सदा बचकर रहने का प्रयत्न करते हैं

वह प्रज्ञावान् भी होगा ही और जो प्रज्ञावान् होगा वह बुद्ध-बोध युक्त होगा ही।

यह सत्य है कि प्रत्येक कर्म फल युक्त होता है, कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। उसमें इतना अन्तर हो सकता है कि कुछ कर्म विपाकोदय रूप से वेदन किए जाते हैं तो कुछ कर्म प्रदेशोदय से ही अनुभव कर लिए जाते हैं। कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग इन पांच कारणों से कर्म का बन्ध होता है। जो व्यक्ति जीवाजीव आदि पदार्थों का ज्ञाता है, वह आस्रव से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

तत्त्वों को जानने वाले व्यक्ति को प्रज्ञावान् कहते हैं। वह आगम के द्वारा संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारण कर्म तथा कर्म-बन्ध के कारण को भली-भांति जानता है। प्रस्तुत सूत्र में आगम के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद का अर्थ है—जिसके द्वारा संपूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो, उसे वेद कहते हैं और वे सर्वज्ञोपदिष्ट आगम हैं। उसके परिज्ञाता उसके अनुरूप आचरण करने वाले साधक कहलाते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मविकास एवं साध्य को सिद्ध करने का मूल सम्यक्त्व है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सभी तीर्थंकरों का यही अभिमत है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मुलम्—जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो
आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा, पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं

इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठंसु साहिस्सामो नाणं, वीराणं समियाणं, सहियाणं सया जयाणं संघडदंसिणं, आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणानं किमत्थि उवाही? पासगस्स न विज्जइ नत्थि तिबेमि॥141॥

छाया—ये खलु भो! वीराः ते समिताः सहिताः सदायताः निरन्तरदर्शिनः आत्मोपरताः यथातथं लोकम् उपेक्षमाणाः प्राच्यां प्रतीच्यां दक्षिणायाम् उत्तरस्यामिव सत्ये परिचिते तस्थुः कथयिष्यामि ज्ञानं वीराणां समितानां, सहितानां दायतानां निरन्तरं स दर्शिनां आत्मोपरतानां यथातथ्यं लोकं समुत्प्रेक्षमाणानां किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते नास्ति, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—खलु—वाक्यालंकार में है। भो—हे आर्य! जे—जो। वीरा—कर्म विदारण में समर्थ। ते—वे। समिया—समितियों से युक्त। सहिया—ज्ञान से युक्त। सयाजया—सदा यत्न करने वाले। संघड दंसिणो—निरन्तर देखने वाले। आओवरया—पाप कर्मों से उपरत हुए। अहातहं—यथा तथा। लोयं—लोक को। उवेहमाणा—देखते हुए। पाईणं—पूर्व दिशा में। दाहिणं—दक्षिण दिशा में। पडिणं—पश्चिम दिशा में। उइणं—उत्तर दिशा में। इय—इस प्रकार। सच्चंसि—सत्य में। परिचिए—परिचित विषय में। परिचिट्ठंसु—ठहरे हुए स्थिति वाले। सहिस्सामो—मैं तुम्हारे प्रति कहूँगा—सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यों के प्रति कहते हैं। हे शिष्यो! मैं तीन काल के तीर्थकरों का अभिप्राय तुम्हारे प्रति कहूँगा तुम सुनो किनका। वीराणं—वीरों का। समयाणं—समिति वालों का। सहियाणं—ज्ञानयुक्तों का। सयाजयाणं—सदा यत्न करने वालों का। संघडदंसिणं—निरन्तर देखने वालों का। आओवरयाणं—जिनका आत्मा पापों से निवृत्त है। अहातहं—यथा-तथा। लोयं—लोक के। समुवेहमाणानं—समुत्प्रेक्षया वालों का। नाणं—जो ज्ञान है। किमत्थि उवाही—क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि है? नत्थि—नहीं होती हैं। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्यो? वे वीर पुरुष जो समितियों से युक्त ज्ञान से संयुक्त सदा यत्नशील निरन्तर देखने वाले पूर्व-पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में व्यवस्थित, स्थिर सत्य व तप संयम में अवस्थित थे, मैं उन वीर पुरुषों का ज्ञान तुम्हारे प्रति सुनाऊँगा जो कि समित-समितियुक्त ज्ञान-युक्त सदा यत्नशील, निरन्तर देखने

वाले पापों से उपरत, और यथावस्थित लोक के स्वरूप को देखने वाले हैं, वे कहते हैं सत्य में, संयम में ठहरो? क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि होती है, अर्थात् नहीं होती, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल में होने वाले तीर्थकर सत्य और संयम की साधना से कर्मों का नाश करते हैं। सत्य किसी एक देश, वस्तु विशेष या काल विशेष में सीमित नहीं, अपितु समस्त लोक व्यापी है और सब काल में स्थित रहता है। अतः सभी तीर्थकरों के उपदेश में एकरूपता रहती है। तीर्थकर सम्यक्त्व को मुक्ति का मूल कारण बताते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकाश में अपना विकास करता हुआ व्यक्ति सब कर्मों का नाश कर देता है। अतः इस प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है। वह वीर साधक पांच समिति और तीन गुप्ति की साधना से ज्ञानावरण कर्म को अनावृत करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और आयु कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्म आवरण को नष्ट करके निरावरण आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

चार घातिकर्मों को क्षय करने पर आत्मा में अनन्त चतुष्टय ज्ञान, दर्शन सुख और बल-वीर्य शक्ति का उदय होता है। उस निरावरण ज्ञान के प्रकाश में वह सारे संसार एवं लोक में स्थित सभी तत्त्वों को यथार्थ रूप से देखने लगता है। उससे संसार का कोई रहस्य गुप्त नहीं रहता और वह महापुरुष कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना के बल पर वह कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता है और एक दिन आत्मा विकास की चरम सीमा—14वें गुणस्थान को लांघकर अपने साध्य—सिद्ध अवस्था को पा लेता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को रत्नत्रय की आराधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए, अर्थात् अप्रमत्त भाव से संयम का परिपालन करना चाहिए।

‘त्तिबेभि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अध्ययन : लोकसार

प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व के बाद सम्यक् चारित्र का स्थान है। चूँकि सम्यग् दर्शन का महत्त्व चारित्र के विकास में है, इसलिए लोक में चारित्र ही सार रूप माना गया है। प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी लोकसार है। अतः इस अध्ययन में चारित्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए वृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है—

लोगस्स उ को सारो? तस्य य सारस्स को हवइ सारो?

तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह है।

अर्थात्—गुरुदेव! इस चौदह राजूलोक का सार क्या है, तथा उस लोक के सार का सार तत्त्व एवं उस सार का भी सार तत्त्व क्या है? इसका समाधान करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

लोगस्स सारो धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं विंतिं

नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं॥

अर्थात्—लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण—मोक्ष है। निष्कर्ष यह रहा कि लोक का सार संयम है और संयम-साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। संयम-साधना के अभाव में कोई भी व्यक्ति मोक्ष को नहीं पा सकता है। अतः सूत्रकार असंयमी—असाधु जीवन किसका होता है, अर्थात् मुनित्व का अभाव किस में है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए,
एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारं ते, जओ से
मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे॥142॥

छाया—यावन्तः केचन लोके विपरामृशन्ति अर्थायानर्थाय एतेषु विपरामृशन्ति गुरवः तस्य कामाः ततः स मारान्तः (मारान्तर्वर्ती) यतः सः मारान्तः ततः सः दूरे नैवासौ अन्तः नैवदूरे ।

पदार्थ—आवन्ती—जितने जीव असंयत हैं, उनमें । केयावन्ती—कितने एक । लोयसि—लोक में । विपरामुसन्ति—अनेक विषयाभिलाषा से अनेक जीवों की घात करते हैं । अट्ठाए—प्रयोजन से । अणट्ठाए—निष्प्रयोजन से, फिर वे जीव । एएसु—इन्हीं 6 कायों में । च—पुनः । एव—अवधारणार्थ में । विपरामुसन्ति—उत्पन्न होते हैं तथा अनेक प्रकार के दुःखों का संवेदन करते हैं, फिर । से—उसको । गुरुकामा—काम भोगों का परित्याग करना कठिन हो जाता है । तओ—तदनुसार । से—वह । मारन्ते—जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहता है । जओ—जिससे । से—वह । दूरे—मोक्ष से दूर रहता है । से—वह । नेव—अन्तो विषय सुख के अन्तर्वर्ती भी नहीं है, और । नेव दूरे—न उससे दूर ही है ।

मूलार्थ—संसार में जितने भी असंयत जीव हैं, उनमें कई जीव अनेक तरह के प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही अनेक जीवों की हिंसा करते हैं । इस कारण वे इन्हीं 6 काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते हैं, वे मोक्ष से दूर हैं । विषय-भोगों के इच्छुक होने के कारण संसार से दूर भी नहीं हैं और विषय-सुख का उपभोग भी नहीं कर सकते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा एवं हिंसाजन्य फल का उल्लेख किया गया है । कुछ असंयत मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए अनेक जीवों की हिंसा करते रहते हैं । अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए तो स्पष्ट रूप से हिंसा होती ही है । परन्तु कुछ लोग धर्म एवं मोक्ष के नाम पर किए जाने वाले यज्ञों एवं अन्य क्रियाकाण्डों में—पंचाग्नि, होम, धूपदीप आदि में अनेक जीवों की हिंसा करते हैं । वे प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही केवल मौज-शौक के लिए दूसरे प्राणियों का प्राण ले लेते हैं । जैसे मनोविनोद के लिए शिकार आदि दुष्कर्मों के द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं और परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके उन्हीं 6 काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते हैं, जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं ।

ऐसे व्यक्ति मोक्ष से दूर रहते हैं, क्योंकि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिपालन करना मोक्षमार्ग है और विषयाभिलाषी प्राणी रत्नत्रय की आराधना-साधना कर नहीं सकता। वह रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहता है; अतः मोक्ष से दूर कहा गया है।

विषयासक्त व्यक्ति रात-दिन भोगों में संलग्न रहता है। अतिभोग के कारण उसकी इन्द्रियां जर्जरित होती हैं, शरीर दुर्बल एवं रोग से घिर जाता है। इस तरह वे विषयजन्य सुख से वंचित रहता है और उसमें मानसिक भावों से लीन रहने के कारण वह संसार से दूर नहीं होता है। क्योंकि उसका चिन्तन सदा विषय-वासना में ही लगा रहता है। अतः वह निरन्तर जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है।

सम्यक्त्व की साधना करने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय किस तरह के रहते हैं, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं
एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले
पक्कुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ
एइ, एत्थ मोहे पुणो-पुणो॥१४३॥

छाया—स पश्यति उदकबिन्दुमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेरितः मेवं
बालस्य जीवितं मन्दस्य अविजानतः क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणिः तेन
दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति मोहेन गर्भमरणादिमेति अत्र मोहः पुनः पुनः।

पदार्थ—से—वह—सम्यग् दृष्टि व्यक्ति संसार को असार। पासइ—देखता है।
कुसग्गे—कुशा—तिनके के अग्रभाग पर स्थित। फुसियमिव—जल बिन्दु की तरह।
बालस्स—बालक का। जीवियं—जीवन है। पणुन्नं—कुशाग्र पर स्थित वह जल
बिन्दु अन्य जल बिन्दु से या। वाएरियं—वायु से प्रेरित हुआ। निवइयं—गिर जाता
है। एवं—इसी प्रकार बाल्यकाल का जीवन समझना चाहिए। मंदस्स—विवेक
विकल। अवियाणओ—परमार्थ को नहीं जानता हुआ। बाले—बाल जीव। कूराइं—
क्रूर। कम्माइं—कर्म। पक्कुव्वमाणे—करता हुआ। तेण—उस दुष्कर्म के फलस्वरूप।
दुःखेण—दुःख से वह। मूढे—मूढ़। विप्परिआसमुवेइ—विपर्यास भाव को प्राप्त हो

छाया—संशयं परिजानतः संसारः परिजातो भवति, संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिज्ञातो भवति ।

पदार्थ—संसयं—जो संशय को । परिआणयो—जानता है, वह । संसारे—संसार के स्वरूप का । परिन्नाएभवइ—जानता है । जोसंसयं—संशय को । अपरियाणओ—नहीं जानता है, वह । संसारे—संसार को भी । अपरिन्नाए भवइ—नहीं जानता है ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है और जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार के स्वरूप को भी नहीं जानता ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ ज्ञान और संशय का अविनाभाव संबन्ध माना गया है । यहां संशय का अर्थ है—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति । इससे स्पष्ट होता है कि संशय ज्ञान के विकास का कारण भी है । जब मन में जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्बुद्ध होती है, तो मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है ।

संशय—जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है—1. अर्थगत और 2. अनर्थगत । मोक्ष एवं मोक्ष के कारण भूत संयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत संशय कहते हैं और संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारणों को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत संशय कहते हैं । दोनों प्रकार के संशय से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है और संसार एवं मोक्ष दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है । इसलिये यह कहा गया है कि जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार को यथार्थतः नहीं जान सकता ।

संशय ज्ञान कराने में सहायक है । परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह—शंका करते रहने की कुटिल वृत्ति अपनाता है, तो वह संशय पतन का कारण बन जाता है । उससे पदार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यक्ति और अधिक अज्ञान अन्धकार से आवृत हो जाता है । इसी दृष्टि से कहा गया

छाया—संशयं परिजानतः संसारः परिजातो भवति, संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिजातो भवति ।

पदार्थ—संसयं—जो संशय को । परिआणयो—जानता है, वह । संसारे—संसार के स्वरूप का । परिन्नाएभवइ—जानता है । जोसंसयं—संशय को । अपरियाणओ—नहीं जानता है, वह । संसारे—संसार को भी । अपरिन्नाए भवइ—नहीं जानता है ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है और जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार के स्वरूप को भी नहीं जानता ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ ज्ञान और संशय का अविनाभाव संबंध माना गया है । यहां संशय का अर्थ है—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति । इससे स्पष्ट होता है कि संशय ज्ञान के विकास का कारण भी है । जब मन में जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्बुद्ध होती है, तो मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहता है ।

संशय—जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है—1. अर्थगत और 2. अनर्थगत । मोक्ष एवं मोक्ष के कारण भूत संयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत संशय कहते हैं और संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारणों को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत संशय कहते हैं । दोनों प्रकार के संशय से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है और संसार एवं मोक्ष दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है । इसलिये यह कहा गया है कि जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार को यथार्थतः नहीं जान सकता ।

संशय ज्ञान कराने में सहायक है । परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह—शंका करते रहने की कुटिल वृत्ति अपनाता है, तो वह संशय पतन का कारण बन जाता है । उससे पदार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यक्ति और अधिक अज्ञान अन्धकार से आवृत हो जाता है । इसी दृष्टि से कहा गया ।

है—“संशयात्मा विनश्यति” अर्थात् संशयशील आत्मा का विनाश होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि संशय पदार्थ ज्ञान के लिए होना चाहिए। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के लिए जात संशय, संजात संशय और समुत्पन्न संशय ऐसा तीन बार उल्लेख किया गया है¹। जात संशय की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार अभय देव सूरि ने लिखा है—‘जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयस्तु अनवधारितार्थ ज्ञानं जातसंशयः इदं वस्त्वेवं स्वादेवमिति।’ अर्थात्! जो ज्ञान पहले धारण नहीं किया गया है, उसकी प्राप्ति के लिए किए जाने वाले संशय को जात संशय कहते हैं। इस प्रकार यह संशय ज्ञान वृद्धि में कारणभूत है। इससे पदार्थों का यथार्थ बोध होता है और उनकी हेयोपादेयता का भी परिज्ञान होता है।

हेय एवं उपादेय वस्तु का त्याग एवं स्वीकार कौन कर सकता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणाविज्जा अणासेवणय तिबेमि॥145॥

छाया—यच्छेकः स सागारिकं—मैथुनं न सेवते कृत्वा एवमभिजानतः द्वितीया मंदस्य बालता लब्धानपि अर्थान् प्रत्युपेक्ष्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनतया, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो साधक निपुण है। से—वह। सागारियं—मैथुन कर्म को। न सेवइ—सेवन नहीं करता है, परन्तु जो अज्ञानी व्यक्ति मैथुन का आसेवन करता है, वह उसका सेवन। कट्टु—करके भी गुरु के पूछने पर। एवं—इस प्रकार। अवियाणयो—अपलाप करता है कि मैंने मैथुन का आसेवन नहीं किया है, यह। मन्दस्स—उस मन्दमति वाले व्यक्ति की। बिइया—दूसरी। बालया—अज्ञानता है। इसलिए मतिमान पुरुष को। लद्धा—विषयों का संयोग मिलने पर भी। हुरत्था—उसके विपाक को। पडिलेहाए—विचार कर। आगमित्ता—जानकर। अणासेवणय—उनका सेवन नहीं करना चाहिए। आणविज्जा—और अन्य व्यक्तियों को विषयों से दूर

रहने की आज्ञा देनी चाहिए। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो साधक कुशल है, निपुण है, वह विषय-भोगों का आसेवन नहीं करता। परन्तु कुछ दुर्बुद्धि साधक विषय-वासना का सेवन करके भी गुरु आदि के पूछने पर उसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि हमने मैथुन का सेवन नहीं किया। इस तरह पाप को छिपाकर रखना उन मन्दबुद्धि साधकों की दूसरी अज्ञानता है।

बुद्धिमान साधक विषयों की प्राप्ति होने पर भी उस ओर अपने योगों को नहीं लगाते। वे उनके विपाक-फल का विचार कर उनका सेवन नहीं करते और अन्य साधकों को भी उनसे बचकर रहने का आदेश देते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बुद्धिमान साधकों की बुद्धिमत्ता, मूर्खों की अज्ञानता एवं बुद्धिमानों के कर्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। बुद्धिमान वह है जो किसी भी परिस्थिति में अपने साधनापथ से विचलित नहीं होता है। जिस वस्तु को संसार परिभ्रमण का कारण समझ कर त्याग कर दिया, उसे फिर स्वीकार करना या उसे ग्रहण करने की मन में कल्पना करना अज्ञानता का परिचायक है। प्रबुद्ध पुरुष किसी भी स्थिति में परित्यक्त विषय-भोगों के आसेवन की इच्छा नहीं रखते। वे सदा भोगों से दूर रहते हैं, क्योंकि वे उसके दुष्परिणामों से परिचित हैं।

परन्तु, जो मूर्ख हैं, वे त्याग के पथ पर चलकर भी भटक जाते हैं, विषयवासना के साधनों को देखते ही वे उसके प्रवाह में बह जाते हैं और उसका आसेवन करके भी उसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दुष्कर्म को स्वीकार नहीं करते। गुरु के पूछने पर कहते हैं कि मैंने कोई दुष्कर्म नहीं किया। इस प्रकार पहले तो पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और फिर उसे छिपाने के लिए दूसरे पाप कर्म का सेवन करते हैं। यह उनकी दूसरी अज्ञानता है। इससे उनका जीवन पतन के गर्त में गिरता है और वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रबुद्ध पुरुष विषय-भोगों के कटु परिणाम एवं बाल-अज्ञानी जीवों द्वारा आसेवित विषय-भोगों एवं माया-मृषावाद के दुष्परिणामों को भली-भांति जानते हैं। इसलिए भोग्य-पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी वे उसका सेवन नहीं करते हैं। वस्तुतः सच्चा त्यागी वही है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त प्रिय भोगों का हृदय से त्याग कर देता है,

उनके सेवन की बिल्कुल इच्छा-आकांक्षा नहीं रखता¹ और अपने अन्य साथी साधकों को भी भोगों की असारता एवं उनके दुष्परिणाम बताकर, विषय-वासना से दूर रहने का आदेश देता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो-पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे, बहुमाणे, बहुमाए, बहुलोभे, बहुरए, बहूनडे बहुसढे, बहुसंकप्पे, आसवसत्ती पलिउच्छन्ने, उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू, अन्नाणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया मानव! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुक्खमाहु—आवट्टमेव अणुपरियट्ठंति, तिबेमि॥146॥

छाया—पश्यत एकान् रूपेषु गृह्णान् परिणीयमानान् अत्र स्पर्शान् पुनः-पुनः यावन्तः केचन लोके आरम्भजीविनः एतेषु चैव आरम्भजीवी अत्रापि बालः परिपच्यमानः रमते पापैः कर्मभिः अशरणं शरणमिति मन्यमानः इहैकेषामेकचर्या भवति स बहुक्रोधः बहुमानः बहुमायः बहुलोभः बहुरतः बहूनटः बहुशठः बहुसंकल्पः आश्रवसक्ती पलितावच्छन्नः कर्मावष्टब्धः उत्थितवादं प्रवदन् मा मां केचन अद्राक्षुः अज्ञानप्रमाद दोषेण सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति आर्ताः प्रजाः मानव! कर्म कोविदाः ये अनुपरताः अविद्यया परिमोक्षमाहुः आवर्त्तमेव अनुपरिवर्तन्ते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—पासह—हे मनुष्यो! तुम देखो। एगे—कई एक धर्म के मानने वालों को। रूवेसु—रूपादि में। गिद्धे—गृह्णों को। परिणिज्जमाणे—नरकादि स्थानों में गये हुआओं को, फिर वे। इत्थ—इस संसार में। पुणो पुणो—पुनः पुनः। फासे—दुःख

1. जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिड्डी कुव्वइ,

साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्तिवुच्चइ।

रूप स्पर्शों का अनुभव करने वालों को तथा । आवंती—जितने भी । केयावंती—कई एक प्राणी । लोयंसि—लोक में । आरंभजीवी—आरम्भ से जीवन व्यतीत करने वाले । च—और फिर । एव—निश्चय ही । एएसु—सावधारम्भप्रवृत्ति में, तथा गृहस्थों में । आरंभ जीवी—आरम्भपूर्वक आजीविका दुःखरूप होती है । इत्यवि—इस अर्हत प्रणीत संयम के स्थान में भी । बाले—राग और द्वेष से व्याप्त । परिपच्चमाणे—परितप्त होता हुआ, अथवा विषय रूप पिपासा से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, फिर उन विषयों में । रमइ—रमण करता है, फिर । पावेहिं—पाप । कम्मेहिं—कर्मों से सन्तप्त होता हुआ । असरणे—अशरणरूप सावधानुष्ठान को । सरणंति—शरण रूप । मन्नमाणे—मानता हुआ, नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करता है । इहं—इस मनुष्य लोक में । एगेसिं—कई एक की क्रोध के वशीभूत होकर । एगचरिया—एकचर्या । भवइ—होती है । से—वह विषय और कषायों के वशीभूत होकर अकेला विचरने वाला । बहुकोहे—बहुत क्रोध वाला । बहुमाणे—बहुत मान वाला । बहुमाए—बहुत माया वाला । बहुलोभे—बहुत लोभ वाला । बहुरए—बहुत कर्म रज वाला । बहुरनडे—नट की भांति विषयों के लिये भ्रमण करने वाला । बहुसढे—बहुत शठता वाला । बहुसंकप्पे—बहुत संकल्पों वाला, हो जाता है, तथा । आसवसत्ती—आश्रव में आसक्त । पलिउच्छन्ने—कर्मों से आच्छादित । उट्ठयवायं—चारित्र्य रूप धर्मवाद में उद्यत हुआ २ । वायमाणे—इस प्रकार बोलता हुआ । मा—मत । मे—मुझे । केइ—कोई । अदक्खू—पाप करते हुए को देखें, तथा वह । अन्नाण पमाय दोसेणं—अज्ञान व प्रमाद के दोष से पाप कर्म करता है । सययं—निरन्तर । मूढ—मूढ-मोह से उदय से । धम्मं—धर्म को । नाभिजाणइ—नहीं जानता । अट्ठा—विषय कषायों से पीडित । पया—जीव । माणव—हे मनुष्य ! कम्मकोविया—कर्मकोविद अर्थात् अष्टविध कर्मों के अनुष्ठान में चतुर । जे—जो । अणुवरया—पाप कर्म से अनिवृत्त हैं । अविज्जाए—अविद्या से । पलिमुखमाहु—सर्व प्रकार से मोक्ष मानते हैं । आवइमेव—संसार चक्र के आवर्त में ही । अणुपरियट्ठंति—बार-बार अनुवर्तन करते हैं, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में ही फंसे रहते हैं । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—भव्य जीवो ! तुम देखो ! कई एक विषयासक्त व्यक्ति नरकादि में वेदना पाते हुए नरकादि स्थानों में पुनः-पुनः दुःख रूप स्पर्श का अनुभव करते हैं,

लोक में कितने ही प्राणी आरम्भ से आजीविका करने वाले इन गृहस्थ या सारम्भी अन्य तीर्थियों में आरम्भपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इस संसार में अज्ञानी जीव, विषयों की अभिलाषा से सावद्य कर्मों में संलग्न रहते हैं, अशरणरूप पापकर्म को शरणभूत मानते हुए नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करते हैं तथा इस मनुष्य लोक में कोई व्यक्ति विषयकषायों के अधीन होकर अकेले विचरने लगता है और फिर वह अधिक क्रोध, अधिक मान, अधिक माया और अधिक लोभ वाला हो जाता है तथा अधिक कर्मरज से युक्त, नट की भांति विषयों के लिए घूमने वाला अत्यन्त धूर्त, अधिक संकल्पों वाला, आश्रयों में आसक्ति रखने वाला और कर्मों से आच्छादित हुआ—‘मैं धर्म के लिए उद्यत हो रहा हूँ, इस प्रकार बोलता है कि मुझे कोई पाप कर्म करते हुए न देखे, इस प्रकार विचारता हुआ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर सदा अकार्य में लगा रहता है। वह निरन्तर मूढ़ हुआ धर्म को नहीं जानता। हे मानव! विषयकषायभूत कर्म करने में कोविद, कर्मानुष्ठान में चतुर, पापों से निवृत्त न होने वाले जीव अविद्या से मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। यह स्पष्ट है कि वासना में आसक्त व्यक्ति दूसरे प्राणियों के हिताहित को नहीं देखता। वह अपनी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त कार्य करते हुए संकोच नहीं करता। परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके नरकादि गतियों में उत्पन्न होता है और वहां विविध वेदना का संवेदन करता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो प्राणी अज्ञान के वश वासना में आसक्त रहता है, वह नीच योनि में उत्पन्न होकर अनेक कष्टों को सहता है, संसार में परिभ्रमण करता है। भले ही, वह गृहस्थ के वेश में हो या साधु के या वेश में, जैन कुल में उत्पन्न हुआ हो या जैनतर कुल में, विषय-वासना में आसक्ति एवं दुष्कर्म में प्रवृत्ति रखना किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। फल भोग के समय लिंग, वेश एवं कुल का भेद नहीं किया जाता। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसके अनुरूप फल भोगना होता है।

परन्तु, अज्ञान से आवृत व्यक्ति इस बात को भूल जाता है और वह अशरण

रूप दुष्कर्म को शरणभूत मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। परिणामस्वरूप वह और अधिक दुःख एवं कष्ट का वेदन करता है। कुछ व्यक्ति विषय-वासना का त्याग करके मुनि बनते हैं, परन्तु फिर से विषय-कषाय के वश में होकर अकेले विचरने लगते हैं। इससे उन पर आचार्य एवं गुरु आदि किसी का नियन्त्रण नहीं रहता और अनुशासन के अभाव में उनके जीवन में कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ एवं विषयों की अभिवृद्धि होती है। वह गुप्त रूप से पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है और परिणामस्वरूप वह पतन के गर्त में गिरता है।

अज्ञान के कारण ही कुछ व्यक्ति अधर्म एवं पापकार्यों को धर्मस्वरूप समझते हैं। दुराग्रह के कारण वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नहीं करते। या यों कहिए कि वे अपनी स्वार्थ साधना एवं मिथ्या प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए धर्म के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, अधर्म को ही धर्म का चोला पहनाकर स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और जनता को भी उस मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय एवं अन्य पाप कर्मों को करने में प्रवीण होते हैं और भोली-भाली जनता के मन में तर्क के द्वारा अधर्म को धर्म बनाने में भी चतुर होते हैं। परन्तु वे धर्माचरण से सदा विमुख रहते हैं। वे अज्ञान या अविद्या के द्वारा ही मोक्ष मानते हैं। ऐसे व्यक्ति धर्म के स्वरूप को नहीं जानते। अतः परिणामस्वरूप वे चार गति संसार में परिभ्रमण करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के संसार का अन्त नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में जो यह बताया गया है कि अकेले साधु के जीवन में विषय-कषाय की अभिवृद्धि होती है। वह विषय-वासना एवं प्रकृति की विषमता के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है, न कि सभी साधुओं के लिए। क्योंकि कुछ साधक अकेले रहकर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हें अकेले विचरने की आज्ञा देते हैं। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में एकाकी विहार समाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने के लिए, जिनकल्प पर्याय को ग्रहण करने के लिए या किसी विशेष परिस्थिति-वश मुनि गुरु एवं संघ के आचार्य की आज्ञा लेकर अकेला विचरता है, तो वह अपने आत्मगुणों में अभिवृद्धि करता है। अतः आचाराङ्ग सूत्र का यह पाठ उन मुनियों के लिए है, जो

विशेष साधना एवं किसी विशिष्ट कारण के बिना ही गुरु आदि की आज्ञा लिए बिना ही अपनी प्रकृति की विषमता से या विषय-वासना से प्रेरित होकर अकेले विचरते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जो “एतेसु चेव आरंभ जीवी” पाठ दिया है, वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—“एतेषु सावधारम्भ प्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थं वर्तमान-स्तीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा ‘आरंभजीवी’ सावधानुष्ठानवृत्तिः पूर्वोक्त दुःखभाग् भवति ।’ अर्थात् गृहस्थ आदि में जो सावधवृत्ति होती है, उसका परिणाम दुःखप्रद होता है।

“इत्थं वि बाले परिपच्यमाणे रमइ” की व्याख्या करते हुए लिखा है—“अत्र अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीत-संयमाभ्युपगमे बालो रागद्वेषाकुलितः परितप्यमानः परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते” अर्थात्—अर्हत् भगवान के शासन में दीक्षित होकर भी कोई-कोई अज्ञानी व्यक्ति विषय-कषाय के वश पाप कर्म में रमण करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में ‘रमइ रमते’ वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार के समय में भी ऐसे व्यक्ति रहे हों। ‘इत्यादि पाठ से भी यह ध्वनित होता है और ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मोहकर्म के उदय में आने वाली उत्तर प्रकृतियों के कारण उस युग में भी संयम से पथभ्रष्ट होना संभव हो सकता है।

‘माणव’ शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य ही मोक्ष की सम्यक् साधना कर सकता है। अन्य योनि से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

‘अविज्जाए पति मुख्खाहु’ का तात्पर्य है कि जो अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप विद्या से विपरीत अविद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ हैं।

तिबेमि का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अध्ययन : लोकसार

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में मुनित्व की साधना से दूर रहे हुए व्यक्तियों के विषय में वर्णन किया गया था। प्रस्तुत उद्देशक में उन साधकों के जीवन का विवेचन किया गया है, जो मुनित्व की साधना में संलग्न रहते हैं। मुनि कौन हो सकता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवन्ती केयावन्ती लोए अणारम्भजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति उन्नेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विपणुन्नए॥147॥

छाया—यावन्तः केचन लोके अनारम्भजीविनः तेषु अत्रोपरतः तत् शोषयन् अयं सन्धिरिति अद्राक्षीत् योऽस्य विग्रहस्य अयं क्षण इति अन्वेषी एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः उत्थितः न प्रमादयेत् ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं पृथक् छन्दाः इह मानवाः पृथग् दुःखं प्रवेदितं स अहिंसन् अनपवदन् स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रणोदयेत्—विप्रेरयेत्।

पदार्थ—आवन्ती—जितने। केयावन्ती—कितने एक। लोए—लोक में। अणारम्भजीविणो—आरम्भ से रहित आजीविका करने वाले। तेसु—उन आरम्भ युक्त गृहस्थों में अनारम्भ जीवी होते हैं, तथा। एत्थोवरए—इस सावधारम्भ से उपरत हैं। तं—उस सावधारम्भ से आये हुए पाप कर्म को। झोसमाणे—क्षय करता हुआ मुनि भाव धारण करता है। अयं—यह। संधीति—अवसर इस प्रकार। अदक्खू—देखे। जे—जो। इमस्स—इस। विग्गहस्स—औदारिक शरीर तथा। अयं—यह। खणेत्ति—क्षण। उन्नेसी—इनके अन्वेषण करने वाला, सदैव ही अप्रमत्त होता है।

एस—यह। मग्गे—मार्ग। आरिएहिं—आर्यों—तीर्थकरों द्वारा। पवेइए—प्रवेदित-प्रतिपादित है। उट्टिए—धर्म ग्रहण करने में उद्यत हुए। नोपमायए—प्रमाद न करे, किन्तु। जाणित्तु—जान कर। दुक्खं—दुःख और उसके कारण कर्म तथा। पत्तेयं—प्रत्येक-प्राणी की। सायं—साता को। इह—इस संसार में। पुट्ठो—अलग-अलग। छंदा—अभिप्राय है। माणवा—नाना प्रकार के अध्यवसाय वाले मनुष्य हैं। पुट्ठो—पृथक् पृथक्। दुक्खं—दुःख प्राणियों का। पवेइयं—कथन किया गया है। से—वह। अविहिंसमाणे—हिंसा न करता हुआ। अणवयमाणे—असत्य न बोलता हुआ—हे शिष्य तू अनारम्भ जीवी को देख। फासे—शीतोष्ण स्पर्शों व परीषहों को। पुट्ठो—स्पर्शित हुआ। विपणुन्नए—नाना प्रकार की भावनाओं द्वारा उन कष्टों को सहन करे, किन्तु व्याकुल न होवे।

मूलार्थ—लोक में जितने भी अनारम्भजीवी साधु हैं, गृहस्थों से आहारादि लेकर अनारम्भी जीवन व्यतीत करते हैं, वे सावद्यकर्म से उपरत हैं, पाप कर्म को क्षय करते हुए, साधुमार्ग को ग्रहण करते हैं। हे शिष्य! तू इस अवसर को देख, जो इस शरीर के स्वरूप को जानता है, वह अवसर का अन्वेषण करने वाला है। यह मार्ग तीर्थकर या गणधरों द्वारा कथित है। संयम में उद्यत हुए प्राणी को प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। जीवों के पृथक्-पृथक् अभिप्राय हैं, पृथक्-पृथक् मानवों के अध्यवसाय हैं, पृथक्-पृथक् प्राणियों का दुःख कथन किया गया है। वह अनारम्भ जीवी किसी की हिंसा न करता हुआ, असत्य न बोलता हुआ, शीतोष्ण परीषहों के स्पर्शित होने पर उन कष्टों को सम्यग् रूप से सहन करता है, किन्तु व्याकुल नहीं होता; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन से युक्त है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में मुनि-जीवन का विश्लेषण किया गया है। मुनि के लिए आगम में बताया गया है कि वह पूर्णतः हिंसा का त्यागी होता है। अतः लोक में जितने भी प्राणी हैं, उनमें मुनि का आचार विशिष्ट है, क्योंकि असंयत प्राणियों का जीवन आरम्भ से युक्त होता है, परन्तु मुनि का जीवन अनारम्भी—आरम्भ से रहित होता है। वह किसी भी स्थिति-परिस्थिति में आरम्भ—हिंसा का सेवन नहीं करता। उसके तीन करण और तीन योग से हिंसा करने का त्याग होता है। वह मन-वचन और काय

से न तो किसी प्राणी की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा कराता है और न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन या समर्थन ही करता है।

वह गृहस्थ की निश्चा—गृहस्थ के अधिकार में रहे हुए उसके मकान में उसकी आज्ञा से रहता है। फिर भी उसके अनुशासन को मानकर नहीं चलता। उसकी निश्चा में रहते हुए वह आरंभ की ओर प्रवृत्त नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि वह गृहस्थ की आज्ञा से उसके मकान में रहते हुए भी ऐसा आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, तख्त आदि आवश्यक साधन-सामग्री स्वीकार नहीं करता, जिसमें उसके लिए आरम्भ-समारम्भ किया गया हो। वह स्वतन्त्र रूप से आहार आदि लाने के लिए जाएगा और अपनी साधु-मर्यादा के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक एवं ऐषणिक आहार को ग्रहण करेगा। इस प्रकार वह अपनी समस्त क्रियाएं स्वयं विवेकपूर्वक करता है और अपने जीवन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। इसलिए उसकी समस्त क्रियाएँ निष्पाप होती हैं। वह पाप कर्म का क्षय करता हुआ मुनि भाव में विचरण करता है।

वह इस बात को जानता है कि यह मार्ग ही प्रशस्त है, सब दुःखों से मुक्त करनेवाला है। क्योंकि यह मार्ग तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। इसलिए यह मार्ग सबके लिए क्षेमंकर है। इस मार्ग में किसी भी प्राणी को संक्लेश उत्पन्न नहीं होता। मुनि अपने हित के साथ प्राणिमात्र के हित का ध्यान रखता है। वह अपने मन-वचन और शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकंपा एवं दया का भाव रखता है। अतः यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ एवं प्राणिजगत के लिए हितप्रद है।

निष्कर्ष यह है कि यह मार्ग प्रशस्त है। परन्तु प्रशस्त के साथ कठिन भी है। इसीलिए इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति को पूरी सावधानी रखनी होती है। अतः आगम में मुनि को विवेकपूर्वक एवं अप्रमत्त भाव से क्रिया करने का आदेश दिया गया है। मुनि को प्रत्येक कार्य विवेक, यत्ना एवं अप्रमत्त भाव से करना चाहिए, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट एवं पीड़ा न हो। अतः साधक के लिए त्याग करना आवश्यक है¹। क्योंकि अयत्नापूर्वक चलने वाला, खड़ा रहने वाला, बैठने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, शयन करने वाला, प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा

करता है, पाप कर्म का बन्ध करता है, जिससे वह कटु फल को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि अयत्ना एवं प्रमादपूर्वक की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है और विवेकपूर्वक अप्रमत्त भाव से की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

अतः मुनि को प्रत्येक समय प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए और किसी भी स्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल एवं अनुकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी उसे अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट के समय भी उसे आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह आर्योपदिष्ट मार्ग बार-बार नहीं मिलता। इसलिए प्राप्त हुए अवसर को सफल बनाने के लिए साधक को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि आए हुए परीषहों को सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूवसंधिं॥148॥

छाया—एष सम्यक् (शमिता) पर्यायः व्याख्यातः ये असक्ताः पापेषु कर्मसु कदाचित् तान् आतंकाः स्पृशन्ति इति उदाहृतवान् धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः सन् अध्यासयेत् पूर्वमप्येतत् पश्चादप्येतद् भिदुरधर्मं, विद्धंसनधर्ममधुवं, अनित्यं, अशाश्वतं, चयापचयिकं, विपरिणामधर्मं पश्यतैनं रूपसंधिम्।

पदार्थ—एस समिया—यह (मुनि) परीषहों को सहन करने वाला। परियाए—और सम्यक् प्रवज्या से युक्त। वियाहिए—कहा गया है। अब रोग के उत्पन्न होने पर सहिष्णुता रखने वाले साधक के सम्बन्ध में कहते हैं। उदाहु—तीर्थंकरों ने इस प्रकार कहा है, कि। जे—जो। पावेहिं—पाप कर्मों में। असत्ता—आसक्त नहीं हैं। ते—ऐसे मुनियों को। आयंका—आतंक—रोग। फुसंति—स्पर्श करता है। इति उदाहु—तब उनके सम्बन्ध में कहते हैं कि। धीरे—वे धैर्यवान् पुरुष। ते—उन।

फासे पुट्ठो—रोगादि के स्पर्श होने पर वह। अहियासइ—सम्यक्तया सहन करे। से—वह रोग आदि से पीड़ित मुनि यह सोचे कि। पुव्विपेयं—मैंने पहले भी रोगादि के दुःखों को सहन किया था। पच्छापेयं—बाद में भी होने वाला रोगादि का दुःख मुझे ही सहन करना है, फिर—यह औदारिक शरीर। भिउरधम्मं—भेदेन धर्म—स्वभाव वाला है। विद्धंसण—विध्वंस होने वाला है। अधुवं—अधुव है। अणिइयं—अनित्य है। असासयं—अशाश्वत है। चयावचइयं—चय-उपचय वाला है। विप्परिणामधम्मं—विपरिणाम धर्म वाला है, अतः। एयं रुवसंधिं—इस अमूल्य अवसर को। पासह—देख, अर्थात् इस शरीर की स्थिति पर विचार करके रोग आदि दुःखों एवं परीषहों को समभाव पूर्वक सहन कर।

मूलार्थ—जो साधक पाप कर्म में आसक्त नहीं है, ऐसे चारित्रनिष्ठ साधक को मुनि कहा गया है। उसके लिए तीर्थंकरों ने कहा है कि वह धैर्यवान साधक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव पूर्वक सहन करता है। वह संयमी पुरुष ऐसा सोचता-विचारता है कि यह रोग मैंने पहले भी सहन किया था और पीछे भी मुझे सहन करना ही है। यह शरीर स्थायी रहने वाला नहीं है। यह विध्वंस—नष्ट होने वाला है। यह अधुव, अनित्य अशाश्वत है, हास और अभिवृद्धि वाला है। अतः ऐसे नाशवान शरीर पर क्या ममत्व करना? इस तरह शरीर के स्वरूप एवं प्राप्त हुए अमूल्य अवसर को देखो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को कष्टसहिष्णु बनने का उपदेश दिया गया है। औदारिक शरीर रोगों का आवास स्थल है। जब तक पुण्योदय रहता है, तब तक रोग भी दबे रहते हैं। परन्तु असातावेदनीय कर्म का उदय होते ही अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः शरीर में रोग एवं वेदना का उत्पन्न होना सरल है, क्योंकि औदारिक शरीर ही रोगों से भरा हुआ है। इसलिए रोगों के उत्पन्न होने पर साधक को आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। उन्हें अशुभ कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय साधक को यह सोचना चाहिए कि पहले भी मैंने रोगों के कष्ट को सहन किया है और अब भी उदय में आए हुए वेदनीय कर्म को वेदना ही होगा। अतः हाय-हाय करके अशुभ कर्म का बंध क्यों करूं? यह वेदना मेरे कृत कर्म का ही

फल है। अतः समभाव पूर्वक ही सहना चाहिए; यह शरीर सदा स्थायी रहने वाला नहीं है। प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह अध्रुव है, अशाश्वत है, अनित्य है, हास एवं अभिवृद्धि वाला है। अतः इसके लिए इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए? इस तरह धैर्य के साथ कष्ट एवं वेदना को सहकर अशुभ कर्म नष्ट कर दे और आगे पाप कर्म का बन्ध नहीं होने दे।

मुनि जीवन का उद्देश्य है—समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर निष्कर्म बनना। अतः मुनि को सदा-सर्वदा इस शरीर एवं जीवन को अनित्य समझकर अपने आत्मविकास में संलग्न रहना चाहिए। यह सत्य है कि शरीर आत्मविकास का साधन है। अतः साध्य की सिद्धि के लिए साधन को भी व्यवस्थित रखना चाहिए। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि साधन का महत्त्व साध्य सिद्धि के लिए है। यदि उसका उपयोग अपने लक्ष्य को साधने में नहीं हो रहा है, तो फिर उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। अतः शरीर का ध्यान भी संयम साधना के लिए है, न कि शरीर पोषण के लिए। इसलिए रोगादि कष्टों के उपस्थित होने पर साधक को उसके लिए आर्त, रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वस्थ होने का भी प्रयत्न न करे। साधक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए निर्दोष औषध आदि का उपयोग कर सकता है, परन्तु साथ में मानसिक, आत्मिक स्वस्थता को बनाए रखते हुए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि उस रोग से उसके मन में, विचारों में एवं आचार में किसी तरह की विकृति न आए। महावेदना का प्रसंग उपस्थित होने पर भी धैर्य एवं सहिष्णुता का त्याग न करे। हर परिस्थिति में वह आत्मचिन्तन में संलग्न रहने का प्रयत्न करे। इससे पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय होगा और अभिनव कर्मों (पाप कर्म) का बन्ध नहीं होगा। इस तरह वह एक दिन निष्कर्म बन सकेगा। अतः समभाव पूर्वक परीषहों एवं कष्टों को सहन करने से वह एक दिन सम्पूर्ण परीषहों एवं कष्टों से मुक्त हो जाएगा।

इसलिए साधक को कष्ट के समय अपने मन को शरीर से हटा कर आत्म-चिन्तन में लगाना चाहिए और धैर्य के साथ कष्टों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए। यही तीर्थंकर भगवान का उपदेश है।

इस तरह शरीर एवं आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले चिन्तनशील

व्यक्ति को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

^{असिद्ध}
मूलम्—समुपेहमाणस्स इक्काययणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि॥149॥

छाया—सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्तिमार्गः विरतस्य, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—समुपेहमाणस्स—सम्यक् प्रकार के अनुप्रेक्षा करने वाले को। इक्काययणरयस्स—ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय में संलग्न रहने वाले को। इह विप्पमुक्कस्स—इस शरीर के ममत्व से रहित व्यक्ति को। विरयस्स—हिंसा आदि आस्रवों से निवृत्त व्यक्ति को। नत्थि मग्गे—नरकादि गतियों का मार्ग प्राप्त नहीं होता। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्व नहीं रखने वाला और हिंसा आदि आस्रवों से निवृत्त साधक नरकादि गतियों में नहीं जाता ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि संसार परिभ्रमण एवं नरकादि गतियों में उत्पन्न होने का कारण पापकर्म है। विषय कषाय में आसक्ति एवं हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्ति होने से पाप कर्म का बन्ध होता है और इस तरह विषयासक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अतः संसार का अन्त करने के लिए आगम में हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि जो साधक रत्नत्रय की साधना में संलग्न है, शरीर एवं संयम पालन के अन्य साधनों पर ममत्व भाव नहीं रखता है और विषय-कषाय एवं हिंसा आदि दोषों से आसक्त नहीं है, वह नरक, तिर्यच आदि गतियों में नहीं जाता।

प्रस्तुत सूत्र में “इक्काययणरयस्स” शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा

आत्मा को सब तरह से पापों से रोका जाए उसे आयतन कहते हैं। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध है और उस रत्नत्रय में संलग्न रहने वाले साधक को 'एकायतन रत्न' कहते हैं। अतः 'इक्काययणरयस्स' का अर्थ हुआ जो साधन रत्नत्रय की साधना-आराधना में संलग्न है।

'नत्थिमग्गे विरयस्स' का तात्पर्य यह है कि जो साधु हिंसा आदि दोषों से विरक्त है, निवृत्त है, उसके संसार परिभ्रमण का मार्ग नहीं रह जाता है।

दोषों से निवृत्त व्यक्ति का वर्णन करके अब सूत्रकार अविरत एवं परिग्रही व्यक्ति के विषय में कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ॥150॥

छाया—यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः तदल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवद् वाचित्तवद् वा एतेष्वेव परिग्रहवन्तः एतदेव एकेषां महाभयं भवति लोकवित्तं च (वृत्तम्) उत्प्रेक्ष्य एतान् संगानविजानतः।

पदार्थ—आवंती—जितने। केयावंती—कितनेक। लोगंसि—लोक में। परिग्रहावंती—परिग्रह वाले हैं। से—वह-द्रव्य। अप्पं—अल्प। वा—अथवा। बहुं—बहुत। वा—अथवा। अणु—छोटा मूल में वा भार में। वा—अथवा। थूलं—स्थूल। वा—अथवा। चित्तमंतं—चेतना वाला। वा—अथवा। अचित्तमंतं—चेतना से रहित। वा—परस्पर अपेक्षा में। एएसु—इस परिग्रह में गृहस्थों के समान साधु भी हो जाते हैं—यदि वे परिग्रह से युक्त हों तो। च—पुनः। एव—अवधारणार्थ में जानना। परिग्रहावंती—वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं। एतदेव—इसी परिग्रह में भी। एगेसिं—बहुतों को। महब्भयं—महाभय। भवइ—होता है। च—पुनः। णं—वाक्यांलकार अर्थ में है। लोगवित्तं—असंयत लोक में वित्त-धन-वा लोकवृत्त, आहार, भय, मैथुन परिग्रह आदि। उवेहाए—विचार कर (इनका परित्याग करे) तथा। एए—इन अल्प परिग्रह आदि के। संगे—संग को। अवियाणओ—न जानता हुआ।

मूलार्थ—लोक में कितनेक परिग्रह वाले होते हैं, वह परिग्रह अल्प, बहुत स्थूल,

अणु, सचित्त और अचित्त (चेतना वाला वा चेतना रहित) 'रूप से अनेक प्रकार का है'। त्यागी-मुनि-विरत भी यदि मूर्खायुक्त हों तो वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं। इसी परिग्रह में कितनेक जीवों को महाभय होता है। अतः लोक वित्त का विचार करके इसका परित्याग करे। इस परिग्रह के संग का त्याग करता हुआ भययुक्त नहीं होता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भय का कारण बताते हुए कहा गया है कि संसार में जितने भी भय हैं, वे सब परिग्रही व्यक्ति को हैं। जब प्राणी पदार्थों एवं शरीर पर आसक्ति एवं ममत्वभाव रखता है, तो उसे कई तरह की चिन्ताएं लग जाती हैं। वह रात-दिन चिन्तित, सशंक एवं भयभीत-सा रहता है। किन्तु अपरिग्रही मुनि को किसी तरह की चिन्ता एवं भय नहीं होता; यहां तक कि मृत्यु के समय भी वह निर्भय रहता है। क्योंकि शरीर पर भी उसे ममत्व भाव नहीं है। वह शरीर को केवल संयम साधना का साधन मानता है और साथ में वह यह भी जानता है कि यह नष्ट होने वाला है। अतः उसके नाश होने के समय उसे न चिन्ता होती है और न भय ही होता है। परन्तु साधु बनने के पश्चात् भी जो शरीर पर एवं अन्य साधनों पर ममत्वभाव रखते हैं, वे नय से मुक्त नहीं होते और ऐसे साधक परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त नहीं होते।

इससे स्पष्ट है कि भय का मूल कारण परिग्रह है। इसकी आसक्ति के कारण मानव मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का भाव उद्बुद्ध होता है और इसी कारण वह सदा भयभीत रहता है। चाहे परिग्रह परिणाम में थोड़ा हो या बहुत, वह-एक दूसरे के मन में शंका—सन्देह एवं भय को जन्म देता है और दो दिलों के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर देता है। इसलिए आगम में मुनि के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य कहा गया है।

परिग्रह भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। भाव परिग्रह—मूर्खा, आसक्ति आदि है। द्रव्य परिग्रह भी लौकिक वित्त और लोकवृत्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है। धन-धान्य आदि परिग्रह लौकिक वित्त में गिना गया है और आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा आदि परिग्रह लोकवृत्त में माना गया है। सभी तरह का परिग्रह भय का कारण है। इसलिए मुनि को परिग्रह मात्र का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए। अतः साधु के लिए थोड़ा या बहुत परिग्रह त्याज्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से सुपडिबुद्धं सूवणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—बन्धपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तित्तिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि तिबेमि॥151॥

छाया—तस्य सुप्रतिबद्धं सूपनीतमिति ज्ञात्वा हे पुरुष! परम चक्षुः! पराक्रमस्व एतेष्वेव ब्रह्मचर्यमिति ब्रवीमि तच्छ्रुतं च मया अध्यात्मं च मया बन्ध प्रमोक्षः अध्यात्मन्येव अत्र विरतः अनगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत् प्रमत्तान् बहिः पश्य! अप्रमत्तः परिव्रजेत् एतन्मौनं सम्यक् अनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह परिग्रह से विमुक्त मुनि। सुपडिबुद्धं—जिसने भली प्रकार से बोध प्राप्त किया है। सूवणीयंति—भली प्रकार से ज्ञानादि प्राप्त किए हैं। नच्चा—जानकर। पुरिसा परमचक्खू—हे पुरुष! परम चक्षुः! विपरिक्कमा—मोक्ष साधन में पराक्रम कर। एएसु—ये जो परिग्रह से विरत हैं इनमें ही। च—पुनः। एव—अवधारण अर्थ में है। बंभचेरं—ब्रह्मचर्य है। तिबेमि—इस प्रकार में कहता हूँ। से—वह जो कहा है। च—पुनः जो कहूँगा सो वह। मे—सुयं—सुना है। च—पुनः। मे—मेरे। अज्झत्थयं—अध्यात्म में व्यवस्थित है। च—पुनः। मे—मैंने माना है। बंधपमुक्खो—बन्ध से प्रमोक्ष। अज्झत्थेव—अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है। इत्थ—इस परिग्रह से। विरए—विरत। अणगारे—अनगार। दीहरायं—जीवन पर्यन्त। तित्तिक्खए—परीषहों को सहन करे। पास—हे शिष्य! तू देख। पमत्ते—प्रमत्त। बहिया—धर्म से बाहर है अतः तू। अप्पमत्तो—अप्रमत्त होकर। परिव्वए—संयमानुष्ठान में चल। एयं—यही। मोणं—मुनि का मुनित्व। सम्मं—सम्यक् प्रकार से। अणुवासिज्जासि—अनुपालन कर। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—ज्ञान रूप चक्षु रखने वाले हे पुरुष! तू परिग्रह के त्यागी मुनि के भली प्रकार से प्राप्त हुए सुदृढ़ ज्ञानादि का विचार करके तपोनुष्ठान विधि से संयम में प्रयत्न कर! जो ये परिग्रह से विरत हैं, इन्हीं में ब्रह्मचर्य अवस्थित है। इस प्रकार मैं कहता हूँ, मैंने सुना है और मन में निश्चय किया हुआ है कि पुरुष ब्रह्मचर्य से ही बन्धन से मुक्त हो सकता है। परिग्रह का त्यागी अनगार जीवन पर्यन्त परीषहों को

सहन करे। हे शिष्य! जो व्यक्ति धर्म से बाहर हैं, उनको तू देख और अप्रमत्त होकर संयम मार्ग में विचरण कर! यही मुनि का मुनित्व है। अतः तू सम्यक् प्रकार विहित क्रियाओं का पालन कर।

हिन्दी-विवेचन

हम देख चुके हैं कि परिग्रह आत्मविकास में प्रतिबन्धक है। जब तक पदार्थों में आसक्ति रहती है, तब तक आत्मिक गुणों का विकास नहीं होता। अतः निष्परिग्रही व्यक्ति ही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। वही विषय-वासना एवं दोषों से निवृत्त हो सकता है। क्योंकि जीवन में वासना की उत्पत्ति परिग्रह—आसक्ति से होती है। पदार्थों में आसक्त व्यक्ति ही अब्रह्मचर्य या विषय-सेवन की ओर प्रवृत्त होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में पदार्थों के प्रति मूर्छाभाव नहीं है, उसके मन में कभी भी विषयवासना की आग प्रज्वलित नहीं होती। अतः परिग्रह से वासना जागृत होती है और विषय-भोग से कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख के प्रवाह में अभिवृद्धि होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को विषय-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए परिग्रह, अर्थात् पदार्थों पर स्थित मूर्छा—ममता, आसक्ति एवं भोगेच्छा का त्याग करना चाहिए।

विषय में आसक्त एवं प्रमत्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकते। वे अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं वासना की पूर्ति के लिए विषय-भोगों में सलग्न रहते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए रात-दिन छल-कपट एवं आरंभ-समारंभ करते हैं और फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। अतः मुनि को उन प्रमत्त जीवों की स्थिति को देख कर विषय-भोगों का एवं परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह से रहित व्यक्ति के मन में सदा शान्ति का सागर ठाठें मारता रहता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह सहनशीलता का त्याग नहीं करता। यों कहना चाहिए कि उसकी सहिष्णुता में अभिवृद्धि होती है। अतः मुमुक्षु पुरुष को निष्परिग्रही होकर विचरना चाहिए।

तिबेमि की व्याख्या पूर्वक समझें।

पंचम अध्ययन : लोकसार

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में अविरत और परिग्रही व्यक्तियों के जीवन का उल्लेख किया है। प्रस्तुत उद्देशक में विरत और अपरिग्रही साधक के जीवन का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव
अपरिग्गहावंती, सुच्चा वर्ई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए
धम्मे आरिएहिं, पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नथ संधी
दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं॥152॥

छाया—यावन्त केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेष्वेव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा
वार्चं मेधावी पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्र मया
सन्धिः झोषितः एवमन्यत्र सन्धि दुर्ज्ञोष्यो भवति, तस्माद् ब्रवीमि नो निहन्यात्
वीर्यम्।

पदार्थ—लोयंसि—इस लोक में। आवंती केयावंती—जितने भी। अपरिग्ग-
हावंती—अपरिग्रही व्यक्ति हैं। च—और। एव—निश्चय ही। एएसु—इन में। अपरिग्ग-
हावंती—निष्परिग्रही व्यक्ति। मेहावी—बुद्धिमान। पंडियाण—पंडितों के। वर्ई—वचन।
सोच्चा—सुनकर। समियाए—समभाव से। निसामिया—हृदय में विचार कर, कि।
आरिएहिं—आर्यपुरुषों ने। धम्मे—धर्म का। पवेइए—कथन किया है, और।
जहित्थ—इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म से। मए—मैंने। संधी झोसिए—कर्म
सन्तति को क्षय किया है। एवं—इस प्रकार। अणत्थ—अन्यतीर्थियों के मत में।
संधी—कर्म सन्तति को। दुज्झोसए—क्षय करना कठिन। भवति—होता है। तम्हा—
इसलिए। बेमि—मैं कहता हूँ कि संयम परिपालन में। वीरियं—पुरुषार्थ को। नो
निहणिज्ज—गोपन नहीं करना चाहिए, अर्थात् छिपाना नहीं चाहिए।

मूलार्थ—इस लोक में जितने भी मनुष्य हैं, उनमें कुछ ही निष्परिग्रही व्यक्ति होते हैं। पंडितों के वचन सुनकर एवं हृदय में विचार कर बुद्धिमान पुरुष अपरिग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि आर्य पुरुषों ने समभाव से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे मैंने रत्नत्रय का आराधन करके कर्म का क्षय किया है, वैसे ही अन्य प्राणी भी कर्म का क्षय कर सकते हैं। क्योंकि अन्य मत-मतान्तर में कर्म का क्षय होना कठिन है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को संयम-साधना में पुरुषार्थ का गोपन नहीं करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

परिग्रह के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव परिग्रह। धन, धान्यादि पदार्थ द्रव्य परिग्रह में गिने जाते हैं और मूर्छा, आसक्ति एवं ममत्वभाव को भाव परिग्रह कहा गया है। दशवैकालीक सूत्र में परिग्रह की परिभाषा करते हुए मूर्छा को ही परिग्रह माना गया है¹। तत्त्वार्थ सूत्र में भी आगम की इसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है², क्योंकि द्रव्य परिग्रह की अपेक्षा भाव परिग्रह का अधिक महत्त्व है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन-वैभव एवं अन्य पदार्थों का अभाव है या कमी है, परन्तु उसके मन में परिग्रह की तृष्णा, आकांक्षा एवं ममता बनी हुई है, तो द्रव्य-परिग्रह कम या नहीं होने पर भी उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते। वही व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, जो भाव परिग्रह का त्यागी है, जिसके मन में पदार्थों के प्रति ममता, मूर्छा एवं तृष्णा नहीं है। अतः ममत्व का त्याग करना ही निष्परिग्रही बनना है। ऐसे निष्परिग्रही व्यक्ति कुछ ही होते हैं।

वे प्रबुद्ध पुरुषों के वचन सुनकर और उनपर चिन्तन-मनन करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं। वे परिग्रह से होने वाले दुष्परिणामों को जानकर उसका त्याग करते हैं। इससे श्रुतज्ञान का महत्त्व बताया गया है, क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी हेयोपादेयता की ठीक जानकारी मिलती है और उसके जीवन में त्याग एवं समभाव की ज्योति जगती है। समभाव साधना का मूल है, इसी के आश्रय से अन्य गुणों का विकास होता है और आत्मा कर्मों का छेदन करके

1. मुच्छापरिग्रहोवृत्तो

—दशवैकालिक सूत्र 6, 21

2. मूर्छा परिग्रहः

—तत्त्वार्थ सूत्र 7, 17

• निष्कर्म बनता है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति प्रबुद्ध पुरुषों के आर्य वचन सुनकर समभाव एवं अपरिग्रह को स्वीकार करते हैं।

“समियाए धम्मे, आरिएहिं पवेइए” का अर्थ है—यह समता रूप धर्म आर्य—तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। अहिंसा अपरिग्रह आदि भी समता के ही रूप हैं। अहिंसक एवं अपरिग्रही—अनासक्त व्यक्ति ही शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रख सकता है। जिसके जीवन में अहिंसा, दया, करुणा का अभाव है तथा पदार्थों के प्राप्त करने की अभिलाषा बनी हुई है; तो वह व्यक्ति किसी भी प्राणी के प्रति समभाव नहीं रख सकता। अतः हिंसा, परिग्रह आदि दोषों का त्यागी व्यक्ति ही समभाव की साधना कर सकता है। उसके मन में छोटे-बड़े का या शत्रु-मित्र का कोई भेद नहीं रहता। वह सब व्यक्तियों को समान भाव से कल्याण का मार्ग बताता है, उसकी उपदेश धारा में राजा-रंक या छूत-अछूत का भेद नहीं होता। वह जो बात धनवान से कहता है, वही हितकर उपदेशक एक दर-दर के भिखारी को भी देता है¹। इससे स्पष्ट है कि भगवान की वाणी में समभाव की धारा बहती रहती है। क्योंकि उनका जीवन हिंसा, परिग्रह आदि दोषों से ऊपर उठा हुआ है और उन्होंने हिंसा आदि दोषों के पनपने के कारण राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। अतः हिंसा, परिग्रह आदि दोषों से रहित व्यक्ति ही आर्य हो सकता है।

यह समता एवं अपरिग्रह की साधना का मार्ग ऐसे आर्य पुरुषों द्वारा कहा गया है, जिन्होंने समभाव के द्वारा कर्म बन्ध की परम्परा का उच्छेद करके निष्कर्म बनने की ओर कदम बढ़ाया है। इससे स्पष्ट है कि समभाव की साधना से जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह आदि आत्म गुणों का विकास होता है और पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय होकर आत्मा निष्कर्म बन जाता है। कर्म क्षय का यह मार्ग अन्य मत-मतान्तर में नहीं मिलता, क्योंकि अन्य मत-मतान्तर में पूर्ण अहिंसा एवं अपरिग्रह की साधना को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः उसके बिना जीवन में समभाव नहीं आता और समभाव के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि अन्य मत-मतान्तर में बताई गई साधना से कर्म परंपरा का नाश होना दुष्कार है।

इसलिए साधक को अपरिग्रह की साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए और

1. जहा पुणस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।

संयम का पालन करने में अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, सोऽपि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति॥153॥

छाया—यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, सोऽपि तादृश एवं स्याद् ये परिज्ञाय लोकमन्वेषयन्ति।

पदार्थ—जे—जो। पुव्वुट्ठाई—पहले त्याग-वैराग्य भाव से संयम साधना के लिए उद्यत होता है। नो पच्छानिवाई—वह पीछे संयम मार्ग से पतित नहीं होता। जे—जो। पुव्वुट्ठाई—पहले तो त्याग-वैराग्य से संयम स्वीकार करता है, परन्तु। पच्छानिवाई—पीछे पथ भ्रष्ट हो जाता है। जे—जो। नो पुव्वुट्ठाई—पहले त्याग-वैराग्य से संयम नहीं लेता। नो पच्छानिवाई—पीछे पतित भी नहीं होता। सोऽपि—वह भी। तारिसिए—गृहस्थ के तुल्य ही। सिया—है। जे—जो। परिन्नाय—परिज्ञा से जानकर। लोगं—लोक को। अन्नेसयंति—अन्वेषण करते हैं, अर्थात् लोकैषणा में निमग्न हैं, वे भी गृहस्थ के तुल्य हैं।

मूलार्थ—कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो त्याग-वैराग्य के साथ संयम-साधना को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते हैं, अर्थात् साधना पथ से च्युत नहीं होते (गणधरवत्), कुछ व्यक्ति पहले तो वैराग्य से दीक्षित होते हैं; परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं (नन्दीषेण मुनि की तरह)। यहां तीसरे भंग का अभाव होने से उसका उल्लेख नहीं किया है। कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से संयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते हैं। उनमें सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हें गृहस्थ तुल्य कहा है। शाक्यादि अन्य मत के साधुओं को भी चौथे भंग में समाविष्ट किया है। कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोक के आश्रित रहते हैं और लोकैषणा में संलग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें गृहस्थ के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि भाव चारित्र के

अभाव में साधु वेश होने पर भी उन्हें भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योंकि वे गृहस्थ को तरह आरंभ-समारंभ में संलग्न रहते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विचार-चिन्तन की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ व्यक्ति जीवन में त्याग-वैराग्य की भावना लेकर साधना पर चलने को उद्यत होते हैं और प्रतिक्षण त्याग-वैराग्य को बढ़ाते चलते हैं। साधना के प्रारम्भ समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक वे दृढ़ता के साथ संयम में स्थिर रहते हैं। गणधरों की तरह उनकी साधना में उत्तरोत्तर उज्ज्वलता एवं तेजस्विता आती रहती है। इस तरह से प्रतिक्षण विकास करते हुए अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं।

कुछ व्यक्ति त्याग-वैराग्य की ज्योति लेकर दीक्षित होते हैं। प्रारंभ में उनके विचारों में तेजस्विता होती है, परन्तु पीछे परीषहों के उत्पन्न होने पर मन विचलित हो उठता है। साधना की ज्योति धूमिल पड़ने लगती है। उनके विचारों में शिथिलता आने लगती है और वे पतन की ओर लुढ़कने लगते हैं। शारीरिक एवं मानसिक आराम के प्रबल झोंकों के सामने त्याग-वैराग्य की घनघोर घटाएं स्थिर नहीं रह पातीं। इस तरह कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण वे साधना पथ पर स्थित नहीं रह सकते हैं। परीषहों के उपस्थित होते ही पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

त्याग-वैराग्य भाव से संयम ग्रहण करना और अन्तिम क्षण तक उसका दृढ़ता से परिपालन करना प्रथम भंग है। संयम का ग्रहण करके पीछे से उसका त्याग कर देना दूसरा भंग है। पहले संयम ग्रहण न करके पीछे से उसका पालन करना, यह तीसरा भंग बनता है। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि संयम का पालन एवं त्याग पहले संयम स्वीकार करने पर ही घटित हो सकते हैं। परन्तु जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके पीछे से संयम पालन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः तीसरा भंग नहीं बनता है। इसलिए सूत्र में तीसरे भंग का उल्लेख नहीं किया गया है।

चतुर्थ भंग में न संयम का ग्रहण होता है और न त्याग का ही प्रश्न होता है। त्याग का प्रश्न ग्रहण करने पर ही उपस्थित होता है, जो विद्यार्थी परीक्षा में बैठता ही नहीं, उसके उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी तरह जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके लिये संयम के पालन एवं त्याग का प्रश्न

ही नहीं उठता। इस भंग में गृहस्थ को लिया गया है, और उन साधुओं को भी इसी भंग में समाविष्ट किया गया है, जो बिना भाव के साधु वेश को स्वीकार करते हैं और रात-दिन आरंभ-समारंभ में संलग्न रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम भाव से रहित समस्त साधु-संन्यासियों को इसी भंग में गिना गया है और इन्हें गृहस्थ के तुल्य कहा गया है। क्योंकि द्रव्य से साधु कहलाते हुए भी रात-दिन गृहस्थ की तरह आरंभ-समारंभ में लगे रहने के कारण भाव से संयम हीन होने से वे गृहस्थ की श्रेणी में ही रखे गए हैं।

यह कथन स्वबुद्धि से नहीं, बल्कि तीर्थकरों द्वारा किया गया है। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुच्चावररायं जयमाणे, सयासीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ॥154॥

छाया—एतद् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितं इह आज्ञाकांक्षी पण्डितः अस्निहः पूर्वापररात्रं यतमानः सदाशीलं सप्रेक्ष्य श्रुत्वा भवेत् अकामः। अज्झज्झः अनेनैव युध्यस्व किंतु युद्धेन बाह्यतः।

पदार्थ—एयं—यह यत्नादिक। नियाय—केवलज्ञान से जान कर। मुणिणा—तीर्थकर देव ने। पवेइयं—कथन किया है। इह—इस मौनीन्द्र प्रवचन में स्थित। आणाकंखी—आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला। पंडिए—सदसत् का विवेकी। अणिहे—स्नेह रहित। पुच्चावररायं—रात्रि के पहले और पिछले पहर में। जयमाणे—सदाचार का आचरण करने वाला, अर्थात् ध्यान आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाला। सया—सदा। सीलं—शील को। सुपेहाए—विचार कर, उसका पालन करे। सुणिया—सुनकर—शील संप्रेक्षण के फल को सुनकर, तथा कदाचार के फल को सुनकर। अकामे—इच्छा अथ च मदन—काम भोगादि से रहित। अझंझे—माया और लोभादि से रहित। भवे—होवे। च—परस्पर सापेक्षार्थ है। एव—अवधारणार्थ में। इमेण—इस औदारिक शरीर के साथ। जुज्झाहि—युद्ध कर। किं—क्या है। ते—तुझे। बज्झा ओ—बाहर के। जुज्झेण—युद्ध से।

मूलार्थ—तीर्थकर देव ने उक्त विषय केवलज्ञान के द्वारा अवलोकन करके कथन किया है। इस जिन शासन में स्नेह रहित आगमानुसार क्रियानुष्ठान करने वाला पंडित—विचारशील पुरुष रात्रि के पहले और पिछले पहर में यत्न करने वाला तथा सदैव काल शील को विचार कर उसके अनुसार चलनेवाला, शील और कदाचार के फल को सुनकर हृदय में विचार कर, इच्छा, कामभोग और लोभादि रहित होवे। हे शिष्य! तू इस औदारिक शरीर के साथ युद्ध कर तुझे बाहर के युद्ध से क्या प्रयोजन है?

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में संयम-साधना को लेकर जो भंग बताए गए हैं, वे सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा उपदिष्ट हैं। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर यह बताया है कि संयम साधना के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है। साधना में तेजस्विता लाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में पांच बातें बताई गई हैं। इन गुणों को जीवन में उतारने वाला साधक साध्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ये पांच गुण इस प्रकार हैं—1. स्नेह रहित होना, 2. सदसत् का ज्ञाता होना, 3. रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में अनवरत आत्म-चिन्तन करने वाला होना, 4. सदा शील का परिपालक होना और 5. कामेच्छा एवं लोभ-तृष्णा का त्यागी होना।

स्नेह रहित होने का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित होना, क्योंकि राग भाव में मनुष्य हिताहित की भावना को भूल जाता है। राग के तीन भेद किए गए हैं—1. स्नेह राग, 2. दृष्टि राग और 3. विषय राग। स्नेह राग का अर्थ है—अपने स्नेही के दोषों को भी रागवश गुण रूप मानना, उसे गलती करने पर भी कुछ नहीं कहना। दृष्टि राग का अर्थ है—असत्य सिद्धान्त को असत्य होते हुए भी सांप्रदायिक रागवश सत्य मानना एवं कुतर्कों के द्वारा उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। विषय राग का अर्थ है—कामभोगों के प्रति आसक्ति रखना। ये तीनों तरह का राग संयम से दूर हटाने वाला है, अतः साधक को राग भाव का परित्याग करना चाहिए।

विवेकशील व्यक्ति ही संयम का भली-भांति पालन कर सकता है। जिस व्यक्ति को सदसत् का विवेक नहीं है, हेयोपादेयता का बोध नहीं है, वह संयम का पालन नहीं कर सकता। इसलिए संयम-साधना को स्वीकार करने के पहले पदार्थों

का ज्ञान होना जरूरी है। अतः प्रस्तुत सूत्र में साधक के लिए विवेक सम्पन्न होना बताया गया है।

साधक का जीवन आत्मसाधना का जीवन है। वह रात-दिन चिन्तन-मनन में संलग्न रहता है। वह जंगल में रहे या शहर में, सोया हुआ हो या जागृत, चल रहा हो या बैठा हो, प्रत्येक समय आत्मसाधना में लीन रहता है। भावों की दृष्टि से वह सदा आत्मचिन्तन में संलग्न रहता है। क्योंकि एक क्षण भी आत्मा को भूलता नहीं है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह 24 घण्टे साधना नहीं कर सकता। कुछ आवश्यक कार्यों के लिए वह दिन में कुछ देर के लिए स्वाध्याय-ध्यान आदि नहीं कर पाता। इसी तरह रात में कुछ समय विश्रान्ति के लिए आवश्यक है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि मुनि रात के पहले और अन्तिम प्रहर में निरन्तर आत्मचिन्तन करे। बीच के दो प्रहर निद्रा से मुक्त होने के लिए हैं। इससे मस्तिष्क को विश्राम मिल जाने से थकावट अनुभव नहीं होती, जिससे वह शेष समय आत्म-चिन्तन में रह सकता है।

शील शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। अष्टादश सहस्रशीलांग रथ, संयम महाव्रतों का पालन; तीन गुणियों का आराधन; 5 इन्द्रिय एवं कषाय निग्रह को शील कहते हैं। इन अर्थों से शील शब्द का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अतः साधक को शील का पालन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

संयम का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए विषयेच्छा एवं कषायों का परित्याग करना जरूरी है। विषयासक्त एवं क्रोध आदि विकारों से प्रज्वलित व्यक्ति संयम का पालन नहीं कर सकता, इसलिए साधक को समस्त विकारों का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह विकारों पर विजय प्राप्त करके साधक निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है। उसे निष्कर्म बनने के लिए औदारिक शरीर से युद्ध करना पड़ता है। औदारिक शरीर से युद्ध करने का अर्थ है—शरीर बन्धन से मुक्त होकर अशरीरी बनना। यह स्थिति चार घातिकर्मों को क्षय करके जीवन के अन्त में अवशेष चार अघातिकर्मों का नाश करने पर प्राप्त होती है। अतः यह युद्ध जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसमें

विजयी होने के बाद आत्मा सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः साधक को अप्रमत्त भाव से संयम का पालन करना चाहिए।

ऐसा अवसर एवं संयम के साधन का मिलना सुलभ नहीं है। अतः साधक को इस अवसर को व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्य कुसलेहिं परिन्नाविवेगे
भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सि चये पवुच्चइ, रूवसि
वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे,
इयं कम्म परिणाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भई,
उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे
विदिसप्पइन्ने निव्विण्णचारी अरए पयासु॥155॥

छाया—युद्धार्हं खलु दुर्लभं यथा अत्र कुशलैः परिज्ञाविवेकः भाषितः
च्युतः खलु बालः गर्भादिषु रज्यतेऽस्मिन् चैतत् प्रोच्यते रूपे वा क्षणे वा स
खलु एकः संविद्धपथः मुनि अन्यथा लोकं उत्प्रेक्षमाणः इति कर्म परिज्ञाय
सर्वतः स न हिनस्ति संयमयति नो प्रगल्भते उत्प्रेक्षमाणः प्रत्येकं सातं, वणदिशी
नारभते कंचन सर्वलोके एकात्मसुखः विदिक् प्रतीर्णः निर्विण्णचारी अतः प्रज्ञासु।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। जुद्धारिहं—यह औदारिक शरीर, भाव
युद्ध के योग्य। दुल्लहं—दुर्लभ—मुश्किल से प्राप्त होता है। जहित्य—जिस प्रकार से
इस संसार में। कुसलेहिं—तीर्थकरों ने। परिन्नाविवेगे—परिज्ञाविवेक। भासिए—भाषण
किया है—अर्थात् अध्यवसायों की विशेषता प्रतिपादन की है, बुद्धिमान को उसी
प्रकार ग्रहण करना चाहिये। हु—निश्चयार्थक है। बाले—अज्ञानी जीव। चुए—धर्म
से च्युत होकर। गब्भाइसु—गर्भादि में। रज्जइ—रचता है अर्थात् गर्भादि में दुख
पाता है वा गृहादि को प्राप्त करता है। अस्सि—इस अर्हत् प्रवचन में। च—समुच्चय
अर्थ में है। एयं—यह विषय। पवुच्चइ—प्रकर्ष से कहा गया है। रूवसि—रूप में।
वा—अथवा-अन्य इन्द्रियों के विषयों में। छणंसि—हिंसादि में। वा—अनृतादि में
प्रवृत्ति करता है, अर्थात् धर्म से पतित हुआ हिंसादि में प्रवृत्ति करके फिर गर्भादि में

रच जाता है, इस प्रकार अर्हत् प्रवचन में वर्णन किया गया है। से—वह जिनेन्द्र। एगे—एक अद्वितीय। मुणी—तीन लोक के जानने वाला मुनि। संविद्धपहे—जिसने मोक्ष मार्ग को सम्यक् प्रकार से सन्मुख किया हुआ है अर्थात् जिसकी गति मोक्ष मार्ग में है। अन्नहा—अन्यथा—जो हिंसादि में प्रवृत्ति कर रहे हैं इस प्रकार के। लोगं—लोक को। उवेहमाणे—उप्रेक्षमाण—उसकी विचारना करता हुआ, अर्थात् आत्मा के सावध व्यापार की निवृत्ति की आलोचना करता हुआ, निम्न प्रकार से विचार करता है। इय—इस प्रकार। कम्म—जो बंध कर्म हैं उसको। सब्वतो—सर्व प्रकार से। परिण्णाय—ज्ञपरिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करे अर्थात् छोड़ दे। से—वह कर्म परिहर्ता मन वचन और काय से। न हिंसइ—किसी जीव की हिंसा नहीं करता, किन्तु। संजमइ—पाप में प्रवृत्त हुए आत्मा को संयमन करता है वा सत्तरां प्रकार के संयम का पालन करता है। नोपगम्भइ—असंयम प्रवृत्ति में धृष्टता नहीं करता, अर्थात् लज्जा शील है, किन्तु। उवेहमाणे—विचार करता हुआ विचरता है। पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी को। सायं—साता—सुख प्रिय है, अन्य के सुख से अन्य सुखी नहीं होता, इत्यादि विचारों से हिंसादि कर्म, मुनि नहीं करता, तथा। वण्णएसी—यश की इच्छा करने वाला मुनि। नारभे कंचणं—किसी प्रकार के पाप कर्म में प्रवृत्ति न करे। सब्वलोए—सर्वलोक के विषय तथा। एगप्पमुहे—जिसने एक मोक्ष पथ में दृष्टि दी हुई है, वह पापारम्भ नहीं करता। विदिसप्पइन्ने—असंयम से उत्तीर्ण हो गया है। निव्विण्णचारी—वैराग्य युक्त होकर विचरने वाला, तथा हिंसादि क्रियाओं से निवृत्त होकर चलने वाला। पयासु—जीवों में। अरए—अरत अर्थात् आरम्भादि से निवृत्त हो गया है, अथवा। पयासु—स्त्रियों में। अरए—रत नहीं है।

मूलार्थ—भावयुद्ध के योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है, तीर्थकरों ने परिज्ञा विवेक से भाषण किया है कि धर्म से पतित व्यक्ति बाल भाव को प्राप्त होकर गर्भ में रमण करता है। इस प्रकार आर्हत मत में वर्णन किया गया है कि जो जीव, रूपादि विषयों या हिंसादि कार्यों में मूर्छित है, वही गर्भादि में रहता, अर्थात् रमण करता है, वह जितेन्द्रिय मुनि एकमात्र मोक्षमार्ग में ही गति कर रहा है, अन्यथा—अन्य

प्रकार से लोक की विचारणा करता हुआ कर्म के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से हिंसादि क्रियायें नहीं करता, किन्तु अपने आत्मा को संयम में रखता हुआ पापकर्म के करने में धृष्टता नहीं करता। प्रत्येक प्राणी साता—सुख का इच्छुक है, इस प्रकार की विचारणा से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता, एवं यश की इच्छा न करने वाला किंचिन्मात्र भी पापकर्म का आरम्भ नहीं करता, वह सर्वलोक में सभी जीवों को समभाव से देखता है, जिसने एक मोक्ष की ओर दृष्टि (मुख) की हुई है, वह विदिक् प्रतीर्ण है (दिशा मोक्ष नाम है और विदिशा संसार का) अर्थात् वह संसार से उत्तीर्ण हो गया है, इसलिए वही हिंसादि क्रियाओं से अथवा स्त्रियों के संसर्ग से निवृत्त होकर शान्तभाव से मोक्षपथ में विचरता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के लिए उपयुक्त सामग्री का मिलना भी आवश्यक है। योग्य साधन के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में योग्य साधनों का उल्लेख किया है। संयम साधना के लिए सब से प्रमुख है औदारिक शरीर—मनुष्य का शरीर। मनुष्य ही संयम को स्वीकार कर सकता है। औदारिक शरीर में संपूर्ण अंगोपांग हैं एवं स्वस्थ होने पर ही वह धर्म साधना में सहायक हो सकेगा। अंगोपांग की कमी एवं अस्वस्थ अवस्था में मनुष्य को संयम के पालन करने में कठिनता होती है। संयम पालन के योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त स्वस्थ शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। प्रबल पुण्योदय से ही सम्पूर्ण अंगोपांगों से युक्त स्वस्थ शरीर उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ प्रमत्त प्राणी विषय-भोगों में आसक्त होकर उसका दुरुपयोग करके जन्म-मरण को बढ़ाते हैं।

कर्मों का बन्ध एवं क्षय दोनों आत्मा के अध्यवसायों पर आधारित हैं। साधक शुभ अध्यवसायों—परिणामों के द्वारा पूर्व बँधे हुए कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह साधना किसी प्रकार की आकांक्षा, लालसा एवं यश आदि पाने की अभिलाषा से नहीं करता, केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही वह तप-संयम की साधना करता है। अतः वह उक्त साधना के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानी प्राणी प्रमाद के वश विषय-वासना में आसक्त रहते हैं। विषयों की पूर्ति

के लिए रात-दिन सावध कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, हिंसा आदि दोषों का सेवन करते हैं। इससे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणामस्वरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं और अनेक दुःखों का संवेदन करते हैं।

विवेकशील पुरुष इस बात को जानता है। उसकी दृष्टि स्वच्छ और विस्तृत होती है। वह अपने ही स्वार्थ एवं हित को नहीं देखता। वह सब प्राणियों का हित चाहता है। वह जानता है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। इसलिए वह सब के प्रति समभाव रखता है। किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचाता। इस तरह वह अपनी निष्पापमय प्रवृत्ति से प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिद्धिलेहिं अद्दज्जिमाणेहिं गुणसाएहिं बंक्समायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुरो कम्म सरीरगं, पंतं लूहं सेवति वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्तेविरए वियाहिए तिबेमि॥156॥

छाया—सः वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म तन्नो अन्वेषयति यत् सम्यगिति—सम्यक्त्वमिति—सम्यक् इति पश्यतः तन्मौनमिति पश्यतः यन्मौनमिति पश्यतः तत् सम्यगिति पश्यत नैतत् शक्यं शिथिलैः आद्री क्रियमाणैः गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारमावसदभिः मुनिमौनं समादाय धनीयात् कर्म शरीरकं प्रान्त रूक्षं सेवन्ते वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः एष ओघन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। वसुमं—संयमवाला। सव्व—सब। समन्नागयपन्नाणेणं—विशिष्ट ज्ञान से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा से। पावकम्मं—पापकर्म। अकरणिज्जं—अकरणीय है, अर्थात् पापकर्म नहीं करता कारण कि। जं संमंति—जो सम्यक्त्व है वही। मोणंति—मौन-संयमानुष्ठान है। पासहा—यह देखो, विचार करो। जंमोणंति—जो

मौन-संयमानुष्ठान है। तं संमंति—वह सम्यक्त्व है। पासहा—यह देखो-विचार करो। नइमं सक्कं सिद्धिलेहिं—शिथिल पुरुष इसका पालन करने में समर्थ नहीं हैं। अदिज्जमाणेहिं—पुत्रादि के स्नेह से आर्द्र चित्त वाले अर्थात् जो पुत्रादि के स्नेह में खचित हैं वे इसका पालन नहीं कर सकते। गुणासाएहिं—शब्दादि गुणों का आस्वादन करने वाले। वंकसमायारेहिं—कपटाचारी—कपट करने वाले। पमत्तेहिं—प्रमादी-प्रमाद का सेवन करने वाले। गारभावसतेहिं—घरों पर ममत्व रखने वाले, इस सम्यक्त्वादि रत्नत्रय का पालन नहीं कर सकते अतः। मुणी मोणं समायाए—मुनि-मनन शील आत्मा मौन-मुनि भाव को ग्रहण करके। सरीरगं—कर्मणं वा औदारिक शरीर को। धुणे—धुनने—कृश करने का यत्न करे। पंतं—प्रान्ताहार अथवा वल्ल चणकादिरूप अल्पाहार। लूहं—रूक्षाहार को जो। सेवन्ति—सेवन करते हैं। वीरा—वीरपुरुष—जो कर्म विदारण में समर्थ हैं। सम्मत्तदंसिणो—सम्यक्त्वदर्शी है वा समत्वदर्शी हैं। एस—यह उक्त गुणों से युक्त। मुणी—मुनि। ओहंतरे—भवौघ—संसार को तर जाता है। तिण्णे—तथा वह मुनि संसार रूप समुद्र को तर गया। मुत्ते—बन्धन से मुक्त हुआ। विरे—सावधानुष्ठान से विरत हुआ। वियाहिरे—इस प्रकार से कहा गया है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह संयम धनवाला साधु, सर्वप्रकार से ज्ञान सम्पन्न, अपने आत्मा के द्वारा किसी प्रकार के अकरणीय कर्म की गवेषणा नहीं करता, अर्थात् किसी प्रकार का अनुचित कर्म नहीं करता। गुरु कहते हैं, हे शिष्यो! तुम देखो! जो सम्यग्दर्शन को देखता है, वह मौन—मुनिभाव—साधुत्व को देखता है और जो मुनि भाव को देखता है, वह सम्यग्ज्ञान को देखता है। कातर-शिथिल भावों वाले, पुत्रादि से स्नेह युक्त, शब्दादि गुणों का आस्वादन करने वाले वक्रसमाचारी—मायावी और घरों में ममत्व रखने वाले मठाधीश व्यक्ति मुनिवृत्ति की आराधना नहीं कर सकते, किन्तु जो वीर आत्माएं हैं, वे ही मुनि वृत्ति को धारण करके कर्मण, औदारिक शरीर को धुनने में समर्थ हो सकते हैं। वे प्रान्त चणकादि, और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु सम्यक्त्व या समत्व को धारण करने वाले मुनि संसार-समुद्र को तैर जाते हैं। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत, इस प्रकार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में चारित्र की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यह बताया गया है कि रत्नत्रय से सम्पन्न व्यक्ति पापकर्म से छुटकारा पा सकता है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही आत्मा मोक्ष को पा सकता है। संयम—सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन और ज्ञान होता ही है। क्योंकि सम्यग् दर्शन एवं ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यग् हो ही नहीं सकता। अतः सम्यक् चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं, क्योंकि चारित्र पापकर्म का निरोधक है और पाप कर्म अर्थात् हिंसा आदि आश्रवों—दोषों का। इनके सेवन से पापकर्म का बन्ध होता है। बोध ज्ञान से ही होता है, इसलिए साधक ज्ञान की आंख से हेय व उपादेय मार्ग को देखता है, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझता है और दर्शन से उस यथार्थ मार्ग पर श्रद्धा-विश्वास करता है तथा चारित्र के द्वारा हेय मार्ग का त्याग करके उपादेय मार्ग स्वीकार करता है। इस तरह रत्नत्रय की आराधना से वह पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय करता है, अभिनव पापकर्म के बन्ध को रोकता है। इस तरह वह संयम-साधना से निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

रत्नत्रय की आराधना त्याग-वैराग्य से युक्त आत्माएं ही कर सकती हैं। विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकते। साधु का वेश ग्रहण करके भी जो मठ-मन्दिर या चल-अचल संपत्ति पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे हैं एवं अनेक प्रकार के आरम्भ-समारंभ में संलग्न हैं, वे रत्नत्रय की साधना से कोसों दूर हैं। इसके लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार एवं घर आदि सभी पदार्थों से आसक्ति हटानी होती है। अतः सभी स्नेहबन्धनों एवं ममत्वभाव का त्यागी व्यक्ति ही संयम की साधना कर सकता है और वही कर्मबन्धन को तोड़ सकता है। दुर्बल एवं कायर पुरुष इस पथ पर नहीं चल सकता।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अध्ययन : लोकसार

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में मुनित्व का वर्णन किया गया है। मुनित्व का सम्यक् आराधन गुरु के सान्निध्य में ही हो सकता है। गुरु आज्ञा से विपरीत चलने वाला व्यक्ति भली-भाँति साधुत्व का परिपालन नहीं कर सकता। अतः प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि गुरु की आज्ञा के बिना एकाकी विचरने वाले साधु के जीवन में कौन-कौन-से अवगुणों की अभिवृद्धि होती है और आज्ञानुसार चलने वाले शिष्य के जीवन में कौन-से गुणों की अभिवृद्धि होती है। स्वच्छन्द एवं आज्ञा में विचरने वाले दोनों साधकों की प्रकृति का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कतं भवइ
अवियत्तस्स भिक्खुणो॥157॥

छाया—ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य दुर्यातं दुप्पराक्रान्तं भवति अव्यक्तस्य भिक्षोः।

पदार्थ—अवियत्तस्स—अव्यक्त—अगीतार्थ। भिक्खुणो—भिक्षु को। गामाणु-
गामं—अकेले एक गांव से दूसरे गांव को। दूइज्जमाणस्स दुज्जायं—विचरने की
क्रिया सुखप्रद नहीं होती, और। दुप्परिक्कतं—उसका एकाकी भ्रमण भी उसके
चारित्र के पतन का कारण। भवइ—होता है।

मूलार्थ—अव्यक्त—अगीतार्थ भिक्षु को अकेले एक गांव से दूसरे गांव को
विचरना सुखप्रद नहीं होता। इससे उसके चारित्र का पतन होने की संभावना है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अकेले विचरने वाले साधु के जीवन का विश्लेषण किया गया है।
इसमें बताया गया है कि जो साधु बिना कारण गुरु की आज्ञा के बिना अकेला
विचरता है, उसे अनेक दोष लगने की संभावना है। पहले तो लोगों के मन में अनेक

तरह की शंकाएं पैदा होती हैं कि यह अकेला क्यों घूमता है? फिर उसके सम्बन्ध में झूठी-सच्ची अनेक बातें होती हैं और एकाकी होने के कारण अनेक परीषद उपस्थित हो सकते हैं, उनमें दृढ़ता न रहने के कारण वह कभी संयम-पथ से च्युत भी हो सकता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर आगम में अव्यक्त—अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का आदेश नहीं दिया है।

एकाकी विचरने का निषेध उत्सर्ग मार्ग में है और वह भी अगीतार्थ मुनि के लिए है। परन्तु, विशेष परिस्थिति में या किसी विशेष कारण से एकाकी विहार करना प्रेडे तो गुरु की आज्ञा से गीतार्थ मुनि वैसा करके भी शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है और न उसके संयम से गिरने की संभावना है। एक तो वह परिस्थिति वश जा रहा है और दूसरे गुरु की आज्ञा से जा रहा है और साथ में गीतार्थ होने से वह आगम मर्यादा से भी भली-भांति परिचित है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही विचरण करता है, इसलिए उसके गिरने की संभावना नहीं रहती।

अव्यक्त—अगीतार्थ किसे कहते हैं? अव्यक्त की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भंगी बनती है।

1—श्रुत और वय से अव्यक्त—श्रुत में आचार-प्रकल्पागम का अर्थ से अनुशीलन नहीं करने वाला एवं 16 वर्ष की आयु वाला साधक श्रुत एवं वय से अव्यक्त कहलाता है।

2—श्रुत से अव्यक्त और वय से व्यक्त—आचार के अर्थ ज्ञान से रहित, परन्तु सोलह वर्ष से अधिक आयु वाला साधक।

3—श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त किन्तु 16 या 16 वर्ष से कम अवस्था का साधक।

4—श्रुत और वय दोनों से व्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त और सोलह वर्ष से अधिक अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधक।

चतुर्थ भंग वाला साधक कारण विशेष से गुरु की आज्ञा से अकेला भी विचर सकता है, क्योंकि वय से परिपक्व एवं श्रुतज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परीषद उपस्थित होने पर भी वह साधना मार्ग से भटक नहीं सकता। परन्तु, अगीतार्थ मुनि के ज्ञान अपरिपक्वता के कारण वह परीषदों के उपस्थित होने पर विपरीत मार्ग पर

भी चल सकता है। इसलिए अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का निषेध किया गया है।

एक बात यह भी है कि अव्यक्त अवस्था में अकेला रहने से उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैसे पूर्वकाल में माता-पिता अपने बच्चे को गुरुकुल में रखकर पढ़ाते थे, आज भी कई जगह ऐसा किया गया है। क्योंकि गुरुकुल में शिक्षक के अनुशासन में बच्चा ज्ञान की कमी को पूरा कर लेता है। उसी तरह गुरु के अनुशासन में रहकर शिष्य ज्ञानसम्पन्न बन जाता है। अतः श्रुत एवं ज्ञान साधना के लिए अगीतार्थ मुनि को गुरु की सेवा में रहना चाहिए और उनकी आज्ञा के बिना अकेले नहीं विचरना चाहिए।

क्रोधादि के वश अकेले विचरने वाले मुनि की क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेशणे, जयं विहारी चित्त निवाई पंथ निज्झाई पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा॥158॥

छाया—वचसापि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः उन्नतमानश्च नरो महता मोहेन मुह्यति, संबाधाः बहव्यः भूयो भूयो दुरतिक्रमाः अजानतः अपश्यतः एतत् ते मा भवतु एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्ट्या तन्मुक्त्या तत् पुरस्कारे तत् संज्ञी तन्निवेशनः यतमानः विहारी चित्तनिपाती पथनिर्ध्यायी परिबाह्य दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत्।

पदार्थ—वयसावि—वचन से गुरु द्वारा। बुइया—कहे हुए। एगे—कई एक। माणवा—मनुष्य अर्थात् शिष्य वर्ग। कुप्पंति—क्रोध करने लग जाता है। य—फिर। उन्नयमाणे—अहंकार करता हुआ। नरे—मनुष्य। महया मोहेण—महान् बड़े मोह से। मुज्झइ—कार्याकार्य विचार विवेक से विकल हो जाता है। संबाहा—संबाधा—पीड़ा। बहवे—बहुत। भुज्जो भुज्जो—पुनः पुनः। दुरइक्कम्मा—सहन करनी दुष्कर है।

अजाणओ—अज्ञानी—अतत्त्वदर्शी उपाय को न जानता हुआ। अपासओ—न देखता हुआ गुरु कहते हैं हे शिष्य! एयं—यह एकाकीचर्या। ते—तुझे। मा होउ—मत हो, क्योंकि। एयं—यह। कुसलस्स दंसणं—कुशल अर्थात् श्री वर्द्धमान स्वामी का दर्शन है, अतः। तद्दिद्वीए—गुरु—आचार्य की दृष्टि से वर्तना चाहिए। तम्मुत्तीए—निर्लोभता से वर्तना चाहिए। तप्पुरक्कारे—प्रत्येक कार्य में गुरु को आगे रखना चाहिए। तस्सन्नी—गुरु पर श्रद्धा रखने वाला। तन्निवेसणे—गुरुकुलवासी होना चाहिए अर्थात् गुरु के पास रहना चाहिए। जयं विहारी—यत्न पूर्वक विचरना चाहिए। चित्त निवाई—गुरुजनों के चित्त के अनुसार वर्तना चाहिए। पंथ निज्झाई—गुरुजनों के कहीं चले जाने पर उनकी ओर ध्यान रखने वाला हो। पलिबाहिरे—गुरुओं की आज्ञा के बाहर कभी न हो, यदि गुरु ने किसी स्थान पर भेजा हो तो। पाणे—प्राणियों को। पासिय—देखकर। गच्छिज्जा—जावे—यत्नपूर्वक गमन करे।

मूलार्थ—जो मनुष्य गुरुजनों की हित शिक्षा से क्रोधित होते हैं, अहंकार के वश में होकर तथा महामोह के उदय से अज्ञानता में मूर्छित होकर गुरुजनों से पृथक् होकर विचरने लग जाते हैं, ऐसा करने से उन्हें उपसर्गादि जनित बार-बार अनेक प्रकार की दुरतिक्रम बाधाएँ उपस्थित होती हैं! सम्यक् सहन करने के उपाय से अज्ञात और कर्म विपाक के न देखने के कारण उन बाधाओं से अत्यन्त दुःखी होकर वे चारित्र्य मार्ग से गिर जाते हैं। गुरु कहते हैं हे शिष्य! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह दर्शन है कि तुम्हारी यह दशा न हो, किन्तु गुरु की दृष्टि से सर्व प्रकार की निर्ममत्ववृत्ति से, प्रत्येक कार्य में गुरुजनों की आज्ञा को संमुख रखने से, गुरुओं के पास रहने से, और यत्नपूर्वक विचरने से, गुरुओं के चित्त की आराधना करनी चाहिए, एवं कहीं पर गए हुए गुरुओं के मार्ग का अवलोकन करना चाहिए, गुरुओं की आज्ञा में रहना चाहिए, यदि गुरु कहीं पर भेजें तो मार्ग में प्राणियों की रक्षा करते हुए चलना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

अव्यक्त अवस्था में—श्रुतज्ञान से सम्पन्न न होने के कारण, साधक अपने अन्दर स्थित कषायों को दबा नहीं सकता। कभी परिस्थिति वश उसका क्रोध प्रज्वलित हो उठता है और वह उस स्थिति में अपनी समझ को भी भूल जाता है। कषायों के

प्रवाह में उसे अपने हिताहित का भी खयाल नहीं रहता। इसलिए वह कर्तव्य मार्ग से च्युत होकर पतन के गर्त में गिरने लगता है। आवेश के नशे में उसको भाषा पर भी अंकुश नहीं रहता। गुरु के सामने भी वह अट-संट बकने लगता है और अपने आंतरिक दोषों को न देख कर गुरु के दोष निकालने का प्रयत्न करता है और अपने दोषों पर परदा डालने के लिए वह दूसरे साधकों के दोषों को सामने रख कर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि गुरु मुझे हित शिक्षा नहीं दे रहे हैं, अपितु सबके सामने मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। इसलिए वह आवेश के वश गुरु के वचनों का अनादर करके तथा उन्हें भला-बुरा कहकर अकेला विचरने लगता है। परन्तु वय एवं श्रुत से अव्यक्त होने के कारण वह संयम मार्ग पर स्थिर नहीं रह सकता। रोग आदि कष्ट उपस्थित होने पर वह घबरा जाता है। उन परीषदों को सह नहीं पाता और परिणामस्वरूप अनेक दोषों का सेवन करने लगता है। इस तरह आवेश के वश संघ से पृथक् होकर विचरने वाला साधक चारित्र्य से गिर जाता है। अतः अव्यक्त साधु को गुरु की सेवा में रहते हुए क्रोध आदि कंषायों के वश में नहीं होना चाहिए।

गुरु की सेवा में रहकर संयम का परिपालन करना चाहिए और सावधानी एवं विवेक के साथ सभी क्रियाएं करनी चाहिए और कभी भूल हो जाने पर उसका संशोधन करके उस दोष को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिमज्जमाणे, एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उदायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाणेण विवेगं किट्ठइ वेयवी॥159॥

छाया—स अभिक्रामन् प्रतिकामन् संकुचन् प्रसारयन् विनिवर्तमानः संपरिमृजन् एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य-कायसंस्पर्श समनुचीर्णाः एके प्राणाः-प्राणिनः अपद्रान्ति इह लोके वेदनवेद्या पतितं यत् आकुट्टी-कृतंकर्म तत् परिज्ञाय विवेकमेति एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्तयति वेदवित्।

पदार्थ—से—वह भिक्षु। **अभिवक्कममाणे**—जाता हुआ। **पडिवक्कममाणे**—पीछे हटता हुआ। **संकुचमाणे**—हस्तादि का संकोच करता हुआ। **पसारमाणे**—पादादि को पसारता-फैलाता हुआ। **विणिवट्टमाणे**—अशुभ व्यापार से निवृत्त होता हुआ। **एगया संपलिज्जमाणे**—सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन करता हुआ। **एगया**—एकदा किसी समय। **गुणसमियस्स**—गुण युक्त, अप्रमत्त भाव से। **रीयओ**—चलते हुए वे। **कायसंफासं**—काय के स्पर्श से। **समणुचिन्ना**—स्पर्शित हुआ। **एगतिया**—कई एक। **पाणा**—प्राणी। **उद्दायन्ति**—मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं अथवा परितापना युक्त हो जाते हैं, तब। **इहलोगवेयण विज्जा वडियं**—इस लोक में वेदना का अनुभव करके उसे क्षय कर देवे। **जं—जो**। **आउट्टिकयं**—जो जान कर किया हुआ। **कमं**—हिंसादि कर्म है। **तं**—उसको। **परिन्नाय**—ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करके। **विवेगमेइ**—विवेक परिज्ञा द्वारा उस कर्म को क्षय कर देवे। **एवं**—इस प्रकार। **से**—वह सांपरायिक कर्म। **अप्पमाण**—अप्रमाद के द्वारा। **विवेगं**—क्षय कर देवे। इस प्रकार। **वेयवी**—तीर्थकर वा गण (धरों) ने। **किट्टइ**—कहा है।

मूलार्थ—समस्त अशुभ व्यापार से अलग रहने वाला भिक्षु चलते हुए, पीछे हटते हुए, हस्त पादादि अंगों को संकोचते हुए और फैलाते हुए, भली प्रकार से रजोहरणादि के द्वारा शरीर के अङ्गोपाङ्ग तथा भूमि आदि का प्रमार्जन करता हुआ गुरुजनों के समीप निवास करे। इस प्रकार अप्रमत्त भाव से सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान करते हुए गुण युक्त मुनि से यदि किसी समय चलते-फिरते हुए काय—शरीर के स्पर्श से किसी प्राणी—संपातिमादि जीव की मृत्यु हो जावे तो वह भिक्षु उस कर्म के फल को इसी लोक में वेदनादि का अनुभव करके क्षय कर दे, परन्तु जान-बुझकर किया गया हो तो उसको तप अनुष्ठान के द्वारा क्षय कर दे, यह कर्म क्षय करने का विधान तीर्थकरों ने किया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद और अप्रमाद का सुन्दर शब्दों में विश्लेषण किया गया है। प्रमाद आरम्भ-समारम्भ एवं सब पापों का मूल है। प्रमाद पूर्वक कार्य करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधु के लिए आगम

में प्रमत्त भाव का त्याग करने का आदेश दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि अविवेक पूर्वक चलने वाला, खड़े रहने वाला, बैठने वाला, सोने वाला; भोजन करने वाला, एवं बोलने वाला पापकर्म का बन्ध करता है। अविवेक पूर्वक की जाने वाली प्रत्येक क्रिया पाप बन्ध का कारण है और विवेक पूर्वक की जाने वाली उपर्युक्त सभी क्रियाओं में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अविवेक एवं प्रमाद से पाप कर्म का बन्ध होता है, अतः साधु को अप्रमत्त भाव से विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए भी कभी भूल से किसी प्राणी की हिंसा हो जाए तो इर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिंसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायिक तप अनुष्ठान या प्रायश्चित्त स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिंसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए इर्यापथिक एवं साम्प्रायिक क्रियाओं का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित्त एवं तप के द्वारा मुनि पापकर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ संयम में संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ? एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे भाम धम्महिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दुइज्जिज्जा अवि आहारं बुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवन्ति, पडिलेहाए आगमिन्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्तिबेमि॥160॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञानः उपशान्त समितः सहितः सदायतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात्? स एष परमारामः यः

लोके स्त्रियः मुनिना हुए एतत् प्रवेदितं उद्वाध्यमानः ग्रामा-धर्मैरपि निर्वलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं व्यवच्छिन्वादपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः पूर्वं दंडाः पश्चात् स्पर्शाः पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडाः इत्येते कलहसंगकराः भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि । स नो कथां कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्वं (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह साधु । पभूयदंसी—प्रभूत देखने वाला । पभूय परिन्नाणे—अत्यन्त ज्ञान वाला । उवसंते—उपशान्त कषाय वाला । समिए—समितियों से समित । सहिए—ज्ञान युक्त । सयाजए—सदा यत्नशील । दट्ठुं—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर । अप्पाणं—आत्मा को । विप्पडिवेएइ—शिक्षित करता है । किमेस जणो करिस्सइ—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? एस से—यह स्त्री जन । परमारामो—परमाराम रूप है अथवा । जाओ—जो । लोगम्मि—लोक में । इत्थिओ—स्त्रियां हैं वे पुरुषों के मोहोदय का मुख्य कारण हैं । हु—निश्चय ही । एवं—यह पूर्वोक्त विषय । मुणिणा—श्री वर्द्धमान स्वामी ने । पवेइयं—विशेषता से प्रतिपादन किया है । गामधम्मोहिं—इन्द्रिय धर्मों में । उब्बाहिज्जमाणे—पीड़ित होता हुआ । अवि—अपि शब्द संभावना अर्थ से जानना चाहिए । गुरुजनों की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते हैं, यथा । निब्बलासए—निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला । अवि—पूर्ववत् जानना चाहिए । ओमोयरियं—ऊनोदरी तप । कुज्जा—करे । अवि—पूर्ववत् । उड्ढं—ऊर्ध्व । ठाणंठा—इज्जा—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे । अवि—पूर्ववत् । गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम । दूइज्जिज्जा—विचरे । अवि—अपि समुच्चय अर्थ में है । आहारं—आहार को । बुच्छिं दिज्जा—छोड़ देवे । अवि—अपि शब्द से अन्य अर्थों का भी ग्रहण कर लेना । चए—छोड़ देवे । इत्थीसु मणं—स्त्री में लगे हुए मन को । पुव्वं—पूर्व में । दंडा—है । पच्छा फासा—पीछे नरकादि दुःखों का स्पर्श है तथा । पुव्वंफासा—पहले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है । पच्छा दंडा—पीछे दुःख रूप दंड मिलता है । इच्चेए—अतः ये स्त्रियों के संसर्गादि । कलह संगकरा भवन्ति—कलह संग्रामादि के कारण होते हैं । अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते हैं, अतः । पडिलेहाए—प्रत्युपेक्षणा से ।

आगमिता—जानकर। आणविज्जा—स्वात्मा को शिक्षित करे। अणासेवणाए—विषयों का सेवन न करना चाहिए, अर्थात् अपने आत्मा को विषयों से पराङ्मुख रहने की शिक्षा देवे। तिबेमि—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति में है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं! हे शिष्य यह मैं तीर्थकर वचन के अनुसार कहता हूँ। अब सूत्रकार स्त्री के परिहरण के विषय में कहते हैं। से—वह त्यागी भिक्षु। नोकाहिए—स्त्री के शृङ्गारादि की कथा न करे। नो पासणिए—स्त्री के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे। नो मामए—स्त्री के साथ न ममत्व करे। णो कय किरिए—तथा स्त्री मंडनादि क्रियायें न करे अर्थात् स्त्री की वैयावृत्य न करे। वड्ढुत्ते—वचन से संलाप न करे। अझप्पसंबुडे—अध्यात्म संवृत स्त्री के विषय में मन से भी विचार न करे, तथा। सया—सदा। पावं—पाप कर्म को। परिवज्जइ—त्याग देवे। एयं—यह। मोणं—मुनित्व-मुनि भाव है गुरु कहते हैं हे शिष्य! इस मुनि भाव को तू। समणुवासिज्जासि—सम्यक् प्रकार से पालन कर। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु प्रभूत देखने वाला, प्रभूत ज्ञान वाला, उपशान्त, समितियों से समित, ज्ञान्युक्त, सदा यन्नशील स्त्रीजन को देख कर अपने आत्मा को शिक्षित करे कि हे आत्मन्! यह स्त्री जन तुम्हारा क्या करेगा! यह स्त्री जन समस्त लोक में परमाराम रूप है, इस प्रकार से कामीजन मानते हैं ऐसा श्री वर्धमान स्वामी ने वर्णन किया है। विचारशील भिक्षु यदि ग्रामधर्म—विषय से पीड़ित हो जाए तो उसे नीरस आहार करना चाहिए, ऊनोदरी तप करना चाहिए, ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए, ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए। आहार का परित्याग करना चाहिए (यहां तक कि ऊँचे से गिर कर प्राण त्याग कर देना चाहिए), परन्तु मन को स्त्रीजन में आसक्त नहीं करना चाहिए, कारण कि स्त्रीसंग से पहले (दंड-धनादि में उपार्जन के लिए महाकष्ट) होता है, पीछे से नरकादि जनित दुःखों का स्पर्श होता है तथा पहले स्त्री के अंग-प्रत्यंग का स्पर्श और पीछे नरकादि यातनाओं का दंड भोगना पड़ता है, ये स्त्रियाँ कलह और संग्रामादि का कारण हैं और भयंकर राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं। इस प्रकार बुद्धि से विचार करके कर्म के विपाक को सन्मुख रखकर विचारशील भिक्षु अपने आत्मा को शिक्षित करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ। फिर वह त्यागी भिक्षु स्त्री की कथा न करे, उसके अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे, उसके साथ एकान्त में किसी प्रकार की पर्यालोचना

न करे, उस पर ममत्व न करे, उसकी वैयावृत्य न करे और उसके साथ रहस्यमय वार्त्तालाप न करे तथा उसके विषय में मन में संकल्प भी न करे, पापकर्म का सदैव त्याग करे, गुरु कहते हैं, हे शिष्य! तू इस मुनि-भाव का सम्यग् रूप से पालन कर, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

विवेकशील साधु दीर्घदर्शी एवं ज्ञान सम्पन्न होता है। वह अतीत, अनागत एवं वर्तमान को तथा कर्म फल को भली-भाँति देखने वाला है। उसे संयम को सुरक्षित रखने एवं संयम के द्वारा समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर मुक्त होने के रास्ते का भी परिज्ञान है। वह उपशान्त प्रकृति वाला है एवं समिति-गुप्ति से युक्त है, इसलिए वह संयम-निष्ठ मुनि कभी अनुकूल या प्रतिकूल परीषद उत्पन्न होने पर भी संयम से च्युत नहीं होता। उसे कोई भी स्त्री एवं भोगोपभोग के साधन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। क्योंकि उसने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को जान लिया है, अतः उसके सामने दुनिया के सभी पदार्थों का सौन्दर्य उसे फीका-सा प्रतीत होता है।

स्त्री एवं भोग-विलास के साधनों के उपस्थित होने पर वह सोचता है कि मैंने बड़ी कठिनता से सम्यक्त्व को एवं संयम-साधना को प्राप्त किया है। इन विषय-भोगों को तो मैं अनेक बार भोग चुका हूँ; फिर भी इनसे आत्मा की तृप्ति नहीं हुई। इनके कारण मैं बार-बार संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। इस संसार बन्धन से छूटने का यह साधन मुझे कर्मों के क्षयोपशम से मिला है। अतः अब संसार में भटकाने वाले विषय-भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। संसार का रूप-सौन्दर्य मुझे पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकता।

ये स्त्रियाँ एवं भोगोपभोग के साधन बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं को भी मोह लेते हैं और उनके मोहजाल में आबद्ध साधक पहले तो संयम से भ्रष्ट होता है और बाद में वह उनका दास होकर जीवन व्यतीत करता है। इसलिए सबसे अच्छा यही है कि मैं इन विषय-विकारों एवं भोगों को स्वीकार ही न करूँ। इस प्रकार सोच-विचारकर प्रबुद्ध पुरुष भोगेच्छा का त्याग कर देता है, वह भोगों की ओर आकर्षित ही नहीं होता।

तीर्थकरों ने स्त्री-काम-भोगों को भावबन्धन कहा है। मोहकर्म के उदय से मनुष्य वासना के प्रवाह में बहता है। अतः साधु को गुरु के अनुशासन में रहकर

मोहकर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए और वासना एवं विकृति को रोकने के लिये कामोत्तेजक आहार एवं ऐसे अन्य साधनों का त्याग करना चाहिए। विषयों से विरक्त रहने के लिए साधु को नीरस भोजन करना चाहिए। एक गांव में लम्बे समय तक नहीं रहकर ग्रामनुग्राम विचरना चाहिए, आतापना लेनी चाहिए, एकान्त स्थान में या पर्वत के शिखर पर कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा तपश्चर्या करते रहना चाहिए।

इसके साथ उसे सोचना चाहिए कि स्त्री के कारण कलह-कदाग्रह होते रहते हैं। इतिहास में भी इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री-संसर्ग से शारीरिक शक्ति का हास होता है। व्यभिचारी व्यक्ति का दुनिया में तिरस्कार होता है। इस तरह सोचकर विषय-वासना का त्यागी साधु विषय-विकार की ओर आकर्षित न हो, और उसे स्त्री-कथा, स्त्री-परिचर्या एवं उसके साथ रहस्यपूर्ण बातचीत नहीं करनी चाहिए। इसके लिए आगम में, मन-वचन और शरीर को गोपकर रखने का विधान किया गया है।

इस तरह साधु को विवेक के साथ संयम का परिपालन करना चाहिए। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से पराभूत होकर संयम से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अध्ययन : लोकसार

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अव्यक्त—अगीतार्थ मुनि के एकाकी विचरने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में आचार्य की सेवा में रह कर रत्नत्रय की आराधना-साधना करने वाले मुनि के विषय में विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि तंजहा-अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति तिबेमि॥161॥

छाया—तद् ब्रवीमि तद्यथा—अपि हृदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति उपशान्तरजः संरक्षन् स तिष्ठति स्रोतोमध्यगतः स पश्य! सर्वतः गुप्तः पश्य! लोके महर्षयः ये प्रज्ञानवन्तश्च प्रबुद्धाः आरम्भोपरताः सम्यगेतदित पश्यत! कालस्य कांक्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—यह शब्द अथ शब्द के स्थान में प्रयुक्त किया गया है, अतः इसका अर्थ है—अब मैं आचार्य के संबन्ध में। बेमि—कहता हूँ। तंजहा—जैसे। अपि—संभावना अर्थ में। पडिपुण्णे हरए—जल से भरा हुआ एक जलाशय है। समंसि—उसका जल समतल है। भोमे—भूमि में। चिट्ठइ—ठहरता है। उवसंतरए—उसका जल उपशान्त रज वाला है, और। से—वह—जलाशय। सारक्खमाणे—जलचर जीवों का संरक्षण करता हुआ। चिट्ठइ—स्थित है। इसी तरह वह आचार्य भी। सोयमज्झगए—स्रोत मध्यगत है—स्वयं श्रुत का पारायण करता है और अन्य साधुओं को पढ़ाता भी है, और वह। सव्वओ—सब तरह से। गुत्ते—इन्द्रिय और मन का गोपन करने वाला है। पास—हे शिष्य! तू देख कि। लोए—लोक में। जे महेसिणो—जो महर्षि हैं, उनको। पास—देख, वे भी जलाशय के सामन हैं।

व—और वे। पन्नाणमंता—प्रज्ञावन्त आगमों के ज्ञाता हैं। पबुद्धा—प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ हैं। आरम्भोवरया—आरम्भ से निवृत्त हैं। सम्ममेयंति—जो कुछ मैंने कहा है, उसे सम्यक् प्रकार से। पासह—देखो, क्योंकि संयमी पुरुष। कालस्स—समाधि मरण रूप काल की। कंखाए—आकांक्षा रखते हुए संयम मार्ग में। परिब्बयंति—भली-भांति चलने का प्रयत्न करते हैं। तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—तीर्थंकर भगवान ने आचार्य के गुणों का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। जैसे एक जल से परिपूर्ण उपशान्त रज वाला जलाशय समभूमि में ठहरा हुआ, जलचर जीवों का संरक्षण करता हुआ स्थित है, इसी प्रकार आचार्य भी सद्गुणों से युक्त, उपशान्त एवं गुप्तेन्द्रिय हैं। वे श्रुत का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं एवं अन्य साधुओं को भी श्रुत का बोध कराते हैं। हे शिष्य! तू लोक में उनको देख जो महर्षि हैं, आगमवेत्ता, तत्त्वज्ञ एवं आरंभ-समारंभ से निवृत्त हैं। हे शिष्य! तू मध्यस्थ भाव से उनके जीवन का अवलोकन कर, वे महापुरुष जलाशय के समान हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को समाधि मरण की आकांक्षा करते हुए संयम पालन में संलग्न रहना चाहिए, ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

संघ की व्यवस्था के लिए, साधु-साधवियों में अनुशासन बनाए रखने के लिए शास्ता का होना जरूरी है। आगम की परिभाषा में शास्ता को आचार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में उनके गुणों एवं उनकी श्रुत संपदा को जलाशय की उपमा देकर वर्णन किया गया है। जलाशय की विशेषता का उल्लेख करते हुए चार बातें बताई गई हैं—1—जलाशय समभूमि पर होता है, 2—जल से परिपूर्ण होता है, 3—उपशान्त रज वाला होता है, और 4—जलचर जीवों का संरक्षक या आश्रयभूत होता है। सरोवर का महत्त्व इन्हीं चार विशेषताओं से ही स्थित है। यदि सरोवर समतल भूमि पर नहीं है तो प्रत्येक प्राणी सुगमता से उसके पानी का लाभ नहीं उठा सकता। दूसरे, जल से रहित सरोवर का कोई मूल्य नहीं है, जिससे किसी भी प्राणी को लाभ नहीं पहुंचता। तीसरे, सरोवर का उपशान्त रजमय होना उसकी स्वच्छता का प्रतीक है और स्वच्छ जल प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद हो सकता है और चौथे यह कि जलचर जीवों के संरक्षक के रूप में उसकी परोपकारिता परिलक्षित होती है। वह जैसे मत्स्य आदि

जीवों को आश्रय देता है, उसी प्रकार सर्प आदि को भी आश्रय देता है और सर्प-सिंह आदि हिंसक जन्तुओं की भी प्यास बुझाता है। इस गुण से उसकी समभाव वृत्ति का भी बोध होता है। इन चार बातों से ही जलाशय—सरोवर का महत्त्व एवं श्रेष्ठता बताई गई है।

आचार्य का जीवन भी सरोवर के समान होता है। उनके जीवन में कहीं भी विषमता परिलक्षित नहीं होती और वह श्रुतज्ञान के जल से परिपूर्ण रहता है। ज्ञान सम्पन्न होने पर भी उनके जीवन में अभिमान का उदय नहीं होता। उनकी कषायें सदा उपशान्त रहती हैं और वे संघ में स्थित साधकों के संरक्षण में सदा तत्पर रहते हैं। वे समभाव से प्रत्येक साधक की उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं। छोटे-बड़े का, विद्वान-मूर्ख का उनके मन में भेद नहीं रहता। सबके साथ समानता का व्यवहार करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “प्रबुद्धा, पन्नाणमंता, आरम्भोवरया” इन तीन पदों से रत्नत्रयी का बोध कराया गया है। प्रबुद्ध शब्द से सम्यग्दर्शन, प्रज्ञावन्त शब्द से सम्यक् ज्ञान और आरम्भ से निवृत्त शब्द से सम्यक् चारित्र्य का बोध होता है और आचार्य एवं साधु दोनों रत्नत्रय के आराधक हैं। अतः श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु को जलाशय के समान श्रेष्ठ बताया गया है।

इस तरह श्रुत सम्पन्न आचार्य साधु के आदर्श जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम स्वयं मध्यस्थ—निष्पक्ष भाव से अनुभव करो देखो! इस कथन से अन्धश्रद्धा का उच्छेद किया गया है। साधक को अपनी निष्पक्ष बुद्धि से गुणों को समझने का अवसर दिया गया है। इस कथन से स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह साधक को श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में समाधि मरण की आकांक्षा रखते हुए रत्नत्रय के विकास में संलग्न रहना चाहिए। जीवन में मृत्यु का आना निश्चित है। अतः साधु को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव पूर्वक समाधि मरण की आकांक्षा रखनी चाहिए, क्योंकि समाधि मरण से साधक अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ, एक दिन इसी मरण से निर्वाण पद को पा लेता है। अतः साधक को समाधि मरण की आकांक्षा रखने का आदेश दिया गया है।

श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में रहकर अपनी साधना को तेजस्वी बनाने वाले शिष्य की कैसी वृत्ति हो, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छन्ति असिता वेगे अणुगच्छन्ति, अणुगच्छमाणेहिं अणुगच्छमाणे कहं न निव्विज्जे?॥162॥

छाया—विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नो लभते समाधिम्, सिताः वा एके अनुगच्छन्ति, असितावा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत्।

पदार्थ—वितिगिच्छासमावन्नेणं—संशय से युक्त। अप्पाणेणं—आत्मा द्वारा। समाहिं—समाधि को। नो लहइ—प्राप्त नहीं कर सकता। वा—अथवा। एगे—कोई-कोई। सिया—लघुकर्मी जीव पुत्रादि के स्नेह से बद्ध होने पर भी। अणुगच्छन्ति—आचार्यादि का अनुगमन करते हैं—उनके कथन को स्वीकार करते हैं। वा—अथवा। एगे—कोई-कोई। असिता—जो पुत्रादि के स्नेह से वियुक्त हैं (साधु हैं वे भी)। अणुगच्छन्ति—आचार्यादि के वचन को स्वीकार करते हैं। अणुगच्छमाणेहिं—जो आचार्य के आदेशानुसार चलने वाले हैं तथा। अणुगच्छमाणे—कर्मोदय से जो आचार्यादि के वचनानुसार नहीं चलता, वह। कहं—कैसे। न निव्विज्जे—खेद को प्राप्त नहीं होता? अवश्य होता है।

मूलार्थ—सन्देह युक्त आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता, कोई-कोई गृहस्थ आचार्य की आज्ञा का पालन करते हैं, तथा कोई-कोई साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं! अर्थात् आचार्य के वचनानुसार चलने से समाधि की प्राप्ति करते हैं, तो फिर जो आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह संशययुक्त आत्मा खेद को क्यों न प्राप्त होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

हिन्दी-विवेचन

आगम में आत्मा के विकास की 14 श्रेणियां मानी गई हैं, जिन्हें आगमिक भाषा में गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से आत्मा विकास की ओर सन्मुख होता है और 14वें गुणस्थान में पहुंचकर वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस तरह

सम्यक् श्रद्धा से आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता है और अयोगि अवस्था में पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस विकास क्रम में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रद्धा के बल पर ही साधक साध्य को सिद्ध कर पाता है। इसलिए आगम में श्रद्धा को परम—अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है¹, क्योंकि श्रद्धा पूर्वक पढ़ा गया श्रुत सम्यग्श्रुत कहलाता है और श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया गया आचरण ही सम्यक् चारित्र के नाम से जाना-पहचाना जाता है। श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र दोनों सम्यग् नहीं रह पाते।

सम्यक् श्रद्धा के अभाव में चारित्र भी सम्यग् नहीं रहता है। श्रद्धा विहीन साधक के चित्त में संशय एवं परिणामों में स्थिरता नहीं रहती है और इस कारण उसके चित्त में समाधि भी नहीं रहती। क्योंकि समाधि शान्त चित्त की स्थिरता पर आधारित है और चित्त की स्थिरता शुद्ध श्रद्धा पर अवलम्बित है। अतः साधक को आचार्य एवं तीर्थकरों के वचनों पर तथा श्रुत पर विश्वास रखना चाहिए। जो साधक श्रुत पर विश्वास रखता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसके मन में चंचलता एवं अस्थिरता नहीं होती है। इससे वह शांति को, पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। परन्तु रात-दिन संशय में पड़ा हुआ व्यक्ति शांति को नहीं पा सकता। कहा भी है “संशयात्मा विनश्यति”, अर्थात् संशय में निमग्न व्यक्ति अपना विनाश करता है।

इसलिए साधक को संशय का त्याग कर निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। अपनी श्रद्धा को तेजस्वी बनाने के लिए साधक को क्या चिन्तन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं॥163॥

छाया—तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

पदार्थ—तमेव—वह पदार्थ—तत्त्वज्ञान। सच्चं—सत्य है। नीसंकं—संशय रहित है। जं—जो। जिणेहिं—जिन भगवान के द्वारा। पवेइयं—कहा गया है।

मूलार्थ—जो तत्त्वज्ञान जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है, वह सत्य एवं संशय रहित है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से श्रुतज्ञान अधिक न हो, तब भी साधक को जिन प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे वीतराग द्वारा प्ररूपित वचनों में शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव आदि पदार्थों का एवं जीवाजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर निर्जरा-बन्ध एवं मोक्ष आदि तत्त्वों का जो वर्णन किया है, वह अपने ज्ञान में देखकर किया है। उनके ज्ञान में दुनिया का कोई भी पदार्थ अनदेखा नहीं रह सकता है। अतः उनके प्रवचन में पूर्णतः यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन वचनों पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्मा विकास की ओर उन्मुख होता है।

संशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एवं श्रावक जीवन में भी हो सकता है। अतः साधु के मन में भी श्रुतज्ञान-आगमों में संशय हो सकता है और संशय से आत्मा का पतन होता है। अतः संशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की कमी के कारण मैं पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु इन वचनों में असत्यता नहीं है। इस तरह साधक को संशय रहित होकर संयम का परिपालन करना चाहिए। एक आचार्य ने भी कहा है—
“वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते।”
अतः उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एवं सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।

यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थ दर्शनम्॥

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिद्धस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति
मन्नमाणस्स एगया समिया होइ 1, समियंति मन्नमाणस्स एगया
असमिया होइ 2, असमयति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ 3,
असमयंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ 4, समयंति-मन्नमाणस्स

समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए 5, असमयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए 6, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि स मयाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसियो भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासइ इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा॥164॥

छाया—श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रब्रजतः सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति 1, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति 2, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति 3, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति 4, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग् भवति उत्प्रेक्षया 5, असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा असम्यग् भवति 6, इत्युपेक्षया उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात्—उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया भावेन इत्येवं तत्र सन्धिर्ज्ञोषितः भवति स तस्योत्थितस्य स्थितस्य गतिं समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत् ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार अर्थ में है। सङ्गिदस्स—श्रद्धालु को तथा। समणुन्नस—वैराग्य से जिसका आत्मा भावित हो, अथवा। संपव्वयमाणस्स—संप्रब्रजित—दीक्षा-लेते हुए को। समियंति—जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादन किया है वह सम्यग्-यथार्थ है, इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा—किसी समय—उत्तर काल में। समिया—सम्यग्। होइ—होता है 1। समियंति—सम्यक् है, इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा उत्तर काल में। असमिया—असम्यक्। होइ—होता है 2। असमियंति—असम्यग् है इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा। समिया—सम्यक्। होइ—होता है 3। असमयंति—असम्यग् है, इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। एगया—एकदा—किसी समय। असमिया—असम्यग्। होइ—होता है 4। समियंति—सम्यग् है, इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। समिया—सम्यग्। वा—अथवा। असमिया—असम्यग्। वा—अथवा। समिया—सम्यग्। होइ—होता है। उवेहाए—सम्यग् विचार करने से 5। असमियंति—असम्यक् है, इस प्रकार। मन्नमाणस्स—मानते हुए को। समिया—सम्यक् है। वा—अथवा। असमिया—असम्यग् है। वा—अथवा। असमिया—असम्यग्।

होइ—होता है। उवेहाए—असम्यग् विचार करने से 6। अवेहमाणो—आगमानुसार विचार करता हुआ। अणुवेहमाणे—विचार करते हुए के प्रति। बूया—कहे। समियाए—हे पुरुष! सम्यग् विचार से। उवेहाहि—पर्यालोचन कर! (तात्पर्य कि सम्यग् प्रकार से—मध्यस्थ भाव से विचार करने पर ही पदार्थों का यथार्थ स्वरूप अवगत हो सकता है, अन्यथा नहीं) इच्चेवं—इस प्रकार। तत्थ—उस संयम में यत्नशील होने पर। संधी—कर्म सन्तति रूप सन्धि। झोसियो—क्षपित। भवइ—होती है। वे—वह, सम्यक् प्रकार से। उट्ठियस्स—संयम मार्ग में उत्थित हुए की। ठियस्स—गुरुजनों की आज्ञा में स्थित की। गइं—गति को। समणुपासह—सम्यक् प्रकार से देखो! इत्थवि—यहां पर भी। बालभावे—बालभाव—असंयम भाव। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। नोउवदंसिज्जा—नहीं दिखलावे, अर्थात् संयम मार्ग में बालभाव का प्रदर्शन न करे।

मूलार्थ—श्रद्धालु या वैराग्य युक्त मुनि तथा दीक्षा लेते हुए व्यक्ति, जो कि श्री 1—जिनेन्द्र भगवान के वचनों को सम्यग् मान रहा है—के भाव उत्तर काल में भी सम्यग् होते हैं, 2—सम्यग् मानते हुए के एकदा—किसी समय असम्यग् होते हैं, 3—असम्यग् मानते हुए के किसी समय सम्यग् होते हैं, 4—असम्यग् मानते हुए के भाव एकदा असम्यग् होते हैं, 5—सम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग् तथा सम्यग् विचारणा से सम्यग् भाव होते हैं, 6—और असम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग् तथा असम्यग् विचारणा से असम्यग् होते हैं। आगमानुसार विचार करता हुआ विचार करो! इस प्रकार संयम में अवस्थित होने से कर्मों की सन्तति का क्षय होता है, वह जो संयम मार्ग में यत्नशील और गुरुजनों की आज्ञा में स्थित है, तुम उसकी गति को देखो! साधक पुरुष यहां अपने आत्मा का बालभाव प्रदर्शित न करे।

हिन्दी-विवेचन

जब आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय या क्षयोपशम करता है, तब साधक के जीवन में श्रद्धा की, सम्यक्त्व की ज्योति जगती है। उसे यथार्थ तत्त्वों पर विश्वास होता है। अतः जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनमोह का उदय रहता है, तब तक सम्यक् श्रद्धा आवृत रहती है। जैसे आंखों पर मोतियाबिन्दु

का आवरण आ जाने से दृष्टि मन्द पड़ जाती है, उसी तरह दर्शनमोह कर्म के उदय से आत्मा के स्वगुणों पर परदा-सा पड़ जाता है और उस कर्म-आवरण के कारण आत्मा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

इससे स्पष्ट हो गया कि दुनिया में दो तरह की दृष्टियाँ हैं—एक दर्शनमोह के आवरण से अनावृत और दूसरी है आवृत। इन्हें आगम में सम्यग् एवं मिथ्या दर्शन या मिथ्या दृष्टि कहते हैं। संसार की चारों गतियों में दोनों के जीव पाए जाते हैं। परन्तु आत्मा का विकास एवं अभ्युदय सम्यग्दृष्टि से ही होता है। इसलिए जीवन में सम्यक्त्व को अधिक महत्त्व दिया गया है। सम्यक्त्व भी क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन तरह का होता है। जीवन में क्षायिक सम्यक्त्व आने के बाद वह सदा बना रहता है, परन्तु शेष दो तरह का सम्यक्त्व सदा एक-सा नहीं रहता है। उसमें विचारों की तरंगों के अनुसार उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। कुछ व्यक्ति जिस निष्ठा के साथ दीक्षा लते हैं, उनकी वही श्रद्धा—निष्ठा अन्त तक बनी रहती है और उनकी निष्ठा में तेजस्विता आती रहती है, परन्तु उसका प्रकाश धूमिल नहीं पड़ता। कुछ व्यक्ति दीक्षा के समय निर्मल सम्यक्त्व वाले होते हैं, परन्तु दीक्षित होने के बाद दर्शन मोह के उदय से श्रद्धा से गिर जाते हैं। कुछ साधक दीक्षित होते समय संशयशील होते हैं, परन्तु बाद में उनका सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कुछ साधक दीक्षा ग्रहण करते समय एवं बाद में संशयशील या सम्यक्त्व-रहित बने रहते हैं। इसी तरह अन्य भगों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

जीवों के कार्यों के भेद इन्हीं दो दृष्टियों के आधार पर किए गए हैं। मिथ्यादृष्टि की क्रिया मिथ्या कहलाती है, तो सम्यग्दृष्टि की क्रिया सम्यक् कहलाती है और इसी सम्यक् क्रिया से आत्मा का विकास होता है। सम्यक् भाव से अन्वेषण करने पर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखा एवं जाना जा सकता है। अतः साधक को जीवन में श्रद्धा एवं निष्ठा को बनाए रखना चाहिए और उसे प्रत्येक पदार्थ को सम्यग् दृष्टि से देखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधक को सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के अन्तर को समझ कर अपनी श्रद्धा—निष्ठा को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य में स्थिरता रहती है और उससे पूर्व बंधे हुए पाप कर्म का क्षय होता

है। अभिनव रूप से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति रात-दिन पाप कर्म का बन्ध करता है। अतः साधक को मिथ्यादृष्टि एवं संशय का त्याग करके जिन वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह नितान्त सत्य है कि पाप कर्म का बन्ध अध्यवसाय के अनुसार होता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के अध्यवसाय सदा आरंभ-समारंभ में लगे रहते हैं, अतः वह सदा हिंसा आदि दोषों में संलग्न रहता है और उससे पाप कर्म का बन्ध करता है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तुमंसि नाम सच्चेवं जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिधित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्देयंति मन्नसि अंजू चेय पडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए॥165॥

छाया—त्वमेव नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमेव ना स एव यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स यं परितापयितव्यमिति मन्यसे एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रापयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुश्चैतस्य प्रतिबुद्धजीवी तस्मान्न हंता नापि घातयेत् अनुसंवेदनमात्मना यद् हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत्।

पदार्थ—नाम—संभावना अर्थ में है। च—और। एव—शब्द अवधारण अर्थ में है। जं—जिसको तू। हंतव्वंति—मारना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है। नाम—संभावना। च एव—पूर्ववत्। जं—जिसको तू। अज्जावेयव्वंति—आज्ञा में प्रवर्तना। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है। नाम और च एव पूर्ववत्। जं—जिसको तू। परियावेयव्वंति—परितापना देनी। मन्नसि—चाहता है। स—वह। तुमंसि—तू ही है अथवा जिसे तू परिगृहीतव्य—पकड़ना चाहता है वह तू ही है। एवं—इस प्रकार। जं—जिसको तू। परिधित्तव्वंति—पकड़ना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। जं—जिसको। उद्देयंति—प्राणों से वियुक्त करना। मन्नसि—चाहता है वह तू ही है। च—पुनः। एय—यह पूर्वोक्त विषय जानकर। अंजू—सरल वृत्ति

वाला साधु। **पडिबुद्ध-जीवी**—ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् प्रत्येक जीव को अपने आत्मा के समान जानने वाला। **तम्हा**—इसलिए। **न हंता**—स्वयं जीव को न हने। **नवि घायए**—और न दूसरे से घात करावे तथा न इसकी अनुमोदना करे। **अप्पाणं**—आत्मा को हिंसादि कर्मों का। **अणुसंवेयणं**—अनुसंवेदन अर्थात् हिंसादि व्यापार जनित दुःख का अनुभव करना पड़ेगा, इसी प्रकार की विचारणा करता हुआ। **जं**—जो कोई भी मारने आदि के भाव हैं अथवा हिंसा रूप—सावध क्रियाएं हैं, उनकी। **नाभिपत्थए**—प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—जिस को तू मारना चाहता है, वह तू ही है! जिसको तू आदेश देना चाहता है, वह तू ही है; जिसको तू परितापना देना चाहता है, वह तू ही है; जिसको तू पकड़ना चाहता है, वह तू ही है; जिसको तू प्राणों से वियुक्त करना चाहता है, वह तू ही है। ऋजुप्राज्ञ साधु प्रतिबुद्ध जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला होता है। इसलिए किसी भी जीव को न मारे, और न मारने की प्रेरणा करे, तथा मारने वाले को इस सावध क्रिया का अनुमोदन भी न करे, किन्तु इस प्रकार के भाव रखे कि यदि मुझसे किसी प्रकार की हिंसा हो गई तो उसके कटु फल का अनुभव मुझे अवश्य करना पड़ेगा। अतः किसी भी जीव को मारने की प्रार्थना न करे, अर्थात् न मारे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि सम्यग् एवं मिथ्यादृष्टि की क्रिया में अन्तर रहता है। जिस साधक के जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रत्येक कार्य विवेक एवं उपयोग पूर्वक करता है। क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि में विवेक का अभाव होता है। उसके जीवन में अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है, अतः वह दूसरे के दुःख-सुख को नहीं देखता, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दूसरे प्राणी की हिंसा करना अपनी हिंसा करना है, क्योंकि जिसे तू मारना चाहता है, अपने अधीन रखना चाहता है, परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों की आत्मा आत्मद्रव्य की अपेक्षा से समान है। सबको सुख-दुःख का समान संवेदन होता है और प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है,

दुःख से बचना चाहता है। अतः इस सिद्धांत को जानने वाला साधक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा। क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी का वध करते समय अध्यवसायों—परिणामों में क्रूरता रहती है और भावों की मलिनता के फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है और आत्मा पतन के महागर्त में जा गिरती है। आत्मा का पतन होना भी एक प्रकार से मृत्यु ही है। मृत्यु के समय दुःखानुभूति होती है और हिंसक प्रवृत्ति से भी दुःख परम्परा में अभिवृद्धि होती है। इससे जन्म-मरण का प्रवाह बढ़ता है। इस प्रकार मरने वाले प्राणी के अहित के साथ मारने वाले प्राणी का भी अहित होता है। वह पाप कर्म से बोझिल होकर संसार में परिभ्रमण करता है। अतः यही उसकी मृत्यु है। इसलिए साधक को यह समझकर, जिसे मैं मार रहा हूँ, वह मैं ही हूँ, यह उस प्राणी की नहीं, मेरी अपनी ही हिंसा है, हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

उसे अपने आत्म ज्ञान से सब प्राणियों के स्वरूप को समझ कर हिंसा से निवृत्त रहना चाहिए, क्योंकि जो आत्मा है वही विज्ञाता है, अन्य नहीं। कुछ विचारक आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं। उन्हें संशय है कि आत्मा और ज्ञान एक कैसे हो सकते हैं? इसी संशय का निवारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए, तिबेमि॥166॥

छाया—यः आत्मा स विज्ञाता, यः विज्ञाता स आत्मा येन विजानाति स आत्मा तं प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते एष आत्मवादी सम्यक्तया पर्यायः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो। आया—आत्मा है। से—वह। विन्नाया—विज्ञाता है। जे—जो। विन्नाया—विज्ञाता है। से—वह। आया—आत्मा है। जेण—जिससे—मत्यादि ज्ञान से। वियाणइ—जानता है। से—वह। आया—आत्मा है। तं पडुच्च—उस ज्ञान परिणाम के आश्रय से। पडिसंखाए—आत्मा कहा जाता है, अर्थात् आत्मा व्यपदेश ज्ञान सापेक्ष है। एस—यह अनन्तरोक्त। आयावाई—आत्मवादी कहा जाता है, तथा। समियाए—सम्यग् भाव से वा शमिता से। परियाए—संयम पर्याय। वियाहिए—वर्णन किया गया है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है, जिसके द्वारा जानता है वह आत्मा है, उस ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से आत्मा कहलाता है, इस प्रकार वह आत्मवादी कहा गया है, और फिर उसका सम्यक् प्रकार से संयम पर्याय कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा और ज्ञान की एक रूपता बताई गई है। आगम में आत्मा का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जहां ज्ञान परिलक्षित होता है, वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहां चेतना का आभास होता है, वहां ज्ञान की ज्योति अवश्य रहती है। जैसे सूर्य की किरणें और प्रकाश एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते। जहां किरणें होंगी वहां प्रकाश भी अवश्य होगा और जहां सूर्य का प्रकाश होगा वहां किरणों का अस्तित्व भी निश्चित रूप से होगा। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रह सकती। जिस पदार्थ में ज्ञान का अभाव है, वहां आत्मचेतना की प्रतीति भी नहीं होती, जैसे स्तम्भ आदि जड़ पदार्थ।

यह सत्य है कि ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि गुण सदा गुणी में रहता है। गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र उसका कहीं अस्तित्व नहीं पाया जाता और उसका गुणी आत्मा ही है। अतः इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है, क्योंकि सदा-सर्वदा आत्मा में ही स्थित रहता है। इसी अभिन्नता को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि जो आत्मा है वही विज्ञाता—जानने वाला है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इससे आत्मा और विज्ञाता में एकरूपता परिलक्षित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि आगम में आत्मा को कर्ता एवं ज्ञान को करण माना गया है। कर्ता और करण दोनों भिन्न होते हैं। यहां दोनों की अभिन्नता बताई गई है, अतः दोनों विचारों में एकरूपता कैसे होगी?

इसका समाधान यह है कि जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ पर स्यादवाद—अनेकान्त की दृष्टि से सोचता-विचारता है। अतः उसके चिन्तन में विरोध को पनपने का अवकाश ही नहीं रहता। वह आत्मा और ज्ञान को न तो एकान्त रूप से भिन्न ही

मानता है और न अभिन्न ही। गुण और गुणी की अपेक्षा से आत्मा और ज्ञान अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो कर्ता एवं करण की अपेक्षा से भिन्न भी परिलक्षित होते हैं। इनका भेद करण के बाह्य और आभ्यन्तर भेद पर आधारित है। जैसे देवदत्त आत्मा का आत्मा से निश्चय करता है, इसमें देवदत्त—आत्मा एवं निश्चय ज्ञान की एकरूपता दिखाई देती है और देवदत्त कलम से पत्र लिखता है, इसमें देवदत्त एवं कलम से लिखने की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। प्रस्तुत सूत्र में उसका गुण-गुणी की दृष्टि से उल्लेख किया गया है, अतः यहां उसकी अभिन्नता ही दिखाई गई है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा ज्ञानवान है। उसमें सत्ता रूप से अनन्त ज्ञान स्थित है। परन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से उसकी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। उक्त कर्म का जितना क्षय एवं क्षयोपशम होता रहता है, आत्मा में उतना ही ज्ञान का प्रकाश फैलता रहता है। जब उक्त कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा में पूर्ण ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है। ज्ञान के इस विकास को पांच प्रकार का माना गया है—1—मति ज्ञान, 2—श्रुतज्ञान, 3—अवधिज्ञान, 4—मनः-पर्यवज्ञान और 5—केवलज्ञान। जिस व्यक्ति के जीवन में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है, उसमें भी ज्ञान का सद्भाव होता है। परन्तु, मोह कर्म के उदय से वह ज्ञान सम्यक् नहीं, मिथ्या ज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद किए गए हैं—1—मति अज्ञान, 2—श्रुत अज्ञान, 3—विभंग ज्ञान। इस ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पदार्थों को जानता है और वह (ज्ञान) सदा-सर्वदा आत्मा के साथ संबद्ध रहता है। इसलिए उसे आत्मा कहा है।

आत्मविकास में सम्यग् ज्ञान ही कारणभूत है। उसी के द्वारा साधक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर संयम को स्वीकार करता है और रत्नत्रय की शुद्ध आराधना करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अतः साधक को आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान पर पड़े हुए आवरण को क्षय करके निरावरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥



पंचम अध्ययन : लोकसार

षष्ठ उद्देशक

पंचम उद्देशक में आचार्य को जलाशय के समान बताया गया है। जलाशय के समीप रहने वाले, अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न आचार्य के सान्निध्य में रहने वाले शिष्य रत्नत्रय को प्राप्त करके संयम-साधना में संलग्न रहते हैं और उसके द्वारा पूर्ण शान्ति को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत उद्देशक में शिष्यों के जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा
एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे,
तस्सन्नी, तन्निवेसणे॥167॥

छाया—अनाज्ञया एके सोपस्थानाः आज्ञायामेके निरुपस्थानाः अयं ते
माभूत्, एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्टिः, तनमुक्तिः, तत्पुरस्कारः, तत्संज्ञी,
तन्निवेशनः।

पदार्थ—एगे—कई एक व्यक्ति। अणाणाए—जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के बिना। सोवट्ठाणा—कुमार्ग पर चल रहे हैं। एगे—कई एक व्यक्ति। आणाए—भगवान की आज्ञा में। निरुवट्ठाणा—पुरुषार्थ नहीं करते। एयं—ये दोनों—कुमार्ग में पुरुषार्थ और सन्मार्ग में आलस्य। ते मा होउ—तुम्हारे में न हों। एयं—ऐसा। कुसलस्स—तीर्थकर भगवान का। दंसणं—दर्शन—मन्तव्य है, उनका आदेश है कि। तद्दिट्ठीए—शिष्य को आगम एवं आचार्य की दृष्टि—आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। तम्मुत्तीए—आचार्य की आज्ञा के अनुसार करना चाहिए। तस्सन्नी—आचार्य की भांति सदा ज्ञान में संलग्न रहना चाहिए। तन्निवेसणे—शिष्य को सदा आचार्य एवं गुरु के सान्निध्य में रहना चाहिए।

मूलार्थ—कुछ लोग भगवान की आज्ञा के विपरीत कुमार्ग पर चलते हैं। कुछ

साधक भगवान की आज्ञा का परिपालन करने में आलस्य करते हैं। परन्तु जिनेश्वर भगवान का आदेश है कि साधक के जीवन में ये दोनों दोष—कुमार्ग में पुरुषार्थ एवं सन्मार्ग में आलस्य न रहे। विनीत शिष्य को इन दोषों का त्याग करके गुरु की दृष्टि—आज्ञा से उनके समान निर्लोभ वृत्ति से संयम का पालन करना चाहिए। आचार्य एवं गुरु की तरह सदा ज्ञान-साधना में संलग्न रहना चाहिए और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से करना चाहिए। शिष्य को सदा आचार्य एवं गुरु के सान्निध्य में रहना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के अभाव में जीवन में धर्म का उदय नहीं हो सकता और विनय की आराधना आज्ञा में है। इसलिए आगम में कहा गया है कि आज्ञा का पालन करने में धर्म है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि जो व्यक्ति आगम एवं आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह आत्मा का विकास करते हुए एक दिन अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है और जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा के विपरीत मार्ग पर चलता है, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने में आलस्य करता है वह व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। अतः विनीत शिष्य को उक्त दोनों दोषों का त्याग करके सदा तीर्थंकर भगवान एवं उनके शासन के संचालक आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। उसे सदा ज्ञान-साधना एवं संयमपालन में संलग्न रहना चाहिए और उसे प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

इस तरह के आचरण से साधक के जीवन में किस गुण का विकास होता है, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू निरालंवणयाए जे महं अबहिमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहममइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा॥168॥

छाया—अभिभूय अद्राक्षीत् अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बतायाः य महान् अबहिर्मनाः प्रवादेन प्रवादं जानीयात् सह सन्मत्या परव्याकरणेन अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा।

पदार्थ—अभिभूय—परीषहों को जीतकर। अदक्खू—चारों घातिक कर्मों को क्षय करके तत्त्व को देखता है, और। **अणभिभूए**—अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों के आने पर भी पराभूत नहीं होता। **निरालंबणयाए**—माता-पिता आदि के आलम्बन से रहित हो कर। **पभू**—संयम पालन में समर्थ है। **जे—जो**। **महं**—महापुरुष—लघुकर्म वाला है, उसका। **अबहिमणे**—मन तीर्थकर भगवान की आज्ञा से बाहर नहीं जाता है। **पवाएण**—आचार्य परम्परा से। **पवायं**—प्राप्त सर्वज्ञ उपदेश को। **सहसंमइयाए**—सन्मति से या। **परवागरणेणं**—तीर्थकर आदि के उपदेश से, या। **अन्नेसिं अन्तिए**—अन्य आचार्य के सान्निध्य से। **सुच्चा**—सुनकर। **जाणिज्जा**—जाने, अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से परिज्ञात होवे।

मूलार्थ—जो साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके तत्त्व का द्रष्टा होता है और माता-पिता एवं परिजनों के आलम्बन से रहित होकर संयम पालन में समर्थ है, वह भगवान की आज्ञा से बाहर नहीं होता। आचार्य परंपरा से सर्वज्ञ के सिद्धांत को जानकर और सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य मत की परीक्षा करके, सन्मति—शुद्ध एवं निष्पक्ष बुद्धि से, तीर्थकरों के उपदेश से या आचार्य के सान्निध्य से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक विकास का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से घबराता नहीं है, वही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस, शक्ति एवं श्रद्धा—निष्ठा का होना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है एवं उन पर पूर्ण विश्वास है, वही व्यक्ति कठिनाई के समय भी अपने संयम मार्ग से विचलित नहीं होता और माता-पिता एवं अन्य परिजनों के आलम्बन की भी आकांक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह जानता है कि उनका जीवन आरंभमय है। अतः उनके आश्रय में जाने का अर्थ है—आरंभ-समारंभ को बढ़ावा देना और इस प्रवृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है तथा संसार परिभ्रमण बढ़ता है। इस बात को जानने वाला एवं उस पर श्रद्धा—निष्ठा रखने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का परिपालन कर सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ के वचनों में परस्पर विरोध नहीं होता और वे प्राणिजगत के हित को

लेकर कहे गए हैं। इसलिए सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी के वचनों पर श्रद्धा नहीं होती। वह उसके आधार पर अन्य मत की परीक्षा करता है और हेय-उपादेय की पहचान करके हेय का त्याग करता है और उपादेय को स्वीकार करता है। जैसे—जैनगमों में शब्द पौद्गलिक माना है और नैयायिक-वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है, क्योंकि शब्द रूपवान है और आकाश रूप रहित है। रूप रहित पदार्थ का गुण रूप युक्त पदार्थ हो नहीं सकता। इसलिए शब्द भी रूपवान होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। आज के वैज्ञानिक अविष्कारों ने भी शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ के वचनों में असत्यता नहीं होती।

इस प्रकार साधक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के अनुरूप संयम का पालन करते हैं। पदार्थों का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—1—सन्मति से—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से सन्मति प्रस्फुटित होती है और उससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। 2—तीर्थंकर के उपदेश से और 3—आचार्य के उपदेश से भी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए, इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निर्देशं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिण्णाय, इह आरामं परिण्णाए अल्लीणे गुत्ते परिव्वए निट्ठियठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्तिबेमि॥169॥

छाया—निर्देशं नातिवर्तेत मेधावी सुप्रतिलेख्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यक् समभिज्ञाय इह आरामं परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा पराक्रमेयाः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मेहावी—बुद्धिमान साधु। निर्देशं—तीर्थंकरादि के उपदेश को। नाइवट्टेज्जा—अतिक्रम न करे—उल्लंघन न करे। सुपडिलेहिया—भली प्रकार से प्रतिलेखन कर, फिर। सव्वओ—सर्व प्रकार से—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। सव्वप्पणा—सर्वात्मना—सामान्य विशेष रूप से पदार्थों का पर्यालोचन करके। सम्मं—सम्यक् प्रकार से। समभिण्णाय—सम्यग्वाद और मिथ्यावाद को जानकर,

मिथ्यावाद का निराकरण करे, फिर। इह—इस मनुष्यलोक में। आरामं—आराम—संयम स्थान को (जानकर) स्वीकार करके। अल्लीणे गुप्ते—जितेन्द्रिय होकर। परिव्वए—सर्व प्रकार से संयमानुष्ठान में विचरे। निट्ठयठी—मोक्षार्थी। वीरे—कर्म विदारण में समर्थ—वीर। आगमेण—सर्वज्ञ प्रणीत आचार द्वारा। सया—सदा। परक्कमे—मोक्ष मार्ग में पराक्रम करे।

मूलार्थ—बुद्धिमान साधु भगवदुपदेश का उल्लंघन न करे तथा सम्यक् एवं सर्वप्रकार के सामान्य और विशेष रूप से पदार्थों के स्वरूप को जानकर परवाद—मिथ्यावाद का निराकरण करे, और इस मनुष्यलोक में, आराम—संयम को स्वीकार करके जितेन्द्रिय होकर विचरे, तथा मोक्षार्थी कर्म विदारण में समर्थ सदा सर्वज्ञ-प्रणीत आचार द्वारा मोक्षमार्ग में पराक्रम करे।

हिन्दी-विवेचन

हम यह देख चुके हैं कि आत्मविकास का मूल सम्यक्त्व—श्रद्धा है। जब साधक को सर्वज्ञ प्रणीत आगम पर श्रद्धा—निष्ठा होती है, तो वह उस उपदेश को जीवन में स्वीकार कर सकता है। फिर भी, किसी भी स्थिति में आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता और श्रुतज्ञान के द्वारा हेय-उपादेय के स्वरूप को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह आरम्भ-समारम्भ से मुक्त होकर संयम-साधना में संलग्न होता है।

संयम-साधना में वही संलग्न होता है, जिसके मन में कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की अभिलाषा है। मोक्षार्थी व्यक्ति इस बात को भली-भांति जानता है कि आरम्भ-समारम्भ, विषय-भोग में आसक्ति आदि संसार परिभ्रमण के कारण हैं और इनमें संलग्न व्यक्ति का मन सदा अशान्त रहता है। इसलिए पूर्ण समाधि एवं शान्ति का इच्छुक व्यक्ति ही संयम का परिपालन कर सकता है।

इस उपदेश की आवश्यकता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।

एए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह॥13॥

छाया—ऊर्ध्व श्रोतांसि अधः श्रोतांसि तिर्यक् श्रोतांसि, व्याहितानि, एतानि श्रोतांसि व्याख्यातानि, यैः संगमिति पश्यत।

पदार्थ—सोया—कर्म आने के मार्ग। उड्डं—ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों में विषय वासना रूप हैं। अहे—नीचे के लोक में—भवनपति आदि देवों में। सोया—विषय-वासना आदि रूप कर्म स्रोत हैं। तिरियं सोया—तिर्यक्-व्यन्तर और मनुष्यादि में विषय-वासना रूप कर्म स्रोत। वियाहिया—कथन किए हैं। तथा ऊंचे पर्वतादि में, नीचे-गुफा आदि में और तिर्यक् आरामादि में कर्म स्रोत कथन किए गए हैं। एए—ये। सोया—स्रोत। विअक्खाया—वर्णन किए गए हैं। जेहिं—जिनके। संगति—संग से प्राणी पापकर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, इति शब्द हेतु अर्थ में आया हुआ है।

मूलार्थ—ऊंची दिशा में, नीची दिशा में और तिर्यक् दिशा में कर्मस्रोत—विषय वासना रूप—वर्णन किए गए हैं। वर्णन किए गए इन कर्मस्रोतों को हे शिष्यो! तुम देखो! इन कर्मस्रोतों के संग से प्राणी पाप कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं।

हिन्दी-विवेचन

संयम का विशुद्ध पालन करने के लिए साधक को आस्रव द्वार—कर्म आगमन के स्रोत से भस्मी-भांति परिचित होना चाहिए। कर्मबन्ध के कारण को जानने वाला साधक उनसे बच सकता है। परन्तु जो उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है, वह कर्मबन्ध के प्रवाह में बह जाता है। अतः उससे बचने के लिए साधक को सबसे पहले आस्रव द्वार को रोकना चाहिए।

आगम में आठ प्रकार के कर्म बताए गए हैं। परन्तु, इन सबमें मोह कर्म की प्रधानता है। यह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है और सम्यग्दर्शन एवं चारित्र को आवृत्त रखता है। इसके उदय से जीव विषय-वासना में संलग्न रहता है और परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसी कारण मोह कर्म को कर्म का स्रोत कहा है। यह ऊर्ध्व, अधो एवं मध्य लोक में सर्वत्र फैला हुआ है। तीनों लोकों में स्थित जीव इसी कर्म के उदय से विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं और उससे पाप कर्म का बन्ध करके संसार में भटकते फिरते हैं। अतः संयमनिष्ठ साधक को बार-बार विषय-वासना से निवृत्त होकर साधना में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज, वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिण्णाय॥170॥

छाया—आवर्त्त तु उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेत् वेदवित् विनेतुं स्रोतः निष्क्रम्य एष महान् अकर्म्मा जानाति पश्यति प्रत्युत्प्रेक्ष्य नाकांक्षति इह आगतिं गतिं परिज्ञाय ।

पदार्थ—तु—वितर्क अर्थ में। आवट्टं—राग-द्वेष और विषय रूप आवर्त्त में। पेहाए—विचार कर। इत्थ—इस आवर्त्त विषयक। मेहावी—आगम के जानने वाला। विरमिज्ज—निवृत्ति करे। सोयं—स्रोत के। विणइत्तु—दूर करने के लिए। निक्खम्म—दीक्षा लेकर, पुरुषार्थ—प्रयास करे। एस—यह प्रत्यक्ष। महं—महापुरुष। अकम्मा—चार धातिकर्मों से रहित होने पर। जाणइ—विशेष रूप से जानता है। पासइ—सामान्य रूप से देखता है किन्तु, फिर। पडिलेहाए—पदार्थों के स्वरूप को जानकर-अर्थात् प्रतिलेखन कर। नावकंखइ—सत्कारादि की अभिलाषा नहीं करता। इह—इस मनुष्य लोक में। आगइं—प्राणियों का आगति—आगमन। गइं—गति—गमन को। पडिलेहाए—पर्यालोचन करके, परिन्नाय—संसार के कारण को ज्ञान से जानकर प्रत्याख्यान से त्यागकर संसार से विमुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वेदवित्—ज्ञानवान् पुरुष, संसार के कारणभूत भाव स्रोत का विचार कर उसे छोड़ देता है। भाव स्रोत को दूर करने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करता है, अर्थात् प्रव्रज्या के द्वारा भाव स्रोत का निरोध करता है। यह महापुरुष चार प्रकार के धातिकर्मों का क्षय करके संसारवर्ती पदार्थों को जानता और देखता है—विशेष रूप से जानता और सामान्य रूप से देखता है। फिर वह किसी प्रकार के मान-सत्कार की इच्छा नहीं करता, किन्तु इस लोकवर्ती जीवों के गमनागमन को देखकर और उनके मूल कारणों को जानकर, उनका निराकरण करता है।

हिन्दी-विवेचन

आत्मा में स्थित अनन्त चतुष्टय—1—अनन्त ज्ञान, 2—अनन्त दर्शन, 3—अनन्त शक्ति और 4—अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिए पहले कर्म स्रोत को रोकना

आवश्यक है। अभिनव कर्मों के आगमन को रोके बिना ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता। इसके लिए साधक संयम—दीक्षा को स्वीकार करता है। संयम के द्वारा कर्मों का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आबद्ध कर्मों का क्षय करता है। इस तरह चार घातिक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बनता है। इस तरह संयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसके मन में किसी तरह की आकांक्षा नहीं रह जाती है। वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं से रहित होकर अपने आत्मस्वरूप में रमण करता है। उस के ज्ञान में सब कुछ स्पष्ट रहता है। संसार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र में वेदवित् एवं अकर्मा कहा गया है।

इस तरह संसार परिभ्रमण के कारणों का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

✓ मूलम्—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्ठंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्ठे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिदे न सुक्किल्ले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने अवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि॥171॥

छाया—अत्येति जातिमरणस्य वर्तमार्गं व्याख्यातरतः सर्वस्वराः निवर्तन्ते तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः स न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमंडलो न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो न तिक्तो न कटुको न कषायो नामलो न मधुरो न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो न उष्णो न स्निग्धो न रुक्षो न कायवान् न रुहो न संगो न स्त्री, न पुरुषो न

अन्यथा परिज्ञः, संज्ञः, उपमा न विद्यते अरूपिणी सत्ता अपदस्य पदं नास्ति।

पदार्थ—जाई—जन्म। मरणस्स—मरण के। वट्टमगं—मार्ग के कारण कर्मों का। अच्चेइ—अतिक्रम करता है। विक्खायरए—मोक्ष में रत है। सव्वे—सर्व। सरा—स्वर। नियट्ठंति—वहां पर नहीं है—अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति नहीं है, तथा वाच्य वाचक सम्बन्ध भी नहीं है। जत्थ—जहां पर। तक्का—तर्क। न विज्जइ—विद्यमान नहीं है। तत्थ—वहां पर। मई—मति—मतिज्ञान। न गहिया—ग्राहक नहीं है, अर्थात् मति का वहां पर कोई भी प्रयोजन नहीं है। ओए—केवल कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान हैं। अपइट्ठाणस्स—औदारिक शरीर वा कर्म अप्रतिष्ठान—मोक्ष का जो। खेयन्ने—खेदज्ञ—निपुण वा क्षेत्रज्ञ है। से—वह परम पद का अध्यासी, सिद्ध आत्मा ज्ञानदर्शनोपयुक्त है और संस्थान की अपेक्षा से न दीर्घ है। न हस्से—न ह्रस्व है। न वट्टे—न वृत्त—वर्तुलाकार है। न तंसे—न त्रिकोण है। न चउरंसे—न चतुष्कोण है—। न परिमंडले—न परिमंडल संस्थान वाला है, तथा वर्ण की अपेक्षा। न किण्हे—न कृष्ण वर्ण वाला है। न नीले—न नील वर्ण वाला है। न लोहिए—न लोहित है। न हालिदे—न पीत है—पीले वर्ण वाला है। न सुक्किल्ले—न शुक्ल—श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा। न सुरभिगंधे—न सुगन्ध वाला है। न दुरभिगंधे—न दुर्गन्ध वाला है—रस की अपेक्षा। न तित्ते—न तिक्त है। न कडुए—न कटुक है। न कसाए—न कषाय रस वाला है। न अबिले—न खट्टा है। न महुरे—न मधुर है, स्पर्श की अपेक्षा। न कक्खडे—न कर्कश स्पर्श वाला है। न मउए—न मृदु स्पर्श—कोमल स्पर्श वाला है। न गरुए—न गुरु—भारी है। न लहुए—न लघु—हल्का है। न उण्हे—न उष्ण है। न सीए—न शीत है। न निद्धे—न स्निग्ध है। न लुक्खे—न रुक्ष है। न काऊ—न काय वा लेश्या से युक्त है। न रुहे—कर्म बीज के अभाव से जिसका पुनर्जन्म नहीं होता। न संगे—अमूर्त होने से जिसको किसी का संग नहीं। न इत्थी—जो न स्त्री है। न पुरिसे—न पुरुष है। न अन्नहा—न नपुंसक है। परिन्ने—परिज्ञ है सर्वात्म प्रदेशों का ज्ञाता है। सन्ने—संज्ञ है—अर्थात् ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त है—सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी है। उवमा न बिज्जए—उसके—सिद्धात्मा के सुख की किसी पदार्थ से उपमा नहीं दी जा सकती। अरुवी सत्ता—वह अरूपी सत्ता है। अपयस्स—उसकी कोई भी अवस्था विशेष नहीं है, अतः। पयं—उसकी नियत अवस्था। नत्थि—नहीं

है। तात्पर्य यह कि अपद का पद नहीं होता, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं, जिससे उसका निरूपण किया जा सके।

मूलार्थ—वह जन्म-मरण के मार्ग को अतिक्रम करने वाला है, मोक्ष में रत है। मोक्ष या मोक्ष के सुख का शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, तर्क उसमें काम नहीं करता, मति का वहां प्रयोजन नहीं, अर्थात् मति के द्वारा वहां विकल्प उत्पन्न नहीं किया जा सकता, ऐसा केवल शुद्ध चैतन्य और ज्ञान, दर्शन तथा अक्षय सुख एवं अनन्त शक्तिमय सिद्ध भगवान है! जो कि अप्रतिष्ठान नाम मोक्ष का ज्ञाता और परमपद का अध्यासी है तथा संस्थान की अपेक्षा से वह—सिद्ध भगवान न दीर्घ है—न ह्रस्व; न वृत्ताकार है, न त्रिकोण, एवं न चतुष्कोण है, न परिमंडल के आकार—चूड़ी के आकार वाला। वर्ण की अपेक्षा से न कृष्ण है, न नीला; लाल है न पीला और न ही श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा से न सुगन्ध युक्त है और न ही दुर्गन्धवाला है, रस की अपेक्षा से न तिक्त है न कटुक, न कषाय न खट्टा और न मधुर है एवं स्पर्श की अपेक्षा से वह न तो कर्कश है न कोमल, तथा न लघु है न गुरु, न उष्ण है न शीत और न स्निग्ध है न रुक्ष, तथा न वह काय वाला या लेश्या वाला है, इसी तरह न तो उसका कर्म रूप बीज है और न उसको किसी का संग है, वह न तो स्त्री है और न ही पुरुष और न ही नपुंसक है, वह सामान्य और विशेष ज्ञान वाला, अवस्था विशेष से रहित, अनुपम केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप अरूपी सत्ता वाला, अक्षय सुख की राशि अनन्त शक्तियों का भंडार और ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त हुआ विराजमान है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में बताया गया है कि आस्रव का निरोध करके एवं निर्जरा के द्वारा चार घातिक कर्मों का क्षय करके आत्मा सर्वज्ञ बनता है और सर्वज्ञ अवस्था में आयु कर्म के क्षय के साथ शेष तीन—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय करके आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी मोक्ष एवं मुक्तात्मा के विषय का विवेचन किया गया है।

मोक्ष उस स्थिति का नाम है, जिसमें साधक समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। अब उसके लिए कुछ भी करना अवशेष नहीं रह जाता है। फिर आत्मा

सब प्रकार की बाधा—पीड़ाओं एवं कर्म तथा कर्मजन्य उपाधि से रहित हो जाता है; निरावरण ज्ञान एवं अनन्त आत्मा सुख में रमण करता हुआ सदा-सर्वदा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। यह अक्षय सुख वाला है, समस्त कर्मों से रहित है, अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं शक्ति से संपन्न है।

उसके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति किसी शब्द में नहीं है। उसके वर्णन करने में समस्त स्वर अपनी सामर्थ्य खो देते हैं, क्योंकि शब्दों के द्वारा उसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, जिसका कोई रूप हो, रंग हो या उसमें अन्य भौतिक आकार-प्रकार हो। परन्तु शुद्ध आत्मा इन सब गुणों से रहित है। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि का सर्वथा अभाव है। वहां आत्मा के साथ किसी पौद्गलिक पदार्थ का संबन्ध नहीं है। अतः शब्दों के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। वेदों में 'नेति नेति' शब्द द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि परमात्मा के स्वरूप का शब्दों से विवेचन नहीं किया जा सकता। आत्मा—परमात्मा को मानने वाले प्रायः सभी भारतीय दर्शन इस बात में एकमत हैं।

शब्द की अपेक्षा तर्क एवं बुद्धि का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है और यह उससे भी सूक्ष्म है। इस कारण इनकी पहुंच भी शब्द से अधिक विस्तृत क्षेत्र में है। कवि एवं विचारक तर्क एवं बुद्धि की कल्पना से बहुत ऊंची उड़ानें भरने में सफल होते हैं। परन्तु मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने में तर्क एवं बुद्धि भी असमर्थ है। क्योंकि मनन-चिन्तन एवं तर्क-वितर्क आदि पदार्थों के आधार पर होता है और मुक्ति समस्त मानसिक विकल्पों से रहित है। अतः वहां तर्क एवं बुद्धि की भी पहुंच नहीं है।

वैदिक ग्रन्थों में भी ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रस हीन, नित्य और अगन्ध युक्त है; जो अनादि-अनन्त, यह तत्त्व से भी परे और ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है¹ वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि रहित, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष देखते

1. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्ते महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृत्मुखात्प्रमुच्यते॥

हैं।¹ तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—“जहां वचन की गति नहीं है और मन भी अप्राप्य है, ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की व्याख्या नहीं की जा सकती²। इसी तरह बृहदारण्यक में भी ब्रह्म को अस्थूल, असूक्ष्म, अदीर्घ, अह्रस्व आदि माना है³। निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे ही विचार मिलते हैं⁴। इस तरह इस विषय में प्रायः सबके विचारों में एकरूपता है।

मोक्ष में आत्मा सर्व कर्म मल से रहित, विशुद्ध एवं एक है। उसके साथ न कर्म है और न कर्म जन्य उपाधि है। वह सब दोषों से रहित है और दुनिया के समस्त पदार्थों का ज्ञाता एवं द्रष्टा है। निष्कर्ष यह निकला कि मोक्ष में स्थित आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल संस्थान वाला है; न कृष्ण, नील, पीत, रक्त एवं श्वेत वर्ण वाला है; न दुर्गन्ध एवं सुगन्ध वाला है; न तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रसवाला है; न गरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एवं उष्ण स्पर्श वाला है; न स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद वाला है, अर्थात् शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विशेषणों से रहित है। इसलिए मोक्ष या मुक्तात्मा को अपद कहा गया है। पद अभिधेय को कहते हैं, अतः इसका यह अर्थ हुआ कि मोक्ष का कोई भी अभिधेय नहीं है। क्योंकि वहां वाच्य विशेष का अभाव है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. यत्तद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षु, श्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभू सर्वगतं सुसूक्ष्म तदव्ययं यद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीराः॥

—मुण्डकोपनिषद् 6, 1, 6

2. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन॥

—तैत्तिरीय उपनिषद् 2; 4, 1

3. ते होवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय-
मतमोऽवायवनाकाशमसङ्गमरसमगन्धचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनेऽतेजस्कनप्रणाणमुखम-
मात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

—बृहदारण्यक उपनिषद् 3, 8, 8, 4, 5, 15

4. मज्झिमनिकाय (चूलमालुङ्क्य सुत्त) 63

संयुत्तनिकाय, 44

मूलम्—से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेव, तिबेमि॥172॥

छाया—स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः इत्येव (इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदाः स्युः) इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—वह मुक्तात्मा । न सद्दे—शब्द रूप नहीं है । न रूवे—रूप युक्त नहीं है । न गंधे—गंध रूप नहीं है । न रसे—रस युक्त नहीं है । न फासे—स्पर्श वाला नहीं है । इच्चेव—वस्तु के इतने ही भेद हो सकते हैं । तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा शब्द, रूप, गंध, रस एव स्पर्श युक्त नहीं है और रूपी वस्तु के इतने ही भेद होते हैं । ऐसा मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में विस्तार से कही गई बात को संक्षेप में कहा है और यह बताया है कि वस्तु के इतने ही भेद होते हैं । शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता । अतः इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है; अतः उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । सर्वज्ञ पुरुष भी उसका प्रत्यक्ष तो करते हैं; परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकते । क्योंकि अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और इस बात को हम देख चुके हैं कि शब्द में उसका विवेचन करने की शक्ति नहीं है । अतः उसका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है ।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझे ।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ पंचम अध्ययन लोकसार समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन : धुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम धुत अध्ययन है। धुत शब्द का अर्थ है—मल का निवारण करना। यह दो प्रकार का है—द्रव्य धुत और भाव धुत। वस्त्र आदि के मैल को दूर करके उन्हें स्वच्छ-साफ बनाने को द्रव्य धुत कहा है और परीषह एवं उपसर्गों को सहन कर अष्टकर्म मल को शुद्ध कर आन्तरिक मल को निवारण करने वाली आत्मा को भाव धुत—शुद्ध-बुद्ध कहा गया है। प्रस्तुत अध्ययन में आभ्यन्तर राग-द्वेष आदि विकार एवं बाह्य भोगोपभोग के साधन आदि के त्याग का एवं आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया का उपदेश दिया गया है। आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया को धुत शब्द से अभिव्यक्त किया जाता रहा है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसके लिए धुत शब्द का प्रयोग मिलता है। उनमें भी धुत शब्द के उक्त निर्युक्ति सम्मत अर्थ पाए जाते हैं।

भाव धुत के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्सइमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं (अवि) एगे महावीरा विपरिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने से बेमि, से जहावि (सेवि) कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मगं से नो लहइ भंजगा इव संनिवेसं नो चयंति एवं (अवि) एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभंति मोक्खं, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया।

गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं।

काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा॥14॥

उदरिं च पास मूर्यं च, सूणीयं च गिलासणिं ।
 वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं॥15॥
 सोलस्स एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो ।
 अहणं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा॥16॥
 मरणं तेसिं संपेहाए उववायं, चवणं च नच्चा, परियागं च
 संपेहाए॥17॥

छाया—अवबुध्यमानः इह मानवेषु आख्याति स नरो यस्य इमाः जातयः
 सर्वतः सुप्रत्युपेक्षिताः भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशं, स कीर्तयति तेषां
 सम्यगुत्थितानां निक्षिप्त दण्डानां समाहितानां-प्रज्ञानवताम् इह मुक्ति-मार्गं एवं
 (अपि) एके महावीराः विपराक्रमंते पश्यत एकान् अवसीदतः अनात्मप्रज्ञान
 सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा च (सोपि) कूर्मो हृदे विनिविष्टचित्तः पलाशप्रच्छन्नः
 उन्मार्गमसौ न लभते, भञ्जगाः (वृक्षाः) इव सन्निवेशं न त्यजन्ति एवं (अपि)
 एके अनेक रूपेषु कुलेषु जाताः रूपेषु सक्ताः करुणं स्तनन्ति निदानतः ते न
 लभन्ते मोक्षम्, अथ पश्य! तेषु कुलेषु आत्मत्वाय जाताः गण्डी अथवा कुष्ठी
 राजाँसी अपस्मारः काणत्वं जाड्यता चैव कुणिः कुब्जी तथा उदरिं च पश्य
 मूकं च शूनत्वं च गिलासणिं (भस्मकोव्याधिः) वेपन्ति (कम्पमानम्) पीढसर्पित्वं
 च श्लीषदत् मधुमेहिनम् षोडशाऽप्येते रोगाः आख्याताः अनुपूर्वशः अथ (णं)
 स्पृशन्ति आतंकाः स्पर्शाश्च असमंजसाः! मरणं तेषां संप्रेक्ष्य—उपपातं, च्यवनं
 च ज्ञात्वा परिपाकं च सम्प्रेक्ष्य ।

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक में। माणवेसु—मनुष्यों में। ओबुज्झमाणे—स्वर्ग,
 अपवर्ग और संसार के कारणों को जानता हुआ। से—वह। नरे—मनुष्य। आघाइ—धर्म
 कहता है। जस्स—जिसके। इमाओ—ये—शस्त्र परिज्ञाध्ययन में कथन की गई।
 जाइओ—एकेन्द्रियादि जातियां। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सुपडिलेहियाओ—
 सुप्रतिलेखित। भवंति—होती हैं, तथा वही अर्थात् केवली, श्रुतकेवली या अतिशय
 ज्ञान युक्त व्यक्ति। आघाइ—धर्म का कथन करता है। से—वह—तीर्थंकर, केवली
 या श्रुतकेवली, जिसका। नाणमणेत्तिसं—ज्ञान अन्य स्थानों में नहीं है, अर्थात्
 अनीदृश ज्ञान है। से—वह। किट्ठइ—कहता है। किनको कहता है? तेसिं—उनको

जो। समुद्रियाणं—धर्म ग्रहण करने के लिए उत्थित हैं। निस्त्रिस्त दंडाणं—मन-वचन और काय दंड को जिन्होंने छोड़ दिया है। समाहियाणं—जो तप-संयमादि में समाहित—उद्यत हैं। पन्नाणमंताणं—जो प्रज्ञान वाले हैं। इह—इस मनुष्य लोक में। मुत्तिमग्गं—मुक्तिमार्ग का प्रकाश करते हैं। एवं—इस प्रकार। एगे—तीर्थकरादि धर्म कहते हैं, फिर। महावीरा—वीर पुरुष तीर्थकर भाषित धर्म में। विप्परिक्कमंति—पराक्रम करते हैं, तथा। एगे—कई एक। अवसीयमाणे—अवसीदित हुए—मोह कर्म के प्राबल्य से जो संयम से गिरते हैं, उनको। पासह—हे शिष्य! तू देख। अणत्तपन्ने—अनात्मप्रज्ञ—जिनकी आत्मा के लिए हित बुद्धि नहीं है। से बेमि—हे शिष्य! वह जो धर्म से गिरता है, उसके विषय में फिर मैं कहता हूँ। से—अब। जहावि—जैसे कि—यहां अपि शब्द च शब्द के अर्थ में आया है। कुम्मे—कछुआ। हरए—हृद में—सरोवर में। विणिविट्ठचित्ते—अत्यन्त एकाग्र चित्त होकर ठहरता है, तथा जो सरोवर। पच्छन्नपलासे—वृक्षों के पत्र गिरने से आच्छादित हो रहा है। उम्मग्गं—निकलने का मार्ग। से—वह—कछुआ। नो लहइ—प्राप्त नहीं कर सकता, इसी प्रकार संसारी जीव संसार सरोवर में पड़ा हुआ उससे बाहर निकलने का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता, जो संसारी जीव। भंजगा इव—वृक्षों की तरह। संनिवेसं—स्व स्थान को। नो चयंति—नहीं छोड़ते (वे ही दुःखादि को सहते रहते हैं)। एवं—इसी प्रकार। अवि—संभावना अर्थ में है। एगे—कई एक भारी कर्मी जीव। अणेगरूवेहिं—नाना प्रकार के ऊंच-नीच। कुलेहिं—कुलों में। जाया—उत्पन्न होते हैं। रूवेहिं सत्ता—रूपादि विषयों में आसक्त हुए। कलुणं—करुणा युक्त—दीन वचन। थणंति—बोलते हैं। नियाणओ—दुःख के कारण कर्मों के बिना भोगे। ते—वे—विलाप करते हुए। मोक्खं—मोक्ष को। न लभंति—प्राप्त नहीं होते, अर्थात् बिना भोगे दुःखों से छुटकारा नहीं पाते। अथवा दुःख से छुटकारा कराने वाले संयम को धारण नहीं करते। अह—अथ शब्द वाक्योपन्यास में है। पास—हे शिष्य! तू देख। तेहिं कुलेहिं—उन कुलों में। आयत्ताए—स्वकर्म भोगने के लिए। जाया—उत्पन्न हुए हैं। अशुभ कर्म के उदय से जीव, जिस-जिस दुःखमयी अवस्था को प्राप्त होते हैं, अब उसका वर्णन करते हैं। गंडी—गण्डमाला रोग। अहवा—अथवा। कोढी—कुष्ठ रोग। रायंसी—राजक्ष्मा—क्षयरोग। अवमारियं—अपस्मार-मिरगी रोग। काणियं—एक चक्षु वाला काण्ठरोग। च—पुनः। एव—अवधारण अर्थ में है। झिमियं—जाड्यता—

शरीर के अवयवों का शून्य हो जाना। कुण्ठियं—एक पाद ह्रस्व और एक दीर्घ, अथवा एक हाथ छोटा और एक बड़ा। तथा—तथा। खुज्जियं—कुब्ज रोग। च—पुनः या समुच्चय अर्थ में जानना। उदरिं—उदर के रोग, जलोदरादि। पास—हे शिष्य तू देख! मूयं—मूक रोग गूंगापन। च—समुच्चय अर्थ में। सूणीयं—शोथरोग—सूजन। च—समुच्चय अर्थ में। गिलासणिं—भस्मरोग। वेवईं—कम्परोग। च—फिर। पीढसप्पिं—काष्ठ की पाटियों को कक्ष—कांख में रखकर उनके सहारे चलने वाला रोगी। सिलिवयं—श्लीपद रोग। महुमेहिणं—मधुमेह-प्रमेह रोग। एए—ये। अणुपुच्चसो—अनुक्रम से। सोलस—सोतह रोग। अक्खाया—कथन किए हैं। णं—वाक्यालंकार अर्थ में है। अह—अथ तदनन्तर। आयंका—शूलादि आतंक—भयंकर रोग। फुसंति—स्पर्श करते हैं। य—और इनके। फासा—स्पर्श। असमंजसा—असमंजस हैं। तेसिं—उन भारी कर्मा जीवों की, रोगों के स्पर्श से। मरणं—मृत्यु को। संपेहाए—विचार कर। च—और। उववायं—देवों के उपपात और। चवणं—च्यवन को। नच्चा—जानकर। च—और। परियागं—कर्मों के परिपाक को। संपेहाए—पर्यालोचन करके।

मूलार्थ—इस मनुष्य-लोक में सद्बोध को प्राप्त हुआ पुरुष ही अन्य मनुष्यों के प्रति धर्म का कथन करता है अथवा वह श्रुतकेवली जिसके शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कथन की गई सर्व प्रकार से एकेन्द्रियादि जातियाँ सुप्रतिलेखित हैं या तीर्थकर, केवली तथा अतिशय ज्ञानी पुरुष धर्म का उपदेश करते हैं।

प्रश्न—वे किस व्यक्ति को धर्म कहते हैं?

उत्तर—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है, जिसने मन-वचन और काय के दण्ड को त्याग दिया है, समाधि को प्राप्त है, बुद्धिमान है, वह उसे मुक्ति मार्ग का उपदेश करता है। इसी प्रकार कई एक वीर पुरुष धर्म को सुनकर संयम मार्ग में पराक्रम करते हैं। हे शिष्य! तू देख! आत्मा का हित न चाहने वाले कई पुरुष धर्म से गिरते हैं। हे शिष्यो! मैं कहता हूँ, जैसे वृक्ष के पत्तों से आच्छादित हृद—सरोवर में निमग्न हुआ कछुआ वहां से निकलने का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार गृहवास में आसक्त जीव वहां से निकलने में समर्थ नहीं हो सकता, मोहावरण के कारण वे जीव धर्मपथ को नहीं देख सकते। जैसे वृक्ष शीतोष्णादि कष्टों को सहन करता हुआ भी अपने स्थान को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार भारी कर्म

वाले जीव भी अनेक ऊंच-नीच कुलों में जन्म धारण कर नाना प्रकार के रूपादि विषयों में आसक्त हुए नाना विध कर्मों के कारण नाना प्रकार की दुःख वेदनाओं को भोगते हुए अनेक प्रकार के दीन वचन कहते हैं। परन्तु, वे कर्म फल को भोगे बिना कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो सकते और संसार से छूटने के उपाय का भी अन्वेषण नहीं करते। सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे शिष्यो! तुम देखो कि वे ऊंच-नीच कुलों में उत्पन्न होने वाले जीव निम्नलिखित रोगों द्वारा असह्य वेदना को प्राप्त होते हैं। यथा—1—गंडमाला, 2—कुष्ठ, 3—राजयक्षा, 4—अपस्मार—मिरगी, 5—काणत्व, 6—जड़ता—शून्यता, 7—कुणित्व—लुंजपन, 8—कुब्जता—कुबड़ापन, 9—मूकता—गूंगापन, 10—उदर रोग—जलोदरादि, 11—शोथ—सूजन, 12—भस्मरोग, 13—कम्पवात, 14—गर्भ दोष से उत्पन्न हुआ रोग, जिससे प्राणी बिना लाठी के चलने में असमर्थ होता है, 15—श्लीपद, 16—मधुमेह। सोलह प्रकार के इन रोगों का अनुक्रम से कथन किया है। जब शूलादि का स्पर्श होता है, तब बुद्धि असंमंजस, अर्थात् अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः देवों के उपपात और च्यवन को तथा उक्त प्रकार के रोगों द्वारा होने वाली मनुष्यों की मृत्यु को देख कर एवं कर्मों के विपाक को लक्ष्य में रख कर साधक को संयम-साधना द्वारा जन्म-मरण से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञान आत्मा का गुण है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान की सत्ता स्थित है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म के कारण बहुत-सी आत्माओं का ज्ञान प्रच्छन्न रहता है। ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षय या क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान आत्मा में प्रकट होता रहता है। जब आत्मा पूर्ण रूप से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर डालती है, तब उसे पूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे संसार का कोई भी पदार्थ प्रच्छन्न नहीं रहता। वह महापुरुष अपने ज्ञान से संसार परिभ्रमण के कारण एवं उससे मुक्त होने के साधन को जान लेता है। अतः ऐसा महापुरुष ही धर्म का यथार्थ उपदेश दे सकता है। इसी कारण जैन धर्म में तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ भगवान को उपदेष्टा माना गया है। छद्मस्थ साधकों का उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित प्रवचन या आगम के आधार पर होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ सभी पदार्थों के

यथार्थ स्वरूप को देखते हैं, इसलिए उनके उपदेश में कहीं भी विपरीतता नहीं आ पाती। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने से उनका उपदेश प्राणिजगत के लिए हितप्रद एवं कल्याणकारी होता है।

सर्वज्ञ पुरुष राग-द्वेष के विजेता होते हैं। अतः उनके उपदेश में भेद-भाव नहीं होता। त्यागी—भिक्षु वर्ग एवं भोगी—गृहस्थ वर्ग हो, धनी या निर्धन हो, छूत या अछूत हो, स्त्री या पुरुष हो, कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, सबको उपदेश सुनने का अधिकार है। जैन धर्म में जाति, लिंग, देश, रंग आदि को महत्त्व नहीं दिया गया है, महत्त्व दिया गया है गुणों को, आचरण को। प्रत्येक वर्ग, जाति एवं देश का व्यक्ति अपने आचरण को शुद्ध बनाकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। अतः धर्मनिष्ठा एवं जिज्ञासा की भावना लेकर सुनने वाला व्यक्ति—भले ही वह किसी भी जाति, रंग एवं देश का क्यों न हो, अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। इस प्रकार श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति वीतराग प्रभु का प्रवचन सुनकर अपने जीवन को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त करके तप, संयम एवं ज्ञान साधना में लगा देते हैं। अतः वे महापुरुष दंड से सर्वथा निवृत्त होकर श्रुतसम्पन्न बनकर त्यागपथ पर गतिशील होते हैं।

परन्तु, सभी श्रोताओं का जीवन एक समान नहीं होता है। कुछ श्रद्धानिष्ठ प्राणी भगवान का प्रवचन सुनकर तप-संयम के द्वारा कर्म-बन्धन तोड़ने का प्रयत्न करते हैं और प्रतिक्षण निष्कर्म बनने की साधना में संलग्न रहते हैं। किन्तु, कुछ व्यक्ति मोह कर्म से इतने आवृत होते हैं कि त्याग-वैराग्य के पथ पर भली-भाँति चल नहीं सकते। वे कायर पुरुष विषय-भोग एवं पदार्थों की आसक्ति को त्याग नहीं सकते। जैसे शैवाल से आच्छादित सरोवर में स्थित कछुआ उक्त सरोवर से बाहर निकलने का मार्ग जल्दी नहीं पा सकता। उसी प्रकार मोह कर्म से आवृत व्यक्ति संसार-सागर से ऊपर नहीं उठ सकता, तप-त्याग की ओर पग नहीं बढ़ा सकता। तप-संयम की साधना के लिए मोह कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना आवश्यक है।

इस प्रकार विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति कर्मबन्धन एवं कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहने के कारण वे पाप कर्म का बन्ध करते हैं और परिणामस्वरूप दुःख के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं। वे जन्म-मरण के दुःख एवं व्याधियों से संतप्त रहते हैं। यों तो

रोग—व्याधियों की कोई परिमित संख्या नहीं है। फिर भी प्रमुख रोग 16 प्रकार के माने गए हैं। उनका नाम-निर्देश करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—

1—गंडमाला—यह रोग वात, पित्त, कफ और इन तीनों का सन्निपात, इस प्रकार यह चार प्रकार का होता है। लोक भाषा में इसे कंठमाला कहते हैं। इसमें सन्निपात असाध्य रोग माना गया है।

2—कुष्ठरोग—यह रोग अठारह प्रकार का होता है। इसमें सात प्रकार के महा-कुष्ठ—असाध्य और ग्यारह प्रकार के क्षुद्र—सामान्य कुष्ठ होते हैं। 1—अरुण, 2—उदुम्बर, 3—निश्यजिह्व, 4—कपाल, 5—काकनाद, 6—पौंडरीक और 7—दद्रु ये महाकुष्ठ हैं। 1—स्थूलासत्व, 2—महाकुष्ठ, 3—एक कुष्ठ, 4—चर्मदल, 5—परिसर्प, 6—विसर्प, 7—सिध्म, 8—विचर्चिका, 9—पिष्टिम, 10—पामा, 11—शतारुक ये क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।

3—राजयक्ष्मा—इसे क्षय रोग या टी.बी. भी कहते हैं। यह रोग पेशाब-टूट्टी आदि के रोकने से, धातु क्षय से, अत्यन्त साहस एवं शक्ति का काम करने से तथा विषम भोजन से होता है।

4—अपस्मार—इस रोग में स्मृति के ऊपर आवरण-सा आ जाता है। इस रोग में रोगी को मूर्छा आ जाती है। इसे लोक भाषा में मिरगी एवं अँगरेजी में हिस्टेरिया की बीमारी भी कहते हैं।

5—काणत्व—एक आंख की रोशनी का चला जाना। यह रोग गर्भ में भी हो जाता है और जन्म के बाद भी हो जाता है।

6—जाड्यता—इस रोग में शरीर संचालन क्रिया से शून्य हो जाता है।

7—कुणि—इस रोग में एक पैर या एक हाथ बड़ा और दूसरा पैर या हाथ छोटा हो जाता है।

8—कुब्जरोग—इसमें पीठ पर कूबड़ उभर आता है।

9—उदररोग—यह रोग वात-पित्त आदि के प्रकोप से होता है। यह आठ प्रकार का होता है—1—जलोदर, 2—वातोदर, 3—पित्तोदर, 4—कफोदर; 5—कंठोदर, 6—प्लीहोदर 7—उदर और 8—बद्ध गुदोदर।

10—मूकरोग—इस रोग के कारण मनुष्य गूंगा हो जाता है। वह बोल नहीं सकता। यह 65 प्रकार का है और 7 स्थानों में होता है। वे स्थान ये हैं—1—आठ ओष्ठ के, 2—पन्द्रह दन्त मूल के, 3—आठ दांतों के, 4—पांच जिह्वा के, 5—नौ ताल के, 6—सत्रह कण्ठ के और 7—तीन सब स्थानों के, इस प्रकार कुल मिलाकर 65 प्रकार के होते हैं।

11—शून्यत्व—इसमें अंगोपांग शून्य हो जाते हैं। यह रोग वात, पित्त, श्लेष्म, सन्निपात, रक्त और अतिघात से उत्पन्न होता है।

12—भस्मक—यह रोग वात-पित्त की अधिकता एवं कफ की कमी से होता है। इसमें भूख अधिक लगती है, भोजन करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती।

13—कंपरोग—इससे शरीर कांपता रहता है। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है।

14—पीठसर्पी—इस रोग में रोगी लाठी के आश्रय से ही चल सकता है।

15—श्लीपद—इस रोग में पैर बहुत बड़ा एवं भारी हो जाता है।

16—मधुमेह—इसमें मूत्र में मधु जाता है। इससे अँगरेजी में डायबिटीज या शुगर (चीनी) की बीमारी कहते हैं।

इस प्रकार विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सम्यग्ज्ञान से भोगासक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त कष्टों एवं उनसे छुटकारा पाने के स्वरूप को जानकर संयम का पालन करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान से ही साधक संयम के पथ को जान सकता है और फिर उसका आचरण करके निरावरण ज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बन सकता है। अतः साधक को सदा साधना में संलग्न रहना चाहिए। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया,
तमेव सइं असइं अइअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं
पवेइयं—संति पाणा वासगा, रसगा, उदए—उदएचरा आगास गामिणो
पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं॥174॥

छाया—तच्छृणुत यथा तथा सन्ति प्राणाः-प्राणिनः अन्धाः तमसि व्याख्याताः तामेव सकृद्, असकृद्, अतिगत्य उच्चावचान् स्पर्शान् अतिसंवेदयति बुद्धैः एतत् प्रवेदितम् सन्ति प्राणाः-प्राणिनः वासकाः रसगाः, उदके-उदकचराः, आकाशगामिनः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति पश्य! लोके महद् भयम् ।

पदार्थ—तं—उस कर्म विपाक को। जहा-तहा—जैसे-तैसे—यथार्थ रूप से उसी प्रकार, मुझसे। सुणेह—हे शिष्यो! तुम श्रवण करो। पाणा—प्राणी, संसार में। संति—हैं जो। अंधा—द्रव्य चक्षु वा भावचक्षु—विवेक से रहित। तमसि—नरकादि प्रधान—अन्धकारमय स्थानों में रहने वाले। वियाहिया—कथन किए हैं। तमेव—उन योनियों में रोगादि स्थानों से उत्पन्न हुए दुःख। सइं—एक बार। असइं—अनेक बार। अइअच्च—भोगकर फिर तिर्यग् आदि गतियों में। उच्चावयफासे—शीतादि स्पर्शों को। पडिसंवेएइ—प्रतिसंवेदन करता है। एयं—यह विषय। बुद्धेहिं—तीर्थकरों ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, तथा। पाणा—द्वीन्द्रियादि प्राणी। वासगा—भाषालब्धि सम्पन्न। संति—हैं। रसगा—रस के जानने वाले संज्ञी जीव हैं, इन संसारी जीवों के कर्म विपाक का विचार कर आत्मविकास करना चाहिए, तथा। उदए—उदक रूप—एकेन्द्रिय अप्काय के जीव। उदएचरा—जल में रहने वाले त्रस जीव, तथा। आगास गामिणो—आकाश में गमन करने वाले पक्षी आदि जीव। पाणा—तथा प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियों को। किलेसंति—पीड़ित करते हैं—अर्थात् निर्बल को बलवान मार देता है, अतः हे शिष्य! लोए—लोक में। महब्भयं—महाभय है, इसको तू। पास—देख! अर्थात् संसार में दुःखों का महाभय है, इसको तू देख!

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम कर्म विपाक के यथावस्थित स्वरूप को मुझ से सुनो! संसार में द्रव्यचक्षु रहित या भावचक्षु रहित जीव कहे गए हैं। वे उन रोगादि अवस्थाओं में दुःखों का अनुभव कर रहे हैं। नरकादि गतियों में एक बार या अनेक बार नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शों का अनुभव करते हैं। यह अनन्तोरक्त विषय बुद्धों—तीर्थकरों ने प्रतिपादन किया है। द्वीन्द्रियादि जीव या रस के जानने वाले संज्ञी जीव तथा अप्काय—जलरूप जीव, जल में रहने वाले त्रस जीव और आकाश में उड़ने वाले पक्षी, ये संसार में जितने जीव हैं, उनमें बलवान निर्बलों को पीड़ित दुःखित करते हैं।

हे शिष्यो! तुम संसार के दुःखों से उत्पन्न हुए महाभय को देखो अथवा हे शिष्य! तू संसार के महाभय को देख।

हिन्दी-विवेचन

संसार में अनन्त जीव हैं। इन्द्रिय आदि साधनों की समानता की अपेक्षा से उनके 5 भेद किए गए हैं जिन्हें जीवों की पांच जातियाँ कहते हैं—1—एकेन्द्रिय, 2—द्वीन्द्रिय 3—त्रीन्द्रिय, 4—चतुरिन्द्रिय, और 5—पंचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय में स्पर्श इन्द्रियवाले पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एवं वनस्पति के सभी जीव समाविष्ट हो जाते हैं। द्वीन्द्रिय में स्पर्श और जिह्वा इन दो इन्द्रिय वाले लट आदि जीवों को लिया गया है। इसी तरह त्रीन्द्रिय में स्पर्श, जिह्वा, घ्राण वाले चींटी, जूँ आदि जीवों को, चतुरिन्द्रिय में स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय वाले मच्छर-मक्खी-बिच्छू आदि जीवों को तथा पंचेन्द्रिय में स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय वाले नारक, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवयोनि के जीवों को गिना गया है। इस तरह ये समस्त संसारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करते हैं।

संसार में कुछ प्राणी अंधे भी होते हैं। अंधत्व द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। द्रव्य अंधत्व का अर्थ है—आँखों में देखने की शक्ति का न होना और भाव अंधत्व का तात्पर्य है—पदार्थों के यथार्थ बोध का न होना। द्रव्य अंधत्व आत्मा के लिए इतना अहितकर नहीं है, जितना भाव अंधत्व है। भाव अंधत्व, अर्थात् अज्ञान एवं मोह के वश जीव विषय-वासना में संलग्न रहता है और परिणामस्वरूप पापकर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है, अनेक तरह की वेदनाओं का संवेदन करता है।

अतः मुमुक्षु पुरुष को संसार में सभी प्राणियों एवं उनके परिभ्रमण करने के कारणों का परिज्ञान होना चाहिए और साधक को उसका चिन्तन करके संसार में भटकाने वाले दुष्कर्मों से अलग रहना चाहिए। इसी तरह संसार का चिन्तन उसे दुष्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ाने का प्रेरणा देता है और इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है। अतः साधक को वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमों के द्वारा संसार के स्वरूप का सम्यक् बोध प्राप्त करके मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वह निर्भय बनकर निष्कर्म स्थिति को पा सके।

मोह कर्म के उदय से भय होता है। उसका क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा में निर्भयता आती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—बहुदुःखा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छन्ति सरीरेणं पभंगुरेण अट्टे से बहुदुःखे इइ बाले पकुव्वइ, एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं, एयं पास मुणी! महब्भयं नाइवाइज्जा कंचणं॥175॥

छाया—बहु दुःखा हुः (खलु) जन्तवः सक्ताः कामेषु मानवाः अबलेन वधं गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण आर्तः स बहुदुःख इति बाल प्रकरोति एतान् रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुराः परितापयेयुः नालं पश्य! अलं तव एभिः एतत् पश्य मुने! महद् भयं नातिपातयेत् कञ्चन।

पदार्थ—हु—जिससे—हिंसादि कर्मों से। जंतवो—जीव। बहुदुःखा—बहुत दुःखी हैं। माणवा—मानव। कामेसु—काम-भोगों में। सत्ता—आसक्त हैं, मूर्छित हैं। अबलेण—बल से रहित। सरीरेणं—औदारिक शरीर के द्वारा। पभंगुरेण—जो स्वतः विनाशशील है। वहं—वध—विनाश को। गच्छन्ति—प्राप्त होते हैं। से—वह। अट्टे—राग और द्वेष से व्याकुल चित्त वाला जीव। बहुदुःखे—बहुत दुःख पाता है तथा। एए—ये सब। रोगा—रोग। बहू—बहुत उत्पन्न हुए। नच्चा—जानकर-चिकित्सा के लिए जीवों को मारकर चिकित्सा करनी चाहिए। इह—इस प्रकार। बाले—बाल। पकुव्वइ—क्रिया करता है और। आउरा—आतुर होकर। परियावए—प्राणियों को परिताप देता है। पास—हे शिष्य तू देख? नालं—कर्म रोग चिकित्सा के द्वारा उपशान्त नहीं हो सकता। तवेएहिं—तुझे पापकारी चिकित्सा विधि से। अलं—दूर रहना चाहिए, अर्थात् तुमको यह पापकारी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। मुणी—हे मुने! एयं—यह प्राणिबध। पास—देख। महब्भयं—महान् भय रूप है, अतः। कंचणं—किसी प्राणी का। नाइवाइज्जा—अतिपात मत कर।

मूलार्थ—हिंसादि कर्मों से जीव बहुत दुःखी हो रहे हैं। संसारी मनुष्य काम-भोगों में आसक्त हैं। क्षण भंगुर निर्बल शरीर के द्वारा जीव विनाश को प्राप्त होते हैं, वे रोगादि से पीड़ित जीव बहुत दुःखित हैं। बाल—अज्ञानी जीव इस प्रकार बोलते हैं

कि राजयक्ष्मादि रोगों की निवृत्ति के लिए सावध चिकित्सा—जीव हिंसामय औषधोपचार करो, और मांस आदि का भक्षण करो। आतुर प्राणी उत्पन्न हुए गण्ड, कुष्ठ, राजयक्ष्मादि रोगों को जानकर उनकी निवृत्ति के लिए अन्य प्राणियों को परिताप देता है। परन्तु, हे शिष्य! तू यह देख, सम्यग् विचार कर कि हिंसा-प्रधान चिकित्सा से कर्मजन्य रोग उपशान्त नहीं होता। अतः हे शिष्य! तुझे जीव हिंसामय औषध से कदापि उपचार नहीं करना चाहिए। यह सावध औषधोपचार महाभय का कारण है। इसलिए तुझे किसी भी जीव का अतिपात नहीं करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि मोह कर्म से आवृत अज्ञानी जीव हिंसा आदि दुष्कर्मों से अनेक प्रकार के दुःखों एवं रोगों का संवेदन करते हैं। फिर भी वे विषय-कषाय से निवृत्त नहीं होते। वे उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भी आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-कषाय का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार वे दुःख परम्परा को और बढ़ाते हैं तथा महादुःख एवं महाभय के गर्त में जा गिरते हैं। विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति सदा भयभीत बना रहता है, क्योंकि वह दूसरे प्राणियों को त्रास देता है, डराता है। इसलिए स्वयं भी दूसरों से डरता रहता है। सिंह जैसा शक्तिशाली जानवर भी—जो हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को मार डालता है, सदा भयभीत रहता है। वह जब भी चलता है तब प्रत्येक कदम पर पीछे मुड़कर देखता है। इसका कारण यह है कि वह दूसरे प्राणियों के मन में भय उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वयं भयग्रस्त रहता है। उसकी इसी दुर्बलता के कारण साहित्यिक क्षेत्र में पीछे मुड़कर देखने के अर्थ में सिंहावलोकन शब्द का निर्माण किया गया है। अस्तु, सिंहावलोकन भय का प्रतीक है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरों को संत्रस्त करने वाला व्यक्ति स्वयं त्रास एवं भय से पीड़ित रहता है। यह अनेक पाप कर्मों का बन्ध करके अनेक दुःखों एवं रोगों का संवेदन करता है।

अतः साधक को विषय-कषाय एवं आरम्भ-समारम्भ के दुष्परिणामों को जानकर उससे दूर रहना चाहिए। उसे किसी भी परिस्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी आरम्भजन्य दोषों में प्रवृत्त न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए और कर्मों की निर्जरा के लिए सदा संयम में संलग्न रहना चाहिए।

ऐसे संयम-निष्ठ साधकों के गुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आयाण भो सुस्सूस! भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु
अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया
अभिनिव्वुडा अभिसंबुद्धा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण
महामुणी॥176॥

छाया—आजानीहि भोः शुश्रूषस्व भोः धूतवादं प्रवेदयिष्यामि इह खलु
आत्मतया (आत्मता-तया) तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसंभूताः अभिसंजाता
अभिनिवृत्ताः अभिसंबुद्धा अभिनिष्क्रान्ताः अनुपूर्वेण महामुनिः।

पदार्थ—भो—हे शिष्य! आयाण—तू अवधारण कर। सुस्सूस—सुनने की
इच्छा कर। धूयवायं—धूतवाद को—कर्म धुनने के वाद को। पवेयइस्सामि—प्रवेदन
करूंगा। इह—इस संसार में। खलु—वाक्यालंकार में है। अत्तत्ताए—अपनी कर्म
परिणति के द्वारा। तेहिंतेहिं—उन-उन। कुलेहिं—कुलों में। अभिसेएण—शुक्र शोणित
के अभिषेक—अभिसिंचन से। अभिसंभूया—गर्भ में कलल रूप हुआ। अभिसंजाया—
फिर मांस एवं पेशी रूप बना, और। अभिनिव्वुडा—सांगोपांग—स्नायु, सिर रोमादि
क्रम से अभिनिवृत्त हुआ, फिर। अभिसंबुद्धा—अभिवृद्ध हुआ फिर। अभिसंबुद्धा—
जागृत हुआ। अभिनिक्कंता—त्याग मार्ग में प्रवर्जित हुआ; वह। अणुपुव्वेण—अनुक्रम
से। महामुणी—महामुनि हो जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्यो! ध्यानपूर्वक सुनो और समझो, मैं तुम्हें कर्म क्षय करने का
उपाय बतलाता हूँ। इस संसार में कतिपय जीव अपने किए हुए कर्मों का फल
भोगने के लिए भिन्न-भिन्न कुलों के माता-पिता के रज-वीर्य से गर्भ रूप में उत्पन्न
हुए, जन्म धारण किया, क्रमशः परिपक्व वय के बने, प्रतिबोध पाकर त्यागमार्ग
अंगीकार करके अनुक्रम से महामुनि बने।

हिन्दी-विवेचन

आगम में बताया गया है कि मनुष्य ही सब कर्मों का क्षय करके मुक्ति को पा
सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी गति या योनि में स्थित जीव निष्कर्म नहीं
बन सकता। मनुष्य योनि में भी सभी मनुष्य निष्कर्म नहीं बनते हैं। प्रस्तुत सूत्र में

निष्कर्म बनने वाले मनुष्यों के जीवनविकास का चित्रण किया गया है, गर्भ में उत्पन्न होने के समय से लेकर कर्म क्षय करने के स्वरूप का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

सभी संसारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करते हैं। जिन्होंने मनुष्य गति का आयुष्य बांध रखता है, वे मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं। माता-पिता के रज और वीर्य का संयोग होने पर जीव उसमें उत्पन्न होता है। उस रज-वीर्य का सात दिन में कलल बनता है, दूसरे सात दिन में अबुर्द बनता है। उसके बाद पेशी बनती है, फिर वह सघन होता है, उसके बाद उसके अंगोपांग बनते हैं और फिर गर्भ का समय पूरा होने पर वह जन्म ग्रहण करता है और धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होता है। समझदार होने के बाद मोहकर्म के क्षयोपशम से वह स्वयं बोध को प्राप्त होकर या धर्म शास्त्र एवं सन्त पुरुषों के संसर्ग से सद्ज्ञान को पाकर मुनि बन जाता है और तप-संयम में संलग्न होकर कर्मों का क्षय करने लगता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो मनुष्य योनि को प्राप्त करके संयम में संलग्न होता है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की साधना करता है, वही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है।

इस प्रकार संसार के स्वरूप को समझकर जब मनुष्य साधना के पथ पर चलने को तैयार होता है, उस समय उसके परिजन एवं स्नेही उसे क्या कहते हैं, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं परिक्रमन्तं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयन्ति-
छन्दोवणीया अज्ज्ञोववन्ना अक्कन्दकारी जणगा रुयन्ति, अतारिसे मुणी
(णय) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं
नु नाम से तत्थ रमइ? एयं नाणं सया समणुवासिज्जासित्तिबेमि॥१७७॥

छाया—तं पराक्रममाणं परिदेवमानाः मा परित्यज। इति ते वदन्ति,
छन्दोपनीताः अभ्युपपन्नाः (अध्युपपन्ना वा) आक्रन्दकारिणः जनकाः
रुदन्ति—अतादृशोमुनिः नच ओघन्तरति जनका येन अपोढाः शरणं तत्र न
समेति कथं नु नामासौः (सः) तत्ररमते एतद् ज्ञानं सदा सम्यगनुवासयेः
'व्यवस्थापयेः' इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—उस—तत्त्व के जानने वाले। परिक्रमन्तं—संयम मार्ग में पराक्रमं

करने वाले के प्रति । परिदेवमाणा—रुदन करते हुए माता-पिता आदि । इय—इस प्रकार । ते—वे । वयंति—कहते हैं, क्या कहते हैं? छंदोवणीया—हे पुत्र! हम सब तेरी इच्छा के अनुसार बर्ताव करने वाले हैं । अज्ज्ञोववन्ना—तेरे पर ही हमारा विश्वास है—तेरे में हम आसक्त हैं । अक्कंदकारी—इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए । जणगा—जनक—माता-पिता आदि बन्धु जन । रुयन्ति—रुदन करते हैं, फिर इस प्रकार बोलते हैं । अतारिसेमुणी—इस प्रकार से मुनि नहीं हो सकता । ओहंतरे—और न वह संसार समुद्र को तैर सकता—पार कर सकता है । जेण—जिसने । जणगा—माता-पिता आदि को । विप्पजट्ठा—छोड़ दिया है, इस प्रकार के वचनों को सुनकर तत्त्वज्ञ मुनि क्या विचारता है, वह सूत्रकार कहते हैं । तत्थ—उस कष्ट के समय वे—सगे सम्बन्धी वर्ग । संरणं—शरण भूत । नो समेइ—नहीं होता । तु—वितर्क में जानना । नाम—संभावना अर्थ में है । कंहं—किस प्रकार से मुमुक्षु जन । तत्थ—उस गृहस्थावास में । रमइ—रमण कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता । एयं—यह पूर्वोक्त । नाणं—ज्ञान । सया—सदा आत्मा में । समणु—वासिज्जासि—स्थापन करे । तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—संयम के लिए उद्यत हुए तत्त्वज्ञ व्यक्ति के प्रति उसके माता-पिता आदि सम्बन्धी जन इस प्रकार कहते हैं—हे पुत्र! तू हमको मत छोड़, हम तेरे अभिप्राय के अनुसार चलने वाले हैं और तेरे में आसक्त हैं । वे आक्रन्दन और रुदन करते हुए कहते हैं कि तू इस प्रकार से मुनि नहीं हो सकता और नाही वह संसार समुद्र को पार कर सकता है, जिसने रोते हुए माता-पिता आदि सम्बन्धी जनों का परित्याग कर दिया है । तब संयम के लिए उद्यत हुआ साधक (व्यक्ति) विचार करता है कि यह स्वजन वर्ग कष्ट के समय शरण भूत नहीं हो सकता । वह तत्त्वज्ञ पुरुष किस प्रकार गृहस्थावास में रह सकता है, अर्थात् कदापि नहीं रह सकता । यह पूर्वोक्त ज्ञान सदा अपनी आत्मा में स्थापन करे, इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जीवन में अनेकों उतार-चढ़ाव आते हैं । कभी मनुष्य को परिजनों का स्नेह मिलता है, तो कभी उनकी ओर से तिरस्कार भी सहना पड़ता है । परन्तु, प्रायः यह देखा गया है कि जीवन विकास के पथ पर बढ़ने वाले व्यक्ति को उस मार्ग से हटाने के लिए वे सदा तैयार रहते हैं । भले ही, घर में रहते समय

उससे सदा लड़ते-झगड़ते रहे हों, उसे सदा कोसते रहे हों, परन्तु जब वह बोध को प्राप्त होकर साधना के पथ पर चलने का उपक्रम करता है, तब उनका समस्त प्यार-दुलार उमड़ पड़ता है और वे उसे अनेक तरह से संसार में रोकने का प्रयत्न करते हैं।

उस समय प्रिय और अप्रिय सभी परिजन उसे समझाते हैं कि तू हमारे जीवन का आधार है। हमने सदा तुम्हारे जीवन का एवं दुःख-सुख का ध्यान रखा है। तुम्हें योग्य बनाने के लिए सब तरह का प्रयत्न किया है। परन्तु जब हमारी सेवा करने का अवसर उपस्थित हुआ, तब तुम हमें छोड़कर जा रहे हो। क्या यही तुम्हारा धर्म है? कर्त्तव्य है? जरा गंभीरता से सोचो-समझो।

इस तरह के आक्रन्दन भरे शब्द दुर्बल मन वाले साधक को विचलित कर देते हैं। उनके अनुराग के सामने उसका वैराग्य शरद् ऋतु के बादलों की तरह उड़ जाता है। इसलिए महापुरुषों ने ऐसे समय में दृढ़ रहने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति मोह के प्रबल झोंको से भी विचलित नहीं होता, वही संयम में संलग्न रह सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक माता-पिता आदि परिजनों को तिरस्कार करके घर से भाग जाए, बुद्ध की तरह बिना आज्ञा प्राप्त किए छिपकर घर से भाग निकले या उन्हें परेशान करके, दुःख एवं कष्ट देकर आज्ञा प्राप्त करे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपने सद्विचारों पर स्थित रहता हुआ, प्रेम एवं स्नेह से परिजनों को समझाकर, उनकी शंकाओं का निराकरण करके आज्ञा प्राप्त करे। यह ठीक है कि यदि वैराग्य की कसौटी के लिए उसे किसी तरह का कष्ट दिया जाए तो वह उसे समभाव पूर्वक सहकर उसमें उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करे, परन्तु अपनी तरफ से उन्हें कष्ट देने का प्रयत्न न करे।

इस तरह त्याग-वैराग्य एवं ज्ञान के द्वारा परिजनों के मोह आवरण को दूर करके अपने पथ को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करे। ऐसे विवेकनिष्ठ साधक ज्ञान एवं त्याग-वैराग्य के द्वारा सदा अभ्युदय की ओर बढ़ते रहते हैं और एक दिन समस्त कर्म बन्धनों से उन्मुक्त हो कर अपने ध्येय को, लक्ष्य को पूरा कर लेते हैं।

“त्तिबेमि” की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन : धृत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में मोह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि मोह पर विजय से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में कर्म-निर्जरा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाई कुसीला॥178॥

छाया—आतुरं लोकमादाय त्वक्त्वा पूर्वसंयोगं हित्वा उपशमं उषित्वा ब्रह्मचर्ये वसुः वा अनुवसुः वा ज्ञात्वा धर्मं यथा-तथा अथैके तं पालायितुं न शक्नवन्ति कुशीलाः ।

पदार्थ—लोगं—माता-पिता आदि । आउरं—स्नेह राग तथा काम राग से आतुर लोगों को । आयाए—ज्ञान से जानकर; और । पुव्वसंजोगं—फिर माता-पिता आदि के पूर्व संयोग को । चइत्ता—छोड़कर । उवसमं—उपशम को । हिच्चा—ग्रहण कर के तथा । बंभचेरंसि—ब्रह्मचर्य में । वसित्ता—बस कर । वसु—वीतराग या साधु । वा—अथवा । अणुवसु—साधु या श्रावक । धम्मं—धर्म को । अहातहा—यथार्थ रूप से । जाणित्तु—जानकर भी मोहोदय से । अहेगे—कई एक । कुसीला—कुत्सित शील वाले व्यक्ति । तं—उस धर्म का । आचाइ—पालन नहीं कर सकते ।

मूलार्थ—स्नेह-राग में आसक्त माता-पिता आदि के स्वरूप को जान कर, पूर्वसंयोग माता-पिता के सम्बंध को छोड़कर; उपशम को प्राप्त कर ब्रह्मचर्य में बसकर, साधु अथवा श्रावक; यथार्थ रूप से धर्म को जानकर भी मोहोदय से कुछ कुशील बुरे आचार वाले व्यक्ति उस धर्म का पालन नहीं कर सकते ।

हिन्दी-विवेचन

कुछ व्यक्ति श्रुत और चारित्र धर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर साधना के पथ पर चलने का प्रयत्न करते हैं। उस समय मोह एवं राग में आसक्त एवं आतुर व्यक्ति उन्हें उस मार्ग से रोकने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, प्रबल वैराग्य के कारण वे पारिवारिक बन्धन से मुक्त होकर संयम-साधना में प्रविष्ट होते हैं। ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने वाले मुनि या श्रावक के व्रतों के परिपालक श्रमणोपासक धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसका परिपालन करते हैं। परन्तु, कुछ व्यक्ति धर्म के स्वरूप को जानते हुए भी मोहोदय के कारण साधना-पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण एवं श्रमणोपासक दोनों मोक्ष मार्ग के साधक हैं। श्रमणोपासक पूर्णतः त्यागी न होने पर भी मोक्ष मार्ग का आराधक है, क्योंकि उसका लक्ष्य एवं ध्येय वही है, जो साधु का है। अतः आत्मविकास का मार्ग दोनों के लिए उपादेय है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह मोह से ऊपर उठकर सम्भाव पूर्वक महाव्रत या अणुव्रत रूप धर्म का शुद्ध पालन करे।

‘वसु’ और ‘अनुवसु’ शब्द का वृत्तिकार ने क्रमशः वीतराग एवं सराग अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त उक्त शब्दों से श्रमण—साधु एवं श्रमणोपासक—श्रावक अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

जो व्यक्ति संयम को स्वीकार करके फिर उससे भ्रष्ट हो जाता है, उसकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुञ्छणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए॥179॥

छाया—वस्त्र पतद्ग्रहः कम्बलं पादपुञ्छनकं व्युत्सृज्य अनुपूर्वेण अनाधिसहमानाः परीषहान् दुरधिसहनीयान् कामान् ममायमानस्य इदानीं मुहूर्तेन वा अपरिमाणाय भेदः एवं स अन्तरायिकैः कामैः आकेवलिकैः अवतीर्णाः (असम्पूर्णाः) च एतत् ।

पदार्थ—वस्त्र—वस्त्र । पडिग्गहु—पात्र । कंबल—और्णवस्त्र—ऊन का वस्त्र । पायपुंछणं—रजोहरण, इनको । विउसिज्जा—छोड़कर (कई एक तो देश विरति धर्म को अंगीकार कर लेते हैं, कई एक अग्रती सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं और कई एक धर्म से सर्वथा पतित होजाते हैं) । दुरहियासए—दुःख से सहन किए जाने वाले । परिसहे—परीषहों को । अणुपुच्चेण—अनुक्रम से । अणहियासेमाणा—न सहन करते हुए, और । कामे—काम भोगों में । ममायमाणस्स—तीव्र ममत्व रखने वाले को । इयाणिं—तत्क्षण—दीक्षा का परित्याग करने के पश्चात् । वा—शब्द परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है । मुहुत्तेण—अन्तर्मुहूर्त मात्र से ही । वा—अथवा । अपरिमाणाए—अपरिमित काल में । भेए—आत्मा और शरीर का भेद हो जाता है । एवं—इस प्रकार । से—वह—कामाभिलाषी । अन्तराएहिं—अन्तरायों से युक्त । कामेहिं—काम भोगों से । आकेवलिएहिं—जो प्रतिपक्ष से युक्त हैं अर्थात् दुःख से युक्त हैं । अवइन्ना—असम्पूर्ण हैं, तथा वे—पुरुष संसार समुद्र से उत्तीर्ण नहीं हो सकते । च—शब्द समुच्चय अर्थ में है । एए—ये कामाभिलाषी पुरुष काम भोगों से अतृप्त होकर ही शरीर के भेद को प्राप्त करते हैं ।

मूलार्थ—वे—कुशील मोहनीय कर्म के उदय से संयम परित्याग के समय संयम के साधन उपकरणों को भी छोड़ देते हैं । उनमें से कोई एक तो संयम के उपकरण वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरणादि का सर्वथा परित्याग करके देशविरति धर्म को ग्रहण कर लेते हैं, कुछ अविरति सम्यग् दृष्टि बन जाते हैं और कुछ धर्म से सर्वथा पतित हो जाते हैं, कारण कि असहनीय कठिन परीषहों से—जो कि अनुक्रम अथवा युगपद से उदय में आए हुए हैं, पराजित होकर मोह के वशीभूत होकर संयम का परित्याग कर देते हैं तथा पापोदय से काम-भोगों में अधिक ममत्व रखने वाले उन असंयमी पुरुषों के शरीर का तत्काल ही अथवा मुहूर्त मात्र में अथवा कुछ और अधिक समय में अपरिमित काल के लिए आत्मा से भेद हो जाता है । इस प्रकार विघ्नों और दुःखों से युक्त जो विषय-भोग हैं, उनके निरन्तर सेवन से वे संसार समुद्र को पार नहीं कर सकते । वास्तव में कामी पुरुष काम-भोगों से अतृप्त रहकर ही शरीर का परित्याग कर देते हैं, अर्थात् वे भोगों से कभी भी तृप्त नहीं होते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

साधना का पथ फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग है। त्याग के पथ पर बढ़ने वाले साधक के सामने अनेक मुसीबतें, कठिनाइयां एवं परेशानियां आती हैं। उसे प्रत्येक पग पर परीषहों के शूल बिछे मिलते हैं। कभी समय पर अनुकूल भोजन नहीं मिलता, तो कभी अनुकूल पानी की कमी रह जाती है। कभी ठहरने के लिए व्यवस्थित मकान उपलब्ध नहीं होता, तो कभी ठीक शय्या नहीं मिलती। इसी प्रकार गर्मी-सर्दी, वर्षा, भोगोपभोग आदि अनेक परीषह सामने आते हैं। इस प्रकार साधना का मार्ग परीषहों से भरा-पूरा है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—‘श्रेयस्कर—कल्याणप्रद मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं।’ उन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

परन्तु, कुछ साधक परीषहों के प्रबल थपेड़ों को सहन नहीं कर सकते। मोहोदय के कारण वे एकदम फिसल जाते हैं और पथ भ्रष्ट होते समय लोकभय एवं लज्जा का भी त्याग कर देते हैं। इस तरह वे विवेक विकल साधक दुर्लभता से प्राप्त चिन्तामणि (संयम) रत्न को खो देते हैं। वे संयम का त्याग कर फिर से गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। कुछ साधक महाव्रतों का त्याग कर देते हैं, परन्तु देशव्रत से नहीं गिरते। कुछ साधक चारित्र्य व्रतों से गिर कर भी दर्शन—सम्यक्त्व से नहीं गिरते। परन्तु, कुछ साधक दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय में आसक्त होकर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

वे भोगेच्छा को पूरी करने के लिए संयम का परित्याग करते हैं और रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हैं, फिर भी उनकी भोगेच्छा पूरी नहीं होती। क्योंकि इच्छा, तृष्णा एवं कामना अनन्त है, अपरिमित है और जीवन या आयु सीमित है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति सदा अतृप्त ही रहता है। मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उसकी आकांक्षाएं, तृष्णाएं एवं वासनाएं जागृत ही रहती हैं और वह इन्हीं में गोते लगाते हुए अपनी आयु को समाप्त कर देता है और उस वासना से आबद्ध कर्मों के अनुसार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

अतः साधु को विषय-वासना के प्रवाह में नहीं बहना चाहिए और परीषहों के समय भी अडिग एवं स्थिर रहना चाहिए, ऐसे साधु के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिन्नाय, एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं, न महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सि जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुण्डे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्धफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तित्तिक्खमाणे परिच्चए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा॥180॥

छाया—अथैके धर्ममादाय आदान प्रभृतिषु प्रणिहिताः चरेयुः अप्रलीयमानाः दृढाः सर्वा गृद्धिं परिज्ञाय एष प्रणतः महामुनिः अतिगत्य सर्वतः संगं न मम अस्तीति इह एकोऽहं अस्मिन् यतमानः अत्र विरतः अनागारः सर्वतः मुण्डो रीयमाणो योऽचेलः पर्युषितः संतिष्ठते अवमौदर्ये स आक्रुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो वा पलितं कर्म प्रकथ्य अथवा प्रकट्य अतथ्यैः शब्दस्पर्शैः इति-संख्याय एकतरान् अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ये च हारिणो ये च अहारिणः ।

पदार्थ—अहेगे—इसके अनन्तर कई एक। धम्ममायाय—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। आयाणप्पभिइसु—धर्मोपकरणादि से युक्त। पणिहिए—परीषहों के सहन करने वाले। चरे—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म का आचरण करें या करते हैं। अप्पलीयमाणे—माता-पिता आदि में अनासक्त। दढे—संयमादि में दृढ़। सव्वं—सर्व। गिद्धिं—भोगाकांक्षा को। परिन्नाय—ज्ञ परिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर, इनको छोड़ देवे। एस—यह काम पिपासा का परित्यागी। पणए—संयम में अथवा कर्म धुनने में प्रवृत्त होता है, अतः वह। महामुणी—महामुनि होता है, फिर। संगं—संग को। सव्वओ—सर्व प्रकार से। अइअच्च—अतिक्रम करके—निम्न प्रकार से भावना भावे। न महं अत्थित्ति—इस संसार में मेरा कोई नहीं है। इय—इस प्रकार से। एगो अहं—मैं अकेला हूँ। अस्सि—इस जिन प्रवचन में। जयमाणे—दशविध प्ररूपित समाचारी में यत्न करता हुआ। इत्थ—इस जिन शासन में। विरए—सावधानुष्ठान से विरक्त होता है। अणगारे—वह अनगार। सव्वओ—सर्व प्रकार से। मुण्डे—द्रव्य और भाव से मुंडित होकर। रीयंते—विचरता हुआ। जे—जो।

अचेले—अल्प वस्त्र से। परिवुसिए—संयम मार्ग में विचरने वाला। अमोयरियाए—ऊनोदरी तप में। संचिक्खइ—भली प्रकार से स्थित होता है। से—वह-भिक्षु। आकुट्ठे—वचन से आक्रोशित हुआ। वा—अथवा। हए—दण्डादि से ताड़ित हुआ। वा—अथवा। लुचिए—केशोत्पाटनादि से लुचित हुआ। वा—अथवा। पलियं पकत्थ—पूर्वकृत दुष्कृत्यों को उद्देश्य करके कोई उसकी निन्दा करता है। अदुवा—अथवा। अतहेहिं—अयथार्थ वचनों से। यथा—तू चोर है, दुराचारी है, इत्यादि। सद्—इस प्रकार के असत् शब्दों से। फासेहिं—अथवा शस्त्रादि के स्पर्शों से दुःख देता है, तब मुनि। इय—इस प्रकार से विचार करता है कि यह सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। संखाए—इस प्रकार विचारकर—जानकर। तित्तिक्खमाणे—कष्ट को सहन करता हुआ। परिब्बए—संयम में विचरे, तथा। एगयरे—अनुकूल परीषहों को। अन्नयरे—प्रतिकूल परीषहों को। अभिन्नाय—जानकर संयम मार्ग में ही विचरे। य—और। जे—जो परीषह। हिरी—सत्कार-पुरस्कारादि मन को प्रसन्न करने वाले। य—और। जे—जो परीषह। अहिरीमाणा—मन को अप्रसन्नता देने वाले, तथा। हिरी—जो परीषह लज्जा रूप हैं—याचना एवं अचेलादि रूप हैं, तथा जो। अहिरीमाणा—अलज्जा रूप—शीतोष्णादि रूप हैं; उनको सहन करता हुआ—संयम में विचरे।

मूलार्थ—कुछ एक व्यक्ति धर्म को ग्रहण कर, धर्मोपकरणादि से युक्त होकर संयम-मार्ग में विचरते हैं तथा माता-पिता आदि में अनासक्त होकर संयम में दृढ़ और सर्व प्रकार की भोगाकांक्षा को छोड़कर संयमानुष्ठान में प्रयत्नशील होते हैं।

संयम-मार्ग में चलने से ही वह मुनि कहलाता है। वह सर्व प्रकार के संग को छोड़ कर—मैं इस संसार में अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। इस प्रकार की भावना से आत्मा का अन्वेषण करता है, जिन शासन में विचरने का यत्न करता हुआ सावध व्यापार से रहित होकर वह अनगार सर्व प्रकार से मुण्डित होकर विचरता है और अचेत धर्म में बसा हुआ, दंडादि से ताड़ित, केशोत्पाटनादि से लुञ्जित, किसी पूर्व दुष्कृत्य के कारण निन्दित किया हुआ, अतथ्य शब्दों से पीड़ित किया हुआ और शस्त्रादि से घायल किया हुआ वह भिक्षु अपने स्वकृत पूर्व कर्मों के फल को विचार कर शान्त चित्त से संयम-मार्ग में विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल, अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन में खेद उत्पन्न करने वाले परीषहों को

शान्तिपूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसी कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में सफल होता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना में निष्ठा एवं सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा—श्रद्धा के बिना संयम का परिपालन नहीं किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणों के साथ संयम-साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना में संलग्न रहे; फिर भी जब तक शरीर है, तब तक कुछ उपकरणों की आवश्यकता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणों को भोग-विलास की दृष्टि से नहीं रखता, केवल साधना में सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अतः उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एवं साधना में तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्योंकि वेश-भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग-विलास के समय की पोशाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन में स्फूर्ति के स्थान में शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नहीं समझेगा। सैनिक के लिए उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोशाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एवं त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एवं सात्विक वेशभूषा होनी चाहिए। इसलिए आगम में साधु के लिए मुख-वस्त्रिका, रजोहरण, चदर एवं चोलपट्टक (धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणों तक ही सीमित नहीं है। उपकरण साधना में सहायक हैं, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर में स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा-आसक्ति आदि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। अतः साधक को प्रत्येक परिस्थिति में समभाव को बनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन-नमस्कार करे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताड़न करे तो रुष्ट एवं क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओं में एकरूप रहना चाहिए और दोनों व्यक्तियों के लिए एक समान कल्याण की भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है; जिसके द्वारा वह कर्मों की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अचेतक' शब्द में 'अ' अव्यय का पूर्णतः निषेध अर्थ में

प्रयोग नहीं किया गया है। यहां उसका स्वल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः अचेलक शब्द का अर्थ बिल्कुल नग्न नहीं, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है—‘अचेल—अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।’

‘ओमोयरियाए संचिक्खइ’ का अर्थ है—साधु को औनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर में आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की भली-भांति आराधना नहीं कर सकता। अतः रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एवं सात्त्विक आहार भी भूख से कम खाना चाहिए।

साधना के विषय में कुछ विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थावरए तं झोसमाणेआयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्धिं अदुवा दुब्धिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि तिबेमि॥181॥

छाया—त्यक्त्वा सर्वा विस्तेतसिकां स्पर्शान् समितदर्शनः भो! एते नग्ना, उक्ताः ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उतर वादः इह मा-नवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्ज्ञोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषां एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी, परिव्रजेत् सुरभिः अथवा दुरभिः अथवा भैरवा प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अति सहस्व? इति ब्रवीमि।

पदार्थ—चिच्चा—छोड़कर। सव्वं—सब। विसुत्तियं—परीषहों के सहन करने की शंका को। फासे—परीषहों के स्पर्शों—परीषहजन्य कष्टों को सहन करे। समियदंसणे—समित दर्शन, अर्थात् जो सम्यग् दृष्टि हैं, वह सम्यक् प्रकार से

परीषहों को सहन करे। भो!—यह आमन्त्रण अर्थ मे है अतः हे लोगो! एए—ये-परीषहों को सहन करने वाले। णगिणा—नग्न। वुत्ता—कहे गए हैं। जे—जो। लोगंसि—लोक में। अणागमणधम्मिणो—दीक्षा ले कर घर में वापिस नहीं आने वाले। आणाए—आज्ञा। मामगं—मेरा। धम्मं—धर्म है, इस प्रकार से धर्म का सम्यक्कृतया पालन करे। एस—यह अनन्तरोक्त। उत्तरवाए—उत्कृष्ट वाद। इह—इस मनुष्य लोक में। माणवाणं—मनुष्यों का। वियाहिए—कथन किया गया है, और। इत्थावरए—कर्म नष्ट करने के उपाय संयम में रत होकर। तं—आठ प्रकार के कर्मों का। झोसमाणे—क्षय करता हुआ संयम में विचरे। आयाणिज्जं—आदानीयं कर्म की। परिन्नाय—मूल तथा उत्तर प्रकृतियों को जानकर फिर। परियाएण—संयम पर्याय से इनको। विगिंचंड—क्षय करता है। इह—इस प्रवचन में। एगेसिं—कई एक हलुकर्मी जीवों की। एगचरिया—एकाकी विहार प्रतिमा। होइ—होती है। तत्थियरा—उस एकाकी विहार प्रतिमा में अन्य सामान्य साधुओं से विशिष्टता होती है। इयरेहि—इतर आय। कुलेहिं—कुलों में। सुद्धेसणाए—शुद्धैषणा से। सव्वेसणाए—सर्व प्रकार के दोषों से रहित होने से। सर्वेष्णासे—उसे पालन करे, अतः। मेहावी—बुद्धिमान। परिव्वाए—संयम मार्ग में विचरे अर्थात् संयम में स्थित रहे। सुब्भिं—इतर कुल में यदि सुगन्ध वाला आहार मिले। अदुवा—अथवा। दुब्भिं—दुर्गन्ध युक्त आहार मिले तो उसमें राग-द्वेष न करे। अदुवा—अथवा। भेरा—श्मशानादि में यदि राक्षसादि के भयानक शब्द हों तो उन्हें सहन करे तथा। भेरवा—भयोत्पन्न करने वाले। पाणा—प्राणी। पाणे—अन्य प्राणियों को। किलेसंति—पीड़ित—दुःखी करते हैं, अतः हे शिष्यो! ते—उन। फासे—दुःख रूप स्पर्शों से। पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ फिर उन स्पर्शों को। धीरे—तू धैर्यवान बन कर। अहियासिज्जासि—सहन कर। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्यो! परीषहों के सहन की शंका को सर्वथा छोड़ कर समित दर्शन—सम्यग् दृष्टि सम्पन्न होने को भाव नग्नता कहते हैं, जो इस मनुष्य लोक में दीक्षित होकर पुनः घर में आने की अभिलाषा नहीं रखते। इस मनुष्य लोक में यह उत्कृष्ट वाद कथन किया गया है कि भगवान की आज्ञा ही मेरा धर्म है। इस जिन शासन में संलग्न व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों का क्षय करता हुआ, कर्मों के भेदों

को जानकर संयम पर्याय से कर्म क्षय करता है। इस प्रवचन में कई एक हलुर्कभी जीव एकाकी विहार प्रतिमा में प्रवृत्त हो जाते हैं, नाना प्रकार के अभिग्रहों से युक्त हो जाते हैं, अतः वह सामान्य मुनियों से विशिष्टता रखता है, अज्ञात कुलों में निर्दोष तथा एषणिक भिक्षा को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह बुद्धिमान साधक संयमवृत्ति का पालन करता है, किन्तु यदि उसे अज्ञात कुलों में सुगन्ध युक्त या दुर्गन्ध युक्त आहार मिला है, तो वह उसमें राग-द्वेष न करे। यदि एकाकी प्रतिमा वाला भिक्षु किसी श्मशानादि स्थान पर ठहरा हुआ है और वहां पर यक्षादि के भयानक शब्द सुनाई पड़ें, तो उसे स्ववृत्ति से विचलित नहीं होना चाहिए। यदि व्याघ्रादि भयानक प्राणी, अन्य प्राणियों को संताप दे रहे हों या वे हिंसक जन्तु मुनि पर आक्रमण कर रहे हों, तो वह उन दुःख रूप स्पर्शों को शान्तिपूर्वक सहन करे। तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी जीव को यदि किसी प्रकार के हिंसक प्राणी कष्ट दें, तो वह उन कष्टों—परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करने में तत्पर रहे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सदा सहिष्णु बना रहे। वह अपनी साधना का पूरी निष्ठा के साथ पालन करे। वह अपने संयमपथ पर दृढ़ता से चलता रहे और वीतराग द्वारा उपदिष्ट धर्म एवं आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करे। वह यह विचार करे कि दुनिया में धर्म के सिवाय कोई भी पदार्थ अक्षय नहीं है। धर्म ही कर्म मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है। अतः हिंसा आदि समस्त दोषों का त्याग करके जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार, वस्त्र-पात्र आदि स्वीकार करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करे। परन्तु, तीर्थंकर भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण न करे।

इस तरह संयम-साधना में संलग्न रहे और उक्त समय में आने वाले अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कोई दुष्ट व्यक्ति उस पर प्रहार भी करे, तब भी वह उसके प्रति द्वेष न करे, मन में भी घृणा एवं नफरत का भाव न रखे। यदि कभी श्मशान आदि शून्य स्थानों में ध्यान लगा रखा हो और उस समय कोई हिंसक पशु, मनुष्य या देव कष्ट दे, तब भी अपने आत्मचिन्तन का त्याग न करे

और उनके प्रति क्रूर भाव भी न लाए। इतना ही नहीं, यदि कोई हिसंक पशु या मनुष्य आदि उसके शरीर का भी नाश करता हो, तब भी उसे बुरा-भला न कहकर, उस वेदना को यह समझकर समभाव पूर्वक सहन करे कि यह शरीर नाशवान है और मेरी आत्मा अविनाशी है। इस शरीर के नाश होने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनित्य एवं अशरण भावना के द्वारा अपने शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्मचिन्तन को तीव्र बनाने का प्रयत्न करे। इस तरह समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके शीघ्र ही वीतराग पद को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बन जाता है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन : धृत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कर्म-निर्जरा की बात कही है। कर्म की निर्जरा अनासक्ति एवं सहिष्णुता पर आधारित है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में बताया है कि वस्त्र आदि के फट जाने पर या अनुकूल वस्त्र न मिलने पर मन में संवेदन नहीं करे। अपितु, अनासक्त भाव से परीषहों को सहन करते हुए संयम का पालन करे। इसीका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ-परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, बुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तण्णफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सच्चओ सच्चताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुच्चाइं वासाणि रीयमाणानं दवियाणं पास अहियासियं॥१८२॥

छाया—एतत् खु मुनिः आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्पः निज्झोषयित्वा योऽचेलः षर्युषितः तस्य (णं) भिक्षोः नैतद् भवति परिजीर्णं मे वस्त्रं, वस्त्रं याचिष्ये, सूत्रं याचिष्ये, सूचिं च याचिष्ये, सन्धास्यामि, सेविष्यामि, उत्कर्ष—यिष्यामि, व्युत्कर्षयिष्यामि, परिधास्यामि, प्रावरिष्यामि, अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयोऽचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजः स्पर्शाः स्पृशन्ति,

वंशमशक स्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरान् अन्यतरान् विरूप रूपान् स्पर्शान् अधिसहते, अचेलः लाघवं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति । यथा इदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वात्मना (सर्वतया) सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् । एवं तेषां महावीराणां चिर रात्रं पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्य ! अधिसोढम् ।

पदार्थ—एयं—यह पूर्वोक्त । खु—निश्चय अथवा वाक्यालंकार अर्थ में है । आयाणं—कर्म ग्रहण करने के कारण धर्मोपकरण के अतिरिक्त उपधि का । निज्जोसइता—त्याग कर देता है । मुणी—वह मुनि है तथा जो । सया—सदा । सुयक्खयधम्मे—सुन्दर धर्म वाला है । विहूयकप्पे—जिसने सम्यक् प्रकार से आचार को धारण किया है, वास्तव में वही मुनि कर्म क्षय कर सकता है । जे—जो साधु । अचेले—अल्प वस्त्र वाला । परिवुसिए—संयम में ठहरा हुआ है । णं—वाक्यालंकार में है । तस्स—उस । भिक्खुस्स—भिक्षु को । नो एवं भवइ—यह नहीं होता कि । मे—मेरा । वत्थे—वस्त्र । परिजुण्णे—सर्व प्रकार से जीर्ण हो गया है, अतः मैं । वत्थं—नूतन वस्त्र की । जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर उसके सीने के लिए । सुत्तं—सूत्र की । जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर । सूइं—सूई की । जाइस्सामि—याचना करूंगा, फिर । संधिस्सामि—उस वस्त्र का सन्धान करूंगा, फिर । सीविस्सामि—फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा । उक्कसिस्सामि—या छोटे वस्त्र के साथ अन्य वस्त्र जोड़ कर उसे लम्बा करूंगा, फिर । वुक्कसिस्सामि—अथवा बड़े वस्त्र को फाड़ कर छोटा करूंगा । परिहिस्सामि—फिर वस्त्र धारण करूंगा । पाउणिस्सामि—शरीर को आच्छादित करूंगा । (इस प्रकार के अध्यवसाय—जो कि आर्तध्यान को उत्पन्न करने वाले हैं—उस मुनि के नहीं होते) । अदुवा—अथवा । तत्थ—उस अचेलत्व में । परिक्कमंतं—पराक्रम करते हुए । अचेलं—अचेलक मुनि को । भुज्जो—फिर । तणफासा—तृण के स्पर्श । फुसन्ति—स्पर्शित होते हैं । सीयफासा—शीत के स्पर्श । फुसन्ति—स्पर्शित होते हैं । तेउफासा—उष्णता के स्पर्श । फुसन्ति—स्पर्शित होते हैं । दंसमसगफासा—डांस-मच्छर के स्पर्श । फुसन्ति—स्पर्शित होते हैं । एगयरे—उनमें से कोई एक परीषह, मन्द या तीव्र स्पर्श वाले हैं, तथा । अन्नयरे—में से कई अन्य

परीषह हैं, तथा। विरुवरुवे—नाना प्रकार के परीषहों के। फासे—स्पर्शों को। अचेल—वस्त्र से रहित या अल्प वस्त्र वाला भिक्षु। अहियासेइ—सहन करे। लाघवं—लघु भाव को। आगममाणे—जानता हुआ। से—वह भिक्षु। तवे—काय क्लेशादि तप से। अभिसमन्नागए—युक्त। भवइ—होता है, अर्थात् सुधर्मा-स्वामी कहते हैं कि वह काय क्लेशादि तप को सहन करने वाला होता है। जहेयं—जिस प्रकार से यह विषय कहा गया है, वह। भगवया—भगवान ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। तमेव—उपकरण और आहार की लाघवता को। अभिसमिच्चा—विचार कर। एव—अवधारणा अर्थ में है। सव्वओ—सर्व प्रकार से। संव्वताए—सर्वात्मा से। संमत्तमेव—सम्यक् प्रकार से। समभिजाणिज्जा—जाने। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन। महावीराणं—महावीरों का यह आचार है। चिररायं—चिर काल पर्यन्त। पुव्वाइं—पूर्वोक्त। वासाणि—और वर्षों तक। रीयमाणानं—संयम में विचरते हुआ का यह आचार है। पास—हे शिष्य! तू देख। दवियाणं—मोक्ष मार्ग पर चलने वाले। अहियासियं—व्यक्तियों के लिए ये परीषह सहन करने योग्य हैं।

मूलार्थ—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणों के अतिरिक्त उपकरणों को कर्मबन्ध का कारण जानकर जिसने उनका परित्याग कर दिया है, वह मुनि सुन्दर धर्म को पालन करने वाला है। वह आचारसंपन्न अचेलक साधु सदा-सर्वदा संयम में स्थित रहता है। उस भिक्षु को यह विचार नहीं होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है। अतः मैं नए वस्त्र की याचना करूंगा, या सूई-धागे की याचना करूंगा और फटे हुए वस्त्र को सीऊंगा या छोटे से बड़ा या बड़े से छोटा करूंगा, फिर उससे शरीर को आवृत करूंगा अथवा उस अचेलकत्व में पराक्रम करते हुए मुनि को तृणों के स्पर्श चुभते हैं, उष्णता के स्पर्श स्पर्शित करते हैं और दंशमशक के स्पर्श स्पर्शित करते हैं, तो वह एक या अनेक तरह के परीषहजन्य स्पर्शों को सहन करता है। अचेलक भिक्षु लाघवता को जानता हुआ कायक्लेश तप से युक्त होता है। यह पूर्वोक्त विषय भगवान महावीर ने प्रतिपादित किया है। हे शिष्य! तू उस विषय को सम्यग् रूप से जानकर उन वीर पुरुषों की तरह—जिन्होंने पूर्वी या वर्षों तक संयम-मार्ग में विचरकर परीषहों को सहन किया है, तू भी अपनी आत्मा में परीषहों को सहन करने की वैसी ही शक्ति प्राप्त कर! इसका निष्कर्ष यह है कि मुनि के हृदय में परीषहों को सहन करने की तीव्र भावना होनी चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मुनि को साधक अवस्था में कुछ उपकरण रखने पड़ते हैं। यह बात अलग है कि उपकरणों की संख्या में कुछ अन्तर रहता है। जैसे जिनकल्पी मुनि—जो जंगल एवं पर्वतों की गुफाओं में रहते हैं, के लिए मुखवस्त्रिका और रजोहरण दो उपकरण ही पर्याप्त हैं, तो स्थविरकल्पी के लिए 14 उपकरण बताए गए हैं। इनमें भी कमी की जा सकती है। इन उपकरणों में कमी करना तपश्चर्या है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है। अतः साधक को कषायों के त्याग के साथ-साथ यथाशक्य उपकरणों में कमी करने के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मुनि का मूल उद्देश्य आत्मविकास है। आत्मविकास के लिए ही वह आहार-पानी एवं वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को स्वीकार करता है। ये उपकरण केवल संयम-साधना के साधन हैं, न कि साध्य। अतः वह उपकरणों को रखते हुए भी उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता और न उनमें आसक्त ही रहता है। उसका मन एवं उसका चिन्तन सदा-सर्वदा संयमपरिपालन में ही संलग्न रहता है। क्योंकि वह इस बात को जानता है कि संयम से ही कर्मों का नाश होगा और कर्म क्षय होने पर ही आत्मा का विकास हो सकेगा। अतः वह सदा संयम-पालन में ही जागरूक रहता है।

कभी वस्त्र आदि के फट जाने पर तथा समय पर शुद्ध—एषणिक वस्त्र के न मिलने पर वह उसके लिए चिन्ता नहीं करता, आर्त-रौद्र ध्यान नहीं करता। ऐसे समय में भी वह समभावपूर्वक अपनी साधना में संलग्न रहता है। वह वस्त्र की कमी के कारण होने वाले शीत, दंश-मशक एवं तृण स्पर्श के परीषहों को बिना किसी खेद के सहन करता है। वह अपने मन में सोचता-विचारता है कि भगवान महावीर ने इसी धर्म का या समभाव की साधना करने का उपदेश दिया है और अनेक महापुरुषों ने वर्षों एवं पूर्वों¹ तक इस शुद्ध धर्म एवं संयम का परिपालन करके आत्मा को कर्मों से सर्वथा अनावृत कर लिया है। अतः मुझे भी इसी धर्म का पालन करके निष्कर्म बनना

1. 84 लाख वर्षों को 84 लाख वर्षों से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, उतने वर्षों का एक पूर्व होता है, अर्थात् $84 \text{ लाख} \times 84 \text{ लाख} = 70 \text{ लाख करोड़, } 56 \text{ हजार करोड़ वर्ष } (70, 560000000000)।$

चाहिए। इस प्रकार साधक को समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए संयम में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग अचेलक शब्द का वस्त्ररहित अर्थ करते हैं। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में 'अ' अव्यय पूर्ण निषेध के अर्थ में नहीं, स्वल्प के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि अज्ञ का अर्थ है—स्वल्प ज्ञान वाला, न कि ज्ञान शून्य। इसी प्रकार अचेलक शब्द का तात्पर्य है—अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वल्प वस्त्र भी संयम-साधना के साधन हैं, साध्य नहीं। अतः साधक इनमें आसक्त नहीं रहता। इन सब उपकरणों में अनासक्त रहते हुए वह सदा संयम में संलग्न रहता है और आने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है।

परीषहों को सहन करने से आत्मा में किस गुण का विकास होता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आगयपन्नाणानं किंसा बाहवो भवन्ति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि॥183॥

छाया—आगतप्रज्ञानानां कृशाः बाहवः भवन्ति, प्रतनुके च मांसशोणिते, विश्रेणी कृत्वा परिज्ञाय, एष तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—आगयपन्नाणानं—जिनको परीषहों के सहन करने से उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, उनके। बाहवो—भुजाएं। किंसा—कृश। भवन्ति—होती हैं अथवा। बाहवो—बाधा—पीड़ा। किंसा—कृश। भवन्ति—होती हैं। य—और, मन के दृढ़ होने से। मंससोणिए—मांस-शोणित रुधिर। पयणुए—थोड़ा हो जाता है। विस्सेणिं—संसार रूप श्रेणी—जिसकी कषाय रूप सन्तति है, उसको क्षमादि के द्वारा नष्ट। कट्टु—करके तथा। परिन्नाय—समत्व भावना से जानकर। एस—उक्त लक्षण वाला मुनि। तिण्णे—संसार समुद्र को तैर गया है। मुत्ते—सब संग से मुक्त हो गया है। विरए—सर्व सावधानुष्ठान से रहित हो गया है। वियाहिए—ऐसा कहा गया है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रज्ञावान मुनि की परीषहों को सहन करने से भुजाएं कृश हो जाती

हैं, मांस और रुधिर थोड़ा हो जाता है। वह संसार-परिभ्रमण को बढ़ाने वाली रागद्वेष रूप सन्तति को नष्ट करके और समत्व भाव एवं पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर संसार समुद्र को पार कर जाता है। वह सर्व संसर्ग से छूट जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

संसार में दो प्रकार का परिवर्द्धन होता है—1—शरीर और 2—भव भ्रमण। शरीर का विकास प्रकाम—गरिष्ठ एवं पौष्टिक भोजन और आराम तलबी पर आधारित है और भव भ्रमण का प्रवाह राग-द्वेष एवं विषय-वासना के आसेवन से बढ़ता है। मुनि का जीवन त्याग का जीवन है। वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, मकान में रहता है; फिर भी इनमें आसक्त नहीं रहता। क्योंकि, वह इन्हें केवल संयम-पालन के साधन मानता है। अतः साधना को शुद्ध रखने के लिए वह सादा एवं सात्त्विक भोजन या वस्त्रादि लेकर समभाव से संयम का पालन करता है और कभी समय पर यथाविधि शुद्ध-एषणिक आहार आदि उपलब्ध न होने पर भी वह किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है। वह इन सब परीषहों को समभावपूर्वक सहन करता है। इस प्रकार अनेक परीषहों को सहन करने से उसके शरीर का मांस सूख जाता है। उसका शरीर कृश—दुबला-पतला हो जाता है, परन्तु सहन शक्ति के साथ समभाव की धारा प्रवहमान रहने के कारण वह पूर्व बद्ध कर्मों को क्षय करके कर्म के बोझ से भी हल्का हो जाता है। इससे वह जन्म-मरण की परम्परा को परिवर्द्धित करने वाले राग-द्वेष का क्षय करके अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के संसार-परिवर्द्धन को समाप्त करके भवसागर से पार हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य से संपन्न साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है। इससे उसकी साधना में तेजस्विता आती है और वह संसार-परिभ्रमण को घटाता रहता है। इस प्रकार परीषहों को सहन करने से उसकी आत्मा का विकास होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए?

संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा जइया मेहाविणो पंडिया, एव तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्तिबेमि॥184॥

छाया—विरतं भिक्षुं रीयमाणं चिररात्रोषितमरतिस्तत्र किं विधारयेत्? संदधानः समुत्थितः यथा स द्वीपोऽसंदीनः एवं स धर्मः आर्यप्रदेशितः ते अनवकांक्षन्तः प्राणिनोऽनतिपातयन्त यदा (दयिताः) मेधाविनः पंडिता, एवं तेषां भगवतोऽनुष्ठानः यथा स द्विजपोतः एवं ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—रीयंतं—संयम मार्ग पर चलते हुए। विरयं—विरत। भिक्षुं—भिक्षु को। चिरराओसियं—जो चिर काल पर्यंत संयम में रहा हुआ है। किं—क्या उसे। तत्थ—संयम के विषय में। अरई—अरति—चिन्ता। विधारए—उत्पन्न हो सकती है?

उत्तर—हां, यह कर्म की विचित्रता है, जिसके कारण उसे चिन्ता उत्पन्न हो सकती, तथा नहीं भी हो सकती, जैसे कि। संधेमाणे—जो उत्तरोत्तर संयम स्थान में आत्मा को जोड़ता है, तथा। समुट्ठिए—सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में उपस्थित हुआ है, ऐसे मुनि को अरति किस प्रकार हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती, वह मुनि तो। जहा—जैसे। से—वह। दीवे असंदीणे—असंदीन द्वीप जल से सर्वथा रहित होने से डूबते हुए प्राणियों का आश्रयभूत है, इसी प्रकार मुनि भी द्वीप तुल्य-द्वीप के समान अन्य जीवों का रक्षक है। एवं—इसी प्रकार। से—वह। धम्मे—धर्म। आरियपदेसिए—आर्य प्रदेशित—तीर्थंकर प्रणीत होने से द्वीप के समान प्राणियों की रक्षा करने वाला है। ते—वे—धर्म के पालने वाले। अणवकंख-माणा—भोगों को न चाहते हुए तथा। पाणे—प्राणियों की। अणइवायमाणा—हिंसा न करते हुए—उपलक्षण से अन्य महाव्रतों का पालन करते हुए। जइया—सर्व जीवों की रक्षा करने से लोगों को प्रिय हैं अथवा सब जीवों के रक्षक हैं। मेहाविणो—मर्यादा में स्थित रहने से मेधावी हैं। पंडिया—पंडित—पापों से दूर रहने वाले हैं। एवं—इसी प्रकार। तेसिं—उनको। भगवओ—भगवान् वर्द्धमान स्वामी के धर्म में। अणुट्ठाणे—अनुष्ठान—अनुष्ठान है अथवा जो भगवान् के धर्म में स्थिर चित्त नहीं, वे उनको धर्म में स्थिर करते हैं—शिक्षा

के द्वारा उनकी आत्मा को धर्म में लगाते हैं। जहा—जैसे। से—वह। दिया—द्विज—पक्षी। पोए—अपने पोत—बच्चों का पालन करता है। एवं—इसी प्रकार। ते—वे महापुरुष। दिया—दिन। च—और। राओ—रात्रि में। य—समुच्चयार्थ में है। अपुव्वेण—अनुक्रम से। वाइयं—वाचनादि के द्वारा। सिस्सा—शिष्यों का पालन करते हैं; जिससे कि वे संसार समुद्र से पार होने में समर्थ हों। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सावध व्यापार से निवृत्त और संयम-मार्ग में विचरते हुए भिक्षु—जो चिर काल से संयम में अवस्थित है, को भी क्या अरति उत्पन्न हो सकती है? हां, कर्म की विचित्रता के कारण उसे भी संयम में अरुचि हो सकती है। परन्तु, संयम-निष्ठ मुनि को अरुचि उत्पन्न नहीं होती है। उत्कृष्ट संयम में आत्मा को जोड़ने वाला, सम्यक् प्रकार से समय में यत्नशील मुनि असन्दीन (कभी भी जल से नहीं भरने वाले) द्वीप की तरह सब जीवों का रक्षक होता है या यह तीर्थकर प्रणीत धर्म द्वीप तुल्य होने से जीवों का रक्षक है। वे साधु भोगेच्छा से रहित एवं प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न नहीं करने वाले जगत प्रिय—वल्लभ, मेधावी और पंडित हैं। परन्तु; जो भगवान के धर्म में स्थिर चित्त नहीं हैं, ऐसे साधकों को आचार्यादि भी दिन और रात्रि में अनुलोम वाचनादि के द्वारा रत्नत्रय का यथार्थ बोध करवा कर संसारसमुद्र से तैरने के योग्य बनाते हैं। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

आगमों में मोह कर्म को सबसे प्रबल माना है। जिस समय इसका उदय होता है, उस समय यह बड़े-बड़े योगियों को भी साधनापथ से च्युत कर देता है। इसी बात को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि मोह कर्म के उदय से भी साधक के मन में चिन्ता एवं साधना से घृणा उत्पन्न हो सकती है। अतः इस दुर्भावना को मन में पनपने नहीं देना चाहिए, प्रत्युत उसे तुरन्त निकाल फेंकने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने मन को विषय-वासना एवं पदार्थों की आसक्ति से हटाकर संयम में लगाना चाहिए। उसे अपने चिन्तन की धारा को रत्न-त्रय की साधना की ओर मोड़ देना चाहिए, जिससे उसका मन संयम में तथा ज्ञान एवं दर्शन की साधना में संलग्न हो सके। इस प्रकार वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार संयम में संलग्न रहने वाला साधक कभी भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं होता है।

वह संयमसंपन्न मुनि सब प्राणियों के लिए आश्रयभूत होता है। जैसे समुद्र में भटकने वाले प्राणियों की द्वीप रक्षा करता है, उसे आश्रय देता है, उसी प्रकार संयम-शील साधक सब प्राणियों की दया, रक्षा करता है। संयम सबके लिए अभय प्रदाता है। इससे बढ़कर संसार में कोई और आश्रय या शरण नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में केशीश्रमण के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने भी यही कहा है कि “संसार सागर में भटकने वाले प्राणी के लिए धर्म द्वीप ही सबसे श्रेष्ठ आश्रय है, उत्तम शरण है¹।”

ऐसे संयम-निष्ठ मुनि ही समस्त प्राणियों के रक्षक हो सकते हैं। वे ही भोगासक्त व्यक्तियों को त्याग का मार्ग बताकर उन्हें निवृत्ति पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दे सकते हैं। ऐसे आचारसम्पन्न महापुरुषों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे साधक को तत्त्वों का यथार्थ बोध कराएं और ज्ञान के द्वारा उसकी साधना में तेजस्विता लाने का प्रयत्न करें। यदि किसी साधक के पैर लड़खड़ा रहे हैं, मन चल-विचलित हो रहा है, तो उस समय आचार्य एवं गीतार्थ (वरिष्ठ) साधु को चाहिए कि वह अपने अन्य सब कार्यों को छोड़कर उसके मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे। उसे रात-दिन स्वाध्याय कराते हुए, आगम का बोध कराते हुए उसके हृदय में संयम के प्रति निष्ठा जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अगीतार्थ एवं चल-विचल मन वाले शिष्य को सुयोग्य बनाने का दायित्व आचार्य एवं संघ के वरिष्ठ साधुओं पर है।

इस प्रकार संयम-निष्ठ एवं संयम में स्थिर हुआ साधक प्राणिजगत के लिए शरण रूप होता है। स्वयं संसारसागर से पार होता है और अन्य प्राणियों को भी पार होने का मार्ग बताता है। ‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन : धृत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में उपकरणों में कमी करने का उपदेश दिया गया है। उपकरणों में कमी करने अथवा साधना में सहायक आवश्यक उपकरणों से अधिक न रखने के लिए अनासक्त भाव का होना आवश्यक है। इसके लिए गौरव का त्याग करना अनिवार्य हो जाता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में इसी बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमंतेहिं तेसिमंति ए पन्नाणमुवलब्ध हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नोत्ति मन्नमाणा आघायं तु सुच्चा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवन्ता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समाहिमाघायम-जोसयन्ता सत्थारमेव फरुसं वयंति॥१८५॥

छाया—एवंते शिष्या दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण वाचितस्तैर्महावीरैः। प्रज्ञानवद्भिः तेषामन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य हित्वा उपशमं पारुष्यं समाददति, उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञां तां नो इति मन्यमानाः आख्यातं तु श्रुत्वा निशम्य समनोज्ञाः जीविष्यामः एके निष्क्रम्य असंभवन्तः विदह्यमानाः कामैर्गृद्धाः अध्युपपन्नाः समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्तारमेव परुषं वदन्ति।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। ते—वे। सिस्सा—शिष्य। दिया—दिन। य—और। राओ—रात्रि में। य—समुच्चय अर्थ में है। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। तेहिं—उन। महावीरेहिं—तीर्थकर, गणधर आदि। पन्नाणमंतेहिं—प्रज्ञावानों के द्वारा। वाइया—पढ़ाए गए हैं। तेसिमंति ए—वे शिष्य आचार्यादि के समीप। पन्नाणमुवलब्ध—विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके बहुश्रुत बनकर, प्रबल मोह के उदय से पुनः। उवसमं—उपशम

भाव को। हिच्चा—छोड़कर। फारुसियं—कठोर भाव को। समाइयंति—ग्रहण करते हैं और। बंभचेरसि—ब्रह्मचर्य में—संयम में। वसिता—वस कर। आणं तं—भगवद् आज्ञा को। नोत्ति—नहीं। मन्नमाणा—मानते हुए। तू—अवधारण अर्थ में है। आघायं—कुशील के विपाक को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय में विचार कर शिक्षक को कठोर वचन बोलते हैं, फिर। एगे—कई एक। समणुन्ना—लोक में प्रामाणिक होकर। जीविस्सामो—जीवन व्यतीत करेंगे, इस आशा से वे शब्द शास्त्र आदि को पढ़ते हैं। निक्खमंते—दीक्षा लेकर फिर मोह के उदय से। असंभवता—तीन गौरव के वश होकर—मोक्ष मार्ग का अनुसरण न करके। विडञ्जमाणा—मान में जलते हुए। कामेहिं—काम भोगों में। गिद्धा—मूर्छित—आसक्त तथा। अज्झोववन्ना—तीन गौरवों में अत्यन्तासक्त होकर। समाहिमाघायं—तीर्थकर कथित समाधि का। अजोसयंता—सेवन न कर के। सत्थारमेव—शास्ता—गुरुजनों को ही। फरुसं—कठोर वचन। वयंति—बोलते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! कुछ शिष्य तीर्थकर, गणधर तथा आचार्यादि प्रज्ञावानों के द्वारा रात-दिन पढ़ाये हुए, उनके समीप श्रुतज्ञान को प्राप्त कर के भी प्रबल मोहोदय से उपशम भाव को छोड़कर कठोर भाव को ग्रहण करते हैं। वे संयम में बसकर तीर्थकर की आज्ञा को न मानते हुए तथा कुशील सेवन से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सुनकर और हृदय में विचार कर भी कई साधु इस आशा से दीक्षा लेकर शब्द शास्त्रादि पढ़ते हैं कि हम लोक में प्रामाणिक जीवन व्यतीत करेंगे। मोह के प्राबल्य से वे बाल जीव तीन गौरवों के वशीभूत होकर भगवत् कथित मोक्ष मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण न करते हुए अहंकार से जलते हैं। वे काम-भोगों में मूर्छित, गौरवों में अत्यन्त आसक्त हुए भगवत् कथित समाधिमार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। यदि कभी गुरुजन उन्हें हित शिक्षा दें तो वे उनको भी कठोर वचन बोलते हैं और उनका तथा शास्त्रों का दोष निकालते हैं।

हिन्दी-विवेचन

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। निरभिमानता विनय का लक्षण है। अभिमान और विनय का परस्पर मेल नहीं बैठता। अभिमानी व्यक्ति गुरु का, आचार्य का एवं वरिष्ठ पुरुषों का आदर-सत्कार एवं विनय नहीं कर सकता। प्रज्ञावान पुरुषों

द्वारा आगम का ज्ञान प्राप्त करके भी वह ज्ञान के मद में गुरु के उपकार को भी भूल जाता है। वह उपशम का त्याग करके कठोरता को धारण कर लेता है। उपशम का अर्थ है—विकारों को शान्त करना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। पानी में मिली हुई मिट्टी को उससे अलग करने के लिए उसमें बीजों का निर्मल चूर्ण डालते हैं या फिटकरी फेरते हैं, जिससे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है। यह द्रव्य उपशम है। आत्मा में उदय भाव में आए हुए कषायों को ज्ञान के द्वारा उपशान्त करना भाव उपशम है। जैसे वायु के प्रबल झोकों से शान्त पानी में लहरें उठने लगती हैं, उसी तरह मोह के उदय से आत्मा में भी विषमता एवं विकारों की तरंगें उछल-कूद मचाने लगती हैं और संयम में स्थित साधु भी तीर्थंकर, आचार्य आदि महापुरुषों की अवज्ञा करने लगता है। वह साता—सुख-शान्ति, रस एवं ऋद्धि इन तीन गौरवों के वश में होकर किसी की भी परवाह नहीं करता है और अपने आपको सबसे अधिक योग्य समझने लगता है।

वे आगमों का अध्ययन संयम में आने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध संयम का परिपालन करने की दृष्टि से नहीं, अपितु केवल अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने एवं दूसरों पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही करते हैं। अतः ज्यों ही उनका थोड़ा-सा अध्ययन होता है, त्यों ही वे एकदम मेंढकों की तरह उछल-कूद मचाने लगते हैं। ऐसे अभिमानियों एवं अविनीत शिष्य अपने गुरु एवं अन्य वरिष्ठ पुरुषों की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते।

वे संघ के अन्य साधुओं के साथ भी शिष्टता का व्यवहार नहीं करते। उन्हें भी वे कठोर शब्द बोलते रहते हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया॥186॥

छाया—शीलवन्तः उपशान्ताः संख्यया रीयमाणाः अशीला अनुवदतः द्वितीया मन्दस्य बालता।

पदार्थ—सीलमंता—आचार-सम्पन्न। उवसंता—उपशान्त कषाय वाले। संखाए—ज्ञान पूर्वक। रीयमाणा—संयम में संलग्न साधु को, वे बाल अज्ञानी कहते हैं, कि। असीला—यह साधु दुराचारी है। अणुवयमाणस्स—वह उन्हें पार्श्वस्थ आदि भी

कहता है। मंदस्स—उस मंद बुद्धि वाले साधक की यह। बिइया—दूसरी। बालया—मूर्खता है।

मूलार्थ—आचारनिष्ठ, उपशांत कषाय वाले और ज्ञानपूर्वक संयम में संलग्न साधक को दुराचारी कहना उस मन्द बुद्धि एवं बाल अज्ञानी साधक की दूसरी मूर्खता है।

हिन्दी-विवेचन

जीवन का अभ्युदय ज्ञान, आचार एवं कषायों की उपशांतता पर आधारित है। ज्ञान एवं आचारसंपन्न पुरुष विकारों पर विजय पा सकते हैं। वे उदय में आए हुए कषायों को भी उपशांत कर सकते हैं। अतः ऐसे साधक ही आत्मविकास कर सकते हैं। कुछ व्यक्ति साधना के पथ को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु मोहोदय के कारण वे संयम से गिर जाते हैं। वे साधक अपने दोषों को न देखकर शुद्ध संयम में संलग्न साधकों की अवहेलना करते हैं। वे उन्हें दुराचारी, पाखण्डी, मायाचारी एवं कपटी आदि बताकर उनका तिरस्कार करते हैं। इस तरह वे अज्ञानी व्यक्ति संयम का त्याग करके पहली मूर्खता करते हैं और फिर महापुरुषों पर झूठा दोषारोपण करके दूसरी मूर्खता करते हैं। इस प्रकार वे पतन के महागर्त में जा पड़ते हैं।

अतः मुमुक्षु पुरुष को किसी भी संयम-निष्ठ पुरुष की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नियट्टमाणा वेगे आचारगोयरमाइक्खंति, नाणब्भट्ठा
दंसणलूसिणो॥187॥

छाया—निवर्त्तमाना (उपशान्ता) वैके आचारगोचरमाचक्षते, ज्ञान भ्रष्टः,
दर्शनलूषिणः (विध्वंसिनः)।

पदार्थ—एगे—कई एक। नियट्टमाणा वा—संयम से निवृत्त होते हुए या वेश का परित्याग करते हुए। आचारगोयरं—जो आचार का परिपालन करते हैं, वे धन्य हैं। आइक्खंति—ऐसा कहते हैं, वे आचार सम्पन्न मुनियों की निन्दा नहीं करते हैं। परन्तु, जो वेश का त्याग करके या वेश को रखते हुए भी सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन का

त्याग कर देते हैं, वे। नाणबमट्ठा—ज्ञान से भ्रष्ट होते हैं और। दंसणलूसिणो—दर्शन के नाशक होते हैं।

मूलार्थ—कुछ साधक मुनि वेश का त्याग करने पर भी आचारसंपन्न मुनियों का आदर करते हैं। वे संयमनिष्ठ मुनियों की निन्दा नहीं करते, परन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान एवं दर्शन—श्रद्धा दोनों के विध्वंसक होते हैं।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समन्वित साधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः जीवन-विकास के लिए रत्न-त्रय की साधना महत्त्वपूर्ण है। इनमें ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं, दोनों एक साथ रहते हैं। सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् दर्शन के साथ सम्यग् ज्ञान अवश्य होगा, परन्तु ज्ञान और दर्शन के साथ चारित्र हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता। किन्तु सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन अवश्य होगा। उनके अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता है। सम्यग् ज्ञान के अभावं में चारित्र—भले ही वह आगम में प्ररूपित आचार या क्रिया कांड भी क्यों न हो, मिथ्या चारित्र ही कहलाएगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग् ज्ञान युक्त चारित्र का ही महत्त्व है। अतः यदि कोई व्यक्ति चारित्र मोहकर्म के उदय से संयम का त्याग भी कर देता है। परन्तु, श्रद्धा-ज्ञान एवं दर्शन का त्याग नहीं करता है, तो वह संयम से गिरने पर भी मोक्ष मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट नहीं होता है। वह अपने विकास पथ से पूर्णतः नहीं गिरता है। वह व्यक्ति संयम का त्याग करने पर भी आचार एवं विचार निष्ठ मुनियों की निन्दा एवं अवहेलना नहीं करता है। वह उन्हें आदर की निगाह से देखता है। उसकी विवेक दृष्टि पूरी तरह बन्द नहीं हुई है। परन्तु, जो अज्ञानी हैं अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन का भी त्याग कर चुके हैं, उन पर 'इतोभ्रष्टस्ततोऽनष्टः' की कहावत पूर्णतः लागू होती है। वे धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहते हैं और न घाट के। वे अपने जीवन का भी पतन करते हैं और चारित्र-निष्ठ पुरुषों की निन्दा करके उन्हें बदनाम करने का भी प्रयत्न करते हैं तथा अन्य लोगों के मन में उनके प्रति रही हुई श्रद्धा—निष्ठा को निकालकर उनको भी पतन के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामन्ति पुट्ठा वेगे नियट्टन्ति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतं पि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति अहे संभवन्ता विदायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥188॥

छाया—नमन्तो वैके जीवितं विपरिणामयन्ति स्पृष्टाः वैके निवर्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् निष्क्रान्तमपि तेषां दुर्निष्क्रान्तं भवति बालवचनीयाः हु ते नरा; पौनः पुन्येन जातिं प्रकल्पयन्ति अधः संभवन्तो विद्वांसो मन्यमानाः अहमस्मीति व्युत्कर्षयेत् उदासीनान् परुषं वदन्ति पलितं (अनुष्ठानं) प्रकथयेत् अथवा प्रकथयेद् अतथ्यैः तद् (तंवा) मेधावी जानीयाद् धर्मम् ।

पदार्थ—एगे—कई एक साधु । नममाणा—श्रुतज्ञान के लिए भावशून्य नमस्कार करते हुए । जीवियं—संयम जीवन का । विप्परिणामन्ति—नाश करते हैं । वा—अथवा । एगे—कई एक । पुट्ठा—परीषहों के स्पर्श होने पर । नियट्टन्ति—संयम या लिंग—भेष से निवृत्त हो जाते हैं । एव—अवधारणार्थक है । जीवियस्स—असंयममय जीवन के । कारणा—कारण । से—निमित्त से । तेसिं—उनका । निक्खंतं पि—गृहस्थावास से निकलना भी । दुन्निक्खंतं—दुष्कर । भवइ—होता है । हु—जिस से । बालवयणिज्जा—बाल अर्थात् प्राकृत पुरुषों में भी निन्दनीय । ते—वे । नरा—मनुष्य । पुणोपुणो—पुनःपुनः । जाइं—चतुर्गतिरूप उत्पत्ति स्थान में । पकप्पिंति—परिभ्रमण करते हैं । 'कौन? अहे संभवन्ता—जो संयम स्थान से निम्न स्तर पर बर्ताव करने वाले अथवा संयम मार्ग से पतित होने वाले, तथा । विदायमाणा—अपने आप को ही विद्वान मानने वाले हैं । अहमंसीति—मैं ही सबसे अधिक विद्वान हूं इस प्रकार । विउक्कसे—अहंकार करने वाले, अर्थात् आत्मश्लाघी पुरुष, अन्य । उदासीणे—मध्यस्थ व्यक्तियों को । फरुसं—कठोर वचन । वयंति—बोलते हैं, तथा । पलियं—पूर्व आचरित अनुष्ठान के द्वारा । पकथे—निन्दा करते हैं यथा तू वाचाल है इत्यादि । अदुवा—अथवा । अतहेहिं—असत्य वचनों से गाली प्रदान करते हैं और मुख विकारादि कुचेष्टाओं से । पकथे—गुरु जनों की हीलना करते हैं । मेहावी—बुद्धिमान । तं—उस श्रुत और चारित्र रूप । धम्मं—धर्म अथवा वाच्य को । जाणिज्जा—भली-भांति जाने ।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई एक साधक पुरुष आचार्यादि को श्रुतज्ञान के लिए भाव रहित नमस्कार करते हुए परीषहों के स्पर्शित होने पर केवल असंयमित—असंयत जीवन के लिए संयममय जीवन का परित्याग कर देते हैं। उनका संसार से निकलना श्रेष्ठ नहीं कहलाता है। वे बाल अर्थात् प्राकृत जनों द्वारा भी निन्दा के पात्र बनते हैं और चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं। संयम स्थान से नीचे गिरते हुए अथवा अविद्या के वशीभूत होकर वे अपने आप को परम विद्वान् मानते हुए तथा मैं परम शास्त्रज्ञ अथवा बहुश्रुत हूं, इस प्रकार आत्मश्लाघा में प्रवृत्त हुए अभिमानी जीव, मध्यस्थ पुरुषों को भी कठोर वचन कहते हैं। उनके भूतपूर्व चरित्र को लेकर वे उन पुरुषों की निन्दा करते हैं, अश्लील वचनों तथा मुखविकारादि कुचेष्टाओं से वे गुरुजनों की भी अवहेलना करते हैं। अंतः बुद्धिमान पुरुष, श्रुत और चारित्र रूप धर्म को या वाच्य और अवाच्य को भली-भांति जानने का प्रयत्न करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए विनय की आवश्यकता है। परन्तु, उसके साथ निष्ठा—श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। कुछ साधक ज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार्य एवं गुरु को यथाविधि वन्दन-नमस्कार तो करते हैं। परन्तु गुरु के प्रति श्रद्धा-भाव नहीं रखते। अतः उनका विनय या वन्दन केवल दिखावा मात्र होता है। परिणामस्वरूप वे अपनी ज्ञान-साधना में सफल नहीं होते हैं। उनके हृदय में श्रद्धा नहीं होने के कारण उनका मन साधना में नहीं लगता है। इस तरह वे संयम से गिर जाते हैं और अपने दोषों को छिपाने के लिए महापुरुषों की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाते हैं।

वे अज्ञानी व्यक्ति अपने आपको सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। वे अपने आपको सबसे अधिक ज्ञानी, ईमानदार एवं चरित्रवान समझते हैं। वे आचारनिष्ठ महापुरुषों की सदा आलोचना करते रहते हैं। उनके जीवन में से दोषों का अन्वेषण करने में ही संलग्न रहते हैं। सदा गुरुजनों पर व्यंग्य कसते हैं तथा शारीरिक इशारों के द्वारा उनका उपहास करते हैं। इस प्रकार महापुरुषों की निन्दा करके वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

अतः साधक को ऐसे विचारकों का त्याग करके श्रद्धापूर्वक ज्ञान एवं क्रिया तथा आचार एवं विचार की साधना करनी चाहिए। आचार एवं विचार से संपन्न साधक ही आत्मा का विकास कर सकता है। ज्ञान से रहित केवल आचार का पालन करने वाले तथा क्रिया-काण्ड से शून्य केवल (मात्र) ज्ञान की साधना में संलग्न साधक यथार्थ रूप से आत्मा का विकास नहीं कर सकते हैं। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना के अभाव में साधक पतन की ओर भी लुढ़क सकता है और वह भगवदाज्ञा के विपरीत चलकर संसार को भी बढ़ा सकता है।

इसी बात को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरम्भट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समुणजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियदे वियाहिए, तिबेमि॥189॥

छाया—अधर्मार्थी त्वमेव नाम बालः आरम्भार्थी अनुवदन् जहि प्राणिनः घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि (समनुजानान्) घोरो धर्मः, उदीरितः उपेक्षते (णं) अनाज्ञया एषः विषण्णो वितर्दो व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—संयम से पतित होते हुए साधक को गुरुदेव शिक्षा देते हैं। नाम—सम्भावनार्थ में है। तुमंसि—हे शिष्य! तू। अहम्मट्ठी—अधर्मार्थी है। बाले—बाल—अज्ञानी है और। आरम्भट्ठी—आरम्भार्थी—आरम्भ करने वाला है। अणुवयमाणे—हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करने वाला होने से तू इस प्रकार कहता है। हणपाणे—प्राणियों का हनन करो। घायमाणे—दूसरों से हिंसा करवाता है। हणओ यावि—हिंसा करने वाले अन्य प्राणियों का। समणुजाणमाणे—अनुमोदन करता है—उन्हें भला जानता है, अतएव तू बाल है। घोरे-धम्मे—आश्रव का निरोधक होने से भगवान् ने धर्म को घोर—महान्। उदीरिए—कथन किया है, तू उस धर्म की। उवेहइ—उपेक्षा करता है। णं—वाक्यालंकार में है। अणाणाए—भगवद् आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन रहा है। एस—इन पूर्वोक्त कारणों से तू बाल है, अतः। विसन्ने—काम-भोगों में आसक्त। वियदे—हिंसक। वियाहिए—कहा गया है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

• **मूलार्थ**—संयम से पतित होते हुए शिष्य के प्रति गुरु कहते हैं—हे शिष्य! तू अधर्मार्थी है, बाल है और आरम्भ में प्रवृत्त हो रहा है। हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करके तू भी कहता है कि प्राणियों का अवहनन—घात करो और तू दूसरों से हनन करवाता है तथा हिंसा करने वालों को अच्छा भी समझता है, अतः तू बाल है। आश्रवों का निरोधक होने से ही भगवान ने धर्म को घोर—दुर्नुचर कहा है। किन्तु, तू उस धर्म की उपेक्षा करता है। भगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन गया है। इन पूर्वोक्त कारणों से तथा काम-भोगों में आसक्त और संयम के प्रतिकूल आचरण करने के कारण तू हिंसक कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जब साधक साधनापथ से एक बार फिसलने लगता है, तो बीच में उचित सहयोग न मिलने या मोहकर्म के उदय के कारण फिर वह फिसलता ही जाता है। उनका पतन यहां तक हो जाता है कि वह अन्य हिंसक प्राणियों की तरह आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहने लगता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए वह हिंसा, झूठ आदि दोषों का सेवन करने लगता है। वह विषय-कषाय में आसक्त होकर धर्म से सर्वथा विमुख हो जाता है और इससे पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता है।

शिष्य को जागृत करते हुए गुरु कहते हैं कि हे आर्य! तुझे संयमपथ से भ्रष्ट, अधर्मी व्यक्ति के दुःखद एवं अनिष्टकर परिणाम को जानकर सदा संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए। संयमपथ से भ्रष्ट व्यक्ति को अधर्मी, स्वेच्छाचारी, भगवान की आज्ञा से बाहर एवं संसार में परिभ्रमण करने वाला कहा गया है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सदा शुद्ध संयम का परिपालन करना चाहिए।

गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वड्ढत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुब्बया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्ठा कायरा जणा लूसगा भवन्ति, अहमेगेसिं सिलोए पावए-भवइ, से

समणो भवित्ता विब्भन्ते-विब्भन्ते पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए
नममाणेहिं अनममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा
पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि
त्तिबेमि॥190॥

छाया—किमनेन भो! जनेन करिष्यामीति मन्यमानाः एवमेके उदित्वा
मातरं पितरं हित्वा ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणाः समुत्थाय अविहिंसाः
सुव्रताः दान्ताः पश्य! दीनान् उत्पत्तितान् प्रतिपततः वशार्ताः कातराः जनाः
लूषकाः भवन्ति अथ एकेषां श्लोको पापको भवति स श्रमणो भूत्वा विभ्रान्तो
विभ्रान्तः पश्य एके समन्वागतैः सह असमन्वागतान् नममानैः अनममानान्,
विरतैरविरतान् द्रव्यैरद्रव्यानभिसमेत्य पंडितः मेधावी निष्ठितार्थी वीरः आगमेन
सदा परिक्रामयेरिति ब्रवीमी ।

पदार्थ—भो—आमन्त्रणार्थ में है। जणेण—माता-पिता आदि से। किमणेण—मैं
क्या। करिस्सामित्ति—करुंगा, इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ, संसार के
स्वरूप को जानने वाले। एगे—कई एक। वइत्ता—यह कहकर। मायरं—माता को।
पियरं—पिता को। हिच्चा—छोड़कर। य—और। नायओ—ज्ञातिजनों को। परिग्रह—
परिग्रह को। वीरायमाणा—आत्मा को वीर की भांति मानते हुए। समुट्ठाए—संयमा-
नुष्ठान में सम्यक् प्रकार से सावधान होकर। अविहिंसा—दया के धारण करने
वाले। सुव्वया—सुन्दर व्रतों का सेवन करने वाले। दन्ता—इन्द्रियों का दमन करने
वाले हैं, हे शिष्य! इनको। पस्स—तू देख! जो कि पहले सिंह की भांति दीक्षा के
लिए उद्यत होकर, फिर पतित हो जाते हैं। दीणे—उन दीनों को। उप्पइए—पतितों
को। पडिवयमाणे—संयम से गिरते हुआओं को वे, किस कारण से पतित हो जाते हैं?
वसट्ठा—वे इन्द्रियों के वशीभूत होने से आर्त हो रहे हैं। कायरा—परीषहोपसर्गादि
के सहन करने में कायर। जणा—जन। लूसगा—व्रतों के विध्वंसक हो जाते हैं, अब
उसका फल दिखाते हुए कहते हैं। अहमेगेसिं—उनमें से कई एक की। सिलोए—श्लाघा
रूप कीर्ति। पावए भवइ—पापरूप होती है, अर्थात् यश के स्थान में अपयश हो
जाता है। से—वह। समणो—श्रमण। भवित्ता—होकर। विब्भन्ते—विभ्रान्त होकर
श्रमण भाव से गिर जाते हैं। पासह—हे शिष्य तू देख! एगे—कई एक। समन्नागएहिं—

उद्यत विहारियों के। सह—साथ, बसते हुए भी। असमन्नागए—शिथिल विहारी हो जाते हैं, तथा। नममाणेहिं—संयमानुष्ठान में विनयशील साधकों के साथ रहते हुए भी। अनममाणे—नम्रता रहित—निर्दयता और सावधानुष्ठान का सेवन करने वाले हो जाते हैं। विरएहिं—विरतों—त्यागियों के साथ रहकर भी। अविरए—अविरत हो जाते हैं। दविएहिं—मुक्ति जाने योग्य साधकों के साथ रहते हुए भी। अदविए—मुक्ति गमन के अयोग्य हो जाते हैं, इस प्रकार के शिष्यों को। अभिसमिच्चा—जानकर। पंडिए—पंडित। मेहावी—बुद्धिमान—मर्यादाशील। निट्ठयट्ठे—विषय सुख से रहित। वीरे—वीर—कर्म-विदारण में समर्थ। आगमेणं—आगम के द्वारा साधना पथ को जानकर। सया—सदा। परक्कमिज्जासि—संयम में पराक्रम करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई पुरुष प्रथम संयममार्ग की आराधना में सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर पीछे से किस प्रकार उसका परित्याग करके प्राणियों के विनाश में प्रवृत्त हो जाते हैं। वह इस प्रकार कहता है कि हे लोगो! मुझे इन संबन्धी जनों से क्या प्रयोजन है? ऐसा मानकर वह दीक्षित होता है, माता-पिता और सम्बन्धी जनों तथा अन्य प्रकार के परिग्रह को त्यागकर वीर पुरुष की भांति आचरण करते हुए सम्यक् प्रकार से संयमानुष्ठान में प्रवृत्त होकर अहिंसक वृत्ति से व्रतों का परिपालन करने और इन्द्रियों को दमन करने में सदा सावधान रहता है। परन्तु, पीछे से किसी पाप के उदय होने पर दीक्षा को छोड़कर, संयम को त्यागकर वह दीनता को धारण कर लेता है। अपने त्यागे हुए विषय-भोगों को फिर से ग्रहण करने लगता है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! तू ऐसे पतित पुरुषों को देख, जो कि इन्द्रियजन्य विषय और कषायों के वश में होकर आर्त दुःखी बन गए हैं। वे परीषहों को सहन करने में कायर होने से व्रतों के विध्वंसक बन रहे हैं। वे श्रमण होकर तथा विरत त्यागी बनकर भी यश के स्थान में अपयश कोही प्राप्त करते हैं। वे विनयशील साधकों के साथ रहकर भी अविनयी, विरतों के सहवास में रहकर भी अविरत, उद्यत विहारियों के साथ रहकर भी शिथिल विहारी बन जाते हैं एवं मुक्ति गमन योग्य व्यक्तियों के साथ बसकर भी वे मुक्तिगमन के योग्य नहीं रहते हैं। अतः मेधावी—विचारशील व्यक्ति इनको अच्छी तरह समझ कर वीर पुरुष

की भांति विषय-सुखों से सर्वथा पराङ्मुख होकर आगम के अनुरूप क्रियानुष्ठान—साधना का पालन करने में सदा संलग्न रहे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधना की पूर्व एवं उत्तर स्थिति का एक चित्र उपस्थित किया है। इसमें बताया गया है कि कुछ साधक त्याग-विराग पूर्वक घर का एवं विषय-भोगों का त्याग करने के लिए उद्यत होते हैं। परिजन उन्हें घर में रोकने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, वे उनके प्रलोभनों में नहीं आते और पारिवारिक बन्धन को तोड़कर संयम स्वीकार कर लेते हैं और निष्ठापूर्वक संयम का पालन करते हैं। वे संयम में किसी प्रकार का भी दोष नहीं लगाते हैं।

परन्तु, मोह कर्म के उदय से वे विषय-भोगों में आसक्त होकर संयम का त्याग कर देते हैं। वर्षों की घोर तपश्चर्या को क्षणभर में धूल में मिला देते हैं। सिंह की तरह गर्जने वाले गीदड़ की तरह कायर बन जाते हैं। भोगों में अति आसक्त रहने के कारण वे जल्दी ही मर जाते हैं। उनमें से कुछ जीवित भी रहते हैं, परन्तु पथभ्रष्ट हो जाने के कारण लोगों में उनका मान-सम्मान नहीं रहता है। जहां जाते हैं, वहां निन्दा एवं तिरस्कार ही पाते हैं। इस तरह वे वर्तमान एवं भविष्य के या इस लोक एवं परलोक—दोनों लोकों के जीवन को बिगाड़ लेते हैं।

अतः उनके दुष्परिणाम को देखकर साधक को सदा विषय-वासना से दूर रहना चाहिए। ज्ञान एवं आचार की साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए। जो साधक सदा-सर्वदा विवेकपूर्वक संयम का परिपालन करता है और आचार-विचार को शुद्ध रखता है, वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ एक दिन निष्कर्म बन जाता है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



षष्ठ अध्ययन : धृत

पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में गौरव (रस, साता और ऋद्धि) के त्याग का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इन पर विजय पाने के लिए कष्टसहिष्णु होना आवश्यक है। परीषहों के उपस्थित होने पर भी जो समभाव पूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ता रहता है, वही गौरवों का त्याग कर सकता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में परीषहों पर विजय पाने का या शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के कष्ट उपस्थित होने पर भी संयम में स्थिर रहने का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा ग्रामेसु वा ग्रामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा ग्रामनयरंतरे वा ग्रामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवन्ति अदुवां फासा फुसन्ति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए, ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्ठे वेयवी, से उट्ठिणसु वा अणुट्ठिणसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा॥१९१॥

छाया—सः गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा नगरेषु वा, नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा, जनपदान्तरेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, सन्ति एके जनाः लूषकाः भवन्ति अथवा स्पर्शाः स्पृशन्ति तैः (तान्) स्पर्शान् स्पृष्टो वीरोऽधिसहेत् ओजः समितदर्शनः दयां लोकस्य ज्ञात्वा प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनमा चक्षीत विभजेत् कीर्तयेद्देदवित् सः उत्थितेषु वा, अनुत्थितेषु वा, शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्तिं, विरतिं,

उपशमं, निर्वाणं, शौचं, आर्जवं, मार्दवं लाघवमनतिपत्य सर्वेषां प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां सत्त्वानां, सर्वेषां जीवानां अनुविचिन्त्य भिक्षु धर्ममाचक्षीत ।

पदार्थ—से—वह भिक्षु आहारादि के लिए । गिहेसु वा—घरों में अथवा । गिहंतरेसु वा—गृहान्तरो में अथवा । गामेसु वा—ग्रामों में अथवा । गामंतरेसु वा—ग्रामान्तरो में अथवा । नगरेसु वा—नगरों में अथवा । नगरन्तरेसु वा—नगरान्तरो में अथवा । जणवयेसु वा—जनपदों में अथवा । जणवयंतरेसु वा—जनपदान्तरो में अथवा । गामनयरंतरेसु वा—ग्राम और अन्य नगरों में अथवा । गामजणवयन्तरेसु वा—ग्रामों या जनपदों में, अथवा । नगरजणवयंतरेसु वा—नगरों या जनपदों में । संतेगण जणा—बहुत-से जन विद्यमान हैं, जो । लूसगा भवन्ति—हिंसक होते हैं, अर्थात् उपद्रव करने वाले होते हैं । अदुवा—अथवा । फासा—तृणादि के स्पर्श से । फुसन्ति—स्पर्शित होते हैं । ते—उन । फासे—स्पर्शों को । पुट्ठे—स्पृष्ट होने पर । वीरो—वीर पुरुष । अहियासए—सहन करे । ओए—रागादि से रहित अकेला । समियदंसणे—समित्तदर्शी—सम्यग् दृष्टि । दयं—दया को । जाणिता—जानकर । पाईणं—पूर्व दिशा को । पडीणं—पश्चिम दिशा को । दाहिणं—दक्षिण दिशा को । उदीणं—उत्तर दिशा को, विचार कर । लोगस्स—लोक के ऊपर दया करता हुआ । आइक्खे—धर्म कथा को कहे । विभए—विभाग करे अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर धर्म कथा कहे । किट्ठे—और व्रतों के फल को कहे । वेयवी—आगमों का वेत्ता—जानकार । से—वह-आगमवित् ।

उट्ठिएसु वा—जो धर्म श्रवण करने के लिए उद्यत हैं या संयम में सावधान हैं उनको अथवा । अणुट्ठिएसु वा—जो श्रावकादि धर्म में या संयम में उपस्थित नहीं हैं तथा । सुस्सूसमाणेसु—जो धर्म सुनने के इच्छुक हैं, उनको । पवेयए—धर्म सुनाए, उन्हें कैसा धर्म सुनाए अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं । सन्ति—शान्ति-क्षमा । विरइं—विरति । उवसमं—उपशम—कषायों को उपशांत करना । निव्वाणं—निर्वाण-निवृत्ति । सोयं—शौच—निर्दोष व्रताचरण । अज्जवियं—आर्जव—ऋजुता । मद्दवियं—मृदुता—मार्दव, मृदुभाव, । लाघवियं—लाघवता—लघुभाव । अणइवत्तियं—आगम के अतिक्रम न करके, अर्थात् आगम के अनुसार इनका कथन करे । सव्वेसिं—सर्व । पाणाणं—प्राणियों के प्रति । सव्वेसिं—सर्व । भूयाणं—भूतों के प्रति, अर्थात् भव्यं

प्राणियों के प्रति। सव्वेसिं सत्ताणं—सर्व सत्त्वों के प्रति। सव्वेसिं जीवाणं—सर्व जीवों के प्रति। भिक्खु—भिक्षु—साधु। अणुवीइ—विचारकर, अपने और पर—दूसरे के लिए। धम्ममाइक्खिज्जा—धर्म कथा कहे।

मूलार्थ—गृहों में, गृहान्तरों में, ग्रामों में, ग्रामान्तरों में, नगरों में, नगरान्तरों में, देशों में, देशान्तरों में, ग्रामों और नगरान्तरों में, ग्रामों और जनपदों में, नगरों और जनपदान्तरों में बहुत-से लोग हिंसक—उपद्रव करने वाले होते हैं। अतः वह आगम का ज्ञाता भिक्षु—धीर पुरुष उनके द्वारा दिए गए दुःख एवं कष्ट विशेष को तथा परीषहों के स्पर्श से स्पृष्ट हुए संवेदन को सहन करे और राग-द्वेष से रहित एकाकी होकर, समभाव पूर्वक केवल वीतराग भाव में विचरण करता हुआ, प्राणिजगत पर दयाभाव लाकर, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सब दिशाओं में धर्मकथा कहे, धर्म का विभाग करके समझाए। आगम का ज्ञाता मुनि सबको व्रतों का फल सुनाए। जो जीव संयम में सावधान हैं—पुरुषार्थ कर रहे हैं, उनको तथा जो संयम में पुरुषार्थ तो नहीं कर रहे हैं परन्तु धर्म सुनने की इच्छा रखते हैं, उनको भी धर्म कथा सुनाये। आगमों में वर्णित क्षमा, विरति, उपशम, निवृत्ति, शौच, ऋजुता, मार्दव और लघुता आदि धर्म के लक्षणों को, वह विचार पूर्वक एवं स्व-पर-कल्याण के लिए सर्व प्राणियों, सर्व भूतों, सर्व सत्त्वों और सर्व जीवों को सुनाए।

हिन्दी-विवेचन

संसार में विभिन्न प्रकृतियों के प्राणी हैं। क्योंकि सब प्राणियों के कर्म भिन्न हैं और कर्मों के अनुसार स्वभाव बनता-बिगड़ता है। कषाय के उदय भाव से जीवन में क्रोध, लोभ आदि की भावना उद्बुद्ध होती है और क्षायिक भाव के समय क्रोध आदि की प्रवृत्ति नहीं होती है। इससे स्पष्ट है कि अपने कृत कर्म के अनुसार प्राणी संसार में प्रवृत्त होते हैं। कर्म सब प्राणियों के भिन्न हैं, इसलिए उनके स्वभाव एवं कार्य में भी भिन्नता दिखाई देती है।

हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरों को परेशान करने एवं दुःख देने में आनन्द अनुभव करते हैं; यहां तक कि वे सन्त-पुरुषों को कष्ट पहुंचाने से भी नहीं चूकते। मुनियों को देखते ही उनके मन में द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठती है और

वे उन्हें पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, उपाय सोचते हैं और अनेक तरह के कष्ट देते हैं। ऐसे समय में भी मुनि अपने स्वभाव का, अर्थात् समभाव की साधना का त्याग न करे। उन कठोर स्पर्शों एवं दुःखों से घबराकर उन पर मन से भी द्वेष न करे, उन्हें कटु वचन न कहे और न उन्हें अभिशाप ही दे, प्रत्युत शान्त भाव से उन्हें सहन करते हुए संयम का पालन करे। यदि उचित समझे तो उन्हें भी धर्म का, शान्ति का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

मुनि जीवन की उदारता एवं विराट्ता को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि मुनि सब जीवों पर दया भाव रखे। वह उपकारी एवं अनुपकारी, जैन एवं अजैन, अमीर एवं गरीब, धर्मनिष्ठ एवं पापी, ब्राह्मण एवं शूद्र आदि पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते हुए, सब जीवों का कल्याण करने की तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से सबको सन्मार्ग दिखाने का प्रयत्न करे। उसके इस उपदेश का क्षेत्र कोई शहर विशेष या स्थान विशेष नहीं, अपितु सूत्रकार की भाषा में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सभी दिशाएं-विदिशाएं हैं। वह किसी स्थान विशेष का आग्रह न रखते हुए, जहां भी आवश्यकता अनुभव करता है, वहीं उपदेश की धारा बहाने लगता है। उसका उपदेश व्यक्ति विशेष एवं जाति विशेष के लिए नहीं, अपितु मानव मात्र के लिए होना चाहिए। वह भी किसी जाति, धर्म, पंथ एवं सम्प्रदाय विशेष का साधु नहीं, अपितु अपने हित के साथ मानव मात्र का, प्राणिजगत का हित साधने वाला साधु है¹। अतः वह सब को समभावपूर्वक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और क्षमा, शान्ति, आर्जव आदि धर्मों का उपदेश देकर प्राणिजगत को कल्याण का मार्ग बताता है, सबको जीओ और जीने दो का मन्त्र सिखा कर सुख-शान्ति से रहना एवं जीना सिखाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राणी², भूत, जीव, सत्त्व का अर्थ है—दस प्राण धारण करने वाले सन्नी पंचेन्द्रिय प्राणी, भव्य जीव। जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता है, वे भूत कहलाते हैं; संयमनिष्ठ जीवन जीने वाले जीव और तिर्यच, मनुष्य एवं देव सत्त्व

1. स्वपर हितं साध्यतीति साधुः।

2. प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व शब्दों के अर्थ शीलाकाचार्य कृत वृत्ति के अनुसार किए गए हैं।

कहे गए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु संसार के सभी प्राणियों की रक्षा एवं दया के लिए बिना भेद-भाव के सबको उपदेश दे।

यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा उपदेष्टा किसी पंथ या सम्प्रदाय पर आक्षेप कर सकता है या नहीं? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणुवीड भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा, नो परं आसाइज्जा, नो अन्नाइं पाणाइं, भूयाइं जीवाइं, सत्ताइं आसाइज्जा, से अणासायए, अणासायमाणे बज्झमाणाणं, पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिक्खए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठमं परिनिव्वुडे तम्हा संगति पासह गंथेहिं गढिया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा, जस्सिमे आरम्भा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवन्ति तेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च, माणं च मायं च, लोभं च एस तुट्ठे वियाहिए त्तिबेमि॥192॥

छाया—अनुविचिन्त्य भिक्षुर्धर्ममाचक्षाणः नोआत्मानमाशातयेत् नो परमाशातयेत् नोअन्यान् प्राणिनः भूतान जीवान् सत्वानाशातयेत् सोऽनाशातकः अनाशातयन् वध्यमानानां प्राणिनां भूताना जीवानां सत्वानां यथा स द्वीपोऽसन्दीनः एवं स भवति शरण्यं महामुनिः, एवं स उत्थितः स्थितात्मा, अस्निहः अचलः चलः अबहिल्लेश्यः परिव्रजेत् संख्याय पेशलं धम्मं दृष्टिमान् परिनिवृतः तस्मात् संमितिपश्यन् ग्रन्थैर्ग्रथिताः नराः विषण्णाः कामक्रान्ताः तस्माद् रुक्षात् नो परिवित्रसेत् यस्येमे आरम्भाः सर्वतःसर्वात्मकतया सुपरिज्ञाताः भवन्ति येष्विमे लुषिणो न परिवित्रसन्ति, स वान्त्वा क्रोधज्व, मानज्व, मायाज्व, लोभज्व एष (त्रोटयति) त्रुटः व्याख्यात इति ब्रवीमि।

पदार्थ—भिक्खू—वह मुनि। अणुवीड—विचार कर। धम्ममाइक्खमाणे—धर्म कथा करते हुए। अत्ताणं—आत्मा की। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। परं—दूसरे—सुनने वाले की। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। अन्नइं—अन्य।

पाणाई—प्राणियों की। भूयाई—भूतों की। जीवाई—जीवों की। सत्ताई—सत्त्वों की।
 नो—नहीं। आसाइज्जा—आशातना करे। से—वह भिक्षु। अणासायए—आशातना
 न करने वाला। अणासायमाणे—अन्य की आशातना न करता हुआ। बज्झमाणणं—
 वध्यमान। पाणायं—प्राणियों को। भूयाणं—भूतों को। जीवाणं—जीवों को। सत्ताणं—
 सत्त्वों को। से—वह। असंदीणे—जिसमें पानी नहीं भरता है, अर्थात् जो जल से
 सुरक्षित है ऐसा विशाल। दीवे—द्वीप। जहा—जैसे होता है। एयं—इस प्रकार।
 से—वह। महामुणी—महामुनि। सरणं भवइ—संसार जीवों को शरण भूत होता है।
 एवं—इसी प्रकार से। से—वह शरण भूत मुनि। उट्टिए—संयमानुष्ठान में उद्यत।
 ठियप्पा—ज्ञानादि में स्थित। अणिहे—स्नेह से रहित। अचले—परीषहों से
 अचलायमान। चले—अप्रतिबन्ध होकर विचरने वाला। अबहिल्लेसे—जिसकी लेश्या
 अध्यवसाय संयम के बाहर नहीं है, ऐसा मुनि। परिव्वए—संयमानुष्ठान में चले।
 दिट्ठिमं—सम्यग दृष्टि। धम्मं—धर्म को। संखाय—अवधारण कर के। पेसलं—
 मनोहर। परिनिव्वुडे—निवृत्त कषायों के क्षय या उपशम होने से शान्त हो जाता है।
 इति—इस हेतु से। तम्हा—इसलिये। पासह—कहे शिष्यो! तुम। सगं—संग के
 विपाक को देखो। गंथेहिं—बाह्याम्यन्तर परिग्रहों से। गदिया—प्रतिबध। विसन्ना—
 परिपूर्ण वे पुरुष। कामक्कंता—विषय-विकारों से आक्रान्त हुए। नरा—मनुष्य
 निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः उन्हें क्या करना चाहिए? तम्हा—इस
 लिए। लूहाओ—संयम से। नो परिवितसिज्जा—वे त्रास न पाए, संयम के कष्टों से
 भयभीत न होए? जास्सिमे—जिस मुनि के ये संग और। आरंभा—आरम्भ।
 सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वप्पयाए—सर्वात्म रूप से। सुपरिन्नाया—ज्ञ परिज्ञा से
 भली प्रकार जाने गए हैं और प्रत्याख्यान से त्यागे गए हैं। भवन्ति—वे ही निर्वाण को
 प्राप्त होते हैं। तेसिमे—जो जन आरंभ में आसक्त हैं। लूसिणो—हिंसा करने वाले
 हैं। नो परिवित्तसंति—पाप कर्म करते हुए त्रास नहीं पाते, अतः। से—वह मुनि।
 कोहं च—क्रोध को और। माणं च—मान को और। मायं च—माया को और।
 लोभं च—लोभ को। वंता—छोड़कर। एस—वह मोह रहित हो जाता है, तो वह।
 तुट्टे—भव भ्रमण से छूटा हुआ। वियाहिए—तीर्थकरों द्वारा कहा गया है। तिबेमि—इस
 प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य! तू विचार कर। धर्म कथा करते समय मुनि अपनी आत्मा तथा अन्य सुनने वाले श्रोताओं की आशातना—अवहेलना न करे और न प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की ही आशातना करे। आशातना नहीं करने वाला मुनि आशातना न करता हुआ, दुःखों से पीड़ित प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का उस विशाल द्वीप की तरह आश्रयभूत होता है, जो समुद्र में डूबते हुए एवं व्यथित प्राणियों को आश्रय देता है। इस तरह ज्ञानादि में स्थित, स्नेह—रागभाव से रहित संयम-निष्ठ मुनि परीषहों के समय अविचलित एवं अप्रतिबंध विहारी और संयमानुसार शुद्ध अध्यवसायों में स्थित रहता हुआ संयम में प्रवृत्ति करे। कषायों के क्षयोपशम से धर्म के यथार्थ रूप को जानकर ज्ञानसंपन्न मुनि शान्त भाव से आत्मचिन्तन में संलग्न रहता है। हे शिष्यो! तुम यह देखो कि जो व्यक्ति सांसारिक पदार्थों में एवं काम-भोगों में आसक्त हैं या काम-भोगों ने जिन्हें आक्रान्त बना रखा है, वे शान्ति नहीं पा सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष, संयमानुष्ठान से भयभीत नहीं होते हैं। जो इन आरम्भादि से सुपरिज्ञात—सुपरिचित होते हैं, वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं। अतः वह भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके इस संसार-सागर से पार हो सकता है। ऐसा तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने कहा है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि उपदेश प्राणियों के हित के लिए दिया जाता है। अतः उपदेष्टा को सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि परिषद् किस विचार की है; उसका स्तर कैसा है। उसके स्तर एवं योग्यता को देखकर दिया गया उपदेश हित-प्रद हो सकता है। उससे उनका जीवन बदल सकता है। परन्तु, परिषद् की विचारस्थिति को समझे बिना दिया गया उपदेश वक्ता एवं श्रोता दोनों के लिए हानिप्रद हो सकता है। यदि कोई बात श्रोताओं के मन को चुभ गई तो उनमें उत्तेजना फैल जाएगी और उत्तेजना के वश वे वक्ता को भी भला-बुरा कह सकते हैं या उस पर प्रहार भी कर सकते हैं। इस प्रकार बिना सोचे-समझे अविवेकपूर्वक दिया गया उपदेश दोनों के लिए अहितकर हो सकता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि मुनि को व्याख्यान में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे स्व एवं पर को संक्लेश पहुंचे।

इस प्रकार का विवेकशील, संयमनिष्ठ मुनि प्राणिमात्र का शरणभूत हो सकता है। जैसे समुद्र में परिभ्रमित व्यक्ति के लिए द्वीप आश्रयदाता होता है, उसी तरह ज्ञान एवं आचार सम्पन्न मुनि भी प्राणिमात्र के लिए आधारभूत होता है और प्राणिजगत की रक्षा करता हुआ विचरता है। इससे स्पष्ट हो गया कि मुनि किसी भी प्राणी को क्लेश पहुंचाने का कोई कार्य न करे। अपने उपदेश में किसी पर आक्षेप न करे।

दूसरी बात यह है कि संयमशील साधक ही दूसरों का सहायक हो सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को संसार की परिस्थिति का परिज्ञान करके आरम्भ से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, आरम्भ-समारम्भ एवं विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता है। वह रात-दिन अशान्ति की आग में जलता रहता है। इसलिए साधक को आरम्भ आदि से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ, तिबेमि॥१९३॥

छाया—कायस्य व्याघातो एषः संग्रामशीर्षे व्याख्यातः स पारगामी मुनि अविहन्यमानः फलकवत् स्थायी (फलकवदवतिष्ठते) कालोपनीतः कांक्षेत् कालं यावत् शरीरभेदः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—कायस्स—काया का। वियाघाए—विनाश। एस—यह। संगामसीसे—संग्राम का शीर्षरूप। वियाहिए—कहा गया है। हु—अवधारणार्थ में है, जो मुनि। अविहम्ममाणे—परीषर्हों से पराभूत नहीं होता है। फलगावयट्ठी—शरीर पर प्रहार होने पर भी फलक की तरह स्थिर रहता है। कालोवणीए—काल—मृत्यु के निकट आने पर भी जो घबराता नहीं, बल्कि पादोगमन, इंगितमरण और भक्तप्रत्याख्यान अनशन के द्वारा। कालं कंखिज्जा—काल की आकांक्षा करता है। जावसरीरभेउ—जब तक शरीर से आत्मा पृथक् नहीं होती है। से—वह। मुणी—मुनि। पारंगमे—संसार समुद्र से पार हो जाता है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस प्रकार वीर योद्धा संग्राम में निर्भय होकर विजय को प्राप्त

करता है, उसी तरह मुनि भी मृत्यु के आने पर फलग की तरह स्थिरचित्त रहकर पादोगमन आदि अनशन (संधारा) करके, जब तक आत्मा शरीर से पृथक् न हो, तब तक मृत्यु की आकांक्षा करता हुआ चिन्तन-मनन में संलग्न रहे। ऐसा मुनि संसार से पार होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

संसारी जीवन में जन्म और मृत्यु दोनों का अनुभव होता है। यह ठीक है कि दुनिया के प्रायः सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरने की कोई आकांक्षा नहीं रखता। मृत्यु का नाम सुनते ही लोग कांप उठते हैं, उससे बचकर रहने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी मृत्यु का आगमन तो होता ही है। इस तरह सामान्य मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा जीवन को, जन्म को महत्वपूर्ण समझते हैं। परन्तु, महापुरुष एवं ज्ञानी पुरुष मृत्यु को भी महत्वपूर्ण समझते हैं। वे भी बचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मृत्यु से नहीं, जन्म से। क्योंकि जन्म कर्मजन्य है और मृत्यु कर्मक्षय का प्रतीक है। आयुर्कर्म का बन्ध होने पर जन्म होता है और उसका क्षय होना मृत्यु है। अतः ज्ञान-संपन्न मुनि आयुर्कर्म का क्षय करने का प्रयत्न तो करता है, परन्तु उसके बांधने का प्रयास नहीं करता है। वह सदा कर्मबन्ध से बचना चाहता है। क्योंकि, यदि कर्म का बन्ध नहीं होगा तो फिर पूर्व कर्म के क्षय के साथ पुनर्जन्म रुक जाएगा और जन्म के साथ फिर मृत्यु का अन्त तो स्वतः ही हो जाएगा। जब कर्म ही नहीं रहेगा तो फिर उस के क्षय का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस प्रकार जन्म से बचने का अर्थ है—जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होना। इसलिए मुनि मृत्यु से भय नहीं खाते। वे मृत्यु को अभिशाप नहीं, अपितु वरदान समझते हैं। अतः पण्डितमरण के द्वारा उसे सफल बनाने में या यों कहिए अपने साध्य को सिद्ध करने में सदा संलग्न रहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया है कि जैसे योद्धा युद्ध क्षेत्र में मृत्यु को सामने देखकर भी घबराते नहीं, उसी तरह कर्मों एवं मनोविकारों के साथ युद्ध करने में संलग्न साधक भी मृत्यु से भय नहीं खाता है। यदि कोई उस पर प्रहार भी कर दे, तब भी वह विचलित नहीं होता, घातक के प्रति मन में भी द्वेष भाव नहीं लाता है। उस समय भी वह शान्त मन से आत्मचिन्तन में संलग्न रहता है। इसी तरह मृत्यु के निकट आने पर भी वह घबराता नहीं और न उससे बचने का ही कोई प्रयत्न करता

है। वह महान् पुरुष उसके स्वागत के लिए संलेखना आरम्भ कर देता है। वह यह साधना 12 वर्ष पूर्व प्रारम्भ कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है¹।

इस प्रकार साधक संलेखना के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता हुआ अपने आपको पण्डितमरण प्राप्त करने के लिए तैयार कर लेता है और मृत्यु के समय बिना किसी घबराहट के वह पादोगमन, इंगितमरण या भक्तप्रत्याख्यान किसी भी संधारे—आमरण अनशन को स्वीकार करके आत्म-चिन्तन में संलग्न रहता है और जब तक आत्मा शरीर से पृथक् नहीं हो जाती, तब तक शान्त भाव से साधना में या यों कहिए कर्मों को क्षय करने में प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मृत्यु से परास्त नहीं होने वाला साधक मृत्यु के मूल कारण जन्म या कर्मबन्ध को समाप्त करके जन्म-मरण पर विजय पा लेता है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है। जन्म के दूसरे क्षण से ही मरण आरम्भ हो जाता है। अतः मृत्यु जन्म के साथ संबद्ध है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जन्म का अन्त होते ही मृत्यु का भी अन्त हो जाता है। अतः साधक मृत्यु का अन्त नहीं करता, अपितु पण्डितमरण के द्वारा जन्म का या जन्म के मूल कारण कर्म का उन्मूलन कर देता है और यही उसकी सबसे बड़ी विजय है। अतः साधक को निर्भय एवं निर्द्वन्द्व भाव से पण्डित-मरण को स्वीकार करके निष्कर्म बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पण्डितमरण को प्राप्त करके सारे कर्मों से मुक्त होना ही उसकी साधना का उद्देश्य है। अतः मुमुक्षु पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥



-
1. विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा लिखित उत्तराध्ययन सूत्र भाग 3, अध्ययन 36 गाथा 251-268 की व्याख्या देखें।

सप्तम अध्ययन : महापरिज्ञा

स्पष्टीकरण

षष्ठ अध्ययन में कर्मों की निर्जरा के संबन्ध में उल्लेख किया गया है। कर्मों की निर्जरा मोह एवं मोहजन्य साधनों से निवृत्त होने पर होती है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में विभिन्न मोहजन्य उपसर्ग एवं परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने की विधि बताई गई थी। मुमुक्षु पुरुष के लिए आदेश दिया गया था कि मोहजन्य स्थिति के उपस्थित होने पर या विषयेच्छा जागने पर वह किसी चमत्कार एवं यंत्र-मंत्र का प्रयोग करके मोह के प्रवाह में न बहे, अपितु उन परीषहों पर विजय प्राप्त करे। वह समस्त चमत्कारों एवं यंत्र-तंत्र से निर्लिप्त रहकर सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे।

महापरिज्ञा शब्द का भी यही अर्थ है कि महा-विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोहजन्य दोषों को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक मोहजन्य समस्त साधनों एवं आकांक्षाओं से मिलने वाले दुःखद परिणामों को जानकर उनका परित्याग करके केवल कर्मों की निर्जरा करने के लिए तप, संयम, स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन में ही व्यस्त रहे।

परन्तु, सभी साधकों का मानसिक स्तर एक जैसा दृढ़ नहीं होता है। आज ही नहीं, भगवान महावीर के समय एवं उसके पहले के साधकों की मानसिक धारा भी एक जैसी नहीं थी। सभी साधक गजसुकमाल की तरह कष्टसहिष्णु एवं स्थूलीभद्र की तरह मोह एवं कामविजेता नहीं थे। उनमें कुछ साधक कुण्डरीक एवं अरण्यक मुनि जैसे भी थे, जो मोह के प्रबल झोंकों से गिर भी सकते थे और योग्य निमित्त मिलने पर फिर से सजग भी हो जाते थे। इस से भगवान महावीर के बाद की स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों के वैचारिक स्तर में विषमता-भिन्नता रहती है। कुछ साधक दृढ़ मनोबल वाले होते हैं, तो कुछ साधक निर्बल चिन्तन वाले भी होते हैं।

इन सब साधकों की मानसिक स्थिति को सामने रखकर सर्वसाधारण साधकों को इस अध्ययन के स्वाध्याय करने की आज्ञा नहीं दी गई थी। चूर्णिकार ने लिखा है कि बिना आज्ञा या अधिकार के महापरिज्ञा अध्ययन पढ़ा नहीं जाता था¹। अधिकारी व्यक्ति, अर्थात् गीतार्थ—श्रुतसंपन्न मुनि ही इसका स्वाध्याय कर सकता था।

आचार्य शीलांक ने भी लिखा है कि महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन विच्छिन्न हो गया है। उसकी निर्युक्ति भी नहीं मिलती है। जबकि निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के विषय में अध्ययन के प्रारम्भ में लिखा है—“प्रस्तुत अध्ययन में मोहकर्म के कारण होने वाले विभिन्न परीषद एवं उपसर्गों का वर्णन था²।”

इन सब विवरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अध्ययन में अनेक मोहजन्य परीषदों एवं चमत्कारों का वर्णन था। मोहजन्य अनेक दोषों का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में था। अतः इससे सामान्य साधकों के जीवन में शिथिलता आ जाने की संभावना थी और उनके द्वारा उक्त अध्ययन में वर्णित चमत्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता था। इसी दृष्टि को सामने रखकर सर्वसाधारण के लिए उसके पढ़ने का निषेध किया गया था। इस कारण उसका पठन-पाठन कम हो गया और बाद में वह विलुप्त हो गया हो।

यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में चमत्कारों का अधिक उल्लेख होने के कारण उसका दुरुपयोग न किया जाए, इस दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने प्रस्तुत अध्ययन को आचारांग से पृथक् कर दिया। कुछ भी कारण रहे हों, इतना तो स्पष्ट है कि साधना में दोष उत्पन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र का दुरुपयोग न हो, इसलिए उसके पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया गया और परिणामस्वरूप वह अध्ययन आज हमारे सामने नहीं रहा। कुछ भी हो, प्रस्तुत अध्ययन का न रहना बहुत बड़ी कमी है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥



1. महापरिज्ञा पट्टिज्जइ असमणुण्णाया।

2. मोहसमुत्था परीसहुवसगा...।

—आचारांग चूर्णिकार

—आचारांग निर्युक्ति

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

प्रथम उद्देशक

सप्तम अध्ययन में मोहजन्य परीषहों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। चूँकि मोहजन्य परीषहों का विजेता ही संयम का भली-भाँति परिपालन कर सकता है, वह आचार को शुद्ध रख सकता है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में आचार एवं त्यागनिष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सेबेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुञ्छणं वा, नो पादेज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे, तिबेमि॥194॥

छाया—सोऽहं ब्रवीमि समनोज्ञस्य वा, असमनोज्ञस्य वा, अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं-पात्रं वा, कम्बलं वा, पादपुञ्छनं वा, नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयेत्, नो कुर्यात् वैयावृत्यं परमादरियमानः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सेबेमि—हे आर्य! मैं तुम्हें कहता हूँ कि। समणुन्नस्स वा—जो दृष्टि और लिंग से सुन्दर हैं, परन्तु चारित्र्य पालन में जो निकृष्ट है उसको, अथवा। असमणुन्नस्स—उससे भिन्न शाक्यादि को। वा—का अर्थ उत्तरोत्तर अपेक्षा है। असणं—अशन—चावल, रोटी आदि खाद्य पदार्थ। पाणं वा—द्राक्षादि का पानी। खाइमं वा—बादाम-किसमिस एवं फलादि। साइमं वा—स्वादिम—लवंगादि स्वादिष्ट पदार्थ। वत्थं वा—वस्त्रादि। पडिग्गहं वा—पात्रादि। कंबलं वा—कम्बलादि। पायपुञ्छणं वा—रजोहरणादि। परं आढायमाणे—अत्यधिक आदर पूर्वक। नोपादेज्जा—न देवे। नो निमंतिज्जा—न निमंत्रित—मनुहार करे। नो कुज्जावेयावडियं—न उनकी वैयावृत्य—सेवा शुश्रूषा करे। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य! पार्श्वस्थ मुनि या शिथिलाचारी जैन साधु के वेश में स्थित चारित्र से हीन, साधु या जैनेतर भिक्षुओं की विशेष आदरपूर्वक अन्न-पानी। खादिम—मिष्टान्नादि एवं स्वादिम—लवंगादि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि न देवे, न निमन्त्रित करे और न उनकी वैयावृत्य ही करे। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को किसके साथ सम्बन्ध रखना चाहिए। सम्बन्ध हमेशा अपने समान आचार-विचार वाले व्यक्ति के साथ रखा जाता है। इसी बात को यहां समनोज और अमनोज शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। दर्शन एवं चारित्र से संपन्न साधु समनोज कहलाता है और इनसे रहित अमनोज। अतः साधु को दर्शन एवं चारित्र संपन्न मुनियों के साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना चाहिए, अन्य के साथ नहीं। इसके अतिरिक्त जो साधु दर्शन से सम्पन्न है और जैन मुनि के वेश में है, परन्तु चारित्र सम्पन्न नहीं है—शिथिलाचारी है या केवल वेश सम्पन्न है, परन्तु दर्शन एवं चारित्र निष्ठ नहीं है और जो साधु दर्शन, चारित्र एवं वेश से सम्पन्न नहीं है, अर्थात् जैनेतर सम्प्रदाय का भिक्षु है; तो उन्हें विशेष आदर सत्कार के साथ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ नहीं देना चाहिए और न उनकी वैयावृत्य—सेवा ही करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि विश्वबन्धुत्व का भाव रखने वाले जैन दर्शन में इतनी संकीर्णता क्यों? इसका समाधान यह है कि साधक का जीवन रत्नत्रय की विशुद्ध आराधना करने के लिए है। अतः उसे ऐसे साधकों के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए, जो उसके स्तर के हैं। क्योंकि, उनके संपर्क एवं सहयोग से उसे अपनी साधना को आगे बढ़ाने में बल मिलेगा। परन्तु विपरीत दृष्टि रखने वाले एवं चारित्र से हीन व्यक्ति की संगति करने से उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। पहले तो उसका अमूल्य समय—जो स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में लगना चाहिए, वह इधर-उधर की बातों में नष्ट होगा। उसकी ज्ञानसाधना में विघ्न पड़ेगा और दूसरे, बार-बार आचार एवं विचार के सम्बन्ध में विभिन्न तरह की विचारधाराएं सामने आने से उसका मन लड़खड़ाने लगेगा और परिणामस्वरूप उसके आचार एवं विचार में भी शिथिलता आने लगेगी। अतः साधक को शिथिलाचार वाले स्वलिङ्गी एवं दर्शन

एवं आचार से रहित अन्य लिंगी साधुओं से विशेष सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें आदरपूर्वक आहार आदि भी नहीं देना चाहिए।

इसमें एक दृष्टि यह भी है कि जैसे शिथिलाचारी साधु दर्शन एवं वेश से मनोज्ञ और चारित्र से अमनोज्ञ है, उसी प्रकार श्रावक भी सम्यग् दृष्टि—दर्शन से समनोज्ञ और चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ होते हैं और शाक्य, शैव आदि अन्य साधु-संन्यासी दर्शन, चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ हैं। अतः साधु किसके साथ आहारादि का सम्बन्ध रखे और किससे न रखे, यह बड़ी कठिनता है। सम्यग् दृष्टि से लेकर शिथिलाचारी तक मनोज्ञता एवं अमनोज्ञता दोनों ही हैं। यदि शिथिलाचारी के साथ आहार आदि का संबन्ध रखा जा सकता है, तो दर्शन से समनोज्ञ श्रावक के साथ संबन्ध क्यों न रखा जाए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। परन्तु, सबके साथ संबंध रखने पर वह अपनी साधना का भली-भांति परिपालन नहीं कर सकेगा। अतः उसके लिए यही उचित है कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से मनोज्ञ—संपन्न साधु के साथ ही अपना सम्बन्ध रखे, अन्य के साथ नहीं।

जब उसका सम्बन्ध रत्नत्रय से सम्पन्न साधुओं के साथ ही है, तो वह प्रत्येक आवश्यक वस्तु अपने एवं अपने से सम्बद्ध साधकों के लिए ही लाएगा और देने वाला दाता भी उनके उपयोग के लिए ही देगा। अतः उसे अपने एवं अपने साथियों के लिए लाए हुए आहार-पानी आदि पदार्थों को अपने से असम्बद्ध व्यक्तियों को देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। प्रथम तो उसे उक्त पदार्थ अन्य असम्बद्ध साधु को देने के लिए गृहस्थ की आज्ञा न होने से चोरी लगती है, उसके तीसरे महाव्रत में दोष लगता है और दूसरा दोष यह आएगा कि उनसे अधिक संपर्क एवं परिचय होने से उसके विशुद्ध दर्शन एवं चारित्र में शिथिलता आ सकती है। इसलिए साधक को अपने से असम्बद्ध स्वलिंगी एवं परलिंगी किस भी साधु को विशेष आदर-सत्कार पूर्वक आहार-पानी आदि नहीं देना चाहिए। यह उत्सर्ग सूत्र है, अपवाद में कभी विशेष परिस्थिति में आहारादि दिया भी जा सकता है¹। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में आहारादि देने का सर्वथा निषेध न करके आदर-सम्मान पूर्वक देने का निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस निषेध के पीछे कोई दुर्भावना, संकीर्णता एवं

1. इसके विशेष विवरण द्वितीय श्रुतस्कंध में देखें।

तिरस्कार की भावना नहीं है। केवल संयम की सुरक्षा एवं आचार-शुद्धि के लिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि वह रत्नत्रय से सम्पन्न मुनि के साथ ही आहार-पानी आदि का सम्बन्ध रखे और उसकी ही सेवा-शुश्रूषा करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ध्रुवं चयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुञ्छणं वा लभिया, नो लभिया, भुंजिया, नो भुंजिया पथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे, समेमाणे, चलेमाणे, पाइज्जा वा, निमंतिज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं, परं अणाढायमाणे त्तिबेमि॥195॥

छाया—ध्रुवं चैतज्जानीयात्, अशनं वा यावत् पादप्रोञ्छनं वा लब्ध्वा, नो लब्ध्वा, भुक्त्वा, नो भुक्त्वा, पन्थानं व्यावर्त्य व्युत्क्रम्य विभक्तं धर्मं जुषन् समागच्छन् चलनः (गच्छन्) प्रदद्याद्वा वा निमन्त्रयोर्द्धा कुयद् वैयावृत्यं परमनाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—बौद्धादि भिक्षु—जैन भिक्षु के प्रति कहते हैं कि हे भिक्षु! ध्रुवं—ध्रुव निश्चय। च—पुनः। इयं—यह। जाणिज्जा—जान। असणं—अशन-अन्न अथवा। जाव—यावत्। पायपुञ्छणं—पादपुञ्छन—रजोहरण आदि। वा—परस्पर अपेक्षार्थक है। लभिया—प्राप्त कर के। नोलभिया—प्राप्त नहीं करके। भुंजिया—भोगकर—खाकर। न भुंजिया—बिना खाए ही। पथं विउत्ता—मार्ग का उपक्रम या। विउक्कम्म—व्युत्क्रम करके भी हमारे मठ में आ जाना। विभत्तं धम्म—भिन्न धर्म को। जोसेमाणे—सेवन करता हुआ। समेमाणे—उपाश्रय में आकर कहता हो या। चलेमाणे—चलते हुए के प्रति कहता हो या। पाइज्जा—अन्न आदि देता हो। वा—अथवा। निमंतिज्जा—निमन्त्रण करे। वेयावडियं कुज्जा—वैयावृत्य करे। परं अणाढायमाणे—मुनि को अत्यन्त अनादरवान—अनादर युक्त होकर रहना चाहिए। यह दर्शन-शुद्धि का उपाय है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—यदि किसी जैन भिक्षु को कोई बौद्धादि भिक्षु ऐसा कहे कि तुम्हें निश्चित रूप से हमारे मठ में सब प्रकार के अन्नादि पदार्थ मिल सकते हैं। अतः हे भिक्षु! तू अन्न-पानी आदि को प्राप्त करके या इन्हें बिना प्राप्त किए, उन्हें खाकर

या बिना खाए ही तुमको हमारे मठ में अवश्य आना चाहिए। भले ही तुम्हें वक्रमार्ग से ही क्यों न आना पड़े, आना अवश्य। यदि विभिन्न धर्म वाला साधु, उपाश्रय में आकर या मार्ग में चलते हुए को इस प्रकार कहता हो या आदरपूर्वक अन्नादि का निमन्त्रण देता हो या सम्मानपूर्वक अन्नादि पदार्थ देना चाहता हो और वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा आदि करने की अभिलाषा रखता हो, तो ऐसी स्थिति में संयमशील मुनि को उसके वचनों का विशेष आदर नहीं करना चाहिए, अर्थात् उसके उक्त प्रस्ताव को किसी भी तरह स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में अपने से असंबद्ध अन्य मत के भिक्षुओं को आहार-पानी आदि देने का निषेध किया था। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि यदि कोई बौद्ध या अन्य किसी मत का साधु आकर कहे कि हे मुनि! तुम हमारे विहार में चलो। वहाँ तुम्हें भोजन आदि की सब सुविधा मिलेगी। यदि तुम्हें हमारे यहाँ का भोजन नहीं करना हो तो तुम भोजन करके आ जाना। भले ही तुम भोजन करके आओ या भूखे ही आओ, जैसे तुम्हारी इच्छा हो, परन्तु हमारे यहाँ आना अवश्य। इस तरह के वचनों को मुनि आदरपूर्वक श्रवण न करे। इसका तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न प्रलोभनों के द्वारा परिचय बढ़ाकर उसे अपने मत में मिलाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए उनके संपर्क से मुनि के आचार एवं विचार में गिरावट आ सकती है, वह साधनापथ से भ्रष्ट हो सकता है। अतः उसे उनसे घनिष्ठ परिचय नहीं बढ़ाना चाहिए और न उनके संपर्क में अधिक आना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र सामान्य रूप से है। श्रुत एवं आचार सम्पन्न विशिष्ट साधक अन्य मत के भिक्षुओं के साथ विचार-चर्चा कर सकता है। क्योंकि, उसमें अपनी साधना में दृढ़ रहते हुए अन्य व्यक्ति को सत्य मार्ग बताने की योग्यता है। वह उन्हें भी सही मार्ग पर ला सकता है। अतः विशिष्ट साधक के लिए प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु सामान्य साधक में अभी इतनी योग्यता नहीं है कि वह उन्हें सही मार्ग पर ला सके। अतः उनके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने से संबद्ध मुनियों के अतिरिक्त अन्य के साथ संपर्क न बढ़ावे, न उनका आदर-सम्मान करे एवं न उनके स्थान पर ही आए-जाए। वह न उनकी सेवा करे और न उनसे सेवा-शुश्रूषा करावे।

अन्य मत के विचारकों की विचारधारा कैसी है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरम्भट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणु-जाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा अत्थि लोए, नत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडेत्ति वा, दुक्कडेत्ति वा, कल्लाणेत्ति वा, पावेत्ति वा, साहुत्ति वा, असाहुत्ति वा, सिद्धित्ति वा, असिद्धित्ति वा, निरएत्ति वा, अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे, नो सुपन्नत्ते धम्मे भवइ॥196॥

छाया—इहैकेषामाचारगोचरो नो निशान्तो भवति ते इह आरंभार्थिनो भवन्ति, अनुवदन्तः जहि प्राणिनः घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः अथवा अदत्तमाददति (गृह्णन्ति) अथवा वाचो वियुज्जन्ति, तद्यथा-अस्ति लोकः, नास्ति लोकः, ध्रुवो लोकः, अध्रुवो लोकः सादिको लोकः, अनादिको लोकः, सपर्यवसितो लोकः, अपर्यवसितो लोकः, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा, पापमिति वा, साधुरिति वा, असाधुरिति वा, सिद्धिरिति वा, असिद्धिरिति वा, नरक इति वा, अनरक इति वा, यदिदं विप्रतिपन्नाः मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्तः अत्रापि जानीत अकस्मादेव तेषां न स्वाख्यातो धर्मो नो सुप्रज्ञापितो धर्मो भवति ।

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक में । एगेसिं—किसी किसी को—जिनके पूर्वकृत अशुभ कर्म उदय में आ रहे हैं । आयारगोयरे—आचार विषयक—जो मोक्ष मार्ग की साधना के विषय में । नो सुनिसंते—भली-भांति से परिचित नहीं । भवति—होते हैं । ते—वे आचार-विचार से अपरिचित व्यक्ति । इह—इस लोक में । आरम्भट्ठी—आरम्भ करने वाले हो जाते हैं । अणुवयमाण—फिर वे उन शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं की तरह बोलने लग जाते हैं कि । हणपाणे—तुम प्राणियों का अवहनन—नाश करो । घायमाणा—वे अन्य व्यक्तियों से घात कराते हुए । हणओ यावि—और हनन करने वाले प्राणियों का । समणुजाणमाणा—अनुमोदन—समर्थन करता है । अदुवा—अथवा ।

अदिन्नमाययंति—वे अदत्तादान ग्रहण करते हैं, इस प्रकार पहले तीसरे महाव्रत के संबंध में कहकर अब सूत्रकार दूसरे व्रत के विषय में भी कुछ बातें कहते हैं।
 अदुवा—अथवा। वायाउ विउज्जंति—वे विविध प्रकार के वचन बोलते हैं। तंजह—जैसे कि। अत्थि लोए—एक कहता है कि लोक है, तो दूसरा कहता है कि। नत्थि लोए—लोक नहीं है, एक कहता है कि। धुवेलोए—लोक ध्रुव है, तो दूसरा कहता है कि। अधुवे लोए—लोक अध्रुव है। साइए लोए—एक कहता है कि लोक सादि है, तो दूसरा कहता कि। अणाइए लोए—लोक अनादि है, एक कहता है कि। सपज्जवसिए लोए—लोक सपर्यवसित अर्थात् सान्त है, तो दूसरा कहता है कि। अपज्जवसिए लोए—लोक अनन्त है। सुकडेति वा—एक कहता है कि इसने दीक्षा ले कर अच्छा किया, तो दूसरा कहता है कि। दुक्कडति वा—इसने बुरा कार्य किया, अर्थात् इसने जो दीक्षा ग्रहण की है यह बुरा कार्य है। कल्लाणेति वा—एक कहता है कि यह कल्याणकारी काम है, तो दूसरा कहता है कि। पावेत्ति वा—यह दीक्षा लेना पाप कार्य है। साहुत्ति वा—एक कहता है यह साधु है, तो दूसरा कहता है कि। असाहुत्ति वा—यह असाधु है। सिद्धित्ति वा—एक कहता है सिद्धि है, तो दूसरा कहता है कि। असिद्धित्ति वा—सिद्धि नहीं है, एक कहता है कि यह। निरएत्ति वा—नरक है, तो दूसरा कहता है कि यह। अनिरएत्ति वा—नरक नहीं है। इस प्रकार अन्य मत वाले भिक्षु विभिन्न विचार प्रकट करते हुए अपने-अपने आग्रह में फंसे हुए हैं, अब सूत्रकार यह बताते हैं कि। जमिणं—जो यह। विप्पडिवन्ना—नाना प्रकार के आग्रहों से युक्त। मामगं धम्मं—स्वकीय—अपने-अपने धर्म का। पन्नवेमाणा—प्ररूपण करते हुए और स्वधर्म से ही मोक्ष मानते हुए अन्य भव्य जीवों को मिथ्यामार्ग में आरुढ़ करने का यत्न करते हैं, अतः सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यो! जाणह—तुम इसे जानो। इत्थवि—यहां पर भी लोकादि विषयक। अकस्मात्—बिना हेतु के एकान्त पक्ष का ग्रहण करने से। एवं—इस प्रकार। तेसिं—उन वादियों का कथन। नो सुयक्खाए धम्मे—युक्ति संगत धर्म नहीं है और। नो सुपन्नत्ते धम्मे—यह धर्म भली-भांति प्रतिपादन किया हुआ भी नहीं। भवइ—है।

मूलार्थ—इस संसार में कुछ व्यक्तियों को आचार-विषयक सम्यग् बोध नहीं होता है। अतः कुछ अज्ञात भिक्षु इस लोक में आरम्भार्थ प्रवृत्त हो जाते हैं। वे अन्य धर्मावलम्बियों के कथनानुसार स्वयं भी जीवों के वध की आज्ञा देते हैं, दूसरों से

वध करवाते हैं और वध करने वालों का अनुमोदन भी करते हैं। वे अदत्तादान का ग्रहण करते हैं और अनेक तरह के विरुद्ध वचनों के द्वारा एकांत पक्ष की स्थापना करते हैं। जैसे कि कुछ व्यक्ति कहते हैं कि लोक है, तो कुछ कहते हैं कि लोक नहीं है। कोई कहता है कि यह लोक ध्रुव-शाश्वत है, तो कोई कहता है कि यह लोक अध्रुव-अशाश्वत है। कोई कहता है कि लोक सादि है, तो कोई कहता है कि लोक अनादि है। कोई कहता है कि लोक सान्त है, तो कोई कहता है कि लोक अनन्त है। कोई कहता है कि इसने दीक्षा ली यह अच्छा काम किया, तो कोई कहता है कि इसने यह अच्छा नहीं किया है। कोई कहता है, धर्म कल्याण रूप है तो कोई कहता है कि यह पाप रूप है। कोई कहता है कि यह साधु है, तो कोई कहता है कि यह असाधु है। कोई कहता है कि सिद्धि है, तो कोई कहता है कि सिद्धि का अस्तित्व ही नहीं है। कोई कहता है कि नरक है, तो कोई कहता है नरक का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार ये विभिन्न विचारक एकान्ततः अपने-अपने मत की स्थापना करते हैं। ये अन्य धर्मावलम्बी विविध प्रकार के विरुद्ध वचनों से धर्म की प्ररूपणा करते हैं। अतः भगवान कहते हैं कि हे शिष्यो! इन विभिन्न धर्मावलम्बियों के द्वारा कथित धर्म का स्वरूप अहेतुक होने से प्रामाणिक नहीं है और उनमें एकांत पक्ष का अवलम्बन होने से वह यथार्थ भी नहीं है। अतः तुम्हें यह समझना चाहिए कि वह आदरणीय भी नहीं है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में अपने से असम्बद्ध अन्य मत के भिक्षुओं के साथ परिचय बढ़ाने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि वे धर्म से परिचित नहीं हैं। उनका आचार-विचार साधुत्व के योग्य नहीं है। वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से मुक्त नहीं हुए हैं। वे स्वयं हिंसा आदि दोषों का सेवन करते हैं, अन्य व्यक्तियों से दोषों का सेवन करवाते हैं और दोषों का सेवन करने वाले व्यक्तियों का समर्थन भी करते हैं। इसी तरह वे भोजनादि स्वयं बना लेते हैं या अपने लिए बनवा लेते हैं। इसी प्रकार वे अग्नि, पानी आदि का आरम्भ-समारम्भ भी करते-करवाते हैं। वे किसी भी प्रकार के दोष से निवृत्त नहीं हुए हैं।

दूसरे उन्हें तत्त्व का भी बोध नहीं है। वे लोक है, लोक नहीं है, लोक ध्रुव है,

लोक अधुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सपर्यवसित—सान्त है, लोक अपर्यवसित—अनन्त है, सुकृत है, दुष्कृत है, कल्याण है, पाप है, पुण्य है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, नरक नहीं है, इन सब बातों को स्पष्टतया नहीं जानते हैं। कोई इनमें से किसी एक का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा उसका निषेध करके अन्य का समर्थन करता है। जैसे वेदान्त दर्शन लोक को एकान्त ध्रुव मानता है, तो बौद्ध दर्शन इसे एकान्त अध्रुव¹ मानता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक भी किसी एक तत्त्व का प्रतिपादन करके दूसरे का निषेध करते हैं। क्योंकि, उन्हें वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने से उनके विचारों में स्पष्टता एवं एकरूपता नजर नहीं आती है। जैसे वेदों में विराट् पुरुष द्वारा सृष्टि का उत्पन्न होना माना है। मनुस्मृति आदि में लिखा है कि सृष्टि का निर्माण अण्डे से हुआ है। पुराणों में विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उससे सृष्टि का सृजन हुआ, ऐसा उल्लेख किया गया है। स्वामी दयानन्द जी की कल्पना इससे भिन्न एवं विचित्र है। वे माता-पिता के संयोग के बिना ही अनेक युवक स्त्री-पुरुषों का उत्पन्न होना मानते हैं। ईसाई और यवन विचारकों की सृष्टि के सम्बन्ध में इनसे भी भिन्न कल्पना है। गॉड (ईश्वर) या खुदा ने कहा कि सृष्टि उत्पन्न हो जाए और एकदम सारा संसार जीवों से भर गया। इस प्रकार अन्य तत्त्वों के विषय में भी सबकी भिन्न-भिन्न कल्पना है। इसलिए कोई विचारक एक निश्चय पर नहीं पहुँच सकता है। उसके मन में भ्रान्ति हो जाती है। इसलिए आगम में कहा गया है कि अपने से असम्बद्ध विचारकों के साथ परिचय नहीं रखना चाहिए। क्योंकि, इससे श्रद्धा—निष्ठा में गिरावट आने की सम्भावना है।

उपर्युक्त तत्त्वों के सम्बन्ध में जैनों का चिन्तन स्पष्ट है। संसार के समस्त पदार्थ अनेक धर्म वाले हैं, अतः उनका एकान्त रूप से एक ही स्वरूप नहीं होता है। जैसे लोक नित्य भी है और अनित्य भी है, सादि भी है और अनादि भी है। वह सान्त

1. 'अध्रुवः' चलः, तथाहि...भूगोलः केषाञ्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव। —आचाराङ्ग टीका, पृष्ठ, 256

टीका के इस पाठ से यह परिज्ञात होता है कि आजकल के वैज्ञानिकों की तरह पहले भी इस तरह के लोग थे, जो यह मानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य नहीं चलता है—स्थिर है।

भी है और अनन्त भी है। भगवती सूत्र में बताया गया है कि लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। द्रव्य और क्षेत्र से लोक नित्य है। क्योंकि, द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है और क्षेत्र से भी वह सदा 14 राजू परिमाण का रहता है। काल एवं भाव की अपेक्षा से वह अनित्य है। क्योंकि भूतकाल में लोक का जो स्वरूप था, वह वर्तमान में नहीं रहा और जो वर्तमान में है वह भविष्य में नहीं रहेगा, उसकी पर्यायों में प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। इसी तरह भाव की अपेक्षा से भी उसमें सदा एकरूपता नहीं रहती है। कभी वर्णादि गुण हीन हो जाते हैं, तो कभी अधिक हो जाते हैं। अतः द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक नित्य भी है और काल एवं भाव की दृष्टि से अनित्य भी है। इसी प्रकार सादि-अनादि, सान्त-अनन्त आदि प्रश्नों का समाधान भी स्याद्वाद की भाषा में दिया गया है। उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है, क्योंकि उसमें एकान्तता नहीं है। उसमें किसी एक पक्ष का समर्थन एवं दूसरे का सर्वथा विरोध नहीं मिलता है। उसमें प्रत्येक पदार्थ को समझने की एक अपेक्षा, एक दृष्टि रहती है। वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। आगमिक भाषा में इसे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद कहा है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकान्तवाद पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है। अतः मुनि को एकान्तवादियों से संपर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें यथार्थ धर्म में श्रद्धा—निष्ठा रखनी चाहिए।

कौन-सा धर्म यथार्थ है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स तिबेमि। सच्चत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए, गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे, नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नी उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया॥197॥

छाया—तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितमाशुप्रज्ञान जानता-पश्यता अथवा गुप्तिर्वागोचरस्येति ब्रवीमि, सर्वत्र सम्मतं पापं, तदेवोपातिक्रम्य, एषः मम

विवेको व्याख्यातः ग्रामे वा, अथवा अरण्ये वा, नैवग्रामे, नैवारण्ये धर्ममाजानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता यामास्त्रयः उदाहृताः येषु इमे आर्याः संबुध्यमानाः समुत्थिताः ये निवृत्ताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः।

पदार्थ—से—वह। जहेयं—जैसे इस स्याद्वाद—अनेकान्तवाद रूप वस्तु का यथार्थ वर्णन करने वाले सिद्धान्त का। भगवया—भगवान महावीर ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, वे प्रतिपादक कैसे हैं? आसुपन्नेण—आशुप्रज्ञा वाले हैं। जाणया—ज्ञानोपयोग से युक्त हैं। पासया—दर्शनोपयोग से संपन्न हैं, अतः एकान्तवादियों का धर्म स्वाख्यात नहीं है। अदुवा—अथवा। वओगोयरस्स—वाणी के विषय को। गुत्ती—गुप्त करना—बोलते समय भाषा समिति का विचार रखना, अर्थात् वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति को पूर्ण व्यवस्थित रखना चाहिए, उस महापुरुष ने इस प्रकार का उपदेश दिया है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। सव्वत्थ—यह सिद्धान्त सर्वत्र। समयं—सम्मत है। पावं—अतः मैंने पाप का एवं। तमेव उवाइक्कम्म—उस पाप कर्म का परित्याग कर दिया है। महं—मेरा। एस—यह। विवेगे—विवेके। गामे वा—ग्रामों में। अदुवा—अथवा। रण्णे—जंगल में, सर्वत्र। वियाहिए—कहा गया है। नेव गामे—और न ग्रामों में धर्म है। नेव रण्णे—न जंगल में है, किन्तु वह तो विवेक में है। पवेइयं—भगवान ने ऐसा प्रतिपादन किया है, अतः। धम्ममायाणह—तुम धर्म को जानो, जो। मइसया—मतिमान। माहणेण—भगवान ने। तिन्नि—तीन। जामा—याम-व्रत विशेष। उदाहिया—कहे हैं। जेसु इमे—इन यामों में। आयरिया—जो आर्य मनुष्य। संबुज्झमाण—बोध को प्राप्त होकर। समुडिया—साधना के लिए उद्यत हुए हैं। जे—जो। णिव्वुया—क्रोधादि को दूर करके शान्त हो गए हैं। पावेहिं कम्मोहिं—पाप कर्म करने में जो। अणियाणा—निदान से रहित हैं, अर्थात् पापकर्म में जिनकी इच्छा एवं रुचि नहीं है। ते—वे। वियाहिया—मुमुक्षु—मोक्ष मार्ग के योग्य, कहे गए हैं।

मूलार्थ—जैसा कि यह स्याद्वाद रूप सिद्धान्त सर्वदर्शी भगवान ने प्रतिपादित किया है, एकान्तवादियों का सिद्धान्त वैसा नहीं है। क्योंकि भगवान भाषा-समिति से युक्त हैं अथवा भगवान ने वाणी के विषय में गुप्ति और भाषा समिति के उपयोग का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह है कि वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। तर्क-वितर्क एवं वादियों के प्रवाद को छोड़कर यह कहना उचित एवं

श्रेष्ठ है कि पाप कर्म का त्याग करना ही सर्ववादि सम्मत सिद्धान्त है। अतः मैंने उस पापकर्म का त्याग कर दिया है। चाहे मैं ग्राम में रहूँ या जंगल में रहूँ, परन्तु पाप कर्म नहीं करना यह मेरा विवेक है। वस्तुतः धर्म न ग्राम में है और न जंगल में है, वह तो विवेक में है। अतः तुम परम मेधावी सर्वज्ञ कथित धर्म को जानो। भगवान ने तीन याम का वर्णन किया है। जिनमें ये आर्य लोग सम्बोध को प्राप्त होते हुए धर्म कार्य में उद्यत हो रहे हैं और वे कषायों का परित्याग करके शान्त होते हैं। मुमुक्षु पुरुष पापकर्मों में निदान से रहित होते हैं, अतः वे ही मोक्ष मार्ग के योग्य कहे गए हैं।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि स्याद्वाद की भाषा में संशय को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता है। अतः स्याद्वाद की भाषा में व्यक्त किया गया सिद्धान्त ही सत्य है। यह सिद्धान्त राग-द्वेष विजेता सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। इसलिए इसमें परस्पर विरोधी बातें नहीं मिलती हैं और यह समस्त प्राणियों के लिए हितकर भी है। वीतराग भगवान के वचनों में यह विशेषता है कि वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते हैं, परन्तु किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार नहीं करते। उनके उपासक मुनि भी वाद-विवाद के समय असत्य तर्कों का खण्डन कर के सत्य सिद्धान्त को बताते हैं, परन्तु यदि कहीं वाद-विवाद में संघर्ष की सम्भावना हो या वितण्डावाद उत्पन्न होता हो तो वे उसमें भाग नहीं लेते। वे स्पष्ट कह देते हैं कि यदि तुम्हारे मन में पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने की जिज्ञासा हो तो शान्ति से तर्क-वितर्क के द्वारा हम चर्चा कर सकते हैं और तुम्हारे संशय का निराकरण कर सकते हैं परन्तु हम इस वितण्डावाद में भाग नहीं लेंगे। क्योंकि हम सावध प्रवृत्ति का त्याग कर चुके हैं और इसमें सावध प्रवृत्ति होती है। इसलिए हम इस चर्चा से दूर ही रहेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जंगलों में रहते हैं, कन्द-मूल खाते हैं, इसलिए हम धर्म-निष्ठ हैं। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं कि धर्म ग्राम या जंगल में नहीं है और न वह कन्द-मूल खाने में ही है। धर्म विवेक में है, जीवाजीव आदि पदार्थों का यथार्थ बोध करके शुद्ध आचार का पालन करने में है; प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की रक्षा करने में है।

भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान में

कहा है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम तीन याम—जीवन की तीन अवस्थाएं हैं¹। इन तीनों यामों में जीवन सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म को पा सकता है, श्रद्धानिष्ठ बन सकता है, त्याग, व्रत एवं प्रव्रज्या—दीक्षा को स्वीकार कर सकता है। आगम में दीक्षा के लिए जघन्य आठ वर्ष की आयु बताई है, अर्थात् आठ वर्ष की आयु में मनुष्य संयम-साधना के योग्य बन जाता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है कि भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। भगवान का उपदेश किसी भी देश-काल विशेष से आबद्ध नहीं है, वह तो पाप से निवृत्त होने में है। वैदिक परम्परा में सन्न्यास के लिए अन्तिम अवस्था निश्चित की गई है और अरण्यवासी सन्न्यासी होता है। परन्तु, भगवान ने त्याग-भावना को किसी काल—अवस्था या देश से बांध कर नहीं रखा, क्योंकि मन में त्याग की जो उदात्त भावना आज उद्बुद्ध हुई है, वह अन्तिम अवस्था में रहेगी या नहीं? यदि त्याग की भावना बनी भी रही, तब भी क्या पता तब तक जीवन रहेगा या बीच में ही मानव आगे के लिए चल पड़ेगा। अतः भगवान महावीर ने कहा है कि जब मन में त्याग की भावना जगे, उसी समय उसे साकार रूप दे दो। काल का कोई विश्वास नहीं है कि वह मनुष्य को कब आ कर दबोच ले, अतः शुभ कार्य में समय मात्र भी प्रमाद मत करो²। किसी भी काल एवं देश की प्रतीक्षा मत करो। जिस देश और जिस काल—भले ही बाल्यकाल हो, यौवनकाल हो या वृद्ध काल हो, में स्थित हो उसी काल में त्याग के पथ पर बढ़ चलो। वस्तुतः, धर्म सभी काल में साधा जा सकता है। धर्म के लिए काल आवश्यक नहीं है, आवश्यक है पाप से, हिंसा आदि दोषों से, विषय-कषाय से निवृत्त होना। अतः जिस समय मनुष्य पाप कार्य से निवृत्त होता है, तभी से वह धर्म की साधना कर सकता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शीलांक ने याम शब्द का व्रत अर्थ किया है और प्राणातिपात, मृषावाद एवं परिग्रह के त्याग को तीन याम कहा है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को भी तीन याम बताया है। त्रियाम का तीन व्रत के रूप में उल्लेख अपेक्षा विशेष से किया गया है। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के शासन में पांच

1. चूर्णिकार ने भी याम शब्द का अवस्था अर्थ किया है और 8 से 30 वर्ष की आयु को प्रथम याम, 30 से 60 वर्ष की आयु को मध्यम याम और उसके बाद की आयु को अन्तिम याम बताया है।

2. समयं गोयम! मा पमायए।

याम—व्रत और शेष 22 तीर्थकरो के शासन में चार याम—व्रत का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। क्योंकि, ये सब वर्णन अपेक्षा विशेष के किए गए हैं। तीन याम में अस्तेय और ब्रह्मचर्य को छोड़ दिया है। मृषावाद और स्तेय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह किसी अंश में चोरी भी करता है और जो चोरी करता है, वह झूठ भी बोलता है। इस तरह मृषावाद एवं स्तेय दोनों को एक में ही स्वीकार कर लिया गया है। इसी तरह परिग्रह का अर्थ तृष्णा, लालसा एवं पदार्थों की भोगेच्छा है और तृष्णा, आकांक्षा एवं भोगेच्छा का ही दूसरा नाम अब्रह्मचर्य है। अतः अब्रह्मचर्य का परिग्रह में समावेश कर लिया गया है। इससे व्रतों की संख्या तीन रह गई। चार व्रतों में ब्रह्मचर्य का अपरिग्रह में समावेश किया गया है और पांच व्रतों में सबको अलग-अलग खोलकर रख दिया है, जिससे कि साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकें। इस तरह त्रियाम, चतुर्याम और पंचयाम में केवल संख्या का भेद है सिद्धान्त का नहीं। क्योंकि, सर्वज्ञ पुरुषों के सिद्धान्त में परस्पर विरोध नहीं होता है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में त्रियाम¹ धर्म का उपदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी भी समय में धर्म के स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। जागने वाले के लिए जीवन का प्रत्येक समय महत्त्वपूर्ण है। जब जागे तभी सवेरा—चाहे बाल्य काल हो या प्रौढ़काल, उसके लिए जीवनविकास का महत्त्वपूर्ण प्रभात है। मुमुक्षु पुरुष को पापकर्म से सर्वथा निवृत्त होकर प्रति समय संयम में संलग्न रहना चाहिए।

इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. वैदिक ग्रन्थों में भी 'याम' शब्द का उल्लेख मिलता है। वेदों में 'याम' शब्द गति, प्रगति, मार्ग एवं रथ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति एवं महाभारत आदि में 'याम' शब्द का प्रयोग रात्रि और दिन के चतुर्थ भाग (¼) के अर्थ में मिलता है। गति का सम्बन्ध काल से होने के कारण 'याम' काल वाची भी मान लिया गया है। कालवाची 'याम' शब्द 'य' धातु से बना है और व्रत वाची 'याम' शब्द 'यम्' धातु से। त्रिपिटक में भी तीन यामों का उल्लेख मिलता है और स्थानांग सूत्र की तरह उसके प्रथम आदि तीन भाग किए हैं। पञ्चयाम का तो नहीं, परन्तु चतुर्याम का वर्णन त्रिपिटकों में भी मिलता है और उसे निर्ग्रथों का धर्म बताया गया है।

मूलम्—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंती च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे णं तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समणुजाणेज्जा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्तिबेमि॥198॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सर्वाः (या काश्चन दिशः णं) प्रत्येकं जीवेषु कर्म समारम्भः (णं) तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं (आत्मना) एतेषु कायेषु दण्डसमारभेत्, नैवान्येन एतेषु कायेषु दंडं समारम्भयेत् नैवान्यान् एतेषु कायेषु दंडं समारम्भमाणानपि समनुजानीयात् ये चान्ये एतेषु कायेषु दंडं समारम्भन्ते तैरपि वयं लज्जामः तं परिज्ञाय मेधावी तं वा दंडं अन्यद् वा नो दण्डभीः दंडं समारभेथाः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उड्ढं—ऊंची। अहं—नीची। तिरियं—तिरछी। दिसासु—दिशाओं में। सव्वओ—सर्व प्रकार से। सव्वावंति—सब। च—च शब्द से विदिशाओं में। णं—वाक्यालंकार अर्थ में है। पाडियक्कं—प्रत्येक। जीवेहिं—जीवों में। कम्मसमारंभे—कर्म समारम्भ—उपमर्दन रूप क्रिया का आरम्भ। णं—प्राग्वत्। तं—उस समारम्भ को। परिन्नाय—जानकर—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। मेहावी—बुद्धिमान। नेवसयं—न स्वात्मा से। एएहिं काएहिं—इन कार्यों पृथ्वी आदि कार्यों में। दंडं समारंभिज्जा—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करे। नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियों से। एएहिं काएहिं—इन पृथ्वी आदि कार्यों में। दंडं समारंभिज्जासि—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करावे। नेवन्ने—न अन्य व्यक्तियों को। एएहिं काएहिं—इन पृथ्वी आदि कार्यों में। दंडं समारंभंतेऽवि—उपमर्दन रूप दण्ड का समारम्भ करने वालों के कार्य को। समणुजाणेज्जा—अच्छ समझे, और। जेवऽन्ने—जो अन्य। एएहिं काएहिं—इन पृथ्वी आदि कार्यों में। दंडं समारंभंति—उपमर्दन रूप का दंड का समारम्भ करते हैं। तेसिंपि—उनके इस जघन्य कार्य से भी। वयं लज्जामो—हम लज्जित होते हैं। तं—उन जीवों में। मेहावी—बुद्धिमान। परिन्नाय—

ज्ञान से जानकर। तं वा दंडं—उस दंड को। अन्नं वा—मृषावाद आदि दंड को। दंडभी—उपमर्दन रूप दंड से डरने वाला भिक्षु। दंडं—दंड का। नो समारंभिज्जासि—समारम्भ न करे और न करावे। त्तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—ऊंची-नीची और तिरछी दिशाओं तथा विदिशाओं में रहने वाले जीवों में उपमर्दन रूप दंड समारम्भ को ज्ञान से जानकर मर्यादा शील भिक्षु स्वयं दंड का समारम्भ न करे और न अन्य व्यक्ति से दंड समारम्भ करावे तथा दंड समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी न करे। वह ऐसा माने कि जो लोग इन पृथ्वी आदि कार्यों में दण्ड समारंभ करते हैं, उनके कार्य से हम लज्जित होते हैं। अतः हिंसा अथवा मृषावाद आदि दंड से डरने वाला बुद्धिमान पुरुष हिंसा के स्वरूप को जानकर दण्ड का समारम्भ न करे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में हम देख चुके हैं कि धर्म देश-काल से आबद्ध नहीं है, प्रत्युत पाप से निवृत्त होने में है। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भिक्षु को पाप कर्म से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि, पाप कर्म के संयोग से चित्त वृत्तियों में चंचलता आती है। अतः मन को शान्त करने के लिए साधक को हिंसा आदि दोषों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे छह काय पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति एवं त्रस काय के जीवों का न तो स्वयं आरम्भ-समारम्भ करना चाहिए, न अन्य व्यक्ति से करवाना चाहिए और न आरम्भ करने वाले व्यक्ति का समर्थन हो करना चाहिए। इसी तरह मृषावाद, स्तेय आदि सभी दोषों का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग करना चाहिए। हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने रूप इस धर्म को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही आत्मा का विकास करके निर्वाण पद को पा सकता है।

‘त्तिबेभि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में असम्बद्ध साधु के साथ सम्बन्ध नहीं रखने का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इसके लिए अकल्पनीय पदार्थों—आहार-पानी, स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का त्याग करना भी आवश्यक है। अतः साधु को किस तरह का आहार-पानी लेना चाहिए एवं कैसे स्थान में रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू परिककमिज्ज वा, चिट्ठज्ज वा, निसीइज्ज वा, तुयडिज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भारायणंसि वा, हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुज्जणं वा, पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स, कीयं, पामिच्चं अच्छिज्जं, अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुज्जह, वसह, आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावई समणसं सवयसं पडियाइक्खे आउसंतो! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि, नो खलु ते वयणं परिज्जाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा 4 वत्थं वा 4 पाणाइं वा 4 समारम्भ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं, अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई! एयस्स अकरणयाए॥199॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेद्धा, तिष्ठेद्धा, निषीदेद्धा, त्वग्वर्तेद्धा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा, वृक्षमूले वा, कुम्भकारायतने वा, अन्यत्र वा, क्वचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसंक्रम्य गृहपतिर्ब्रूयात्—आयुष्मन् भो श्रमण! अहं

खलु तवार्थाय अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं (पात्र) वा, कम्बलं वा, पादप्रोज्झनं, प्राणिनः, भूतानि, जीवान्—सत्त्वान्—सामारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं, आच्छिद्यं, अनिसृष्टं, अभिहतमाहृत्य ददामि, आवसथं वा समुच्छृणोमि तद् भुङ्क्ष्व वत्स आयुष्मन् श्रमण! भिक्षुस्तं गृहपतिं समनसं सवचसं प्रत्याचक्षीत्—आयुष्मन् गृहपते! नो खलु ते वचनमाद्रिये, न खलु ते वचनं परिजानामि यस्त्वं ममार्थाय अशनं वा 4, वस्त्रं वा 4, प्राणिनो वा 4 समारम्भ समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं आच्छिद्यमनिसृष्टमभिहतमाहृत्य ददासि आवसथं वा समुच्छृणोषि स (अहं) विरतः आयुष्मन् गृहपते! एतस्याकरणतया।

पदार्थ—से—वह सावध व्यापार से निवृत्त हुआ। भिक्षु—भिक्षु। परिक्रमिज्ज—भिक्षा एवं अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। वा—अथवा, अपेक्षा अर्थ में जानना। चिट्ठिज्ज वा—खड़ा रहे। निसीइज्ज वा—बैठे या। तुयट्ठिज्ज वा—करवट बदले या शयन करे। सुसाणंसि वा—श्मशान में। सुन्नागारंसि वा—शून्यागार—शून्य घर में। गिरिगुहुंसि वा—पर्वत की गुफा में। रुक्खमूलंसि वा—वृक्ष के मूल में—वृक्ष के नीचे। कुमाराययणंसि वा—कुम्भकार की शाला में। हुरत्था वा—ग्राम के बाहर अन्यत्र। कहिंचि—किसी स्थान पर। विहरमाणं—विचरते हुए। तं—उस। भिक्षु—भिक्षु को। गाहावई—कोई गृहपति। उवसंकमित्तु—आकर। बूया—ऐसा कहे कि। आउसंतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण! खलु—वाक्यालंकारार्थ में है। अहं—मैं। तव—तुम्हारे। अट्ठाए—लिये। असणं वा—अन्न। पाणं वा—पानी। खाइमं वा—खाद्य पदार्थ—मिठाई आदि। साइमं वा—स्वादिम—लवंगादि पदार्थ। वत्थं वा—वस्त्र। पडिग्गहं वा—काष्ठादि के पात्र। कंबलं वा—कम्बल—ऊन का वस्त्र। पायपुज्झणं—पाद प्रोज्झन—रजोहरण। पाणाइं—प्राणियों। भूयाइं—भूतों। जीवाइं—जीवों। सत्ताइं—सत्त्वों का। समारम्भ—उपमर्दन कर के। समुद्दिस्स—साधु के उद्देश्य से। कीयं—खरीद कर। पामिच्चं—किसी से उधार लेकर। अच्छिज्जं—किसी से छीन कर। अणिसट्ठं—दूसरे की वस्तु को बिना आज्ञा लेकर। अभिहडं—अपने घर से। आहट्टु—लाकर। चेएमि—देता हूं और। आवसहं वा—आप के ठहरने लिए स्थान—उपाश्रय बनवाता हूं और। समुस्सिणोमि—उनका जीर्णोद्धार करवा देता हूं—पुराने बने हुए उपाश्रय का नया संस्कार करवा देता हूं। से—वह कहे कि। आउसंतो समणा—हे आयुष्मान् श्रमण! आप। भुंजह—आहार-पानी करो और। वहसं—उस उपाश्रय में रहो।

गृहस्थ के ये वचन सुनकर वह भिक्षु-भिक्षु-साधु। तं—उस। गाहावई—गृहपति के प्रति। समणसं—मन से। सवयसं—वचन से। पडियाइक्खे—ऐसा कहे कि। आउसंतो गाहावई—हे आयुष्मान गृहपते! ते—तेरे। वयणं—वचन का। नो आढामि—मैं आदर नहीं कर सकता हूँ। ते वयणं—और तेरे वचन को। नो परिजाणामि—मैं उचित नहीं समझता हूँ। खलु—यह अपि अर्थ में है। जो तुमं—जो तू। मम—मेरे। अट्ठाए—लिए। असणं वा 4—अन्नादि। कथं वा 4—वस्त्रादि। पाणाइं वा 4—प्राणी आदि का। समारम्भ—उपमर्दन करके। समुद्दिस्स—मेरे उद्देश्य से। कीयं—मोल लेकर। पामिच्चं—उधार लेकर। अच्छिज्जं—किसी से छीन कर। अणिसट्ठं—दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लाकर या। अभिहडं—घर से। आहट्टु—लाकर मुझे। चेएसि—देता है या। आवसहं वा—उपाश्रय—मकान बनवा कर देता है या। समुस्सिणासि—जीर्णोद्धार करवा कर देता है, यह मुझे स्वीकार नहीं है, क्योंकि मैं। से—उक्त क्रिया से। विरओ—निवृत्त हो चुका हूँ। आउसो गाहावई—हे आयुष्मान गृहपते! एयस्स—आपके उक्त वचन को। अकरणयाए—मैं स्वीकार नहीं कर सकता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु (मुनि) आहारादि या अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। आवश्यकता होने पर वह खड़ा होवे, बैठे और शयन करे। जब वह श्मशान में, शून्यागार में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के मूल में या ग्राम के बाहर अन्य किसी स्थान पर विचर रहा हो, उस समय उसके समीप जाकर यदि कोई गृहपति इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण! मैं तुम्हारे लिए प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व आदि का उपमर्दन एवं आरंभ-समारम्भ करके आहार-पानी, खदिम—मिठाई आदि, स्वादिम—लवंग आदि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि बनवा देता हूँ या तुम्हारे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के लाकर एवं अपने घर से लाकर तुम्हें देता हूँ। मैं तुम्हारे लिए नया मकान—उपाश्रय बनवा देता हूँ या पुराने मकान का नवीन संस्कार करवा देता हूँ। हे आयुष्मन् श्रमण! तुम अन्नादि पदार्थ खाओ और उस मकान में रहो। ऐसे वचन सुनकर वह भिक्षु गृहपति से कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मैं तेरे इस वचन को आदर नहीं दे सकता और मैं तेरे इस वचन को उचित भी नहीं समझता हूँ। क्योंकि

तू मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व आदि का उपमर्दन करके आहारादि पदार्थ बनाएगा या मेरे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु को उसकी बिना आज्ञा लेकर और घर से लाकर देगा। तू नया मकान—उपाश्रय बनवा कर या पुरातन मकान का जीर्णोद्धार करवाकर देगा, परन्तु हे आयुष्मन् गृहस्थ! मैं आप के इन पदार्थों को स्वीकार नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि, मैं विरत हूँ, आरम्भ-समारम्भ का पूर्णतः त्याग कर चुका हूँ, अतः मैं आपके उक्त प्रस्ताव का न आदर करता हूँ और न उसे उचित ही समझता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है। अतः वह न तो स्वयं भोजन बनाता है और न अपने लिए बनाया हुआ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, मकान आदि स्वीकार ही करता है। वह गृहस्थ के अपने एवं उसके परिवार के उपभोग के लिए बने हुए आहार-पानी आदि को अपनी मर्यादा के अनुरूप होने पर ही स्वीकार करता है, परन्तु यदि उसके निमित्त कोई गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके कोई पदार्थ तैयार करे, तो साधु को वह पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

इसी तरह मुनि श्मशान में, शून्य स्थान में, पर्वत की गुफा में या इस तरह किसी अन्य स्थान में बैठा हो, खड़ा हो या शयन कर रहा हो, उस समय यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त—गृहस्थ आकर मुनि से प्रार्थना करे कि मैं आपके लिए भोजन तैयार कर के तथा वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर लाता हूँ और रहने के लिए मकान भी बनवा देता हूँ। उस समय मुनि उससे कहे कि हे देवानुप्रिय! मुनि को ऐसा भोजन एवं वस्त्र-पात्र आदि लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि, मैंने आरम्भ-समारम्भ का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग कर दिया है। अतः मेरे लिए भोजन आदि बनाने, खरीदने आदि में अनेक तरह का आरम्भ होगा, अनेक जीवों का नाश होगा, इसलिए मैं ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता हूँ।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि इस तरह की प्रार्थना जैन साधु के आचार से अपरिचित व्यक्ति ही कर सकता है। उस युग में बौद्ध आदि भिक्षु गृहस्थ का निमन्त्रण स्वीकार करते थे। आज भी अन्य मत के बहुत-से साधु-सन्न्यासी गृहस्थों का निमन्त्रण

स्वीकार करते हैं। अतः उनकी वृत्ति को देखकर कोई जैन मुनि को भी निमन्त्रण दे, तो मुनि उसे स्वीकार न करे। वह अपनी साधु वृत्ति से उसे परिचित कराकर अपनी निर्दोष साधना में संलग्न रहे।

श्मशान आदि में ठहरने के पाठ को वृत्तिकार ने जिनकल्पी एवं प्रतिमाधारी मुनि के लिए बताया है, स्थविर कल्पी के लिए नहीं¹। परन्तु, वृत्तिकार का कथन उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि, उत्तराध्ययन सूत्र में सभी साधुओं के लिए श्मशान आदि में ठहरने का उल्लेख मिलता है। कोई भी साधक आत्मचिन्तन के लिए ऐसे स्थान में ठहर सकता है²। निषिद्धा परीषह का वर्णन करते समय भी श्मशान आदि शून्य स्थान में ठहरने का सभी साधुओं के लिए उल्लेख किया गया है³।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त निर्दोष स्थानों में स्थित साधु सदा निर्दोष वृत्ति से आहार-पानी आदि स्वीकार करके शुद्ध संयम का पालन करे। यदि कोई गृहस्थ स्नेह एवं भक्ति वश सदोष वस्तु तैयार कर दे तो साधु उसे स्वीकार न करे।

वह उसका किस तरह निषेध करे, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू परिकमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणां तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा 4 वत्थं वा 4 जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाई भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा—अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा 4 वत्थं वा 4

1. गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिकं न कल्पते, प्रमादस्खलितादौ व्यन्तराधु पद्रवात् तथा जिनकल्पार्थं सत्वभावनां भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञातः, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थानं, जिनकल्पस्य वा तदपेक्षया श्मशान सूत्रम्।—आचाराङ्गवृत्ति।

2. सुसाणे सुन्नागारे वा, रुक्ख मूले वा इक्कओ।

पइरिक्के पर कडे वा, वासं तत्थाभिरोगए॥

—उत्तराध्ययन, 35, 6

3. सुसाणे सुनागारे वा रुक्ख मूले वा एगओ।

अकुक्कुओ निसीएज्जा नय वित्तासए परं॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभि धारए।

संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठिता अन्नमासणं॥

—उत्तराध्ययन, 2,20—21

जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमिता
आणविज्जा अणासेवणए त्तिबेमि॥200॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेत् यावदन्यत्र वा अन्यत्र ग्रामादेवेहिः क्वचिद्विहरन्तं
तं भिक्षुमुपसक्रम्य गृहपतिरात्मगतया प्रेक्षया अशनं वा 4 वस्त्रं वा 4 यावदाहत्य
ददामि आवसथञ्च समुच्छृणोमि (करोमि) समुच्छृणोति परिघासयितुं (भोजयितुं)
तञ्च भिक्षुः जानीयात् स्वसन्मत्या परव्याकरणेन अन्येभ्यो वा श्रुत्वा अयं खलु
गृहपतिः ममर्थाय अशन वा 4 वस्त्रं वा यावदावसथं वा समुच्छृणोति तं च
भिक्षुः प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनया अति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—यह । भिक्खू—भिक्षु । परिक्रमिज्ज वा—कभी श्मशानादि में
ध्यानादि की साधना में पराक्रम करता हो । जाव—यावत् । हुरत्था वा—किसी अन्य
स्थान पर । कहिंचि—कभी । विहरमाणं—विचरता हो तब । तं—उस । भिक्खुं—भिक्षु
के । उवसंकमित्तु—पास आकर । गाहावई—गृहपति । आयगयाए पेहाए—अपने
आत्मगत भावों को साधु के सामने प्रकट न करता हुआ कि मैं साधु को अवश्य
दान दूंगा, इस आशा से । असणं वा 4—अशनादि । वत्थं वा 4—वस्त्रादि । जाव—
यावत् । आहट्टु—लाकर । चेएइ—देता है । आवसहं वा—उपाश्रय का । समुस्सिणाइ—
जीर्णोद्धार करवाकर नया मकान बनवा देता है । परिघासेउं—आहार लाने के लिए
गया हुआ । भिक्खू—साधु । च—पुनः । भिक्खू—भिक्षु । तं—उस भोजन को ।
सहसम्मइयाए—अपनी सद्बुद्धि से । परवागरणेणं—तीर्थंकर देव द्वारा कथित विधि
विशेष से । वा—अथवा । अन्नेसिं सुच्चा—किसी अन्य परिजन आदि से सुनकर ।
खलु—अवधारणार्थ में है । जाणिज्जा—जान ले, कि । अयं गाहावई—यह गृहपति ।
असणं वा 4—आहारादि । वत्थं वा 4—वस्त्रादि । जाव—यावत् । आवसहं वा—यह
अभिनव, सुन्दर स्थानादि या । समुस्सिणाइ—जीर्णोद्धार किया हुआ मकान । मम
अट्ठाए—मेरे लिए बनाया है, अतः । च—पुनः । तं—उनका । पडिलेहाए—पर्यायलोचन
करके । आगमिता—जानकर । आणविज्जा—उस गृहस्थ से कहे कि । अणासेवणाए—
ये सब पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नहीं हैं, अतः मैं इन्हें ग्रहण नहीं कर सकता ।
त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूं ।

मूलार्थ—वह भिक्षु श्मशानादि स्थानों में ध्यानादि साधना में पराक्रम करता हो या अन्य कारण से इन स्थानों में विचरता हो, उस समय यदि कोई गृहस्थ भिक्षु के पास आकर अपने मानसिक भावों को व्यक्त न करता हुआ, साधु को दान देने के लिए अन्न, वस्त्रादि लाकर या उसके निवास के लिए सुन्दर स्थान बनवाकर उसे देना चाहता है, तब आहारादि की गवेषणा के लिए गया हुआ भिक्षु अपनी स्व बुद्धि से अथवा तीर्थकरोपदिष्ट विधि से या किसी अन्य परिजन आदि से उन पदार्थों के सम्बन्ध में सुनकर, यदि वह यह जान ले कि वस्तुतः यह गृहस्थ मेरे उद्देश्य से बनाए या खरीद कर लाए हुए आहार, वस्त्र और मकान आदि मुझे दे रहा है, तो वह भिक्षु उस गृहस्थ से कहे कि ये पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नहीं हैं। अतः मैं इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में उल्लिखित विषय को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त मुनि को बिना बताए ही उसके निमित्त आहारादि बनाकर या वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर रख ले और आहार के समय मुनि को उसके लिए आमन्त्रण करे। उस समय आहार आदि की गवेषणा करते हुए मुनि को अपनी बुद्धि से या तीर्थकरोपदिष्ट विधि से या किसी के कहने से यह ज्ञात हो जाए कि यह आहारादि मेरे लिए तैयार किया गया है या खरीदा गया है, तो वह उसे स्वीकार न करे। वह उस गृहस्थ को स्पष्ट शब्दों में कह दे कि इस तरह हमारे लिए बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहारादि हम नहीं लेते हैं। वह उसे साध्वाचार का सही बोध कराए, जिससे वह फिर कभी किसी भी तरह का सदोष आहारादि देने का प्रयत्न न करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्षुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हन्ता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह आलुम्पह विलुम्पह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णमणेत्तिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुच्चेण सम्मं पडिलेहए आयगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइया॥201॥

छाया—भिक्षुञ्च खलु पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा यः इमे आहत्य ग्रन्थात् स्पृशन्ति स हंता, हत, क्षणुत, छिन्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत विपरामृशत तान् स्पर्शान्धीरः स्पृष्टः अधिसहेत अथवा आचार—गोचरमाचक्षीत, तर्कयित्वा अनीदृश अथवा वाग्गुप्तिर्विधेया, गोचरस्यानुपूर्व्या सम्यक्प्रत्युपेक्षेत् आत्मगुप्तो बुद्धैरेतत् प्रवेदितम् ।

पदार्थ—च—यह समुच्चय अर्थ में है। खलु—यह वाक्यालंकार अर्थ में है। भिक्षुं—भिक्षु को। पुट्ठा वा—पूछकर अथवा। अपुट्ठा वा—बिना पूछे। जे—जो। इमे—ये आहारादि पदार्थ। गंधा वा—बहुत धन खर्च करके बनाए हैं। आहच्च—वह उसके सामने लाकर देने पर जब मुनि उसे ग्रहण नहीं करता है, तब वह गृहस्थ मुनि को। फुसंति—कष्ट-परितापनादि देता है, यथा-। से—वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोध के वशीभूत होकर साधु को। हन्ता—स्वयं मारता है तथा अन्य व्यक्तियों को मारने का आदेश देता है, वह कहता है। हणह—इस भिक्षु को मारो। खणह—पीड़ित करो। छिंदह—इसके हाथादि अंगोपांगो का छेदन करो। दहह—इसे आग में जला दो। पयह—इसके मांस को पकाओ। आलुंपह—इसके वस्त्र छीन लो। विलुंपह—इसका सब कुछ छीन लो। सहसाकारेह—इसको जल्दी मारो, जिससे इसकी मृत्यु हो जाए। विप्परामुसह—इसे अनेक तरह से पीड़ित करो। ते फासे—उन दुःख रूप स्पर्शों से। पुट्ठो—स्पृष्ट हुआ। धीरो—वह धैर्यवान साधु। अहियासए—उन्हें सहन करे। अदुवा—अथवा। आयागरगोयरमाइक्खे—उनसे साधु के आचारानुष्ठान को कहे। तक्किया—परन्तु साध्वाचार बताने के पूर्व यह सोच ले कि यह पुरुष माध्यस्थ वृत्ति वाला है, तो उसे। णं—वाक्यालंकार में है। अणेतिसं—अनुपम वचन कहे। यदि वह पुरुष दुराग्रही हो या अपनी आत्मा में उसे समझाने की शक्ति न हो। अदुवा—अथवा। वइगुत्तीए—तब वह वचन गुप्ति में स्थित रहे। गोयरस्स—आचार-गोचर की। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। सम्मं—सम्यक् शुद्धि का। पडिलेहए—प्रतिलेखन करके। आयगुत्ते—आत्मा से गुप्त होता हुआ निरंतर संयम-साधना में संलग्न रहे। बुद्धेहिं—बुद्धों—तीर्थकरों ने। एयं—इसका। पवेइयं—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—कोई सदगृहस्थ, साधु को पूछकर या बिना पूछे ही बहुत-सा धन खर्चकर अन्नादि पदार्थ बना करके साधु के पास लाकर उसे ग्रहण करने की प्रार्थना

करता है। परन्तु, जब साधु उसे अकल्पनीय समझकर लेने से इनकार करता है, तब क्रोध के वशीभूत होकर वह गृहस्थ साधु को परिताप देता है, उसे मारता है तथा दूसरों से कहता है कि इस भिक्षु को मारो, इसका विनाश करो, इसके हाथ-पैर काट लो, इसको अग्नि में जला दो, इसके मांस को काट कर पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो, इसका सब कुछ लूट लो और इसे नाना प्रकार से पीड़ित करो, जिससे इसकी जल्दी ही मृत्यु हो जाए। इत्यादि कठोर परीषहों—कष्टों के उपस्थित होने पर भी साधु उन कष्टों को बड़े धैर्य से सहन करे। यदि वे समझने योग्य हैं, तो वह उन्हें साध्वाचार का यथार्थ स्वरूप समझा कर शान्त करे। यदि वे अयोग्य व्यक्ति हैं, तो वह वचन-गुप्ति का पालन करे—मौन रहे। वह अनुक्रम से अपने आचार का सम्यक् प्रतिलेखन करके आत्मा से गुप्त होता हुआ सदा उपयोग पूर्वक क्रियानुष्ठान में संलग्न रहे। तीर्थंकरों ने इस विषय का इस प्रकार से प्रतिपादन किया है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का महत्त्व सहिष्णुता में है। अतः कठिनाई के समय भी साधु को समभाव पूर्वक परीषहों को सहते हुए संयम का परिपालन करना चाहिए। परन्तु, परीषहों के उपस्थित होने पर उसे संयम से भागना नहीं चाहिए। साधना की कसौटी परीषहों के समय ही होती है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि साधु को खाने-पीने के पदार्थों एवं वस्त्र-पात्र आदि के प्रलोभन में आकर अपने संयम मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए, परन्तु ऐसे समय में भी समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध संयम का पालन करना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति स्वादिष्ट पकवान बनाकर या सुन्दर कीमती वस्त्र-पात्र ला कर दे और उसे ग्रहण करने के लिए अत्यधिक आग्रह भी करे, तब भी साधु उन्हें स्वीकार न करे। वह उसे स्पष्ट शब्दों में समझाए कि इस तरह का आहार आदि लेना हमें नहीं कल्पता है। यदि इसपर भी वह गृहस्थ न माने, क्योंकि कई पूंजीपति गृहस्थों को अपने वैभव का अभिमान होता है। वे चाहते हैं कि हमारे विचारों को कोई ठुकराए नहीं। जिन्हें वे अपना गुरु मानते हैं, उनके प्रति भी उनकी यह भावना रहती है कि वे भी मेरे विचारों को स्वीकार करे, मेरे द्वारा दिए जाने वाले पदार्थों या विचारों को अस्वीकार न करें। इस पर भी यदि कोई साधु अकल्पनीय वस्तु को स्वीकार नहीं

करता है, तो उनके अभिमान को ठेस लगती है और वे आवेश में आकर अपने पूज्य गुरु के भी शत्रु बन जाते हैं। वे उसे मारने-पीटने एवं विभिन्न कष्ट देने लगते हैं। ऐसे समय में भी मुनि को अपने आचार पथ से नहीं गिरना चाहिए। मुनि को पदार्थों के लोभ में आकर अपनी मर्यादा को तोड़ना नहीं चाहिए और न कष्टों से घबराकर ही संयम से विमुक्त होना चाहिए। परन्तु हर परिस्थिति में संयम में संलग्न रहते हुए उन्हें आचार का यथार्थ स्वरूप समझाना चाहिए।

इस विषय में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ते समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं वा जाव नो पाइज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि॥२०२॥

छाया—स समनोज्ञोऽसमनोज्ञायाशनं वा यावन्ना प्रदद्यात्, न निमन्त्रयेत्, न कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। समणुन्ने—समनोज्ञ मुनि। असमणुन्नस्स—अमनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। परं आढायमाणे—अति आदर पूर्वक। नो पाइज्जा—न देवे। नो निमंतिज्जा—न निमन्त्रित करे। नो कुज्जा वेयावडियं—न वैयावृत्य ही करे। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—समनोज्ञ साधु अमनोज्ञ साधु को आदर-सम्मान पूर्वक आहार आदि नहीं दे और न उसकी वैयावृत्य ही करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक के 194वें सूत्र में उल्लिखित विषय को दोहराया गया है। इसका विवेचन उक्त स्थान पर किया जा चुका है, अतः हम यहां पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं समझते, पाठक वहीं देख लें।

समनोज्ञ साधु को समनोज्ञ साधु के साथ कैसा बर्ताव रखना चाहिए, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि॥२०३॥

छाया—धर्म जानीत प्रवेदितं माहणेण मतिमता समनोज्ञः समनोज्ञाय अशनं वा यावत् कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाणः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—धम्ममायाणह—हे आर्य! तू धर्म को जान, जिसे। मइमया—मतिमान-सर्वज्ञ। माहणेण—भगवान ने। पवेइयं—प्रतिपादन किया है, कि। समणुन्ने—समनोज्ञ साधु। समणुन्नस्स—समनोज्ञ साधु को। असणं वा—आहार आदि पदार्थ। जाव—यावत्। पर आढायमाणे—अत्यन्त आदर पूर्वक दे, और। वेयावडियं कुज्जा—उनकी वैयावृत्य करे। त्तिबेभि—ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य! तू सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को समझ। उन्होंने कहा है कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक आहार आदि पदार्थ दे और उनकी सेवा-शुश्रूषा भी करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में समनोज्ञ—शिथिलाचारी या अपने से असम्बद्ध साधु को आहार आदि देने का निषेध किया गया है। इस सूत्र में अपने समान आचार वाले समनोज्ञ साधु को आदर पूर्वक आहार आदि देने एवं उसकी वैयावृत्य करने का विधान किया गया है।

अपने समानधर्मी मुनि का स्वागत करना मुनि का धर्म है। इससे पारस्परिक धर्म-स्नेह बढ़ता है और एक-दूसरे के संपर्क से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य में अभिवृद्धि होती है, संयम में भी तेजस्विता आती है। अतः साधक को समनोज्ञ मुनि का आहार-पानी से आदर-सम्मान पूर्वक उचित सत्कार करना चाहिए। उसकी सेवा—वैयावृत्य करनी चाहिए। क्योंकि, सेवा-शुश्रूषा से कर्मों की निर्जरा होती है और उत्कट भाव आने पर तीर्थंकर गोत्र का भी बन्ध हो सकता है। अतः साधक को सदा संयम-निष्ठ पुरुषों का स्वागत करना चाहिए।

‘त्तिबेभि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में अकल्पनीय आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में बताया गया है कि यदि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु शीत के कारण कांप रहा हो और गृहस्थ के मन में यह शंका उत्पन्न हो गई हो कि साधु कामेच्छा के उत्कट वेग से कांप रहा है, तो उस समय साधु को उसकी शंका का निवारण कैसे करना चाहिए, इस संबन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सोच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामियां समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकखंमाणा, अणइवाएमाणा, अपरिग्गहेमाणा, नो परिग्गहावंती सच्चावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ओए जुइमस्स खेयन्ने उववायं चवणं च नच्चा॥२०४॥

छाया—मध्यमेन वयसापि एके संबुध्यमानाः समुत्थिताः श्रुत्वा मेधावी वचनं पंडितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः ते अनवकांक्षमाणाः अनतिपातयन्तोऽपरिग्रहणन्तः नो परिग्रहवन्तः सर्वस्मिन्नपि च लोके (णं) निधाय दण्डं प्राणिषु (प्राणिभ्यः) पापं कर्म अकुर्वाणः एषो महान् अग्रन्थः व्याख्यातः ओजः द्युतिमतः खेदज्ञः उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा ।

पदार्थ—एगे—कई एक। मेहावी—बुद्धिमान व्यक्ति। मज्झिमेणं—मध्यम-यौवन। वयसावि—वय-अवस्था में। पंडियाणं—तीर्थकरादि पण्डित पुरुषों के। वयणं—वचन। सुच्चा—सुनकर। निसामिया—हृदय में सोच-विचार कर कि। आरिएहिं—आर्य पुरुषों—तीर्थकरादि ने। समियाए—समता भाव से। धम्मे—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का। पवेइए—प्रतिपादन किया है। ते—वे। संबुज्झमाणा—बोध को प्राप्त हुए हैं, और। समुट्ठिया—दीक्षित होकर धर्म का परिपालन करने को उद्यत हुए हैं।

अणवकंखमाणा—काम-भोगों की इच्छा न रखते हुए। अणइवाएमाणा—प्राणियों की हिंसा न करते हुए। अपरिग्गहेमाणा—परिग्रह न रखते हुए। नोपरिग्गहावंती—अपने शरीर पर ममता नहीं रखते हुए। च—समुच्चय अर्थ में है। ण—वाक्यालंकार में है। सव्वावंति—सर्व। लोगंसि—लोक में। निहाय दंडं पाणेहिं—प्राणियों के दंड-परिताप, पीड़ादि को छोड़कर। पावं कम्मं—पाप कर्म। अकुव्वमाणे—नहीं करते हैं। एस—उन। महं—महान् पुरुषों को जो। ओए—राग-द्वेष से रहित हैं। जुइमस्स—संयम या मोक्ष मार्ग के। खेयन्ने—ज्ञाता—जानने वाले हैं। उववायं—देवों के उपपात। च—और। चवणं—च्यवन (मृत्यु) को। नच्चा—जानकर, जो पाप कर्म एवं कषायों का त्याग कर देते हैं और। अगंथे—जिनके पास धनादि परिग्रह नहीं है, उन्हें निर्ग्रन्थ। वियाहिए—कहते हैं।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति मध्यवय में भी बोध को प्राप्त होकर धर्म में उद्यत होते हैं। बुद्धिमान तीर्थकरादि के वचनों को सुनकर और समता भाव से हृदय में विचार कर, तीर्थकरों के प्रतिपादन किए हुए धर्म में दीक्षित होकर वे काम-भोगों के त्यागी, प्राणियों की हिंसा से निवृत्त, धनादि परिग्रह से रहित होते हुए अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं। वे महापुरुष संपूर्ण लोक में स्थित समस्त प्राणियों के दंड का परित्याग करके किसी भी प्रकार के पापकर्म का आचरण नहीं करते हैं। वे बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थि—परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ कहे गए हैं। अतः जो साधक राग-द्वेष से रहित हैं और संयम एवं मोक्ष के ज्ञाता हैं, वे देवों के उपपात एवं च्यवन को जानकर कभी भी पापकर्म का आचरण नहीं करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मनुष्य तीनों अवस्थाओं—बाल्य, यौवन एवं वृद्ध अवस्था में साधना को साध सकता है। फिर भी यहां मध्यम अवस्था को लिया गया है। इस समय में प्रायः बुद्धि परिपक्व होती है। इसलिए वह अपने हिताहित का भली-भांति विचार कर सकता है। अतः कोई व्यक्ति तीर्थकर के या आचार्य आदि के वचनों से बोध को प्राप्त होकर श्रुत और चारित्र धर्म को स्वीकार करता है। वह समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर समस्त आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर देता है। वह समस्त पदार्थों पर से—यहां तक कि अपने शरीर पर से भी ममत्व हटा

लेता है। किसी भी पदार्थ में उसकी ममता नहीं रहती है। वह इस बात को भली-भांति जानता है कि ये भोग के साधन अस्थायी हैं; और तो क्या देवों का विपुल ऐश्वर्य भी अस्थायी है। वे भी एक दिन अपनी ऐश्वर्य सम्पन्न स्थिति से गिर जाते हैं। जब देवों की यह स्थिति है—जिन्हें लोग अमर कहते हैं, तो मनुष्य की क्या गिनती है? ऐसा सोचकर वे कभी भी पाप कर्म का आचरण नहीं करते हैं। समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर सदा संयम साधना में संलग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ही निर्ग्रन्थ¹ कहलाते हैं।

परन्तु, जो युवक साधना पथ को स्वीकार करके भी उसमें ग्लानि को प्राप्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आहारोपचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विदिण्हिं परिगिलायमाणेहिं॥205॥

छाया—आहारोपचया देहाः परीषह प्रभंजिनः (भंगुरा) पश्यत एके सर्वैरिन्द्रियैः परिग्लायमानैः।

पदार्थ—पासह—हे शिष्य! तू देख। आहारोपचया—आहार से उपचित। देहा—शरीर में। परीसह—परीषहों के उत्पन्न होने पर। एगे—कई एक व्यक्ति। सव्विदिण्हिं—सब इन्द्रियों से। परिगिलायमाणेहिं—ग्लानि को, या। पभंगुरा—नाश को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख, यह आहार से परिपुष्ट हुआ शरीर परीषहों के उत्पन्न होने पर विनाश को प्राप्त होता है। अतः कुछ साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर सब तरह से ग्लानि या नाश को प्राप्त होते हैं।

हिन्दी-विवेचन

शरीर की वृद्धि अनुकूल आहार पर आधारित है। योग्य आहार के अभाव में शरीर क्षीण होता रहता है और इन्द्रियां भी कमजोर हो जाती हैं। अतः यह शरीर

1. धन-धान्य, घर-परिवार आदि बाह्य साधन-सामग्री बाह्य ग्रन्थि—गांठ कहलाती है और रोग-द्वेष, ममत्व एवं आसक्ति भाव आदि मनोविकार अभ्यन्तर ग्रन्थि कहलाते हैं और बाह्य एवं अभ्यन्तर ग्रन्थि का त्यागी साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है।

क्षणिक है, नाशवान है, फिर भी धर्म-साधना करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। मनुष्य के शरीर में ही साधक अपने चरम उद्देश्य को सफल बना सकता है। वह सदा के लिए कर्मबन्ध से छुटकारा पा सकता है। इसलिए साधक को सदा इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ कायर लोग परीषहों के उत्पन्न होने पर ग्लानि का अनुभव करते हैं। वे नाशवान शरीर पर ममत्व लाकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

परन्तु वीर पुरुष किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट नहीं होते। वे परीषहों के उपस्थित होने पर किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करते। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने, बलन्ने, मायन्ने, खणन्ने, विणयन्ने, समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइं॥206॥

छाया—ओजः दयां दयते यः सन्निधानस्य खेदज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः, बलज्ञः, मात्रज्ञः, क्षणज्ञः, विनयज्ञः, समयज्ञः परिग्रहमममत्वेन कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञः उभयतः छेत्ता निर्वाति।

पदार्थ—ओए—रागादि से रहित अकेला भिक्षु क्षुधापरीषहादि के होने पर। दयं दयइ—दया का पालन करे। जे—जो। संनिहाणसत्थस्स—नरकादि के स्वरूप के निरूपक शास्त्र या कर्म रूप सन्निधान के शस्त्र—संयम का। खेयन्ने—परिज्ञाता है। से—वह। भिक्खू—भिक्षु। कालन्ने—काल के स्वरूप का परिज्ञाता। बलन्ने—बल का परिज्ञाता। मायन्ने—परिमाण को जानने वाला। समयन्ने—समय का ज्ञाता एवं। परिग्गहं—परिग्रह के विषय में। अममायमाणे—ममत्व न करता हुआ। कालेणुट्ठाइ—समय पर कार्य करने वाला। अपडिन्ने—कषाय आदि की प्रतिज्ञा से रहित। दुहओ—दोनों प्रकार के राग-द्वेष अथवा द्रव्य और भाव से। छित्ता—मर्म का छेदन करने वाला। नियाइं—निश्चित रूप से संयमानुष्ठान में संलग्न रहता है।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित भिक्षु क्षुधा आदि परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया का पालन करता है। वह भिक्षु जो नरक आदि के स्वरूप का वर्णन करने वाले शास्त्रों का परिज्ञाता है, काल का ज्ञाता है, अपने बल का ज्ञाता है, परिमाण आदि

का ज्ञाता है, अवसर का ज्ञाता है, विनय का ज्ञाता है तथा स्वमत और परमत का ज्ञाता है, परिग्रह में ममत्व नहीं रखता है और नियत समय पर क्रियानुष्ठान करने वाला है, वह साधक कषायों की प्रतिज्ञा से रहित और राग-द्वेष का छेदन करने वाला है और वह निश्चित रूप से संयम-साधना में संलग्न रहता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का क्षेत्र परीषहों का क्षेत्र है। साधु वृत्ति में परीषहों का उत्पन्न होना आश्चर्य जनक नहीं है, अपितु परीषहों का उत्पन्न न होना आश्चर्य का कारण हो सकता है। अतः साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर दया भाव का परित्याग नहीं करता है। वह जीवों की दया एवं रक्षा करने में सदा संलग्न रहता है। दया संयम का मूल है, इसलिए यहां सूत्रकार ने दया शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि, दयाहीन व्यक्ति संयम का परिपालन नहीं कर सकता। इसलिए प्राणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी साधक दयाभाव का परित्याग नहीं करता है।

ऐसे संयम का पालन वही कर सकता है, जो कर्म शास्त्र का परिज्ञाता है और संयम विधि का पूर्ण ज्ञाता है¹। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनि को कर्म बन्ध के कारण एवं उसके क्षय करने के साधन का परिज्ञान होना चाहिए और यह परिज्ञान आगमों के अध्ययन, स्वाध्याय एवं चिन्तन से ही हो सकता है। स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में संलग्न रहने वाला साधक ही उपयुक्त समय एवं आहार आदि की मात्रा-परिमाण का ज्ञाता हो सकता है। वह परिग्रह में ममत्व न रखते हुए शुद्ध संयम का पालन कर सकता है। अतः मुनि को निष्ठा पूर्वक स्वाध्याय एवं चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए और परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया भाव का त्याग नहीं करना चाहिए।

इससे संयम में निष्ठा बढ़ती है और उसकी साधना में तेजस्विता आती है। इस संबन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

1. यहां पर—“संनिहाण सत्यस्सखेयन्ने” के वृत्तिकार ने ऊपर बतलाये गए दोनों अर्थ इस प्रकार किये हैं—(सम्यङ्निधीयते नरकादिगतिषु येन तत्सन्निधानं कर्म तस्य स्वरूप-निरूपकं शास्त्रं तस्य खेदज्ञो-निपुणः, यदिवा सन्निधानस्य कर्मणः शस्त्रं संयमः सन्निधान- शस्त्रं तस्यखेदज्ञः-सम्यक् संयमस्यवेत्ता”) इत्यादि।

. मूलम्—तं भिक्षुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमिता गाहावई बूया-आउसंतो समणा! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति? आउसंतो गाहावई! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा (पज्जालित्तए वा) कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं च भिक्षू पडिलेहाए आगमिता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि॥207॥

छाया—तं भिक्षुं शीतस्पर्श परिवेपमानगात्रमुपसंक्रम्य गृहपतिः ब्रूयात्—आयुष्मन् श्रमण! नो खलु (ते) भवन्तं ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते? आयुष्मन् गृहपते! न खलु मम ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते, शीतस्पर्शं च न खलु अहं शक्नोमि अधिपोढुम्, न खलु मे कल्पते अग्निकायं (मनाग्) उज्ज्वालयितुं वा प्रज्वालयितुं वा कायं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा अन्येषां वा वचनात् स्यात् स एवं वदन्तं (वदतः) परः अग्निकायं उज्ज्वात्य प्रज्वात्य कायं आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा तच्च भिक्षुः प्रतिलेख्य अवगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि।

पदार्थ—तं—उस। भिक्षुं—भिक्षु को। सीयफासपरिवेवमाणगायं—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से कांप रहा है। उवसंकमिता—उसके समीप जाकर। गाहावई—गृहपति। बूया—कहे कि। आउसंतो समणा—हे आयुष्मन श्रमण! खलु—निश्चय ही। ते—तुझे। गामधम्मा—ग्राम धर्म। नो उव्वाहंति—पीडित नहीं करता है। खलु—निश्चयार्थ है, किन्तु। अहं—मैं। च—समुच्चय अर्थ में है। सीयफासं—शीत के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। नो संचाएमि—समर्थ नहीं हूं। खलु—पूर्ववत्। अगणिकायं—अग्नि काय को। उज्जालित्तए वा—उज्ज्वलित करना। पज्जालित्तए वा—प्रज्वलित करना। कायं—शरीर को। आयावित्तए वा—थोड़ा-सा तापना और। पयावित्तए वा—अधिक तापना अथवा। अन्नेसिं वा—अन्य व्यक्ति को। वयणाओ—कह कर अग्नि प्रज्वलित करवाना। सिया—कदाचित्। स—वह। एवं वयंतस्स—इस प्रकार बोलने पर। परो—पर-गृहस्थ। अगणिकायं—अग्नि काय को। उज्जालित्ता—उज्ज्वलित करके। पज्जालित्ता—प्रज्वलित करके। कायं—साधु

की काया—शरीर को। आयाविज्ज वा—थोड़ा-सा तपावे। पयाविज्ज वा—विशेष रूप से तपावे। मे—मुझे। नो कप्पइ—नहीं कल्पता। च—पुनः। तं—मुनि उस अग्निकाय के आरम्भ को। पडिलेहाए—अपनी बुद्धि से विचार कर। आगमित्ता—भली-भांति जानकर। तं—उस गृहस्थ से इस प्रकार। आणविज्जा—कहे। अणासेवणाए—यह अग्नि मेरे सेवन करने योग्य नहीं है। अतः मुझे इस अग्नि का सेवन करना नहीं कल्पता, अर्थात् मैं इसका सेवन नहीं कर सकता हूँ। तिबेभि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से काँप रहा है, ऐसे भिक्षु के समीप आकर यदि कोई गृहस्थ कहने लगे कि हे आयुष्मन् श्रमण! आप विषय विकार से पीड़ित तो नहीं हो रहे है? उसके इस संशय का निराकरण करने के लिए मुनि उसे कहे कि मुझे ग्रामधर्म पीड़ित नहीं कर रहा है, किन्तु मैं शीत के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता! मुझे अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करना, अग्नि से शरीर को थोड़ा-सा गर्म करना या अधिक गरम करना अथवा दूसरों से करवाना नहीं कल्पता है। यदि साधु के इस प्रकार बोलने से कभी कोई गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करके उस साधु के शरीर को थोड़ा या अधिक गरम करे या गरम करने का प्रयत्न करे, तो भिक्षु उस गृहपति को इस प्रकार प्रतिबोधित करे कि यह अग्नि मेरे लिए अनासेव्य है, अर्थात् मुझे अग्नि का सेवन करना नहीं कल्पता। अतः मैं इसका सेवन नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन में कंपन विकारों के वेग से होता है। विकार भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शीत एवं ज्वर आदि द्रव्य विकार हैं, जिनके कारण शरीर में कंपन होता है। काम, क्रोध, मोह आदि भाव विकार हैं और जब इनका वेग होता है, उस समय भी शरीर कांपने लगता है। इस तरह भले ही सर्दी से, ज्वर से या काम आदि से शरीर में कम्पन हो, वह विकारजन्य ही कहलाता है। परन्तु, द्रव्य विकारों से उत्पन्न कम्पन जीवन के लिए अहितकर नहीं है, परन्तु भाव विकारों के वेग से उत्पन्न कम्पन जीवन का पतन भी कर सकता है। इसलिए साधक को भाव विकारों के आवेग से सदा दूर रहना चाहिए।

कुछ मनुष्यों का स्वभाव होता है कि वे प्रत्येक मनुष्य की चेष्टा को अपनी चेष्टा के अनुरूप देखते या समझते हैं। उन्हें काम-भोगों के आवेग से कम्पन पैदा होता है, तो वे दूसरे व्यक्ति को कांपते हुए देखकर उसे भी काम-विकार से पीड़ित समझने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति के सन्देह को अवश्य दूर करना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

कोई साधु किसी गृहस्थ के घर भिक्षा को गया। सर्दी की अधिकता के कारण उसके शरीर को कांपते हुए देखकर यदि कोई गृहस्थ पूछ बैठे कि क्या आपको काम-वासना का वेग संता रहा है? तो मुनि स्पष्ट शब्दों में कहे कि मैं वासना से प्रताड़ित नहीं हूं, परन्तु सर्दी की अधिकता के कारण कांप रहा हूं। यह सुनकर यदि गृहस्थ कहे कि तुम अग्नि ताप लो। यदि तुम हमारे चूल्हे के पास जाना नहीं चाहते हो, तो हम ताप का साधन यहां लाकर दे दें। उस समय मुनि कहे कि हे देवानुप्रिय! मुझे अग्नि तापना नहीं कल्पता है। चूँकि वह सजीव है, इसलिए आग तापने से तेजस्कायकि जीवों की हिंसा होती है। इस तरह वह समस्त शंकाओं का निराकरण करके विशुद्ध भावों के साथ साधना में संलग्न रहे।

‘त्तिबेभि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अभिग्रहनिष्ठ मुनि के लिए वस्त्र-पात्र रखने की मर्यादा का उल्लेख किया गया है और अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों के उत्पन्न होने पर वह संयम का त्याग न करे—भले ही प्राणों का त्याग करना पड़े तो प्रसन्नता के साथ कर दे, इस बात का उपदेश दिया गया है। उद्देशक के प्रारम्भ में वस्त्राचार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा; नो धोइज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामन्तरेसु ओमवेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामगियं॥२०८॥

छाया—यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः पर्युषिते चतुर्थैः तस्य (णं) नैवं भवति चतुर्थं वस्त्रं याचिष्ये स यदेषणीयानि वस्त्राणि याचेत् यथा परिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् न धोवेत्, नो धौतरक्तवस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु अवमचेलिकः एतत् वस्त्रधारिणः सामग्रियं (भवति)।

पदार्थ—जे—जो अभिग्रहधारी। भिक्खू—भिक्षु। तिहिं वत्थेहिं—तीन वस्त्र। एवं पाय चउत्थेहिं—चौथे पात्र से। परिवुसिए—युक्त है। णं—वाक्यालंकार में। तस्स—उसको। नो एवं भवइ—शीतादि के लगने पर यह विचार नहीं होता। चउत्थं वत्थं जाइस्सामि—मैं वस्त्र की याचना करूंगा। से—वह, यदि उसके पास तीन वस्त्रों से कम हो तो। अहेसणिज्जाइं—वह एषणीय—निर्दोष। वत्थाइं—वस्त्रों की। जाइज्जा—याचना करे और। अहापरिग्गहियाइं—जैसा वस्त्र मिला है। वत्थाइं—

वैसे ही वस्त्र को। धारिज्जा—धारण करे, किन्तु। नो धोइज्जा—उसे प्रक्षालित न करे। नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा—और जो वस्त्र प्रक्षालित करके रंगा हुआ है, उसे भी धारण न करे। अपलिओवमाणे गामंतरेसु—ग्रामादि में वस्त्र को गुप्त रखता हुआ—छिपा कर न चले। ओमचेलिए—अभिग्रहधारी मुनि अवमचेलक होता है, अर्थात् परिमाण एवं मूल्य की अपेक्षा से वह स्वल्प वस्त्र रखता है। खलु—अवधारण अर्थ में है। एयं—यह। वत्थधारिस्स—वस्त्रधारी मुनि की। सामग्गियं—सामग्री है।

मूलार्थ—जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रों से युक्त है। शीतादि के लगने पर उसके मन में यह विचार उत्पन्न नहीं होता है कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूंगा, यदि उसके पास तीन वस्त्रों से कम हों तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वैसा ही धारण करे, किन्तु उसको प्रक्षालित न करे और न धोकर रंगे हुए वस्त्र को धारण करे। वह ग्रामादि में विचरते समय अपने पास के वस्त्र को छिपाकर न रखे। वह वस्त्रधारी मुनि परिमाण के स्वल्प एवं थोड़े मूल्य वाला वस्त्र रखने के कारण अवमचेलक—अल्प वस्त्र वाला भी कहलाता है। यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री भी सदाचार है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र अभिग्रहनिष्ठ या जिनकल्प की भूमिका पर स्थित साधु के विषय में है। इसमें बताया गया है कि जिस मुनि ने तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीषह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा न करे। वह अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करने के लिए समभाव पूर्वक परीषह को सहन करे, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा एवं मर्यादा से अधिक वस्त्र संग्रह करने की भावना न रखे। यदि उसके पास अपनी की हुई प्रतिज्ञा से कम वस्त्र हैं, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है। उस समय उसे जैसा वस्त्र उपलब्ध हो, उसका उसी रूप में उपयोग करे। न उसे पानी आदि से साफ करे और न उसे रंगकर काम में ले। वह गांव आदि में जाते समय उस वस्त्र को छिपाकर भी न रखे। उक्त मुनि के पास अल्प मूल्य के थोड़े वस्त्र होने के कारण सूत्रकार ने उसे अवमचेलक—अल्प वस्त्रवाला कहा है।

वृत्तिकार ने पात्र शब्द से पात्र के साथ उसके लिए आवश्यक अन्य उपकरणों

को भी ग्रहण किया है। जैसे—1—पात्र, 2—पात्र बन्धन, 3—पात्र स्थापन, 4—पात्र केसरिक—प्रमार्जनिका, 5—पटल, 6—रजस्त्राण, 7—गोच्छक—पात्र साफ करने का वस्त्र, ये सात उपकरण हुए¹। तीन वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका, इस प्रकार जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एवं अभिग्रहनिष्ठ मुनि के 12 उपकरण होते हैं²।

साधु को मर्यादित उपधि रखने का उपदेश देने का कारण यह है कि उपधि संयम का साधन मात्र है। अतः साधु संयम की साधना के लिए आवश्यक उपधि के अतिरिक्त उपधि का संग्रह न करे, क्योंकि अनावश्यक उपधि के संग्रह से मन में ममत्व का भाव जोगेगा और उसका समस्त समय जो अधिक-से-अधिक स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में लगाना चाहिए, वह उसमें न लगाकर अनावश्यक उपधि को संभालने में ही व्यतीत कर देगा। इस तरह स्वाध्याय एवं चिन्तन में विघ्न न पड़े तथा मन में संग्रह एवं ममत्व की भावना उद्बुद्ध न हो, इस अपेक्षा से साधु को मर्यादित उपकरण रखने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र धोने का जो निषेध किया गया है, वह भी विशिष्ट अभिग्रह संपन्न मुनि के लिए ही किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि स्थविर कल्पी मुनि कुछ कारणों से वस्त्र धो भी सकते हैं। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध किया गया है और उसके लिए प्रायश्चित्त भी बताया गया है³, परन्तु भगवान महावीर के शासन के सब साधुओं के लिए—भले ही वे जिनकल्पी हों या स्थविरकल्पी, रंगीन वस्त्र पहनने का निषेध है।

इस तरह अभिग्रहनिष्ठ मुनि मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि का उपयोग करे, परन्तु ग्रीष्म ऋतु आने पर उसे क्या करना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे

1. पत्तं, पत्ता बंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।

पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पाय णिज्जोगो॥

—आचाराङ्ग वृत्ति

2. तदेवं सप्त प्रकारं पात्रं कल्पत्रयं रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेत्येवं द्वादशधोपधिः।

—आचाराङ्ग वृत्ति

3. जे विभूसावडियाए वत्थं वा 4 धोवइ धोवतं वा साइज्जइ। —निशीथ सूत्र, 15, 159

पंडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा, ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले॥209॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्-अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरोऽथवा अवमचेलः अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः ।

पदार्थ—अह—अब । पुण—पुनः । एवं—इस प्रकार । जाणिज्जा—जाने । खलु—निश्चय । हेमन्ते—हेमन्त काल । उवाइक्कते—अतिक्रान्त हो गया है और । गिम्हे—ग्रीष्म काल । पंडिवन्ने—आ गया है तब । अहापरिजुन्नाइं—यथा परिजीर्ण । वत्थाइं—वस्त्रों को । परिट्ठविज्जा—परिष्ठापन कर दे—छोड़ दे । अदुवा—अथवा । संतरुत्तरे—यदि शीत के पड़ने की सम्भावना हो तो वह समर्थ वस्त्र का त्याग न करे, उसे पहने या पास रखे । अदुवा—अथवा । ओमचेले—तीन वस्त्रों में से कम कर दे । अदुवा—अथवा । एगसाडे—एक ही वस्त्र रखे जिससे सारा शरीर आच्छादित हो जाए । अदुवा—अथवा । 'अचेले—रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त अन्य सब वस्त्रों को छोड़कर अचेलक हो जाए ।

मूलार्थ—वह अभिग्रहधारी भिक्षु जब यह समझ ले कि हेमन्त—शीत काल चला गया है और ग्रीष्मकाल आ गया है और ये वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं । ऐसा समझकर वह उनको त्याग दे । यदि निकट भविष्य में शीत की संभावना हो तो मजबूत वस्त्र को धारण कर ले अथवा पास में पड़ा रहने दे । शीत कम होने पर वह एक वस्त्र का परित्याग कर दे और शीत के बहुत कम हो जाने पर दूसरे वस्त्र का भी त्याग कर दे, केवल एक वस्त्र रखे जिससे लज्जा का निवारण हो सके अथवा शरीर आच्छादित किया जा सके । यदि शीत का सर्वथा अभाव हो जावे तो वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को रखकर वस्त्र मात्र का त्याग करके अचेलक बन जाए ।

हिन्दी-विवेचन

वस्त्र की उपयोगिता शीत एवं लज्जा निवारण के लिए है । यदि शीतकाल समाप्त हो गया है और वस्त्र भी बिलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है, तो वह पूर्व सूत्र में

कथित अभिग्रहनिष्ठ मुनि उन वस्त्रों का त्याग करके एक वस्त्र रखे। यदि कुछ सर्दी अवशेष है, तो वह दो वस्त्र रखे और सर्दी के समाप्त होने पर केवल लज्जा निवारण करने के लिए और लोगों की निन्दा एवं तिरस्कार से बचने के लिए वह एक वस्त्र रखे। यदि वह लज्जा आदि पर विजय पाने में समर्थ है, तो वह पूर्णतया वस्त्र का त्याग कर दे, परन्तु मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण अवश्य रखे, क्योंकि ये दोनों जीव रक्षा के साधन एवं जैन साधु के चिह्न हैं।

चूर्णिकार ने 'सांतरोत्तर' शब्द का अर्थ एक अन्तर पट और दूसरा उत्तर पट किया है। आचार्य शीलांक ने लिखा है कि कहीं-कहीं वह उत्तरीय से अपना अंग ढांकता है और कभी-कभी उसे बगल में रख लेता है¹। इन दोनों में चूर्णिकार का अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रंथों में भी निर्ग्रन्थों के लिए एक शाटक वाले निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख मिलता है²।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के शासन में अचेलक साधु भी थे या यों कहना चाहिए कि स्थविरकल्पी साधु सबस्त्र रहते थे और सबस्त्र अवस्था में मुक्ति को प्राप्त करते थे।

वस्त्रों के त्याग से जीवन में किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाघावियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ॥210॥

छाया—लाघविकमागमयन्, तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति।

पदार्थ—लाघावियं—वह मुनि लाघवता को। आगममाणे—प्राप्त करता हुआ वस्त्र का त्याग करे, इससे। से—उस त्याग निष्ठ साधक के। तवे—तप। अभिसमन्नागए भवइ—सम्मुख होता है।

1. क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपिरतुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरे भवेत् सान्तरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति विभर्ति।

—आचाराङ्ग वृत्ति

2. निगंठा एक साटका।

—अंगुत्तरनिकाय, भाग 3, पृष्ठ 383

मूलार्थ—वस्त्र के परित्याग से लाघवता होती है और वस्त्राभाव के कारण होने वाले परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने से वह साधक तप से सम्मुख होता है, अर्थात् वस्त्र का त्याग भी तपस्या है।

हिन्दी-विवेचन

कर्म के बोझ से हलका बनना, अर्थात् उसका क्षय—नाश करना ही साधना का उद्देश्य है। हलकापन त्याग से होता है। इसलिए मुनि-जीवन त्याग का मार्ग है। वह सदा अपने जीवन को कम बोझिल बनाने का प्रयत्न करता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि वस्त्र का त्याग कर देने से जीवन में लाघवता—हलकापन आ जाता है। वस्त्र के अभाव में शीत, दंशमशक—मच्छर आदि जन्तुओं का, तृण स्पर्श आदि परीषहों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु, इन्हें समभाव पूर्वक सहन करने से तप होता है और तप से कर्मों की निर्जरा होती है। इस तरह साधक कर्म के बोझ से हलका होता हुआ सदा आत्म-अभ्युदय की ओर बढ़ता है।

वस्त्र के त्याग से जीवन में लाघवता आती है। प्रतिलेखना में लगने वाला समय भी बच जाता है। इससे स्वाध्याय एवं ध्यान के लिए अधिक समय मिलने लगता है, और स्वाध्याय-ध्यान से आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। वस्तुतः आत्म-विकास की दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसी भाव को लेकर स्थानाङ्ग सूत्र में 5 कारणों से अचेतकत्व को प्रशस्त बताया है²—1—इससे प्रतिलेखना कम हो जाती है, 2—वह विश्वस्त होता है, 3—उससे तप होता है, 4—लाघवता होती है और 5—इन्द्रियों का निग्रह—दमन होता है।

यह उपदेश तीर्थंकर भगवान द्वारा दिया गया है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा॥211॥

1. पंचहिं ठाणेहिं अचेतए पसत्थे भवति, तंजहा-अप्पापडिलेहा, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, लाघविए पसत्थे, विउले इंदियनिग्गहे।
—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान 5

छाया—यदेतद् भगवता प्रवेदित तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—जमेयं—जो यह । भगवया—भगवान महावीर ने । पवेइयं—प्रतिपादन किया है । तमेव—उसी को । अभिसमिच्चा—विचार कर । सव्वओ—सब तरह से । सव्वत्ताए—सर्व आत्मतया । सम्मतमेव—सम्यक्त्व या समभाव को । समभिजाणिज्जा—सम्यक्तया जाने ।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने आगम में जो सचेलक एवं अचेलक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है, उसे सब तरह से, सर्वात्मतया तथा समभावपूर्वक अथवा सम्यक्तया जाने ।

हिन्दी-विवेचन

सचेलकत्व और अचेलकत्व दोनों अवस्थाओं में साधक अपने साध्य की ओर बढ़ता है । वस्त्र रखना या नहीं रखना ये दोनों साध्य-सिद्धि के साधन हैं । साध्य की प्राप्ति के लिए नग्नत्व का महत्त्व है, परन्तु द्रव्य नग्नत्व का नहीं । यह बिल्कुल सत्य है कि जब तक आत्मा कर्म से आवृत रहेगी, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती, भले ही वह वस्त्र से अनावृत हो । मोक्षप्राप्ति के लिए राग-द्वेष एवं कर्मों से सर्वथा अनावृत होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । आत्मा को अनावृत बनाने के लिए राग-द्वेष, कषाय एवं कर्मबन्धन के अन्य कारणों का त्याग करना अथवा आसन्न का निरोध करना जरूरी है, न कि वस्त्र का त्याग करना । यदि कोई साधक लज्जा आदि को जीतने में समर्थ है, तो वह वस्त्र का भी त्याग कर सकता है और यदि वह लज्जा आदि के परीषहों पर विजय पाने की क्षमता नहीं रखता है, तो स्वल्प, मर्यादित वस्त्र रखकर भी राग-द्वेष पर विजय पाने की या आत्मा को कर्मों से सर्वथा अनावृत करने की साधना कर सकता है ।

इस तरह भगवान द्वारा प्ररूपित सचेल एवं अचेल दोनों मार्गों का सम्यक्तया अवलोकन करके साधक को अपनी योग्यतानुसार मार्ग का अनुकरण करके राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए । किसी एक मार्ग को ही एकान्त रूप से श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं मानना चाहिए, क्योंकि, दोनों मार्ग आत्मा को कर्मों से अनावृत करने के साधन हैं, अतः दोनों ही श्रेष्ठ हैं ।

इस तरह प्रबुद्ध पुरुष भगवान के वचनों पर विश्वास करके समभावपूर्वक परीषहों को सहते हुए कर्मों से अनावृत होने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, जो भगवान के मार्ग को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, जब उनके सामने परीषह आते हैं, तब उनकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स काल परियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, निस्सेसं आणुगामियं, तिबेमि॥२१२॥

छाया—यस्य (णं) भिक्षो रेवं भवति—स्पृष्टः खलु अहमस्मि नालमहमस्मि शीतस्पर्शमध्यासयितुं स वसुमान् सर्वसमन्वाऽतप्रज्ञानेनात्मना कश्चिद-कारणतया आवृत्तः तपस्विनस्तत् श्रेयः यदैकः वेदानसादिकं तत्रापि तस्य कालपर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतनं हितं, सुखं। क्षमं निश्रेयसमानु-गामिकमिति ब्रवीमि।

पदार्थ—णं—वाक्यलंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु के। एवं भवइ—इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि। पुट्ठो अहमंसि—मैं शीतादि परीषहों से स्पर्शित हो गया हूं। खलु—अवधारणार्थ में है। अहमंसि—मैं। सीयफासं—शीत स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। नालं—समर्थ नहीं हूं। से—वह साधु। वसुमं—संयम रूप धन से युक्त। सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं—सब तरह से ज्ञान सम्पन्न होने से। अप्पाणेणं—अपनी ज्ञान-निष्ठ आत्मा से। केइ—किसी उपसर्गादि के उपस्थित होने पर। अकरणयाए—ओषधि के न करने से। आउट्टे—संयम में ठहरता है—अवस्थित है। तवस्सिणो—उस तपस्वी को। हु—जिससे। तं—उसके लिये। सेयं—मृत्यु श्रेयस्कर है। जमेगे—जो एक। विहमाइए—फांसी लगा कर मर जाना। तत्थावि—वह मृत्यु। तस्स—जो कि उसका। काल परियाए—काल पर्याय बनती है। सेऽवि—वह भी। तत्थ—उस समय। विअंतिकारए—अन्त क्रिया करने वाला है। इच्चेयं—यह पूर्वोक्त मृत्यु। विमोहायतणं—मोह के दूर करने का स्थान

है। हियं—हितकारी है। सुहं—सुखकारी है। खमं—यथार्थ। निस्सेसं—मोक्ष प्रदात्री है। आणुगामियं—साथ चलने वाली है। त्तिबेभि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस भिक्षु को रोगादि के स्पर्श होने से अथवा शीतादि परीषहों से इस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं कि मैं शीतादि के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता हूं। फिर भी वह संयम एवं ज्ञान संपन्न साधु किसी भी औषध का सेवन न करके भी संयम में स्थित है। उस तपस्वी मुनि को ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिये फांसी आदि से मृत्यु का आलिंगन करना भी श्रेयस्कर है। उसकी वह मृत्यु कर्म-नाशक मानी गई है। वह मृत्यु उसके मोह को दूर करने वाली है। अतः उसके लिए वह मृत्यु हितकारी है, सुखकारी है और शक्ति एवं मोक्ष-प्रदायिनी है। वह संयम की रक्षा के लिए ऐसा कार्य करता है, अतः उससे निर्जरा एवं पुण्यबंध भी होता है। इसलिए यह मृत्यु भवान्तर में साथ जाने वाला भी है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के मार्ग में अनेक परीषह उत्पन्न होते हैं, उन पर विजय पाने का प्रयत्न करना साधु का परम कर्तव्य है। परन्तु, अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों से घबराकर संयम का त्याग करना उसके लिए श्रेयस्कर नहीं है। अपने व्रतों से भ्रष्ट होने वाला साधक अपने जीवन का पतन करता है और भवभ्रमण को बढ़ाता है। अतः ऐसी स्थिति आने पर विषादि खाकर या अनशन करके मर जाना उसके लिए अच्छा है, परन्तु संयमपथ का त्याग करना अच्छा नहीं है। जिस समय राजमती को गुफा के एकान्त स्थान में देखकर रथनेमि विचलित हो उठता है और उससे विषय-भोग भोगने की प्रार्थना करता है, उस समय राजमती उसे सद्बोध देते हुए यही बात कहती है कि हे मुनि! तुझे धिक्कार है कि तू वमन किए त्यागे हुए भोगों की पुनः इच्छा करता है। इस जीवन की अपेक्षा तेरे लिए मर जाना श्रेयस्कर है¹।

जैन आगमों में आत्महत्या करने का निषेध किया गया है। विष खाकर या फांसी लगा कर मरने वाले को बाल-अज्ञानी कहा गया है। परन्तु, विवेक एवं ज्ञान

1. धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीविय कारणा,
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे।

पूर्वक धर्म एवं संयम की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करना पाप नहीं, बल्कि धर्म है। वह मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र अपवाद स्वरूप है। धर्म-संकट के समय ही साधक को विषपान करके या गले में फंदा डालकर मरने की आज्ञा दी गई है। आगम में कहा गया है कि भगवान ने दो प्रकार से मरने की आज्ञा नहीं दी है, परन्तु विशेष परिस्थिति में उसका निषेध भी नहीं किया है¹। इसी अपेक्षा से प्रस्तुत उद्देशक में संयम को सुरक्षित रखने के लिए मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



1. दो मरणाईं जाय णो णिच्चं अब्भणुन्नाईं भवन्ति कारणेणं पुण अप्पडिकुट्ठाईं तंजहा-देहाणसे चेव, गिद्धपिट्ठे चेव।
—स्यानाङ्ग सूत्र, 2, 4

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में अभिग्रहनिष्ठ मुनि के वस्त्र-पात्र की मर्यादा एवं संयम की रक्षा हेतु विषपान आदि के द्वारा प्राणत्याग का मार्ग बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अभिग्रहनिष्ठ मुनि का एवं पंडितमरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायत्तइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ-तइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामगियं, अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने, अहा परिज्जुन्नाइं वत्थाइं परिठट्ठविज्जा, अहापरिज्जुन्नाइं परिठट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतर संकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा 4 आहट्ठु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं 4 भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे॥213॥

छाया—यः भिक्षुः द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितः पात्रतृतीयाभ्यां तस्य (ण) नैवं भवति तृतीयं वस्त्रं याचिष्ये तस्य अथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत् यावत् एवं तस्य भिक्षोः सामग्र्यं अथ पुनरेवं जानीयात् अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरः अमवचेलः अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया

सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् तस्य णं भिक्षोः एवं भवति स्पृष्टः अबलः अहमस्मि नालमहमस्मि गृहान्तरं संक्रमितुं भिक्षाचर्या गमनाय तदेवं वदतः परः अभिहतं अशनं वा 4 आहत्य दद्यात् सः पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन्! न खलु मे कल्पते अभिहतं अशनं वा 4 भोक्तुं वा पातुं वा अन्यद् वा एतत् प्रकारम् ।

पदार्थ—जे—जो । भिक्षू—भिक्षु—साधु । दोहिं वत्येहिं—दो वस्त्रों और । परिवुसिए—युक्त है । पायत्तइएहिं—तृतीय—तीसरे पात्र । णं—वाक्यालंकार में है । तस्स—उस भिक्षु । नो एवं भवइ—मन में यह भावना नहीं होती कि । तइयं वत्थं जाइस्सामि—मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा । से—वह भिक्षु । अहेसणिज्जाइं—यदि उसके दो वस्त्रों में कमी हो तो वह निर्दोष । वत्थाइं—वस्त्रों की । जाइज्जा—याचना करे । जाव—यावत्—शेष विषय पूर्ववत् समझें । एवं खु—इस प्रकार निश्चय ही । तस्स—उस । भिक्षुस्स—भिक्षु का । सामगियं—यह आचार है । अह—अब । पुण—पुनः । एवंजाणिज्जा—इस प्रकार जानना चाहिए कि । खलु—निश्चय ही । हेमंते—हेमन्त काल । उववाइक्कन्ते—अतिक्रान्त व्यतीत हो गया है और । गिम्हे पडिवन्ने—गीष्म काल आ गया है, तब । अहापरिज्जुन्नाइं वत्थाइं—वह परिजीर्ण हुए वस्त्रों का । परिट्ठविज्जा—परिष्ठापन करे त्याग कर दे । अदुवा—अथवा । संतरुत्तरे—यदि शीतादिकी संभावना हो तो वस्त्र धारण करे या अपने पास रखे । अदुवा—अथवा । ओमचेले—वस्त्र कम कर दे । अदुवा—अथवा । एग साडे—एक शाटक उत्तरीय वस्त्र चादर मात्र रखे । अदुवा—अथवा । अचेले—मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड़ कर अन्य सब वस्त्रों का त्याग करके अचेलक बन जाए । लाघविये—इस प्रकार लाघवता को । आगममाणे—प्राप्त हुए । से—मुनि को । तवे—तप—कायक्लेशरूप तप । अभिसमन्नागए—सम्मुख । भवइ—होता है । जमेयं—जिसका । भगवया—भगवान महावीर ने । पवेइयं—प्रतिपादन किया है । तमेव—उसे । अभिसमिच्चा—सम्यक्तया भली-भांति जानकर । सव्वओ—सर्व प्रकार से । सव्वत्ताए—सर्वात्मभाव से । सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को । समभिजाणिया—सम्यक् प्रकार से जाने । णं—वाक्यालंकार में है । जस्स—जिस । भिक्षुस्स—भिक्षु का । एवं—इस प्रकार अध्यवसाय । भवइ—होता है, कि । पुट्ठो—

वातादि रोगों से स्पृष्ट होने से। अबलो अहमंसि—मैं निर्बल हूँ अतः। गिहंतर संक्रमण—एक घर से दूसरे घर में संक्रमण करने—जाने को तथा। भिक्षायरियं—भिक्षाचरी—आहारादि गवेषणा के लिए घरों में। गमणाय—जाने के लिए। नालमहमंसि—मैं समर्थ नहीं हूँ। से—उसे। एवं—इस प्रकार। वयंतस्स—बोलते हुए सुनकर। परो—गृहस्थ। अभिहडं—जीवादि का उपमर्दन करके बनाया हुआ। असणं वा 4—आहार-पानी आदि खाद्य पदार्थ। आहट्टु—घर से लाकर। दलइज्जा—देवे। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—यह विचार करे कि यह आहार दोष युक्त है, अतः। आउसंतो—हे आयुष्मन् गृहस्थ। खलु—निश्चय अर्थ में जानना। अभिहडं—सम्मुख लाया हुआ। असणं वा 4—आहारादि। भुत्तएवा—खाना। पायएवा—पीना। नो कप्पइ—नहीं कल्पता है तथा। एयप्पगारे—इसी प्रकार से। अन्ने वा—अन्य उद्गमादि दोषयुक्त आहार भी मुझे ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

मूलार्थ—जो भिक्षु दो वस्त्र और तीसरे पात्र से युक्त है, उसे यह विचार नहीं होता है कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूँगा। यदि उसके पास दो वस्त्रों से कम हों तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना कर लेता है। जैसा कि पूर्व में वर्णन कर चुके हैं। यह सब भिक्षु का आचार है। जब उसे यह प्रतीत हो कि अब हेमन्त काल, शीत काल व्यतीत हो गया और ग्रीष्म काल—उष्णकाल आ गया है, तब वह जीर्ण फटे-पुराने वस्त्रों का त्याग कर दे। यदि उसे शीतादि के पड़ने की संभावना हो तो वह ऐसा वस्त्र अपने पास रख ले जो अधिक जीर्ण नहीं हुआ है या वह वस्त्र कम कर दे या एक चादर मात्र अपने पास रखे या मुखवस्त्रिका और रजोहरण को छोड़ कर अवशिष्ट वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जावे। वह भिक्षु लाघवता प्राप्त करने के लिए वस्त्रों का परित्याग करे। वस्त्रपरित्याग से कायक्लेश रूप तप होता है। भगवान् महावीर ने जिस आचार का प्रतिपादन किया है, उसका विचार करे और सर्वप्रकार तथा सर्वात्मभाव से सम्यक्त्व या समत्व—समभाव को जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं रोगादि के स्पर्श से दुर्बल होने से एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ हूँ, उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्गृहस्थ जीवों के उपमर्दन से सम्पन्न

होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए बनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हें ग्रहण करने के लिए साधु से विनती करे, तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान्! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोष आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एवं अपने उपभोग में लेना नहीं कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र संबंधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रहनिष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरों में आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनों को सुनकर कोई सद्वृहस्थ अपने घर से साधु के लिए भोजन बनाकर साधु के स्थान में लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों में कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नहीं कल्पता। क्योंकि, इसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषों की गवेषणा करके उनसे बच भी नहीं सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था में भी ऐसा सदोष आहार स्वीकार न करे, परन्तु समभाव पूर्वक रोग एवं भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रहनिष्ठ मुनि के अन्य कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडिन्नतो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंखं साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नतो पडिन्नत्तस्स

अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंखसाहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए
आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 1, आहट्टु
परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि 2, आहट्टु
परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 3, आहट्टु
परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि 4, एवं से
अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि
तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं
सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं तिबेमि॥214॥

छाया—यस्य णं भिक्षोः अयं प्रकल्पः अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः
ग्लानः अग्लानैः अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि अहं
चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांक्ष्य साधर्मिकस्य
वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहत्य प्रतिज्ञां अन्वेषयिष्यामि आहतं च
स्वादयिष्यामि 1 आहत्य प्रतिज्ञां अन्वीक्षिष्ये आहतं च नो स्वादयिष्यामि 2
आहत्य प्रतिज्ञां न अन्वीक्षिष्यामि आहतं च न स्वादयिष्यामि 3 आहत्य
प्रतिज्ञां नान्वीक्षिष्यामि आहतं च न स्वादयिष्यामि 4 एवं सः यथा कीर्तितमेव
धर्मं सम्यग्भिजानन् शान्तः विरतः सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः
स तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतद् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निश्चेयसं
आनुगामिकमिति ब्रवीमि ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का।
अयं—यह—वक्ष्यमाण। पगप्पे—आचार है। च—समुच्चयार्थ में। खलु—वाक्यालंकारार्थ
में है। अहं—मैं अन्य के द्वारा की हुई वैयावृत्य को। पडिन्नत्तो—स्वीकार करूंगा।
अपडिन्नत्तेहिं—उनसे यह नहीं कहूंगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो, अर्थात् वे
अप्रतिज्ञप्त हैं। गिलाणो—मैं ग्लान हूँ पर। अगिलाणेहिं—अग्लानों से। अभिकंख—
उद्देश्य करके। साहम्मिएहिं—सहधर्मियों समानधर्मियों से। कीरमाणं—करता हुआ।
वेयावडियं—वैयावृत्य की। साइज्जिस्सामि—इच्छा करूंगा, जिस भिक्षु का यह
आचार है, वह उसका पालन करता हुआ भक्त परिज्ञा से। मृत्यु प्राप्त करे किन्तु
प्रतिज्ञा का भंग न करे। खलु—वाक्यालंकार अर्थ में। अवि—पुनः अर्थ में जानना।

व—समुच्चार्यक है। अहं—मैं। अपडिन्नतो—अविहित। पडिन्नतस्स—वैयावृत्य करने के लिये कहे हुए के प्रति। अगिलाणो—मैं अग्लान हूं। गिलाणस्स—ग्लान की निर्जरा के लिये वैयावृत्य करूंगा। अभिकंख—उद्देश करके। साहम्मियस्स—सहधर्मी के लिए। वेयावडियं—वैयावृत्य। कुज्जा—करूंगा, किस लिये? करणाए—उपकार आदि करने के लिये। पारेन्नं—प्रतिज्ञा को। आहट्टु—ग्रहण करके वैयावृत्य करे। अणुक्खिस्सामि—पर सहधर्मी के लिये आहारादि का अन्वेषण करूंगा। च—और। आहडं—परका लाया हुआ आहार। साइज्जिस्सामि—मैं आस्वादन करूंगा। आहट्टुपरिन्नं—एक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है। आहट्टु—अन्य साधु के लिये। आणुक्खिस्सामि—अन्वेषण करूंगा, किन्तु। आहडं च—उसके लिए हुए आहारादि का। नो साइज्जिस्सामि—मैं आस्वादन नहीं करूंगा। आहट्टुपरिन्नं—कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि। नो आणुक्खिस्सामि—मैं अन्य साधु के लिये आहार आदि की गवेषणा नहीं करूंगा किन्तु। आहडं च साइज्जिस्सामि—उनके लिए हुए आहारादि का आस्वादन करूंगा। आहट्टुपरिन्नं—कोई मुनि यह प्रतिज्ञा करता है कि। नो आणुक्खिस्सामि—मैं अन्य के लिए आहारादि का अन्वेषण नहीं करूंगा और। आहडं च नो साइज्जिस्सामि—न उनका लाया हुआ ही खाऊंगा इस तरह भिक्षु विविध प्रतिज्ञाओं को ग्रहण करके कभी ग्लान होने पर जीवन का भले ही परित्याग कर दे, किन्तु प्रतिज्ञा का भंग न करे। एवं—उक्त विधि से। से—वह भिक्षु। अहाकिट्ठियमेव—भगवान द्वारा प्ररूपित। धम्मं—धर्म के स्वरूप को। सम्भिजाणमाणे—अच्छी तरह से जानता हुआ और उसका आसेवन करता हुआ विचरे। शेष वर्णन पूर्व कथित चतुर्थ उद्देशक की तरह समझे, तथा। सन्ते—कषायों के उपशम से शान्त। विरे—सावधानुष्ठान से विरत। सुसमाहियलेसे—सुसमाहित लेश्या वाला जिसने तेजी लेश्या आदि लेश्याओं का भली प्रकार से संग्रह किया है, उसका नाम सुसमाहित लेश्या है। तत्थावि—भक्त परिज्ञा में। तस्स—उसकी। कालपरियाए—मृत्यु का अवसर, निर्जरा के लिए होता है, अतः। से—वह भिक्षु। तत्थं—अनशन करने पर। विअंतिकारए—यह समझे कि यह सब कर्म क्षय करने का कारण है। इच्चेयं—यह सर्व। विमोहाययणं—मोहनष्ट करने का स्थान है। हियं—इसलिए, यह मृत्यु हितकारी है। सुहं—सुखकारी है। खमं—क्षेमकारी है।

निस्सेसं—कल्याणकारी है। आणुगामियं—भवान्तर में साथ जाने वाली है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस साधु का यह आचार है कि यदि मैं रोगादि से पीड़ित हो जाऊँ तो अन्य साधु को मैं यह नहीं कहूँगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो। परन्तु यदि रोगादि से रहित, समान धर्म वाला साधु अपने कर्मों की निर्जरा के लिए मेरी वैयावृत्य करेगा, तो मैं उसे स्वीकार करूँगा। जब मैं निरोग—रोगरहित अवस्था में होऊँगा तो मैं भी कर्मनिर्जरा के लिए समान धर्म वाले अन्य रोगी साधु की वैयावृत्य करूँगा। इस प्रकार मुनि अपने आचार का पालन करता हुआ अवसर आने पर भक्त परिज्ञा नाम की मृत्यु के द्वारा अपने प्राणों का त्याग कर दे, परन्तु अपने आचार को खण्डित न करे। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं साधुओं के लिए आहारादि लाऊँगा और उनका लाया हुआ आहारादि ग्रहण भी करूँगा। कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधु को आहारादि लाकर दूँगा, परन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण नहीं करूँगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधुओं को आहार लाकर नहीं दूँगा, किन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण कर लूँगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं न तो अन्य साधु को लाकर दूँगा और न लाया हुआ खाऊँगा। इस प्रकार भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को सम्यक्तया जानता हुआ उसका यथार्थ रूप से परिपालन करे। अतः भगवान के कहे हुए धर्म का यथाविधि पालन करने वाले शान्त, विरत एवं अच्छी लेश्या से युक्त साधु भक्त परिज्ञा से आयु कर्म के क्षय करने का कारण होता है। यह भक्त परिज्ञा मोह को नष्ट करने का स्थान है, इसलिए यह मृत्यु हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी और कल्याणकारी होने से भवान्तर में साथ जाने वाली है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

साधना का जीवन स्वावलम्बन का जीवन है। साधक कभी अपने समानधर्मी साधक का सहयोग लेता भी है, तो वह अदीनभाव से एवं उसकी स्वेच्छा पूर्वक लेता है। वह न तो किसी पर दबाव डालता है और न वह दीन स्वर से गिड़गिड़ाता ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि परिहार विशुद्ध चारित्र्य निष्ठ एवं अभिग्रह संपन्न मुनियों के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं अस्वस्थ अवस्था में किसी

भी समानधर्मी मुनि को वैयावृत्य—सेवा के लिए नहीं कहूंगा। यदि वह अपने कर्मों की निर्जरा के लिए सेवा करेगा तो उसे मैं स्वीकार करूंगा और इसी तरह मैं भी यथा समय उसकी सेवा करूंगा। इस तरह वह अभिग्रहनिष्ठ मुनि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करे। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी प्रतिज्ञा को भंग न करे।

सेवा करने के संबन्ध में चार भंग—विकल्प बताए गए हैं। कुछ मुनि ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं अपने समान धर्मी अन्य मुनियों के लिए आहार लाऊंगा और उनका लाया हुआ आहार ग्रहण भी करूंगा। कुछ मुनि ऐसा नियम करते हैं कि मैं अन्य मुनियों को आहार ला दूंगा, परन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा। कुछ मुनि ऐसा संकल्प करते हैं कि मैं दूसरों का लाया हुआ ले लूंगा, परन्तु उन्हें लाकर नहीं दूंगा। कुछ ऐसा नियम करते हैं कि मैं न तो अन्य मुनि को आहार लाकर दूंगा और न अन्य का लाया हुआ आहार स्वीकार ही करूंगा।

भक्त परिज्ञा अनशन द्वारा पंडितमरण को प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए बतायी गयी है कि वह कम-से-कम 6 महीने तक, मध्यम 4 वर्ष और उत्कृष्ट 12 वर्ष तक तप करे। इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना से कर्मों की निर्जरा करके साधक अपनी आत्मा का विकास करता है। इसलिए इस तरह से प्राप्त होने वाली मृत्यु को सुखकारी, हितकारी एवं कल्याणकारी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि तपस्या से पाप मल नष्ट होता है और पाप मल के नाश होने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही समाधिमरण को प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक मुनि को अपनी ली हुई प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करते हुए भक्त परिज्ञा अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करना चाहिए।

तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

षष्ठ उद्देशक

पंचम उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु अस्वस्थ अवस्था में भी अपने व्रतों एवं नियमों पर दृढ़ रहते हुए भक्त प्रत्याख्यान अनशन के द्वारा समाधिमरण को प्राप्त करे। अब प्रस्तुत उद्देशक में एकत्व भावना का चिन्तन करते हुए इङ्गित मरण के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिईएण तस्सणं नो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा अदुवा एगसाडे अदुवा अचेत्ते लाघवियं आगममाणे जाव सम्पत्तमेव समभि—जाणिया॥215॥

छाया—यः भिक्षुः एकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्रद्वितीयेन तस्य नैवं भवति, द्वितीय वस्त्रं याचिष्ये, स अर्थैषणीयं वस्त्रं याचेत् यथा परिगृहीतं वस्त्रं धारयेत् यावत् ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णवस्त्रं परिष्ठापयेत् अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकम् आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—जे—जो। भिक्खू—भिक्षु—साधु। एगेण वत्थेण—एक वस्त्र और। पा बिईएण—द्वितीय पात्र से। परिवुसिए—युक्त है। णं—वाक्यालंकार है। तस्स—उस भिक्षु के मन में। एवं—इस प्रकार का। नो भवइ—विचार नहीं होता है कि वह शीतादि के लगने पर मैं। बिइयं—द्वितीय। वत्थं—वस्त्र की। जाइस्सामि—याचना करूंगा, यदि उसका वस्त्र जीर्ण हो गया हो तो। से—वह। अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा—एषणीय वस्त्र की याचना करे, और। अहापरिग्गहियं—याचना करने पर जैसा उसे वस्त्र मिले। वत्थं—वैसे ही वस्त्र को। धारिज्जा—धारण करे। जाव—यावत्।

गिम्हे पडिवन्ने—ग्रीष्म काल आ गया हो, तब। अहापरिजुन्नं—जो वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो चुका है। वत्थं—उस वस्त्र को। परिट्ठविज्जा—परिष्ठापित कर दे—त्याग दे। अदुवा—अथवा। एगसाडे—एक चादर रखे। अदुवा—अथवा। अचेले—वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जाए और वह। लाघवियं—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्। सम्मत्तमेव—सम्यक्त्व या समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरे पात्र से युक्त है, उसको इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न नहीं होता कि शीतादि के लगने पर मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूंगा। यदि उसका वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो गया है तो फिर वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है। याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वह उसे उसी रूप में धारण करे और ग्रीष्म ऋतु के आ जाने पर जीर्ण वस्त्र को त्याग दे या एक शाटक—चादर रखे या अचेलक बन जाए। इस प्रकार वह लाघवता को प्राप्त होता हुआ सम्यक्तया समभाव को जाने।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रहनिष्ठ मुनि का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस मुनि ने एक वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि सदीं लगने पर दूसरा वस्त्र लेने की भावना न करे। प्रस्तुत अध्ययन के चौथे उद्देशक में तीन वस्त्र की और पांचवें उद्देशक में दो वस्त्रों का प्रतिज्ञा करने वाले मुनियों का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक में एक वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन है। उत्तरोत्तर वस्त्र की संख्या में कमी का उल्लेख किया गया है, शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

यह हम पहले बता चुके हैं कि आत्म-विकास के लिए समभाव की आवश्यकता है। वस्त्र-पात्र आदि उपकरण शरीर-सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। अतः जब तक साधक शीत आदि के परीषह को समभाव पूर्वक सहन करने में सक्षम नहीं है तथा लज्जा को नहीं जीत सकता है, तब तक उसे वस्त्र रखने की आवश्यकता है। इन कारणों के अभाव में, अर्थात् पूर्ण सक्षम होने पर वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः ऐसी स्थिति में वह मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण—जो शरीररक्षा के लिए नहीं,

अपितु जीवरक्षा के लिए हैं—को छोड़कर शेष वस्त्रों का त्याग करके आत्मचिन्तन में संलग्न रहे।

साधक को आत्म-चिन्तन कैसे करना चाहिए, इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया॥216॥

छाया—यस्य णं भिक्षोरेवं भवति एकोऽहमस्मि नमेऽस्ति कोपि, न चाहमपि कस्यापि एवं स एकाकिनमेवं आत्मानं समभिजानीयात् लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस का विचार। भिक्खुस्स—भिक्षु को। एवं—इस प्रकार। भवइ—होता है कि। एगे अहमंसि—मैं अकेला हूं। न मे अत्थि कोइ—मेरा कोई नहीं है और। न याहमवि—न मैं भी। कस्सवि—किसी का हूं। एवं—इस प्रकार। से—वह साधु। एगागिणमेव—अकेला ही। अप्पाणं—अपनी आत्मा को। समभिजाणिज्जा—सम्यक् प्रकार से जाने। लाघवियं—लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ व पालन करता हुआ। से—उसके। तवे—तप। अभिसमन्नागए भवइ—अभिमुख—सम्मुख होता है। जाव—यावत्। समभिजाणिया—सम्यक् दृष्टि भाव को व समभाव को सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और न मैं भी किसी का हूं। इस प्रकार वह भिक्षु एकत्व भाव से सम्यक्तया आत्मा को जाने। क्योंकि आत्मा में लाघवता को उत्पन्न करता हुआ वह तप के सम्मुख होता है। अतः वह सम्यक्तया समभाव को जाने, जिससे वह आत्मा का विकास कर सके।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा के एकत्व भाव के चिन्तन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि साधक को यह सोचना-विचारना चाहिए कि इस संसार में मेरा कोई सहयोगी

नहीं है और न मैं किसी का साथ दे सकता हूँ। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का वेदन करती है। अतः कोई भी शक्ति उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती है। स्वयं आत्मा ही अपने सम्यक पुरुषार्थ के द्वारा उस कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त बन सकता है। इसलिए यह आत्मा अकेला ही सुख-दुःख का संवेदन करता है और कर्मबन्ध का कर्ता एवं हर्ता भी यह अकेला ही है। इस प्रकार अपने एकाकीपन का चिन्तन करने वाला साधक प्रत्येक परिस्थिति में संयम में संलग्न रहता है, वह परीषहों से घबराता नहीं। अतः साधक को सदा एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

चिन्तनशील साधक को आहार कैसे करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा 4 आहारेमाणे नो वाम्मओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासाएमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त मेव समभिजाणिया॥२१७॥

छाया—स भिक्षुः वा भिक्षुणी वा अशनं वा 4 आहारयन्तो वामतो हनुतो दक्षिणां हनुं संचारयेत् आस्वादयन् दक्षिणतो वामां हनुं (क) नोसंचारयेत् आस्वादयन् स अनास्वादयन् लाघविकं आगमयन् तपःतस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिदं भगवता प्रवेदितं तदिदं अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् ।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु या। भिक्खुणी वा—भिक्षुणी—साध्वी। असणं वा—आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थों। आहरेमाणे—का उपभोग करते समय। वामाओ हणुयाओ—बाएं कपोल से। दाहिणं हणुयं—दाहिने कपोल में। आसाएमाणे—आस्वादन करता हुआ। नो संचारिज्जा—संचार न करे और। आसाएमाणे—उन पदार्थों का आस्वादन करता हुआ। दाहिणाओ—दाहिने कपोल से। वामं हणुयं—बाएं कपोल में। नो संचारिज्जा—संचार न करे। से—परन्तु वह साधु। आसाएमाणे—अनास्वादन करता हुआ—पदार्थों का स्वाद न लेते हुए आहार

करे। लाघवियं आगममाणे—क्योंकि आहार की लाघवता को जानता हुआ।
 से—वह। तवे—तप के। अभिसमन्नागए भवइ—सम्मुख होता है। जमेयं भगवया—
 भगवान ने जो भाव। पवेइयं—प्रतिपादन किया है। तमेवं—उस विषय को।
 अभिसमिच्चा—विचार कर। सव्वओ—साधक सर्व प्रकार से। सव्वत्ताए—सर्वात्मा
 सं। सम्मत्तमेव—समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी आहार-पानी, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थों
 का उपभोग करते समय बाएं कपोल से दाहिने कपोल की ओर तथा दाहिने से
 बाएं कपोल की ओर आस्वादन करता हुआ संचार न करे। किन्तु वह आहार का
 आस्वादन न करता हुआ आहार की लाघवता को जानकर तप के सन्मुख होता है।
 जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है, उसे साधु सर्व प्रकार और
 सर्वात्मभाव से सम्यक्तया जानने एवं समताभाव का परिपालन करने का प्रयत्न करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति एवं तृष्णा कर्मबन्ध का कारण है। इसलिए
 साधक को अपने उपकरणों पर आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, अपितु
 खाद्य पदार्थों को भी आसक्त भाव से नहीं खाना चाहिए। साधु का आहार स्वाद के
 लिए नहीं, परन्तु संयमसाधना के लिए है या यों भी कह सकते हैं कि संयमसाधना
 और शरीर को व्यवस्थित रखने के लिए उसे आहार करना पड़ता है। इसलिए प्रस्तुत
 सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को जैसा भी प्रासुक एवं एषणीय आहार उपलब्ध
 हुआ हो, वह उसे बिना स्वाद लिए ही ग्रहण करे। इसमें यह भी बताया गया है कि
 रोटी आदि से ग्रास—कौर को मुंह में एक ओर से दूसरी ओर न ले जाए, अर्थात्
 इतनी जल्दी निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुंह के जिस भाग में
 कौर रखा है, उसके अतिरिक्त दूसरे भाग को भी न हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'हनु' शब्द का अर्थ ठोड़ी नहीं, गाल (मुंह का भीतरी
 भाग) किया गया है और वह मुंह में एक गाल से दूसरे गाल की ओर फिरता जाता
 है। यहां ठोड़ी का अर्थ प्रसंगोचित नहीं है।

इस प्रकार अनासक्त भाव से रुक्ष आहार करने से शरीर का रक्त एवं मांस

सूख जाता है, उस समय साधक के मन में समाधि मरण की भावना उत्पन्न होती है। उसी भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपुव्वेण आहारं संवट्ठिज्जा अणुपुव्वेण आहारं संवट्ठित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे॥218॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति तत् ग्लायामि च खलु अहं अस्मिन् समये इदं शरीरकं आनुपूर्व्या परिबोद्धुं स भिक्षुः आनुपूर्व्या आहारसंवर्तयेत् आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकावस्थायी उत्थीय भिक्षुः अभिनिर्वृत्तार्चः।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है, कि। च—समुच्चय अर्थ में। से—तत् शब्द के अर्थ में। यहां तत् शब्द वाक्योपन्यासार्थ में है। च—समुच्चयार्थ में है। अहं—मैं। इमंमि—इस। समए—समय में। गिलामि—ग्लानि को प्राप्त हो रहा हूं अतः। इमं सरीरगं—इसलिए शरीर को। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। परिवहित्तए—क्रियानुष्ठान में नहीं लगा सकता। से—अतः वह भिक्षु। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से तप के द्वारा। आहारं संवट्ठिज्जा—आहार का संक्षेप करे और। अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। आहारं—आहार का। संवट्ठित्ता—संक्षेप करके। कसाए—कषाय को। पयणुए—किच्चा—स्वल्प करके। फलगावयट्ठी—फलक लकड़ी के फट्टे की तरह अवस्थित। उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। भिक्खू—भिक्षु। समाहियच्चे—समाधि को प्राप्त करे। अभिनिवुडच्चे—और शरीर के सन्ताप से रहित बने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अध्यवसाय होता है कि इस समय मैं संयमसाधना का क्रियानुष्ठान करते हुए ग्लानि को प्राप्त हो रहा हूं। रोग से पीड़ित हो गया हूं। अतः मैं इस शरीर को क्रियानुष्ठान में भी नहीं लगा सकता हूं। ऐसा सोचकर वह भिक्षु अनुक्रम के तप के द्वारा आहार का संक्षेप करे और अनुक्रमेण आहार संक्षेप करता हुआ कषायों को स्वल्प-कम करके आत्मा को समाधि में स्थापित करे। रोगादि के आने पर वह फलकवत् सहनशील बनकर पंडितमरण के लिए उद्यत होकर

शरीर के सन्ताप से रहित बने। वह भिक्षु संयम में संलग्न एवं नियमित क्रियानुष्ठान में लगा रहने से समाधिपूर्वक इंगितमरण को प्राप्त कर लेता है।

हिन्दी-विवेचन

एकत्व भावना के चिन्तन में संलग्न मुनि अनासक्त भाव से रुक्ष आहार करते हुए शरीर में क्षीणता एवं दुर्बलता का अनुभव करे और अपनी मृत्यु को निकट जान ले तो उस समय वह आहार का त्याग करके कषायों को उपशान्त करने का प्रयत्न करे। इस तरह कषायों को उपशान्त करने से उसे समाधि भाव की प्राप्ति होगी। क्योंकि, चित्त में अशान्ति का कारण कषाय वृत्ति है, उसका नाश होते ही अशान्ति भी समाप्त हो जाएगी और साधक परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समाहियच्चे' का अर्थ है—जिस साधक ने सम्यक्तया शरीर एवं मन पर अधिकार कर लिया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह निकला कि कषायों पर विजय पाने वाला साधक ही समाधिस्थ कहलाता है। 'फलगावयट्ठी' शब्द से यह बात परिपुष्ट होती है। जैसे काष्ठ फलक शीत-ताप आदि को बिना किसी हर्ष-शोक के सहता है तथा कारीगर की आरी के नीचे आकर कटने पर भी अपने रूप में रहता है। उसी तरह साधक को प्रत्येक स्थिति में समभाव पूर्वक अपनी आत्म-साधना में स्थित रहना चाहिए। मान-सम्मान के समय न हर्ष करना चाहिए और न अपमान-तिरस्कार एवं प्रहार के समय शोक या किसी पर द्वेष भाव लाना चाहिए।

इस तरह शारीरिक शक्ति का हास हो जाने पर मुनि अनशन व्रत को स्वीकार करके समभावपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करे। यह मरण कहां पर प्राप्त करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अणु पविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मंडवं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणग दगमट्ठियमक्कडासंताणए पडिलेहिय 2 पमज्जिय 2 तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि

समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे
आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूपरूपे परीसहो-
वसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेखमणुचिन्ने तत्थावि तस्स काल परियाए
जाव अणुगामियं तिबेमि॥219॥

छाया—अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगरं वा खेटं वा कर्बटं वा मंडपं वा पत्तनं
वा द्रोणमुखं वा आकरं वा आश्रमं वा सन्निवेशं वा नैगमं वा राजधानीं वा
तृणानि याचेत्, तृणाणि याचित्वा स तानि आदाय एकान्तं अपक्रामेत् एकान्तं
अपक्रम्य अल्पांडे अल्पाणिनि अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके
अल्पतिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके प्रत्युपेक्ष्य 2 प्रमृज्य 2 तृणानि संस्तीर्य
अत्रापि समये इत्वरं कुर्यात् तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः छिन्नकथंकथः
अतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान्
अस्मिन् विसम्भणतया भैरव मनुचीर्णः तत्रापि तस्य कालपर्यायः यावत्
आनुगामिकं इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—ग्रामं वा—ग्राम में। वा—यह सर्वत्र पक्षान्तर का द्योतक है। नगरं
वा—नगर में। खेटं वा—खेट में। कर्बटं—कर्बट में। मंडपं—मंडप में। पत्तनं वा—
पत्तन में। द्रोणमुखं वा—द्रोणमुख में। आगरं वा—आकर में—खान में। आसमं वा—
आश्रम में। सन्निवेशं वा—सन्निवेश में। नैगमं वा—नैगम में। रायहाणिं वा—राजधानी
में। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। तणाई—तृणों की। जाइज्जा—याचना करे।
तणाई जाइत्ता—तृणों को याचना करके। से—वह भिक्षु। तमायाए—उन तृणों
को लेकर। एगंत मवक्कमिज्जा—एकान्त गृह या गुफादि में चला जाए। एगंत-
मवक्कमिज्जा—वहां एकान्त में जाकर। अप्पंडे—जिस स्थान में अल्प अंडे हैं। (यहां
पर अल्प शब्द अभावार्थक है) अतः अंडे रहित। अप्पपाणे—अल्प प्राणी। अप्पबीए—
अल्प बीज। अप्पहरिए—अल्पहरी। अप्पोसे—अल्प ओस। अप्पोदए—अल्प उदक—
पानी। अप्पुत्तिंग—अल्प पिपीलिका—चींटियां। पणग—उल्ली विशेष। दग—पानी।
मट्ठिय—सचित्त मिट्टी। मक्कड़ा संताणए—मर्कट संतानक—मकड़ी का जाला
आदि से रहित स्थानों में। पडिलेहिय 2—प्रतिलेखना करे। पमज्जिय 2—प्रमार्जन
करे और प्रमार्जन करके। तणाई—तृणों को। संथरिज्जा—बिछावे। तणाई संथरित्ता—

तृणों को बिछाकर फिर। इत्थवि—यहां पर भी। समए—इस समय में। इत्तरियं कुज्जा—इत्तर करे (पादोगमन की अपेक्षा से नियत देश प्रचारादि के अभ्युगम से सम्पन्न होने वाले इंगित मरण का नाम इत्तर है)। तं—वह इंगित मरण। सच्चं—सत्य है। सच्चवाई—वह सत्यवादी है। ओए—राग-द्वेष से रहित है। तिण्णे—संसार-सागर से पार हो गया है। छिन्नकहंकहे—जिसने रागादि विकथा करनी छोड़ दी है। आईयट्ठे—जो जीवादि पदार्थों को जानने वाला है या जिसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। अणाईए—जो संसार से पार होने वाला। भेउरं कायं—जो विनाश होने वाली काया को। चिच्चाण—छोड़कर और। विरूवरूवे—नाना प्रकार के। परीसहो-वसग्गे—परीषहोपसर्गों को। संविहूय—सहन करके। अस्सि—इस सर्वज्ञ प्रणीत आगम में। विस्संभणयाए—विश्वास होने से। भेरवमणुचिन्ने—भयानक अनुष्ठान—इंगित मरण को स्वीकार करता है। तत्थावि—रोगादि के उत्पन्न हो जाने पर उसने इस अनशन को स्वीकार किया है। तस्स—उस कालज्ञ भिक्षु का। काल परियाए—यह काल पर्याय। जाव—यावत्—शेष पाठ पूर्ववत् समझें। अणुगाभिय—पुण्योपार्जक होने से भवान्तर में साथ जाने वाला है। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—वह भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मण्डप, पत्तन, द्रोणमुख, आकर—खान, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी इन स्थानों में प्रवेश करे तथा उचित प्रासुक—जीवादि से रहित एवं निर्दोष घास की याचना करके उस घास को एकान्त स्थान में ले जाए। जहां पर अण्डे, प्राणी-जीव-जन्तु, बीज, हरी, ओस, जल, चींटियां, निंगोद, मिट्टी और मकड़ी के जाले आदि न हों, उस स्थान को अपनी आंखों से देखकर, रजोहरण से प्रमार्जन करके उस प्रासुक घास को बिछावे और उसे बिछाकर उचित अवसर में इंगित मरण स्वीकार करे। यह मृत्यु सत्य है। मृत्यु को प्राप्त करने वाला साधक सत्यवादी है, राग-द्वेष को क्षय करने में प्रयत्नशील है। अतः वह संसार-सागर से तैरने वाला है। उसने विकथा आदि को छोड़ दिया है। वह जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञाता है और संसार से पारगामी है। वह सर्वज्ञप्रणीत आगम में विश्वास रखता है, इसलिए वह इस नाशवान शरीर को छोड़ कर, नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करके इस इंगितमरण, जो कि कायर पुरुषों द्वारा आदेय नहीं है—को स्वीकार करता है। अतः रोगादि के होने पर भी उसका काल पर्याय पुण्योपार्जक होता है। अतः

वह पंडितमरण भवान्तर में साथ जाने वाला है। शेष पाठ पूर्ववत् समझें। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन के साथ मृत्यु का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। उसका आना निश्चित है। इसलिए साधक मृत्यु से घबराता नहीं। उसके लिए यह आदेश दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना से वह अपने आपको पंडितमरण प्राप्त करने के योग्य बनाए। साधना करते हुए जब उसका शरीर सूख जाए, इन्द्रियां शिथिल पड़ जाएं और शारीरिक शक्ति का हास होने लगे, उस समय वह साधक जीवनपर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करके समभाव पूर्वक आत्मचिन्तन में संलग्न होकर समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

ग्राम, खेत, कोट, पत्तन, द्रोणमुख, आकर—खान, सन्निवेश, राजधानी आदि स्थानों में से वह जिस किसी भी स्थान पर स्थित हो, वहां की भूमि की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए। भूमि प्रमार्जन के साथ पेशाब आदि का त्याग करने का स्थान भी भली-भांति देख लेना चाहिए। वहां पर जीव-जन्तु, हरी घास आदि न हो। ऐसे निर्दोष स्थान में तृण की शय्या बिछाकर और नमोत्थुणं का पाठ पढ़कर इङ्गित-मरण अनशन को स्वीकार करे।

इस तरह समभाव पूर्वक प्राप्त की गई मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है। इससे कर्मों का क्षय होता है और आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनती है। इस मृत्यु को वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जिसकी आगम पर श्रद्धा—निष्ठा है। क्योंकि श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति ही परीषहों के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव पूर्वक सह सकता है और राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करता हुआ अपनी साधना में संलग्न रह सकता है।

यह अनशन सागारिक अनशन की तरह थोड़े समय के लिए नहीं, अपितु जीवन पर्यन्त के लिए होता है। इन अनशन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

सप्तम उद्देशक

षष्ठ उद्देशक में एक वस्त्रधारी मुनि एवं इंगितमरण—अनशन का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में अचेलक मुनि एवं पादोपगमन अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तण्णफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरुवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए॥२२०॥

छाया—यो भिक्षुः अचेलः पर्युषितः तस्य भिक्षोः एवं भवति शक्नोमि अहं तृणस्पर्श अधिसोदुम् (अध्यासयितुं) शीतस्पर्श अध्यासयितुं (अधिसोदुं) तेजःस्पर्श (उष्णस्पर्श) अधिसोदुं दंशमशकस्पर्श अधिसोदुं अध्यासयितुं। एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अध्यासयितुं हीप्रच्छादनं तच्चाहं न शक्नोमि अध्यासयितुं एवं तस्य कल्पते कटिबन्धनं धर्तुम्।

पदार्थ—जे—जो प्रतिभासंपन्न। अचेले—अचेलक। भिक्खू—भिक्षु—साधु। परिवुसिए—संयम में अवस्थित है। णं—वाक्यालंकार में है। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार अभिप्राय होता है कि। अहं—मैं। तण्णफासं—तृण के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। चाएमि—समर्थ हूं। सीयफासे अहियासित्तए—शीत स्पर्श को सहन करने में। तेउफासं—उष्णस्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। दंसमसगफासं—डांस-मच्छर के स्पर्श को। अहियासित्तए—सहन करने में। एगयरे—एक जाति के स्पर्श। अन्नयरे—अन्य प्रकार के स्पर्श—अनुकूल या प्रतिकूल। विरुवरूवे—नाना प्रकार के। फासे—स्पर्शों

को। अहियासित्तए—सहन करने में समर्थ हूं, किन्तु। अहं—मैं। हिरिपडिच्छायणं च—लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन रूप वस्त्र का परित्याग करने में। नो संचाएमि—समर्थ नहीं हूं। एवं—इस कारण से। से—उस भिक्षु को। कडिबन्धणं—कटिबन्धन—चोलपट्टा। धारित्तए—धारण करना। कप्पेइ—कल्पता है।

मूलार्थ—जो प्रतिमासंपन्न अचेलक भिक्षु संयम में अवस्थित है और जिसका यह अभिप्राय होता है कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, डांस-मच्छरादि के स्पर्श; एक जाति के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों को तो सहन कर सकता हूं, किन्तु मैं सर्वथा नग्न हो कर लज्जा को जीतने में असमर्थ हूं। ऐसी स्थिति में उस मुनि को कटिबन्ध—चोलपट्टा रखना कल्पता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अचेलक मुनि का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जो मुनि शीत आदि के परीषहों को सहने में तथा लज्जा को जीतने में समर्थ है, वह वस्त्र का सर्वथा त्याग कर दे। वह गुनि केवल मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण के अतिरिक्त कोई वस्त्र न रखे। परन्तु, जो मुनि लज्जा एवं घृणा को जीतने में सक्षम नहीं है, वह कटिबन्धु, अर्थात् चोलपट्टक (धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र) रखे और गांव या शहर में भिक्षा आदि के लिए जाते समय उसका उपयोग करे। परन्तु, जंगल एवं एकान्त स्थान में निर्वस्त्र होकर साधना करे।

यह हम चौथे उद्देशक में स्पष्ट कर चुके हैं कि साधना की सफलता या मुक्ति नग्नता में है। वह नग्नता शरीरमात्र की नहीं, आत्मा की होनी चाहिए। जब आत्मा कर्मआवरण से सर्वथा अनावृत हो जाएगी, तभी मुक्ति प्राप्त होगी और उसके लिए आवश्यक है राग-द्वेष को क्षय करना। यह क्रिया वस्त्ररहित भी की जा सकती है और वस्त्रसहित भी। मर्यादित वस्त्र रखते हुए भी जो साधु समभाव के द्वारा राग-द्वेष पर विजय पाने में संलग्न है, उसकी साधना सफलता की ओर है और यदि कोई साधु वस्त्र का त्याग करके भी राग-द्वेष एवं विषम भाव में घूमता है तो उसकी साधना साध्य की ओर ले जाने वाली नहीं है। अतः असाधुता वस्त्र में नहीं, कषायों में है, ममता में है, राग-द्वेष में है। इन विकारों से युक्त वस्त्रयुक्त एवं वस्त्ररहित कोई भी साधक क्यों न हो, वास्तव में वह साधुता से दूर है।

इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल लज्जा एवं शीत निवारणार्थ है। इससे साधना का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि परिग्रह पदार्थ में नहीं, ममता में है। आगमों एवं तत्त्वार्थ सूत्र दोनों में मूर्च्छा को परिग्रह माना है।¹ यदि शरीर पर एवं शुभ कार्य तपस्या आदि पर भी आसक्ति है, तो वहां भी परिग्रह लगेगा और यदि उन पर एवं वस्त्रों पर तथा अन्य उपकरणों पर ममत्व भाव नहीं है, तो परिग्रह नहीं लगेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि साधुत्व अनासक्त भाव में है, राग-द्वेष से रहित होने की साधना में है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति
सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति एगयरे
अन्नयरे विरुवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे
जाव समभिजाणिया॥221॥

छाया—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति,
शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरान्
अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलः लाघविक आगमयन् यावत्
समभिजानीयात्।

पदार्थ—अदुवा—अथवा। तत्थ—संयम में। परक्कमंतं—पराक्रम, करते हुए
मुनि को। भुज्जो—फिर। अचेलं—अचेलक को। तणफासा—तृणों के स्पर्श।
फुसंति—स्पर्शित होते हैं। सीयफासा—शीत स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं।
तेउफासा—उष्ण स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। दंसमसगफासा—दंशमशक के
स्पर्श। फुसंति—स्पर्शित होते हैं। एगयरे—वह एक जाति के स्पर्शों को तथा।
अन्नयरे—अन्य जाति के स्पर्शों को। विरुवरूवे—नाना प्रकार के। फासे—स्पर्शों
को। अहियासेइ—सहन करता है, और। अचेले—अचेल अवस्था में रहकर।
लाघवियं—कर्मों की लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ। जाव—यावत्।
समभिजाणिया—सम्यक् दर्शन या समभाव को सर्व प्रकार से जानता है।

1. यह धारणा दिगम्बर सम्प्रदाय को भी मान्य है।

मूलार्थ—यदि मुनि लज्जा को न जीत सके तो वस्त्र धारण कर ले और यदि वह लज्जा को जीत सकता है तो अचेलकता में पराक्रम करे। जो मुनि अचेलक अवस्था में तृणों के स्पर्श, शीत के स्पर्श, उष्ण के स्पर्श, डांस-मच्छरादि के स्पर्श एक जाति के या अन्य जाति तथा नाना प्रकार के स्पर्शों के स्पर्शित होने पर उन्हें समभाव से सहन करता है, वह कर्मक्षय के कारणों का ज्ञाता मुनि सम्यग् दर्शन एवं समभाव का परिज्ञान करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को और स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मुनि लज्जा एवं परीषहों को जीतने में समर्थ है, वह वस्त्र का उपयोग न करे। इससे स्पष्ट हो गया कि वस्त्र केवल संयमसुरक्षा के लिए है, न कि शरीर की शोभा एवं शृंगार के लिए। अतः साधु को सदा समभाव पूर्वक परीषहों को सहते हुए संयम में संलग्न रहना चाहिए। जो मुनि साधना के स्वरूप एवं समभाव को सम्यक्तया जानता है, वह परीषहों के उत्पन्न होने पर अपने पथ से विचलित नहीं होता है। अतः साधक को सदा समभाव की साधना में संलग्न रहना चाहिए और यदि उसमें शीत आदि के परीषहों को एवं लज्जा को जीतने की क्षमता है तो उसे वस्त्र का त्याग कर देना चाहिए और यदि इतनी क्षमता नहीं है तो वह कम-से-कम कटिबन्ध (चोल पट्टक) या मर्यादित वस्त्र रख सकता है।

इसके बाद प्रतिभासम्पन्न मुनि के अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 1 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 2 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु असणं वा 4 आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 3 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु नो दलइस्सामि

आहडं च नो साइज्जिस्सामि 4 अहं च खलु तेण अहाइरिणति
अहेसणिज्जेण अहा परिग्गहिणं असणेण वा 4 अभिकंख साहम्मियस्स
कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहंवावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण
अहापरिग्गहिणं असणेण वा पाणेण वा 4 अभिकंख साहम्मिण्हिं
कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव
समभिजाणिया॥222॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं
वा 4 आहत्य दास्यामि आहतं च स्वादयिष्यामि यस्य भिक्षोः, एवं भवति—अहं च
खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा 4 आहत्य दास्यामि आहतं च नो स्वादयिष्यामि
2 यस्य च भिक्षोः एवं भवति अहं च खलु अशनं वा आहत्य नो दास्यामि
आहतं च स्वादयिष्यामि 3 यस्य भिक्षोः एवं भवति अहं च खलु अन्येभ्यो
भिक्षुभ्यः अशनं वा 4 आहत्य नो दास्यामि आहतं च नो स्वादयिष्यामि 4 अहं
च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा 4 अभिकांक्ष्य
साधर्मिकस्य वैयावृत्यं कुर्यात्, वैयावृत्यं करणाय, अहं वापि तेन यथारिक्तेन
यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा 4 अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः
क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि लाघविकं आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव
समभिजानीयात् ।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालंकार में है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का।
एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है कि। च—पुनः। खलु—अवधारण अर्थ
में है। अहं—मैं अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं को। असणं—अन्न-पानी,
खादिम और स्वादिम पदार्थ। आहट्टु—लाकर। दलइस्सामि—दूंगा। च—और।
आहडं च—उनका लाया हुआ। साइज्जिस्सामि—खा भी लूंगा। जस्सणं 2—जिस
भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय है कि। अहं च खलु—मैं।
अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं को। असणं वा—अशनादि। आहट्टु—लाकर।
दलइस्सामि—दूंगा। आहडं च—परन्तु उनका लाया हुआ। नो साइज्जिस्सामि—नहीं
खाऊंगा। जस्सणं भिक्खुस्स 3 —जिस भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का भाव
होता है कि। अहं च खलु—मैं। असणं वा 4—अन्न-पानी, खादिम और स्वादिमादि

पदार्थ। आहट्टु—अन्य साधु को लाकर। नो दलइस्सामि—नहीं दूंगा। आहडं च साइज्जिस्सामि—परन्तु उनका लाया हुआ आहार खा लूंगा 4। जस्सणं भिक्खुस्स—जिस भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है। अहं च खलु—मैं। अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं को। असणं वा—अन्न-पानी, खादिम, स्वादिमादि पदार्थ। आहट्टु—लाकर। नो दलइस्सामि—नहीं दूंगा। आहडं नो साइज्जिस्सामि—और न उनका लाया हुआ खाऊंगा ही। अब इसके अतिरिक्त अन्य अभिग्रह के विषय में कहते हैं। अहं च खलु—मैं। तेण अहाइरित्तेण—अपने अधिक लाए हुए आहार से। अहेसणिज्जेण 4—निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिणं—अपने लिए लाए हुए। असणेण वा—आहारादि चारों पदार्थों से और। अभिकंख—निर्जरा का उद्देश्य करके। साहम्मियस्स—तथा सधर्मी के ऊपर उपकार। करणाय—करने के लिए उसकी। वेयावडियं—वैयावृत्य। कुज्जा—करूंगा। अहं वादि—मैं भी। तेण—उस अन्य मुनि के पास। अहाइरित्तेण—अधिक आहार आ जाने से। अहेसणिज्जेण—उसके निर्दोष आहार से। अहापरिग्गहिणं—वह अपने लिए जो आहार लाया है, उसमें से। असणेण वा पाणेण वा 4—अन्न-पानी आदि पदार्थ। अभिकंख—निर्जरा का उद्देश्य करके। साहम्मिण्हिं—सधर्मियों के द्वारा। कीरमाणं—किए जाने वाली। वेयावडियं—वैयावृत्य को। साइज्जिस्सामि—स्वीकार भी करूंगा। लाघवियं—इस तरह कर्मों की लाघवता को। आगममाणे—जानता हुआ, अर्थात् कर्म क्षय करने के लिए। जाव—यावत्—शेष पाठ पूर्ववत् समझें। सम्मत्तमेव—सम्यग् दर्शन या समभाव को। समभिजाणिया—सम्यक् प्रकार से जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओं को अन्नादि चतुर्विध पदार्थ लाकर दूंगा और उनका लाया हुआ स्वीकार भी करूंगा। 2 जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओं को आहारादि चार प्रकार के पदार्थ लाकर दूंगा, किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा। 3 जिस भिक्षु का इस प्रकार का प्रण होता है कि मैं अन्नादि चतुर्विध आहार अन्य साधु को लाकर नहीं दूंगा, किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार कर लूंगा। 4 जिस भिक्षु की यह प्रतिज्ञा होती है कि मैं अन्य भिक्षुओं को अन्नादि चारों पदार्थ न लाकर दूंगा और न उनका लाया हुआ स्वीकार ही करूंगा। इसके

अतिरिक्त उनके अन्य अभिग्रह का वर्णन भी किया गया जैसे कि मैं अपने लिए लाए हुए अधिक निर्दोष एवं यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा को उद्देश्य करके या पर-उपकार के लिए सधर्मी की वैयावृत्य करूंगा या मैं अन्य के अधिक लाये हुए निर्दोष एवं यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा के कारण सधर्मियों द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य को स्वीकार करूंगा और निर्जरा के लिए अन्य के द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य का अनुमोदन भी करूंगा। इस तरह कर्मों की लघुता को मानता हुआ यावत् सम्यग् दर्शन या समभाव को सम्यक्तया जाने।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अभिग्रहनिष्ठ मुनि के आहार के सम्बन्ध में चारों भंग पूर्व के उद्देशक की तरह ही बताए गए हैं। इसमें अन्तर इतना ही है कि पूर्व के उद्देशक में केवल निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने का उल्लेख किया गया था और इस उद्देशक में परोपकार एवं निर्जरा दोनों दृष्टियों से वह वैयावृत्य करता है या दूसरे समानधर्मी साधु से वैयावृत्य करवाता भी है। वह यह भी निश्चय करता है कि मैं अपने साधुओं की बीमारी के समय आहार आदि से वैयावृत्य करूंगा या जो साधु वैयावृत्य कर रहा है, उसकी प्रशंसा भी करूंगा। इस तरह वैयावृत्य में परोपकृति एवं कर्मनिर्जरा दोनों की प्रधानता निहित है। इस तरह मन-वचन और शरीर से सेवा करने, कराने एवं अनुमोदना करने वाले साधक के मन में एक अपूर्व आनन्द एवं स्फूर्ति की अनुभूति होती है और उससे उसके कर्मों की निर्जरा होती है। अस्तु, सेवाभाव से साधक की साधना में तेजस्विता आती है और उसकी साधना अन्तर्मुखी होती जाती है। इससे वह कर्मों से हलका बनकर आत्म-विकास की ओर बढ़ता है। अतः साधक को अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का दृढ़ता से परिपालन करना चाहिए।

मुनि को रोग आदि के उत्पन्न होने पर घबराना नहीं चाहिए। यदि अन्तिम समय निकट प्रतीत हो तो उसे अन्य ओर से अपना ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक पंडित-मरण का स्वागत करना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जस्त णं भिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलांमि खलु अहं
इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुब्बेणं परिवहत्ताए, से अणुपुब्बेणं

आहारे संवट्टिज्जा 2 कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव संथरिज्जा, इत्थवि समये कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहो-वसग्गे अस्सि विसंभणयाए भेवमरणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ विअन्तिकारए इच्चेअं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं अणुगामियं तिबेमि॥223॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति अथ ग्लायामि खलु अस्मिन् समये इदं शरीरकं आणुपूर्व्या परिवोढुं आणुपूर्व्या आहारं संवर्तयेत् संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकापदर्थी (फलकावस्थायी) उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृतार्थः अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगरं वा यावत् राजधानीं वा तृणानि याचित्वा यावत् संसस्तरेत् अत्रापि समये कायं च योगं च ईर्यां च प्रत्याचक्षीत् तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः—छिन्नकथंकथः आतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरवमनुचीर्णः तत्रापि तस्य काल पर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निश्चेयसं आनुगामिकं इतिब्रवीमि ।

पदार्थ—जस्स भिक्खुस्स—जिस भिक्षु का । एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय, होता है कि । से—वह अर्थात् मैं । गिलाभि—रोगादि से पीड़ित हूं । खलु—वाक्यालंकार में है अतः । अहं—मैं । इमम्मि—इस । समए—समय में । इमं सरीरगं—इस शरीर को । अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से । परिवहित्तए—संयम साधना में लगाने के लिए । नो संचाए—समर्थ नहीं हूं । से—अतः वह भिक्षु । अणुपुव्वेणं—अनुक्रम से । आहारं संवट्टिज्जा—आहार का संक्षेप करे, आहार का संक्षेप करके फिर । कसाए—कषाय को । पयणुए—स्वल्प । किच्चा—करके । समाहियच्चे—जिस साधु का शरीर समाधियुक्त है । फलगावयट्ठी—यह फलकवत् सुख-दुःख के सहने वाला । उट्ठाय—मृत्यु के लिए उद्यत होकर । भिक्खू—साधु । अभिनिव्वुडच्चा—शरीर के सन्ताप से रहित होकर । गामं वा—ग्राम में । नगरं वा—नगर में । जाव—यावत् । रायहाणिं वा—

राजधानी में। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। तणाई जाइज्जा—तृणों की याचना करे। जाव संयरिज्जा—यावत् (शेष पाठ पूर्ववत्) तृणों को बिछाए। इत्यवि समए—इस समय में। कायं च जोगं च—वह काय योग को, अर्थात् शरीर को संकोचने और पसारने की क्रिया आदि। च—और। इरियं च—चलने-फिरने आदि का। पच्चक्खाइज्जा—प्रत्याख्यान करे। च शब्द से वचन योग के प्रयोग करने का भी प्रत्याख्यान करे। तं—वह पादोपगमन रूप अनशन। सच्चं—सत्य है। सच्चावाई—सत्यवादी है। ओए—वह राग-द्वेष से रहित। तिन्ने—संसार सागर से तीर्ण। छिन्नकहं कहे—विकथादि का परित्यागी। आइयट्ठे—जीवाजीवादि पदार्थों को जानकर साधु। अणाइए—जिसने संसार का अन्त कर दिया है। भेउरं कायं—अपनी नाशवान काया को। चिच्चा—छोड़कर। णं—पूर्ववत्। विरुवरुवे—नाना प्रकार के। परीसहोवसग्गे—परीषह उपसर्गों को। संविहणिय—सहन करता है। अस्सि—उसे इस जिन प्रवचन में। विस्संभणाए—विश्वास होने से। भेरवमणुचिन्ने—उसने भयंकर प्रतिज्ञा को ग्रहण किया है। तत्थवि—वहां पर भी। तस्स—उस साधु की। कालपरियाए—काल पर्याय और। तत्थ—वहां पर। से वि—वह भी। वियंतिकारए—कर्मों के क्षय करने वाले हैं। इच्चेयं—यह पूर्वोक्त मृत्यु। विमोहाययणं—मोह से रहित होने का स्थान है। हियं—इसलिए यह मृत्यु हितकारी है। सुहं—सुखकारी है। खमं—सदर्थ है। निस्सेसं—कल्याणकारी है। अणुगामियं—भवान्तर में साथ जाने वाली है। तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय हो कि मैं ग्लान हूं, रोगाक्रान्त हूं। अतः मैं इस समय अनुक्रम से इस शरीर को संयमसाधना में नहीं लगा सकता हूं, तो वह भिक्षु अनुक्रम से आहार का संक्षेप करे और कषायों को स्वल्प बनाए। ऐसा करके वह समाधियुक्त मुनि फलक की भांति सहनशील होकर मृत्यु के लिए उद्यत होकर तथा शरीर के सन्ताप से रहित होकर ग्राम, नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करके, तृणों की याचना कर के गुफादि निर्दोष स्थान में ले जाकर उसे बिछावे। इस स्थान पर भी वह इस समय काय के व्यापार और वचन के व्यापार तथा मन के अशुभ संकल्पों का प्रत्याख्यान करे। यह पादोपगमन अनशन सत्यवादी है, राग और द्वेष से रहित संसारसमुद्र से पार होने वाला है, काम आदि विकथाओं का त्यागी है, पदार्थों

के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है। संसार का अंत करने वाला है, नाशवान शरीर को त्याग करने का इच्छुक है। नानाविध परीषहोपसर्गों को सहन करने में समर्थ है। जैनागम में आस्था रखने वाला और भयंकर प्रतिज्ञा का परिपालक है! उसका काल पर्याय कर्मों का नाशक है। यह पूर्वोक्त मृत्यु-मोह से रहित है। अतः यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकारी है, कल्याणकारी है और भवान्तर में साथ जानेवाली है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

साधु का जीवन साधना का जीवन है। अतः उसे न जीने में हर्ष है और न मृत्यु में दुःख है। उसका समस्त समय साधना में बीतता है। मृत्यु भी साधना में ही गुजरती है। इसलिए उसकी मृत्यु भी सफल मृत्यु है। इसलिए आगमकारों ने उसे पंडितमरण कहा है। रोगादि से या तपस्या से शरीर क्षीण एवं शक्तिहीन होने पर साधक घबराता नहीं, परन्तु वह समभाव पूर्वक आने वाले परीषहों को सहता हुआ मृत्यु का स्वागत करता है। उस समय वह आहार आदि का त्याग करके शान्त भाव से पंडितमरण को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत अध्ययन में मरण के तीन प्रकार बताए गए हैं—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इंगित मरण और 3—पादोपगमन। तीनों अनशन जीवनपर्यन्त के लिए होते हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि भक्त प्रत्याख्यान में केवल आहार एवं कषाय का त्याग होता है, इसके अतिरिक्त अनशन काल में साधक एक स्थान से दूसरे स्थान में आ जा सकता है। परन्तु, इंगित मरण में भूमि की मर्यादा होती है, वह मर्यादित भूमि से बाहर आ-जा नहीं सकता है। पादोपगमन में पेशाब-शौच आदि आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त शारीरिक अंग-उपांगों का संकोच-विस्तार एवं हलन-चलन आदि सभी क्रियाओं का त्याग होता है। इस प्रकार अंतिम समय निकट आने पर साधक तीनों प्रकार की मृत्यु में से किसी एक मृत्यु को स्वीकार करके पंडितमरण को प्राप्त करता है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥



अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

अष्टम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में पूर्व के उद्देशकों में उपदिष्ट बातों का वर्णन गाथाओं में किया गया है। सबसे प्रथम पंडितमरण के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ।
वसुमन्तो मइमन्तो, सव्वं नच्चा अणेलिसं॥१॥

छाया— आनुपूर्व्या विमोहानि, यानि धीराः समासाद्य ।
वसुवन्तः मतिवन्तः सर्वं ज्ञात्वा अनीदृशम्॥

पदार्थ—अणुपुव्वेण—अनुक्रम से। विमोहाइं—मोह से रहित। जाइं—जो भक्त प्रत्याख्यान आदि मृत्यु। धीराः—धैर्यवान् साधु। समासज्ज—प्राप्त करके। वसुमन्तो—संयम-निष्ठ। मइमन्तो—बुद्धिमान्। सव्वं—सब तरह के कर्तव्य-अकर्तव्य को। नच्चा—जानकर। अणेलिसं—अनुपम समाधि को प्राप्त करे।

मूलार्थ—अनशन करने के लिए जो संलेखना की विधि बताई गई है, उसके अनुसार धैर्यवान्, ज्ञानसंपन्न, संयमनिष्ठ एवं हेयोपादेय का परिज्ञाता मुनि मोह से रहित होकर पंडितमरण को प्राप्त करे।

हिन्दी-विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जो जन्म लेता है, वह अवश्य मरता है। अतः साधक मृत्यु से डरता नहीं, घबराता नहीं। वह पहले से ही जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए मृत्यु को सफल बनाने का प्रयत्न करना शुरू कर देता है। वह विभिन्न तपस्याओं के द्वारा अपनी साधना को सफल बनाता हुआ पण्डितमरण की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। पण्डितमरण के लिए 4 बातों का होना जरूरी है—1—संयम, 2—ज्ञान, 3—धैर्य और 4—निर्मोह भाव। संयम एवं ज्ञान सम्पन्न साधक ही हेयोपादेय का परिज्ञान करके दोषों का परित्याग करके शुद्ध संयम का पालन कर सकता है और धैर्य के

संद्भाव में ही साधक समभावपूर्वक परीषहों को सह सकता है। वह मोह से रहित होकर ही शुद्ध संयम का पालन कर सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि संयम, ज्ञान एवं धर्म से युक्त मोहरहित साधक ही पंडितमरण को प्राप्त करता है। मृत्यु को सफल बनाने के लिए धैर्य, ज्ञान एवं अनासक्त होना आवश्यक है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—दुविहंपि विज्ञातं बुद्धाधम्मस्स पारगा।
अणुपुब्बीइ संखाए, आरंभाओ (य) तिउट्टइ॥२॥**

**छाया—द्विविधमपिविदित्वा बुद्धाः धर्मस्य पारगाः।
आनुपूर्व्या संख्याय आरम्भात् च त्रुट्यति॥**

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में है। दुविहंपि—दो प्रकार के बाह्य और आभ्यान्तर रूप को। विज्ञात—जानकर या ग्रहण करके। बुद्धा—तत्त्व के परिज्ञाता। धम्मस्स—श्रुत और चारित्र रूप धर्म के। पारगा—पारगामी। अणुपुब्बीइ—अनुक्रम से दीक्षा का परिपालन करके और मृत्यु के अवसर को। संखाए—जानकर। आरम्भाओ—आरम्भ से। तिउट्टइ—अष्ट प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

मूलार्थ—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का पारगामी तत्त्वज्ञ मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप को धारण करके अनुक्रम से संयम का आराधन करते हुए मृत्यु के समय को जानकर आठ कर्मों से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता, तत्त्वज्ञ साधक ही मृत्यु के समय को जानकर कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। ज्ञानसम्पन्न साधक वस्तु के हेयोपादेय स्वरूप को भली-भाँति जान सकता है और त्यागने योग्य दोषों से निवृत्त होकर साधना में संलग्न रहता है। वह मृत्यु से डरता नहीं, अपितु मृत्यु के समय को जानकर तप के द्वारा अष्ट कर्मों को क्षय करता हुआ समाधि मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान पूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया साधक को साध्य के निकट पहुंचाती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “आरम्भाओ तिउट्टइ” पद में पंचमी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति एवं भविष्यत् काल के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार का भी यही मत है¹।

किसी प्रति में चतुर्थ पद में “कम्मुणाओ तिउट्टइ” यह पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य है—आठ प्रकार के कर्मों से पृथक् होना।

अब संलेखना के आभ्यन्तर अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।

अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तिय॥३॥

छाया— कषायान् प्रतनून् कृत्वा, आहारः तितिक्षते।

अथ भिक्षुग्लियेत्, आहारस्येव अन्तिकम्॥

पदार्थ—कसाए—कषाय। पयणू—पतली। किच्चा—करके। अप्पाहारे—अल्प आहार करने वाला। तितिक्खए—परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करे। अहं—अथ-यदि। भिक्खू—साधु, आहार के बिना। गिलाइज्जा—ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह। आहारस्सेव—आहार का ही। अन्तिय—अन्त कर दे।

मूलार्थ—मुनि पहले कषाय कम करके फिर अल्पाहारी बने और आक्रोश आदि परीषहों को समभाव से सहन करे। यदि आहार के बिना ग्लानि पैदा होती हो तो वह आहार को स्वीकार कर ले; अन्यथा आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत स्वीकार कर ले।

हिन्दी-विवेचन

समाधिमरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना करना आवश्यक है और संलेखना के लिए तीन बातों की आवश्यकता है—1—कषाय का त्याग, 2—आहार का कम करना और 3—परीषहों को सहन करना। कष् का अर्थ संसार है और आय का अर्थ

1. आरम्भणं आरम्भः शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मकः तस्मात् त्रुट्यति अपगच्छ- तीत्यर्थः। सुब् व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तरं वा-कम्मुणाओ तिउट्टइ कर्माष्टभेदं यस्मात् त्रुट्यिष्यतीति त्रुट्यति, वर्तमानसामीप्येवर्तमान वद्धा (पा. 3-3-131) इत्यनेन भविष्यत् कालस्य वर्तमानता।
—आचारांग वृत्ति

वृद्धि है, अतः कषाय का अर्थ है—संसार-परिभ्रमण में वृद्धि होना। आहार से स्थूल शरीर को पोषण मिलता है और कषाय से सूक्ष्म कार्मण शरीर परिपुष्ट होता है, जबकि साधना का उद्देश्य शरीर-रहित होना है। अतः उसके लिए स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट करने वाले आहार एवं कषाय को कम करना जरूरी है, क्योंकि इनका एकदम त्याग कर सकना कठिन है। अतः संलेखना काल में कषायों एवं आहार को कम करते-करते एक दिन कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाना ही साधना की सफलता है।

कषायों पर विजय पाने के लिए सहिष्णुता का होना आवश्यक है। परीषहों के समय विचलित नहीं होने वाला साधक ही कषायों से निवृत्त हो सकता है। इस तरह कषाय एवं आहार को घटाते हुए साधक अपनी साधना में संलग्न रहे। यदि आहार की कमी से मूर्छा आदि आने लगे और स्वाध्याय आदि की साधना भली-भाँति नहीं हो सकती हो तो साधक आहार कर ले और यदि आहार करने से समाधि भंग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत (संधारे) को स्वीकार कर ले। परन्तु ऐसा चिन्तन न करे कि मैं संलेखना के तप को तोड़कर आहार कर लूँ और फिर तप आरम्भ कर लूँगा।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— जीवियं नाभिकांखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए ।

दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा॥४॥

छाया— जीवितं नाभिकांक्षेत् मरणं नापिप्रार्थयेत् ।

उभयतोपि न सज्जेत् जीविते मरणे तथा॥

पदार्थ—जीवियं—जीवन को। नाभिकांखिज्जा—न चाहे। नोऽवि—और न। मरणं पत्थए—मृत्यु की प्रार्थना करे। जीविए तहा मरणे—जीवन तथा मृत्यु। दुहओवि—दोनों में। न सज्जिज्जा—आसक्ति न रखे।

मूलार्थ—संलेखना एवं अनशन में स्थित साधु न जीने की अभिलाषा रखे और न मरने की प्रार्थना करे। वह जीवन तथा मरण दोनों में अनासक्त रहे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि आसक्ति पापकर्म के बन्ध का कारण है। अतः संलेखना एवं संधारे में स्थित साधु उपासकों के द्वारा अपनी प्रशंसा होती हुई देखकर यह अभिलाषा न करे कि मैं अधिक दिन तक जीवित रहूँ, जिससे कि मेरी प्रशंसा अधिक होगी। वह कष्टों से घबराकर मरने की भी अभिलाषा न करे। वह जन्म-मरण की अभिलाषा से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक संलेखना एवं अनशन की साधना में संलग्न रहे।

ऐसे साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—मज्झत्यो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्यं सुद्धमेसए॥५॥

छाया—मध्यस्थः निर्जरापेक्षी, समाधिमनुपालयेत्।

अन्तः बहिः व्युत्सृज्य अध्यात्मं शुद्धमेषयेत्॥

पदार्थ—मज्झत्यो—मध्यस्थ भाव में स्थित। निज्जरापेही—निर्जरा को देखने वाला मुनि। समाहिं—सदा समाधि का। अणुपालए—परिपालन करे। अन्तो—अन्तरङ्ग कषायों को और। बहिं—वा शरीर आदि उपकरणों को। विउस्सिज्ज—त्याग कर। अज्झत्यं—मन की। सुद्धं—शुद्धि का। एसए—अन्वेषण करे, अर्थात् मानसिक शुद्धि की अभिलाषा रखे।

मूलार्थ—मध्यस्थ भाव में स्थित निर्जरा का इच्छुक मुनि सदा समाधि का परिपालन करे और अन्तरंग कषायों एवं बाह्य शरीरादि उपकरणों को त्याग कर मन की शुद्धि करे।

हिन्दी-विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील आत्मा जीवन-मरण की आकांक्षा का त्याग करके संलेखना को स्वीकार करता है। अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि पहले वह कषायों का त्याग करे और उसके पश्चात् उपकरण एवं शरीर का भी परित्याग कर दे। कषाय का त्याग करने पर ही आत्मा में समाधि भाव की ज्योति जग सकती है और साधक त्याग के पथ पर बढ़कर सभी कर्मों एवं कर्मजन्य साधनों से निवृत्त हो

सकता है। इसलिए साधक को सदा अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही संयम की सम्यक् साधना करके कर्म से मुक्त हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— जं किंचुवक्कमं जाणे, आउ खेमस्समप्पणो ।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए॥6॥**

छाया— यं कञ्चन उपक्रमं जानीयात्, आयुःक्षेमस्य आत्मनः ।

तस्यैव अन्तरकाले, क्षिप्रं शिक्षेत पण्डितः ॥

पदार्थ—जं अप्पणो—यदि स्वात्मा की। आउखेमस्स—आयु को क्षेम रूप से यापन—बिताने का। किंचुवक्कमं—किंचिन्मात्र—बहुत कम। उवक्कमं—उपाय। जाणे—जानता हो तो वह। तस्स—उस संलेखना काल के। अन्तरद्धाए—मध्य में। खिप्पं—शीघ्र ही। पंडिए सिक्खिज्ज—उस भक्त परिज्ञा आदि से पंडित मरण को स्वीकार करे।

मूलार्थ—यदि मुनि अपनी (आत्मा की) आयु को क्षेम—समाधि पूर्वक बिताने का उपाय जानता हो तो वह उस उपाय को संलेखना के मध्य में ही ग्रहण कर ले। यदि कभी अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाए तो वह शीघ्र ही भक्त परिज्ञा आदि संलेखना को स्वीकार करके पंडितमरण को प्राप्त करे।

हिन्दी-विवेचन

यदि संलेखना के काल में कोई ऐसा रोग उत्पन्न हो जाए कि संलेखना का काल पूरा होने के पूर्व ही उस रोग से मृत्यु की संभावना हो तो उस समय साधक संलेखना को छोड़कर औषध के द्वारा रोग को उपशान्त करके फिर से संलेखना आरम्भ कर दे। यदि कोई व्याधि तेल आदि की मालिश से शान्त हो जाती हो तो वैसा प्रयत्न करे और यदि वह व्याधि शान्त नहीं होती हो या उसके उग्र रूप धारण कर लेने से ऐसा प्रतीत होता हो कि इससे जल्दी ही प्राणान्त होने वाला है, तो साधक भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशन स्वीकार करके समाधि मरण को प्राप्त करे।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को आत्महत्या की अनुमति नहीं है। जहां तक

शरीर चल रहा है और उसमें साधना करने की शक्ति है, तब तक उसे अनशन करने की आज्ञा नहीं है। रोग के उत्पन्न होने पर भी उसका उपचार करने की अनुमति दी गई है। अनशन उस समय के लिए बताया गया है कि जब रोग असाध्य बन गया है और उसके ठीक होने की कोई आशा नहीं रही है या उसका शरीर इतना जर्जरित निर्बल हो गया है कि अब भली-भांति स्वाध्याय आदि की साधना नहीं हो रही है। अतः अनशन (संथारे) को आत्महत्या कहना नितान्त असत्य है।

मृत्यु का समय निकट आने पर साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया ।

अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी॥७॥

छाया— गामे वा अथवा अरण्ये, स्थण्डिलं प्रत्युत्प्रेक्ष्य ।

अल्पप्राणं तु विज्ञाय, तृणानि संस्तरेत् मुनिः॥

पदार्थ—गामे वा—ग्राम में। अदुवा—अथवा। रण्णे—जंगल में स्थित संयमशील मुनि। थंडिलं—स्थंडिल भूमि को। पडिलेहिया—प्रतिलेखन करके। तु—वितर्क के अर्थ में है। तणाइं—तृणों को। संथरे—बिछाए।

मूलार्थ—ग्राम या जंगल में स्थित संयमशील मुनि संस्तारक बिछौने एवं शौचादि के स्थान का प्रतिलेखन करे और जीव-जन्तु से रहित निर्दोष भूमि को देखकर वहां तृण बिछाए।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व के उद्देशक में अनशन करने के स्थान का जो वर्णन किया गया है, उसी को इस गाथा में दोहराया गया है। मृत्यु का समय निकट आने पर साधक जिस स्थान में ठहरा हुआ हो, उस स्थान में या उससे बाहर जंगल में या अन्य स्थान में जहां उसे समाधि रहती है, वहां याचना करके निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर उस पर अनशन व्रत स्वीकार करे। इसके साथ पेशाब आदि का त्याग करने की भूमि का भी प्रतिलेखन कर ले। इस तरह निर्दोष भूमि पर निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर जन्म और मरण की आकांक्षा रहित होकर अनशन व्रत को स्वीकार करे।

तृण शय्या बिछाने के बाद मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
नाइवेलं उवचरे माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ॥४॥**

छाया— अनाहारः त्वग् वर्तयेत्, स्पृष्टस्तत्र अध्यायेत् ।

नातिवेलं उपचरेत् मानुष्यैः विस्पृष्टवान् ॥

पदार्थ—अणाहारो—यथाशक्ति तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करे और यत्नापूर्वक। संस्तारक—संधारे पर। तुयट्टिज्जा—करवट बदले। तत्थ—वहाँ पर। पुट्ठो—परीषहों के स्पर्श होने पर। अहियासए—उस कष्ट को सहन करे और। माणुस्सेहिं—मनुष्यों के द्वारा। विपुट्ठवं—स्पर्शित अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों की। नाइवेलं उवचरे—मर्यादा का उल्लंघन न करे।

मूलार्थ—संस्तारक पर बैठा हुआ मुनि तीन या चार प्रकार के आहार का परित्याग करे। वह यत्ना से संस्तारक शय्या पर शयन करे, और वहाँ पर स्पर्शित होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करे। वह मनुष्यों द्वारा स्पर्शित होने वाले अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों के उपस्थित होने पर मर्यादा का उल्लंघन न करे। वह पुत्र एवं परिजन आदि के सम्बन्ध को याद कर आर्तध्यान भी न करे।

हिन्दी-विवेचन

संस्तारक—तृणा शय्या बिछाकर मुनि उस पर बैठकर तीनों आहार-पानी को छोड़कर शेष सब खाद्य पदार्थों का या चारों आहार-पानी सहित सभी खाद्य पदार्थों का त्याग करे। यदि उसे तृण आदि के स्पर्श से कष्ट होता हो या कोई देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षी कष्ट देता हो, तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे, परन्तु, उस परीषह से घबराकर अपने व्रत को भंग न करे, अपने साधना मार्ग का त्याग न करे। अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कठिनता के समय पर भी अपने मार्ग पर स्थित रहने में ही साधना की सफलता है। इसलिए साधक को पुत्र, माता आदि परिजनों की ओर से ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक अपनी साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

अनशन को स्वीकार करने वाला साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर भी क्रोध न करके समभावपूर्वक उन्हें सहन करे, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा ।
भुज्जंति मंससोणियं, न छणे न पमज्जए॥१॥**

**छाया— संसर्पकाश्च ये प्राणा (प्राणिनः) ये चोर्ध्वाधश्चरा ।
भुजंते मांस शोणितं, न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत्॥**

पदार्थ—य—पुनः । जे—जो । संसप्पगा—चींटी और शृगाल आदि । जे—जो । पाणा—प्राणी हैं । य—पुनः । जे—जो । उड्ढं—आकाश में उड़ने वाले प्राणी । अहेचरा—बिलों में रहने वाले प्राणी जब । मंससोणियं—मांस और खून को । भुजंति—खाते हैं तब । न छणे—मुनि उनको न हाथ से हटाए और । न पमज्जए—न रजोहरण से प्रमार्जन करे, अर्थात् दूर हटाए ।

मूलार्थ—अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर में स्थित मांस एवं रक्त को यदि कोई भी चींटी-मच्छर आदि जन्तु, गृध्र आदि पक्षी एवं सिंह आदि हिंसक पशु मांस खाए या रक्त पीए तो मुनि न तो उन्हें हाथ से मारे और न रजोहरण से दूर करे ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला मुनि ही कर्मों से मुक्त हो सकता है । प्रस्तुत सूत्र में भी यही बताया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि को उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए । यदि कोई चींटी, मच्छर आदि जन्तु, सर्प-नेवला आदि हिंसक जन्तु, गृध्र आदि पक्षी और सिंह, ऋगाल आदि हिंस पशु अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि के शरीर पर डंक मारते हैं या उसके शरीर में स्थित मांस एवं खून को खाते-पीते हैं, तो उस समय मुनि उस वेदना को समभावपूर्वक सहन करे, किन्तु अपने हाथ से न किसी को मारे, न परिताप दे और न किसी प्राणी को रजोहरण से हटाए । इस सूत्र में साधक की साधना की पराकाष्ठा बताई गई है । साधक साधना करते हुए ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है कि उसका अपने शरीर पर कोई ममत्व नहीं रह जाता

है। ऐसी उत्कट साधना को साधकर ही साधक कर्मबन्धन से मुक्त होता है। अतः उसे सदा परीषहों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ नवि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणे अहियासए॥10॥**

छाया— प्राणा (प्राणिनः) देहं विहिंसन्ति, स्थानात् नापि उद्भवेत् ।

आस्रवैः विवित्तैः तप्यमानः अध्यासयेत्॥

पदार्थ—पाणा—प्राणी। देहं—शरीर की। विहिंसन्ति—हिंसा कर रहे हैं अतः मुनि। ठाणाओ—उस स्थान से। नवि उब्भमे—उठकर अन्यत्र न जावे। आसवेहिं—आश्रवों से। विवित्तेहिं—रहित होने के कारण जो मुनि शुभ अध्यवसाय वाला है, वह उन प्राणियों के द्वारा भक्षण किए जाने पर भी। तिप्पमाणे—उस वेदना को अमृत के समान सिंचन कार्य मानता हुआ। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—हिंसक प्राणियों द्वारा शरीर की हिंसा होने पर भी मुनि उनके भय से उठकर अन्य स्थान पर न जाए। आस्रवों से रहित होने के कारण जो शुभ अध्यवसाय वाला मुनि है, वह उस हिंसाजन्य वेदना को अमृत के समान सिंचन की हुई समझकर सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व की गाथा में हिंस्र जन्तुओं द्वारा दिए गए परीषहों को सहन करने का उपदेश दिया गया है। इस गाथा में बताया गया है कि किसी भी हिंस्र जन्तु को सामने आते देखकर अनशन व्रत की साधना में संलग्न मुनि उस स्थान से उठकर अन्यत्र न जाए। वह उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली वेदना को अमृत के समान समझे। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला साधक आत्मचिन्तन में इतना संलग्न हो जाए कि उसे अपने शरीर का ध्यान ही न रहे। शरीर पर होने वाले प्रहारों की वेदना मनुष्य को तभी तक परेशान करती है, जब तक उसका मन शरीर पर स्थित है। जब साधक आत्मचिन्तन में गहरी डुबकी लगा लेता है, तो उसे शारीरिक पीड़ाओं की कोई अनुभूति नहीं होती और वह समभाव

पूर्वक उस वेदना को सह लेता है। वह उसे कटु नहीं, अपितु अमृत तुल्य मानता है। जैसे अमृत जीवन में अभिवृद्धि करता है, उसी तरह वेदना को समभाव पूर्वक सहन करने से आत्मा के ऊपर से कर्ममल दूर होकर आत्मज्योति का विकास होता है, आत्मा के गुणों में अभिवृद्धि होती है और आत्मा समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सदा के लिए अजर-अमर हो जाती है। अतः साधक को पूर्णतः निर्भीक बनकर आत्मसाधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— गन्धेहिं विविक्तेहिं आउकालस्स पारए।

पग्गहियत्तरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ॥११॥

छाया— ग्रन्थैः विविक्तैः, आयुः कालस्य पारगः।

प्रगृहीततरकं चेदं, द्रविकस्य विजानतः॥

पदार्थ—गन्धेहिं—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूप गांठ का। विविक्तेहिं—त्याग करके अथवा। गन्धेहि—आचारांग आदि। विविक्तेहिं—विविध शास्त्रों के द्वारा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहा हुआ मुनि। आउ कालस्स—आयुष्य काल का। पारए—पारगामी हो अर्थात् आयु पर्यन्त समाधि रखे। अब सूत्रकार इंगित मरण के विषय में कहते हैं। च—पुनः। इयं—यह इंगित मरण। पग्गहियत्तरगं—आत्म-परिज्ञा से विशिष्टतर है अतः। वियाणओ—गीतार्थ मुनि को ही इस मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है, अन्य को नहीं।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह का त्याग करने से मुनि आयुपर्यन्त समाधि धारण करे या आचाराङ्गादि विविध शास्त्रों के द्वारा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहता हुआ समय का ज्ञाता बने, अर्थात् जीवनपर्यन्त समाधि रखे। प्रस्तुत गाथा के अन्तिम दो पादों में सूत्रकार ने इंगितमरण का वर्णन किया है। यह इंगितमरण भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है। अतः उसकी प्राप्ति संयमशील गीतार्थ मुनि को ही हो सकती है, अन्य को नहीं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भक्त प्रत्याख्यान और इंगितमरण अनशन स्वीकार करने वाले

मुनि की योग्यता का उल्लेख किया गया है। उक्त अनशनों को स्वीकार करने वाला मुनि बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त एवं आचाराङ्ग आदि आगमों का ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि, आगम ज्ञान से संपन्न एवं बाह्य परिग्रह तथा कषायों से निवृत्त मुनि ही निर्भयता के साथ आत्म-चिन्तन में संलग्न रह सकता है और उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सह सकता है।

इंगितमरण अनशन के लिए कहा गया है कि गीतार्थ मुनि ही उसे स्वीकार कर सकता है। इस अनशन में मर्यादित भूमि से बाहर हलन-चलन एवं हाथ-पैर आदि का संकोच एवं प्रसार नहीं किया जा सकता। अतः इस अनशन को श्रुत ज्ञान सम्पन्न एवं दृढ़ संहनन वाला मुनि ही ग्रहण कर सकता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'द्विविस्स वियाणओ' इन दो पदों का उल्लेख किया है। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—“इंगित मरण अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि कम से कम 9 पूर्व का ज्ञाता हो।” इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इतना ज्ञान प्राप्त करने वाले मुनि का संहनन कितना दृढ़ होगा।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयं से अवरे धम्मे नाय पुत्तेण साहिए।

आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहातिहा॥12॥

छाया—अयं स अपरः धर्मः, ज्ञातपुत्रेण स्वाहितः।

आत्मवर्जं प्रतिचारं विजह्यात् त्रिधात्रिधा॥

पदार्थ—अयं से—यह। अवरे—अपर भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न इंगित मरण रूप। धम्मे—धर्म का। नायपुत्तेण—भगवान महावीर ने। साहिए—प्रतिपादन किया है। आयवज्जं—आत्मा के। पडीयारं—प्रतिचार—अंगोपांगों के व्यापार का त्याग करे और। तिहातिहा—तीन करण एवं तीन योग से, आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं का। विजहिज्जा—विशेष रूप से त्याग करे।

मूलार्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इंगितमरण रूप धर्म का भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है। इसे स्वीकार करने वाला मुनि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं का तीन करण और तीन योग से परित्याग करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि इंगितमरण भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न है और इसकी साधना भी विशिष्ट है। भगवान महावीर ने इसके लिए बताया है कि शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त नियमित भूमि में कोई कार्य न करे और मर्यादित भूमि के बाहर शारीरिक क्रियाएं भी न करे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'आयवज्जं पडियारं, विज्जहिज्जा तिहातिहा' इन पदों का वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है—आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर कर्मों की अनन्त वर्णणाएं स्थित हैं, उन्हें आत्म प्रदेशों से सर्वथा अलग करना साधक के लिए अनिवार्य है और उन्हें अलग करने का साधन है—ज्ञान और संयम। जैसे साबुन से वस्त्र का मैल दूर करने पर वह स्वच्छ हो जाता है, इसी तरह ज्ञान और संयम की साधना से आत्मा पर आच्छादित कर्म हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। अतः साधक को सदा ज्ञान एवं संयम की साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

इन गुणों की प्राप्ति का मूल अहिंसा की साधना है। अतः उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—हरिएसु न निवज्जिज्जा, थंडिले मुणियासए।

विओसिज्जा अणाहारो पुट्ठो तत्थ अहियासए॥13॥

छाया—हरितेषु न शयीत स्थंडिल मत्वा शयीत।

व्युत्सृज्य अनाहारः, स्पृष्टः तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—हरिएसु—मुनि हरी वनस्पति पर। न निवज्जिज्जा—शयन न करे। थंडिले—वह निर्दोष भूमि। मुणिया—जानकर। सए—उस पर शयन करे। विओसिज्जा—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि को छोड़कर। अणाहारो—आहार रहित होता हुआ। तत्थ—उस आसन पर। पुट्ठो—यदि कोई परीषह स्पर्शित हो तो। अहियासए—उसे सहन करे।

मूलार्थ—अनशन करने वाला मुनि हरी घास एवं तृणादि पर शयन न करे। वह शुद्ध निर्दोष भूमि देखकर उस पर शयन करे, वह बाह्याभ्यन्तर उपधि को छोड़

कर, आहार से रहित होता हुआ विचरे और यदि वहां पर कोई परीषद उत्पन्न हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। सब प्राणियों की रक्षा करना उसका धर्म है। क्योंकि, वह छह काय का रक्षक कहलाता है। इसलिए मुनि को अपनी तृण-शय्या ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए, जहां हरियाली बीज, अंकुर आदि न हों। इसी तरह सचित्त मिट्टी एवं जल काय आदि तथा छोटे-मोटे प्राणियों की भी विराधना नहीं होती हो। मुनि को चाहिए कि वह आहार आदि का त्याग करके सर्वथा निर्दोष भूमि पर तृणशय्या बिछाकर अनशन करे और उस समय उत्पन्न होने वाले परीषदों को समभावपूर्वक सहता हुआ आत्मचिन्तन में संलग्न रहे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी ।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए॥14॥

छाया—इन्द्रियैर्ग्लायमानः शामितमाहारयेन्मुनिः ।

तथाप्यसौ अगर्ह्यः, अचलो यः समाहितः॥

पदार्थ—मुणी—आहारादि का त्याग करने वाला मुनि। इंदिएहिं—इन्द्रियों से। गिलायंतो—ग्लानि को प्राप्त करता हुआ। समियं—समता भाव को। आहरे—धारण करे, अर्थात् आत्मा में समभाव रखे। यदि अंगों का संकोचन या प्रसारण करना हो तो नियमित भूमि में ही करे। तहावि—तथापि। से—वह मुनि नियमित भूमि में शरीर सम्बन्धी चेष्टा करता हुआ। जे—जो। समाहिए—समाधि में रहा हुआ। अचले—धर्म ध्यान या प्रतिज्ञा पर अटल है। अगरिहे—वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता।

मूलार्थ—आहार न करने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुआ मुनि अपनी आत्मा में समता भाव को धारण करे। जो मुनि अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, यदि वह नियमित भूमि में अङ्गोपाङ्ग का प्रसारण करता है, तब भी वह निन्दा का पात्र नहीं बनता।

हिन्दी-विवेचन

इंगितमरण स्वीकार करने वाले मुनि के लिए बताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि उत्पन्न हो तो उसे उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को आत्मा की ओर लगाना चाहिए। यदि वह मुनि अपने मर्यादित प्रदेश में हाथ-पैर आदि का संकोच या प्रसार करता है तो भी वह अपने व्रत से नहीं गिरता। क्योंकि, उसने मर्यादित स्थान से बाहर जाकर अंग-संचालन करने का त्याग किया है। अतः मर्यादित भूभाग में अंगों का संचालन करना बन्द नहीं है। इस तरह वह अपनी मर्यादा को ध्यान में रखते हुए समभावपूर्वक साधना में संलग्न रहे, परन्तु उसे त्यागने का विचार न करे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।

काय सहारणट्ठाए, इत्थंवावि अचेयणो॥15॥

छाया—अभिक्रामणं (अभिक्रामेत्) प्रतिक्रमणं (प्रतिक्रामेत्) संकोच-येत्प्रसारयेत् कायसाधारणार्थं अत्रापि अचेतनः॥

पदार्थ—काय सहारणट्ठाए—शरीर की समाधि के लिए। अभिक्कमे—सन्मुख होना। पडिक्कमे—पीछे हटना। संकुचए—अंगादि का संकोच करना या। पसारए—विस्तार करना आदि क्रियाएं मर्यादित भूमि में करे। वा—पादोपगमन में मुनि अक्रियवत्—सक्रिय भी निष्क्रिय की तरह रहे। इत्थंवावि अचेयणो—यदि शक्ति हो तो इंगित मरण में भी अचेतनवत्—क्रियारहित होकर स्थित रहे।

मूलार्थ—उक्त अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि शरीर को समाधि के लिए मर्यादित भूमि में अंगोपांग का संकुचन-प्रसारण करे। यदि उसके शरीर में शक्ति हो तो वह इंगितमरण अनशन में अचेतन पदार्थ की तरह क्रिया एवं चेष्टा रहित होकर स्थित रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भी पूर्व गाथा में उल्लिखित बात को ही पुष्ट किया गया है। इसमें बताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि का अनुभव होता हो तो वह मर्यादित

भूमि में घूम-फिर सकता है। यदि उसे ग्लानि की अनुभूति न होती हो तो उसे शान्त भाव से आत्मचिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके हलन-चलन कम करते हुए या निश्चेष्ट रहते हुए साधना में संलग्न रहना चाहिए और उससे उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

यदि आत्मबल अधिक न हो तो इंगितमरण स्वीकार करने वाले गीतार्थ मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— परिक्रमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए।

ठाणेण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अंतसो॥16॥

छाया— परिक्रामेत् परिक्लान्तः, अथवा तिष्ठेत् यथायतः।

स्थानेन परिक्लान्तो निषीदेच्चान्तशः॥

पदार्थ—अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि। **परिक्रमे—**नियत प्रदेश में चले। **परिकिलन्ते** अदुवा—अथवा थक जाने पर। **चिट्ठे—**बैठ जाए। **अहायए—**सीधा होकर लेट जाए। **ठाणेण—**यदि खड़े होने से। **परिकिलन्ते—**कष्ट होता हो तो। **निसीइज्जा—**बैठ जाए। **अंतसो—**उसे जिस प्रकार समाधि रहे वैसा करे।

मूलार्थ—यदि अनशन स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर को कष्ट होता हो तो वह नियत भूमि पर घूमे। यदि उसे घूमने से थकावट होती हो तो बैठ जाए और बैठने से भी कष्ट होता हो तो लेट जाए। इसी प्रकार पर्यंक आसन, अर्ध पर्यंक आसन करे और यदि इसके करने से भी कष्ट होता हो तो बैठ जाए। जिस तरह से उसे समाधि रहे, वैसा करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि यदि इंगितमरण अनशन को स्वीकार किए हुए साधक को थकावट प्रतीत होती हो, तो वह मर्यादित भूमि में घूम-फिर सकता है। यदि घूमने से उसे थकावट मालूम हो, तो वह पर्यंक आसन या अर्ध पर्यंक आसन कर ले या बैठ जाए। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिस तरह से उसे समाधि रहती हो, उस तरह उठने-बैठने की व्यवस्था कर सकता है। परन्तु वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे। यह बात अलग है कि मर्यादित भूमि में वह खड़ा रहे या बैठा रहे

या पर्यंक आसन करे या सीधा लेट जाए या एक करवट से लेट जाए। जिस किसी आसन से उसे समाधि रहती हो, आत्म-चिन्तन में मन लगता हो; उसी आसन को स्वीकार करके आत्मसाधना में संलग्न रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्द्रियाणि समीरए।

कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरेसए॥17॥

छाया— आसीनः अनीदृशं मरणं, इन्द्रियाणि समीरयेत्।

कोलावासं समासाद्य, वितथं प्रादुरेषयेत्।

पदार्थ—मरणं—इंगित मरण के। **अणेलिसं—**जो अनन्य सदृश अनुपम है मुनि। **आसीणे—**आश्रित हुआ मुनि। **इन्द्रियाणि—**इन्द्रियों को इष्ट और अनिष्ट विषयों से और। **समीरए—**राग-द्वेष से हटाने की प्रेरणा करे। यदि थकावट होने पर उसे अपनी कमर को सहारा देने के लिए पट्टे की आवश्यकता हो तो वह। **कोलावासं—**घुन आदि से युक्त। **समासज्ज—**पट्टे के मिलने पर उससे भिन्न। **वितहं—**जीवादि से रहित पट्टे की। **पाउरेसए—**गवेषणा करे।

मूलार्थ—सामान्य साधक के लिए जिसका आचरण करना कठिन है, ऐसे इंगित मरण में अवस्थित मुनि इन्द्रियों को विषय-विकारों से हटाने की प्रेरणा करे। यदि उसे सहारा लेने के लिए पट्टे की आवश्यकता अनुभव हो तो वह जीव-जन्तु से युक्त पट्टे के मिलने पर उसे ग्रहण न करके, जीवादि से रहित पट्टे की गवेषणा करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि इंगितमरण अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि को राग-द्वेष एवं विकारों से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए। यदि कभी कषायों के उत्पन्न होने तथा मनोविकारों के जागृत होने की सामग्री उपस्थित हो तो मुनि अपने मन एवं इन्द्रियों को उस ओर न जाने दे। वह अपनी साधना के द्वारा उस ओर से मन हटाकर आत्म-चिन्तन में लगा दे। मुनि को उस समय अपने योगों पर इतना काबू पाना चाहिए कि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्यत्र योगों की प्रवृत्ति ही न हो।

इस तरह इंगितमरण अनशन की साधना में स्थित साधक योगों का निरोध करने का प्रयत्न करे।

यदि उसके उपयोग में आने वाले तख्त आदि में घुन आदि जीव-जन्तु हों तो उसे उस तख्त को काम में नहीं लेना चाहिए। इससे जीवों की हिंसा होती है। अहिंसा के प्रतिपालक मुनि को जीवों से संयुक्त तख्त ग्रहण न करके जीवों से रहित अन्य तख्त ग्रहण करना चाहिए। इस तरह समस्त जीवों का रक्षण करते हुए साधक को अपने योगों को राग-द्वेष आदि मनोविकारों से रोकते हुए आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए।

अनशन करने वाले मुनि की वृत्ति कैसी रहनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जओवज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए॥18॥

छाया—यतः वज्रं [अवद्यं] समुत्पद्येत्, न तत्र अवलंबेत्।
ततः उत्कर्षेद् आत्मानं, स्पर्शान् तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—जओ—जिससे। वज्जं—वज्रवत् कर्म। समुप्पज्जे—उत्पन्न हों। तत्थ—ऐसे घुणादि से युक्त काष्ठ फलक का। न अवलम्बए—अवलम्बन न करे। तउ—उसके पश्चात्, वह। अप्पाणं—आत्मा को। उक्कसे—आर्त ध्यान और दुष्ट योग से हटाए। तत्थ—वहां पर ही दुःख रूप स्पर्शों को। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—जिससे वज्रवत् भारी कर्म उत्पन्न हों, इस प्रकार वे घुणादि से युक्त काष्ठ फलक का अवलम्बन न करे। उसके पश्चात् वह आत्मा को दुष्ट ध्यान और दुष्टयोग से हटाए और वहां उपस्थित हुए दुःख रूप स्पर्शों को समभावपूर्वक सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में इंगितमरण अनशन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर मुनि को घूमना पड़े तो वह मर्यादित भूमि में घूम-फिर सकता है। यदि उसे थकावट मालूम हो तो वह किसी काष्ठ फलक का सहारा लेकर खड़ा होना चाहे तो पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि उसमें घुन आदि जीव-जन्तु तो

नहीं हैं। यदि उसमें जीव-जन्तु आदि हों तो उसका सहारा न ले और जीव-सहित किसी भी तख्त आदि का उपयोग न करे। क्योंकि, इससे जीवों की विराधना होती है और फलस्वरूप पापकर्म का बन्ध होता है। पापकर्म वज्रवत् बोझिल होता है। वह आत्मा को सदा नीचे की ओर घसीटता है। इसलिए जिस क्रिया से पापकर्म का बन्ध हो, उस क्रिया से साधक को सदा दूर रहना चाहिए और ऐसी किसी वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए, जिससे जीवों की हिंसा होती हो।

मुनि को सदा आत्मचिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। उसे अपने को कभी भी दुर्ध्यान में नहीं लगाना चाहिए। दुष्ट चिन्तन एवं बुरे विचार आत्मा को गिराने वाले हैं। अतः मुनि को कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी अपने चिन्तन की धारा को दुष्ट विचारों की ओर नहीं मोड़ना चाहिए। परीषहों के उत्पन्न होने पर भी उसे विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु समभाव से सब परीषहों को सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को सदा आत्मविकास में लगाए रखना चाहिए। इस तरह जीवों की रक्षा एवं शुद्ध चिन्तन के द्वारा साधक समाधिमरण को प्राप्त करता है और फलस्वरूप स्वर्ग या मुक्ति को प्राप्त करता है।

इंगितमरण के बाद पादोपगमन अनशन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए ।

सव्वगाय निरोहेवि, ठाणाओ न विउब्भमे॥19॥

छाया— अयं चायततरः स्यात्, यः एवमनुपालयेत् ।

सर्वगात्र विरोधेऽपि, स्थानाद् न व्युद्भ्रमेत् ॥

पदार्थ—अयं—यह पादोपगमन अनशन। च—च शब्द से भक्त परिज्ञा और इंगित मरण से। आययतरे—विशिष्टतर। सिया—है, अतः। जो—जो इसे स्वीकार करने वाला साधक। एवं—इस विधि से। अणुपालए—इसका पालन करे। सव्वगाय-निरोहेवि—सारे शरीर का निरोध होने पर भी। ठाणाओ—एक स्थान से दूसरे स्थान पर। न विउब्भमे—संक्रमण न करे, अर्थात् परीषहों के भय से वह स्थान का परिवर्तन न करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन भक्त परिज्ञा और इंगितमरण से विशिष्टतर है, अर्थात् विशेष यतना वाला है। अतः साधु उक्त विधि से इसका पालन करे। समस्त

शरीर का निरोध होने पर भी वह परीषहों से भयभीत होकर स्थानान्तर में न जाए।

हिन्दी-विवेचन

पंडितमरण को प्राप्त करने के लिए तीन तरह के अनशन बताए गए हैं—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इंगितमरण और 3—पादोपगमन। पहले दो प्रकार के मरण का उल्लेख कर चुके हैं। अंतिम अनशन का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह अनशन पूर्व के दोनों अनशनों से अधिक कठिन है। भक्त प्रत्याख्यान में साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थान पर आ-जा सकता है, परन्तु इंगितमरण में वह मर्यादित स्थान से बाहर शरीर का संचालन नहीं कर सकता और पादोपगमन में साधक बिल्कुल स्थिर रहता है। वह जिस स्थान पर जिस आसन से—बैठे हुए या लेटे हुए, अनशन स्वीकार करता है, अन्तिम सांस तक उसी आसन से रहता है। इधर-उधर घूमना-फिरना तो दूर रहा, वह शरीर का संचालन भी नहीं कर सकता है। केवल पेशाब एवं शौच आदि से निवृत्त हो सकता है।

शारीरिक हलन-चलन न करने के कारण तथा कभी मूर्छा आदि आ जाने पर उसे मृत समझ कर कोई पशु-पक्षी उसको खाने आए, तो उनसे डरकर वह अन्य स्थान में नहीं जाए। वह वहीं निश्चेष्ट रहकर समभाव पूर्वक उत्पन्न होने वाले परीषहों को सहने करे। इसका तात्पर्य यह है कि अपने शरीर पर बिल्कुल ध्यान न रखते हुए आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। यही इस अनशन की विशेषता है और इसी कारण यह पूर्वोक्त दोनों अनशनों से श्रेष्ठ माना गया है। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है¹।

इस बात का समर्थन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे
अचिरं पडिलेहिता, विहरे चिट्ठे माहणे॥20॥**

1. स चायततरो न केवलं भक्त परिज्ञाया इंगित मरण विधिरायततरः अयं च तस्मादायततरः इति च शब्दार्थः। आयततर इत्याङ्गभिविधौ सामस्त्येन यत आयत अयमनयो रतिशयेनायत आयततरः, यदि वाऽयमनयोरति शयेनात्तो गृहीत आततरः, यत्नेनाध्यवसित इत्यर्थः, तदेव अयं पादोपगमनमरण विधिराततरो दृढतरः स्याद् भवेत्।

छाया—अयं सः उत्तमो धर्मः, पूर्वस्थानस्य प्रग्रहः।

अचिरं प्रत्युपेक्ष्य, विहरेत् तिष्ठेत् माहनः ॥

पदार्थ—अयं—यह। से—पादोपगमन अनशन। उत्तमे धर्मे—श्रेष्ठ धर्म है। पुष्पट्ठाणस्स—पूर्व दो अनशनों से। पग्गहे—यह प्रकृष्टतर है अतः। अचिरं—स्थंडिल भूमि को। पडिलेहिता—देखकर। माहणे—साधु। चिट्ठे—वहां ठहरे और। विहरे—विधिपूर्वक उसका परिपालन करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन उत्तम धर्म है और पूर्व कथित दोनों अनशनों से श्रेष्ठतर है। इस अनशन को स्वीकार करने वाले मुनि को मल-मूत्र त्याग करने की भूमि को देखकर वहां स्थित होना चाहिए और विधि पूर्वक अनशन का परिपालन करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

पादोपगमन अनशन की विशेषता उसकी कठोर साधना के कारण है। इस अनशन में साधक वृक्ष से टूटकर जमीन पर पड़ी हुई शाखा की तरह निश्चेष्ट होकर आत्मचिन्तन में संलग्न रहता है। वह केवल मलमूत्र का त्याग करने के अतिरिक्त अपने अंगोपांगों का संचालन भी नहीं कर सकता है।

उक्त साधक की वृत्ति का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं।

वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा॥21॥

छाया—अचित्तं तु समासाद्य, स्थापयेत्तत्रात्मानम्।

व्युत्सृजेत् सर्वशः कायं, न मे देहे परीषहाः॥

पदार्थ—तु—वितर्क के अर्थ में है। अचित्तं—निर्जीव स्थंडिल एवं तख्तादि को। समासज्ज—प्राप्त करके। तत्थ—वहां पर। अप्पगं—अपनी आत्मा को। ठावए—स्थापन करे और। सव्वसो—सब तरह से अपने। कायं—शरीर का। वोसिरे—व्युत्सर्जन कर दे। परीसहा—परीषहों के उत्पन्न होने पर वह यह भावना करे कि। न मे देहे—यह शरीर मेरा नहीं है। परीसहा—अतः मुझे परीषह कैसे?

मूलार्थ—अचित स्थंडिल एवं तख्त आदि को प्राप्त करके वह अपनी आत्मा को वहां स्थापित करे। वह अपने शरीर का पूर्णतः व्युत्सर्ग करके यह सोचे कि जब यह शरीर मेरा नहीं तो फिर इसे परीषह कैसे और किसको? इस भावना से वह उत्पन्न होने वाले परीषहों को सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

पादोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले साधक को निर्दोष तृणशय्या एवं तख्त आदि, अर्थात् जीव-जन्तु आदि से रहित शय्या आदि का, एवं हरियाली, बीज, अंकुर एवं जीव-जन्तु से रहित स्थंडिल भूमि का उपयोग करना चाहिए। उसे अपने शरीर की ममता का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि मेरी आत्मा इस शरीर से पृथक् है। इसके ऊपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। इसे एक दिन अवश्य ही नष्ट होना है, परन्तु यह आत्मा सदा स्थित रहने वाला है। अतः वह शरीर की बिल्कुल चिन्ता न करते हुए, आत्मचिन्तन में संलग्न रहे और उस समय उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव से सहन करे।

उसे अपने सामने आने वाले परीषहों को कब तक सहन करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— जावज्जीवं परिसहा, उवसग्गा इति संख्या ।

संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए॥22॥

छाया— जावज्जीवं परीषहाः, उपसर्गाः इतिसंख्याय ।

संवृतः देहभेदाय, इति प्राज्ञः अध्यासयेत् ॥

पदार्थ—जावज्जीवं—जीवन पर्यन्त। परिसहा—परीषह और। उवसग्गा—उपसर्ग। इति—इस प्रकार। संख्या—जानकर सहन करना चाहिए। देहभेयाए—शरीर भेद के लिए। संबुडे—संवृतात्मा। इय—इस प्रकार। पन्ने—उचित विधान के जानने वाला। अहियासए—सहन करे।

मूलार्थ—इस तरह देह-भेद अनशन के विधान को जानने वाला संवृत आत्मा को जो परीषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें जीवनपर्यन्त—अन्तिम सांस तक समभाव से सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

परीषहों का संबन्ध शरीर के साथ है। शरीर के रहते हुए ही अनेक तरह की वेदनाएं उत्पन्न होती हैं, अनेक कष्ट सामने आते हैं। शरीर के नाश होने के बाद तत्सम्बन्धित कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। अतः साधक को जीवन की अंतिम सांस तक उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

इस गाथा में यह भी बताया गया है कि संवृत्त आत्मा, अर्थात् समस्त दोषों से निवृत्त एवं संवर में स्थित आत्मा एवं ज्ञान संपन्न—सदसद् के विवेक से युक्त साधु ही परीषहों को समभाव से सह सकता है। क्योंकि, जो दोषों को जानता ही नहीं और जो उनसे निवृत्त ही नहीं है, वह साधना के पथ पर चल ही नहीं सकता है। इसलिए सदसद् के विवेक से संपन्न साधक ही सम्यक्तया पादोपगमन अनशन का परिपालन कर सकता है।

इतनी उत्कृष्ट साधना में संलग्न साधक को देखकर यदि कोई राजा उसे भोगों का निमन्त्रण दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि ।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया॥23॥**

**छाया— भिदुरेषु न रज्येत्, कामेषु बहतरेष्वपि ।
इच्छा लोभं न सेवेत्, ध्रुववर्णं संप्रेक्ष्य ॥**

पदार्थ—भेउरेसु—विनाशशील। बहुतरेसु—प्रभुततर। कामेसु—शब्दादि काम गुणों में। इच्छा लोभं—इच्छा रूप लोभ का भी। न सेविज्जा—सेवन न करे। ध्रुववन्नं सपेहिया—निश्चल वर्ण शाश्वती कीर्ति का विचार करके अथवा संयम को जानकर वह इच्छा का परित्याग करे।

मूलार्थ—यदि कोई राजा-महाराजा आदि उक्त मुनि को भोगों के लिए निमन्त्रित करे तो वह विनाशशील प्रभुततर काम-भोगों में राग न करे, उनमें आसक्त न होवे। निश्चल कीर्ति को जानकर वह यथावत् संयम-परिपालन करने के लिए इच्छा रूप लोभ का भी सेवन न करे।

हिन्दी-विवेचन

समस्त कर्मों से मुक्त होना ही साधना का उद्देश्य है। अतः साधक के लिए समस्त भोगों का त्याग करना अनिवार्य है। इसी बात को बताते हुए कहा गया है कि यदि कोई राजा-महाराजा आदि विशिष्ट धन एवं भोग सम्पन्न व्यक्ति उक्त साधक को देखकर कहे कि तुम इतना कष्ट क्यों उठाते हो, मेरे महलों में चलो मैं तुम्हें सभी भोग-साधन दूंगा, तुम्हारे जीवन को सुखमय बना दूंगा। इस तरह के वचनों को सुनकर साधक विषयों की ओर आसक्त न होवे। वह सोचे कि जब भोगों को भोगने वाला शरीर ही नाशवान है, तब भोग मुझे क्या सुख देंगे? वस्तुतः ये काम-भोग अनन्त दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं, संसार को बढ़ाने वाले हैं। इस तरह सोचकर वह भोगों की आकांक्षा भी न करे और न यह निदान ही करे कि मैं आगामी भव में राजा-महाराजा जैसे भोग-साधनों से संपन्न बनूँ। इन सभी सावध आकांक्षाओं से रहित होकर वह अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। वह किसी भी तरह के वैषयिक चिन्तन की ओर ध्यान न दे।

उसे भोगों की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए; इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सदहे ।

तं परिबुज्झमाहणे, सव्वं नूमं विहूणिया॥२४॥

छाया— शाश्वतैः निमन्त्रयेत् दियमाया न श्रद्धधीत ।

तत् प्रतिबुध्यस्व माहनः, सर्वं नूमं विधूय ।

पदार्थ—सासएहिं—यदि कोई व्यक्ति आयु-पर्यन्त रहने वाले धनादि पदार्थों से। निमन्तिज्जा—निमन्त्रित करे, तब भी वह मुनि उसकी इच्छा न करे। दिव्वमायं—इसी प्रकार देवता सम्बन्धी माया पर भी। न सदहे—श्रद्धा-विश्वास न करे। तं परिबुज्झ—हे शिष्य! तू उस माया-जाल को समझ। माहणे—साधु। सव्वं—इन सबको। नूमं—कर्म-बन्धन का कारण विहूणिया—जानकर त्याग देता है, अतः हे शिष्य! तुम देवादि के मायाजाल में मत फँसना।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति आयु पर्यन्त रहने वाले अथवा प्रतिदिन दान करने

से क्षय न होने वाले वैभव का भी निमंत्रण करे, तब वह साधु उसे ग्रहण करने की इच्छा न करे। इसी तरह देव सम्बन्धी माया की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। अतः हे शिष्य! तू माया के स्वरूप को समझ और इसे सर्व प्रकार से कर्मबन्ध का कारण जान कर इससे दूर रह, अर्थात् इसमें रागभाव मत रख।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया है कि यदि साधक को कोई इतना धन-वैभव दे कि वह जीवनपर्यन्त समाप्त न हो, तब भी उसे उस वैभव की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। मनुष्य के वैभव की तो बात ही क्या है, उसे स्वर्ग के वैभव को पाने की भी अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि, वह नाशवान है और आरम्भ-समारम्भ एवं वासना को बढ़ाता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप जन्म-मरण के प्रवाह में बहना पड़ता है। इसलिए साधक को भोगों की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

कभी-कभी मिथ्यात्वी देव उसे पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। विभिन्न प्रलोभनों एवं कष्टों के द्वारा उसके ध्यान को भंग करने का प्रयास करते हैं। उस समय साधक को समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को सहन करना चाहिए, परन्तु अपने ध्येय से गिरना नहीं चाहिए। उसे देवमाया को भली-भांति समझकर अपने मन को सदा आत्म-चिन्तन में लगाए रखना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— सव्वट्ठेहिं अमुच्छिण, आउकालस्स पारए।

तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं॥25॥ त्तिबेमि

छाया— सर्वार्थैः अमूर्छितः आयुः कालस्य पारगः।

तितिक्षा परमं ज्ञात्वा विमोहान्यतरं हितम्॥

पदार्थ—सव्वट्ठेहिं—वह मुनि समस्त शब्दादि विषयों में। अमुच्छिण—आसक्त न बने। आउकालस्स—वह जीवन पर्यन्त उन विषयों से निवृत्त होने में। पारए—पारंगत बने और। तितिक्खं—तितिक्षा को। परमं नच्चा—सर्वश्रेष्ठ जान कर। विमोहन्नयरं हियं—मोह रहित होकर यथाशक्ति तीनों में से किसी एक अनशन को हितकारी जानकर स्वीकार करे। त्तिबेमि—मैं इस प्रकार कहता हूँ।

• **मूलार्थ**—मुनि शब्दादि विषयों में अनासक्त रहे। वह जीवनपर्यन्त उन विषयों से निवृत्त रहे और तितिक्षा को सर्व-श्रेष्ठ जानकर मोह से रहित बने। तीनों अनशनों में यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझकर स्वीकार करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जन्म ग्रहण करने वाला प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है। मरना सभी को पड़ता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही जो न मरा हो और न कभी मरेगा। मरते सब हैं, परन्तु मरने-मरने में अन्तर है। एक मृत्यु जन्म-मरण के प्रवाह को बढ़ाती है, तो दूसरी मृत्यु उक्त प्रवाह को समाप्त कर देती है। पहली मृत्यु को आगमिक भाषा में बाल—अज्ञान मरण और दूसरी को पंडित—ज्ञान मरण कहते हैं। पंडितमरण जन्म-मरण को समाप्त करने वाला है और साधना का उद्देश्य भी जन्म-मरण के प्रवाह को समाप्त करना है। अतः साधक को अपनी साधना-को सफल बनाने के लिए पंडितमरण को प्राप्त करना चाहिए।

यह हम देख चुके हैं कि पंडितमरण तीन प्रकार का है—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इंगितमरण और 3—पादोपगमन। पादोपगमन सर्वश्रेष्ठ है और इङ्गित मरण मध्यम स्थिति का है और भक्त प्रत्याख्यान सामान्य कोटि का है। ये श्रेणियाँ साधना की कठोरता की अपेक्षा से हैं। साधना की दृष्टि से तीनों मरण महत्त्वपूर्ण हैं। यदि साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करते हुए समाधि-मरण को प्राप्त करता है, तो वह प्रत्येक मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। यह उसकी शारीरिक क्षमता पर आधारित है कि वह तीनों में से किसी भी एक मरण को स्वीकार करे। परन्तु, समभाव से उसका पालन करे, अन्तिम सांस तक अपने पथ से भ्रष्ट न हो, इसी में उसकी साधना की सफलता है।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥



नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान श्रुत है। इसमें भगवान महावीर के उपधान—तपनिष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। आचारांग सूत्र में साधु के आचार का वर्णन है और भगवान महावीर एक आदर्श साधु थे। अतः उनका यह आचार-विषयक उपदेश अनुभवजन्य है। जिन परीषहों—कष्टों को सहने की तथा जिस साधना का परिपालन करने की बात आचाराङ्ग के आठ अध्ययनों में कही गई है, वैसे परीषह भगवान महावीर ने स्वयं सहन किए थे और उस साधना-पथ पर वे स्वयं चले थे। अतः जब ऐसा विश्वास साधक के मन में हो जाता है कि यह साधना-पथ केवल भगवान का उपदेश मात्र नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा आचरित भी है, तो उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है, उसके जीवन में परीषहों को सहने की क्षमता बढ़ जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि द्वादशांगी श्रुत अनादि-अनन्त भी है। इस पर यहां यह प्रश्न उठता है कि अनादि-अनन्त श्रुत में ऐतिहासिक घटना आ सकती है या नहीं। यह प्रश्न वेद को ईश्वर-कृत मानने वाली वैदिक परम्परा के सामने भी था। उनमें दो पक्ष मिलते हैं—कुछ वेदों में ऐतिहासिक घटना मानते हैं और कुछ वेदों में ऐतिहासिक घटना का अभाव मानते हैं। परन्तु, जैन विचारकों ने इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा में दिया। उन्होंने कहा कि त्रैकालिक सत्य की अपेक्षा से द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। क्योंकि त्रैकालिक सत्य सदा एक-सा रहता है। प्रत्येक काल-चक्र में होने वाले प्रत्येक तीर्थंकर भगवान अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का उपदेश स्याद्वाद या अनेकान्त की भाषा में देते हैं। उनके विचारों में सैद्धांतिक एकरूपता रहती है, इस दृष्टि से उनके द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। परन्तु प्रत्येक युग में होने वाले तीर्थंकर उसका उपदेश देते हैं। अतः उपदेष्टा की अपेक्षा से वह सादि-सान्त भी है और वे उपदेष्टा अपने पूर्व में हुए महापुरुषों के तथा अपने युग में होने वाले महापुरुषों के जीवन का उदाहरण देकर त्रैकालिक सत्य को परिपुष्ट करते हैं। इस-

तरह अनादि-अनन्त श्रुत में भी ऐतिहासिक महापुरुषों का उल्लेख होता है। इसमें सब आचार्यों की एक मान्यता है। जैन विचारकों में इस मान्यता के संबन्ध में दो विचार नहीं पाए जाते। अस्तु, इस तरह आचाराङ्ग में भगवान के जीवन का वर्णन उसकी अनन्तता को भी बनाए रखता है।

उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने दो तरह का उपधान माना है—1—द्रव्य उपधान और 2—भाव उपधान। द्रव्य उपधान तकिया है, जिससे शयन के समय आराम मिलता है। परन्तु भाव उपधान तपस्या है। तपस्या के द्वारा जीव को अनन्त शान्ति, अनन्त सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए यह भाव उपधान है। तपस्या से कर्म मैल का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं महोज्ज्वल बनती है और एक दिन सर्व कर्म मल से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लगती है। अतः उपधान से आत्मा का उपधूनन—कर्म गांठ का भेदन होता है। कर्म गांठ का नष्ट होना ही वास्तव में यथार्थ सुख को प्राप्त करना है। अतः इस अध्ययन में भगवान महावीर के तप एवं साधनानिष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। उनकी साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए।

संखाए तंसि हेमन्ते अहुणो पव्वइए रीइत्था॥१॥

छाया— यथा श्रुतं वदिष्यामि, यथा सः श्रमणः भगवान् उत्थाय।

संख्याय तस्मिन् हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः रीयते स्म।

पदार्थ—अहासुयं—यथाश्रुत, अर्थात् आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि जैसे मैंने सुना है। वइस्सामि—मैं वैसे ही कहूंगा। जहा—जैसे। से—वह। समणे भगवं—श्रमण भगवान। उट्ठाए—सम्यक् चारित्र को ग्रहण करके, कर्मों को क्षय करके, और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उद्यत होकर, और। संखाए—तत्त्व को जानकर। तंसि—उस। हेमन्ते—हेमन्त काल में। अहुणो—तत्त्व में। पव्वइए—प्रवर्जित होकर। रीइत्था—विहार किया।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! मैंने जैसे श्रमण भगवान महावीर की विहारचर्या का श्रवण किया है, वैसे ही मैं तुम्हारे प्रति

कहूंगा। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने कर्मों के क्षय करने और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए संयममार्ग में उद्यत होकर, तत्त्व को जानकर उस हेमन्त काल में तत्काल ही दीक्षित होकर विहार किया था।

हिन्दी-विवेचन

आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हे जम्बू! मैं तुम्हें वही श्रुत सुना रहा हूँ, जो मैंने श्रमण भगवान महावीर से सुना है। इसके पश्चात् आठ अध्ययनों में इस प्रतिज्ञा को फिर से नहीं दुहराया गया, परन्तु नौवें अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए इस प्रतिज्ञा का उल्लेख फिर से किया गया है। इसका कारण यह है कि आठ अध्ययन साध्वाचार से संबन्धित थे, इसलिए उनमें बार-बार उक्त प्रतिज्ञा को दुहराने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर की साधना से सम्बद्ध होने से यह शंका हो सकती है कि सूत्रकार ने अपनी ओर से भगवान महावीर की स्तुति की है या उनकी विशेषता को बताने के लिए उक्त अध्ययन का वर्णन किया है। सूत्रकार के द्वारा आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ में की गई प्रतिज्ञा को पुनः दुहराने के बाद भी कुछ लोग प्रस्तुत अध्ययन को भगवान महावीर का गुण कीर्तन ही मानते हैं। उनका कथन है कि यह भगवान महावीर का यथार्थ जीवन-वर्णन नहीं, अपितु गणधरों ने उनके गुणों का वर्णन किया है¹। इस तरह की शंकाओं का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने इस “अहासुयं” प्रतिज्ञा सूत्र का फिर से उल्लेख किया है। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन में यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ। मैंने भगवान महावीर से उनकी संयम साधना के विषय में जैसा सुना है, वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ, अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन भगवान की स्तुति में नहीं, अपितु, भगवान महावीर की साधना का यथार्थ चित्र है। सूत्रकार ने सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में भगवान महावीर का गुण-कीर्तन किया है और उस अध्ययन का नाम है—वीर स्तुति अध्ययन। यदि प्रस्तुत अध्ययन में गणधर ने भगवान की स्तुति की होती तो वे सूत्र कृताङ्ग की तरह यहां भी उल्लेख करते। परन्तु उक्त अध्ययन में

1. अने इहां गणधरां भगवान रा गुण वर्णन कीधा। त्यां गुणां में अवगुणा ने किम कहे। गुणा में तो गुणा ने इज कहे।

सूत्रकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है। वे कहते हैं कि जैसा भगवान महावीर ने अपनी संयम-साधना का वर्णन किया है, वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

भगवान महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड नगर में हुआ था। महाराज सिद्धार्थ उनके पिता एवं महारानी त्रिशला उनकी माता थीं। वे अपने किसी पूर्वभव में आबद्ध तीर्थकर नाम कर्म के कारण इस अवसर्पिणी काल के 24वें तीर्थकर हुए। जन्म के समय ही वे मति, श्रुत एवं अवधि तीन ज्ञान से युक्त थे। वे शरीर से जितने सुन्दर थे, उससे भी अधिक आपका अंतर जीवन दया, करुणा, क्षमा, उदारता एवं वीरता आदि गुणों से परिपूर्ण था। उनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी के साथ हुआ और प्रियदर्शना नामक कन्या का जन्म हुआ, जिसका जमाती के साथ विवाह किया गया। आप संसार में रहते हुए भी संसार से अलिप्त रहते थे। आप गर्भ में की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार माता-पिता के जीवित रहते उनकी सेवा में संलग्न रहे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के सामने दीक्षा लेने का विचार रखा। अभी माता-पिता का वियोग हुआ ही था, अतः वे भाई के विरह की बात को एक दम सह नहीं सके। इसलिए बड़े भाई के अत्यधिक आग्रह के कारण आप दो वर्ष और गृहस्थवास में ठहर गए। इन दो वर्षों में त्याग-निष्ठ जीवन बिताते रहे। फिर एक वर्ष अवशेष रहने पर उन्होंने प्रतिदिन 1 करोड़ 8 लाख सोनैयों का दीन-हीन तथा गरीब जनों को दान देना आरम्भ किया और एक वर्ष तक निरन्तर दान देते रहे।

उसके पश्चात् मार्ग शीर्ष कृष्ण दशमी के दिन, दिन के चतुर्थ पहर में भगवान ने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधु जीवन को स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन के समस्त वस्त्राभूषण आदि को उतार कर एवं पंचमुष्टि लुंचन करके 'करेमि भंते' के पाठ का उच्चारण करके समस्त सावध योगों से निवृत्त होकर साधना जीवन में प्रविष्ट हुए और साधना जीवन में प्रवेश करते ही उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। इस समय इन्द्र ने उन्हें एक देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया, जिसे स्वीकार करके भगवान महावीर ने वहां से कुमार ग्राम की ओर विहार कर दिया और साढ़े बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक मौन साधना एवं घोर तपश्चर्या के द्वारा चार घातिक कर्मों को सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को अपने स्नेही सम्बन्धियों के साथ अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए। इससे अनुराग एवं मोह की जागृति होती है और मोह साधक के जीवन को पतन की ओर ले जाने वाला है। अतः भगवान ने केवल उपदेश देकर ही नहीं, किन्तु स्वयं उनका आचरण करके बताया कि साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट साधक को किस तरह रहना चाहिए।

भगवान महावीर ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र का उपयोग किया और उसे क्यों स्वीकार किया, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते ।

से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स॥२॥

छाया— नो चैवानेन वस्त्रेण, पिधाम्यामि तस्मिन् हेमन्ते ।

स पारगः यवित्कथं, एतत् खलु अनुधार्मिकं तस्य ।

पदार्थ—च—पुनः। एव—अवधारण अर्थ में। इमेण वत्थेण—मैं इस वस्त्र से। तंसि हेमन्ते—उस हेमन्त काल में। नो पिहिस्सामि—अपने शरीर को नहीं ढकूंगा। से—वह भगवान। पारए—प्रतिज्ञा के परिपालक और संसार के पारगामी थे। आवकहाए—जीवन पर्यन्त इसी वृत्ति को धारण करने वाले थे। खु—अवधारणार्थ में हैं। एवं—यह वस्त्र रूप धर्म। अणुधम्मियं—अन्य तीर्थकरों ने ग्रहण किया है—इस कारण से। तस्स—उसी धर्म को भगवान ने ग्रहण किया है।

मूलार्थ—मैं इस वस्त्र से हेमन्त काल में शरीर को ढक लूंगा, इस आशय से भगवान ने वस्त्र ग्रहण नहीं किया। भगवान तो जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा के पालक, परीषह और संसार के पारगामी हैं—किन्तु पूर्ववर्ती तीर्थकरों ने इसे ग्रहण किया है, इसलिए भगवान ने भी स्वीकार किया, अर्थात् पूर्व तीर्थकरों द्वारा आचरित होने से उस इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को भगवान ने ग्रहण किया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि दीक्षा लेते समय स्वीकार किए गए देवदूष्य वस्त्र के सम्बन्ध में भगवान ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं इस वस्त्र का अपने शरीर को ढकने के लिए उपयोग नहीं करूंगा और भगवान ने जीवनपर्यन्त इस प्रतिज्ञा का

पालन किया। वस्त्र स्वीकार करने के प्रायः तीन कारण होते हैं—1—हेमन्त, सर्दी में शीत से बचने के लिए, 2—लज्जा ढकने के लिए और 3—जुगुप्सा को जीतने का सामर्थ्य न हो तो। भगवान ने इन तीनों कारणों से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया था। वे समस्त परीषहों को जीतने में समर्थ थे और सदा परीषहों पर विजय पाते रहे हैं। परीषहों से घबराकर उन्होंने कभी भी वस्त्र का उपयोग नहीं किया। अतः उन्होंने वह वस्त्र अपने उपयोग के लिए स्वीकार नहीं किया। परन्तु पूर्व तीर्थकरों द्वारा आचरित परम्परा को निभाने के लिए या अपने संघ में होने वाले साधु-साधवियों के लिए आचरण का मार्ग स्पष्ट करने के लिए उन्होंने देवदूष्य वस्त्र को स्वीकार करके अपने कन्धे पर रख लिया।

सभी साधकों की बाहरी सहिष्णुता एक समान नहीं होती। सभी साधक महावीर नहीं बन सकते। इसलिए स्थविर कल्प मार्ग की आचार परम्परा को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने वस्त्र ग्रहण किया। क्योंकि साधना का सम्बन्ध आत्मा के विशुद्ध भावों से है, राग-द्वेष को क्षय करने से है। वस्त्र रखने एवं नहीं रखने से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसलिए भगवान महावीर ने न तो वस्त्र रखने का निषेध किया और न वस्त्र त्याग का ही निषेध किया। उन्होंने तीर्थ परम्परा को अनवरत चालू रखने के लिए वस्त्र को ग्रहण किया।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अभिनव धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पूर्व से चले आ रहे धर्म को आगे बढ़ाया। पूर्व के समस्त तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया, जनता को धर्म का यथार्थ मार्ग बताया। इस प्रकार “अणुधम्मियं” पद से स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर ने पूर्व परम्परा के अनुसार आचरण किया। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है और आगम के पाठ के उद्धरण देकर वस्त्र रखने की परम्परा का समर्थन किया है¹।

“अनुधर्मिता” शब्द का अर्थ चूर्णि में गतानुगत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखने की परम्परा का पालन किया। चूर्णि

1. से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहन्ता भगवन्ता जे य पव्वयन्ति जे य पव्वइस्सन्ति ते सोवही धम्मो देसिअव्वो ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसाणु-धम्मिगत्ति एगं दूसमायाए पव्वइसं वा पव्वयंति वा पव्वइस्संति वा।

में इसका एक दूसरा अर्थ 'अनुकालधम्म' भी दिया गया है और उसका अभिप्राय यह बताया गया है कि तीर्थकरों को भविष्य में सोपधिक—वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना पड़ता है।

अनुधर्मिता शब्द का प्रयोग संस्कृत कोश में नहीं मिलता, किन्तु पालिकोश को देखने से ज्ञात होता है कि पालि में यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप से मिलता है। कोश में इसका अर्थ—Lawfulness (धर्म सम्मतता), Conformity of Dhamma (धर्म के अनुरूप) किया गया है। पालि में 'अनुधम्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उसका भी Conformity or accordance with the Law (नियम के अनुसार), Lawfulness (धर्म सम्मतता) Truth (सच्चाई) अर्थ किया गया है। पालि में 'धम्मामुम्म' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उसका अर्थ है—मुख्य-गौण सभी प्रकार का धर्म। इन शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थों पर ध्यान दिया जाए तो 'अनुधर्मिता' का अर्थ होता है कि भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। अस्तु, चूर्णिकार एवं टीकाकार ने भी जो अर्थ किया है, वह भी असंगत नहीं है। क्योंकि अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म कौन सा? तब उत्तर यही मिलता है—'जो पूर्व में आचरण का विषय बना हो।' अतः वह केवल धर्म नहीं, बल्कि अनुधर्म-परम्परा से प्रवहमान धर्म है। चूर्णिकार का 'अनुकाल धर्म' भी सामर्थ्य लब्ध अर्थ माना जा सकता है। जैसा उन्होंने स्वयं आचरण किया, वैसा आचरण दूसरे साधु भी करें। इस अपेक्षा से 'अनुकाल धर्म' भी असंगत नहीं कहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर ने अपने उपयोग के लिए या उस से शीत आदि का निवारण करने की भावना से वस्त्र को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि दीक्षा लेते ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा धारण कर ली थी कि मैं इस वस्त्र का हेमन्त में उपयोग नहीं करूंगा, अर्थात् सर्दी के परीषह से निवृत्त होने के लिए इससे अपने शरीर को आवृत नहीं करूंगा।

दीक्षा लेने के पूर्व भगवान के शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों की मालिश एवं लेपन किया गया था। उस सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर आदि जन्तु आकर भगवान को कष्ट देने लगे। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया अभिगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहिरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिसु॥३॥

छाया— चतुरः समधिकान् मासान्, बहवः प्राणिजातयः समागत्य ।
आरुह्य कायं विजहुः, आरुह्य तत्र हिंसन्तिस्म॥

पदार्थ—चत्तारि मासे—चार महीनों से । साहिए—अधिक । बहवे पाणजाइया—
अनेक जातियों के प्राणी । आभिगम्म—आ कर के । अभिरुज्झ कायं—शरीर पर
बैठ कर । विहिरिंसु—रहने लगे तथा । आरुसिया—मांस एवं रुधिर का आस्वादन
करने के लिए शरीर पर चढ़ कर । तत्थ—वहां उस शरीर की । हिंसिसु—हिंसा करने
लगे, मांस-खून आदि चखने लगे, भगवान के शरीर पर डंक मारने लगे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर के शरीर एवं देवदूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास
से आकर्षित होकर बहुत-सी जातियों के प्राणी उनके शरीर पर बैठने एवं रहने लगे
और करीबन साढ़े चार महीने तक उनके शरीर पर डंक मारते रहे ।

हिन्दी-विवेचन

दीक्षा के पूर्व भगवान को सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान कराया गया
था और उनके शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ लगाए थे । उन पदार्थों एवं
देव-दूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर भ्रमर, मधु-मक्खी आदि
अनेक प्राणी उनके शरीर पर बैठने लगे और सुवास का आनन्द लेने के साथ-साथ
भगवान के शरीर पर डंक भी मारने लगे । कुछ प्राणियों ने तो भगवान के शरीर को
ही आवास-स्थान बना लिया । इतना कष्ट होने पर भी भगवान उन्हें हटाते नहीं थे ।
वे शारीरिक चिन्तन से ऊपर उठकर केवल आत्मचिन्तन में संलग्न रहते थे ।

भगवान महावीर की साधना प्रत्येकबुद्ध साधक की विशिष्ट साधना है । सामान्य
साधक अपने शरीर पर बैठने वाले मच्छर आदि जन्तुओं को यतना पूर्वक हटा भी
देता है । वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर का बचाव करते हुए दूसरे
के शरीर का नाश न हो । इसलिए साधक प्रमार्जनी के द्वारा धीरे-से उस प्राणी को
बिना आघात पहुंचाए अपने शरीर से दूर कर देता है । परन्तु, विशिष्ट साधक उन्हें
हटाने का प्रयत्न नहीं करते । वे अपने मन में उनको दूर करने की कल्पना तक नहीं

करते, क्योंकि वे शरीर पर से अपना ध्यान हटा चुके हैं। उनका चिन्तन केवल आत्मा की ओर लगा हुआ है। इसलिए उन्हें यह अनुभूति ही नहीं होती कि उनके शरीर पर क्या-कुछ हो रहा है। इस तरह भगवान महावीर ने साढ़े चार महीने तक जन्तुओं के परीषहों को समभावपूर्वक सहन किया।

ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न प्रत्येक साधक के लिए यह बताया गया है कि उस समय वह शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्मभाव में स्थित रहे। ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काय (शरीर) का त्याग कर देना। यहां शरीर त्याग का अर्थ—मर जाना नहीं, किन्तु शरीर से अपना ध्यान हटा लेना होता है। उस समय कोई भी जीव-जन्तु उसके शरीर पर डंक भी मारे, तब भी वह साधक अपनी साधना से विचलित न होते हुए और उस प्राणी को न हटाते हुए समभाव पूर्वक अपनी साधना एवं चिन्तन वृत्ति में संलग्न रहे। इस प्रकार की आत्मसाधना से कर्मों का क्षय होता है। भगवान महावीर ने यह साधना केवल ध्यान के समय ही नहीं, अपितु सदा-सर्वदा चालू रखी।

वह देवदूष्य वस्त्र भगवान के पास कब तक रहा, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— संवच्छरं साहियं मासं, जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।

अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे॥४॥

छाया— सम्वत्सरं साधिकं मासं यन्न त्यक्तवान् वस्त्रं भगवान्।

अचेलकः ततः त्यागी, तत् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः॥

पदार्थ—भगवं—भगवान ने। संवच्छरं—एक वर्ष। साहियं मासं—एक मास अधिक अर्थात् 13 महीने तक। जं—जिस। वत्थगं—वस्त्र को। न रिक्कासि—नहीं छोड़ा। तओ—तत्पश्चात्। चाइ—वस्त्र के त्यागी हुए। तं—उसे। वोसिज्ज—छोड़ कर। अणगारे—अनगार-भगवान। अचेलए—अचेलक हुए।

मूलार्थ—भगवान 13 महीने तक वस्त्र को धारण किए हुए रहे, तत्पश्चात् वस्त्र को छोड़कर वे अचेलक हो गए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र भगवान के पास 13 महीने तक रहा। उसके पश्चात् भगवान ने उसका त्याग कर दिया और वे सदा के लिए अचेलक हो गए। सभी तीर्थकरों की यही मर्यादा है कि वे देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी वस्त्र को स्वीकार नहीं करते। उसका त्याग करने के बाद वे अचेलक ही रहते हैं। भगवान महावीर ने भी उसी परम्परा का अनुसरण किया।

इस गाथा में 'चाइ' और 'वोसिज्ज' दो पद दिए हैं। पहले पद का अर्थ है त्याग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि त्याग करने पर ही त्यागी होता है और साधक अपनी साधना का विकास करने के लिए या विशिष्ट साधना के लिए सदा कुछ-न-कुछ त्याग करता ही है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ उसकी साधना को दूषित करने वाला है, इसलिए वह उसका त्याग करता है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि विशिष्ट साधना के लिए साधक उसका त्याग करता है। जैसे तपश्चर्या की साधना करने वाला साधक आहार-पानी का त्याग कर देता है। इससे यह समझना गलत एवं भ्रान्त होगा कि आहार संयम का बाधक है। अस्तु, वह संयम पालन के लिए आहार का त्याग नहीं करना, अपितु, तप-साधना के लिए आहार का परित्याग करता है। इसी तरह निःस्पृह भाव से वस्त्र रखते हुए भी शुद्ध संयम का पालन हो सकता है। फिर भी कुछ विशिष्ट साधक विशिष्ट साधना या शीत-ताप एवं दंशमशक आदि परीषहों को सहन करने रूप तप की विशिष्ट साधना के लिए वस्त्र का त्याग करते हैं, जैसा कि भगवान महावीर ने किया था।

भगवान ने वस्त्र का कैसे परित्याग किया, इसका विस्तृत विवेचन कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका में किया गया है। यहां वृत्तिकार ने इतना ही बताया है कि एक बार भगवान सुवर्ण बालुका नदी के किनारे चल रहे थे। उस समय उसके प्रवाह में बहकर आए हुए कांटों में फंसकर वह वस्त्र उनके कन्धे पर से गिर गया भगवान ने उसे उठाने का प्रयत्न नहीं किया। वे उसे वहीं छोड़कर आगे बढ़ गए और एक व्यक्ति ने उस वस्त्र को उठा लिया¹।

1. तच्च सुवर्णबालुकानदी पूराहतकण्टकावलग्नं धिगूजातिना गृहीतमिति।

अब भगवान के विहार का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो ज्ञायइ ।
अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिसु॥५॥

छाया—अथ पौरुषीं तिर्यग्भित्तिं, चक्षुरासाद्य अन्तःध्यायति ।

अथ चक्षुर्भीताः संहिता, यो हत्वा हत्वा बहवः चक्रदुः॥

पदार्थ—अदु—आनन्तर्य अर्थ में है। पोरिसिं—पुरुष परिमाण। तिरियं भित्तिं—ऊर्ध्व शकटवत् अर्थात् पीछे से संक्षेप और आगे से विस्तार वाली धुरी की तरह। चक्खुमासज्ज—दृष्टि को आगे रखकर अर्थात् देखकर। अन्तसो—वे अपने मन को। ज्ञायइ—ईर्या-समिति में लगाते हुए चलते हैं। अह—अथ। चक्खुभीया—उस समय उनके दर्शन से डरे हुए। ते—वे। संहिया—बहुत-से बालक मिलकर। हन्ता हन्ता—धूल से भरी हुई मुष्टि को मारते हुए। बहवे—बहुत-से बालक। कंदिसु—कोलाहल करते हैं।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, पुरुष प्रमाण आगे के मार्ग को देखते हुए, अर्थात् रथ की धुरी प्रमाण भूमि को देख कर ईर्यासमिति में ध्यान देकर चलते हैं। उनको चलते हुए देख कर उनके दर्शन से डरे हुए बहुत-से बालक इकट्ठे होकर भगवान पर धूल फेंकते हैं और वे अन्य बालकों को बुलाकर कहते हैं कि देखो देखो! मुंडित कौन है? वे इस प्रकार कोलाहल करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

साधना का जीवन निवृत्ति का जीवन है, परन्तु शरीरयुक्त प्राणी सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता। उसे आवश्यक कार्यों के लिए कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति करनी होती है। इसलिए साधना के क्षेत्र में भी निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। अतः निवृत्ति की तरह साधना में सहायक प्रवृत्ति भी धर्म है। फिर भी दोनों में अंतर इतना ही है कि निवृत्ति उत्सर्ग है और प्रवृत्ति अपवाद है। या यों कहिए कि निवृत्ति के लिए सदा-सर्वदा आज्ञा है, साधक प्रतिसमय निवृत्ति कर सकता है, परन्तु प्रवृत्ति के लिए यह बन्धन है कि आवश्यक या अनिवार्य कार्य होने पर ही उसका उपयोग किया जाए। जैसे मौन रखने के लिए सदा आज्ञा है, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है।

परन्तु, बोलने के लिए ध्रुव आज्ञा नहीं है। उसके लिए यह विधान है कि बोलने की आवश्यकता होने पर ही साधु निर्दोष एवं मर्यादित भाषा का प्रयोग करे।

इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के लिए समिति और गुप्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। समिति प्रवृत्ति की प्रतीक है और गुप्ति निवृत्ति परक जीवन की संसूचक है। प्रत्येक साधक की साधना समिति एवं गुप्ति से युक्त होती है। भगवान महावीर भी समिति-गुप्ति से युक्त थे। वे जब भी चलते थे, तब ईर्यासमिति के साथ चलते थे। वे अपनी दृष्टि को, अपने योगों को सब ओर से हटाकर मार्ग पर संगृहीत कर लेते थे। इससे रास्ते में आने वाले किसी भी जीव की विराधना नहीं होती थी। वे रास्ते में आने वाले प्रत्येक प्राणी को बचाकर अपना मार्ग तय कर लेते थे। यदि दृष्टि में एकाग्रता न हो तो रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा से बच सकना कठिन है। इसलिए यह नियम बना दिया गया कि साधक को अपनी दृष्टि एवं अपने योगों को एकाग्र करके विवेक पूर्वक चलना चाहिए। भगवान महावीर ने इसका स्वयं आचरण करके बताया कि साधक को किस प्रकार चलना चाहिए। भगवान महावीर केवल उपदेष्टा नहीं थे। इसलिए उन्होंने उपदेश देने से पहले स्वयं आचरण करके साधना के मार्ग को बताया।

भगवान महावीर को पथ से गुजरते हुए देखकर बहुत-से बालक डरकर कोलाहल मचाते और अन्य बालकों को बुलाकर भगवान पर धूल फेंकते तथा हो-हल्ला मचाते। इससे भगवान का कुछ नहीं बिगड़ता। वे उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। वे समभावपूर्वक अपने पथ पर चलते रहते। इस तरह सब परीषहों को सहते हुए भगवान ईर्या समिति पूर्वक विचरते थे।

पहले महाव्रत—अहिंसा का वर्णन करके अब सूत्रकार चौथे महाव्रत के विषय में कहते हैं—

मूलम्— सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय।

सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ॥6॥

छाया— शयनेषु व्यतिमिश्रेषु, स्त्रियः तत्र सः परिज्ञाय।

सागारिकं न सेवेत, स स्वयं प्रवेश्य ध्यायति॥

पदार्थ—वितिभिस्सेहिं—गृहस्थ और अन्य दर्शनियों से मिश्रित। सयणेहिं—जो बस्तियां हैं। तत्थ—वहां पर। इत्थिओ—स्त्रियों से प्रार्थित किए गए। से—वे श्रमण भगवान महावीर। परिन्नाय—मैथुन क्रीड़ा के परिणाम को जानकर। सागारियं—मैथुन क्रीड़ा का। न सेवेइ—सेवन नहीं करते थे। य—पुनः। से—वे। सयं—स्वयं—अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग में। पवेसिया—प्रविष्ट होकर। झाइ—धर्म वा शुक्ल ध्यान में निमग्न रहते थे।

मूलार्थ—यदि गृहस्थों एवं जैनेतर सन्तों से मिश्रित बस्तियों में ठहरे हुए भगवान को वहां स्थित देखकर स्त्रियां विषय-भोग के लिए प्रार्थना करतीं तो वे मैथुन के परिणाम को जानकर उसका सेवन नहीं करते थे। वे स्वयं अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग में प्रवेश करके सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान में ही संलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। वे प्रायः गांव के बाहर या जंगल में ही ठहरते थे। फिर भी इधर-उधर से गुजरते समय उनके रूप-सौंदर्य को देखकर कुछ कामातुर स्त्रियां उनके पास पहुंचकर भोग भोगने की इच्छा प्रकट करती थीं। वे अनेक तरह के हाव-भाव प्रदर्शित करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती थीं, परन्तु भगवान उस ओर ध्यान ही नहीं देते थे। क्योंकि वे विषय-वासना के विषाक्त परिणामों से परिचित थे। वे जानते थे कि ये भोग ऊपर से मधुर प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका परिणाम बहुत भयावना होता है। जैसे किंफाक फल देखने में सुन्दर लगता है, उसकी सुवास भी बड़ी सुहावनी होती है, उसका स्वाद भी मधुर होता है और उसका उपयोग करने वाले व्यक्ति को भी वह बड़ा प्रिय लगता है, परन्तु, खाने के बाद जब उसका असर होता है, तो मनुष्य निर्जीव हो जाता है। इस तरह रूप आदि में सुन्दर प्रतीत होने वाला वह फल परिणाम की दृष्टि से भयंकर है, उसी प्रकार काम-भोग बाहर से सुखद प्रतीत होने पर भी परिणाम की दृष्टि से दुःखद ही हैं। वे अनेक रोगों के जन्मदाता हैं, शारीरिक शक्ति का हास करने वाले हैं और आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए भगवान ने न तो उनकी ओर आंख उठाकर देखा और न उनकी

बातों पर ही ध्यान दिया। वे सदा-सर्वदा समभावपूर्वक अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाइ।

पुट्ठोवि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजु॥७॥

छाया— ये केचन इमे अगारत्था मिश्रीभावप्रहाय स ध्यायति।

पृष्टोऽपि नभ्यभाषत, गच्छति नातिवर्तते ऋजुः॥

पदार्थ—जे—यदि। के—कभी भगवान। अगारत्था—गृहस्थों से युक्त मकान में ठहरते थे। तब से वे। इमे—इन। मीसी भावं—मिसीभाव को। पहाय—छोड़कर। झाइ—धर्म ध्यान ध्याते थे अतः। पुट्ठोवि—वे पूछने या न पूछने पर भी। नाभिभासिंसु—नहीं बोलते थे। वे सदा मोक्ष मार्ग की साधना के लिए ही। गच्छइ—गमन करते थे। नाइवत्तइ—वे किसी के कहने पर भी मोक्ष मार्ग का त्याग नहीं करते थे। अंजु—इसलिए वे ऋजु—सरल थे।

मूलार्थ—गृहस्थों से मिश्रित स्थान को प्राप्त होने पर भी भगवान मिश्रभाव को छोड़कर धर्म-ध्यान में ही रहते थे। गृहस्थों के पूछने या न पूछने पर भी वे नहीं बोलते थे। अपने कार्य की सिद्धि के लिए गमन करते थे और किसी के कहने पर भी मोक्षमार्ग या आत्मचिन्तन का त्याग नहीं करते थे अथवा ऋजु परिणामी भगवान संयममार्ग में विचरते रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर प्रायः जंगल में या गांव के बाहर शून्य स्थानों में ठहरते थे। कभी वे परिस्थितिवश गृहस्थों से युक्त स्थान में अथवा शहर या गांव के बीच भी ठहर जाते थे, परन्तु ऐसे स्थानों में भी वे उनके संपर्क से दूर रहते थे। वे अपने आत्म-चिन्तन में इतने संलग्न थे कि उनका मन गृहस्थों की ओर जाता ही नहीं था। यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुलाने का प्रयत्न करता, उनसे कुछ पूछना चाहता तो भी वे नहीं बोलते थे। न उनकी बातों को सुनते थे और न उनका कोई उत्तर ही देते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थों के शब्द उनके कर्ण-कुहरो में प्रविष्ट ही नहीं होते

थे। शब्द तो उनके कानों में पड़ते थे, परन्तु उन्हें ग्रहण करने वाला मन या चित्तवृत्ति आत्मचिन्तन में लगी हुई थी। इसलिए उन्हें उनकी अनुभूति ही नहीं होती थी। क्योंकि मन जब तक किसी विषय को ग्रहण नहीं करता, तब तक केवल इन्द्रियां उसे पकड़ नहीं सकतीं।

भरत चक्रवर्ती के समय की बात है कि उसने सुनार के मन में स्थित संदेह—“भरत चक्रवर्ती मेरे से अल्प परिग्रही कैसे हैं?” को दूर करने के लिए उसे एक तेल का कटोरा भरकर दिया और सुसज्जित बाजार का चक्कर लगाकर आने का आदेश दिया। साथ में यह भी सूचित कर दिया गया कि इस कटोरे से एक भी बूंद नीचे नहीं गिरनी चाहिए। यदि तेल की एक बूंद भी गिर गयी तो यह साथ में जाने वाले सिपाही ही तुम्हारे भस्तक को धड़ से अलग कर देंगे। वह पूरे बाजार में घूम आया। बाजार खूब सजाया हुआ था। स्थान-स्थान पर नृत्य-गान हो रहे थे, परन्तु, वह जैसा गया था, वैसा ही वापस लौट आया। जब भरत ने पूछा कि तुमने बाजार में क्या देखा? तुम्हें कौन-सा नृत्य या गायन पसन्द आया? तो उसने कहा महाराज, मैंने बाजार में कुछ नहीं देखा और कुछ नहीं सुना। यह नितान्त सत्य है कि मेरी आंख खुली थी और कानों के द्वार भी खुले थे। नृत्य एवं गायन की ध्वनि कानों में पड़ती थी और दृष्टि पदार्थों पर गिरती थी, परन्तु मेरा मन, मेरी चित्तवृत्ति तेल से भरे कटोरे में ही केन्द्रित थी। इसलिए उस ध्वनि को मेरा मन पकड़ नहीं पाया। जैसे समुद्र की लहरें किनारे से टकराकर पुनः समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह वह ध्वनि कर्णकुहरों से टकराकर पुनः लोक में फैल जाती थी।

भरत ने उसे समझाया कि तेरी और मेरी चित्तवृत्ति में यही अंतर है। तुम्हारा मन भय के कारण अपने आप में केन्द्रित था, परन्तु मेरा मन बिना किसी भय एवं आकांक्षा के अपनी आत्मा में केन्द्रित है। मैं संसार में रहते हुए भी संसार से अलग अपनी आत्मा में स्थित होने के लिए प्रयत्नशील हूं। सदा आत्मा को सामने रख कर ही कार्य करता हूं। इसलिए भगवान् ऋषभदेव ने मुझे तुमसे अल्प परिग्रही बताया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों के साथ मन, चित्तवृत्ति या परिणाम की धारा जुड़ी हुई होती है, तभी हम किसी विषय को ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब मन

आत्मा के साथ संलग्न होता है, तो हजारों विषयों के सामने आने पर भी हमें उनकी अनुभूति नहीं होती। अस्तु, मन एवं परिणामों की धारा को विषयों के चिन्तन से रोकने के लिए आत्म-चिन्तन महत्त्वपूर्ण साधन है। भगवान महावीर का मन अपनी आत्मा में इतना संलग्न था कि गृहस्थों की बातों का उनपर कोई असर नहीं होता था। वे उनके किसी भी प्रश्न का उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं देते थे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका चिन्तन जंगल एवं शहर में समान रूप से चलता था। किसी भी तरह के बाह्य वातावरण का उनके मन पर असर नहीं होता था। इस तरह वे गृहस्थों के मध्य में रहते हुए भी मौन रहते थे और सदा आत्मचिन्तन में संलग्न रहते थे।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— णो सुकरमेयमेगेसिं, नाभिभासे य अभिवायमाणे ।

हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अपुण्णेहिं॥४॥

छाया—नोसुकरमे तदेकेषां, नाभिभाषते च अभिवादयतः ।

हतपूर्वः तत्र दण्डैः लूषितपूर्व अपुण्यैः॥

पदार्थ—तत्थ—उस अनार्य देश में। **अपुण्णेहिं—**पुण्यहीन अनार्य मनुष्य। **दण्डेहिं—**दंडों से। **हयपुव्वे—**पहले घायल करते। **लूसिय पुव्वे—**बालों को खींच कर या अन्य तरह उन्हें कष्ट देते, फिर भी भगवान महावीर। **अभिवायमाणे नाभिभासे—**अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उससे बात नहीं करते। **य—**और जो व्यक्ति अभिवादन नहीं करता, उस पर क्रोध नहीं करते, इसलिए। **एयं—**यह भगवान की साधना। **एगेसिं—**कई एक व्यक्तियों के लिए। **णो सुकरं—**सुगम नहीं थी।

मूलार्थ—जब भगवान महावीर अनार्य देश में विहार कर रहे थे, उस समय पुण्यहीन अनार्य व्यक्तियों ने भगवान को डंडों से मारा-पीटा एवं उन्हें विविध कष्ट दिए; फिर भी वे अपनी साधना में संलग्न रहे। वे अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर न तो उससे बात करते थे और न तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर क्रोध ही करते थे। वे मान एवं अपमान को समभाव पूर्वक सहन करते थे। अतः प्रस्तुत अध्ययन में उल्लिखित भगवान महावीर की साधना जनसाधारण के लिए

सुगम नहीं थी, अर्थात् सामान्य साधक इतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर सकता था।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया है कि भगवान सदा सभी प्राणियों पर समभाव रखते थे। उनका किसी भी प्राणी के प्रति रागद्वेष नहीं था। वे न तो किसी के वन्दन-अभिवादन आदि से प्रसन्न होते थे और न किसी के द्वारा मान-सम्मान या वन्दन न मिलने पर उस पर क्रुद्ध ही होते थे।

जब भगवान अनार्य देश में गए तो वहां के लोग भगवान की साधना से परिचित नहीं थे। वे धर्म के मर्म को नहीं जानते थे। अतः वे भगवान का मखौल उड़ाते, उन्हें गालियाँ देते, उनके शरीर पर डंडों से प्रहार करते और उनके ऊपर शिकारी कुत्तों को छोड़ देते थे। इस तरह वे अबोध प्राणी भगवान को घोर कष्ट देते। फिर भी भगवान महावीर उन पर कभी क्रोध नहीं करते। वे समभावपूर्वक समस्त परीषहों को सहते हुए विचरण करते थे।

यह स्पष्ट है कि कृतकर्म कभी भी निष्फल नहीं जाते, चाहे तीर्थकर हो, साधु हो, या और कोई भी व्यक्ति क्यों न हो; अपने किए हुए कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यह बात अवश्य है कि कुछ महापुरुष उस फल को संभावपूर्वक सहन कर लेते हैं और कुछ व्यक्ति हाय-हाय करके उसका वेदन करते हैं। जो व्यक्ति समभावपूर्वक पूर्व कर्मों का फल भोग लेता है, वह समभाव की साधना से नए कर्मों के आगमन को रोक लेता है और पुरातन कर्म को क्षय करके पथ पर बढ़ जाता है और जो आर्त-रौद्र ध्यान करता हुआ कृत कर्म के फल का संवेदन करता है, वह नए कर्मों का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है। भगवान महावीर इस बात को भली-भांति जानते थे। अतः वे परीषहों को अपने कृतकर्म का फल समझकर समभाव पूर्वक भोगते रहे।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान महावीर के कर्म इस कालचक्र में हुए सब तीर्थकरों से अधिक थे, 23 तीर्थकरों के कर्मों का समूह और भगवान महावीर का कर्मसमूह प्रायः बराबर था। अतः उसे क्षय करने के लिए भगवान महावीर ने कठोर तप एवं अनार्य देश में विहार किया। अनार्य देश के लोग धर्म एवं साधु-जीवन से

अपरिचित होने के कारण उन्हें अधिक परीषह उत्पन्न होते थे और उनको समभाव पूर्वक सहन करने से कर्मों की अधिक निर्जरा होती थी। अस्तु, आबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए भगवान अनार्य देश में पधारे और वहां उन्होंने समभाव से अनेक कष्टों को सहन किया, परन्तु किसी भी व्यक्ति पर क्रोध एवं द्वेष नहीं किया। भगवान महावीर की यह उत्कृष्ट साधना सब के लिए सुगम नहीं है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— फरुसाइं दुतितिक्खाइं, अइअच्च मुणी परक्कममाणे ।

अघायनइग्गीयाइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥9॥

छाया— परुषाणि दुस्तितिक्षाणि, अतिगत्य मुनिः पराक्रममाणः ।

आख्यात नृत्यगीतानि, दण्ड युद्धानि मुष्टि युद्धानि ।

पदार्थ—अघाय—अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए। दुतितिक्खाइं—अत्यन्त तीक्ष्ण एवं असहनीय। फरुसाइं—कठोर वचनों को। अइअच्च—सुनकर भी उन पर ध्यान नहीं देते हुए। मुणी—भगवान महावीर। परक्कममाणे—उन्हें सहन करने का पुरुषार्थ करते थे, और वे। नइग्गीयाइं—नृत्य एवं गीतों को देखते एवं सुनते नहीं थे। दंड जुद्धाइं—दंड युद्ध एवं। मुट्ठि जुद्धाइं—मुष्टि-युद्ध को देखकर विस्मित नहीं होते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर अनार्य पुरुषों के द्वारा कथित कठोर एवं असह्य शब्द-प्रहारों से प्रतिहत न होकर, उन शब्दों को समभावपूर्वक सहन करने का प्रयत्न करते थे और प्रेमपूर्वक गाए गए गीतों एवं नृत्य की ओर ध्यान ही नहीं देते थे और न दंड-युद्ध एवं मुष्टि-युद्ध को देखकर विस्मित ही होते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधक के लिए आत्मचिन्तन के अतिरिक्त सब बाह्य कार्य गौण होते हैं। वह अपनी निन्दा एवं स्तुति से ऊपर उठकर आत्मसाधना में संलग्न रहता है। भगवान महावीर भी सदा अपनी साधना में संलग्न रहते थे। कोई उन्हें कठोर शब्द कहता, कोई गालियां देता, तब भी वे उस पर क्रोध नहीं करते थे। वे उसे समभावपूर्वक सह लेते थे। इसी तरह कोई उनकी प्रशंसा करता या कहीं नृत्य-गान होता या मुष्टि एवं

द्वन्द्व-युद्ध होता तो भी भगवान उस ओर ध्यान नहीं देते थे। क्योंकि, इससे राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है और राग-द्वेष से कर्मबन्धन होता है। अतः भगवान समस्त प्रिय-अप्रिय विषयों की ओर ध्यान नहीं देते हुए तथा अनुकूल व प्रतिकूल सभी परीषहों को समभावपूर्वक सहते हुए आत्म-साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— गढिए मिहुकहासु समयंमि, नायसुए विसोगे अदक्खु ।

एयाइ से उरालाईं गच्छइ, नायपुत्ते असरणयाए॥10॥

छाया— ग्रथितः मिथः कथासु समये ज्ञातपुत्रः विशोकः अद्राक्षीत् ।

एतानि स उरालानि, गच्छति, ज्ञातपुत्रः अशरणाया॥

पदार्थ—समयंमि—उस समय। **नायसुए—**ज्ञातपुत्र—भगवान महावीर। **गढिए मिहुकहासु—**लोगों को विषय-विकार से युक्त कथाएं करते हुए देखकर भी भगवान। **विसोगे—**हर्ष एवं शोक से रहित होकर। **अदक्खु—**उन्हें देखते थे, और। **से—**वह। **नायपुत्ते—**भगवान महावीर। **एयाइ उरालाईं—**इन अनुकूल एवं प्रतिकूल उत्कृष्ट परीषहों को सहन करते हुए। **असरणयाए—**दुःखों का स्मरण न करते हुए या दुःखों से घबरा कर दूसरे की शरण न लेते हुए। **गच्छइ—**संयम मार्ग पर विचरण करते थे।

मूलार्थ—जहां कहीं लोग शृङ्गार रस युक्त कथाएं करते थे या स्त्रियां परस्पर कामोत्पादक कथाओं में प्रवृत्त होतीं, तो उन्हें देखकर भगवान महावीर के मन में हर्ष एवं शोक उत्पन्न नहीं होता था। अनुकूल एवं प्रतिकूल कैसा भी उत्कृष्ट परीषह उत्पन्न हो, किन्तु फिर भी वे दीनभाव से या दुःखित होकर किसी की शरण स्वीकार नहीं करते थे, अपितु समभावपूर्वक संयम-साधना में संलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर के सामने कई तरह के प्रसंग आते थे। वे जब कभी भी शहर या गांव के मध्य में ठहरते तो वहां स्त्री-पुरुषों की पारस्परिक कामोत्तेजक बातें भी होती थीं, परन्तु भगवान उनकी बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। वे विषय-विकार बढ़ाने वाली बातों को सुनकर न तो हर्षित होते थे और न विषयों के अभावं का

अनुभव करके दुःखित ही होते थे। वे हर्ष और शोक से सर्वथा रहित होकर आत्म-साधना में संलग्न रहते थे। क्योंकि वे भली-भांति जानते थे कि विषय-वासना मोह का कारण है और मोह समस्त कर्मों में प्रबल है, वह सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश सुगमता से किया जा सकता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता को प्राप्त करने वाले महापुरुष सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय करते हैं, उसके बाद शेष तीन घातिक कर्मों का नाश करते हैं। अतः भगवान महावीर विषय-विकारों को मोह बढ़ाने का कारण समझकर उनमें रस नहीं लेते थे। वे उस समय भी अपनी आत्म-साधना में ही संलग्न रहते थे।

भगवान की निःस्पृहता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि साहिये दुवे वासे सीओदं अभोच्चा निक्खंते ।

एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नाय दंसणे संतेण॥11॥

छाया—अपि साधिके द्वे वर्षे, शीतोदकमभुक्त्वा निष्क्रान्तः ।

एकत्वगतः पिहितार्चः सः अभिज्ञातदर्शनः शान्तः॥

पदार्थ—अवि—अपि—संभावनार्थक है। साहिये दुवे वासे—दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक। सीओदं—शीतोदक—सचित्त पानी। अभोच्चा—पीए बिना। निक्खंते—दीक्षित हुए। एगत्तगए—जिन्होंने एकत्व भावना से अपने अन्तःकरण को भावित किया। पिहियच्चे—क्रोध की ज्वाला को शान्त कर लिया। से—वह। अहिन्नायदंसणे—ज्ञान दर्शन से युक्त भगवान महावीर। संते—इन्द्रिय और नोइन्द्रिय मन को दमन करने के कारण शान्तचित्तवाले भगवान विचरते थे।

मूलार्थ—दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहस्थ जीवन में रहते हुए सचित्त जल को पीए बिना दीक्षित हुए थे और जिन्होंने एकत्व भावना में संलग्न रहते हुए क्रोध की ज्वाला को शान्त किया था, ऐसे ज्ञान दर्शन से युक्त, शुद्ध अन्तःकरण वाले और शान्तचित्तवाले भगवान महावीर विचरते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का जीवन सदा से त्यागनिष्ठ जीवन रहा है। जब वे गर्भ में आए, तब उन्होंने सोचा कि हाथ-पैर आदि के संचरण से माता को पीड़ा होगी।

इसलिए अंगोपांगों को संकोच कर वे स्थिर हो गए। इससे माता को गर्भ के मरने या गलने या गिरने का संदेह हो गया और सुख के स्थान में दुःख की वेदना बढ़ गई। इस बात को जानकर भगवान ने पुनः अपने शरीर का संचरण आरम्भ कर दिया। सारे घर में खुशी एवं आनन्द का वातावरण छा गया। उस समय भगवान ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा नहीं लूंगा। इस कारण भगवान ने 28 वर्ष तक दीक्षा की बात नहीं की। 28 वर्ष की अवस्था में माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता से दीक्षा की आज्ञा मांगी तो उन्होंने उन्हें कुछ समय तक और ठहरने का आग्रह किया। भाई की बात को मानकर आप दो वर्ष और ठहर गए। परन्तु उन्होंने ये दो वर्ष अपनी साधना में ही बिताए। इन दिनों में सचित्त (सजीव अर्थात् कुएं, तालाब, नदी, वर्षा आदि के) पानी को नहीं पिया।

वे सदा एकत्व भावना में संलग्न रहते थे। इससे आत्मा के साथ संबद्ध राग-द्वेष आदि विकारों की द्वैतता के क्षय करने में प्रबल सहायता मिलती है और साधना में तेजस्विता आती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन के कारण ही वे परीषद्‌हों को सहन करने में सक्षम बने। क्योंकि, वे आत्मा के अतिरिक्त समस्त साधनों को क्षणिक, नाशवान एवं संसार में परिभ्रमण कराने वाले समझते थे। इस कारण भगवान सब साधनों से अलग होकर अपने एकत्व के चिन्तन में ही संलग्न रहते थे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'पिहियच्चे' का अर्थ है—जिसने क्रोध रूप ज्वाला को शान्त कर दिया है या जिसका शरीर गुप्त है—वस्त्र के अभाव में भी जो नग्न दिखाई नहीं देते हैं। इससे भगवान की निःस्पृहता स्पष्ट होती है। उन्होंने केवल वस्त्र आदि का ही त्याग नहीं किया था, अपितु क्रोध आदि कषायों से भी वे सर्वथा निवृत्त हो चुके थे। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उनके मन में क्रोध की, प्रतिशोध लेने की भावना नहीं जगती थी। वे शान्त भाव से सदा आत्मशोधन में संलग्न रहते थे।

उनके त्यागनिष्ठ जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वाउकायं च।

पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं सब्वसो नच्चा॥12॥

छाया— पृथिवीं च अप्कायं च, तेजस्कायं च, वायुकायं च ।

पनकानि बीजहरितानि, त्रसकायं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—पुढविं—भगवान महावीर पृथ्वी काय । आउकायं च—अप्काय । तेउकायं च—तेजस्काय । वाउकायं च—वायुकाय । पणगाईं—निगोद—शैवाल के जीव आदि । बीय हरियाईं—बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एवं । तसकायं च—त्रसकाय को । सव्वसो—सर्व प्रकार से । नच्चा—जानकर इस सब कायों की यतना करते हुए विचरते थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय पनक—निगोद, बीज, हरी वनस्पति एवं त्रसकाय के जीवों को सर्व प्रकार से जानकर इन सब कायों की रक्षा करते हुए विचरते थे ।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर की साधना प्राणिजगत के हित के लिए थी । आगम में बताया गया है कि समस्त प्राणियों की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने अपना प्रवचन दिया था¹ । वे सब प्राणियों के रक्षक थे । उन्हें समस्त प्राणियों के स्वरूप का परिज्ञान था । क्योंकि जीवों की योनियों का परिबोध होने पर ही साधक उनकी रक्षा कर सकता है ।

इसलिए प्रस्तुत गाथा में समस्त जीवों के भेदों का वर्णन किया गया है । समस्त जीव 6 प्रकार के हैं—1—पृथ्वीकाय, 2—अप्काय, 3—तेजस्काय, 4—वायुकाय, 5—वनस्पतिकाय और 6—त्रसकाय । पहले पांच प्रकार के जीव स्थावर कहलाते हैं और इनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है । इस अपेक्षा से जीव दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं—1—त्रस और 2—स्थायर । स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के होते हैं । सूक्ष्म जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं और बादर जीव लोक के एक भाग में स्थित हैं² । बादर पृथ्वीकाय श्लक्षण और कठिन के भेद से दो प्रकार के हैं । श्लक्षण पृथ्वीकाय सात प्रकार के हैं—1—कृष्ण, 2—नील, 3—लाल, 4—पीत, 5—श्वेत, 6—पंडुक और 7—मटिया । कठोर पृथ्वीकाय के शर्करा आदि 36 भेद

1. सव्व जग जीव, रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयणं कहियं । —प्रश्नव्याकरणसूत्र

2. सुहुमा सव्व लोगमि, लोगदेसे य बायरा ।

—उत्तराध्ययनसूत्र 36, 79

बताए हैं¹। बादर अप्काय के शुद्ध उदक (जल) आदि 5 भेद हैं²। बादर तेजस्काय (अग्नि) के भी अंगारा आदि 5 भेद हैं³। बादर वायुकाय के भी उत्कालिक आदि 5 भेद हैं⁴। बादर वनस्पतिकाय के 6 भेद हैं—1—अग्रबीज, 2—मूलबीज, 3—पर्वबीज, 4—बीजरुह, 5—संमूर्छिम और 6—स्कन्ध बीज। वनस्पतिकाय प्रत्येक और साधारण शरीर की अपेक्षा से दो प्रकार के हैं। जिस वनस्पति में एक शरीर में एक जीव रहता हो वह प्रत्येक शरीर वनस्पति कहलाती है और जिसके एक शरीर में अनन्त जीव रहते हों वह साधारण वनस्पतिकाय कहलाती है। प्याज, लहसुन, मूली-गाजर, शकरकंद आदि जमीन में पैदा होने वाले कंद-मूल साधारण वनस्पतिकाय या अनन्तकाय कहलाते हैं। शेष सभी प्रकार की वनस्पति के जीव प्रत्येक शरीर वनस्पति काय कहलाते हैं⁵। त्रसकाय के 4 भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं। इन सब का परिज्ञान करके भगवान समस्त प्राणियों की रक्षा करते हुए विचरते थे।

वर्तमान काल में वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से स्थावर जीवों की चेतना को

1. दुविहा य पुढ्वीजीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं॥
कण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्वा सुक्किला तहा।
पंडुपण्णगमट्टिया, खरा छत्तीसइविहा॥ —उत्तराध्ययन सूत्र 36, 71, 73
2. बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से य, हरतणु पहिया हिमे॥ —उत्तराध्ययन सूत्र 36, 86
3. बायरा जे उ पज्जत्ता णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे, अगणी, अच्चिजाला तहेव या॥
उक्का विज्जू य बोधव्वाणेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया। —उत्तराध्ययन सूत्र 36, 110-111
4. बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया॥
उक्कलिया, मंडलिया घणगुज्जा सुद्धवाया य।
संवट्ठगवाया य णेगहा एवमायओ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र 36, 119-120
5. उत्तराध्ययन सूत्र 94-100

जानने का प्रयत्न करते हैं। जगदीश चन्द्र बोस ने यन्त्रों के द्वारा वनस्पति की सजीवता को स्पष्ट रूप से दिखाया था। परन्तु, इन सब साधनों की सहायता के बिना विज्ञान युग से 2600 वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा इन जीवों की सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था।

भगवान की साधना के संबन्ध में वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमंताइ से अभिन्नाय।
परिवज्जिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे॥13॥

छाया— एतानि सन्ति प्रत्युपेक्ष्य, चित्तमंतानि स अभिज्ञाय।

परिवर्ज्य विहतवान्, इति संख्याय सः महावीरः॥

पदार्थ—एयाइं—ये पृथिवी आदि जीव। संति—हैं। पडिलेहे—इस प्रकार विचार कर तथा। चित्तमंताइ—उन्हें चेतना वाले। अभिन्नाय—जानकर। इय—इस प्रकार। संखार्य—अधिगत कर। से—वह भगवान। महावीरे—महावीर। परिवज्जिय—इनके आरम्भ का त्याग कर के। विहरित्था—विचरते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर पृथ्वी आदि के जीवों को सचेतन जानकर और उनके स्वरूप को भली-भाँति अधिगत करके उनके आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होकर विचरते थे।

हिन्दी-विवेचन

श्रमण भगवान महावीर पृथ्वी आदि पाँचों को सजीव मानते थे। उन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा उनकी सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था। आगम एवं अनुमान के द्वारा छद्मस्थ प्राणी भी उनमें सजीवता की सत्ता का अनुभव कर सकता है, परन्तु, वह सजीवता को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। उसे प्रत्यक्ष देखने की शक्ति सर्वज्ञ पुरुषों में ही है।

जैन दर्शन में पृथ्वी आदि को सचेतन और अचेतन दोनों तरह का माना है। इस सम्बन्ध में हम प्रथम अध्ययन में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। इन स्थावर जीवों में संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त जीव पाए जाते हैं।

जीवों की विचित्रता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अदु थावरा य तसत्ताए तसा य थावरत्ताए । अदुवा सव्व जोगिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥14॥

छाया—अथ स्थावराश्च त्रसतया, त्रसाश्च स्थावरतया ।

अथवा सर्वयोनििकाः सत्त्वाः कर्मणा कल्पिताः पृथक् बालाः॥

पदार्थ—अदु—अथवा । थावरा—पृथिवी आदि स्थावर । तसत्ताए—त्रसकाय रूप में परिणमन होते हैं । य—समुच्चय अर्थ में है । तसाय—और त्रस जीव । थावरत्ताए—स्थायर बने उत्पन्न होते हैं । अदुवा—अथवा । सव्वजोगियासत्ता—प्राणी सर्व योनियों में आवागमन करने वाले होते हैं । बाला—अज्ञानी जीव । कम्मुणा—अपने कर्म से । पुढो—पृथक् रूप से । कप्पिया—संसार में स्थित हैं ।

मूलार्थ—स्थायर जीव त्रस में उत्पन्न होते हैं और त्रस जीव स्थावरकाय में जन्म ले सकते हैं । या यों कहिए, संसारी प्राणी सब योनियों में आवागमन करने वाले हैं । और अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

दुनिया में प्रत्येक प्राणी अपने कृतकर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करता है । स्थावर काय में स्थित जीव अनन्त पुण्य का संचय करके त्रस काय में जन्म ले लेते हैं और पाप कर्म के द्वारा त्रस जीव स्थावर योनि में उत्पन्न हो जाते हैं । इसी तरह मनुष्य तिर्यज्य, नरक, देव, मनुष्य आदि किसी भी गति में जन्म धारण कर सकता है । वह अपने कृत कर्म के अनुसार चार गति में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति जिस रूप में मरता है, उसी रूप में जन्म लेता है । जैसे स्त्री सदा स्त्री के रूप में ही रहती है और पुरुष पुरुष के लिंग में ही जन्म लेता है । परन्तु, यह मान्यता कर्म सिद्धान्त एवं अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध नहीं होती । यदि लैंगिक रूप कभी बदलता ही नहीं या उसका अस्तित्व कभी समाप्त ही नहीं होता, तो फिर ये समस्त कर्म निष्फल हो जाएंगे और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि कर्म कभी निष्फल नहीं जाते । अतः हम कहते हैं कि संसार-परिभ्रमण में कभी भी लैंगिक एकरूपता स्थित नहीं रह सकती । पुरुष स्त्री एवं नपुंसक के लिंग में जन्म धारण कर सकता है । इसी तरह स्त्री एवं नपुंसक पुरुष के लिंग में जन्म ले सकते हैं ।

और वे लैंगिक आधार को समाप्त करके अलिंग सिद्ध स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस तरह लैंगिक आकार एवं योनि आदि की प्राप्ति कर्म के अनुसार होती है। जब व्यक्ति अपने ज्ञान एवं तप के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर देता है, तब वह जन्म-मरण एवं लैंगिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक आत्मा में अज्ञान एवं राग-द्वेष है, तब तक वह कर्मों का बन्ध करती है और संसार-सागर में परिभ्रमण करती रहती है। अतः योनियों में परिभ्रमण करने का मूल कारण कर्म है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— भगवं च एवमन्नेसिं, सोवहिए, हु लुप्पइ बाले।
कम्मं च सव्वसो नच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं॥15॥

छाया— भगवान् च एवमन्यतो, सोपधिकं हु लुप्पते बालः।
कर्म च सर्वशः ज्ञात्वा तत् प्रत्याख्यातवान् पापकं भगवान्॥

पदार्थ—च—पुनः। भगवं—भगवान ने। एव मन्नेसिं—इस प्रकार जाना। हु—जिससे। सोवहिए—उपधि सहित ममत्व युक्त। बाले—अज्ञानी जीव। लुप्पइ—कर्म से पीड़ित होता है। च—पुनः। सव्वसो—सब प्रकार से। कम्मं—कर्म के स्वरूप को। नच्चा—जानकर। भगवं—भगवान ने। तं—उस। पावगं—पापकर्म को। पडियाइक्खे—त्याग दिया।

मूलार्थ—भगवान ने यह जान लिया कि अज्ञानी आत्मा कर्म रूप उपधि से आबद्ध हो जाता है। अतः कर्म के स्वरूप को जानकर भगवान ने पापकर्म का परित्याग कर दिया।

हिन्दी-विवेचन

कर्म के कारण ही संसारी जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। वे विभिन्न योनियों में विभिन्न तरह की वेदनाओं का संवेदन करते हैं। अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल कर पापकर्म में आसक्त रहते हैं, इससे वे संसार में परिभ्रमण करते हैं। इसलिए भगवान ने कर्म के स्वरूप को समझकर उसका परित्याग कर दिया। इस तरह भगवान ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य से युक्त थे, क्योंकि कर्मों के स्वरूप को जानने

का साधन ज्ञान है और दर्शन से उसका निश्चय होता है और त्याग का आधार चारित्र्य है। इस तरह रत्नत्रय की साधना से आत्मा निष्कर्म हो जाती है। आगम में बताया गया है कि आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस परिज्ञात स्वरूप पर विश्वास करता है, चारित्र्य से आने वाले नए कर्मों के द्वार को रोकता है और तप के द्वारा पूर्व काल में बंधे हुए कर्मों को क्षय करता है¹। भगवान् महावीर भी इन चारों तरह की साधना से युक्त थे और ज्ञान-दर्शन चारित्र्य एवं तप से समस्त कर्मों को क्षय करके उन्होंने निर्वाण पद को प्राप्त किया।

द्रव्य एवं भाव के भेद से उपधि दो प्रकार की है। आत्मा के साथ पदार्थों का संबन्ध द्रव्य उपधि है और राग-द्वेष आदि विकारों का सम्बन्ध भाव उपधि है। भाव उपधि से द्रव्य उपधि प्राप्त होती है और द्रव्य उपधि भाव उपधि—राग-द्वेष को बढ़ाने का कारण भी बनती है। इस तरह दोनों उपधियां संसार का कारण हैं। दोनों उपधियों का नाश कर देना ही मुक्ति है। संसारपरिभ्रमण का मूल कारण भाव उपधि है, भाव उपधि का नाश होने पर द्रव्य उपधि का नाश सुगमता से हो जाता है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष पहले भाव उपधि—राग-द्वेष का नाश करके वीतराग बनते हैं और उसके बाद द्रव्य उपधि का क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी।

आयाण सोयगइ वायसोयं, जोग च सव्वसो णच्चा॥16॥

छाया—द्विविधिं समेत्य मेधावी, क्रियामाख्यातमनीदृशं ज्ञानी।

आदानं स्रोतः अतिपातस्रोतः योगं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—मेहावी—बुद्धिमान सर्व भाव के ज्ञाता भगवान् ने। किरियं—क्रिया कर्मों का नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप। दुविहं—दो प्रकार के कर्म ईर्या प्रत्यय और साम्परायिक को। समिच्च—सम्यक्तया जानकर। अणेलिसं—अनुपम। अक्खाय—कहा है और। नाणी—ज्ञानयुक्त भगवान् ने। आयाणसोयं—कर्मों के आने का स्रोत कहा है। अइवाय सोयं—अतिपात हिंसा स्रोत। च—और। जोगं—

1. नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सहहे।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥

योगरूप स्रोत को। सव्वसो—सर्व प्रकार से। णच्चा—कर्म बन्धन जानकर उनसे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

मूलार्थ—भावज्ञ और ज्ञानी भगवान ने ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया को जिसे कि अनुपम और कर्मों का नाश करने वाली संयमानुष्ठान रूप कहा है तथा कर्मों के आने के स्रोत और हिंसा रूप स्रोत एवं योगरूप स्रोत को कर्म बन्धन का कारण रूप जानकर इनकी शुद्धि के लिए संयमानुष्ठान का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में दो प्रकार की क्रियाओं का वर्णन किया गया है—1—साम्परायिक और 2—ईर्यापथिक। कषायों के वश जो क्रिया की जाती है, वह साम्परायिक क्रिया कहलाती है। उससे सात या आठ कर्मों का बन्ध होता है और आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। राग-द्वेष और कषाय-रहित भाव से यत्ना पूर्वक की जाने वाली क्रिया ईर्यापथिक क्रिया कहलाती है। इस क्रिया से संसार नहीं बढ़ता है। यह क्रिया आत्मा को निष्क्रिय बनाने में सहायक होती है। भगवान महावीर दोनों प्रकार की क्रियाओं के स्वरूप को भली-भांति जानते थे। वे साम्परायिक क्रिया का सर्वथा त्याग कर चुके थे और ईर्या पथिक क्रिया का उच्छेद करने में प्रयत्नशील थे।

क्रिया के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए आगम में कहा है कि अयत्ना-विवेक रहित गमनागमन आदि कार्य करते हुए प्राणी साम्परायिक क्रिया के द्वारा कर्मों का बन्ध करता है और आगम के अनुसार यत्ना-विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए ईर्याप्रत्यय कर्म का बन्ध करता है¹। इससे स्पष्ट है कि कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया संसार-परिभ्रमण कराने वाली है और कषायरहित अनासक्त भाव से की जाने

1. अणगारस्स णं भत्ते! अणाउत्तं गच्छमाणस्स व। चिट्ठमाणस्स वा णिसीयमाणस्स वा; अणाउत्तं वत्थ परिगहं कंबलं पाय पुंछणं गेण्हमाणस्स वा; निक्खवमाणस्स वा, तस्स णं भत्ते! किं इरिया वहिया किरिया कज्जइ; संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा! नो इरिया वहिया किरिया कज्जइ; संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं? गोयमा! जस्स णं कोह माणमाया लोभा वोच्छन्ना भवति तस्स णं इरिया वहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह मानया लोभा अवोच्छिण्णा भवति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ, अहासुत्तरियमाणस्स इरिया वहिया किरिया कज्जइ, उसुत्तरियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ; से णं उसुत्तमेव रियइ सेतेणट्ठेणं।
—भगवती सूत्र 7 : 1

वाली क्रिया संसार बढ़ाने वाली नहीं, अपितु घटाने वाली है।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अइवत्तियं अणाउट्ठं, सयमन्नेसिं अकरणयाए।

जस्सिस्थिओ परिन्नाया, सव्व कम्मावहाउ से अदक्खु॥17॥

छाया— अतियातिकाम् अनाकुट्ठिं-स्वयं अन्येषां अकरणतया।

यस्य स्त्रियः परिज्ञाताः, सर्वकर्मावहाः सएवमद्राक्षीत्॥

पदार्थ—अइवत्तियं—भगवान ने पाप से अतिक्रान्त होने से निर्दोष। अणाउट्ठं—अहिंसा। सयं—स्वयं आचरण किया और। अन्नेसिं—दूसरों को। अकरणयाए—हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया। जस्सिस्थिओ—जिन्हें स्त्रियों का स्वरूप एवं उनके साथ भोगे जाने वाले भोगों का विपाक। परिन्नाया—परिज्ञात है और। से—उस श्रमण भगवान महावीर ने। अदक्खु—देखा था कि। सव्व कम्मावहाउ—ये भोग सर्व पाप कर्म के आधारभूत हैं।

मूलार्थ—भगवान ने स्वयं निर्दोष अहिंसा का आचरण किया और अन्य व्यक्तियों को हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया। भगवान स्त्रियों के यथार्थ स्वरूप एवं उनके साथ भोगे जाने वाले काम-भोगों के परिणाम से परिज्ञात थे। ये काम-भोग समस्त पाप कर्मों के कारण भूत हैं, ऐसा जानकर भगवान ने स्त्री-संसर्ग का परित्याग कर दिया।

हिन्दी-विवेचन

साधना का मूल अहिंसा है। हिंसक व्यक्ति साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके मन में प्राणियों के प्रति दया भाव नहीं रहता है। अतः भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा व्रत का पालन किया। उन्होंने अपने साधना काल में न किसी प्राणी की हिंसा की और न किसी व्यक्ति को हिंसा करने की प्रेरणा ही दी। उनके हृदय में प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एवं करुणा का स्रोत बहता था। उन्होंने अपने समय में होने वाली याज्ञिक हिंसा जैसे क्रूर कर्मों को समाप्त करके जीवों को अभयदान दिया।

साधक के लिए हिंसा की तरह मैथुन भी त्याज्य है। इससे मोह की अभिवृद्धि होती है और मोह से पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए भगवान ने मैथुन के साधन स्त्री-संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया। साधु के लिए स्त्री का एवं साध्वी के लिए

पुरुष-संसर्ग का त्याग करना जरूरी है। क्योंकि दोनों के लिए दोनों मोह को जगाने का कारण हैं और मोह की जागृति से महाव्रतों का नाश होता है। अतः भगवान ने अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किया।

साधना में प्रथम और चतुर्थ दो महाव्रत मुख्य हैं। दोनों में अन्य तीनों महाव्रतों का समावेश हो जाता है। पूर्ण अहिंसक एवं पूर्ण ब्रह्मचारी साधक न झूठ बोल सकता है, न चोरी कर सकता है और न परिग्रह की आकांक्षा रख सकता है। अतः दो महाव्रतों में पांचों का समावेश हो जाता है।

मूल गुणों की व्याख्या करके अब सूत्रकार उत्तर गुणों का उल्लेख करते हैं—

मूलम्—अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्खू।

जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था॥१८॥

छाया—यथाकृतं न सा सेवते, सर्वशः, कर्म अद्राक्षीत्।

यत्किंचित् पापकं भगवान् तदकुर्वन् विकटमभुक्ता॥

पदार्थ—अहाकडं—साधु के वास्ते बनाया हुआ आहार आधाकर्म आहार कहलाता है। से—भगवान उस आहार का। न सेवे—सेवन नहीं करते थे, क्योंकि उस आहार का सेवन करने से। सव्वसो—सर्व प्रकार से। कम्म—आठ प्रकार के कर्म का बन्ध होता है। अदक्खू—भगवान ने ऐसा देखा। जं किंचि—अतः जो आहार थोड़े से। पावगं—पाप का कारण हो। भगवं—भगवान। तं—उसको। अकुव्वं—न करते हुए। वियडं—प्रासुक निर्दोष आहार। भुंजित्था—ग्रहण करते थे।

मूलार्थ—आधाकर्म आहार को सब तरह से कर्मबन्ध का कारण जानकर भगवान ने उसका सेवन नहीं किया। भविष्य में पाप का कारण होने के कारण उसका सेवन न करते हुए भगवान ने निर्दोष आहार ही ग्रहण किया।

हिन्दी-विवेचन

साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार आवश्यक है और आहार के बनने में हिंसा का होना भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण अहिंसक साधक अपनी साधना कैसे कर सकता है? इसके लिए यह बताया गया है कि साधु पाक-क्रिया से सर्वथा दूर रहे। वह न

स्वयं आहार आदि बनाए और न अपने लिए किसी से बनवाए और अपने (साधु के) निमित्त बनाकर या खरीदकर लाया हुआ आहार आदि स्वीकार भी न करे। परन्तु गृहस्थ के घर में अपने परिवार के लिए जो भोजन बना है, उसमें से अनासक्त भाव से सब दोषों को टालते हुए थोड़ा-सा आहार ग्रहण करे, जिससे गृहस्थ को बाद में किसी तरह का कष्ट न हो या अपने खाने के लिए कम रहने पर उसे पुनः न बनाना पड़े। इस तरह कई घरों से निर्दोष आहार लेकर साधु अपने शरीर का निर्वाह करे। परन्तु जिह्वा के स्वाद के लिए या शारीरिक पुष्टि आदि के लिए वह आधा कर्म आदि सदोष आहार न ले। जो आहार साधु के लिए बनाया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं। उस आहार को ग्रहण करने से उसमें हुई हिंसा का पाप साधु को भी लगता है। अतः साधु अनासक्त भाव से निर्दोष आहार की गवेषणा करे।

भगवान् महावीर ने केवल यह उपदेश ही नहीं दिया, प्रत्युत उन्होंने स्वयं इस नियम का परिपालन भी किया। उन्होंने कभी भी आधा कर्म आदि दोषों से युक्त आहार को स्वीकार नहीं किया। इस तरह भगवान् सदा निर्दोष आहार की गवेषणा करते और अपनी मर्यादा के अनुसार निर्दोष आहार उपलब्ध होने पर ही उसे स्वीकार करते थे। इसी तरह भगवान् ने अन्य सावध सदोष व्यापार एवं साधनों का भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वे सारे पाप कर्मों से निवृत्त होकर सदा निर्दोष साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी साधना के संबन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— णो सेवइ य परवत्थं परपाएवि से न भुंजित्था।
परिवज्जियाणं ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए॥19॥

छाया— नो सेवते च परवस्त्रं, परपात्रेपि स ना भुंक्ते।
परिवर्ज्यायमानं गच्छति, संखडिं अशरणाया॥

पदार्थ—य—पुनः। परवत्थं—भगवान् दूसरे के वस्त्र का। णो सेवइ—सेवन नहीं करते थे। परपाएवि—अन्य व्यक्ति के पात्र में भी। से—वे। न भुंजित्था—भोजन नहीं करते थे। ओमाणं—अतः वे अपमान को। परिवज्जियाणं—छोड़कर। संखडिं—संखडी में—भोजनशाला में। असरणयाए—किसी के सहारे के बिना। गच्छइ—जाते हैं।

-मूलार्थ—भगवान ने दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का सेवन नहीं किया, और न दूसरे व्यक्ति के पात्र में भोजन ही किया। वे मान-अपमान को छोड़कर बिना किसी के सहारे भिक्षा के लिए जाते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल में न तो किसी भी व्यक्ति के पात्र में भोजन किया और न दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का उपयोग ही किया। यह हम देख चुके हैं कि भगवान ने दीक्षा लेते समय केवल एक देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई उपकरण स्वीकार नहीं किया था और वह देवदूष्य वस्त्र भी 13 महीने के बाद उनके कन्धे पर से गिर गया और जब तक वह उनके पास रहा, तब तक भी उन्होंने शीत आदि निवारण करने के लिए उसका उपयोग नहीं किया। आगम से यह भी स्पष्ट है कि वे अकेले ही दीक्षित हुए थे और साधनाकाल में भी अकेले ही रहे थे। बीच में कुछ काल के लिए गोशालक उनके साथ अवश्य रहा था। परन्तु, अधिकतर वे अकेले ही विचरते रहते थे। ऐसी स्थिति में किसी अन्य साधु के वस्त्र आदि स्वीकार करने या न करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अपने साधनाकाल में न किसी गृहस्थ के पात्र में भोजन किया और न सर्दी के मौसम में किसी गृहस्थ के वस्त्र को ही स्वीकार किया। उस युग में एवं वर्तमान में भी अन्य मत के साधु गृहस्थ के बर्तन में भोजन कर लेते हैं एवं गृहस्थ के वस्त्रों को भी अपने उपयोग में ले लेते हैं। परन्तु जैन साधु आज भी अपने एवं अपने से सम्बन्धित साधुओं के वस्त्र-पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के वस्त्र-पात्र को स्वीकार नहीं करते हैं।

भगवान ने भिक्षा के लिए जाते समय किसी भी व्यक्ति का सहारा नहीं लिया। वे सदा मान-अपमान को छोड़कर भिक्षा के लिए जाते थे। वे किसी दानशाला या महा-भोजनशाला के सहारे भी अपना जीवन निर्वाह नहीं करते थे। क्योंकि इससे कई दीन-हीन व्यक्तियों की अन्तराय लगती है और वहां आहार भी निर्दोष नहीं मिलता है। इसलिए वे अदीनमन होकर भिक्षा के लिए जाते और जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता, वही स्वीकार करके अपनी साधना में संलग्न रहते थे।

उनकी साधना के सम्बन्ध में और उल्लेख करते सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— मायण्णे असणपाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने ।
अच्छिंपि नो पमज्जिज्जा, नोविय कंडूयए मुणी गायं॥२०॥

छाया— मात्रज्ञः अशनपानस्य, नानुगृह्यः रसेषु अप्रतिज्ञः ।
अक्षयपि नो प्रमार्जयेत्, नापि च कण्डूयते मुनिः गात्रम्॥

पदार्थ—मुणी—भगवान महावीर । असणपाणस्स—अन्न-पानी के । मायन्ने—परिमाण को जानने वाले । रसेसु—रसों में । नाणुगिद्धे—मूर्छारहित । अपडिन्ने—आज मैं सिंह केसरदि मोदक लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा से रहित—ऐसी प्रतिज्ञा न करने वाला । अच्छिंपि—आंख में रज आदि के पड़ जाने पर भी । नो पमज्जिज्जा—उसे दूर करने के लिए प्रमार्जन नहीं करते । य—और । गायं—गात्र को । नोवियकंडूयए—खाज आने पर भी खुजवाते नहीं थे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर अन्न-पानी के परिमाण को जानने वाले थे, रसों में अमूर्च्छित थे, सरस आहार के लेने की प्रतिज्ञा से रहित थे । आंख में रज कण पड़ने पर भी उसे नहीं निकालते थे तथा खुजली आने पर, भी शरीर को नहीं खुजलाते थे ।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का जीवन उत्कृष्ट साधना का जीवन था । वे केवल साधना को चालू रखने के लिए ही आहार ग्रहण करते थे, स्वाद एवं शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए नहीं । इसलिए उन्होंने कभी भी सरस एवं प्रकाम आहार की गवेषणा नहीं की । वे नीरस आहार ही स्वीकार करते थे और वह भी निरन्तर नहीं लेते थे । कभी चार-चार महीने का, कभी छह महीने का, कभी एक महीने का तो कभी पन्द्रह दिन का तप तो कभी और कुछ तप करते थे । इस तरह उनका जीवन तपोमय था । कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान ने कभी सरस एवं स्वादिष्ट आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा नहीं की थी । इसलिए उन्हें अप्रतिज्ञ कहा है ।

परन्तु, यह 'अप्रतिज्ञ' शब्द सापेक्ष है । क्योंकि सरस आहार की प्रतिज्ञा नहीं, की, किन्तु, नीरस आहार की प्रतिज्ञा अवश्य की थी । जैसे उड़द के बाकले लेने की प्रतिज्ञा की थी । उन्होंने साधनाकाल में आहार के सम्बन्ध में कोई प्रतिज्ञा नहीं की,

ऐसी बात नहीं है; फिर भी सूत्रकार ने जो 'अप्रतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि सरस आहार की प्रतिज्ञा न करने या इच्छा न रखने से उन्हें अप्रतिज्ञ ही कहा है। क्योंकि शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार लेना आवश्यक है। यदि सरस एवं प्रकाम भोजन ग्रहण करते हैं तो उसमें आसक्ति पैदा हो सकती है और अधिक परिमाण में खाने पर विकृति भी जागृत हो सकती है। परन्तु, नीरस एवं रुक्ष आहार में न आसक्ति होती है और न विकारों को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है और नीरस आहार स्वाद एवं विकारों पर विजय प्राप्त करने का साधन है। छह महीने के लगभग लम्बे तप के बाद रुक्ष उड़द के बाकले खाना साधारण बात नहीं है। इसके लिए मन पर बहुत बड़ा अधिकार करना होता है। उस समय हमारा मन दूध आदि स्निग्ध एवं सुपाच्य आहार की इच्छा रखता है। उस समय रुक्ष उड़द के उबले हुए दाने और वह भी नमक-मिर्च से रहित स्वीकार करके समभाव पूर्वक खा लेना जबरदस्त साधक का ही काम है। इस तरह भगवान ने स्वाद एवं अर्पणे योगों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी कारण उनकी नीरस आहार की प्रतिज्ञा को प्रतिज्ञा नहीं माना है। क्योंकि, वह आहार स्वाद एवं शक्ति बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु साधना में तेजस्विता लाने के लिए करते थे। इस अपेक्षा से 'अप्रतिज्ञ' शब्द उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

भगवान महावीर का लक्ष्य शरीर पर नहीं, आत्मा पर था। वे सदा आत्मा का ही ध्यान रखते थे। यदि कभी आंख में तृण या रेत के कण आदि गिर जाते तो उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे और शरीर में खुजली आदि आती थी तो उसे भी नहीं खुजाते थे। वे शरीर की चिन्ता नहीं करते थे। शरीर की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

उनके विचरण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अप्पं तिरियं पेहाए अप्पिं पिट्ठओ पेहाए।

अप्पं वुइएऽपडिभाणी, पंथपेहि चरे जयमाणे॥21॥

छाया—अल्पं तिरश्चीनं प्रेक्षते, अल्पं पृष्ठतः प्रेक्षते।

अल्पं ब्रूते अप्रतिभाषी, पथि प्रक्षी चरेद् यतमानः॥

पदार्थ—अप्पं—अल्प शब्द अभावार्थक है, अतः भगवान चलते हुए।

तिरियं—तिर्यक् मार्ग को। पेहाए—नहीं देखते थे, उसी प्रकार। अप्पिं पिट्ठओ—खड़े होकर पीछे को नहीं। पेहाए—देखते। अप्पंवुइए अपडिभाणी—किसी के बुलाने पर नहीं बोलते थे। जयमाणे—यतनाशील। पंथपेहि—मार्ग को देखते हुए। चरें—वे चलते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर चलते हुए न तिर्यग् दिशा को देखते थे, न खड़े होकर पीछे को देखते थे और न मार्ग में किसी के पुकारने पर बोलते थे। किन्तु मौन वृत्ति से यत्ना पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना का मूल उद्देश्य है—योगों की चंचलता को रोकना। इधर-उधर विषयों में परिभ्रमण करने वाले योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। इसके लिए समिति और गुप्ति की साधना बताई है। समिति का परिपालन करते समय साधक अपने आवश्यक कार्य में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसी में अपने योगों को केन्द्रित कर लेता है। योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करने एवं उनका निरोध करने का यह सबसे अच्छा उपाय है कि साधक उन्हें समिति-यत्नापूर्वक किए जाने वाले अपने आवश्यक कार्य में केंद्रित करे। भगवान महावीर ने ऐसा ही किया था। जब वे चलते थे तो अपनी चित्तवृत्ति एवं योगों को ईर्यापथ में केन्द्रित कर लेते थे। उस समय उनका इधर-उधर या पीछे को ध्यान नहीं जाता था। वे न कभी दाएं-बाएं देखते थे और न खड़े होकर पीछे को ही देखते थे और न मर्यादित भूमि से आगे को या ऊपर आकाश में ही देखते थे। और न वे किसी से संभाषण करते थे। किसी के पूछने पर कोई उत्तर नहीं देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ते रहते थे।

उनके विचरण के सम्बन्ध के कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ज वत्थमणगारे।

पसारित्तु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधंभि॥२२॥

छाया—शिशिरे अध्वप्रतिपन्ने, तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः।

प्रसार्य बाहू पराक्रमते, नो अवलम्ब्य स्कन्धे (तिष्ठति)॥

पदार्थ—सिसिरंसि—शीतकाल में—शिशिर ऋतु में। अद्धपडिवन्ने—मार्ग में

प्रतिपन्न हुए। अणगारे—भगवान्। तं वत्थं—उस वस्त्र को। वोसिज्ज—छोड़ कर, फिर। बाहू—भुजाओं को। पसारित्तु—पसार कर। परक्कमे—चलते हैं। कंधमि—स्कन्ध—कंधे पर। नो अवलम्बियाण—दोनों हाथ रखकर खड़े नहीं होते थे।

मूलार्थ—शीतकाल में मार्ग में चलते हुए भगवान् इन्द्रप्रदत्त वस्त्र को छोड़कर दोनों भुजायें फैला कर चलते थे, किन्तु शीत से सन्तप्त होकर अर्थात् शीत के भय से भुजाओं का संकोच नहीं करते थे और न स्कन्ध में हस्तावलम्बन से खड़े होते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान् महावीर की साधना विशिष्ट साधना थी। भगवान् ने अपने साधना-काल में अपवाद को स्थान ही नहीं दिया है। वे परीषहों पर सदा विजय पाते रहे, सर्दी के समय शीत के परीषह से घबराकर न तो कभी उन्होंने वस्त्र का उपयोग किया और न कभी शरीर को या हाथों को सिकोड़कर रखा, जब कि दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् 13 महीने तक उनके कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र पड़ा रहा; फिर भी उन्होंने उससे शीत निवारण करने का प्रयत्न नहीं किया। इसके अतिरिक्त वे दोनों हाथों को फैला कर चलते थे और दोनों हाथों को फैला कर ही खड़े होते थे। न चलते समय उन्होंने कभी हाथों को सिकोड़कर रखा और न खड़े होते समय ही। उन्होंने खड़े होते समय न तो कभी हाथों को कन्धे पर रखा और न किसी अन्य अंग पर ही रखा। वे सदा अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और साधना में उत्पन्न होने वाले सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहते रहे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका अपने योगों पर पूरा अधिकार था।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण ममइया।

बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियन्ति॥२३॥ त्तिबेमि॥

छाया—एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।

बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयन्ते॥

पदार्थ—ममइया—ज्ञानवान्। माहणेण—भगवान् महावीर ने। एस—इस। विहि—क्रियाविधि का। अणुक्कन्तो—स्वयं आचरण किया। बहुसो—अनेक प्रकार से। अपडिन्नेण—निदानकर्म से रहित। भगवया—भगवान् ने। एवं—इस प्रकार से

स्वयं ही ग्रहण किया और दूसरों के प्रति आचरण करने का उपदेश दिया, अतः ।
रिर्यति—मुमुक्षुजन कर्मों का क्षय करने के लिए इस क्रिया विधि का अनुष्ठान करके
मोक्षमार्ग में गमन करते हैं । तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—प्रबुद्ध साधक भगवान महावीर ने इस विहार—विचरणचर्या (विधि)
को स्वीकार किया था और उन्होंने बिना निदान कर्म किसी प्रकार के भौतिक सुखों
की कामना के बिना इस विधि का आचरण किया और दूसरे साधकों को भी इस
पथ पर चलने का आदेश दिया । इसलिए मुमुक्ष पुरुष इसका आचरण करके
मोक्ष-मार्ग पर कदम बढ़ाते हैं ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में साधक के लिए विचरण करने की जो विधि बताई है, वह
केवल भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ही नहीं है, अपितु उनके द्वारा आचरित भी है ।
इस गाथा में यह बताया है कि भगवान महावीर ने जिस साधना का उपदेश दिया है,
उसे पहले उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था । इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के
द्वारा प्राप्त सर्वज्ञत्व से पहले भगवान महावीर भी एक साधारण प्राणी थे । वे सदा से
किसी दैवी या ईश्वरी शक्ति के धारक नहीं थे । उन्होंने भी अनन्त काल तक संसार
में परिभ्रमण किया था । अनेकों बार नरक एवं निगोद के अनन्त दुःखों का संवेदन
किया था । इस तरह संसार में भटकते हुए ज्ञान को प्राप्त किया और अपने आत्मस्वरूप
को समझकर साधनापथ पर आगे बढ़े और उसीके द्वारा आत्मा का विकास करते हुए
सर्वज्ञत्व एवं सिद्धत्व को प्राप्त किया । भगवान द्वारा आचरित साधना ही आत्मा को
सिद्धत्व पद पर पहुंचाती है । जैन धर्म का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा में सिद्ध
बनने की शक्ति है, प्रत्येक आत्मा सिद्धों के जैसी ही आत्मा है और साधनापथ को
स्वीकार करके सिद्ध बन सकती है ।

‘तिबेमि’ का विवेचन पूर्ववत् समझें ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में भगवान महावीर की विहारचर्या-विधि का उल्लेख किया गया था। साधक चलता है तो उसे विश्राम भी लेना होता है, ठहरना भी पड़ता है। भगवान महावीर को भी अपनी साधना के लिए, आत्म-चिन्तन के लिए स्थान का सहारा लेना पड़ता था। अब प्रश्न यह है कि भगवान महावीर साधनाकाल में कैसे स्थान में ठहरे थे। वहां उन्होंने कौन-सी वस्तुओं का उपयोग किया था और साधक को कैसे मकान में ठहरना चाहिए?

इसका समाधान करते हुए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ।

आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे॥१॥

छाया— चर्यासनानि शयनानि एकैकानि यानि अभिहितानि।

आचक्ष्व तानि शयनासनानि यानि सेवितवान् स महावीरः॥

पदार्थ—एगइयाओ—एक बार। बुइयाओ—जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने। चरियासणाइं—विहारचर्या, आसन एवं। सिज्जाओ—बस्तिओं के सम्बन्ध में। आइक्ख—कहा। जाओ—जिन। सयणासणाइं—शय्या एवं आसन का। जाइं—जो। से—उन भगवान महावीर ने। सेवित्था—सेवन किया।

मूलार्थ—विहार के समय में भगवान महावीर ने जिस शय्या एवं आसन का सेवन किया, उसके संबन्ध में जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार कहा।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गार्था प्रतिज्ञा सूत्र है। इसमें सूत्रकार यह प्रतिज्ञा करता है कि इस उद्देशक में मैं यह बताऊंगा कि भगवान ने विहारकाल में कैसी बस्ती एवं शय्या आदि

का सेवन किया था। यह गाथा अपने आप में इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देशक की इस गाथा को उद्धृत करके उसके विषय में—“ऐसा पूछा, अर्थात् यह प्रश्न है” —ऐसा कहा है। परन्तु, इसकी व्याख्या नहीं की किन्तु, आचार्य शीलांक ने लिखा है कि प्रस्तुत गाथा शास्त्र में उपलब्ध होती है। परन्तु चिरन्तन टीकाकार ने उसकी व्याख्या नहीं की है। इसका कारण गाथा की सुगमता है या उन्होंने इसे मूल सूत्र की गाथा नहीं माना। इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। आचार्य शीलांक ने किसी टीकाकार के नाम का उल्लेख न करके केवल चिरन्तन टीकाकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा लगता है कि चिरन्तन टीकाकार शब्द से चूर्णिकार अभिप्रेत हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने इस गाथा को उद्धृत तो किया है, परन्तु, उसकी व्याख्या नहीं की और चूर्णिकार के अतिरिक्त अन्य ऐसे टीकाकार भी अभिप्रेत हो सकते हैं, जिनकी टीका उनके युग में प्रचलित रही हो, और आज उपलब्ध न हो। परन्तु, इतना स्पष्ट है कि शीलांक से भी पूर्व आचारांग पर टीका लिखी जा चुकी थी। इस तरह जैनागमों पर और भी अनेक टीकाएं, चूर्णि एवं भाष्य आदि लिखे गए हैं। परन्तु, आज उनके अनुपलब्ध होने के कारण आगम के कई पाठों एवं उनके अर्थों में सन्देह-सा बना रहता है¹। वर्तमान में प्राप्त टीका ग्रन्थ अपने युग में प्रचलित प्राचीन टीका ग्रन्थों के आधार पर ही संक्षिप्त एवं विस्तृत रूप से रचे गए हैं। किसी-किसी टीकाकार ने तो अपने पूर्व टीकाकार के भाव ही नहीं, अपितु, श्लोक एवं गाथाएं भी ज्यों-की-त्यों उद्धृत कर ली हैं। इससे यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पुरातन टीकाएं कुछ अंश रूप में वर्तमान टीकाओं में सुरक्षित हैं।

1. बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जैन समाज के प्रमाद, आलस्य एवं ज्ञान और स्वाध्याय की कमी के कारण जैन साहित्य को बहुत बड़ी क्षति पहुंची है। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ तो भंडारों में पड़े-पड़े गल-सड़ गए, कुछ ग्रन्थों को दीमकों ने चट कर लिया तो कुछ ग्रन्थ चूहों के पैने दांतों के नीचे आ गए। कुछ ग्रन्थों को मुगलों ने आक्रमण के समय आग में जलाकर एवं जल में प्रवाहित करके नष्ट कर दिया। कुछ श्रेष्ठ ग्रंथों को अर्थलोलुप पुजारियों ने विदेशियों के हाथ बेच डाला। अतः बहुत-से ग्रन्थ ऐसे हैं कि आज उनका नाम मात्र ही शेष रह गया है और कतिपय-ग्रन्थ छिन्न-भिन्न अवस्था में मिलते हैं। वस्तुतः यह सब शोकास्पद ही है।

प्रस्तुत गाथा में शय्या आदि के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो ।

अदुवा पलियठाणेसु पलाल पुंजेसु एगया वासो॥२॥

छाया— आवेशनसभाप्रवासु, पण्यशालासु एकदावासः ।

अथवा कर्म स्थानेषु, पलालपुंजेषु एकदा वासः॥

पदार्थ—आवेसण—शून्य घर में। सभा—सभा में। पवासु—पानी के स्थान—प्याऊ में। पणियसालासु—पण्यशाला—दुकानों में। एगया वासो—किसी समय पर भगवान ने निवास किया। पलियठाणेसु—लुहार आदि की शाला में। पलाल पुंजेसु—पलाल पुंज में जहां चारों ओर स्तम्भों के सहारे पलाल को एकत्रित करके रक्खा हो, ऐसे स्थान में। एगयावासो—कभी निवास किया था—ठहरे थे।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने शून्य घर में, सभा-भवन में, पानी पिलाने की प्याऊ में, दुकान में, लुहार की शाला में या जहां पलाल का समूह एकत्रित कर रखा हो, ऐसे स्थान में निवास किया, अर्थात् ऐसे स्थानों में भगवान महावीर ठहरे थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में उस युग के निवास स्थानों का वर्णन किया गया है जिनमें लोग रहते थे या पथिक विश्राम लेते थे। वे इस प्रकार हैं—

1. **शून्य घर**—जिस मकान में कोई न रहता हो तो उसे शून्य घर कहते हैं। आज कई प्राचीन शहरों एवं जंगलों में शून्य खण्डहर एवं मकान मिलते हैं। भगवान महावीर भी कभी ऐसे स्थानों में ठहर जाते थे। ये स्थान एकान्त एवं स्त्री-पुरुष, पशु आदि से रहित होने के कारण साधना एवं आत्मचिन्तन के अनुकूल होते हैं।

2. **सभा**—गाँव या शहर के लोगों के विचार-विमर्श करने के लिए एक सार्वजनिक स्थान होता था। बाहर गांवों से आने वाले यात्री भी उसमें ठहर जाते थे। आज भी अनेक गांवों में पथ से गुजरते हुए पथिकों के ठहरने के लिए एक स्थान बना होता है और शहरों में ऐसे स्थानों को धर्मशाला कहते हैं। उस युग में उसे सभा कहते थे। भगवान भी कभी सूर्य अस्त हो जाने के कारण ऐसी सभाओं में रात्रि व्यतीत करते थे।

3. **प्रपा (प्याऊ)**—जहां राहगीरों को पानी पिलाया जाता है, उसे प्रपा या प्याऊ कहते हैं। रात के समय यह स्थान प्रायः खाली रहता है और चिन्तन के लिए अनुकूल रहता है।

4. **पण्यशाला (दुकानें)**—जहां लोगों के जीवन के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ एवं वस्त्र आदि बेचे जाते हैं, उन्हें पण्यशाला करते हैं। ये स्थान भी रात में खाली रहते हैं। दुकानदार अपनी दुकान के—जिस में सामान भरा रहता है, उसका ताला लगा देता है, फिर दुकान के आगे का छप्पर या ब्राण्डा खाली पड़ा रहता है। अतः भगवान कई बार ऐसे स्थानों में भी ठहरे और ये स्थान भी स्त्री-पुरुष, पशु आदि से रहित होने के कारण साधु के लिए ठहरने योग्य हैं।

5. **पणिय शाला**—जहां पर कर्मकार लोग मेहनत करते हों, ऐसे स्थानों को पणिय-कर्म-शाला कहते हैं। लुहार, बढ़ई आदि के स्थान इसमें आ सकते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

6. **पलाल पुंज**—जहां पर पशुओं के लिए चार खंभों के सहारे घास का समूह एकत्रित किया जाता है, उसे पलाल पुंज कहते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य हैं।

इस तरह भगवान महावीर ने अपने साधना काल में ऐसे स्थानों में निवास किया। इससे साधु जीवन की कष्टसहिष्णुता एवं निःस्पृहता का तथा उस समय के लोगों की उदार मनोवृत्ति का पता लगता है। प्रत्येक गांव में जाने वाला व्यक्ति भूखा-प्यासा एवं निराश्रित नहीं रहता था। सार्वजनिक स्थानों के अतिरिक्त लुहार एवं बढ़ई आदि श्रमजीवी लोगों की इतनी उद्योग शालाएं थीं कि कोई भी यात्री बिना रोक-टोक के विश्रान्ति कर लेता था। इससे उस युग के ऐतिहासिक रहन-सहन एवं उद्योग-धन्धे का भी पता चलता है। उस युग का रहन-सहन सादा था, मकान भी सादे होते थे। कुछ पूँजीपतियों के भवनों को छोड़कर साधारण लोग मिट्टी के बने साधारण घरों में ही रहते थे। औद्योगिक एवं कृषि कार्य अधिक था। गांवों के लोग प्रायः कृषि कर्म पर ही आधारित रहते थे। बड़े-बड़े वैश्य भी कृषि कर्म करते या करवाते थे। आगमों में अरण्यक आदि श्रावकों का वर्णन आता है कि उन्होंने अपनी-अपनी इच्छानुसार 500 हल या इससे कम-ज्यादा खेती करने की मर्यादा रखी थी। उस युग में कृषि कर्म को हेय नहीं माना जाता था।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान ऐसे स्थानों में ठहरते थे कि जहाँ किसी को किसी तरह का कष्ट न हो और अपनी साधना भी चलती रहे। वे अपने ऊपर आने वाले समस्त परीषहों को समभावपूर्वक सह लेते थे, परन्तु अपने जीवन से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते थे।

जहाँ भगवान ठहरे थे, ऐसे और स्थानों को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगयावासो ।
सुसाणे सुण्णागारे वा रुक्खमूले व एगयावासो॥३॥

छाया— आगन्तारे आरामागारे तथा च नगरे वा एकदावासः ।

श्मशाने शून्यागारे वा वृक्षमूले वा एकदावासः॥

पदार्थ—आगन्तारे—जहाँ पर श्रमजीवी लोग आकर ठहरते हों। आरामागारे—बाग में जहाँ घर हो। तह—तथा। नगरे—नगर में। य—पुनः। व—अथवा। एगया—एकदा। वासो—निवास किया। आ—अथवा। एगया—किसी समय। सुसाणे—श्मशान में। व—अथवा। सुण्णागारे—शून्यागार में। व—अथवा। रुक्खमूले—वृक्ष के नीचे। वासो—निवास किया।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने जहाँ पर नगर और ग्राम से बाहर प्रसंगवशात् लोग आकर ठहरते हों, ऐसे स्थान में, उद्यान-गृह में, नगर में, श्मशान, शून्य गृह में और वृक्ष के मूल में निवास किया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भी भगवान महावीर के ठहरने के स्थानों का वर्णन किया गया है। जहाँ श्रमजीवी लोग विश्राम करते हों, या बीमार व्यक्ति स्वच्छ वायु का सेवन करने के लिए कुछ समय के लिए आकर रहते हों, ऐसे स्थानों को 'आगन्तार' कहते हैं। ये स्थान प्रायः शहरों के बाहर होते हैं। क्योंकि शहरों के बाहर ही शुद्ध वायु उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त शहर के बाहर जो बाग-बगीचे होते हैं, जिनमें लोगों को एवं पशु-पक्षियों को विश्राम-आराम मिलता है, उन्हें आराम कहते हैं और उनमें बने हुए मकानों को आरामागार कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्मशान, शून्य मकान एवं और कुछ नहीं तो वृक्ष की छाया तो यत्र-तत्र सर्वत्र सुलभ हो ही जाती है।

उपर्युक्त सभी स्थान एकान्त एवं निर्दोष होने के कारण साधना के लिए बहुत उपयुक्त माने गए हैं। यों तो साधक के लिए सभी स्थान उपयुक्त हैं। जिस साधक का अपने योगों पर अधिकार है, वह सर्वत्र अपने चिन्तन में संलग्न रह सकता है और जिसका अपने योगों पर अधिकार नहीं है, वह एकान्त स्थान में भी स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए साधना में मकान की अपेक्षा चित्तवृत्ति की स्थिरता का महत्त्व अधिक है। फिर भी चित्तवृत्ति के ऊपर स्थान का भी कुछ असर होता है। महान साधक को वातावरण भी हिला नहीं सकता, परन्तु, सभी साधक भगवान महावीर जैसे साधना वाले नहीं थे और न अब हैं। उस युग के साधकों की साधना में भी परस्पर अन्तर था और आज के युग की साधना में भी अन्तर रहा हुआ है। इसलिए साधक को व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोष एवं विकारोत्पादक साधनों से रहित स्थान में ठहरना चाहिए। इसी वृत्ति का उपदेश देने के लिए समस्त विकारों एवं परीषहों पर विजय पाने में समर्थ भगवान महावीर चित्त को समाधि देने वाले एवं आत्म-चिन्तन को प्रगति देने वाले स्थानों में ठहरे। भगवान का आचार हमारे लिए जीवित शास्त्र है, जो हमारी साधना में स्फूर्ति एवं तेजस्विता लाने वाला है।

यह भी एक प्रश्न हो सकता है कि भगवान महावीर साधना काल में कब तक रहे? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे ।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिण् झाइ॥4॥

छाया— एतेषु मुनिः शयनेषु श्रमणः आसीत् प्रत्रयोदशवर्षम् ।
रात्रिं दिनमपि यतमानः अप्रमत्तः समाहितः ध्यायति॥

पदार्थ—मुणी—श्रमण भगवान महावीर । एएहिं सयणेहिं—इन पूर्वोक्त बस्तियों में । समणे—तपस्या युक्त होकर । आसि—स्थित रहे । पतेरसवासे—बारह वर्ष, छह मास और 15 दिन । राइंदिवंपि—रात-दिन । जयमाणे—यतना पूर्वक । अपमत्ते—निद्रा आदि प्रमादों से रहित । समाहिण्—समाधि युक्त होकर । झाइ—धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर इन पूर्वोक्त स्थानों में तप-साधना करते हुए

12 वर्ष, 6 महीने और 15 दिन तक रात-दिन यत्ना पूर्वक निद्रा आदि प्रमादों से रहित होकर समाधि पूर्वक धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने 12 वर्ष 6 महीने और 15 दिन तक पूर्व सूत्रों में उल्लिखित बस्तियों में वर्षावास एवं रात्रिवास किया। इतने समय तक भगवान छद्मस्थ रहे और सदा आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। इतने लम्बे काल तक भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली और न प्रमाद का सेवन ही किया। प्रमाद साधना का दोष है, इससे साधना दूषित होती है। इसलिए साधक को सदा सावधानी के साथ विवेक पूर्वक क्रिया करने का आदेश दिया गया है। आदेश ही नहीं, प्रत्युत भगवान महावीर ने अपने साधना-काल में अप्रमत्त रहकर साधक के सामने प्रमाद से दूर रहने का आदर्श रखा है।

यहां एक प्रश्न होता है कि भगवान के साधनाकाल में गोशालक उनके साथ रहने लगा और बाद में भगवान ने भी उसे अपना शिष्य मान लिया था। एक बार विहार करते समय उसने आतापना लेते हुए बाल सन्न्यासी का मखौल उड़ाया तथा उसका तिरस्कार किया। उस समय उस बाल तपस्वी को गोशालक पर क्रोध आ गया और उसने उसे जलाकर भस्म करने के लिए उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। जब गोशालक ने दूर से ही तेजोलेश्या को अपनी ओर आते हुए देखा तो वह चिल्लाया और अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगा। उस समय भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके पीछे की ओर शान्त नजर से देखा और शीतल लेश्या फैकी। उनकी साधना एवं अनन्त शान्ति के शीतल परमाणुओं ने तेजो लब्धि के संतप्त परमाणुओं को निस्तेज कर दिया। इस तरह गोशालक की रक्षा हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि इसमें भगवान ने दो गलतियाँ कीं—1—कुपात्र गोशालक को बचाया जिसने सदा भगवान को परेशान किया और 2—लब्धि फोड़कर पाप एवं प्रमाद का सेवन किया। आगम में कहा है कि वैक्रिय लब्धि फोड़ने वाले साधक को 5 क्रियाएं लगती हैं। इसी तरह तेजो लब्धि का प्रयोग करने वाले को भी 5 क्रियाओं का दोष लगता है और भगवान ने भी शीतल लेश्या—तेजो लब्धि के ही दूसरे रूप का प्रयोग किया था¹। इसलिए उस समय उन्हें भी 5 क्रियाएं लगीं। अतः फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान ने साधनाकाल में प्रमाद का सेवन नहीं किया?

आचारांग का यह कथन कि भगवान ने साढ़े बारह वर्ष और 15 दिन तक अप्रमत्त भाव से साधना की, यह प्रसंग भगवान महावीर के सर्वज्ञ होने के बाद का है और सर्वज्ञ पुरुष कभी भी किसी बात को छिपाते नहीं, घटा-बढ़ाकर या गलत रूप में कहते नहीं। वे अपने द्वारा किए गए दोष का भी उसी रूप में उल्लेख कर देते हैं, उनकी वाणी में अन्यथा बात नहीं होती, इसलिए हम कह सकते हैं कि भगवान ने साधनाकाल में प्रमाद का सेवन नहीं किया।

भगवान महावीर ने जिस समय गोशालक को बचाया, उस समय वे छद्मस्थ तो थे, परन्तु हम जैसे अल्पज्ञ नहीं थे। उस समय केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष 4 ज्ञान से युक्त थे और कल्पातीत थे। इसलिए उनके लिए कोई कल्प या मर्यादा नहीं थी। वे अपने विशिष्ट ज्ञान में जैसा उपयुक्त देखते, वैसा करते थे। अतः उनकी साधना की हम आलोचना करने की योग्यता नहीं रखते। क्योंकि उनमें चार ज्ञान थे और हममें दो ज्ञान हैं, वे भी विशुद्ध एवं पूर्ण नहीं हैं। इसलिए उनकी साधना के लिए जिसका उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञ होने के बाद किया है, कुछ कहना अपनी अज्ञानता को ही प्रकट करना है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र्य मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व के अस्तित्व का पता पांच कारणों से चलता है—1—सम, 2—संवेग, 3—निर्वेद, 4—अनुकम्पा और 5—आस्तिक्य। इनमें अनुकम्पा को सम्यक्त्व का चौथा लक्षण बताया है। उसके अभाव में सम्यक्त्व का ही अस्तित्व नहीं रह पाता, तो श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना कैसे रह सकती है? ऐसी स्थिति में भगवान द्वारा की गई गोशालक की रक्षा को दोष युक्त कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि भगवान ने किसी स्वार्थवश गोशालक का संरक्षण नहीं किया, अपितु अनुकम्पा एवं दयाभाव से उन्होंने उसको बचाया था। जब साधक के जीवन में अनुकम्पा का सागर लहराता है, उस समय वह व्यक्ति के मुख को नहीं देखता कि वह बचने वाला मेरा मित्र है या शत्रु है, कपूत है या सपूत है। ये सारे प्रश्न स्वार्थी जीवन में उठते हैं, साधक के लिए सपूत-कपूत, शत्रु-मित्र सब समान होते हैं और भगवान महावीर जैसे महान् साधक के हृदय में भेद की रेखा को अवकाश ही नहीं था। अतः उनकी अनुकम्पा एवं दया युक्त भावना को सदोष बताना साधना के स्वरूप को नहीं जानना है।

वैक्रिय लब्धि एवं तेजोलब्धि का प्रयोग करने में आरम्भ-समारम्भ होता है। वैक्रिय लब्धि करते समय अनेक पुद्गलों को ग्रहण करने में सूक्ष्म हिंसा हो सकती है एवं मन में अहंकार आदि विकार भी जाग सकता है और तेजोलब्धि से तो प्रत्यक्ष रूप से प्राणियों को परिताप होता ही है। जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग किया जाता है, वह व्यक्ति जलकर भस्म भी हो जाता है और उस व्यक्ति तक पहुंचने के पथ में अनेक निरपराध स्थावर एवं त्रस जीवों की भी हिंसा होती है, अतः उसमें 5 क्रियाओं का लगना स्पष्ट है, परन्तु शीतल लब्धि तेजोलब्धि से भिन्न है। यह ठीक है कि यह तेजोलब्धि का ही एक रूप है, परन्तु इतना मात्र होने से वह सदोष नहीं कही जा सकती। जैसे हिंसा दया एवं अहिंसा का ही एक रूप है, अहिंसा हिंसा का दूसरा बाजू है या यों कहिए हिंसा अहिंसा का विपरीत रूप है। परन्तु, इतने मात्र से दोनों समान नहीं हो जाती हैं। हिंसा की तरह अहिंसा को हम सदोष नहीं कह सकते। हिंसा में दूसरे को परिताप देने की एवं नुकसान पहुंचाने की भावना होने से वह सदोष है, पापमय है। परन्तु अहिंसा में दूसरे की रक्षा करने की भावना रहती है, पर-प्राणी को शान्ति पहुंचाने की वृत्ति रहती है और यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि परिताप, संताप देने एवं उन्हें दूर करके शान्ति-सुख पहुंचाने का प्रयत्न एक समान नहीं हो सकता।

यही बात तेजोलब्धि और शीतललब्धि के सम्बन्ध में है। तेजोलब्धि का प्रयोग क्रोध एवं आवेश के क्षणों में होता है और क्रोध एवं आवेश के समय मनुष्य का मन संतप्त एवं दग्ध रहता है, इसलिए तेजोलब्धि के परमाणु भी तप्त एवं प्रज्वलित निकलते हैं और वे जिस व्यक्ति पर पड़ते हैं, उसे संतप्त करते हैं, जलाकर भस्म कर देते हैं। परन्तु शीतल लेश्या शान्ति के क्षणों में प्रसारित की जाती है। उस समय साधक का मन दया, करुणा, क्षमा एवं शान्ति से आप्लावित होता है। उसके जीवन के कण-कण में प्रेम-स्नेह, वात्सल्य एवं विश्वबन्धुत्व की निर्मल भावना का प्रवाह प्रवाहित रहता है। इसलिए उसके जीवन से निकलने वाले परमाणु इतने शान्त एवं शीतल होते हैं कि जिस व्यक्ति पर वे गिरते हैं, उसे ताप-संताप से बचा लेते हैं। इसी अन्तर के कारण तेजोलब्धि को सदोष माना है और शीतल लब्धि को निर्दोष। क्योंकि शीतल लब्धि का प्रयोग करने वाले के लिए कहीं भी आलोचना करने का

उल्लेख नहीं है और इससे किसी प्राणी का अहित नहीं होता, इसलिए इसके प्रयोग में 5 क्रियाएं नहीं लगतीं।

यह ठीक है कि इसका लब्धि के रूप में उल्लेख किया गया है, परन्तु, इसका प्रयोग वैक्रिय, तेजस आदि लब्धियों की तरह नहीं होता। इसलिए यह कहना भी गलत है कि छद्मस्थ अवस्था में लब्धि फोड़ते हुए साधक दोष का सेवन करता है। जैसे अन्य लब्धियों का प्रयोग किया जाता है, उस तरह इसका प्रयोग नहीं किया जाता। आगमों में बताया गया है कि तीर्थंकर भगवान जहां विचरते हैं, उसके आस-पास लगभग 200 मील तक प्रायः अशान्ति एवं उपद्रव नहीं रहता। यह उनकी अनन्त शान्ति या शीतलता के परमाणुओं का ही प्रभाव है। सर्वज्ञ होने के बाद उनमें अनन्त-अनन्त शान्ति प्रकट हो जाती है और उनके जीवन में निकलने वाले शान्त परमाणु बहुत दूर तक प्रदेश में फैल गए अशान्त परमाणुओं को शान्त कर देते हैं। फिर भी उनकी साधना सदोष नहीं मानी जाती। क्योंकि शीतलता एवं शान्ति आत्मा की विशुद्ध शक्ति है, न कि तेजोलब्धि की तरह आत्मगुणों से भिन्न शक्ति है। शीतलता आत्मा का गुण है और उष्णता आत्मा का विकार है। इसलिए दोनों को समान बताकर सदोष कहना बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है।

यह भी कहा जाता है कि जब आग को पानी से बुझाते हैं तो उसमें दोष लगता है। तो यहां भगवान की शीतल लब्धि के प्रयोग से बाल तपस्वी द्वारा छोड़ी गई तेजोलब्धि मार्ग में ही प्रतिहत—नष्ट कर दी गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस आग को नष्ट करना भी तो दोष युक्त है? आग और तेजोलब्धि एक नहीं हैं; इसलिए यहां आग-पानी का उदाहरण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। किसी वस्तु में जलाने की शक्ति होने मात्र से वह वस्तु सजीव नहीं मानी जा सकती। सूर्य की प्रखर किरणों को उपयुक्त शीशे पर केन्द्रित कर लिया जाए और उसके नीचे घास या रूई रख दी जाए तो वह तुरन्त जल जाएगी। इसी तरह राजस्थान के रेगिस्तान में ग्रीष्म-ऋतु के दोपहर में नंगे पैर चला जाए तो पैरों में फफोले चमक उठेंगे, परन्तु इतने मात्र से सूर्य की किरणों एवं उनसे तप्त रजकणों को—जो जलाने की भी शक्ति रखते हैं, सजीव नहीं कह सकते। इसी तरह तेजोलब्धि भी जलाने की शक्ति रखते हुए भी सजीव नहीं है। आगम में तेजोलब्धि के पुद्गलों को अजीव कहा है। इसलिए उनके प्रतिहत होने में किसी तरह की हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यहां प्रतिहत

शब्द उसके ताप को शान्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, न कि किसी प्राणी को नाश करने के अर्थ में। अतः इस शब्द को लेकर उसके प्रयोग को सदोष कहना समझ का अभाव है।

इतनी लम्बी विचार-चर्या के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे कि भगवान ने साधनाकाल में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। वे सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान में ही संलग्न रहे और यह वर्णन किसी गणधर या आचार्य द्वारा नहीं किया गया है, प्रत्युत स्वयं भगवान ने इसका उल्लेख किया है¹।

भगवान की अप्रमत्त साधना का और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—निर्दपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।

जग्गावेइ य अप्पाणं इसिं साईय अपडिन्ने॥५॥

छाया—निद्रामपि न प्रकामतः, सेवते भगवान् उत्थाय।

जागरयति च आत्मानं, ईषच्छायी च अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—निर्दपि—भगवान निद्रा का भी। **नोपगामाए सेवइ—**सेवन नहीं करते। यदि कभी निद्रा आने लगती तो। **भगवं—**भगवान। **उट्ठाए—**उठकर। **अप्पाणं—**अपनी आत्मा को। **जग्गावेइ य—**जागृत करते। **इसिंसाईय—**थोड़ी-सी निद्रा आने लगी कि अपनी आत्मा को अप्रमत्त भाव में लाकर, उसको उठाते, और। **अपडिन्ने—**निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर निद्रा का सेवन नहीं करते थे। यदि कभी उन्हें निद्रा आती भी थी तो वे सावधान होकर आत्मा को जगाने का यत्न करते। वे निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली। क्योंकि यह भी प्रमाद का एक रूप है। इसलिए भगवान सदा इससे दूर रहने का प्रयत्न करते थे। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है। इस कर्म का क्षय होने के बाद

1. इस बात को नवम अध्ययन के प्रारंभ में प्रतिज्ञा सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

निद्रा नहीं आती और भगवान इस कर्म को क्षय करने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः जब भी निद्रा आने लगती थी, तब वे सावधान होकर जागृत होने का प्रयत्न करते। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया और कभी आने भी लगी तब भी वे उसमें जागृत ही रहे। द्रव्य से भले ही क्षण भर के लिए निद्रित हो गए हों, परन्तु भाव से वे सदा जागते रहे। क्योंकि ऐसा वर्णन आता है कि एक बार भगवान को क्षण मात्र के लिए झपकी—निद्रा आ गई थी और उसमें उन्होंने 10 स्वप्न देखे थे¹। परन्तु, उन्होंने निद्रा लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया तथा द्रव्य निद्रा लेने की उनकी भावना न होने से इसे अनिद्रा ही कहा गया है। क्योंकि इस तरह आने वाली झपकी को भी वे सदा दूर करने का प्रयत्न करते रहे थे।

वे निद्रा को कैसे दूर करते थे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— संबुझमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए।

निक्खम एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तगं॥6॥

छाया— संबुध्यमानः पुनरपि, अवगच्छन् भगवान् उत्थाय।

निष्क्रम्य एकदा रात्रौ, बहिश्चक्रम्य मुहूर्तकम्॥

पदार्थ—पुणरवि—फिर भी। **संबुझमाणे भगवं—**निद्रा को प्रमाद रूप जानने वाले भगवान महावीर। **उट्ठाए—**संयमानुष्ठान में व्यवस्थित होकर। **आसिंसु—**अप्रमत्त भाव से विचरण करते थे। सावधानी रखते हुए भी यदि कभी झपकी आने लगती तो। **एगया—**कभी सर्दी की। **राओ—**रात में। **बहि—**बाहर निकल कर। **मुहुत्तगं चंकमिया—**मुहूर्त मात्र चंक्रमण करके पुनः ध्यान एवं आत्मचिन्तन में संलग्न हो जाते थे।

मूलार्थ—निद्रा रूप प्रमाद को संसार का कारण जानकर भगवान सदा अप्रमत्त भाव से संयम-साधना में संलग्न रहते थे। यदि कभी शीत काल में निद्रा आने लगती तो भगवान मुहूर्त मात्र के लिए बाहर निकल कर चंक्रमण करने लगते। वे थोड़ी दूर घूम-फिर कर पुनः ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न हो जाते।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि भगवान महावीर सदा प्रमाद से दूर रहे हैं। उन्होंने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है और दर्शनावरणीय कर्म संसार-परिभ्रमण का कारण है। वह अनन्त दर्शन शक्ति को आवृत किए हुए है। अतः भगवान उसे नष्ट करने के लिए उद्यत हो गए। निद्रा आने के मुख्य कारण हैं—अति भोग-विलास और अति आहार। भगवान ने भोगों का सर्वथा त्याग कर दिया था और आहार भी वे स्वल्प ही करते थे। उनके बहुत-से दिन तो तपस्या में बीतते थे, पारणे के दिन भी वे रुक्ष एवं स्वल्प आहार ही स्वीकार करते थे। इससे उनकी अप्रमत्त साधना में तेजस्विता बढ़ती गई। फिर भी यदि कभी उन्हें निद्रा आने लगती तो वे खड़े होकर उसे दूर करते थे। यदि सर्दी के दिनों में गुफा में या किसी मकान में स्थित रहते हुए निद्रा आने लगती तो वे बाहर खुले में आकर थोड़ी देर चंक्रमण करने—टहलने लगते। इस तरह भगवान सदा द्रव्य एवं भाव से जागृत रहे। द्रव्य से उन्होंने कभी निद्रा का सेवन नहीं किया और भाव से सदा रत्नत्रय की साधना में संलग्न रहे।

भगवान की विहारचर्या में उत्पन्न होने वाले कष्टों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य ।
 संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति॥7॥
 अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्ति हत्थाय ।
 अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइ या पुरिसा य ॥8॥

छाया— शयनेषु तत्रोपसर्गा भीमाः आसन् अनेक रूपाश्च ।
 संसर्पाकाश्च ये प्राणाः अथवा ये पक्षिणः उपचरन्ति॥
 अथकुचरा उपचरंति, ग्रामरक्षकाश्च शक्तिहस्ताश्च ।
 अथ ग्रामिका उपसर्गाः स्त्रिय एकाकिनः पुरुषाश्च॥

पदार्थ—तत्थ सयणेहिं—भगवान को उन बस्तियों में। जे—जो। संसप्पगा—सर्पादि। पाणा—प्राणियों से युक्त हैं। य—और। अदुवा—अथवा। पक्खिणो—गृधादि पक्षी हैं। य—पुनः। उवचरंति—भगवान के निकट मांसादि का भक्षण करते हैं, वहां

उन्हें। अणेगरूवा—अनेक तरह के। भीमा—भयंकर उपसर्ग। आसी—हुए। एगइ—एकाकी विचरण करने वाले भगवान का। कुचरा—चोरादि। उवचरंति—आकर कष्ट देते थे। य—पुनः। अदुवा—अथवा। सत्तिहत्था—सशस्त्र। गामरक्खा—ग्राम रक्षक—कोतवाल। अदु—अथवा। गामिया इत्थी—विषय-वासना से उन्मत्त हुई स्त्रियां। य—तथा। पुरिसा—पुरुष उन्हें। उवसग्गा—उपसर्ग—कष्ट देते थे।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानों में जहां सर्पादि विषैले जन्तु एवं गृध्रादि मांसाहारी पक्षी रहते थे, उन्होंने भगवान महावीर को अनेक कष्ट दिए।

इसके अतिरिक्त चोर, सशस्त्र कोतवाल, व्यभिचारी व्यक्ति, विषयोन्मत्त स्त्रियों एवं दुष्ट पुरुषों के द्वारा भी एकाकी विचरण करने वाले भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग प्राप्त हुए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथाओं में बताया गया है कि भगवान महावीर को साधनाकाल में अनेक कष्ट उत्पन्न हुए। भगवान महावीर प्रायः शून्य मकानों, जंगलों एवं श्मशानों में विचरते रहे हैं। शून्य घरों में सर्प, नेवले आदि हिंस्र जन्तुओं का निवास रहता ही है। अतः वे भगवान को डंक मारते, काटते और इसी तरह श्मशानों में गृध्रादि पक्षी उन पर चोंच मारते थे। इसके अतिरिक्त चोर-डाकू एवं धर्म-द्वेषी व्यक्तियों तथा व्यभिचारी पुरुषों एवं भगवान के सौंदर्य पर मुग्ध हुई कामातुर स्त्रियों ने भगवान को अनेक तरह के कष्ट दिए। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

साधना में स्थित साधक अपने शरीर एवं शरीर संबन्धी सुख-दुःख को भूल जाता है। ध्यानस्थ अवस्था में उसका चिन्तन आत्मा की ओर लगा रहता है, अतः क्षुद्र जन्तुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट को वह अनुभव नहीं करता। साधक के लिए बताया गया है कि ध्यान के समय यदि कोई जन्तु काट खाए तो उसे उस समय अपनी साधना से विचलित नहीं होना चाहिए। साधक को उत्पन्न होने वाले कष्ट को पूर्व अशुभ कर्म का कारण या निमित्त समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे केवल शरीर को कष्ट पहुंचता है और यदि कोई शरीर का ही विनाश करने लगे, तब भी यही सोचना चाहिए कि ये मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं, परन्तु मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकते। मेरी आत्मा शरीर से भिन्न है, अविनाशी

है। उसका नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। इस तरह आत्मा का चिन्तन करते हुए भगवान सभी कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए कर्मों का नाश करने लगे।

हिंस्र पशु-पक्षी एवं अधार्मिक व्यक्ति भी एकान्त स्थान पाकर उन्हें कष्ट पहुंचाते और कुछ कामुक स्त्रियां भी एकान्त स्थान पाकर उनसे विषय-पूर्ति की याचना करतीं। भगवान के द्वारा उनकी प्रार्थना के स्वीकार न करने पर वे उन्हें विभिन्न तरह के कष्ट देतीं। इस तरह उन पर अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल कष्ट आए। ऐसे घोर कष्टों को सहन करना साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है। प्रतिकूल उपसर्गों की अपेक्षा अनुकूल उपसर्गों को सहन करना अत्यधिक कठिन है। साधारण साधक उनसे घबरा कर भाग खड़ा होता है। परन्तु भगवान महावीर समभाव से उन सब कष्टों पर विजय पाते रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं ।

अविं सुब्बिदुब्बिगन्धाइं सदाइं अणेगरूवाइं॥9॥

छाया— ऐह लौकिकान् पारलौकिकान् भीमान् अनेकरूपान् ।

अपि सुरभिदुरभि गन्धान्, शब्दान् अनेकरूपान्॥

पदार्थ—इहलोइयाइं—भगवान इस लोक के—मनुष्य एवं तिर्यच द्वारा दिए जाने वाले एवं। परलोइयाइं—देवों द्वारा दिए जाने वाले उपसर्गों को सहन करते थे, और। अपि—संभावनार्थक है। सुब्बिदुब्बिगन्धाइं—सुवासित एवं दुर्वासित अथवा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों को सूंघकर तथा। अणेग रूवाइं सदाइं—अनेक प्रकार के कटु एवं मधुर शब्दों को सुनकर भगवान हर्ष एवं शोक नहीं करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षियों द्वारा दिए गए उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे और सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों से आने वाली सुगन्ध एवं दुर्गन्ध तथा कटु एवं मधुर शब्द सुनकर उन पर हर्ष एवं शोक नहीं करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने साधनाकाल में सबसे अधिक कष्ट सहन किए। कहा जाता है कि 23 तीर्थंकरों के कर्म और भगवान महावीर के कर्म बराबर थे। इन्हें नष्ट करने

के लिए भगवान साधनापथ पर चल पड़े। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन से परीषहों की बिजलियां कड़कड़ाने लगीं। उनके उपसर्गों का प्रारम्भ एक ग्वाले की अज्ञानता से हुआ और अंत भी ग्वाले के हाथ से हुआ। पहला और अन्तिम कष्ट-प्रदाता ग्वाला था। बीच में अनार्य देश में मनुष्यों एवं देवों के द्वारा भी भगवान को अनेक कष्ट दिए गए। छह महीने के लगभग संगम देव ने भगवान को निरन्तर कष्ट दिया। एक रात्रि में उसने भगवान को 20 तरह के कष्ट दिये। फिर भी भगवान अपनी साधना में मेरु पर्वत की तरह अडिग रहे। भगवान का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर था, अतः वह दुःखों की महा आग से भी पिघला नहीं और मक्खन से भी अधिक सुकोमल था। अतः वह पर दुःख को नहीं सह सका, कहा जाता है कि संगम के कष्टों से भगवान बिलकुल विचलित नहीं हुए। परन्तु अब वह जाने लगा तो भगवान के नेत्रों से भी आंसू की दो बूंदें ढुलक पड़ीं। संगम के बढ़ते हुए कदम रुक गए और उसने भगवान से पूछा कि जब मैं आपको कष्ट दे रहा था, तब आपके मन में दुःख का संवेदन नहीं देखा। अब तो मैं जा रहा हूं, न तो आपको कष्ट दे रहा हूं और न भविष्य में ही दूंगा, फिर आप के नेत्रों में आंसू की बूंदें क्यों? भगवान ने कहा—हे संगम! मुझे कष्टों का बिलकुल दुःख नहीं है। मुझे अनेक देव एवं मनुष्यों ने कष्ट दिए और उनसे मैं कभी नहीं घबराया, परन्तु जितने भी व्यक्ति मुझे कष्ट देने आए थे, वे अपने अपराधों को समझकर उनकी क्षमा याचना करके और अपने हृदय में सम्यग् ज्ञान की ज्योति जगा कर गए। परन्तु, तुम अपने दुष्ट कार्यों का बिना पश्चात्ताप किए और अपराध की क्षमा याचना किए बिना ही जा रहे हो। अभी तो तुम्हें ज्ञान नहीं है कि इसका परिणाम क्या आने वाला है, परन्तु, जब तुम्हें इन कर्मों का फल भोगना पड़ेगा, तब तुम्हारी क्या स्थिति होगी, तुम्हारी उस अनागत काल की स्थिति को देखकर मेरा मन दया से भर गया है। यह है भगवान महावीर की साधना, जो घोर कष्टों में भी मुसकराते हुए साधना के पथ पर बढ़ते रहे। न ग्वाले के प्रहार से घबराए, न चंडकौशिक जैसे महाविषधर से डरे और न संगम जैसे देवों के द्वारा प्रदत्त घोर कष्टों से विचलित हुए। वे सदा दुःखों की संतप्त दुपहरियों में मुसकराते हुए साधना-पथ पर बढ़ते रहे।

उनकी कष्टसहिष्णुता के विषय में सूत्रकार बताते हैं—

मूलम्—अहियासए सया समिए फासाइं विरुवरूवाइं ।

अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाइ॥10॥

छाया—अध्यासयति सदा समितः, स्पर्शान् विरुपरूपान् ।

अरतिरतिं अभिभूयते माहन, अबहुवादी॥

पदार्थ—विरुवरूवाइं—भगवान महावीर नाना प्रकार के । फासाइं—दुःख रूप स्पर्शों को । अहियासए—सहन करते थे । सयासमिए—वे सदा पांच समिति से युक्त रहते थे । अरइं—अरति और । रइं—रति को । अभिभूय—पराभूत करके । माहणे—भगवान महावीर । अबहुवाइ—प्रमाण से बोलने वाले थे और । रीयइ—संयमानुष्ठान में स्थित रहते थे ।

मूलार्थ—भगवान महावीर विविध परीषहों को सहन करते थे । वे सदा पांचों समिति से युक्त रहते थे । उन्होंने रति-अरति पर विजय प्राप्त कर ली थी । इस प्रकार संयमानुष्ठान में स्थित भगवान महावीर बहुत कम बोलते थे ।

हिन्दी-विवेचन

भगवान साधनाकाल में समिति-गुप्ति से संपन्न थे । न उन्हें भोगों के प्रति अनुराग था और न संयम में अरति थी । ये दोनों महादोष साधक को साधनापथ से भ्रष्ट करने वाले हैं और भगवान ने इन दोनों का सर्वथा त्याग कर दिया था । वे साधनाकाल में अत्यन्त कम बोलते थे । आहार की याचना करते समय या किसी से विहार में मार्ग पूछने के लिए या किसी विशेष परिस्थिति में—जैसे गोशालक द्वारा तिल के पौधे में कितने बीज या जीव हैं के प्रश्न का उत्तर देने तथा तेजोलब्धि के प्राप्त होने की विधि बताने के लिए ही उन्हें बोलना पड़ा था । इसके अतिरिक्त वे सदा मौन ही रहते थे और इस तरह साधना में संलग्न रहते हुए उन्होंने सब परीषहों पर विजय प्राप्त की ।

भगवान के ऊपर आए हुए उपसर्गों का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचरा वि एगयाराओ ।

अव्वाहिय कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिपन्ने॥11॥

छाया—स जनैस्तत्र (पृष्ठ) पप्रच्छुधएकचरा अपि एकरात्रो ।

अव्याहते कषायिताः प्रेक्षमाणः समाधियप्रतिज्ञा ।

पदार्थ—स—भगवान महावीर। जणेहिं—लोगों के द्वारा। पुच्छिसु—यह पूछने पर कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो, तथा। एगया—कभी। राओ—रात्रि में। एगचर वि—अकेले घूमने वाले व्यभिचारी व्यक्तियों के उक्त प्रश्न पूछने पर भगवान। अव्वाहिए—उसका उत्तर नहीं देते, इस कारण वे। कसाइया—क्रोधित होकर उन्हें मारने लगते, फिर भी भगवान। समाहिं—समाधि में। पेहमाणे—स्थित रहते। अपडिपन्ने—परन्तु, उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखते।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानों में स्थित भगवान को राह चलते व्यक्ति एवं दुराचार का सेवन करने के लिए एकान्त स्थान की खोज करने वाले व्यभिचारी व्यक्ति पूछते कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो? भगवान उनका कोई उत्तर नहीं देते। इससे वे क्रुद्ध होकर उन्हें मारने-पीटने लगते, फिर भी भगवान शान्त भाव से परीषहों को सहन करते, परन्तु वे उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नहीं रखते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर साधनाकाल में प्रायः शून्य घरों में ठहरते और वहीं ध्यान में संलग्न रहते। ऐसे स्थानों में प्रायः चोर या व्यभिचारी या जुआरी आदि व्यसनी लोग छिपा करते थे या छिपकर दुर्व्यसनों का सेवन किया करते थे। इसलिए कुछ लोग उन्हें चोर समझ कर मारते-पीटते एवं अनेक तरह से कष्ट देते। कुछ दुर्व्यसनी एवं व्यभिचारी व्यक्ति वहां अपनी दुर्वृत्ति का पोषण करने पहुंचते और वहां भगवान को खड़े देखकर उन्हें पूछते कि तुम कौन हो और यहां क्यों खड़े हो? भगवान उसका कोई उत्तर नहीं देते। तब वे उन्हें अपने दुराचार के पोषण में बाधक समझ कर आवेश में आकर उन्हें अनेक तरह के कष्ट देते। इस तरह अनेक व्यक्ति भगवान को महान कष्ट देते थे। फिर भी वह महापुरुष सुमेरु पर्वत की तरह अपनी साधना में स्थित रहता। वचन और शरीर से तो क्या, मन से भी वे कभी विचलित नहीं हुए।

इस तरह कष्ट देने वाले प्राणियों पर भी मैत्री भाव रखते हुए भगवान घोर कष्टों को समभाव से सहते रहे और इस साधना से भगवान ने कर्म समूह का नाश कर दिया। अतः कर्मों की निर्जरा के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने ऊपर आने वाले परीषहों को समभाव से सहन करे। साधक को सदा-सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि वह साधनाकाल में जहां तक संभव हो सके मौन रहे, परीषहों के समय सहिष्णु

रहे, उस समय भी समाधि भाव में स्थित रहे और प्रतिशोध लेने की भावना न रखे।

मौन जीवन की बहुत बड़ी शक्ति है। बोलने से मनुष्य की शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिकों ने अन्वेषण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जितना अधिक बोलता है, वह उतना ही जल्दी मरता है। क्योंकि उसकी शक्ति अधिक नष्ट होती है और शक्ति के क्षय होने का अर्थ है—मृत्यु को प्राप्त करना। जैनागमों में आयुष्य का नाप वर्षों, महीनों, दिनों, घड़ियों एवं मिनटों में नहीं, अपितु श्वासोच्छ्वास में माना गया है। मनुष्य जितना तेज चलता है, जितना अधिक एवं जोर से बोलता है, जितना ज्यादा शयन करता है, जितना ज्यादा भोग-विलास एवं व्यसनों में संलग्न रहता है, उसका श्वास उतनी ही तीव्र गति से चलता है और वह अपनी संचित आयु कर्म की पूंजी को थोड़े समय में ही भोगकर आगे के लिए चल पड़ता है और जो व्यक्ति चलने, बैठने, बोलने, खाने-पीने एवं भोग भोगने में जितना अधिक संयम एवं विवेक रखता है, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। चूँकि मौन में साधक के श्वासोच्छ्वास तेजी से नहीं चलते, इसलिए मौन रखना एवं स्वल्प, धीमे और मृदु स्वर में बोलना जीवन को संभाल कर रखना है। अस्तु, वैज्ञानिक एवं आगमिक दृष्टि से अधिक बोलना अहितकर है और मौन रखना या मर्यादित बोलना हितप्रद है।

अधिक बोलने से मनुष्य की शक्ति का क्षय भी होता है और साथ में मानसिक चिन्तन भी बिखर जाता है और मौन रखने से मनुष्य की वह शक्ति चिन्तन में लगी रहती है और उससे आत्मा का विकास होता है। इसलिए मौन आत्मविकास में सहायक है।

अधिक बोलने से व्यर्थ के झगड़े बढ़ते हैं और फिर मनुष्य किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता और साधक के लिए यह सबसे बड़ा दोष है। चूँकि अधिक बोलने से सहिष्णुता का नाश होता है, इसलिए मौन सहिष्णुता को बढ़ाने वाला है। सहिष्णुता से संसार के संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और मन समाधि भाव में संलग्न हो जाता है। इससे वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना का नाश हो जाता है। इस तरह शुद्ध भाव से रखा गया मौन सर्व गुणों में अभिवृद्धि करने वाला है। यह लोकोक्ति भी बिलकुल सही है—सब काम सिद्ध करने के लिए 'एक नकार भली।' अर्थात् मनुष्य

किसी भी संघर्ष का उत्तर न देकर आत्मचिन्तन में या अपने दोष देखने में लगा रहे तो उसके समस्त कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। श्रमण महावीर भी साधनाकाल में बहुत कम बोलते थे।

किसी भी व्यक्ति के द्वारा अधिक आग्रहपूर्वक पूछने पर भगवान ने क्या उत्तर दिया, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अयमंतरंसि को इत्थ? अहमंसिति भिक्खु आहट्टु।

अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ॥12॥

छाया—अयमन्तः कोऽत्र! अहमस्मीति भिक्षुः आहत्य।

अयमुत्तमः सधर्मः, तूष्णीकः कषायितेपिध्यायति ॥

पदार्थ—अयमंतरंसि—इस स्थान में यह। **कोइत्थ?—**कौन है? ऐसा पूछने पर भी भगवान मौन ही रहते। जब कोई विशेष कारण उपस्थित होता, तब वे केवल इतना कहते कि। **अहमंसिति भिक्खु—**मैं भिक्षु हूँ। **आहट्टु—**यह सुनकर यदि वे कहते कि तुम यहां से चले जाओ तो भगवान उस जगह को अप्रीति का स्थान समझ कर वहां से चले जाते। और यदि वे जाने के लिए न कहकर केवल उन पर क्रोध करते तो भगवान मौन वृत्ति से वहीं पर स्थित रहते और उनके द्वारा दिए गए उपसर्ग को समभाव पूर्वक सहन करते। **से—वे। अयमुत्तमे धम्मे—**यह समझ कर कि आत्म चिन्तन एवं सहिष्णुता सर्व श्रेष्ठ धर्म है, अतः वे। **तुसिणीए—**मौन रह कर। **कसाइए—**उनके क्रोधित होने पर भी। **झाइ—**ध्यान—आत्मचिन्तन से विचलित नहीं होते थे।

मूलार्थ—इस स्थान के भीतर कौन है? इस प्रकार वहां पर आए हुए व्यभिचारी व्यक्तियों के पूछने पर भगवान मौन रहते। यदि कोई विशेष कारण उपस्थित होता तो वे इतना ही कहते कि मैं भिक्षु हूँ। इतना कहने से भी यदि वे उन्हें वहां से चले जाने को कहते तो भगवान उस स्थान को अप्रीति का कारण समझ कर वहां से अन्यत्र चले जाते। यदि वे व्यक्ति उन पर क्रुद्ध होकर उन्हें कष्ट देते तो भगवान समभाव पूर्वक उसे सहन करते और ध्यान रूप धर्म को सर्वोत्तम जानकर उन गृहस्थों के क्रुद्ध होने पर भी वे मौन रहते हुए अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में पूर्व गाथा की बात को ही दुहराया गया है। कुछ दुर्व्यसनी व्यक्तियों द्वारा पूछने पर कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो? भगवान मौन रहते। यदि वे अधिक आग्रहपूर्वक पूछते और उन्हें उत्तर देना आवश्यक होता तो भगवान इतना ही कहते कि—“मैं भिक्षु हूं।” यदि इस पर भी वे सन्तुष्ट नहीं होते और भगवान को वहां से चले जाने के लिए कहते तो भगवान शांत भाव से चले जाते और यदि वे जाने के लिए नहीं कहते तो भगवान वहीं अपने ध्यान एवं चिन्तन में संलग्न रहते और उनके द्वारा दिए गए परीषहों को समभाव से सहते। साधक जिस स्थान में स्थित है, यदि वह स्थान अप्रीति का कारण बनता है तो साधक को मकान मालिक के यह कहने पर कि तुम यहां से चले जाओ, साधक को अन्य स्थान में चले जाना चाहिए और यदि वह स्थान अप्रीति का कारण नहीं बनता है तो उसे वहीं अपनी साधना में संलग्न रहते हुए परीषहों को सहन करना चाहिए।

भगवान की शीतकाल की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— तंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते ।

तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति॥13॥

छाया— यस्मिन्प्येके प्रवेयन्ते (प्रवेदयन्ति) शिशिरे मारुते प्रवाति ।

तस्मिन्प्येके अनगाराः हिमवाते निवातमेषयन्ति ॥

पदार्थ—सिसिरे—शीतकाल में। सिप्पेगे—जिस समय शीत पड़ता है, तब कई एक व्यक्ति वस्त्रादि के अभाव के कारण। पवेयन्ति—कांपते रहते हैं, और। मारुए पवायन्ते—हिम के पड़ने से शीतल वायु चलता है। तंसिप्पेगे—उसमें कई एक। अणगारा—साधु। हिमवाय—हिम बर्फ के गिरने पर। निवाय मेसन्ति—हवा रहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलार्थ—जिस समय शीत पड़ता है, तब कई एक साधु कांपने लगते हैं। शिशिर काल में जब शीतल पवन चलता है, उस समय कई एक अनगार हिम के पड़ने पर निर्वात—वायुरहित स्थान की गवेषणा करते हैं।

मूलम्—संघाडओ पवेसिस्सामो एहाय समादहमाणा ।

पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमग संफासा॥14॥

छाया—संघाटीः प्रवेक्ष्यागः एधाञ्च समादहन्तः ।

पिहिताः वा शक्ष्यामः अतिदुःख हिम संस्पर्शाः॥

पदार्थ—हिमग संफासा—हिम जन्य शीत स्पर्श । अइदुक्खे—अत्यन्त दुःख देने वाला है, अतः कई साधु सोचते हैं कि । संघाडओ—शीत निवारण के लिए चादर आदि वस्त्र को । पवेसिस्सामो—पहनेंगे । य—और । एहायसमाहमाणा—वे जलाने के लिए काष्ठ दूढ़ते हैं । पिहिया व सक्खामो—कम्बल आदि वस्त्र पहनते हैं ।

मूलार्थ—शीत काल में जब ठंडी हवा चलती है एवं बर्फ गिरती है, उस समय सर्दी को सहन करना कठिन होता है । उस समय कई साधु यह सोचते हैं कि सर्दी से बचने के लिए वस्त्र पहनेंगे या बन्द मकान में ठहरेंगे । कई अन्य मत के साधु-सन्न्यासी शीत निवारणार्थ अग्नि जलाने के लिए ईंधन खोजते हैं एवं कम्बल धारण करते हैं ।

मूलम्—तंसि भगवं अपडिन्ने अहे बिगडे अहीयासए ।

दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए॥15॥

छाया—तस्मिन् भगवान् अप्रतिज्ञः अधोविकटे अध्यासयति ।

द्राविकः निष्क्रम्य, एकदा रात्रौ स्थिती भगवान् समतया ।

पदार्थ—भगवं—भगवान् । तंसि—से शीतकाल में । अपडिन्ने—निर्वात—वायु-रहित स्थान की याचना रूप प्रतिज्ञा से रहित होकर । अहीयासए—शीत परीषह को समता पूर्वक सहन करते । अहे बिगडे—चारों तरफ की दीवारों से रहित केवल उपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर । भगवं—भगवान् । एगया—कभी । राओ—रात्रि में । निक्खम्म—बाहर निकल कर । ठाइए—वहां मूर्हूर्त मात्र ठहर कर । समियाए—फिर निवास स्थान में आकर । समभाव से शीत परीषह को सहन करते और । दविए—संयम-साधना में संलग्न रहते थे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर शीतकाल में वायुरहित चारों तरफ से बन्द-मकान में ठहरने की प्रतिज्ञा से रहित हो विचरते थे । वे चारों ओर दीवारों से रहित

केवल ऊपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर एवं सर्दी में बाहर आकर शीत परीषह को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत तीन गाथाओं में शीत परीषह का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जब हेमन्त ऋतु का पदार्पण होता है, सर्दी पड़ने लगती है, उस समय सब लोग कांपने लगते हैं। जब शीत काल की ठण्डी हवा चलने लगती है तो सब लोग घबरा कर गरम स्थानों में स्थित होने का प्रयत्न करते हैं। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या? साधु भी बर्फ पड़ने एवं ठण्डी तथा बर्फीली हवा के चलने पर निर्वात अनुकूल स्थानों में चले जाते। उस समय पार्श्वनाथ भगवान के शासन में विचरने वाले मुनि थे। वे सर्दी के मौसम में अनुकूल स्थान ढूँढ़ने का प्रयत्न करते थे। अन्य संप्रदायों या पंथ के साधु भी अनुकूल स्थानों की खोज में फिरते रहते थे।

कई एक साधु शीत से बचने के लिए वस्त्र—चादर-कम्बल आदि रखते थे। कुछ अन्य मत के साधु अग्नि तापते थे। इस तरह वे शीत निवारण के लिए मकान, वस्त्र, गरम कम्बल एवं आग आदि का सहारा लेते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शीत परीषह को सहन करना कठिन है। कोई मुनि निर्दोष साधनों से यथाशक्य शीत से बचने का प्रयत्न करते हैं, तो जीवाजीव के ज्ञान से रहित अपने आप को साधु कहने वाले कुछ सन्न्यासी-तापस आदि सदोष-निर्दोष साधनों के विवेक से रहित होकर शीत से बचने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु ऐसे समय में भगवान महावीर शीत परीषह पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। हेमन्त काल में निर्वात—चारों ओर से घिरे हुए मकान में नहीं ठहरते थे और शीत निवारण के लिए अपने शरीर पर वस्त्र भी नहीं रखते थे। दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान ने जो देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया था, वह उनके पास 13 महीने तक रहा। परन्तु इस काल में उन्होंने उसे अपने शरीर पर धारण नहीं किया। उसके बाद तो उन्होंने वस्त्र स्वीकार ही नहीं किया। इस तरह भगवान सर्दी से बचने के लिए न तो आवृत मकान ही ढूँढ़ते, न वस्त्र धारण करते और न आग ही जलाते एवं तापते थे। भगवान महावीर तो क्या, कोई भी जैन मुनि शीत निवारण के लिए अग्नि का आरम्भ नहीं करते हैं।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण मइमया ।

बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीन्ति॥16॥ त्तिबेमि

छाया— एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता ।

बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते॥

पदार्थ—मइमया—मतिमान् । माहणेण—श्रमण-भगवान् महावीर ने । एस—इस । विहि—विधि का । अणुक्कन्तो—आचरण किया । अपडिण्णेण—अप्रतिबन्ध विहारी होने के कारण । भगवया—भगवान् ने । बहुसो—अनेक बार इस विधि का पालन किया । एवं—इसी प्रकार अन्य साधु भी । रीयन्ति—आत्मविकासार्थ इस विधि का आचरण करते हैं । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—परम मेधावी भगवान् महावीर ने निदान रहित होकर अनेक बार इस विधि का परिपालन किया और अपनी आत्मा का विकास करने के लिए अन्य साधु भी इसका आचरण करते हैं । ऐसा मैं कहता हूँ ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई विधि का भगवान् महावीर ने स्वयं पालन किया था । प्रथम उद्देशक के अन्त में भी उक्त गाथा दी गई है । अतः इसकी व्याख्या वहाँ की गई है । पाठक वहीं से देख लें ।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में भगवान जिन बस्तियों में ठहरे थे, उनका वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में उक्त स्थानों में भगवान को जो परीषह उत्पन्न हुए और भगवान ने जिस सहिष्णुता से उन्हें सहन किया, उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तण्णफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।

अहियासए सयासमिए, फासाइं विरूव रूवाइं॥१॥

छाया—तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शाश्च तेजः स्पर्शाश्च दंशमशकांश्च।

अध्यासयति सदासमितिः, स्पर्शान् विरूपरूपान्॥

पदार्थ—तण्णफासे—तृण स्पर्श। य—और। सीयफासे—शीत स्पर्श। य—और। तेउफासे—उष्ण स्पर्श। य—और। दंसमसगे—डांस-मच्छरादि के स्पर्श। य—और। विरूवरूवाइं—अन्य विविध प्रकार के। फासाइं—स्पर्शों को। सया—भगवान सदा। समिए—समिति—समितियों से युक्त हो कर। अहियासए—सहन करते थे।

मूलार्थ—समिति-गुप्ति से युक्त श्रमण भगवान महावीर तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, दंशमशकस्पर्श और नाना प्रकार के स्पर्शों को, सदा समभावपूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि भगवान को तृण-स्पर्श, शीतस्पर्श आदि के परीषह उत्पन्न होते थे। भगवान ने दीक्षा लेते समय जो देवदूष्य वस्त्र ग्रहण किया था, उसके अतिरिक्त अन्य वस्त्र नहीं लिया। वह वस्त्र भी उनके पास 13 महीने तक रहा था। उसके रहते हुए भी भगवान उसे शरीर पर धारण नहीं करते थे। वे बैठने के लिए तृण के आसन का उपयोग करते थे। अतः वस्त्राभाव में तृण का चुभना

स्वाभाविक है और उससे कष्ट का होना भी सहज ही समझ में आ जाता है। इसी तरह वस्त्र का उपयोग न करने के कारण भगवान को सर्दी एवं गर्मी का कष्ट भी होता था और मच्छर आदि भी डंक मारते थे। इस तरह भगवान को ये परीषह उत्पन्न होते; फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे। वे समस्त परीषहों को समभाव-पूर्वक सहते हुए आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे।

इतना ही नहीं, अपितु भगवान ने अनेक बार परीषहों को आमंत्रण भी दिया, अर्थात् वे कभी भी कष्टों से घबराए नहीं। परीषह सहने के लिए ही भगवान ने लाट—अनार्य देश में भी विहार किया। इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च ।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥२॥

छाया—अथ दुश्चरलाढं, चीर्णवान् वज्रभूमिं च शुभ्रभू मिंच ।

प्रान्तां शय्यां सेवितवान् आसनानि चैव प्रान्तानि ॥

पदार्थ—अह—अथ भगवान् । दुच्चर—दुश्चर दुर्गम्य । लाढं—लाढ नामक देश में । अचारी—विचरे थे । वज्ज भूमिं च—उस देश की वज्र और । सुब्भभूमिं च—शुभ भूमि में और । पंतं सिज्जं सेविंसु—प्रान्त शय्या का सेवन किया । च—और । एव—निश्चय अवधारणार्थ में । आसणगाणि पंताणि—प्रान्त आसन का सेवन किया ।

मूलार्थ—भगवान ने दुश्चर लाढदेश की वज्र और शुभ्र भूमि में विहार किया और प्रान्तशय्या एवं प्रान्त-आसन का सेवन किया ।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि भगवान महावीर के कर्म का बन्धन इस काल चक्र में हुए शेष सभी तीर्थकरों से अधिक था । अतः उसे तोड़ने के लिए भगवान ने अनार्य देश में विहार किया । जिस दिन भगवान ने दीक्षा ली, उसी दिन एक ग्वाले ने भगवान पर चाबुक का प्रहार किया था । उस समय इंद्र ने आकर भगवान से प्रार्थना की थी कि प्रभो! साढ़े बारह वर्ष तक आपको देव-मनुष्यों द्वारा अनेक कष्ट मिलने वाले हैं, अतः आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहूँ । उस समय भगवान ने

कहां—हे इन्द्र! जितने भी तीर्थकर एवं सर्वज्ञ हुए हैं, वे स्वयं ही अपने कर्म काट कर हुए हैं। अतः प्रत्येक आत्मा को अपने बांधे हुए कर्मों को तोड़ना होगा। दूसरे की सहायता से कर्मों को नहीं तोड़ा जा सकता है। तुम्हारे साथ रहने से तुम्हारे डंडे के भय से लोग मुझे कष्ट नहीं देंगे, इससे मेरी भावना में सहिष्णुता का वेग नहीं आ सकेगा और परिणामस्वरूप कर्मों की निर्जरा भी रुक जाएगी। अतः देवेन्द्र! कोई भी अर्हन्त अपने कर्मों को तोड़ने के लिए देव या देवेन्द्र या किसी अन्य शक्ति का सहारा नहीं लेते हैं। वे स्वयं अपनी शक्ति से अपने कर्मों का नाश करते हैं।

इस तरह अपने कर्मों का क्षय करने के लिए भगवान धर्म से अपरिचित लाढ़ देश (अनार्य भूमि) में चले गए। यह देश वज्र, कठोर और शुभ्र भूमि वाला है। परन्तु अधिकांश भाग वज्र भूमि वाला ही है। यहां के लोगों का हृदय भी वज्र की तरह ही कठोर था। उस देश में भगवान को स्थान भी तुच्छ ही मिलता था और शय्या—बृण आदि भी तुच्छ ही मिलते थे।

पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद में साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम गिनाए हैं। उन में लाढ़ देश का नाम नहीं होने से यह अनार्य देश ही प्रतीत होता है। इस देश के लिए दिया गया 'दुश्चर' विशेषण और स्थान एवं शय्या के साथ दिया गया प्रान्त तुच्छ शब्द का प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है कि यह देश आर्य देश के निकट एक अनार्य देश था।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश तक्षशिला के निकट था। कल्प सूत्र की एक कथा में बताया गया है कि भगवान महावीर जब 'सेविया' श्वेतवित्ता नगरी में पधारे तो वहां प्रदेशी राजा ने उनकी बहुत भक्ति की थी। संभव है कि उस नगरी के ऊपर के प्रदेश में भगवान पधारे हों, जहां उन्होंने अनेक परीषहों को सहन किया था।

प्रस्तुत गाथा में 'पंतं'—प्रान्त शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। उसमें पहले प्रान्त शब्द की व्याख्या अर्धमागधी कोष में इस प्रकार दी है—1—तुच्छ, 2—खराब, निकम्मा, निम्न श्रेणी का, बिना रस का, 3—भोजन करने के बाद बची हुई जूठन, 3—धर्म भ्रष्ट हुआ व्यक्ति, 4—खराब लक्षण, 5—अपशब्द, 6—अन्तवर्ती,

7—इन्द्रिय प्रतिकूल, 8—दरिद्र, निर्धन, 9—जीर्ण, फटा हुआ है, 10—नष्ट हुआ पदार्थ¹।

दूसरे प्रान्त शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने भी यही बताया है कि जहाँ तुच्छ भोजन एवं तुच्छ तृण, तख्त आदि का आसन मिलता था²।

इन सबसे लाढ़ देश के व्यक्ति अनार्य प्रतीत होते हैं। उस देश में भगवान के विचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइसु॥३॥

छाया—लाढेषु तस्योपसर्गाः बहवः जानपदाः लूषितवन्तः।

अथ रुक्षदेश्यं भक्तं, कुर्कुराः तत्र जिहिंसु निपेतुः॥

पदार्थ—लाढेहिं—लाढ़ देश में। तस्सुवस्सग्गा—उस भगवान को अनेक उपसर्ग हुए। बहवे—बहुत-से। जाणवया—लोग। लूसिंसु—उन्हें दांत आदि से काटते थे। अह—अन्य। लूह देसिए—रुक्ष। भत्ते—अन्न-पानी मिलता था और। तत्थ—उस देश में उन्हें। कुक्कुरा—कुत्ते भी। हिंहिंसु—काटते थे और वे भगवान को। निवइसु—काटने के लिए छोड़े जाते थे।

मूलार्थ—लाढ़ देश में श्री भगवान को बहुत-से उपसर्ग हुए। बहुत-से लोगों ने उन्हें मारा-पीटा एवं दांतों तथा नखों से उनके शरीर को क्षत-विक्षत किया। उस देश में भगवान ने रुक्ष अन्न-पानी का सेवन किया। वहां पर कुत्तों ने भगवान को काटा। कई कुत्ते क्रोध में आकर भगवान को काटने के लिए दौड़ते थे।

1. पंत-त्रि (प्रान्त) 1. तुच्छ, नढ़ारू, खराब, हलक़, रस बिना नुं। 2. जमता बाकी रहैल खुराक, 3. धर्म भ्रष्ट थयेल, 4. खराब लक्षण, 5. अप शब्द-गा, 6. अन्तवर्ती, 7. इन्द्रिय प्रतिकूल, 8. दरिद्रनिर्धन, 9. जीर्ण, फाट्युः तूट्युं, 10. व्यापन्न—विनष्ट।

—अर्धमागधी कोष, पृष्ठ 288

2. प्रान्तानि चासनाभि पांशुत्करशर्करालोष्ट्यु पचितानि च काष्ठाभिः च दुर्घटितान्या-
सेवितानि।

—आचारांग वृत्ति।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर जब लाढ़ देश में पधारे तो वहां के लोगों ने उनके साथ क्रूरता का व्यवहार किया। उन्होंने भगवान को डंडों से, पत्थरों से मारा, दांतों से काटा और कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़े। इस तरह वहां के निवासियों ने भगवान को अनेक कष्ट दिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका जीवन कितना भयंकर था एवं उनका कर्म कितना क्रूर था। इसी अपेक्षा से वहां के लोगों को अनार्य कहा है।

अनार्य व्यक्तियों के हृदय में दया, प्रेम-स्नेह एवं आतिथ्य-सत्कार की भावना कम होती है। इस तरह अनेक कष्ट सहने पर भी भगवान को उपयुक्त आहार नहीं मिलता था। यों भगवान तपस्या करते थे, उनका बहुत-सा समय तप में ही बीतता था और पारणे के दिन भी तुच्छ एवं रुक्ष आहार उपलब्ध होता था।

इतना कष्ट होते हुए भी भगवान ने कभी दुःख की अनुभूति नहीं की। उन्होंने उसे निवारण करने का प्रयत्न भी नहीं किया। यदि वे चाहते तो सारे बाह्य कष्टों को भगा सकते थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। परन्तु महान् पुरुष वही होता है, जो अपनी शक्ति का उपयोग शरीर के क्षणिक सुखों के लिए न करे, आत्मा के अनन्त सुखों को प्राप्त करने के लिए करता है या जो सामर्थ्य होते हुए भी आने वाले कष्टों को हंसते हुए सह लेता है।

भगवान महावीर अपने ऊपर आने वाले कष्टों को समभाव पूर्वक सहते हुए लाढ़ देश में विचरे, इसका उल्लेख करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे ।

छुच्छुकारिति आहंसु समणं कुक्कुडा दसंतत्ति॥४॥

छाया—अल्पः जनः निवारयति लूषकान् दशतः ।

छुच्छुकारेति आहंसु श्रमणं कुक्कुरा दशन्तु इति॥

पदार्थ—अप्पे—बहुत थोड़े। जणे—मनुष्य ऐसे हैं, जो। लूसणए—काटते हुए कुत्तों को। निवारेइ—हटाते हैं, प्रायः ऐसे व्यक्ति हैं जो। दसमाणे सुणए—काटते हुए कुत्तों का। छुच्छुकारिति—छू-छू करते हुए। आहंसु—भगवान के पीछे लगाते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि। समणं—श्रमण भगवान को। कुक्कुडा—ये कुत्ते। दसंतत्ति—काटें।

मूलार्थ—उस प्रदेश में ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम थे, जो भगवान को काटते हुए कुत्तों से छुड़ाते थे। प्रायः वहां के लोग काटते हुए कुत्तों को छू-छू करके काटने के लिए और अधिक प्रोत्साहित करते थे। वे ऐसा प्रयत्न करते थे कि ये कुत्ते श्रमण भगवान महावीर को काटें।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व गाथा में बताया गया है कि अनार्य लोग भगवान पर कुत्तों की तरह दांतों का प्रहार करते थे। प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि वे जब किन्हीं कुत्तों को भगवान पर झपटते हुए देखते तो उन्हें दूर नहीं हटाते, अपितु तमाशा देखने के लिए वहां खड़े हो जाते और उन्हें छू-छू करके और अधिक काटने की प्रेरणा देते थे। ऐसे क्रूर हृदय के लोगों में कभी कोई एक-आध व्यक्ति ही ऐसा निकलता, जो कुत्तों को दूर करता था। भगवान स्वयं कुत्तों को हटाते नहीं थे। वे इस कार्य को निर्जरा का कारण समझ कर समभावपूर्वक सहन करते थे। यह उनकी सष्णिता एवं वीरता का एक अनूठा उदाहरण है।

उस प्रदेश में दिए गए कष्टों के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एलिकखएजणा भुज्जो, वहवे वज्ज भूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु॥५॥

छाया—ईदृक्षान् जनान् भूयः वहवः वज्र भूमौ परुषाशिनः।

यष्टिं गृहीत्वा नालिकां, श्रमणाः तत्र विजहुः।

पदार्थ—एलिकखए—वहां इस प्रकार के स्वभाव वाले। वहवे जणा—बहुत से लोग थे। उस देश में श्रमण भगवान महावीर। भुज्जो—पुनः पुनः विचरे और उस। वज्जभूमि—वज्र भूमि में बहुत-से लोग। फरुसासी—तामसी भोजन करने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे, अतः। समणा—बौद्ध आदि भिक्षु। य—अथवा। नालियं लट्ठिं गहाए—अपने शरीर से चार अंगुल अधिक। लट्ठिं—लकड़ी लेकर। तत्थ—उस देश में। विहरिंसु—विचरते थे।

मूलार्थ—इस प्रकार के अनार्य देश में श्रमण भगवान ने पुनः-पुनः विहार किया था। उस वज्र भूमि में निवसित क्रोधी मनुष्य भिक्षुओं के पीछे कुत्ते छोड़ देते

थे। अतः बौद्ध भिक्षु या दूसरे परिव्राजक आदि साधु अपने शरीर से चार अंगुल अधिक लम्बी लाठी का नालिका लेकर उस देश में विचरते थे, जिससे कुत्ते उन पर प्रहार न कर सकें।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में लाढ़ देश के लोगों के खान-पान एवं जीवन-व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि वे लोग तुच्छ एवं तामस आहार करते थे। इससे उनकी वृत्ति क्रूर हो गई थी। आहार का भी मनुष्य के जीवन पर असर होता है। तामस पदार्थों का अधिक उपभोग करने वाले व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है। उनका स्वभाव भी अति क्रूर था। वे साधु सन्यासियों के पीछे कुत्ते छोड़ देते थे। इस लिए बौद्ध भिक्षु आदि साधु-सन्यासी भिक्षा आदि को जाते समय अपने शरीर से 4 अंगुल ऊंचा डण्डा रखते थे। इस तरह वे कुत्तों से अपना बचाव करते थे। परन्तु, भगवान् महावीर पूर्ण अहिंसक थे। वे किसी भी प्राणी को भयभीत नहीं करते थे। इसलिए अपने हाथ में डण्डा आदि कोई भी हथियार नहीं रखते थे। वे किसी भी संकट से भयभीत नहीं होते थे। वे प्रत्येक संकट का स्वागत करते थे एवं समभाव पूर्वक उसे सहन करते थे। भगवान् का उस प्रदेश में भ्रमण अपने कर्मों की निर्जरा एवं अज्ञान अंधकार में भटकते हुए प्राणियों के अभ्युदय के लिए होता था।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त समण—श्रमण शब्द यहां बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि, जैन एवं बौद्ध दोनों संप्रदायों में मुनि या भिक्षु के लिए श्रमण शब्द प्रचलित था। भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों समकालीन थे और तथागत बुद्ध एवं उनके भिक्षुओं ने भी लाढ़ देश में भ्रमण किया था। वे जब ऐसे प्रदेश में जाते थे तो कुत्ते आदि के भय से बचने के लिए साथ में डण्डा रखते थे। परन्तु भगवान् बिना किसी शस्त्र को धारण किए निर्भय होकर विचरते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।

संलुञ्चमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं॥6॥

छाया— एवमपि तत्र विहरन्तः स्पृष्टपूर्वाः आसन् श्वभिः ।

संलुञ्च्यमानाः श्वभिः, दुश्चराणि तत्र लाढेषु ॥

पदार्थ—एवंपि—इस प्रकार से ही । तत्थ—उस देश में । विहरन्ता—विचरते हुए बौद्धादि भिक्षुगण । पुट्ठपुच्चा अहेसि सुणिएहिं—कुत्तों से स्पर्शित हुए । संलुञ्चमाणा सुणिएहिं—कई बार इधर-उधर घूमते हुए उन्हें कुत्तों ने भी काट लिया था । तत्थ—अतः उस । लाढेहिं—लाढ़ देश में । दुच्चराणि—आर्य लोगों को चलना दुष्कर था ।

मूलार्थ—उस देश में बौद्धादि भिक्षु लाठी लेकर चलते थे; फिर भी इधर-उधर विचरण करते हुए कुत्ते उन्हें काट खाते थे । अतः उस अनार्य भूमि में भिक्षुओं एवं साधु-सन्तों का भ्रमण करना दुष्कर था ।

हिन्दी-विवेचन

लाढ देश के लोग इतने कठोर थे कि वहां साधुओं को अनेक तरह के कष्ट दिए जाते थे । बौद्ध भिक्षु कुत्तों से बचने के लिए अपने साथ डण्डा रखते थे, फिर भी वे पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह पाते थे । कभी-न-कभी कहीं-न-कहीं से कुत्ते काट ही खाते थे । परन्तु भगवान् महावीर जो अपने आत्मबल पर विचरते थे, उन्हें तो अनेक बार कुत्ते काट खाते थे; फिर भी वे उनका प्रतिकार नहीं करते थे ।

प्रश्न हो सकता है कि इतने भयंकर देश में भगवान् ने कैसे विहार किया? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— निहाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसिज्जमणगारे ।

अह गामकंटए भगवंते अहियासए अभिसमिच्चा ॥7॥

छाया— निधाय दंडं प्राणिषु, तं कायं व्युत्सृज्य अनगारः ।

अथ ग्रामकण्टकान् भगवान् अध्यासयति अभिसमेत्य ॥

पदार्थ—अणगारे—भगवान् महावीर । पाणेहिं—प्राणियों में । दण्डं—मन-वचन और काया रूप दंड । तं—उसको । निहाय—छोड़कर और उसी प्रकार । कायं—शरीर के ममत्व को । वोसिज्जं—त्यागकर विचरते थे । अह—अतः । भगवं—भगवान् । तं गामकंटए—ग्रामीणों के उन कंटक रूप वाक्यों को । अभिसमिच्चा—निर्जरा का कारण जानकर । अहियासए—सहन करते थे ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने मन-वचन और काय रूप दंड एवं शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया था। ग्रामीण लोगों के वचनरूप कंटकों को कर्मों की निर्जरा का कारण समझकर भगवान ने उन्हें समभाव से सहन किया।

हिन्दी-विवेचन

यह नितान्त सत्य है कि कष्ट तभी तक कष्ट रूप से प्रतीत होता है, जब तक शरीर एवं अन्य भौतिक साधनों पर ममत्व रहता है। जब शरीर आदि से ममत्व हट जाता है, तब कष्ट दुःख रूप से प्रतीत नहीं होता है। ममत्व भाव के नष्ट होने से आत्मा में परीषहों को सहन करने की क्षमता आ जाती है। फिर उसके अन्दर किसी को दोष देने की वृत्ति नहीं रहती। इस तरह उसमें अहिंसा की भावना का विकास होता है। इससे साधक वैर-विरोध एवं प्रतिशोध की भावना से ऊपर उठ जाता है। वह कर्कश तथा कठोर शब्दों एवं डंडे आदि के प्रहारों को अपने कर्मों की निर्जरा का साधन मानकर सहन करता है।

भगवान महावीर एक महान साधक थे। उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं था और न उनके मन में प्रतिशोध की भावना थी। परीषहों को सहने में वे सक्षम थे। संगम देव द्वारा निरन्तर 6 महीने तक दिए गए घोर परीषहों से भी वे विचलित नहीं हुए थे। वे कष्ट देने वाले व्यक्ति से भी घृणा नहीं करते थे। उसे अपने कर्मों की निर्जरा करने में सहयोगी मानते थे। क्योंकि कष्टों के सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती थी। इस अपेक्षा से वह कष्ट दाता साधक की कर्म निर्जरा में सहायक हो जाता है। इस तरह भगवान अनार्य मनुष्यों द्वारा कहे गए कठोर शब्दों एवं प्रहारों को समभावपूर्वक सहन करते थे।

भगवान की सहिष्णुता को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— नागो संगाम सीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे ।

एवंपि तत्थ लाढेहिं, अलद्ध पुब्बोवि एगया गामो॥४॥

छाया— नागो संग्राम शीर्षे वा पारगः तत्र स महावीरः ।

एवमपि तत्र लाटेषु अलब्ध पूर्वोपि एकदा ग्रामः॥

पदार्थ—नागो—हस्ती । संगाम सीसे—संग्राम में वैरी को जीतकर । वा—अथवा ।
पारए—पारगामी होता है । **एवंपि**—इसी प्रकार । से—वह । **महावीरे**—भगवान महावीर ।
तत्थ लादेहिं—उस लाढ़ देश में परीषह रूप सेना को जीत कर पारगामी हुए तथा ।
एगया—एक बार । **तत्थ**—उस लाढ़ देश में । **गामो**—ग्राम । **अलद्धपुव्वोवि**—न
 मिलने पर उन्होंने अरण्य में ही वास किया ।

मूलार्थ—जैसे रणभूमि में हाथी वैरी की सेना को जीत कर पारगामी होता है,
 उसी प्रकार भगवान महावीर भी उस लाढ़ देश में परीषह रूपी सेना को जीत कर
 पारगामी हुए । एक समय उस लाढ़ देश में ग्राम के न मिलने पर वे अरण्य में ही
 ध्यानस्थ हो गए ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि जैसे सुशिक्षित हाथी शत्रु के भालों की
 परवाह किए बिना उसके सैन्यदल को रौंदता हुआ चला जाता है और शत्रु पर विजय
 प्राप्त करता है, उसी तरह भगवान महावीर ने लाढ़ देश में परीषह रूपी शत्रु सेना पर
 विजय प्राप्त की । वे साधनाकाल में परीषहों से कभी नहीं घबराए ।

लाढ़ देश में विचरते समय एक बार भगवान को संध्या समय गांव नहीं मिला ।
 इससे स्पष्ट होता है कि लाढ़ देश में गांव बहुत दूर-दूर थे । रास्ते में ही संध्या हो जाने
 के कारण भगवान जंगल में ही ध्यानस्थ हो गए । इस तरह भगवान जंगल में घबराए
 नहीं और यह भी नहीं सोचा कि यहां जंगली जानवर मुझे कष्ट देंगे । वे निश्चिन्त
 होकर आत्म-चिन्तन में संलग्न हो गए ।

अब लाढ़ देश में अनार्य लोगों द्वारा भगवान को दिए गए परीषहों का उल्लेख
 करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उवसंकमन्तमपडिन्नं, गामंतियम्मि अप्पत्तं ।

पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पलेहित्ति॥१॥

छाया—उपसंक्रामन्तं अप्रतिज्ञं, ग्रामान्तिकं अप्राप्तम् ।

प्रतिनिष्क्रम्य अलूलिषुः इतः परं पर्येहीति ॥

पदार्थ—अपडिन्नं—प्रतिज्ञा से रहित भगवान को। उवसंकमन्तं—भिक्षा या स्थान के लिए। गामंतियम्मि—ग्राम के समीप जाते हुए। अप्पत्तं—ग्राम के प्राप्त होने पर या अप्राप्त होने पर अथवा। पडिनिक्खमित्तु—ग्राम से बाहर निकलते हुए। तूसिंसु—उन लोगों ने भगवान को मारा और कहा कि। एयाओ—तुम इस स्थान से। परं—दूर। पलेहिति—चले जाओ।

मूलार्थ—जब अप्रतिज्ञ भगवान भिक्षा या स्थान के लिए ग्राम के समीप पहुंचते या नहीं पहुंचते अथवा ग्राम से बाहर निकलते हुए होते तो अनार्य लोग पहले तो भगवान को पीटते और फिर कहते कि तुम यहां से दूर चले जाओ।

मूलम्—हय पुव्वो तत्थ दण्डेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण ।
अदु लेलुणा कवालेण हंता हंता बहवे कंदिंसु॥10॥

छाया—हत्त पूर्वः तत्र दण्डेन, अथवा मुष्टिना अथवा कुन्तफलेन ।
अथवा लोष्टुना कपालेन, हत्वा हत्वा बहवश्चक्रन्दुः ॥

पदार्थ—तत्थ—उस लाढ़ देश में विचरते हुए भगवान को उन अनार्य लोगों ने। पुव्वो—पहले किससे मारा?। दंडेन—डंडो से। अदुवा—अथवा। मुट्ठिणा—मुक्कों से। अदु—अथवा। कुन्तफलेण—कुन्त आदि के अग्रभाग और फलक से। अदु—अथवा। लेलुणा—पत्थरों से। कवालेण—ठोकरो से। हय—मारा, इसके पश्चात्। हन्ताहंता—उन्हें मारते-मारते। बहवे—बहुत-से अनार्य लोग। कन्दिंसु—कोलाहल करते कि अरे लोगो! देखो, देखो यह कौन है?

मूलार्थ—उस लाढ़ देश में ग्राम से बाहर ठहरे हुए श्रमण भगवान महावीर को अनार्य लोग पहले तो डण्डों, मुक्कों, कुन्त फलक, पत्थर और ठोकरो से मारते और उसके पश्चात् शोर मचाते कि अरे लोगो! आओ, देखो यह सिर मुण्डित नग्न व्यक्ति कौन है?

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में अनार्य लोगों के अशिष्ट व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया है कि जब भगवान विहार करते हुए रात को ठहरने के लिए या भिक्षा के लिए गांव में जाते तो उस समय वहां के निवासी भगवान का उपहास

करते, उन्हें मारते-पीटते और अपने गांव से बाहर चले जाने को कहते। उनके द्वारा किए गए प्रहार एवं अपमान का भगवान कोई उत्तर नहीं देते, वे मौन भाव से उन परीषहों को सहन करते हुए विचरण करते थे।

जब भगवान एकान्त स्थान में ध्यानस्थ होते तो उस समय लाढ़ देश के अनार्य लोग डण्डा लेकर वहां पहुंच जाते और भगवान को डण्डे से पीटते और इधर-उधर राह चलते लोगों को इकट्ठा करके हल्ला मचाते और कहते देखो यह विचित्र व्यक्ति कौन है? इस तरह से अज्ञानी लोग भगवान को अनेक कष्ट देते; फिर भी भगवान उन पर रोष नहीं करते थे। कितना धैर्य था उनके जीवन में एवं थी कितनी सहनशीलता! वास्तव में सहिष्णुता के द्वारा ही साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके निष्कर्म बन सकता है।

भगवान की कष्टसहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— मंसाणि छिन्नपुव्वाणि, उट्ठंभिया एगया कायं ।
परिसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा उवकसिं॥11॥

छाया— मांसानि छिन्नपूर्वाणि, अवष्टभ्य एकदा कायं ।

परीषहाः च अलुचिषुः अथवा पांसुना अवकीर्णवन्तः ॥

पदार्थ—मंसाणि छिन्नपुव्वाणि—वे अनार्य लोग उनके शरीर के मांस को काटते थे। एगया—किसी समय। कायं—शरीर को। उट्ठंभिया—पकड़कर। परिसहाइं—नाना प्रकार के अन्य परीषह भी दिए। लुंचिंसु—उन्हें दुःखित भी किया। अदुवा—अथवा। पंसुणा उवकसिं—उन पर धूल भी फेंकी।

मूलार्थ—उस अनार्य देश में वहां के लोगों ने किसी समय ध्यानस्थ खड़े भगवान को पकड़ कर उनके शरीर के मांस को काटा। उन्हें नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों से पीड़ित किया और उन पर धूल फेंकते रहे।

मूलम्— उच्चालइय निहणिंसु, अदुवा आसणाउ खलइंसु ।
वोसट्ठकाय पणयाऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने॥12॥

छाया— उत्क्षिप्य निहतवन्तः, अथवा आसनात् स्खलितवन्तः ।

व्युत्सृष्ट कायः प्रणतः आसीत्, दुःखसहः भगवान् अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—उच्चालइय—वे अनार्य लोग भगवान को ऊपर उठाकर। निहणिंसु—उन्हें नीचे भूमि पर गिरा देते थे। अदुवा—अथवा। आसणाउ—गोदुहादि आसन से बैठे हुए भगवान को। खलइंसु—धक्का मार कर दूर फेंक देते थे। वोसट्ठकाय-पणयाऽसी—परन्तु भगवान अपने शरीर के ममत्व को छोड़कर परीषहों को सहन करने में सावधान थे। भगवं—भगवान। दुक्खसहे—परीषहजन्य दुःख को सहन करने वाले। अपडिन्ने—प्रतिज्ञा एवं निदान से रहित थे।

मूलार्थ—कभी-कभी अनार्य लोग भगवान को ऊंचे उठाकर नीचे फेंकते, कभी धक्का मारकर आसन से परे फेंक देते, परन्तु काया के ममत्व को त्यागकर परीषहों के सहन करने में सावधान हुए अप्रतिज्ञ और परीषहजन्य वेदनाओं को समतापूर्वक सहन करने वाले श्रमण भगवान महावीर, अपने ध्यान से च्युत नहीं हुए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान की सहनशीलता का वर्णन किया गया है। इनमें बताया गया है कि जहां भगवान ध्यानस्थ खड़े होते थे, वहां ये अनार्य लोग पहुंच जाते और उनके शरीर का मांस काट लेते, उन्हें पकड़ कर अनेक तरह की यातनाएं—कष्ट देते। उन पर धूल-पत्थर आदि फेंकते। फिर भी उनके चिन्तन में बिलकुल अन्तर नहीं आता था। उनके चिन्तन का प्रवाह उसी रूप में प्रवहमान रहता था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुमुक्षु पुरुष को कैसी कठिन परीक्षा में उतरना पड़ता है। भगवान महावीर कठोर-से-कठोर परीक्षा में सफल रहे। वे सदा परीषहों पर विजय प्राप्त करते हुए आत्मविकास की ओर बढ़ते रहे। इसके लिए प्रस्तुत गाथा में उनके लिए 'दुक्खसहे' और 'अपडिन्ने' दो विशेषण दिए हैं। इनमें पहले विशेषण का अर्थ दुःख पर विजय पाने वाले और दूसरे का अर्थ है—प्रतिज्ञा रहित, अर्थात् भौतिक सुखों एवं आराम की कामना से रहित।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर समभावपूर्वक परीषहों को सहन करते थे और उन्होंने उनका कभी भी प्रतिकार नहीं किया। यह नितान्त सत्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का बन्ध करता है और स्वयं ही उन्हें तोड़ सकता है। दुनिया में व्यक्ति जो भी दुःख-सुख भोगता है, वे उसके स्वयं कृत कर्म के ही फल हैं। यह समझकर भगवान महावीर उनसे घबराए नहीं, अपितु समभावपूर्वक सहकर भगवान महावीर

उन्हें नष्ट करने में संलग्न रहे, जिससे वे कर्म फिर से उन्हें संतप्त न कर सकें। अस्तु, भगवान् महावीर सदा कर्मों के बन्ध को रोकने का प्रयत्न करते रहे और तप से पूर्व कर्मों को क्षय करते रहे।

इस तरह वे निष्कर्म बनने का प्रयत्न करते रहे। उनकी इस महासाधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सूरो संगाम सीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे ।
पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीयित्था॥१३॥

छाया—शूरः संग्रामशिरसि वा संवृतः तत्र स महावीरः ।
प्रतिसेवमानः च परुषान्, अचलः भगवान् रीयते स्म ॥

पदार्थ—वा—जैसे । संगाम सीसे—संग्राम के आगे । सूरो—शूरवीर । संवुडे—संवृतांग होकर शस्त्रों से भेदन होता हुआ भी विजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार से । महावीरे—भगवान् महावीर । तत्थ—उन लाढ़ आदि देशों में । पडिसेवमाणे—परीषह रूप, सेना से पीड़ित हुए । फरुसाइं—कठिन परीषहों को सहन करते हुए । भगवं—भगवान् । अचले—मेरु पर्वत के समान अटल एवं निष्कम्प रहकर । रीयित्था—मोक्षमार्ग में पराक्रम करते अथवा मेरु की भांति स्थिर चित्त से विचरते थे ।

मूलार्थ—जैसे कवच आदि से संवृत, शूर वीर पुरुष संग्राम में चारों ओर से शस्त्रादि का प्रहार होने पर भी आगे बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर उस देश में कठिन-से-कठिन परीषहों के होने पर भी धैर्य रूप कवच से संवृत होकर मेरु पर्वत की तरह स्थिरचित्त होकर संयममार्ग पर गतिशील थे ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर की तुलना एक वीर योद्धा से की गई है। इस में बताया गया है कि जैसे एक वीर योद्धा कवच से अपने शरीर को आवृत करके निर्भयता के साथ युद्धभूमि में प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संवर के कवच से संवृत भगवान् महावीर परीषहों से नहीं घबराते हुए लाढ़ देश में विचरे। वहां के निवासियों ने उन्हें अनेक तरह के कष्ट दिए; फिर भी वे साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की साधना में संलग्न रहे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को परीषहों से न घबराकर कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए रत्नत्रय की साधना में संलग्न रहना चाहिए। साधना करते हुए यदि कष्ट उपस्थित हो तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

अब प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मइमया।

बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति॥14॥ तिबेमि

छाया— एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।

बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयंते॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित। भगवया—ऐश्वर्य युक्त। मइमया—मतिमान्। माहणेण—भगवान् महावीर ने। एस विहि—उक्तविधि का। बहुसो—अनेक बार। अणुक्कंतो—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी। एवं—इसी प्रकार। रीयंति—आचरण करते हैं। तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित, ऐश्वर्य युक्त, परम मेधावी भगवान् महावीर ने अनेक बार उक्त विधि का आचरण किया। उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में कर चुके हैं।

‘तिबेमि’ का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में भगवान महावीर के परीषहों का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक में उनके चिकित्सा-त्याग का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने बीमारी के समय कभी भी चिकित्सा नहीं की। उन्होंने शारीरिक एवं आत्मिक दोनों व्याधियों को दूर करने के लिए तप का आचरण किया। तप सारे विकारों को नष्ट कर देता है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल को दूर हटाकर उसे स्वच्छ करता है, उसी तरह तप से शरीर एवं मन शुद्ध हो जाता है। महात्मा गांधी ने उपवास के द्वारा गई रोगों की चिकित्सा की थी। शरीरविज्ञानवेत्ता भी कई रोगों को दूर करने में उपवास का सहारा लेते हैं।

भारतीय संस्कृति में आत्म-शुद्धि या शरीर-शुद्धि के लिए तप को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इससे बाह्य एवं आभ्यन्तर विकार नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध बन जाती है। आगम में बताया है कि ज्ञान से आत्मा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस पर श्रद्धा करता है, चारित्र से अभिनव कर्म के आगमन को रोकता है और तप से आत्मा पूर्वकर्मों को क्षय करके शुद्ध बनता है¹। अतः आत्म-विकास के लिए तप अत्यावश्यक है। इसी कारण भगवान महावीर ने साधना काल में कठोर तप-साधना की, जिसका दिग्दर्शन प्रस्तुत उद्देशक में कराया गया है²।

1. नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सदहे।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र; 28;35

2. तप-अवधि	संख्या	उसके दिन	वर्ष	मास	दिन
(1) छह मास—	1	$6 \times 30 \times 1 = 180$,	0	—6	— 0
(2) पांच दिन कम छह मास—	1	$6 \times 30 - 5 = 175$,	0	—5	— 25
(3) चौमासी—	9	$4 \times 30 \times 9 = 1080$,	3	—0	— 0
(4) तीन मासी—	2	$3 \times 30 \times 2 = 180$,	0	—6	— 0
(5) अढ़ाई मासी—	2	$2\frac{1}{2} \times 30 \times 2 = 150$,	0	—5	— 0

भगवान के तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—ओमोयरियं चाण्ड, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं ।

पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं॥१॥

छाया—अवमौदर्यं शक्नोति, अस्पृष्टोपि भगवान् रोगैः ।

स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा न स स्वादयति चिकित्ताम्॥

पदार्थ—भगवं—भगवान् । ओमोयरियं—उनोदरी तप करने को । चाण्ड—समर्थ थे । अपुट्ठेवि रोगेहिं—रोगों के स्पर्श न होने पर भी । वा—अथवा । पुट्ठो—रोगों के स्पर्श होने पर भी । अपुट्ठे वा—न होने पर भी । से—वह श्रमण भगवान् महावीर । तेइच्छं—चिकित्सा को । नोसाइज्जई—नहीं चाहते थे ।

मूलार्थ—भगवान् महावीर रोगों के स्पर्श होने या न होने पर भी औनोदर्य तप करने में समर्थ थे । इसके अतिरिक्त श्वानादि के काटने पर या श्वासादि रोग के स्पर्शित होने पर भी वे औषध-सेवन की इच्छा नहीं करते थे ।

2. तप-अवधि	संख्या	उसके दिन	वर्ष मास दिन
(6) दो मासी—	6	$2 \times 30 \times 6 = 360,$	1 - 0 - 0
(7) डेढ़ मासी—	2	$1\frac{1}{2} \times 30 \times 2 = 90,$	0 - 3 - 0
(8) मास क्षमण—	12	$1 \times 30 \times 12 = 360,$	1 - 0 - 0
(9) पक्ष क्षमण—	72	$0\frac{1}{2} \times 30 \times 72 = 1080,$	3 - 0 - 0
(10) सर्वतोभद्रप्रतिमा	1	10 दिवस की = 10,	0 - 0 - 10
(11) महाभद्रप्रतिमा—	1	4 दिवस की = 4,	0 - 0 - 4
(12) अष्टम—	12	$3 \times 12 = 36,$	0 - 1 - 6
(13) षष्ठ—	229	$2 \times 229 = 458,$	1 - 3 - 8
(14) भद्रप्रतिमा—	1	दो दिन की = 2,	0 - 0 - 2
(15) दीक्षा दिवस—	1	एक दिन की = 1,	0 - 0 - 1
(16) पारणा—	349	349 दिन की = 349,	0 - 11 - 19
(17) कुल दिवस	4515	वर्ष 12 मास 6 दिन 15	

...जैन प्रकाश के उत्थान वीरांक में प्रकाशित
'त्रिभुवन दास मेहता' के लेख से उद्धृत

हिन्दी-विवेचन

शरीर रोगों का घर है। इसमें अनेक रोग रहे हुए हैं। जब कभी वेदनीय कर्म के उदय से कोई रोग उदय में आता है तो लोग उसे उपशान्त करने के लिए अनुकूल औषध एवं पथ्य का सेवन करते हैं। परन्तु भगवान महावीर अस्वस्थ अवस्था में भी औषध का सेवन नहीं करते थे। वे स्वस्थ अवस्था में भी स्वल्प आहार करते थे। स्वल्प आहार के कारण उन्हें कोई रोग नहीं होता था¹। फिर भी कुत्तों के काटने या अनार्य लोगों के प्रहार से जो घाव आदि हो जाते थे, तो वे उसके लिए भी चिकित्सा नहीं करते थे। यदि कभी श्वास आदि का रोग हो जाता, तब भी वे औषध नहीं लेते थे। वे समस्त परीषहों एवं कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे और तप के द्वारा द्रव्य एवं भाव रोग को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— संशोहणं च वमणं च, गायबभंगणं च सिणाणं च।

संवाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए॥२॥

छाया— संशोधनं च वमनं च, गात्राभ्यंगनं च स्नानं च।

संवाधनं च न तस्य कल्पते दन्तप्रक्षालनं च परिज्ञाय।

पदार्थ—च—पुनः अर्थ में है। **परिन्नाए—**शरीर को अशुचि जानकर। **से—**भगवान महावीर को। **संशोहणं—**शरीर का संशोधन करना। **च—पुनः। वमणं—**वमन। **च—और। गायबभंगणं—**शरीर को तेल आदि से मर्दन करना। **च—और। सिणाणं—**स्नान करना। **च—और। दन्तपक्खालणं—**काष्ठादि से दांतों का प्रक्षालन करना। **न कप्पे—**नहीं कल्पता था, अर्थात् वे इन बातों का आचरण नहीं कर थे।

मूलार्थ—शरीर को अशुचिमय समझ कर भगवान रोग की शान्ति के लिए शरीर संशोधनार्थ, विरेचन लेना, वमन करना, शरीर पर तैलादि का मर्दन करना,

1. टीकाकार एवं चूर्णि कार इसमें एकमत हैं कि भगवान अपने शरीर के धातु क्षोभ के कारण प्रायः रोगांतक नहीं होते थे। कभी बाह्य कारणों से हो सकते थे।

स्नान करना और दाँतुन आदि से दाँतों को साफ करना इत्यादि क्रियाओं का आचरण नहीं करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का ध्यान आत्मा की ओर लगा था। शरीर पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे कि यह शरीर नश्वर है। इसलिए वे किसी रोग के उत्पन्न होने पर उसे उपशान्त करने के लिए या भविष्य में रोग न हो, इस भावना से कभी विवेचन—जुलाब नहीं लेते थे और उन्होंने साधनाकाल में अपने शरीर को स्वस्थ करने के लिए किसी भी तरह की चिकित्सा नहीं की। वे शरीर की ओर न देखकर सदा अपनी आत्मा की ओर देखते थे और आत्मा को अनावृत करने में ही प्रयत्नशील थे।

उनका चिन्तन किस ओर था, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— विरए गाम धम्मोहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।

सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीया॥३॥

छाया— विरतः ग्रामधर्मेभ्यः, रीयते माहनः अबहुवादी।

शिशिरे एकदा भगवान् छायायां ध्यायी आसीत्॥

पदार्थ—गामधम्मोहिं—विषय-विकारों से। विरए—निवृत्त हुए। अबहुवाई—अल्प भाषी। माहणे—भगवान महावीर। रीयइ—संयम में पुरुषार्थ करते हैं। एगया—कभी-कभी। भगवं—भगवान। सिसिरंमि—शीत काल में। छायाए—छाया में। झाइ आसीय—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

मूलार्थ—विषय-विकारों से निवृत्त हुए अल्पभाषी भगवान महावीर संयम में पुरुषार्थ करते हुए शीतकाल में भी कभी-कभी छाया में धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील भगवान महावीर विषय-विकारों से सर्वथा निवृत्त हो गए थे। वे साधनाकाल में प्रायः मौन ही रहे थे और किसी के पूछने पर उत्तर देना

अत्यावश्यक हुआ तो एक ही बार बोलते थे। वे शीत आदि की परवाह नहीं करते थे। सर्दी की ऋतु में भी छाया में ध्यान करते थे। इस तरह वे शरीर की चिन्ता न करते हुए सदा आत्म-चिन्तन में ही संलग्न रहते थे।

साधना में योगों का गोपन करना महत्वपूर्ण माना गया है। मन-वचन और काय इन तीनों योगों में मन सबसे अधिक सूक्ष्म और चंचल है। उसे वश में रखने के लिए काय और वचन योग को रोककर रखना आवश्यक है। वचन का समुचित गोपन होने पर मन को सहज ही रोका जा सकता है और मन आदि योगों का गोपन करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है।

आगम में बताया है कि मन का गोपन करने से आत्मचिन्तन में एकाग्रता आती है और साधक संयम का आराधक होता है। वचन-गुप्ति से आत्मा निर्विकार होती है और निर्विकारता से अध्यात्म योग की साधना में संलग्न होती है। कायगुप्ति से संवर की प्राप्ति होती है और उससे आश्रव-पापकर्म का आगमन रुकता है। इसी तरह मन-समाधारणा से जीव एकाग्रता को जानता हुआ ज्ञान पर्याय को जानता है। उससे सम्यक्त्व का शोधन और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है। वचन-समाधारणा से आत्मा दर्शन पर्याय को जानता है, उससे दर्शन की विशुद्धि करके सुलभ बोधित्व की प्राप्ति करता है और दुर्लभ बोधिपन की निर्जरा करता है। काय-समाधारणा से जीव चारित्र पर्याय को जानता है और उससे विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करता है और चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अवशेष चार अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है¹। इस तरह योगों का गोपन करने से आत्मा निष्कर्म बन जाता है।

इस तरह भगवान महावीर भाषा को गोपन करते हुए एकाग्र मन से आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे। उनके चिन्तन की एकाग्रता एवं परीषहों की सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— आयावइय गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुड्डए अभित्तावे ।

अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंधुकुम्मासेणं॥4॥

छाया— आतापयति ग्रीष्मेषु, तिष्ठति उत्कटुकः अभितापम् ।

अथ यापयति स्म रुक्षेण ओदन मन्थु कुल्माषेण ।

पदार्थ—गिम्हाणं—वे ग्रीष्म ऋतु में। आयावइ—आतापना लेते थे। य—पुनः।
उक्कुड्डए—उत्कट आसन से। अभित्तावे—सूर्य के सन्मुख। अच्छइ—स्थित होते थे।
अदु—अथवा। लूहेणं—रूक्षाहार एवं। ओयण मन्थु कुम्मासेणं—चावल या वैरादि
का चूर्ण या कुल्माष—उड़द आदि से शरीर का। जावइत्थ—निर्वाह करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर ग्रीष्म ऋतु में उत्कट आसन से सूर्य के सन्मुख
होकर आतापना लेते थे और धर्म-साधना के कारण रूप शरीर को चलाने के लिए
चावल, बैर का चूर्ण एवं उड़द के बाकले आदि रूक्ष आहार लेकर अपना निर्वाह
करते थे।

मूलम्— एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठमासे अजावयं भगवं ।

अपिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि॥५॥

छाया— एताणि त्रीणि प्रतिसेवते, अष्टौ मासानयापयत् भगवान् ।

अपियत् एकदा भगवान् अद्धमासं अथवा मासमपि ।

पदार्थ—एयाणि—ये। तिन्नि—तीनों आहारों का। पडिसेवे—सेवन करके।
भगवं—भगवान ने। अट्ठमासे—आठ मास तक। अजावयं—काल यापन किया।
एगया—एक बार। भगवं—भगवान। अद्धमासं—अर्द्ध मास। अदुवा—अथवा।
मासं—मास तक। अपिइत्थ—निराहार रहे—जल भी नहीं लिया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने उक्त तीनों पदार्थों के द्वारा आठ मास
तक समय यापन किया। कभी-कभी भगवान ने आधे मास या एक मास तक
जल-पान भी नहीं किया, अर्थात् पानी भी नहीं पिया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में भगवान महावीर की तपस्या का दिग्दर्शन कराया गया
है। जैसे भगवान शीतकाल में छाया में ध्यान करते थे, उसी तरह ग्रीष्म काल में

उत्कट आसन से सूर्य के सम्मुख स्थित होकर ध्यानस्थ होते थे और रुक्ष आहार से अपने जीवन का निर्वाह करते थे।

आहार का मन एवं इंद्रियों की वृत्ति पर भी असर होता है। प्रकाम आहार से मन में विकार जागृत होता है और इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती हैं। इसलिए साधक के लिए प्रकाम—गरिष्ठ आहार के त्याग का विधान किया गया है। साधक केवल शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार करता है और वह रुक्ष आहार से भली-भांति हो जाता है। उससे मन में विकार नहीं जागते और इन्द्रियां भी शांत रहती हैं जिससे साधना में तेजस्विता आती है, आत्म-चिन्तन में गहराई आती है। अतः पूर्ण ब्रह्मचर्य के परिपालक साधु को सरस, स्निग्ध आहार नहीं करना चाहिए। उसके लिए रुक्ष आहार सर्व-श्रेष्ठ है। भगवान् महावीर ने ओदन—चावल, बेर के चूर्ण एवं कुल्माष आदि का आहार किया था।

यह ओदन आदि का आहार भगवान् ने आठ महीने तक किया और इसी बीच एक महीने तक निराहार रहे, पानी भी नहीं पिया। इससे उनकी निःस्पृह एवं अनासक्त वृत्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। वे समय पर जैसा भी रुखा-सूखा आहार उपलब्ध हो जाता, वैसा ही अनासक्त भाव से कर लेते थे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'अद्धमासं अदुवा मासं पि' की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने लिखा है कि भगवान् ने एक महीने की तपस्या में पानी पिया था¹ और प्रदीपिकाकार ने लिखा है कि उन्होंने महीने की तपस्या में पानी नहीं पिया²। इन दोनों में प्रदीपिकाकार का कथन संगत प्रतीत होता है। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र जी ने भी प्रदीपिका के मत का अनुसरण किया है। आगे की गाथा से भी जल पीने का निषेध सिद्ध होता है। इससे ऐसा लगता है कि वृत्तिकार के प्रमाद से 'न पीतवान्' में 'न' छूट गया हो।

अब भगवान् के विशिष्ट तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अवि साहिए दुवेमासे अदुवा छप्पिमासे विहरित्था।

राओवरायं अपडिन्ने अन्न गिलायमेगया भुंजे॥६॥

1. तथा पानमप्यद्धमासमथवा मासं भगवान् पीतवान्।

—आचाराङ्ग वृत्ति

2. तथा पानमप्यद्धमासमथवा मासं भगवान् न पीतवान्।

—आचाराङ्ग प्रदीपिका

छाया— अपि साधिकं द्वयं मासं, षड्पिमासान् अथवा विहृतवान् ।
रात्रोपरात्रं अप्रतिज्ञः, पर्युषितं च एकदा भुक्तवान् ॥

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ में है, भगवान् । साहिए दुवेमासे—दो मास से कुछ अधिक । छप्पिमासे राओवरायं—छह महीने तक रात-दिन बिना पानी पिए । विहरित्था—विचरे । अदुवा—अथवा । एगया—एक बार । अपडिन्ने—पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित । अन्नगिलाय—बासी अन्न का जो रस चलित नहीं हुआ था । भुंजे—आहार किया ।

मूलार्थ—भगवान् महावीर ने दो मास से कुछ अधिक समय तक छह महीने अथवा दो महीने से लेकर छह महीने पर्यन्त बिना पानी पिये समय व्यतीत किया । वे पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित होकर रात-दिन धर्म-ध्यान में संलग्न रहते थे । भगवान् ने एक बार पर्युषित—बासी अन्न भी जिसका रस विकृत नहीं हुआ था, ग्रहण किया ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ने सर्वोत्कृष्ट छह महीने की तपश्चर्या की थी । भगवान् ने इतनी लम्बी तपश्चर्या में पानी का भी सेवन नहीं किया । इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् ने जितनी तपश्चर्या की थी, उसमें पानी नहीं पिया था और इस तपसाधना के समय एक बार भगवान् ने बासी अन्न—पहले दिन का बना हुआ आहार ग्रहण किया था । मूर्तिपूजक समाज का कहना है कि साधु को बासी आहार नहीं लेना चाहिए । परन्तु, जब हम आगम का अनुशीलन करते हैं तो उसमें उसका कहीं भी निषेध नहीं मिलता । भगवान् महावीर ने—जो महान् साधक थे, स्वयं बासी आहार ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति में उसे अभक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है कि ऐसा बासी आहार साधु को नहीं लेना चाहिए, जिसका रस विकृत हो गया हो । परन्तु, जिसका वर्ण, गंध, रस आदि विकृत नहीं हुआ, उस आहार को अभक्ष्य कहना आगम-विरुद्ध है । कहने का तात्पर्य यह है कि इतने लम्बे तप के बाद भी भगवान् इस तरह का रूखा-सूखा एवं बासी अन्न ग्रहण करते थे । इससे उनके मनोबल एवं त्यागनिष्ठ तथा अनासक्त जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता है ।

इस गाथा से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितना भी तप किया था, वह सब निदान-रहित किया था। उनके मन में स्वर्ग आदि की कोई आकांक्षा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य केवल कर्मों की निर्जरा करना था। उन्होंने आगम में तप आदि की साधना के लिए जो आदेश दिया है, उस पर पहले उन्होंने स्वयं आचरण किया। आगम में कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुष को न इस लोक में सुखों की आकांक्षा से तप करना चाहिए, न परलोक में स्वर्ग आदि प्राप्त करने की अभिलाषा से तप करना चाहिए और न यशकीर्ति एवं मान-सम्मान की कामना रख कर तप करना चाहिए, परन्तु केवल कर्मों की निर्जरा के लिए तप करना चाहिए¹। इस तरह भगवान महावीर बिना किसी आकांक्षा के तप करते हुए रात-दिन धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न रहते थे।

उनके तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—छट्ठेण एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेण।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने॥७॥

छाया—षष्ठेन एकदा भुंक्ते अथवा अष्टमेन दशमेन।
द्वादशमेनैकदा भुक्तवान् प्रक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः ॥

पदार्थ—एगया—एक बार। छट्ठेण—दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार। भुंजे—किया। अदुवा—अथवा। अट्ठमेण—तीन उपवास के पारने में पर्युषित आहार किया। एगया—एक बार। दसमेण—चार उपवास के पारने में और एक बार। दुवालसमेण—पांच उपवास के पारने में। भुंजे—बासी आहार किया। समाहिं—इस तरह भगवान समाधि का। पेहमाणे—पर्यालोचन करते हुए। अपडिन्ने—निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर कभी दो उपवास के पारने में पर्युषित आहार

1. चउब्बिहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसदसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ।

करते, कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के पारने में पर्युषित बासी आहार करते थे। वे इस तरह की कठोर तप-साधना करते हुए भी समाधि का पर्यालोचन करते हुए निदान-रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान की तपस्या का वर्णन करते हुए बताया गया है कि भगवान कभी दो उपवास के बाद बासी आहार से पारणा करते थे। इसी तरह कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के बाद वे बासी आहार से पारणा करते थे। इससे भगवान की आहार एवं शरीर आदि के प्रति स्पष्ट रूप से अनासक्ति प्रकट होती है। उनका अधिक समय तप एवं आत्मचिन्तन में ही लगता था।

प्रस्तुत गाथा - प्रयुक्त 'छट्ठेण एगया भुंजे' का दो उपवास के बाद अर्थ कैसे हुआ? इसके समाधान में यह जा सकता है कि वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि उपवास के षष्ठे दिन के दो वक्त में से एक वक्त आहार करते हैं, उपवास के प्रथम एवं द्वितीय दिन के दोनों वक्त आहार नहीं करते और पारणे के दिन भी दो वक्त में से एक वक्त आहार करते हैं, इस तरह $1 + 2 + 2 + 1 = 6$ अर्थात् षष्ठ वक्त या छट्ठुं भक्त का अर्थ दो उपवास के बाद होता है¹।

मूलम्— णच्चा णं से महावीरे, नोऽविय पावगं सयमकासी।

अन्नेहिं वा ण कं रित्था, कीरंतपि नाणुजाणित्था॥४॥

छाया— ज्ञात्वा णं स महावीरः, नापि च पापकं स्वयमकार्षीत्।

अन्यै वा न अचीकरत् क्रियमाणमपि नानुज्ञातवान् ॥

पदार्थ—से—वह। महावीरे—भगवान महावीर। णच्चा—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जानकर। सयं—स्वयं। पावगं—पापकर्म। नोऽविय अकासी—नहीं करते थे। वा—अथवा। अन्नेहिं—दूसरों से। न कारित्था—नहीं करवाते और।

1. किं च षष्ठेनैकदा भुंक्ते—षष्ठं हि नाम एकस्मिन्नहानएक भक्त विध य पुनादन द्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽन्दि एक भक्तमेव विधत्ते, ततश्चाद्य तयोरेक भक्तदिनयो भक्तद्वयं मध्य दिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवति एवं दिनादि बुद्ध्याऽष्ट माद्यायोज्यमिति।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

कीरंतं पि—पाप कर्म करनेवाले व्यक्तियों का। नाणुजाणित्थो—अनुमोदन भी नहीं करते थे।

मूलार्थ—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थों को जानकर श्रमण भगवान महावीर ने स्वयं पापकर्म का आचरण नहीं किया, न दूसरों से करवाया और पापकर्म करने वालों का अनुमोदन भी नहीं किया।

हिन्दी-विवेचन

जीवन में साधना के प्रविष्ट होते ही मुनि सबसे पहले तीन करण और तीन योग से पापकार्य से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है। वह मन-वचन और शरीर इन तीनों योगों से न स्वयं पापकर्म करता है, न अन्य से करवाता है और न पापकर्म करने वाले का समर्थन करता है। चूँकि पापकर्म से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है, इसलिए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञाता भगवान महावीर ने दीक्षित होने के बाद कभी भी पापकर्म का सेवन नहीं किया। वे त्रिकरण और त्रियोग से पापकर्म से निवृत्त रहे।

भगवान के त्याग-निष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।

सुविसुद्ध मेसिया भगवं आयत जोगयाए सेवित्था॥१॥

छाया—ग्रामं प्रविश्य नगरं वा, ग्रामन्वेष्टयेत् कृतं परार्थाय।

सुविशुद्धं एषित्वा भगवान आयतयोगतया सेवितवान्।

पदार्थ—गामं—गांव। वा—अथवा। नगरं—नगर में। पविसे—प्रवेश करके, वे। घासमेसे—आहार की गवेषणा करते। परट्ठाए—दूसरे के गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के लिए। कडं—बनाए गए आहार में से। सुविसुद्धमेसिया—विशुद्ध आहार की गवेषणा करके। भगवं—भगवान। आयत जोगयाए—ज्ञान पूर्वक संयत योग से। सेवित्था—उस शुद्ध आहार का सेवन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर गांव या शहर में प्रविष्ट होकर गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए आहार में से अत्यन्त शुद्ध निर्दोष

आहार की गवेषणा करते और उस निर्दोष आहार को संयत योगों से विवेक पूर्वक सेवन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु सारे दोषों से निवृत्त होता है। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे किसी प्राणी को कष्ट होता हो। यहां तक कि अपने शरीर का निर्वाह करने के लिए भी वह स्वयं भोजन नहीं बनाता। क्योंकि इसमें पृथ्वी, पानी आदि 6 काय की हिंसा होती है। अतः साधु गृहस्थ के घरों में से निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं।

भगवान महावीर भी जब गांव या शहर में भिक्षा के लिए जाते तो वे गृहस्थ के अपने एवं अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए निर्दोष आहार की गवेषणा करते। उसमें भी आहार के 42 दोषों को छोड़कर शुद्ध आहार ग्रहण करते और आहार करने के 5 दोषों को त्याग कर आहार करते। इस तरह 47 दोषों का त्याग करके वे — आहार करते थे। उसमें 16 उद्गमन सम्बन्धी दोष हैं जो अनुराग एवं मोह वश गृहस्थ लगा सकता है, 16 उत्पादन के दोष हैं, जो रस लोलुपी साधु द्वारा लगाए जा सकते हैं और 10 एषणा के दोष हैं, जो गृहस्थ एवं साधु दोनों द्वारा लगाए जा सकते हैं और 5 आहार करते समय के दोष हैं, जिनका सेवन साधु के द्वारा ही होता है।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए विभिन्न पदों से भी इन दोषों की ध्वनि निकलती है। जैसे—‘परट्ठाए’ पद से 16 उद्गमन के दोषों का विवेचन किया गया है। ‘सुविसुद्ध’ से 16 उत्पादन दोष का एवं ‘एसिया’ पद से 10 एषीणय दोषों का वर्णन किया गया है और ‘आयत जोगयाए सेविता’ पदों से आहार करते समय के 5 दोषों का वर्णन करके समस्त दोषों का त्याग करके आहार करने का आदेश दिया गया है। भगवान महावीर समस्त दोषों से रहित आहार-पानी की गवेषणा करते और ऐसे शुद्ध एवं निर्दोष आहार को अनासक्त भाव से ग्रहण करके विचरण करते थे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अदु वायसा दिगिंछता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।

घासेसणाए चिट्ठन्ति सयय निवइए य पेहाए॥10॥

छाया— अथ वायसा बुभुक्षार्ताः ये चान्ये रसैषिणः सत्त्वाः ।

ग्रासैषणाय तिष्ठन्ति सततं निपतितान् च प्रेक्ष्य ॥

पदार्थ—सययं—निरन्तर । निवइए य—भूमि पर गिरे हुए । घासेसणाए—आहार को खाने के लिए । दिगिंछता—बुभुक्षित । वायसा—कौवे या । जे—जो । रसेसिणो—आहार के इच्छुक हैं । अन्ने सत्ता—अन्य सत्त्व—प्राणी । चिट्ठन्ति—मार्ग में बैठे हुए हैं । पेहाए—उन्हें देखकर विवेक पूर्वक चलते, जिससे उनके आहार करने में विघ्न न पड़े ।

मूलार्थ—भूख से बुभुक्षित वायसादि पक्षियों को मार्ग में गिरे हुए अन्न को खाते हुए देखकर वे उन्हें नहीं उड़ाते हुए विवेक पूर्वक चलते, जिससे उनके आहार में विघ्न न पड़े ।

हिन्दी-विवेचन

साधु सब जीवों का रक्षक है । वह स्वयं कष्ट सह सकता है । परन्तु अपने निमित्त से किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो उस कार्य को वह कदापि नहीं कर सकता । साधु के लिए आदेश है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय भी यह ध्यान रखे कि उसके कारण किसी भी प्राणी की वृत्ति में विघ्न न पड़े । भगवान् महावीर ने स्वयं इस नियम का पालन किया था । वे उस घर में या उस मार्ग से आहार को नहीं जाते थे, जिस घर के आगे या मार्ग में काग-कुत्ते एवं गरीब भिखारी रोटी की आशा से खड़े होते थे । क्योंकि उनके पहुँच जाने से उन्हें अन्तराय लगती थी । वह दातार उन गरीब भिखारियों को भूलकर भगवान् को देने लगता था और इससे उनके मन में द्वेष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था । इसलिए भगवान् ऐसे घर में भिक्षा को नहीं जाते थे, जिसके आगे अन्य प्राणी रोटी की अभिलाषा लिए हुए खड़े हों ।

इसी विषय में सूत्रकार और भी बताते हैं—

मूलम्— अदुवा माहणं च समणं च, गाम पिंडोलगं च अतिहिंवा ।

सोवाग मूसियारिंवा, कुकुरंवावि विट्ठियं पुरओ॥१॥

छाया— अथवा माहनं च श्रमणं वा ग्रामपिंडोलकं च अतिथिं वा ।

श्वपाक मूषिकारिं वा कुकुरंवापि विस्थितं पुरतः ॥

पदार्थ—अदुवा—अथवा। माहणं—ब्राह्मण को। च—और। समणं—शाक्यदि भिक्षु। वा—अथवा। गामपिंडोलगं च—और ग्राम के भिखारी। वा—अथवा। अतिहिं वा—अतिथि। सोवाग—चाण्डाल। वा—अथवा। मूसियारिं—विडाल—बिल्ली आदि। वा—अथवा। कुरुरं—कुत्ता। अवि—समुच्चयार्थक है। विद्रिठयं—नाना प्रकार के प्राणी। पुरओ—आगे उपस्थित हों तो उनकी वृत्ति का भंग न करते हुए भिक्षार्थ गमन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मण, श्रमण, गांव के भिखारी, अतिथि, चांडाल, श्वान और नाना प्रकार के अन्य जीव यदि खड़े हों तो उनकी वृत्ति का भंग न करते हुए भिक्षा के लिए नहीं जाते थे।

हिन्दी-विवेचन

इस गाथा में पूर्व गाथा की बात को पूरी करते हुए बताया गया है कि किसी गृहस्थ के द्वार पर यदि कोई ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु, परिव्राजक, संन्यासी, शूद्र आदि खड़े होते या बिल्ली, कुत्ता आदि खड़े होते तो भगवान उनको उल्लंघन कर किसी के घर में प्रवेश नहीं करते थे। क्योंकि इससे उनकी वृत्ति का व्यवच्छेद होता था। उनके अन्तराय लगने से उनके मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठते, द्वेष-भाव पैदा होता। इसलिए भगवान इन सब दोषों को टालते हुए आहार के लिए घरों में प्रवेश करते थे।

भगवान की भिक्षा-वृत्ति पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—वित्तिछेयं वज्जंतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।

मंदं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था॥12॥

छाया—वृत्तिच्छेदं वर्जयन् तेषामप्रत्ययं परिहरन्।

मंदं पराक्रमते, भगवान् अहिंसन् ग्रासमेषितवान्॥

पदार्थ—भगवं—भगवान। तेसिं—उन जीवों की। वित्तिछेयं—वृत्ति छेदन का। वज्जंतो—त्याग करते हुए तथा उनके। अप्पत्तियं—वास एवं अप्रीति को। परिहरन्तो—दूर करते हुए। मंदं—शनैः-शनैः। परक्कमे—पराक्रम करते हुए तथा पर जीवों की। अहिंसमाणो—हिंसा न करते हुए। घासमेसित्था—आहार-पानी की गवेषणा करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर, उन जीवों की वृत्ति व्यवच्छेद को दूर करते हुए और उनकी अप्रीति का परिहार करते हुए शनैः-शनैः चलते और किसी भी जीव की हिंसा न करते हुए आहार-पानी आदि की गवेषणा करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा पूर्व गाथा से संबद्ध है। इसमें बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले से कोई भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण आदि खड़ा होता तो भगवान उस घर में प्रवेश नहीं करते थे और वे इस प्रकार का भी आचरण नहीं करते थे जिससे उन्हें उनके प्रति अप्रीति पैदा हो, क्योंकि इस तरह के कार्य से उनकी वृत्ति का छेदन होता और उनके मन में द्वेष की भावना भी पैदा होती। इसलिए भगवान उनको लांघकर किसी भी घर में नहीं जाते थे। यदि किसी व्यक्ति के द्वार पर पहले से ही कोई व्यक्ति खड़ा हो और वह अपना कार्य समाप्त करके वहां से चला न जाए, तब तक साधक का वहां जाना नीति एवं सभ्यता के अनुकूल भी नहीं है। लेकिन यहां तो अन्य भिक्षुओं के वृत्ति-विच्छेद का प्रसंग होने के कारण भगवान पूरी तरह से सावधान रहते थे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान सभी प्राणियों के रक्षक थे। वे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाते थे। इसलिए वे उन सब कार्यों से निवृत्त थे जो सावध थे एवं दूषित वृत्ति से किए जाते थे, क्योंकि दूषित वृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है। आगम में बताया गया है कि क्रिया तीन तरह की होती है—1—प्रदोषिका क्रिया, 2—परितापिनी क्रिया और 3—प्राणातिपाति क्रिया। जैसे अपनी आत्मा पर द्वेष करना दूसरे को परिताप देना और अपनी एवं दूसरे दोनों की आत्मा को कष्ट देना यह

1. कतिपं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ तंजहा—काइया; अहिगरणिया, पादोसिया, परियावणिया, पाणातिवाय किरिया ॥1॥ काइयाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा अणुवरय काइया य, दुप्पउत्त काइया य ॥2॥ अहिगरणियाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा संजोयणाहिगरणिया य निव्वत्तणाहिगरणिया ॥3॥ पादोसियाणं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं वा धारेति से तं पादोसिया किरिया ॥4॥ पारियावणिया णं भंते! →

इनका स्वरूप है¹। भगवान महावीर इन दोषों से सर्वथा निवृत्त होकर अपनी साधना में समाहित रहते थे। वे हिंसा से निवृत्त होकर सदा संयम में संलग्न रहते थे।

सूत्रकार फिर से इसी विषय में कहते हैं—

मूलम्—अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिंडं पुराण कुम्मासं ।

अदु वुक्कसंपुलागं वा लब्धे पिंडे अलब्धे दविए॥13॥

छाया—अपिसूपिकं वा शुष्कं वा, शीत पिंडे पुराणकुल्माषं ।

अथ बुक्कस पुलाकं वा, लब्धे पिंडं आलब्ध द्रविकः॥

पदार्थ—अवि—सम्भावानार्थ में है। सूइयं—भगवान दधि आदि के आर्द्र आहार। वा—अथवा। सुक्कं वा—चणक आदि के शुष्क आहार अथवा। सीयं पिंड—शीत पिंड—बासी आहार तथा। पुराण कुम्मासं—पुराने कुल्माष का आहार। अदु—अथवा। वुक्कसं—जीर्ण धान्य का आहार। पुलागं वा—जौ का आहार अथवा। लब्धे पिंडे—स्वादिष्ट आहार के मिलने पर हर्षित नहीं होते और। अलब्धे—स्वादिष्ट तथा पर्याप्त आहार न मिलने पर चिन्तातुर नहीं होते। दविए—वे सदा संयम युक्त रहकर अपने साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

मूलार्थ—दधि आदि से मिश्रित आहार, शुष्क आहार, बासी आहार, पुराने कुल्माष और पुराने धान्य का बना हुआ आहार, जौ का बना हुआ आहार तथा सुन्दर आहार के मिलने या न मिलने पर संयम युक्त भगवान किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधु का जीवन आत्म-साधना का जीवन है। इसके लिए वह शरीर का ध्यान भी रखता है। क्योंकि साधना के लिए उसका माध्यम भी आवश्यक है। परन्तु वह उसमें आसक्त नहीं रहता है। साधना में सहयोगी होने के कारण वह शरीर को

→ किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पणो वा परस्स दा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति से तं पारियावणिया किरिया ॥5॥ पाणाइवाय किरियाणं भंते! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जेणं अप्पणं वा परं वा तदुभयं वा जीविया ओववरोयइ सेतं पाणाइवाय किरिया॥6॥

आहार-पानी देता है, परन्तु उसमें वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर के पोषण में कहीं दूसरे प्राणियों का नाश न हो जाए। इस कारण वह सदा निर्दोष आहार ही स्वीकार करता है और समय पर सरस-नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हो, उसे समभावपूर्वक कर लेता है। वह उसमें हर्ष या शोक नहीं करता।

भगवान् महावीर भी जैसा निर्दोष आहार उपलब्ध होता था, अनासक्त भाव से कर लेते थे। वे दधि आदि सरस पदार्थ मिलने पर हर्षित नहीं होते थे और कुल्माष आदि नीरस पदार्थ मिलने पर शोक नहीं करते थे। उनका उद्देश्य साधना को चालू रखने के लिए पेट को भरना था। इसलिए यथासमय जैसा भी शुद्ध आहार मिलता, उसीसे संतोष कर लेते थे। इससे रसना इन्द्रिय पर सहज ही विजय प्राप्त हो जाती है और इस वृत्ति से एक लाभ यह होता है कि साधु में दाता की निन्दा एवं प्रशंसा करने की भावना उद्बुध नहीं होती। जिसकी रसों में आसक्ति होती है, वह सरस आहार देने वाले की प्रशंसा एवं नीरस आहार देने वाले व्यक्ति की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध कर लेता है। इसलिए साधु को समय पर सरस एवं नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हो, उसे समभाव पूर्वक करना चाहिए।

टीकाकार ने प्रस्तुत गाथा में आहार के विषय में प्रयुक्त शब्दों का निम्न अर्थ किया है—1—सुइयं दध्यादिना भक्तामार्द्रकृतमपि तथा भूतम्। 2—सुक्कं-बल्ल-चणकादि। 3—सीयंपिंड-पर्युषित भक्तम्। 4—बुक्कसं—चिरन्तन धान्यौदनम्। 5—पुल्लगं—यवनिष्पावादि।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनि स्वाद के लिए आहार नहीं करता, केवल साधना के लिए शरीर को स्थिर रखना होता है, इस कारण वह आहार करता है।

अब साध्य प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्डं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने॥14॥

छाया—अपि ध्यायति सः महावीरः, आसनस्थः अकोत्कुचः ध्यानम्।

ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्रेक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ में है। से—वे। महावीरे—भगवान् महावीर। झाइ—

ध्यान करते थे। आसणत्ये—आसनस्थ होकर। अकुक्कुए—मुखादि की चंचलता को छोड़कर। ज्ञाणं—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। उड्डं—ऊर्ध्व लोक। अहे—अधोलोक। च—और। तिरियं—मध्यलोक में जो जीवादि पदार्थ हैं, वे उन द्रव्यों और उनकी पर्यायों की नित्यानित्यता का चिन्तन करते थे और। समाहिं—अन्तःकरण की शुद्धि को। पेहमाणे—देखते हुए। अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित होकर ध्यान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर, स्थिर आसन एवं स्थिर चित्त से धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। वे उस ध्यान मुद्रा में ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और तिर्यग् लोक में स्थित द्रव्य और उनकी पर्यायों के नित्यानित्य रूप का चिन्तन करते थे। वे अपने अन्तःकरण की शुद्धि को देखते हुए प्रतिज्ञा से रहित होकर सदा ध्यान एवं आत्मचिन्तन में संलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्यकता आसन की है। ध्यान के लिए उत्कुट्क आसन, गोदुहिक आसन, वीरासन और पद्मासन आदि प्रसिद्ध हैं। इन आसनों से साधक शरीर को स्थिर करके मन को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन में संलग्न होता है। भगवान् महावीर भी दृढ़ आसन से धर्म एवं शुक्ल ध्यान ध्याते थे। इससे मन विषयों से हटकर आत्म-स्वरूप को समझने में लगता है, इससे कर्मों की निर्जरा होती है। ध्येय वस्तु द्रव्य और पर्याय रूप होती है। अतः वह नित्यानित्य होती है। यह हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। अतः ध्यान में उसके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पातंजल योग दर्शन में भी योग के आठ अंग माने गए हैं—1—यम, 2—नियम, 3—आसन, 4—प्राणायाम, 5—प्रत्याहार, 6—धारणा, 7—ध्यान और 8—समाधि। कुछ विचारक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अंग मानते हैं। कई साधक उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और देश त्याग को ही योग साधना मानते हैं और कोई मन के निरोध को ही सर्व सिद्धि का कारण मानता है।

प्रस्तुत गाथा में आत्मविकास के लिए 3 साधन बताए हैं—आसन, ध्यान और ध्येय—समाधि। आसनों के द्वारा साधक मन को एकाग्र कर लेता है। जैन योग ग्रन्थों में कुछ आसन ध्यान योग्य बताए गए हैं। जैसे—1—पर्यकासन, 2—अर्द्ध पर्यकासन, 3—वज्रासन, 4 वीरासन, 5—सुखासन, 6—कमलासन और 7—कायोत्सर्ग¹। इसके बाद यह बताया गया है कि जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होकर मुनि मन को एकाग्र कर सके, वही सबसे श्रेष्ठ आसन है²। ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है कि अत्यन्त निश्चल सौम्यता युक्त एवं स्पन्दन से रहित दोनों नेत्रों को नाक के सामने स्थिर करे³। ध्यान के समय मुख ऐसा शान्त हो जैसे कि वह तालाब जिसमें मत्स्य सो रहे हों। भ्रू निश्चल एवं विकार हीन हों, दोनों ओष्ठ न अधिक खुले हों और न जोर से बन्द किए हुए हों। तात्पर्य यह है कि मुख पर किसी तरह की विकृति न हो, वह शान्त एवं प्रसन्न हो।⁴

जैन दर्शन में मन-वचन और शरीर को योग कहा है। इनकी शुभ वृत्तियों से चित्त की शुद्धि होती है और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय इन तीनों की एकरूपता से समाधि प्राप्त होती है। इसी प्रारंभिक विकास का पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत का नाम देकर इन्हें धर्मध्यान के अन्तर्गत माना है।

यह सत्य है कि धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम श्रेणी है और शुक्ल ध्यान चरम श्रेणी है। समस्त कर्मों का क्षय करके योगों का निरोध करते समय सर्वज्ञ पुरुष शुक्ल ध्यान में चतुर्थ भेद का ध्यान करके ही योगों का निरोध करके निर्वाण-पद को प्राप्त करते हैं। उस स्थिति तक पहुंचने के लिए या उस योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

1. पर्यकमर्द्धपर्यकं, वज्रं वीरासनं तथा।

सुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः॥

—ज्ञानार्णव, 28, 10

2. येन-येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मनः।

तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥

—ज्ञानार्णव 28, 11

3. नासाग्रदेशविन्यस्ते, धत्ते नेत्रेतिनिश्चले।

प्रसन्ने सौम्यतापन्ने, निष्पन्दे मन्दतारके॥

—ज्ञानार्णव 28, 35

4. भ्रू वल्ली विक्रियाहीनं, सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।

सुप्तमत्स्यहृदप्रायं, विदध्यान्मुखपंकजम्॥

—ज्ञानार्णव 28, 36

अन्य दर्शनों में राजयोग, हठयोग आदि प्रक्रियाएं मानी हैं। इससे कुछ काल के लिए मन का निरोध होता है। जब तक हठयोग की प्रक्रिया चलती है, तब तक मन रुका रहता है। उसकी प्रक्रिया समाप्त हुई कि मन फिर इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता है। इसलिए जैन दर्शन ने हठयोग आदि की साधना पर जोर न देकर सहज योग की बात कही। सहज योग कोई आगमिक प्रक्रिया का नाम नहीं है। आगम में योगों को या मन को वश में करने के लिए 5 संमिति बताई हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधक जिस समय जो क्रिया करे, उस समय तद्रूप बन जाए। यदि उसे चलना है तो उस समय अपने मन को चारों ओर के विचारों से हटाकर चलने में लगा दे; यहां तक कि चलते समय धार्मिक चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि भी न करे। इस तरह अन्य क्रियाएं करते समय अपने योगों को उसमें लगा दे। जिस समय हलन-चलन की क्रिया नहीं कर रहा हो, उस समय अपने योगों को स्वाध्याय या ध्यान में लगा दे। इस तरह मन को प्रति समय किसी-न-किसी काम में लगाए रखे, तो फिर उसे इधर-उधर भागने का अवकाश नहीं मिलेगा। वह सहज ही चिन्तन में एकाग्र हो जाएगा। इसलिए इस साधना के लिए हमने सहज योग शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि इससे योगों को सहज रूप से एकाग्र किया जा सकता है।

इससे ये योग इतने सध जाते हैं कि निर्वाण के समय इनका निरोध करके आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। संसार में रोक रखने के लिए आत्मा के साथ 6 पर्याप्त मानी गई हैं—1—आहार पर्याप्त, 2—शरीर पर्याप्त, 3—इन्द्रिय पर्याप्त, 4—मन पर्याप्त, 5—भाषा पर्याप्त और 5—श्वासोच्छ्वास पर्याप्त। इनसे उन्मुक्त होकर ही आत्मा मुक्त हो सकता है। अतः निर्वाण के समय आत्मा इनका भी निरोध कर लेता है। परन्तु एकाएक तो निरोध हो नहीं जाता। इसलिए साधक के लिए बताया गया है कि वह निराहार होने के लिए तप के द्वारा आहार को कम करते हुए शरीर पर से ममत्व हटाते हुए, इन्द्रिय एवं मन को एकाग्र करते हुए मौन भाव को स्वीकार करके आत्मसाधना में लीन रहे और समिति-गुप्ति के द्वारा योगों को अपने वश में रखने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया आत्मविकास के लिए उपयुक्त है। इसमें योगों के साथ किसी तरह की जबरदस्ती न करके उन्हें सहज भाव से आत्मसाधना में संलग्न किया जाता है।

भगवान महावीर ने इसी साधना के द्वारा योगों को अपने वश में किया था। या यों कहिए कि अपने योगों को धर्म एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न किया था और आत्म-स्वरूप को पूर्णतया जानने के लिए उन्होंने अपने योगों को लोक के स्वरूप का चिन्तन करने में लगा दिया था; क्योंकि किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। जो व्यक्ति एक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह संपूर्ण लोक के स्वरूप को भी नहीं जान सकता। अतः लोक के स्वरूप को जानने के लिए एक पदार्थ का संपूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय युक्त है और लोक भी द्रव्य और पर्याय युक्त है। अतः पदार्थ के सभी रूपों का ज्ञान करने का अर्थ है, संपूर्ण लोक का ज्ञान करना और संपूर्ण लोक का ज्ञान करने का तात्पर्य है, पदार्थ को पूरी तरह जानना। इस तरह एक के ज्ञान में समस्त लोक का परिज्ञान और समस्त लोक के ज्ञान में एक का परिबोध संबद्ध है। इसलिए भगवान महावीर सदा लोक एवं आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए चिन्तन में संलग्न रहते थे¹।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अकसाई विगय गेही य सहस्रवेसु अमुच्छिण्ण झाई ।

छउमत्थोवि परक्कममाणो, न पमायं सइंपि कुव्वित्था॥15॥

छाया—अकषायी विगत गृद्धिश्च शब्दरूपेषु अमूर्छितो ध्यायति ।

छद्मस्थोपि पराक्रममाणः, न प्रमादं सकृदपि कृतवान् ।

पदार्थ—अकसाई—भगवान कषायों से रहित। य—और। विगयगेही—गृद्धिपन से रहित तथा। सहस्रवेसु—शब्द रूपादि में। अमुच्छिण्ण—अमूर्छित होकर। झाई—ध्यान करते थे। छउमत्थोवि—छद्मस्थ होने पर भी। परक्कममाणो—सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने। सइंपि—एक बार भी। पमायं—प्रमाद। न कुव्वित्था—नहीं किया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, कषाय को छोड़कर, रस गृद्धि को त्यागकर,

1. विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु मेरा लिखा हुआ 'अष्टांग योग' अवश्य पढ़ें।

शब्दादि में अमूर्छित होकर ध्यान करते थे। छद्मस्थ होने पर भी सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नहीं किया।

हिन्दी-विवेचन

मन एवं चित्तवृत्ति को स्थिर करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायों का परित्याग करना आवश्यक है। जब तक जीवन में कषायों का अंधड़ चलता रहता है, तब तक मन की वृत्तियाँ चिन्तन में एकाग्र नहीं हो सकतीं। दीपक की लौ हवा के झोंकों से रहित स्थान में ही स्थिर रह सकती है। इसी तरह चिन्तन की ज्योति कषायों की उपशान्त स्थिति में ही स्थिर रहती है। इसके परिज्ञाता भगवान् महावीर ने साधना-काल में मन एवं चित्तवृत्ति को आत्म-चिन्तन में एकाग्र करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायों का परित्याग कर दिया और प्रमाद का भी त्याग करके राग-द्वेष का समूलतः नाश करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। प्रमाद शुभ कार्य में बाधक है, वह आत्मा को अभ्युदय के पथ पर बढ़ने नहीं देता है। इसलिए भगवान् महावीर ने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। छद्मस्थ अवस्था में भगवान् ने कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक की चौथी गाथा में भी बताया है कि भगवान् ने अप्रमत्त भाव से साधना की। यहाँ इस बात को और स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् ने छद्मस्थ काल में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था¹।

छद्म का अर्थ होता है—छिद्र। यहाँ इसका तात्पर्य द्रव्यछिद्रों से नहीं, भावछिद्रों से है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को भावछिद्र कहा है। अतः ये भाव-छिद्र जिस आत्मा में स्थित हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं और इनका क्षय कर देने पर व्यक्ति सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। साधनाकाल में भगवान् भी छद्मस्थ थे। इनका नाश करने के लिए वे प्रमाद का त्याग करके सदा आत्म-चिन्तन एवं संयम-साधना में संलग्न रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— सयमेव अभिसमागम्मा आयतयोगमाय सोहीए।

अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी॥16॥

1. इसकी व्याख्या अ. 9 उ. 2 की गाथा 4 के विवेचन में विशेष रूप से की गई है।

छाया—स्वयमेव अभिसमागम्य, आयतयोगमात्मशुद्धया ।

अभिनिर्वृत्तः अमायावी यावत् कथं भगवान् समित्त आसीत्॥

पदार्थ—सयमेव—स्वात्मा से तत्त्व को । अभिसमागम्य—जानकर भगवान् तीर्थ-प्रवर्तन करने के लिए उद्यत हुए । आयसोहीए—आत्म शुद्धि से । आयत योगं—सुप्रणिहित मन-वचन और काय योग को धारण करके । अभिनिव्वुडे—वे कषायों के उपशम से अभिनिर्वृत्त हो गए थे । अमाइल्ले—माया से रहित होकर । भगवं—भगवान् । आवकहं—जीवन पर्यन्त । समियासी—पांच समिति और तीन गुप्तियों के परिपालक थे ।

मूलार्थ—स्वतः तत्त्व को जानने वाले भगवान् महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध करके त्रियोग को वश में करके कषायों से निवृत्त हो गए थे और वे समिति एवं गुप्ति के परिपालक थे ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया है कि भगवान् ने किसी के उपदेश से दीक्षा नहीं ली थी । वे स्वयं बुद्ध थे, अपने ही ज्ञान के द्वारा उन्होंने साधना-पथ को स्वीकार किया और राग-द्वेष, कषायों एवं प्रमाद का त्याग करके आत्म-चिन्तन के द्वारा चार घातिक कर्मों का सर्वथा नाश करके वे सर्वज्ञ एवं सवदर्शी बने ।

साधना-पथ पर चलने वाले साधक के सामने कितनी कठिनाइयाँ आती हैं, यह भी उनके जीवन की साधना से स्पष्ट हो जाता है । उन्होंने कह कर ही नहीं, बल्कि स्वयं साधना करके यह बता दिया कि साधक को प्राणान्त कष्ट उत्पन्न होने पर भी अपने साधना-मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए । उसे सदा उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए । इस तरह भगवान् महावीर समिति-गुप्ति से युक्त होकर साढ़े बारह वर्ष तक विचरे और अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेष एवं घातिक कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ बने और आयुर्कर्म के क्षय के साथ अवशेष अघातिक कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हो गए ।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मईमया ।

बहुसो अपडिन्नेण, भगवया एवं रीयंति ॥17॥ त्तिबेमि

छाया—एषः विधिः अनुक्रान्तः माहनेन मतिमता ।

बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयन्ते॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित । भगवया—ऐश्वर्य सम्पन्न । मईमया—मतिमान । माहणेण—भगवान महावीर ने । बहुसो—अनेक बार । एस विहि—उक्त विधि का । अणुक्कंतो—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधकों ने भी अपने आत्म-विकास के लिए । एवं—इसी प्रकार । रीयंति—परिपालन किया । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित ऐश्वर्य संपन्न, परम मेधावी भगवान महावीर ने उक्त विधि का अनेक बार आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अपने आत्मविकास के लिए अन्य साधक भी इसी प्रकार परिपालन करते हैं । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा में किया जा चुका है । यहां इतना ध्यान रखें कि यह गाथा प्रस्तुत अध्ययन के चारों उद्देशकों के अन्त में दुहराई गई है । इसमें 'माहणेण मईमया' विशेषण कुछ गम्भीरता को लिए हुए हैं । यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर क्षत्रिय थे, फिर भी उनको मतिमान माहण—ब्राह्मण कहा है । इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण शब्द विशेष प्रचलित रहा है और इससे श्रमण संस्कृति के इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता, बल्कि कर्म से होता है । भगवान महावीर की साधना माहण—हिंसा नहीं करने की साधना थी । वे सदा अहिंसा एवं समता के झूले में झूलते रहे हैं । इसी कारण उन्हें मतिमान ब्राह्मण कहा है । कहां वैदिक यज्ञ अनुष्ठान में उलझा हुआ, हिंसा में अनुरक्त, रक्तरंजित हाथों वाला ब्राह्मण और कहां अहिंसा, दया एवं क्षमा का देवता ब्राह्मण । दोनों की जीवन रेखा में आकाश-पाताल जितना अंतर ! यही कारण है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा में प्रचलित ब्राह्मण शब्द

का अर्थ-विकास करके घोर तपस्वी भगवान महावीर के लिए उसे विशेषण रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्ग सूत्र में कई स्थलों पर आर्य, ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पंडित, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने इन शब्दों के प्रयोग में होने वाले हिंसा, शोषण एवं उत्पीड़न के जहर को अमृत के रूप में परिणत करके इन शब्दों को गौरवान्वित किया और आर्य एवं आर्यपथ को भी दिव्य-भव्य एवं उन्नत बनाया।

‘त्तिबेभि’ का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥



पारिभाषिक शब्दकोश

अकर्मभूमि-मनुष्य—जिस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म (काम) नहीं करते। कल्पवृक्षों के द्वारा उनकी अभिलाषाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।

अकल्पनीय—ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अकुशल—सदोष।

अग्रबीज—जिस वनस्पति के अग्र—आगे के भाग में बीज है, जैसे—नारियलादि।

अगीतार्थ—जो साधु 16 वर्ष से कम आयु का है, वह वय-अगीतार्थ है और जो साधु श्रुत में आचार-प्रकल्पागम, अर्थात् आचाराङ्ग और व्यवहार एवं निशीथ के अर्थ का ज्ञाता नहीं है, वह श्रुत से अगीतार्थ है।

अचित्त—चेतना से रहित पदार्थ। जड़ पदार्थ अचित्त कहलाते हैं।

अचित्त-योनि—जो उत्पत्तिस्थान जीवप्रदेशों से रहित है।

अचेलक—स्वल्प या मर्यादित वस्त्र-युक्त या वस्त्र-रहित मुनि।

अतीरंगम—संसार-सागर को तैर कर किनारे पर पहुंचने में असमर्थ व्यक्ति।

अध्यवसाय—परिणाम या भाव-विचार।

अनगार—घर-परिवार से रहित साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ।

अनन्तानुबन्धी-क्रोध—जिसके क्रोध का अनन्त प्रगाढ़ अनुबन्ध—बन्धन है, अर्थात् जिसके साथ वैर-विरोध हो गया, वह जीवनपर्यन्त बना रहता है, उसका क्रोध कभी समाप्त नहीं होता, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध कहते हैं।

अन्तर्द्रष्टा—आत्मा को देखने वाला, आत्म-चिन्तन करने वाला।

अन्तराय-कर्म—आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त करने में रुकावट डालने वाला कर्म।

अन्तेवासी—गुरु की सेवा में संलग्न रहने वाला या सदा गुरु की आज्ञा में विचरने वाला शिष्य ।

अनन्त—जिसका कहीं अन्त नहीं आता ।

अनन्त चतुष्क—आत्मा में 1—अनन्त ज्ञान, 2—अनन्त दर्शन, 3—अनन्त सुख और 4—अनन्त वीर्य (शक्ति) की सत्ता (अस्तित्व) रहती है ।

अनन्य-आराम—जो मोक्ष-मार्ग या आत्म-साधना के अतिरिक्त अन्यत्र शान्ति या आराम का अनुभव नहीं करता या जिसे आत्म-साधना में ही आराम व शांति की अनुभूति होती है ।

अनन्य दर्शी—यथार्थ द्रष्टा, आत्म-दर्शी ।

अन्य-लिंगी—जैनेतर साधु के वेश में ।

अनर्थ-गत-जिज्ञासा—संसार के स्वरूप को जानने की अभिलाषा ।

अनाथी मुनि—भगवान महावीर के युग का एक श्रमण, जिसने मगधाधिपति श्रेणिक को जीवन का यथार्थ रहस्य बताया था, उसे प्रतिबोध दिया था ।

अनादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की कोई आदि नहीं है, अर्थात् जो पदार्थ अनन्त काल से विद्यमान है, उसका कभी सर्वथा अभिनव निर्माण नहीं हुआ ।

अनार्य देश—जहां के लोगों में आर्यत्व—अहिंसा, दया, प्रेम, स्नेह, सत्य आदि का अभाव था । जो कठोर हृदय वाले एवं निर्दयी तथा परपीड़न में आनन्द मनाने वाले थे ।

अनावृत—खुला हुआ, नग्न, परदा या आवरण से रहित ।

अनुकम्पा—किसी भी दुःखी प्राणी को पीड़ित देखकर आत्मा में कम्पन होना । दया-भाव जागृत होना ।

अनुपभुक्त—जो पदार्थ अभी भोगा नहीं गया है ।

अनुभवन—अनुभूति या अनुभव होना ।

अनुभाग बन्ध—बँधने वाले कर्मों का अनुभाग रस कैसा है? शुभ है या अशुभ, मन्द है या तीव्र? इस तरह कर्म में रस के परिपाक को अनुभाग-बन्ध कहते हैं ।

अनुमोदन—समर्थन ।

अनुवर्त्तन—परिभ्रमण करना, घूमते रहना ।

अनुष्ठान—क्रिया, साधना ।

अनोधतर—संसार-प्रवाह को पार करने में असमर्थ व्यक्ति ।

अप्काय—जिन जीवों ने पानी के शरीर को धारण कर रखा है ।

अप्रतिज्ञ—इच्छा, वासना एवं कामना से रहित ।

अप्रतिबन्ध-विहारी—वायु की तरह बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरण करने वाला साधक ।

अपरिज्ञात—अनजान, जिसे किसी पदार्थ के स्वरूप का बोध नहीं है ।

अपरिमित—असीम (Boundless) जिसकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं है ।

अपवर्ग—मोक्ष या मुक्ति ।

अपवाद—संयम रक्षा के लिए विशेष परिस्थिति में जिस निषिद्ध मार्ग का अवलम्बन लिया जाए ।

अपारंगम—संसार-समुद्र को पार करने में असमर्थ व्यक्ति ।

अपौरुषेय—जो पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है, अर्थात् ईश्वर द्वारा उपदिष्ट शास्त्र ।

अभक्ष्य—जो पदार्थ खाने योग्य नहीं है ।

अभ्याख्यान—अपलाप करना ।

अभिग्रह—प्रतिज्ञा विशेष ।

अमनोज्ञ—चारित्र से हीन शिथिलाचारी साधु या चारित्र एवं श्रद्धा से भ्रष्ट या रहित साधु-सन्न्यासी ।

अयोगी गुणस्थान—आत्म-साधना का चरम विकास, इस गुणस्थान की आयु कुछ क्षणों की है—अ इ उ ऋ और लृ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय की । यहां पहुंचते ही आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके कर्म-जन्य मन-वचन और काय (शरीर) योग का निरोध कर लेता है और तुरन्त सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है ।

अर्थगत-जिज्ञासा—मोक्ष के अर्थ को जानने की जिज्ञासा—भावना ।

अरणक—भगवान महावीर के 10 श्रावकों (उपासकों) में से एक श्रावक ।

अरिहन्त—कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले महापुरुष ।

अवधि-ज्ञान—मन और इन्द्रियों की बिना सहायता के मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानना-देखना ।

अवमचेलक—स्वल्प एवं मर्यादित वस्त्र से युक्त ।

अव्रती—त्याग से रहित ।

अवसर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमें 6 आरे—समय का एक माप—होते हैं । इसके प्रत्येक आरे में सुख-समृद्धि, शरीर, संघयन, आयु आदि का हास होता रहता है ।

अविनाभाव-सम्बन्ध—जो सम्बन्ध एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकता । जैसे—गुण और गुणी दोनों एक-दूसरे के अभाव में रह नहीं सकते ।

असंयत—गृहस्थ या जो संयत-साधु नहीं है ।

असंवृत्त—संवर—आते हुए कर्म को रोकने की एक प्रक्रिया, से रहित है ।

असदभियोग—झूठा आरोप लगाना ।

असम्यक्—तत्त्वों एवं लोक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव ।

असुरकाय—राक्षस, नीच जाति के देव । भवनपति, बाणव्यन्तर जाति के देवों को असुर कहते हैं ।

अशाश्वत—क्षणिक, सदा नहीं रहने वाला ।

अहिंसा—किसी प्राणी का वध नहीं करना तथा उसे संक्लेश नहीं पहुँचाना ।

आगम—शास्त्र, सूत्र ।

आचार्य हेमचन्द्र—12वीं शताब्दी के प्राकृत-संस्कृत के विद्वान जैनाचार्य, जो जैन शास्त्रों पर टीकाएं एवं जैन दर्शन, योग शास्त्र, व्याकरण, काव्य, जीवन-चरित आदि विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों के निर्माता थे ।

आचाराङ्ग—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट 12 अंग शास्त्रों में प्रथम शास्त्र, जिसमें प्रायः साध्वाचार का उपदेश दिया गया है ।

आजीविक—मंखली पुत्र गौशालक की सम्प्रदाय, आज उसका अस्तित्व नहीं रहा और न उसका साहित्य ही उपलब्ध होता है।

आतंकदर्शी—नरक-तिर्यच आदि गति में मिलने वाले दुःखों एवं आतंक को देखने वाला या पाप-कर्म करते हुए डरने वाला।

आत्मतुला—आत्मा का तराजू, अर्थात् कार्य करने से पूर्व वह उसे अपनी आत्मा की आवाज से परख लेता है।

आत्मवादी—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला।

आत्मश्लाघा—अपनी आत्मप्रशंसा।

आत्यन्तिक—पूर्ण रूप से।

आधाकर्मी आहार—जो आहार आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त हिंसा करके तैयार किए जाते हैं।

आप्त—पूर्ण पुरुष—जिसमें राग-द्वेष या दोषों की जरा भी कालिमा अवशेष नहीं रही है।

आम—अपक्व पापकर्म और आधाकर्म—जो आहार-पानी आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त से बनाए जाते हैं, दोष।

आयत—कभी समाप्त नहीं होने वाला स्वरूप, मोक्ष।

आयुकर्म—जिस कर्म के कारण जीव (आत्मा) अपने शरीर में स्थित रहता है और जिसके समाप्त होते ही जीव (आत्मा) शरीर को छोड़ कर दूसरी गति या मोक्ष में चला जाता है।

आर्त—राग-द्वेष एवं विषय-कषाय से आवृत्त घिरा हुआ।

आर्त-रौद्र-ध्यान—दुःख से पीड़ित होकर सदा दुःख एवं शोक में डूबे रहना तथा रुद्र—दूसरे का समूलतः नाश करने का भाव रखना, सदा अत्यधिक दुर्भावनाओं में डूबे रहना। दूसरे का नाश करने के उपायों को सोचते रहना।

आवृत्त—ढका हुआ, आच्छादित।

आवर्त—संसार।

आस्तिक्य—यथार्थ देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होना ।

आहार संज्ञा—खाद्य पदार्थों का उपभोग करने की अभिलाषा ।

इङ्गित मरण—मृत्यु को निकट जानकर समाधि पूर्वक मृत्यु का आह्वान करना, अथवा जीवन पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करके रखी हुई मर्यादित भूमि में ही विचरण करना ।

इयत्ता—परिमितता, एक सीमा ।

ईर्यापथिक-क्रिया—राग-द्वेष से रहित तीर्थकरों द्वारा की जाने वाली क्रिया, इससे पुण्य-पाप किसी भी तरह का बन्ध नहीं होता । केवल प्रथम समय में कर्म आते हैं, द्वितीय समय में वेदन-आत्म-प्रदेशों से स्पर्शित होते हैं और तीसरे समय में झड़ जाते हैं ।

ईर्या समिति—चलते समय विवेक पूर्वक देखकर चलना । अपने मन-वचन और काय योग को धर्म-चर्चा, चिन्तन-मनन एवं अन्य सब विषयों से हटाकर मार्ग अवलोकन में लगाना ।

उपभोगावशिष्ट—उपभोग—काम में लेने के बाद शेष बचे हुए पदार्थ ।

उत्पाद—उत्पन्न होना ।

उत्सर्ग—वह मार्ग जिसकी साधना सदा-सर्वदा की जा सके । सदा आचरण करने योग्य साधना-पथ ।

उत्सर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमें 6 आरे—समय का एक (नाप)—होते हैं । इसके प्रत्येक आरे में सुख-समृद्धि, शरीर, संघयन, आयु आदि की वृद्धि होती रहती है ।

उद्गमन के दोष—आहार के वे दोष जो अन्ध अनुरागी भक्त के द्वारा लगाए जाते हैं । आधाकर्मी आदि—साधु के निमित्त आहार आदि बनाकर देना ।

उत्पादन के दोष—आहार ग्रहण करने के वे दोष जो स्वाद लोलुपी साधु के द्वारा सेवन किए जाते हैं ।

उद्भिज—पृथ्वी का भेदन करके उत्पन्न होने वाले प्राणी टिड्डी, पतंगे आदि ।

उदीरणा—जो कर्म अभी तक उदय में नहीं आए हैं, उन्हें विशेष प्रक्रिया के द्वारा समय से पहले ही उदय में ले आने का नाम उदीरणा है।

उद्देशक—अध्ययन के अनेक विभागों में से एक विभाग। अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न विषयों में से अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति।

उपकरण—वस्त्र-पात्र आदि साधन या सामग्री।

उपदेष्टा—उपदेशक।

उपधान—तप-साधना की एक प्रक्रिया।

उपयोग—आत्मा को जानने एवं देखने की शक्ति, जिसे दर्शन और ज्ञान भी कहते हैं।

उपसर्ग—किसी देव-दानव या मानव द्वारा दिया जाने वाला कष्ट।

उपशम—शांत, राग-द्वेष एवं काषायिक भावों को उपशांत कर देना।

उपादेय—स्वीकार करने योग्य।

उष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान में उष्ण—गरम स्पर्श पाया जाता है।

ऋजु—सरल, निष्कपट।

एक देश—एक भाग, एक हिस्सा।

एक शाटक—एक वस्त्र।

एषणा के दोष—आहार के वे दोष जो अनुरागी भक्त एवं स्वाद लोलुप साधु दोनों के द्वारा लगाए लाते हैं।

ओघ संज्ञा—जीव की अविकसित एवं अव्यक्त चेतना अवस्था।

औदयिक भाव—कर्म प्रकृतियों का उदय भाव रहना।

औदारिक—हड्डी, मांस-मज्जा, रक्त, वीर्य आदि से युक्त स्थूल शरीर, जो मनुष्य और तिर्यच में पाया जाता है।

औनोदर्य—अल्पाहार, क्षुधा—भूख से कम आहार करना।

औपपातिक—उत्पत्तिशील, जन्मांतर में संक्रमण करने वाला या देव और नारकी।

देव और नारकी के जन्म-स्थान को उपपात कहते हैं और उपपात से उत्पन्न होने के कारण ये औपपातिक कहलाते हैं।

औपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की सातों प्रकृतियों को उपशम शांत कर दिया है, दबा दिया है।

अंगिरा—एक महान् ऋषि। वैदिक परंपरा की मान्यता है कि ईश्वर ने इन ऋषियों (अङ्गिरा आदि) को वेदों का रहस्य बताया था।

अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

अंतर्दीपज-मनुष्य—लवण समुद्र में स्थित द्वीपों में जन्मने वाले मनुष्य। वैसे यह क्षेत्र भी अकर्मभूमि ही है।

कटिबन्ध—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र।

कर्तृत्व—कर्म—कार्य का करने वाला।

कर्म बद्ध—कर्मों से बँधी हुई।

कर्मभूमि मनुष्य—जिस क्षेत्र में मनुष्य कृषि, व्यापार, नौकरी एवं शस्त्रास्त्र का काम करके, पुरुषार्थ करके अपना जीवन यापन करता है, उसे कर्मभूमि कहते हैं और उस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को कर्मभूमि-मनुष्य।

कर्मवादी—कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला।

कर्माश्रय—कर्म के आने का द्वार।

कल्प-सूत्र—आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित एक शास्त्र, जिसमें मुनि-कल्प (मर्यादा), भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन का वर्णन, भगवान् महावीर के शासन की पाट परम्परा (स्थविरावली) का वर्णन है।

कल्पातीत—जिनके लिए उनका अपना ज्ञान एवं आचरण ही कल्प या मर्यादा थी।

कषायमूलक—बध्यमान कर्म—कषाय के मूल निमित्त से बंधे हुए कर्म।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग करना।

कार्मण-शरीर—संसार में स्थित आत्मा के साथ लगा हुआ एक सूक्ष्म शरीर जो कर्मों को ग्रहण करता है और सदा काल साथ रहता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर

यहीं रह जाता है, परन्तु यह सूक्ष्म शरीर साथ रहता है और यही आत्मा को अपने उत्पत्ति स्थान पर ले जाता है।

काषायिक—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त भाव।

किंपाक फल—एक प्रकार का फल जो वर्ण-रूप, गंध, रस से सुन्दर, सुवासित एवं स्वादिष्ट लगता है, परन्तु स्वभाव से विषाक्त होता है। वह खाने वाले को निष्प्राण बना देता है।

क्रियावादी—क्रिया—आचरण का मार्ग बताने वाला।

कुरान शरीफ—मुसलमानों का धर्म-ग्रंथ।

कुशल—निर्दोष।

कूटस्थ—बिना किसी परिवर्तन के सदा-सर्वदा बने रहना।

कृत-अकृत—करने योग्य हो या न हो।

केवल ज्ञान—इन्द्रिय, मन एवं अन्य किसी भी ज्ञान की बिना अपेक्षा के तीनों लोक में स्थित द्रव्यों एवं उनके त्रिकाल-वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

केशी-श्रमण—भगवान् पार्श्वनाथ (23 वें तीर्थंकर) के शिष्य, जो भगवान् महावीर के शासनकाल में विद्यमान थे और गौतम स्वामी के साथ विचार-वर्चा करने के बाद भ. महावीर के शासन में सम्मिलित हो गए।

क्षयोपशम—कर्म की कुछ प्रकृतियों को नष्ट कर देना और कुछ को शान्त कर देना, अर्थात् उन्हें उभरने न देना।

क्षयोपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की कुछ प्रकृति क्षय एवं कुछ का उपशम होता है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—जिसमें दर्शन-मोह कर्म की 7 प्रकृतियों का क्षय कर दिया गया है।

क्षेत्रज्ञ—अग्नि के वर्ण आदि को जानने वाला।

क्षेमंकरी—कल्याणकारी।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान को आवृत करने, ढकने वाला कर्म।

खुदा—ईश्वर ।

खेदज्ञ—अग्नि की दहन शक्ति को जानने वाला ।

गजसुकमाल—कृष्ण-वासुदेव के लघु-भ्राता और भगवान अरिष्टनेमिनाथ के सुशिष्य, जिन्होंने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन सिद्धत्व को पा लिया ।

गणधर—गण (साधु-साध्वी के समूह) को धारण करने वाले, अर्थात् गण की व्यवस्था करने वाले । तीर्थकरों की अर्थ रूप वाणी को सूत्र रूप में ग्रथित करने वाले । भगवान महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि 11 गणधर थे ।

गणि-पिटक—ज्ञान का पिटारा—ज्ञान-मंजूषा (Treasure of Knowledge) ।

गति—यूं तो गति का अर्थ होता है—चलना, पर नरक, तिर्यच, मनुष्य व देव इन चार उत्पत्ति स्थानों को भी गति कहते हैं । यहां गति का अर्थ उक्त चार गति रूप संसार है ।

गति-आगति—जीव के आवागमन के स्थान ।

गति-त्रस—जिन जीवों ने त्रस नाम कर्म एवं गति का बन्ध होने से त्रस—हलन-चलन करने वाले, जीवन को प्राप्त किया है, उन्हें गति-त्रस कहते हैं ।

गुण—किसी वस्तु में रहने वाली पर्याय विशेष और शब्दादि विषय, विषय-विकार को भी गुण कहते हैं ।

गुणार्थी—विषय-वासना का अभिलाषी ।

गुणी—वह वस्तु विशेष, जिसमें गुण रहते हैं ।

गुप्ति—मन-वचन और काय (शरीर) योग का गोपन करना ।

गुरुत्व—भारीपन ।

गौतम स्वामी—भगवान महावीर के प्रथम और प्रमुख शिष्य एवं प्रथम गणधर ।

गौशालक—मंखली जाति का एक व्यक्ति, जो भगवान महावीर की प्रतिष्ठा को देखकर उनकी तरह उनके साथ रहने लगा और उन्हें अपना गुरु मानने लगा । वह 6 वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा । उसके बाद अलग होकर उसने अपना आजीवक संप्रदाय चलाया ।

ग्रन्थि—गांठ ।

ग्रामधर्म—काम-वासना या भोगेच्छा ।

ग्लान—वृद्ध; रोगी और अस्वस्थ ।

घातिक-कर्म—ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य शक्ति, आत्मा के इन चार मूल गुणों की घात करने वाले, अर्थात् इन्हें आवृत करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं ।

घ्राणेन्द्रिय—नाक, नासिका ।

चक्रवर्ती—सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य करने वाला शासक ।

चण्डकौशिक-सर्प—एक भयंकर विषधर (सर्प) जिसकी फुंकार से मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी मर जाते थे, पेड़-पौधे पत्र-पुष्प एवं फलों से रहित हो जाते थे, जिसको निर्भयता पूर्वक भगवान महावीर ने उसकी बाम्बी पर जाकर उपदेश दिया और उसे निर्विष बनाकर उसके एवं जनता के जीवन को शान्तिमय बनाया ।

चतुरिन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा, नाक और आंख चार इन्द्रियां हैं ।

चौदह-पूर्व—तीर्थंकर भगवान द्वारा उपदिष्ट विशाल ज्ञान, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है ।

चार ज्ञान—1—मति ज्ञान, 2—श्रुत ज्ञान, 3—अवधि ज्ञान, 4—मनःपर्यव-ज्ञान और 5—केवल ज्ञान । ये पांच ज्ञान सम्यग् ज्ञान माने गए हैं । इसमें से पहले चार ज्ञान ।

चार याम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रत ।

चारित्र—आत्मा में स्थित कर्म-प्रवाह को समाप्त करने की एक साधना प्रक्रिया ।

चारित्र धर्म—आगम में उपदिष्ट साधना को जीवन में साकार रूप देना ।

चारित्र मोहनीय—एक प्रकार का आवरण, जिसके रहते आत्मा त्याग-मार्ग को स्वीकार नहीं कर पाता ।

चार्वाक—एक भारतीय दर्शन, जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और नरक स्वर्ग को नहीं मानता ।

चूलिका—मूल ग्रंथ के विषय में रही हुई कमी को पूर्ण करने या विषय को स्पष्ट करने के लिए मूल ग्रन्थ के साथ जोड़ा गया ग्रंथ या अध्ययन।

चोलपट्टक—धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र।

छट्टा गुणस्थान—पूर्णतः त्याग मार्ग स्वीकार करने का स्थान।

छद्मस्थ—जिन प्राणियों को संपूर्ण (केवल) ज्ञान नहीं हुआ है। जिनमें अभी तक राग-द्वेष के भाव स्थित हैं।

जम्बू स्वामी—भगवान महावीर के पंचम गणधर और प्रथम आचार्य के सुशिष्य तथा भगवान महावीर के शासन के द्वितीय शास्ता—आचार्य।

जयन्ती—भगवान महावीर की ज्ञानवती एवं सेवा-निष्ठ उपासिका जिसने अनेक बार भगवान से प्रश्न पूछे थे।

जरायुज—जेर से आवृत उत्पन्न होन वाले प्राणी, गाय-भैंस आदि।

जातिस्मरण ज्ञान—आत्मा की एक शुद्ध अवस्था या भावना, जिसके द्वारा आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना अपने निरन्तर सन्नी पंचेन्द्रिय (मन युक्त पशु-पक्षी या मनुष्य) के किए गए अनेक या 900 भवों को देख लेता है।

जिनकल्प—साधु-जीवन की विशिष्ट साधना। संघ से अलग रहकर एकाकी साधना करने वाले, दूसरों को उपदेश न देने वाले, शिष्य न बनाने वाले, अपने शरीर की भी सार-सम्भाल न करने वाले, नग्न रहने वाले साधु की मर्यादा।

जिनेन्द्र—राग-द्वेष के विजेता।

जिनेश्वर—राग-द्वेष रूप समस्त भाव शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले या मनोविकारों के विजेता।

जिनोपदिष्ट—राग-द्वेष विजेता तीर्थंकर भगवान के द्वारा उपदेशित-प्ररूपित।

जैनदर्शन—जिन भगवान तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्धान्त, अर्थात् जो आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट जैनागमों को प्रमाण मानता है।

तप—आहार-पानी, स्वाद, रस एवं कषायों—क्रोध मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष का त्याग करना।

तादात्म्य सम्बन्ध—गुण और गुणी की एक-रूपता का सम्बन्ध, अर्थात् गुण और गुण का स्वाभाविक या सदा स्थित रहने वाला सम्बन्ध।

तितिक्षा—सहनशीलता, सहिष्णुता।

तीर्थकर—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चतुर्विध—चार प्रकार के संघ (समूह) को तीर्थ कहते हैं और इसके संस्थापक को तीर्थकर। वर्तमान कालचक्र में 24 तीर्थकर हुए हैं, उनमें भगवान ऋषभदेव प्रथम हैं और भगवान महावीर अन्तिम।

तेजस्काय—जिन जीवों ने आग्ने के शरीर को धारण कर रखा है।

तेजोलेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा तपस्वी साधक अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रज्वल्यमान पुद्गल फेंकता है, जिससे वह जलकर भस्म हो जाता है। इसे तेजोलब्धि भी कहते हैं।

तेरहवां गुणस्थान—जहां राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु मन-वचन और काय योग का सद्भाव होने से केवल कर्म आते हैं और नुरन्त झड़ जाते हैं। यहां आत्मा को पूर्ण ज्ञान होता है।

तैजस शरीर—पाचन क्रिया करने वाला एक सूक्ष्म शरीर। यह शरीर भी संसार अवस्था में जीव के सदा साथ रहता है।

त्रस-स्थावर—जो प्राणी त्रास पाकर दुःख से बचने के लिए सुख के स्थान में आ-जा सकते हैं, वे त्रस और जो कहीं आ-जा नहीं सकते, एक जगह स्थिर रहते हैं, वे स्थावर। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस और एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहलाते हैं।

त्रिकालवर्ती—तीनों काल में बर्तने वाला।

त्रि-करण—किसी कार्य को करना, करवाना और समर्थन करना।

त्रिपथ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों मार्गों का सुमिलन।

त्रि-याम—जीवन की तीन अवस्थाएं—प्रथम याम 8 से 30 वर्ष, मध्यम-याम 30 से 60 वर्ष और अन्तिम याम 60 वर्ष से लेकर अन्तिम सांस तक का समय। या सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र अथवा हिंसा, झूठ और परिग्रह का परित्याग।

त्रि-योग—मन-वचन और काय (शरीर) योग।

त्रीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा और घ्राण—नाक केवल तीन इन्द्रियां ही हैं।

त्रैकालिक सत्य—आगत, वर्तमान और अनागत तीनों काल में समान रूप से विद्यमान रहने वाला।

दण्ड रूप—हिंसक।

दर्शनमोहनीय—सम्यक् श्रद्धा पर मोह कर्म का आवरण, जिससे जीव तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं कर पाता।

दर्शन सप्तक—अनन्तानुबन्धी प्रगाढ़ क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन सात प्रकृतियों को दर्शन सप्तक कहते हैं। जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

दर्शनावरणीय कर्म—अवलोकन करने की सामान्य दृष्टि को आवृत करने वाला कर्म।

दशवैकालिक सूत्र—शंयभवाचार्य द्वारा संकलित और चार मूल शास्त्रों में से पहला मूल शास्त्र, जिसमें साध्याचार का वर्णन है।

दुख प्रतिघात—दुःखों का नाश करना या दुःखों से छुटकारा पाना।

दूष्प्रत्याख्यान—बुरा या मिथ्या त्याग।

देवदूष्य वस्त्र—तीर्थकरों को दीक्षा लेते समय इन्द्र द्वारा दिया जाने वाला एक वस्त्र। तीर्थकर इस वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र ग्रहण नहीं करते।

देवर्द्धिगणि—क्षमा-श्रमण—भगवान महावीर के लगभग 900 वर्ष बाद होने वाले आचार्य। इन्होंने ही वी. सं. 980 में आगमों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया था।

द्रव-द्रवित—तरल (स्पुनपक) पदार्थ, परन्तु यहां इसका अर्थ है, संयम-साधना या राग-द्वेष से निवृत्त होना।

द्रविक—राग-द्वेष से निवृत्त होने वाला साधक।

द्रव्य—वस्तु का मूल स्वभाव पदार्थ।

द्रव्य-उपधि—कर्म एवं कर्मजन्य साधन—मन-वचन और काय (शरीर) योग।

द्वादशांगी—12 अंग सूत्र, जिन्हें शास्त्र या आगम भी कहते हैं।

द्वीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर और जिह्वा सिर्फ दो इन्द्रियां ही हैं।

धर्मध्यान—आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का आत्मज्योति को विकसित करने के लिए, चिन्तन करना।

धर्मसंज्ञा—धर्म-पथ या साधनामार्ग पर चलने की भावना का उद्बुद्ध होना।

धुत—आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष के मैल को हटाना।

ध्यान—चिन्तन-मनन।

ध्रुवाचारी—मोक्ष प्राप्ति के साधन—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का परिपालन करने वाला साधक।

धृति—सहनशीलता।

ध्रौव्य—नित्यत्व, वस्तु का सदा सर्वदा स्थायी रहना।

नव तत्त्व—जैन दर्शन जीव, अजीव (जड़), पुण्य, पाप, आस्रव (कर्म के आने का द्वार), संवर (आने वाले कर्मों को रोकने की एक प्रक्रिया), निर्जरा (कर्मों को एक देश से क्षय करने की साधना), बन्ध (कर्मों का बँधना) और मोक्ष (कर्मों से सर्वथा मुक्त होना), इन नौ को मूल तत्त्व (Elements) स्वीकार करता है।

नागासाकी और हिरोशिमा—जापान के दो बड़े शहर, जिन्हें द्वितीय विश्व-युद्ध में अमेरिका ने अणुबम गिराकर नष्ट कर दिया था।

नास्तिक—जिसे आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मादि में विश्वास नहीं है।

निकाचित—जो कर्म इतने चिकने एवं प्रगाढ़ बँध गए हैं कि वे जिस रूप में बँधे हैं, उन्हें उसी रूप में भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।

निगोद—जीव के उत्पत्ति स्थान की वह योनि जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और अनन्त काल तक वहीं जन्म-मरण करते रहते हैं।

निग्रह—दमन।

निदान—कामना-फल की इच्छा एवं वासना।

निधत—कषायों के कारण जिन कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो चुका है।

निमज्जित—डूबा हुआ ।

नियागप्रतिपन्न—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त ।

निराम—पक्व, निष्पाप और आधाकर्म आदि दोषों से रहित ।

निरावरण—आचरण या कर्म एवं अज्ञान के परदे से रहित ।

निरुक्ति—व्याख्या ।

निरुपक्रमोऽआयुष्य—किसी प्रकार का उपक्रम—आघात लगने पर भी जीव का आयुष्य कम नहीं होता ।

निर्ग्रन्थ—धन-धान्य आदि द्रव्य-परिग्रह और राग-द्वेष, काम, क्रोधादि भाव-परिग्रह की गांठ से रहित साधु ।

निर्जरा—आत्मा पर चिपटे हुए कर्मों को तप स्वाध्यायादि साधना के द्वारा आत्मा से अलग करना ।

निर्द्वन्द्व—द्वन्द्व-संघर्ष से रहित ।

निर्युक्ति—जैन आगमों (शास्त्रों) पर प्राकृत भाषा में की गई गद्य या पद्यमय व्याख्या (टीका) ।

निर्वाण—मुक्ति ।

निर्वेद—वैराग्य भाव या वेद—सांसारिक विषय-वासना से निवृत्त होना ।

निवृत्ति—अपनी वृत्ति को संसार से हटा लेना ।

निष्कम्प—कम्पन्न-रहित, स्थिर ।

निष्कर्म-दर्शी—निष्कर्म सिद्ध बनने की दृष्टि (भावना) या सिद्धत्व को प्राप्त करने का अभिलाषी ।

निश्चय दृष्टि—वास्तविक एवं यथार्थ दृष्टि ।

नैसर्गिक—स्वभाव से या दूसरे के उपदेश के बिना ज्ञान का होना ।

पंच मुष्टि लुंचन—सिर के सभी बालों का—जो पांच मुष्टि स्थान में विभक्त हैं, अपने हाथ से लुंचन करना (उखाड़ना) ।

पंचाचार—1. ज्ञान आचार, 2. दर्शन आचार, 3. चारित्र आचार, 4. तप आचार

और 5. वीर्य पुरुषार्थ आचार । अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—पुरुषार्थ का आचरण करना ।

पंचेन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा, नाक, आंख और कान पांचों इन्द्रियां हैं ।

पण्डित—ज्ञानी, सम्यग् दृष्टि । सम्यग् ज्ञान से युक्त, पापों से डरने या बचने वाला ।

पण्डितमरण—ज्ञान पूर्वक मरण भाव को प्राप्त होना, अर्थात् समस्त पापों एवं ममत्व भाव का परित्याग करके शान्त भाव से मृत्यु का आह्वान करना ।

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

पांच याम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत ।

पांडित्याभिमानी—जिसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान है ।

पर-प्रकाशक—ज्ञान, अपने ज्ञान से दूसरे पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है—परन्तु अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता ।

परम मेधावी—श्रेष्ठ—पूर्ण ज्ञानी ।

परमाणु—पुद्गल का वह सबसे छोटा हिस्सा, जिसका एक से दूसरा विभाग न हो सके ।

पर-व्याकरण—दूसरे का उपदेश या तीर्थंकर भगवान का उपदेश ।

परिग्रह—धन-सम्पत्ति एवं पदार्थों में आसक्ति ममत्व भाव एवं तृष्णा रखना ।

परिग्रह संज्ञा—पदार्थों एवं भोगोपभोग के साधनों तथा धन-वैभव पर आसक्ति भाव एवं तृष्णा का जागृत होना ।

परिणामी—परिवर्तित होने वाला ।

परिणामी नित्य—वस्तु का पर्यायों की बदलती हुई स्थिति में भी द्रव्य रूप से स्थायी रहना ।

परिद्यून—जीर्ण-शीर्ण ।

परिताप—विशेष ताप—कष्ट ।

परितापनी क्रिया—दूसरे की आत्मा को परिताप—सन्ताप का कष्ट देना ।

परिबोध—ज्ञान ।

परिमित—सीमित ।

परिवन्दन—अभिनन्दन या प्रशंसा ।

परिव्राजक—संन्यासी ।

परीषह—शीत उष्णादि का कष्ट ।

परेतर-उपदेश—पर का अर्थ यहां तीर्थकर है । अतः तीर्थकर के अतिरिक्त किसी अन्य महापुरुष का उपदेश ।

पर्युषित—बासी आहार ।

पर्व बीज—जिस वनस्पति की गांठों में बीज होता है, गन्ना, बांस आदि ।

प्राणातिपातिनी क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा को कष्ट—पीड़ा देना या किसी के प्राणों का नाश कर देना ।

पादोपगमन—मृत्यु को निकट जानकर साधक सदा के लिए आहार-पानी का त्याग करके निश्चेष्ट होकर वृक्ष की टूटी हुई शाखा की तरह निष्कम्प भाव से पड़ा रहता है ।

पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी या साध्वाचार से गिरे हुए अथवा जिनके पास चारित्र्य का प्रतीक वेश तो है, परन्तु जीवन में आचरण क्रियान्वित नहीं है ।

पुद्गल—जड़ पदार्थ अणु-परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है, अनन्त-अनन्त परमाणुओं के मिलने से एक स्कन्ध बनता है, जिसे आत्मा कर्म रूप से ग्रहण करता है और वही स्कन्ध इन्द्रिय एवं मन के द्वारा जाना देखा जा सकता है ।

पुनर्जन्म—जब तक कर्मों का पूर्णतः क्षय न हो जाए, तब तक मृत्यु के बाद पुनः जन्म ग्रहण करना ।

पुरुष—आत्मा । सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष शब्द से संबोधित किया है ।

पुरुष प्रमाण मार्ग—चलते समय अपने सामने का साढ़े तीन हाथ लम्बा क्षेत्र ।

पैगम्बर—खुदा (ईश्वर) का सन्देश वाहक ।

पोतज—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले प्राणी, हाथी आदि ।

प्रकृति—जड़ तत्त्व । सांख्य दर्शन जड़ पदार्थों को प्रकृति मानता है ।

प्रकृति बन्ध—कर्मों की प्रकृति—स्वभाव का बंध होना, अर्थात् आने वाले कर्म ज्ञानावरण हैं, दर्शनावरण हैं या अन्य प्रकृति के हैं ।

प्रज्ञापना सूत्र—12 उपांग सूत्रों में से चतुर्थ उपांग शास्त्र ।

प्रज्ञावान—पदार्थों के हेय और उपादेय स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, ज्ञानी ।

प्रच्छन्न—छिपी हुई ।

प्रतिमासंपन्न—विशेष प्रतिज्ञा धारण करने वाला साधक ।

प्रतिलेखन—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का सम्यक्त्व अवलोकन करने की एक प्रक्रिया ।

प्रत्यक्षीकरण—साक्षात् अनुभव ।

प्रत्याख्यान—त्याग, नियम एवं प्रतिज्ञा ग्रहण करना ।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी आत्मप्रेरणा एवं आत्मजागृति से साधना पथ पर गतिशील साधक ।

प्रदेश बंध—कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट होना ।

प्रदेशी राजा—श्वेताम्बिका नगरी का राजा जो किसी समय नास्तिक था, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण के प्रतिबोध से जैन बन गया था ।

प्रदोषिका क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा पर द्वेष करना ।

प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी, सजग पुरुष ।

प्रभूत—अत्यधिक, ऐसा खजाना जो कभी समाप्त नहीं होता ।

प्रमादी—विषय, कषाय, मद, अब्रत, मिथ्यात्व आदि विकार प्रमाद हैं । अतः इन विकारों में संलग्न रहने वाला प्रमादी कहलाता है ।

प्रमार्जनी—शरीर पर बैठे हुए मक्खी-मच्छर आदि को हटाने के लिए ऊन का बना हुआ एक छोटा-सा गुच्छक ।

प्रवचन—उपदेश ।

प्रशम—कषायों को अच्छी तरह से शान्त-उपशान्त करना ।

प्रशस्त—सुन्दर, सरल और निष्कटंक ।

प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व—प्राण धारण करने के कारण 'प्राणी', तीनों काल में रहने के कारण 'भूत', तीनों काल में जीवन (चेतना) युक्त होने से 'जीव', और पर्यायों के परिवर्तित होने पर भी आत्म द्रव्य की सत्ता में अन्तर नहीं आने से 'सत्त्व' कहलाता है। ऐसे—द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय को प्राणी, वनस्पति को भूत, पञ्चेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य को जीव और पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि काय को सत्त्व कहते हैं ।

प्रान्त—निकृष्ट खाना एवं तृण आदि की तुच्छ शय्या ।

प्रासुक—हरी-सब्जी, बीज एवं जीव-जन्तु आदि से रहित पदार्थ ।

पृथ्वीकाय—जिन प्राणियों ने पृथ्वी का शरीर धारण कर रखा है ।

बन्धमोक्ष—आत्मा का कर्मों के साथ बंधन और उनसे (कर्मों से) सर्वथा मुक्त होना ।

बहुश्रुत—शास्त्र, आगमों के रहस्य को जानने वाला ।

बद्ध—बँधे हुए ।

बाल—अज्ञानी ।

बाल-संन्यासी—अज्ञान तप करने वाला संन्यासी साधक, जो कष्ट तो सह रहा था, परन्तु साधना के यथार्थ ज्ञान से शून्य था ।

बाहुबली—भगवान् ऋषभदेव का द्वितीय पुत्र, भरत चक्रवर्ती का छोटा भाई ।

बौद्ध दर्शन—तथागत बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ।

ब्रह्म—ईश्वर, परमात्मा ।

बृहत्कल्प भाष्य—छेद सूत्रों में से एक सूत्र (शास्त्र) और उस पर प्राकृत पद्य में विस्तृत विवेचन ।

मांडले के दोष—आहार करते समय साधु द्वारा लगाए जाने वाले दोष—जैसे मूर्च्छा भाव से आहार की प्रशंसा करके उसे खाना, उसकी निन्दा करते हुए खाना आदि ।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन या बुद्धि की सहायता से पदार्थों का यथार्थ बोध करना ।

मध्यस्थ भाव—तटस्थ भाव या वृत्ति ।

मनःपर्यायज्ञान—मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना सन्नी (मन वाले) पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानना ।

मल्लि—वर्तमान कालचक्र के 19 वें तीर्थकर का नाम । 24 तीर्थकरों में यह एक ही ऐसे तीर्थकर हुए हैं, जो स्त्री-लिंग में थे ।

महा-परिज्ञा—विशिष्ट ज्ञान ।

महायान—उत्कृष्ट चारित्र, मोक्षमार्ग ।

मार—कामदेव, संसार ।

मिथ्यादर्शन—अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित उपदेश या गलत समझ, गलत दृष्टि ।

मुमुक्षु—मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रखने या मुक्ति के साधना-पथ पर चलने वाला साधक ।

मुहम्मद—मुसलमानों के एक पैगम्बर (धार्मिक नेता) ।

मूल-बीज—जिस वनस्पति के मूल में बीज है ।

मूलस्थान—कर्मबन्ध या संसार के मूल का कारण ।

मेघकुमार मुनि—राजगृही के महाराज श्रेणिक का पुत्र और भगवान महावीर का शिष्य ।

मैथुन-संज्ञा—स्त्री-पुरुष-संयोग की कामना का उदित होना ।

मोहनीय-कर्म—आत्मा की शुद्ध-श्रद्धा एवं त्याग भावना को आवृत करने वाला कर्म ।

मोह संज्ञा—विषय-वासना एवं कषायों में आसक्त रहना ।

भंग—विकल्प ।

भक्त प्रत्याख्यान—मृत्यु को निकट जानकर जीवन-पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करना ।

भगवती सूत्र—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट पांचावां अंग-शास्त्र । इसे विवाह पण्णत्ति भी कहते हैं ।

भगवान ऋषभदेव—वर्तमान कालचक्र के प्रथम तीर्थकर (अवतार पुरुष)।

भगवान महावीर—श्रमण—जैन-संस्कृति के 24वें तीर्थकर (अवतार)।

भय संज्ञा—किसी भयंकर वस्तु को देखकर या किसी अज्ञात अनिष्ट की कल्पना से मन में उत्पन्न होने वाले डर या भय का आभास होना।

भरत—भगवान ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र और भरत-क्षेत्र का प्रथम चक्रवर्ती राजा।

भव्य—जिस आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है।

भोक्तृत्व—अपने कृत कर्म का फल भोगना।

भौतिक—सांसारिक।

यति—साधु।

याज्ञिक हिंसा—यज्ञ की बलिवेदी पर की जाने वाली पशुओं या मनुष्यों की हिंसा।

युगपत्—एक साथ।

योग—मन-वचन और काया (शरीर) की प्रवृत्ति या साधना की एक प्रक्रिया या चित्त की वृत्तियों का निरोध करके समाधिस्थ होना।

योजन—चार कोस, अर्थात् आठ मील अथवा लगभग तेरह किलोमीटर की लम्बाई।

योनि—जहां जीव जन्म ग्रहण करता है।

योनिपद—प्रज्ञापना सूत्र का वह विभाग जिसमें योनि—उत्पत्ति-स्थानों का वर्णन किया है।

रजोहरण—जीवों की यत्ना एवं मकान आदि को साफ करने के लिए रखा जाने वाला ऊन का गुच्छक, यह साधु की साधुता का चिह्न भी है।

रत्न-त्रय—सम्यक् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र।

रम्यमान—रमण करने वाला।

रसज—खाद्य पदार्थों में रस के विकृत होने से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

रहनेमि—भगवान अरिष्टनेमि का लघुभ्राता, जिसने राजमती को अपने साथ भोग भोगने का आमन्त्रण दिया था और उससे प्रतिबोध पाकर साधनापथ पर पुनः दृढ़ हुआ।

राजमती—मथुरा के महाराज उग्रसेन की पुत्री, जिसका सम्बन्ध भगवान अरिष्टनेमि के साथ हुआ था। पशुओं की रक्षा के लिए जब अरिष्टनेमि उसे त्यागकर साधना करने चले गए, उस समय वह भी दीक्षित हो गई।

लोक—संसार, राग-द्वेष एवं काषायिक भाव।

लोकवादी—लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला।

लोक-संज्ञा—लोक में प्रचलित रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर विश्वास रखना।

लब्धि—शक्ति, आत्मा की एक ताकत।

लब्धि-त्रस—स्थावर नाम कर्म के उदय से जो एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न हुए हैं, परन्तु फिर भी उनमें चारों दिशाओं में गति करने की शक्ति है, उन्हें स्थावर होते हुए भी लब्धि-त्रस कहते हैं, जैसे—वायु और अग्नि।

लाघवता—हलकापन या कमी।

लाढ़-देश—यह बङ्गाल में विहार की सीमा के निकट स्थित है, यहां के लोग अनार्य थे। यहां की भूमि वज्र कठोर होने से इसे वज्र भूमि भी कहते हैं।

लेश्या—परिणामों की शुभाशुभ धारा।

लोकभय—परिवार, समाज एवं राष्ट्र का भय।

वज्रऋषभनाराचसंघयण—इसमें शरीर की हड्डियां वज्र की तरह मजबूत होती हैं, उसमें वज्र सी हड्डी का कील और उसी का मर्कट बन्ध लगा रहता है। इस कारण वज्रऋषभनाराचसंघयण वाले व्यक्ति पर अस्त्र-शस्त्र का जल्दी आघात नहीं लगता।

वज्रवत—वज्र की तरह कठोर।

वनस्पति-काय—जिन जीवों ने हरी-सब्जी, फल-फूल, पत्ते, अनाज के शरीर को धारण कर रखा है।

वात्स्यायन—एक वैदिक ऋषि, जिन्होंने काम-सूत्र (काम-शास्त्र) की रचना की है।

वायु-काय—जिन जीवों ने हवा के शरीर को धारण कर रखा है।

विक्षिप्त—पागल।

विचिकित्सा संज्ञा—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म एवं तत्त्वों में संशय करना।

वितण्डावाद—विचार-चर्चा के समय एक-दूसरे पक्ष को परास्त करने के लिए तर्क के साथ छल-कपट का सहारा लेकर या हो-हल्ला मचाकर प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न करना।

विरूपरूप—बीभत्स एवं अमनोज्ञ स्वरूपवाला विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृत है, खुला है, स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

विहार—पैदल घूमना, पदयात्रा।

वेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीवन को सुख-दुःख का संवेदन होता हो।

वेद—वैदिक—ब्राह्मण परम्परा के द्वारा मान्य शास्त्र।

वेदवित्—तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले आगम को वेद कहते हैं और उन आचाराङ्गादि आगमों को जाननेवाला वेदवित्।

वेदोदय—स्त्री, पुरुष या नपुसंक वेद का उदय—अस्तित्व में आना।

वैक्रिय—वह शरीर जिसमें हड्डी-मांस आदि नहीं होता और जो आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों एवं आकारों में बदला जा सकता है। वह नारकी और देवों में पाया जाता है।

वैक्रियलब्धि—एक शक्ति, जिसके द्वारा साधक अपनी इच्छानुसार विभिन्न रूप बना सकता है।

वैदिक दर्शन—वेद एवं श्रुति-स्मृति को प्रमाण मानने वाला दर्शन, वेदान्त।

वैदिक परम्परा—जो दर्शन या संप्रदाय वेदों को ही प्रमाण मानती है।

वैयावृत्य—सेवा।

व्यय—क्षय होना, विनाश को प्राप्त होना।

व्यवच्छेद—छेदन।

तंज्ञा—ज्ञान ।

संगम देव—एक अज्ञानी देव, जो भगवान महावीर को साधनापथ से भ्रष्ट करने आया और उन्हें 6 महीने तक विभिन्न कष्ट देता रहा, परन्तु अपने उद्देश्य में असफल रहा । भगवान को साधनापथ से नहीं गिरा सका ।

संघयण—शरीर की आकृति ।

संठाण—शरीर की बनावट ।

संयम—अपनी आत्मा को विषय-वासना, विकारों एवं पाप कार्यों से निवृत्त करना । श्रमण, मुनि या सन्त जीवन की साधना ।

संलेखना—शरीर आदि पदार्थों एवं आहारादि पर ममत्व को हटाने की एक साधना, जिसमें साधक तप के द्वारा अपनी वृत्तियों का संकोच कर लेता है ।

संवृत्त योनि—जो उत्पत्ति-स्थान प्रच्छन्न है, ढका हुआ है ।

संवृत्त-विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति-स्थान कुछ आवृत और कुछ अनावृत—खुला भी है ।

संवेग—समभाव को अधिक वेग देना, अर्थात् समभाव की अभिवृद्धि ।

संस्तारक—तृण या घास-फूस की शय्या ।

संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी, जू, लीख आदि ।

सांख्यदर्शन—भारतीय षट्-दर्शन में एक दर्शन, जिसके उपदेष्टा महात्मा कपिल थे ।

सांतरोत्तर—एक अन्तर-पट और दूसरा उत्तर-पट, अर्थात् एक धोती के स्थान पर पहनने का वस्त्र और दूसरा शरीर के अन्य भाग को ढकने का वस्त्र—चदर ।

सचित्त—चित्त अर्थात् चेतना से युक्त । हरी वनस्पति, पानी, अग्नि आदि सचित्त पदार्थ कहलाते हैं ।

सचित्ताचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव एवं अजीव दोनों के प्रदेशों से युक्त हैं ।

सचित्त-योनि—जो उत्पत्ति-स्थान जीव प्रदेशों से युक्त हैं ।

सन्धि—जोड़ना । दर्शन और चारित्र्य मोहनीय और ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय

कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना भाव सन्धि कहलाता है, जिससे सम्यग् दर्शन और ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है। आचाराङ्ग में 'सन्धि' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सन्नी—मनयोग से युक्त प्राणी, अर्थात् जिन प्राणियों के मन है।

सन्मति—अच्छी बुद्धिवाला। भगवान महावीर का नाम।

समचौरंस संठाण—शरीर का एक प्रकार। सर्वांग परिपूर्ण और सुन्दर आकार को समचौरंस संठाण कहते हैं।

समनोज्ञ—चारित्र एवं आचार संपन्न साधु।

समवाय सम्बन्ध—किसी पदार्थ के सामने आने पर आत्मा का उसके साथ होने वाला सम्बन्ध।

समिति—विवेक एवं यत्ना पूर्वक साधनापथ में प्रवृत्त होना। साध्य की सिद्धि के लिए साधनाकाल में की जाने वाली प्रवृत्ति में विवेक, यत्ना एवं समभाव को बनाए रखना।

सम्पूर्च्छिम-मनुष्य—माता-पिता के संयोग के बिना मल-मूत्र आदि अशुचिजन्य स्थानों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य।

सम्यग् ज्ञान—तत्त्वों एवं पदार्थों का यथार्थ ज्ञान—बोध।

सम्यक्त्व—तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा-निष्ठा रखना।

सम्यक्तया—परिणामों में राग-द्वेष से युक्त भावों का सद्भाव।

सर्वज्ञ—सम्पूर्ण लोकालोक में स्थित पदार्थों के तीनों काल के स्वरूप को अपनी शुद्ध आत्म-ज्योति से स्पष्टतः देखने वाले महापुरुष।

सर्वथा पृथक्—पूर्ण रूप से अलग।

सागरोपम—समय का एक परिमाण। (कल्पना कीजिए कि यदि युगलियों के नवजात शिशु के बालों को इतना सूक्ष्म कर दिया जाए कि वे आंख में न रड़कें, इस प्रकार के बाल खण्डों से एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे कुएं को ठसाठस भर दिया जाए। फिर उस कुएं में से एक-एक बालखंड सौ-सौ वर्ष के पश्चात् निकाला जाए। जितने समय में वह कुआं खाली हो, उसे एक पत्योपम कहते हैं। ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी कुएं खाली हों, उतने समय को एक सागरोपम कहते हैं।)

सादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की आदि ।

साधनाभिमुख—साधना के पथ पर बढ़ने वाला ।

साध्य-सिद्धि—अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लेना या अपने मुक्ति के उद्देश्य या ध्येय को पूरा कर लेना ।

साम्प्रायिक क्रिया—कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया । इससे व्यक्ति सात या आठ कर्म का बन्ध करता है और संसार में परिभ्रमण करता है ।

सामायिक—जिस क्रिया या साधना से समभाव का लाभ होता हो, समभाव की अभिवृद्धि होती हो ।

सामिष—मांसाहार ।

सावध—पाप-युक्त ।

सावध औषध—सदोष औषध या साधु के निमित्त जिस औषध को बनाने में अनेक जीवों का वध होता हो ।

सिद्ध-बुद्ध—समस्त कर्मों का नाश करके जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त होने वाली आत्मा ।

सिद्ध भगवान—संपूर्ण कर्मों का क्षय करके जन्म-मरण के दुखों से एवं कर्म तथा कर्म-जन्य साधनों से सर्वथा मुक्त आत्मा ।

सुधर्मा-स्वामी—भगवान-महावीर के पंचम गणधर और उनके शासन के प्रथम आचार्य—शास्ता ।

सुप्रत्याख्यान—सच्चा-यथार्थ एवं अच्छा त्याग ।

सूत्रकार—शास्त्रों के उपदेष्टा ।

सोपक्रमी-आयुष्य—किसी प्रकार उपक्रम—आघात लगने पर जीव का आयुष्य कम भी हो सकता है ।

स्कन्ध बीज—जिस वनस्पति के स्कन्ध में बीज है ।

स्थविर कल्प—संघ में रहकर मर्यादित वस्त्र, पात्र रखने एवं शहरादि में मर्यादित काल के लिए रहकर धर्मोपदेश देने एवं शिष्य बनाने वाले साधु निर्ग्रन्थों का कल्प—मर्यादा ।

स्थानाङ्ग सूत्र—भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी वाणी में अंग शास्त्र ।

स्थिति बन्ध—बँधने वाला कर्म कितने समय की आयु वाला है, अर्थात् बँधने वाले कर्म के काल या समय की मर्यादा ।

स्थूलीभद्र—आचार्य भद्रबाहु के शिष्य, जिन्होंने आचार्य भद्रबाहु से 10 पूर्व का अध्ययन किया था । इस युग के ये अन्तिम 10 पूर्वधर माने जाते हैं ।

स्पृष्ट—जो स्पर्शित हो रहे हैं ।

स्याद्वाद—अनेक नयों—अपेक्षाओं से युक्त भाषा ।

स्व-प्रकाशक—जो ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता—जानता है ।

स्वमति—अपनी बुद्धि, अपने विचार और अपना ज्ञान ।

स्वर्ग—मर्त्य लोक से ऊपर एक लोक विशेष, जहाँ आत्मा मर्त्य लोक में किए हुए शुभ कर्म के फल का उपभोग करती है अथवा देवताओं के रहने का स्थान विशेष ।

स्वलिङ्गि—जैन साधु के वेश में ।

स्वसंवेदक—अपने ज्ञान का स्वयं को संवेदन—अनुभव होना ।

स्वेतर—अपने से अतिरिक्त—भिन्न पदार्थ ।

स्वानुभूति—आत्मा को अपने ज्ञान से अपने स्वरूप का अनुभव होना ।

अवगाहना—शरीर की ऊंचाई ।

शस्त्र-परिज्ञा—शस्त्रों की भयंकरता को जानकर, उसका परित्याग करना ।

शाक्य—बौद्ध भिक्षु ।

शीतयोनि—वह उत्पत्ति स्थान, जिसमें शीत—ठंडा स्पर्श पाया जाता है ।

शीतल लेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा साधक तेजोलेश्या से प्रक्षिप्त जलाने वाले पुद्गलों को शान्त-प्रशान्त कर देता है ।

शीतोष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श ठण्डे और गर्मपन से मिश्रित है ।

शील—संयम; महाव्रतों का परिपालन, तीन गुप्ति का आराधन, 5 इन्द्रिय एवं कषायों का निग्रह, ब्रह्मचर्य ।

शुक्ल ध्यान—राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा की शुद्ध परिणति में रमण करना ।

शोक संज्ञा—प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर विलाप करना ।

श्रमण—मोक्ष की साधना में श्रम करने वाले साधु । यह शब्द जैन, बौद्ध, आजीवक और सांख्य मत के भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था ।

श्रावक-श्राविका—जैन धर्म के आचार को अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक आंशिक रूप से स्वीकार करने वाले सद् गृहस्थ (पुरुष और स्त्री) ।

श्रुत—तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट वाणी या आगम—शास्त्र ।

श्रुत केवली—चौदह पूर्व या संपूर्ण आगमों का ज्ञाता ।

श्रुत-ज्ञान—जैन आगमों का स्वाध्याय, श्रवण और चिन्तन-मनन करने से प्राप्त होने वाला ज्ञान ।

श्रुत-ग्राही—श्रुत—आगमों को ग्रहण करने वाला ।

श्रुत धर्म—आगम में उपदिष्ट ज्ञान की साधना करना ।

श्रुतस्कन्ध—शास्त्र के विभाग (Volume) ।

श्रेणिक—मगध-देश का सम्राट् भगवान महावीर का उपासक भक्त, जिसे बौद्ध साहित्य में बिम्बसार नाम से सम्बोधित किया गया है ।

हरिकेशी मुनि—चण्डाल—शूद्र कुल में उत्पन्न मुनि, जो साधना के द्वारा देवों का भी वन्दनीय बन गया । उत्तराध्ययन के 12वें अध्ययन में इनके जीवन एवं साधना का वर्णन आता है ।

हलुकर्मी—जल्दी प्रतिबोध पाने वाले व्यक्ति, जिनका संसार-परिभ्रमण स्वल्प रह गया है ।

हेय—त्यागने योग्य ।

समाप्त



परिशिष्ट

जैन धर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	—	राहों
पिता	—	लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	—	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वंश	—	क्षत्रिय
जन्म	—	विक्रम सं. 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	—	वि. सं. 1951 आषाढ़ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	—	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	—	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	—	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	—	अनुवाद, संकलन- सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	—	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	—	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	—	पंजाब श्रमण संघ, वि.सं. 2003, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	—	अखिल भारतीय श्री वर्ध. स्था. जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) 2009 वैशाख शुक्ला
संयम काल	—	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	—	वि.सं. 2019 माघवदि 9 (ई. 1962) लुधियाना।
आयु	—	79 वर्ष 8 मास, ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	—	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	—	विनम्र-शान्त-गंभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	—	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय, आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, महाश्रमण गुरुदेव

श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	—	साहोकी (पंजाब)
जन्म तिथि	—	वि. सं. 1979 वैशाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	—	वि. सं. 1993 वैशाख शुक्ला 13
दीक्षा स्थल	—	रावलपिंडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	—	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	—	प्राकृत, संस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जानकार तथा दर्शन एवं व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मों के गहन अभ्यासी।
सृजन	—	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमों पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थों के लेखक।
प्रेरणा	—	विभिन्न स्थानकों, विद्यालयों, औषधालयों, सिलाई केन्द्रों के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	—	आपश्री निर्भीक वक्ता हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं, कवि हैं। समन्वय तथा शान्तिपूर्वक क्रान्त जीवन के मंगलपथ पर बढ़ने वाले धार्मिक हैं, विचारक हैं, समाज सुधारक हैं, आत्मदर्शन की गहराई में पहुंचे हुए साधक हैं। पंजाब तथा भारत के विभिन्न अंचलों में बसे हजारों जैन-जैनेतर परिवारों में आपके प्रति गहरी श्रद्धा एवं भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली संतों में प्रमुख हैं जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, संरक्षक और प्रगति पथ पर बढ़ाने वाला रहा है।
स्वर्गारोहण	—	मन्डी गोबिन्दगढ़ (पंजाब) 23 अप्रैल 2003 (रात 11.30 बजे)

वि. सं. 2060

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	—	मलौटमंडी, जिला-फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	—	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	—	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	—	स्व. श्री चिरंजीलाल जैन
वर्ण	—	वैश्य ओसवाल
वंश	—	भाबू
दीक्षा	—	17 मई, 1972 समय : 12.00 बजे
दीक्षा स्थान	—	मलौटमण्डी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	—	बहुश्रुत, जैनागमरत्नाकर राष्ट्रसंत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-संपदा	—	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी, श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी एवं श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	—	श्री निशांत मुनि जी श्री निरंजन मुनि जी श्री निपुण मुनि जी
युवाचार्य पद श्रमणसंघीय आचार्य	—	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
पदारोहण	—	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	—	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली में
विचरण क्षेत्र	—	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटका, गुजरात आदि
अध्ययन	—	डबल एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्, आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना में विशेष शोध कार्य

श्रमण. श्रेष्ठ कर्मठयोगी, मंत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज : संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन् ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य हैं। वर्ष 1987 के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क में आए। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयंगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय में स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य में पहुँचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नहीं है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वयं एक परम शिखर है और आपने स्वयं के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर 7 मई सन् 1990 यादगिरी (कर्नाटक) में आपने आईटी दीक्षा में प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था में आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म में प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र में आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज में विधायक क्रांति के आप पक्षधर हैं और उसके लिए निरंतर समाज को प्रेरित करते रहते हैं।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज हैं। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृतसंकल्प हैं। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे हैं।

शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जन्म भूमि	— नाई (उदयपुर, राजस्थान)
जन्मतिथि	— 19-2-1964
माता	— श्रीमती सोहनबाई
पिता	— श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वंश, गौत्र	— ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	— 7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	— यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	— श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनिजी महाराज
दीक्षार्थ प्रेरणा	— दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	— एम. ए. (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	— आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, जैनतर दर्शनों में सफल प्रवेश तथा हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	— श्रमण संघीय मंत्री, श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, साधुरत्न
शिष्य सम्पदा	— श्री निशांत मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी एवं श्री निपुण मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	— ध्यान योग साधना शिविरों का संचालन, बाल-संस्कार शिविरों और स्वाध्याय-शिविरों के कुशल संचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

आगम संपादन

♦ श्री उपासकदशांग सूत्रम्	(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी म.)
♦ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	"
♦ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	"
♦ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	"
♦ श्री अन्तकृद्दशांग सूत्रम्	"
♦ श्री दशवैकालिक सूत्रम्	"
♦ श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्	"
♦ श्री आचारांग सूत्रम् (भाग एक)	"
♦ श्री आचारांग सूत्रम् (भाग दो)	"

साहित्य (हिन्दी)–

♦ भारतीय धर्मों में मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)
♦ ध्यान : एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
♦ ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)
♦ योग मन संस्कार	(निबन्ध)
♦ जिनशासनम्	(जैन तत्त्व मीमांसा)
♦ पदमं नाणं	(चिन्तन परक निबन्ध)
♦ अहासुहं देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)
♦ शिव-धारा	(प्रवचन)
♦ अन्तर्यात्रा	"
♦ नदी नाव संजोग	"
♦ अनुश्रुति	"
♦ मा पमायए	"
♦ अमृत की खोज	"
♦ आ घर लौट चलें	"
♦ संकुञ्जह किं ण कुञ्जह	"
♦ प्रकाशपुञ्ज महावीर	(संक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)
♦ सद्गुरु महिमा	(प्रवचन)

साहित्य (अंग्रेजी)–

- ♦ दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
- ♦ दी फण्डामेन्टल प्रिंसीपल्स ऑफ जैनियम
- ♦ दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनियम
- ♦ दी जैना ट्रेडिशन
- ♦ दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेंस टू जैनियम
- ♦ स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा

